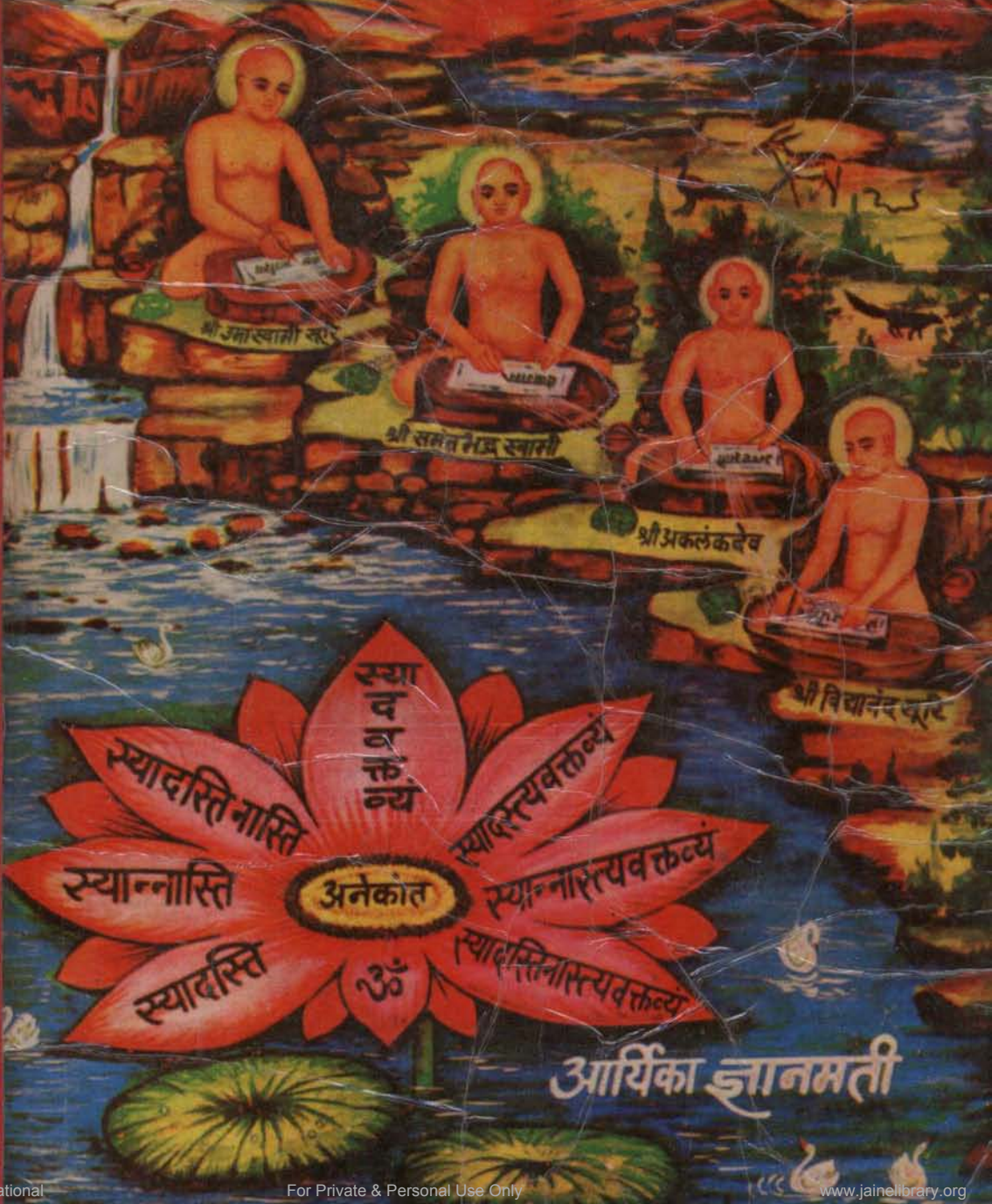


अष्टसहस्री

16/8
प्रथम भाग



आर्यिका ज्ञानमती

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला का पुष्प नं० १

श्रीमद्भगवद्विद्यानंदाचार्य विरचित

अष्टसहस्री

[प्रथम भाग]

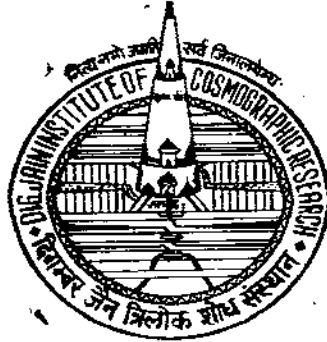
[प्रथम परिच्छेद अपूर्ण—कारिका १ से ६ तक]

स्याद्वादचितामणि—भाषा टीका सहित

टीकाकर्त्री

चारित्र्यचक्रवर्ती १०८ आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज के प्रथम पट्टाधीश
आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज की शिष्या, जम्बूद्वीप रचना की पावन प्रेरिका,
सिद्धान्तवारिधि, विद्यान वाचस्पति, न्यायप्रभाकर

गणिनी आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी



प्रकाशक :

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान

हस्तिनापुर (मेरठ) उ० प्र०

द्वितीय संस्करण
११०० प्रति

फाल्गुन शुक्ला २ वीर० नि० सं० २५१५
६ मार्च १८८६

मूल्य
६४.००

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान द्वारा संचालित

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला में दिगम्बर जैन आर्षमार्ग का पोषण करने वाले हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, मराठी आदि भाषाओं के न्याय, सिद्धान्त, अध्यात्म, भूगोल-खगोल, व्याकरण आदि विषयों पर लघु एवं बृहद् ग्रन्थों का मूल एवं अनुवाद सहित प्रकाशन होता है। समय-समय पर धार्मिक लोकोपयोगी लघु पुस्तिकाएँ भी प्रकाशित होती रहती हैं।

मुद्रण :

अष्टसहस्री प्रथम भाग—प्रथम संस्करण १९७४
अष्टसहस्री प्रथम भाग—द्वितीय संस्करण १९८६



ग्रन्थमाला सम्पादक



बाल ब्र० रवीन्द्र कुमार जैन
शास्त्री, बी० ए०



बा० ब्र० कु० माधुरी
शास्त्री

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

मुद्रक—सुमन प्रिन्टर्स, कनोहरलाल मार्केट शारदा रोड, मेरठ-२५०००२। फोन : २४३१६

❁ अनुक्रम दर्पण ❁

| | पृष्ठ नं० |
|---|-----------|
| हिन्दी टीका का मंगलाचरण | १ |
| गुरु वन्दना | ३ |
| अष्टसहस्री वंदना | ४ |
| ग्रन्थ का मंगलाचरण | ५ |
| मंगलाचरण का महत्त्व और ग्रन्थकर्ता का उद्देश्य | ६ |
| आप्त की परीक्षा | |
| विभूतिमत्त्व हेतु को निर्दोष मानने में युक्ति | १३ |
| तटस्थ जैनी द्वारा समाधान-जनक उत्तर एवं कारिका का द्वितीय अर्थ | १३ |
| पुनः आचार्य तर्क द्वारा हेतु को व्यभिचारी सिद्ध करते हैं | १४ |
| यहाँ कोई तटस्थ जैनी “विग्रहादि महोदयत्वात्” हेतु को निर्दोष सिद्ध करता है | १६ |
| पुनः आचार्य हेतु को सदोष सिद्ध करते हैं | १६ |
| आप्त परीक्षण का सारांश | २२ |
| नियोगवाद | |
| यहाँ पर भावनावादी भाट्ट प्रभाकर द्वारा मान्य नियोगवाद के खंडन हेतु पहले उसका पूर्वपक्ष रखते हैं | २५ |
| एकादश प्रकार के नियोग का क्रम से वर्णन | २६ |
| नियोग को प्रमाण, प्रमेयादि रूप मानने में दोषारोपण | ३१ |
| नियोग को सत्-असत् आदि मानने में दोषारोपण | ३६ |
| नियोग को प्रवर्तक या अप्रवर्तक मानने में दोष | ४० |
| नियोग फलरहित है या फलसहित | ४२ |
| प्रारंभ में जो नियोग के ११ प्रकार से अर्थ किये हैं— | |
| उनका क्रमणः भाट्ट द्वारा खंडन किया जा रहा है | ४४ |
| नियोगवाद के खंडन का सारांश | ४७ |

विधिवाद

| | |
|--|----|
| प्रभाकर नियोगवाद को मानता है जैनाचार्यों ने भावनावादी भाट्ट के मुख से उस नियोगवादी..... | ५१ |
| विधि को प्रमाण रूप मानने पर उसका खंडन | ५१ |
| यहां पर भाट्ट जैनमत का आश्रय लेकर विधिवाद का खंडन करता है | ५६ |
| वेदवाक्य का अर्थ विधि—परमब्रह्म रूप है ऐसी मान्यता में भाट्ट ने प्रश्न उठाये थे कि आपका..... | ६२ |
| विधि को शब्द के व्यापार आदि रूप से ४ विकल्प रूप मानने में हानि | ६४ |
| विधि को सत्-असत् आदि रूप मानने में दोषारोपण | ६५ |
| विधि को प्रवर्तक स्वभाव या अप्रवर्तक स्वभाव मानने में दोष | ६६ |
| विधि को फल रहित या सहित मानने में दोषारोपण | ६७ |
| जैनमत का आश्रय लेकर भाट्ट विधिवादी पर दोषारोपण करता है | ६६ |
| पूर्व में भावनावादी भाट्ट ने जैसे नियोग का खंडन किया है उसी प्रकार विशेष रूप से अब विधिवाद का भी खण्डन करता है | ७० |
| विधि को ग्रहण करने वाले वाक्य अप्रधान रूप से विधि को ग्रहण करते हैं या प्रधान रूप से ? दोनों विकल्पों का निराकरण | ७६ |
| यहां विधिवादी पुनरपि ब्रह्माद्वैतवाद का समर्थन करते हैं | ८१ |
| यहां भावनावादी भाट्ट पुनरपि नियोग पक्ष का आश्रय लेकर विधिवादी को दूषण देता है | ८२ |
| विधि को कहने वाले वाक्य अन्य अर्थ का निषेध करते हैं या नहीं ? | |
| ये दो विकल्प उठाकर दोष देते हैं | ८४ |
| यहां भावनावादी भाट्ट सौगत मत का अवलंबन लेकर विधिवाद को दूषित करते हैं | ८६ |
| वाक्य का अर्थ विधि ही है वही सर्वत्र प्रधान है ऐसा मानने में दोष | ८७ |
| हम आपसे प्रश्न करते हैं कि जो आप पर रूप का निषेध करते हैं वह क्रम से करते हैं या युगपत् ? क्रम से है..... | ८७ |
| सर्वथा विधि भी प्रवृत्ति में हेतु नहीं है ऐसा कहते हुये भाट्ट विधिवाद का परिहार करते हैं | ८८ |
| इस पर किसी की शंका यह है कि हे स्याद्वादिन् ! | ८६ |
| विधिवाद के खंडन का सारांश | ९२ |

भावनावाद

यहां तक भावनावादी भाट्ट ने नियोगवादी प्रभाकर के मत का अवलंबन लेकर

एवं सौगत ६४

अर्थात् वह धात्वर्थ सन्मात्र रूप है या..... ६६

“शब्द व्यापार रूप शब्दभावना ही नियोग है” ऐसा प्रभाकर के द्वारा मानने पर भाट्ट कहता है कि..... १०१

संकेत ग्रहण किये हुये शब्द अर्थ का ज्ञान कराते हैं या बिना संकेत ग्रहण किये हुये शब्द..... १०१

प्रत्यक्ष के समान शब्द से भी बाह्य पदार्थों का ज्ञान होता है १०५

शब्द से कार्य का साक्षात्कार होता है या नहीं इस पर विचार १०७

कारकों के भेद से क्रिया में भेदाभेद का विचार ११२

शब्दभावना रूप नियोग अर्थभावना का विशेषण है इस पर विचार ११७

वेदवाक्य से यज्ञकार्य में प्रवृत्त हुआ पुरुष स्वर्ग रूप फल को देखे बिना कैसे प्रवृत्त होगा ? १२०

बौद्ध भेद को काल्पनिक सिद्ध करना चाहता है किंतु भाट्ट भेद को वास्तविक मान रहा है १२२

पुनरपि बौद्ध भेद कल्पना के मानने में अनावस्था दोष देता है, भाट्ट उसका परिहार करता है १२३

अवस्था को छोड़ कर अवस्थावान कोई चीज नहीं है ऐसी बौद्ध की मान्यता पर भाट्ट के

द्वारा समाधान १२५

करोति क्रिया सामान्य रूप है और यजनपचनादि क्रियायें विशेष रूप हैं इनमें..... १२७

जैनमत का आश्रय लेकर भाट्ट उत्तर देता है १२८

बौद्ध के द्वारा आरोपित संशय दोष का भाट्ट के द्वारा निराकरण किया जाता है १२९

संशय के लक्षण का विचार १३२

भेद और अभेद को विवक्षा मानने रूप बौद्ध की मान्यता का निराकरण १३६

बुद्धि के बिना पदार्थ में भेद की व्यवस्था नहीं हो सकती है इस बौद्ध की मान्यता

का निराकरण किया जाता है १४०

स्पष्टता और अस्पष्टता ज्ञान के धर्म हैं पदार्थ के नहीं एवं स्पष्ट ज्ञान के समान अस्पष्ट

ज्ञान भी प्रमाण है १४३

अब यहां से जनाचार्य भावनावादी भाट्ट का खंडन करते हैं १४७

शब्द से शब्द के व्यापार को अभिन्न मानने में दोष १४७

शब्द से शब्द के व्यापार को भिन्न मानने में दोष १५०

| | पृष्ठ नं० |
|--|-----------|
| भाट्ट शब्द से उसके व्यापार को भिन्न और अभिन्न दोनों रूप मानता है उस पर..... | १५० |
| भाट्ट कहता है कि आप जैनों के द्वारा ज्ञान भी अपने व्यापार से भिन्न है या अभिन्न या..... | १५१ |
| भाट्ट के द्वारा दिये गये दोषों का जैनाचार्य निराकरण करते हैं | १५३ |
| शब्द भावना का निराकरण करके अब यहां से आचार्य अर्थभावना का निराकरण करते हैं | १५५ |
| भाट्ट ने करोति क्रिया को सामान्य मान कर उसे ही वेदवाक्य का अर्थ माना है उस पर.... | १५६ |
| निष्क्रिय वस्तु में भी भवति क्रिया का अर्थ देखा जाता है अतः वह क्रियास्वभाव नहीं है ऐसी ... | १५७ |
| करोति क्रिया का अर्थ सामान्य और नित्य है ऐसा भाट्ट के द्वारा कहने पर जैनाचार्य उसका निराकरण करते हैं | १५६ |
| करोति क्रिया एक है ऐसा भाट्ट कहता है उसका परिहार | १६० |
| करोति सामान्य निरंश है ऐसा भाट्ट का कहना है उसका जैनाचार्य परिहार करते हैं | १६१ |
| वह सामान्य सर्वगत है ऐसा कहने पर जैनाचार्य दूषण दिखलाते हैं | १६१ |
| भावनावाद के खंडन का सारांश | १७० |
| वेद की अप्रमाणता | |
| जैनाचार्य वेद को अपौरुषेय एवं प्रमाण मानने का खंडन करते हैं | १७३ |
| कोई भी वेद वाक्य स्वयं अपने अर्थ का प्रतिपादन नहीं करते हैं । अतः वेद की प्रमाणता सिद्ध नहीं होती है | १७८ |
| वेद की प्रमाणता के खंडन का सारांश | १८३ |
| चार्वाक मत खंडन | |
| चार्वाक सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध करना चाहता है उसका निराकरण | १८३ |
| चार्वाक कहता है कि हमारे बृहस्पति का प्रत्यक्ष स्व और पृथ्वी आदि चतुष्टय को बतलाता है अतः..... | १८५ |
| चार्वाक कहता है कि हम लोगों के द्वारा मान्य अनुमान को लेकर उससे सर्वज्ञ को और प्रत्यक्ष के | १८८ |
| चार्वाक इंद्रिय प्रत्यक्ष से सभी जगह सर्वज्ञ का अभाव कैसे करेगा ? इस पर विचार किया जाता है | १८६ |
| चार्वाक मत के खण्डन का सारांश | १६१ |
| शून्यवाद | |
| तत्त्वोपप्लववादी का खंडन | १६२ |
| तत्त्वोपप्लववादी जैनादिकों के द्वारा मान्य प्रमाण को लेकर उन्हीं के तत्वों का | १६४ |

| | पृष्ठ नं० |
|--|-----------|
| उपप्लववादी तत्ववादीयों को दोष दे रहे हैं | १६४ |
| अब तत्वोपप्लववादी आस्तिक्यवादियों के प्रमाण तत्व को दूषित करने की चेष्टा करता है निर्दोष कारण जन्यत्व हेतु का खंडन | १६६ |
| तत्वोपप्लववाद | |
| बाधारहितत्व हेतु का खंडन | २०४ |
| बाधा की अनुत्पत्ति पदार्थ के ज्ञान के अनंतर ही ज्ञान की प्रमाणता को बतलाती है या हमेशा..... | २०५ |
| एक देश में स्थित मनुष्य के ज्ञान में बाधा की अनुत्पत्ति प्रमाणता का हेतु है या सर्वत्र..... | २०६ |
| किसी को बाधा का उत्पन्न न होना ज्ञान में प्रमाणता का हेतु है या सभी को..... | २०७ |
| नैयायिक प्रवृत्ति की सामर्थ्य से ज्ञान की प्रमाणता मानते हैं उनका खंडन | २०६ |
| प्रवृत्ति शब्द का क्या अर्थ है ? इस प्रकार से तत्वोपप्लववादी नैयायिक से प्रश्न करता है | २११ |
| सौगत अविसंवादित्व होने से ज्ञान की प्रमाणता मानता है उसका खण्डन | २१५ |
| अभ्यास दशा में अविसंवाद ज्ञान की प्रमाणता स्वतः सिद्ध है इस प्रकार से बौद्ध मानता है उसका निराकरण | २१६ |
| तत्वोपप्लववाद का खण्डन | |
| अब जैनाचार्य तत्वोपप्लववाद का खंडन करके अपने मत में मान्य ज्ञान की प्रमाणता को सिद्ध करते हैं | २१६ |
| प्रमाण की प्रमाणता अभ्यास दशा में स्वतः एवं अनभ्यस्त दशा परसे है ऐसी मान्यता.... | २२० |
| कथंचित् नित्यानित्यात्मक आत्मा में अभ्यास-अनभ्यास दोनों ही संभव हैं | २२१ |
| अभ्यास और अनभ्यास का लक्षण | २२१ |
| तत्वोपप्लववादी संशय को करके प्रमाण का प्रलय करना चाहता है उसका निराकरण | २२३ |
| उपप्लववादी कुछ भी तत्व का निर्णय न करके पर के तत्वों का उपप्लव या पर के तत्व में संदेह कैसे कर सकता है ? | २२५ |
| अब जैनाचार्य उपप्लववादी के मत का ही उपप्लव कर रहे हैं | २२६ |
| तत्वोपप्लववादी के खंडन का सारांश | २२८ |
| तीर्थच्छेद संप्रदाय वालों का खण्डन | |
| सर्वज्ञ सामान्य की सिद्धि में विसंवाद करने वाले मीमांसक, चार्वाक और तत्वोपप्लववादीयों.... | २३० |

| | पृष्ठ नं० |
|--|-----------|
| एक प्रमाण को मानने वाले कौन-कौन हैं ? | २३० |
| अनेक प्रमाण को मानने वाले कौन-कौन हैं ? | २३० |
| अद्वैतवादियों का खण्डन | |
| अद्वैतवादियों का खंडन | २३२ |
| विज्ञानाद्वैतवाद का खण्डन | २३२ |
| “चित्राद्वैतवाद” | २३४ |
| “शून्याद्वैतवाद” | २३४ |
| “ब्रह्माद्वैतवाद” | २३५ |
| “शब्दाद्वैतवाद” | २३५ |
| प्रत्यक्षक प्रमाणवादी चार्वाक का खण्डन | |
| चार्वाक का खण्डन | २३७ |
| तर्क प्रमाण की आवश्यकता | |
| तर्क प्रमाण के न मानने से हानि | २३६ |
| वैयर्थिक मत में परस्पर विरोध | |
| परस्पर विरोध दोष का स्पष्टीकरण | २४० |
| ज्ञान को निरश मानने में दोष | |
| अन्य सिद्धांतों में स्वयं को स्वयं का ज्ञान संभव नहीं है | २४३ |
| चार्वाक आदि के मत में ज्ञान स्वसंविदित नहीं है अतः उनके यहाँ प्रमाण की व्यवस्था नहीं बनती है | २४४ |
| सर्वज्ञ का ज्ञान असाधारण है | |
| आवरणरहित ज्ञान वाले सर्वज्ञ के वचन आदि व्यापार असाधारण हैं साधारण नहीं है | २२५ |
| अर्हत भगवान् ही सर्वज्ञ हैं अन्य कोई सर्वज्ञ नहीं हो सकता है | २४७ |
| सर्वज्ञ भगवान् इन्द्रिय ज्ञान से सभी पदार्थों को जानते हैं या अतीन्द्रिय ज्ञान से ? | २४८ |
| सर्वज्ञ भगवान् के भावेन्द्रियों के समान द्रव्येन्द्रियों का विनाश क्यों नहीं हो जाता है ? | २४६ |
| मीमांसक द्वारा सर्वज्ञ का अभाव | |
| आपके सर्वज्ञ में अतीन्द्रिय ज्ञान कैसे है एवं सभी संसारी जीवों के वे प्रभु कैसे हैं ? | २५१ |

| | |
|---|-----|
| मीमांसक कहता है कि प्रत्यक्षादि पांच प्रमाणों से सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है | |
| अतः सर्वज्ञ नहीं है | २५१ |
| इस भरत क्षेत्र में और इस पंचम काल में सर्वज्ञ नहीं है तो न सही किंतु विदेह क्षेत्रों... | २५५ |
| यहां जैनमत का आश्रय लेकर कोई शंका करता है | २५६ |
| इन्द्रियां अपने-अपने विषय को ही ग्रहण करती हैं पर के विषय को नहीं, अतः..... | २५८ |
| अतीन्द्रिय ज्ञान भी असंभव ही है | २५९ |
| अब मीमांसकाभिमत सर्वज्ञ के अभाव के विषय में जैनाचार्य मीमांसा करते हैं | २६० |
| सर्वज्ञ-सिद्धि | |
| मीमांसक कहता है कि अस्तित्व ग्रहण करने वाले पांचों ही प्रमाणों से सर्वज्ञ ... | २६२ |
| सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाला प्रमाण विद्यमान | २७० |
| सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाले और बाधित करने वाले दोनों ही प्रमाण पाये जाते हैं अतः..... | २७१ |
| मीमांसक आत्मा को ज्ञान स्वभाव नहीं मानता है उसका उत्तर | २७४ |
| यदि आत्मा ज्ञान स्वभाव वाली है तब संसारावस्था में उसके अज्ञानादि भाव कैसे दिखते हैं ? | २७५ |
| मोहरहित भी आत्मा तीन विप्रकृष्ट पदार्थों को नहीं जान सकता है | २७७ |
| सर्वज्ञ भगवान् का ज्ञान इन्द्रियों की सहायता से रहित अतीन्द्रिय है | २७९ |
| सर्वज्ञ के अतीन्द्रिय ज्ञान की सिद्धि का सारांश | २८३ |
| पूर्वोक्त तीन कारिकाओं में कथित तीन हेतुओं से भगवान् महान् नहीं है किंतु... | २८५ |
| बौद्ध दोषों को स्वहेतुक एवं सांख्य दोषों को परहेतुक ही मानता है किन्तु..... | २८८ |
| किसी का कहना है कि दोष या आवरण दोनों में से एक का ही अभाव कहना चाहिये किंतु | २८९ |
| अनादिकाल से दोष आवरण निमित्तक है एवं आवरण दोष निमित्तक है दोनों..... | २९० |
| बौद्ध दोषों को ही संसार का कारण मानता है आवरण को नहीं, किंतु..... | २९१ |
| दोष आवरण की हानि प्रध्वंसाभाव रूप है अत्यंताभाव रूप नहीं है | २९३ |
| शंकाकार बुद्धि की तरतमता देखकर "अतिशायन हेतु" को व्यभिचारी कहता है किंतु ... | २९५ |
| जो पदार्थ दिखते नहीं हैं उनका अभाव कैसे होगा ? इस पर जैनाचार्य का कहना है कि..... | २९६ |
| जैनाचार्य भस्म लोष्ठ आदि पृथ्वी को निर्जीव सिद्ध करते हैं | २९७ |
| कर्मद्रव्य का प्रध्वंसाभाव रूप अभाव मानने पर दोषारोपण एवं स्याद्वादी द्वारा उन दोषों | |
| का निराकरण | ३०२ |

| | |
|--|-----|
| शब्द, विद्युत्, दीपक आदि भी कथंचित् नित्य हैं | ३०३ |
| बुद्धि का सर्वथा विनाश होता है या नहीं ? | ३०५ |
| अज्ञानादि दोषों की हानि कैसे होगी ? | ३०६ |
| आत्मा के परिणाम कितने प्रकार के हैं ? | ३०७ |
| मीमांसक दोषों को जीव का स्वभाव मानता है उसका निराकरण | ३०८ |
| किसी जीव के संसार का सर्वथा अभाव हो जाता है जैनाचार्य इस बात को सिद्ध करते हैं | ३१० |
| मिथ्यादर्शन आदि का परमप्रकर्ष अभव्य जीवों में पाया जाता है | ३१२ |
| ज्ञानादि गुण आत्मा के स्वभाव हैं किंतु दोष आत्मा के स्वभाव नहीं हैं | ३१३ |
| दोष आवरण पर्वत के समान विशाल हैं | ३१५ |
| सर्वज्ञ के दोषावरण के अभाव का सारांश | ३१६ |
| कर्म से रहित भी आत्मा अत्यंत परोक्ष पदार्थों को कैसे जानेगा ? | ३१८ |
| सूक्ष्मादि पदार्थ जैसे किसी के प्रत्यक्ष हैं वैसे ही अनुमेय हैं या अन्य रूप से ? | ३२१ |
| परोक्षवर्ती पदार्थों का ज्ञान कराने के लिये अनुमेयत्व हेतु असिद्ध है इस मान्यता का खंडन | ३२३ |
| धर्म-अधर्म आदि पर्यायें अनित्य हैं क्योंकि वे पर्याय हैं इस प्रकार से जैनाचार्य सिद्ध करते हैं | ३२५ |
| अनुमेयत्व का "श्रुतज्ञानाधिगम्यत्व" ऐसा अर्थ भी संभव है सूक्ष्मादि पदार्थ अनुमेय ही रहें | |
| प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय न हों वं क्या बाधा है ? | ३३० |
| अब अनुमान के अभाव को स्वीकार करने वाले चार्वाक को जैनाचार्य समझाते हैं | ३३० |
| मीमांसक कहता है कि कोई भी व्यक्ति सूक्ष्मादि पदार्थों को साक्षात् करने वाला नहीं है..... | ३३१ |
| सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध करने में आपका हेतु सर्वज्ञ के भाव का धर्म है या..... | ३३३ |
| अब यहां मीमांसक सौगतमत का आश्रय लेकर पक्ष रखता है पुनः जैनाचार्य | |
| उसका खंडन करते हैं | ३३४ |
| मीमांसक कहता है कि जैनों का सर्वज्ञ धर्म प्रसिद्ध सत्तावाला नहीं है इस प्रकार | |
| जैनाचार्य समाधान करते हैं | ३३५ |
| धर्म की सत्ता सर्वथा प्रसिद्ध है या कथंचित् ? | ३३७ |
| सूक्ष्मादि पदार्थ इन्द्रिय प्रत्यक्ष से किसी के प्रत्यक्ष हैं या नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष से ? | ३३६ |
| नैयायिक कहता है कि योगज धर्म से अनुगृहीत इन्द्रियाँ परमाणु आदि को भी | |
| देख लेती हैं उसका निराकरण | ३३६ |
| मानस प्रत्यक्ष से भी सूक्ष्मादि पदार्थों का ज्ञान नहीं होता है | ३४२ |

| | |
|---|-----|
| इन्द्रिय और अनिन्द्रिय की अपेक्षा से रहित सामान्य प्रत्यक्ष के द्वारा ही..... | ३४३ |
| दोष आवरण के अभावपूर्वक सर्वज्ञ सिद्धि | |
| सूक्ष्मादि पदार्थों को प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा जानने वाले कौन हैं ? अर्हत बुद्ध आदि या इससे भिन्न अन्य कोई जन ? | ३४६ |
| मीमांसक जिन प्रश्नोत्तरों के द्वारा सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध करना चाहते हैं जैनाचार्य..... | ३४७ |
| सर्वज्ञसिद्धि का सारांश | ३५४ |
| चार्वाक मत-खण्डन | |
| चार्वाक के द्वारा मोक्ष एवं उसके कारण का खंडन एवं जैन के द्वारा समाधान | ३५५ |
| चार्वाक मत निरास | |
| संसार तत्त्व पर विचार | ३५७ |
| चार्वाक के द्वारा संसार तत्त्व का खंडन एवं जैनाचार्य द्वारा उसका समाधान वन में अग्नि स्वयमेव उत्पन्न होती है पश्चात् अग्निपूर्वक ही अग्नि उत्पन्न होती है इस मान्यता पर विचार | ३६० |
| शब्द और बिजली आदि उपादान के बिना ही उत्पन्न होते हैं चार्वाक की इस मान्यता पर प्रत्युत्तर | ३६२ |
| भूत चतुष्टय एवं चेतन का लक्षण भिन्न-भिन्न होने से ये भिन्न तत्त्व हैं इस पर विचार | ३६१ |
| चार्वाक मत के खण्डन का सारांश | ३६५ |
| ज्ञान अस्वसंविदित नहीं है | |
| ज्ञान अस्वसंविदित है इस मान्यता पर जैनाचार्य समाधान करते हैं | ३६७ |
| सुख और सुख का ज्ञान भी कथंचित् पृथक्-पृथक् ही है इस पर विचार | ३६८ |
| स्वात्मा में क्रिया का विरोध होने से ज्ञान स्वयं को नहीं जानता है इस पर विचार | ३७० |
| भूत और चैतन्य का लक्षण पृथक्-पृथक् ही है | ३७२ |
| उपादान का लक्षण | ३७३ |
| भिन्न लक्षणत्व हेतु भिन्न-भिन्न तत्त्व से व्याप्त है यह बात कैसे बनेगी ? इसका समाधान | ३७४ |
| चार्वाक, मीमांसक और नैयायिक ज्ञान स्वसंविदित नहीं मानते हैं उनके खंडन का सारांश | ३७७ |
| संसार के कारण भूत तत्त्वों का विचार | ३७८ |
| दूरवर्ती पदार्थ जिसके प्रत्यक्ष हैं वे अर्हत आप ही हैं | ३८० |

| | |
|---|-----|
| सांख्य द्वारा मान्य मोक्ष का खण्डन | |
| सांख्य द्वारा मान्य मोक्ष का खंडन | ३८१ |
| चेतन के संसर्ग से अचेतन भी ज्ञानादि चेतन रूप से प्रतीत होते हैं सांख्य की इस मान्यता का निराकरण | ३८४ |
| वैशेषिक द्वारा मान्य मोक्ष का खण्डन | |
| वैशेषिक द्वारा मान्य मोक्ष का खंडन | ३८६ |
| चित्रज्ञान एक रूप है या अनेक रूप ? इस पर विचार | ३८७ |
| मुक्ति में क्षयोपशमिक ज्ञान, सुख आदि का अभाव है न कि अनंत सुखादिकों का अभाव | ३९१ |
| वेदांतों के द्वारा मान्य मुक्ति का खंडन | ३९४ |
| बौद्ध द्वारा मान्य मोक्ष का खण्डन | |
| सौगत द्वारा अभिमत मोक्ष का खंडन | ३९६ |
| सांख्यादि अन्य मतावलंबियों के द्वारा मान्य मोक्ष के कारण तत्त्व भी बाधित ही हैं | ३९६ |
| सांख्यादि द्वारा मान्य मोक्ष का खण्डन | |
| सांख्यादि के द्वारा मान्य संसार मोक्ष के खण्डन का सारांश | ३९७ |
| सांख्याभिमत मोक्ष कारण खण्डन | |
| सांख्य द्वारा मान्य मोक्ष के कारण का खंडन | ३९९ |
| संसार तत्त्व के न मानने वालों का निराकरण | |
| अन्यों के द्वारा मान्य संसार तत्त्व सर्वथा विरुद्ध ही है | ४०३ |
| अन्यों के द्वारा मान्य संसार कारण भी विरुद्ध है | ४०४ |
| सांख्य के द्वारा मान्य संसार के कारण का खंडन | ४०४ |
| सांख्य द्वारा मान्य संसार का खण्डन | |
| सांख्याभिमत संसार मोक्ष के कारण के खण्डन का सारांश | ४०६ |
| अर्हंत की वीतरागता पर विचार | |
| बौद्ध शंका करता है कि वीतराग भी सरागवत् चेष्टा कर सकते हैं क्योंकि..... | ४०७ |
| यत्न से परीक्षित कार्य कारण के अनुयायी होते हैं | ४१२ |
| अर्हंत ही सर्वज्ञ हैं | |
| सभी हेतु अर्हंत भगवान् को ही सर्वज्ञ सिद्ध करते हैं अन्य बुद्ध आदि को नहीं | ४१३ |

सर्वज्ञ के वचन इच्छापूर्वक नहीं हैं

ईच्छा के बिना भी भगवान् के वचन निर्दोष हैं

सर्वज्ञ के वचन इच्छापूर्वक ही होते हैं ऐसी मान्यता में क्या दोष है ? इसका समाधान

बोलने की इच्छा भी सर्वज्ञ वचन में सहकारी है इस मान्यता का निराकरण

कोई कहता है कि दोषों का समुदाय ही सर्वज्ञ के बोलने में हेतु है.....

भगवान् का अनेकांत शासन प्रसिद्ध प्रमाण से बाधित नहीं होता है

तर्क ज्ञान प्रमाण है

जैनमत के तर्क ज्ञान प्रमाण है और वह व्यवसायात्मक ही है

निर्विकल्प दर्शन अप्रमाण है

बौद्ध के द्वारा मान्य निर्विकल्प दर्शन भी प्रामाणिक नहीं है जैसे कि सन्निकर्ष

प्रमाण नहीं है

नवनीत

सन्निकर्ष के समान निर्विकल्प दर्शन भी प्रमाण नहीं है इस बात को सिद्ध करके अब

एकांतवादियों के मत में अनुमान प्रमाण भी सिद्ध नहीं होता है। अतः वे अनेकांत में.....

प्रश्नस्ति—

परिशिष्ट—

उद्धृत श्लोक

पारिभाषिक शब्दों के अर्थ

४१४

४१५

४१८

४१६

४२२

४२४

४२६

४३१

४३२

४३३

४३४

४३५

४४०



परम पूज्य तपोनिधि पट्टाधीश १०८ आचार्य

श्री धर्म सागर जी महाराज

का

शुभाशीर्वाद



शिक्षा प्रधान वर्तमान युग में लौकिक अध्ययन के साथ-साथ धार्मिक पठन-पाठन भी बढ़ा है। जहाँ पाश्चात्य भाषा सर्वाधिक प्रचलन में आई है वहाँ संस्कृत-प्राकृत भाषा के ज्ञान में अधिक ह्रास हुआ है। हमारे अधिकांश प्राचीन ग्रंथ संस्कृत प्राकृत भाषा में लिखे हुये हैं। अनेक विद्वानों ने समय-समय पर बहुत से ग्रंथों का सरल हिन्दी भाषा में अनुवाद करके जिनागम के मर्म को समझने में सर्वसाधारण को सुलभता प्रदान की है जिसके लिये सभी स्वाध्यायी उनके इस महान् उपकार से उपकृत हैं।

कुछ वर्षों पूर्व तक तो न्याय ग्रन्थों को पढ़ाने व पढ़ने वाले विशेष संख्या में थे किन्तु अब अत्यल्प मात्रा में रह गया है। वर्तमान में जैन समाज में तो न्याय ग्रंथों के स्वाध्याय की प्रथा उठ सी गई है। द्रव्यानुयोग के आध्यात्मिक ग्रन्थों की समझने एवं हृदयंगम करने के लिये भी न्याय दर्शन का ज्ञान होना आवश्यक है। वस्तुत्व का सच्चा एवं दृढ़ निश्चय न्याय की कसौटी पर कसकर ही किया जा सकता है।

न्याय के कतिपय ग्रंथों का हिन्दी भाषानुवाद तो हो चुका है किन्तु विशिष्ट ग्रंथ अष्टसहस्री का क्लिष्टता के कारण अनुवाद नहीं हो पाया था। प्रसन्नता है कि उस कमी की पूर्ति भी आर्यिका श्री ज्ञानमती जी द्वारा हो गई है। इस अनन्य कार्य के लिये हमारा शुभ आशीर्वाद है।

आशा है, विद्वद्वृन्द इसी प्रकार से अन्य आर्ष प्रणीत प्राचीन ग्रंथों के अनुवाद में भी पूर्ण रचि रखकर जिनवाणी की सेवा में अग्रसर रहेंगे।



परम पूज्य १०८ आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज की ओर से आशीर्वाद रूप में

दो शब्द

आयिका श्री ज्ञानमती माता जी उत्तर प्रदेश के जिला बाराबंकी—टिकैत नगर—की रहने वाली हैं। इनका गृहस्थावस्था का नाम मैना था। इनके पिता का नाम छोटेलाल एवं माता का नाम मोहनी देवी था। गृहस्थ आश्रम में रहते हुए छोटी उम्र में भी इनका धार्मिक ज्ञान विशेष था। इनकी भावना एवं रुचि धर्म के प्रति अगाध थी।

माता-पिता द्वारा विवाह की तैयारियाँ की जाने पर इन्होंने इन्कार कर दिया और कहा कि मैंने स्त्री पर्याय का नाश करने के लिये दीक्षा लेने की ठान ली है। संसार के बन्धनों में न फँसने के लिए शादी की बात ठुकरा दी। इस प्रकार वैराग्य की जागृति तो हो चुकी थी परन्तु अपने मनोरथ की सिद्धि अर्थात् गृहपरित्याग गुरु के हस्तावलम्बन के बिना नहीं हो पाया था।

जब हम वि० सं० २०१० में इनके गाँव टिकैत नगर में पहुँचे तब इन्होंने घर से निकलने का बहुत प्रयत्न किया किन्तु सफलता नहीं मिली। अनंतर उसी साल बाराबंकी चातुर्मास होने पर दर्शन हेतु घर से हमारे पास आई एवं पुनः घर जाने से इन्कार कर दिया।

एक दिन हमारे केशलौच के प्रसंग पर इन्होंने भी अपने हाथ से अपने लोंच करना प्रारम्भ कर दिया। छोटी उम्र होने के कारण समाज के लोगों ने दीक्षा देने में बड़ा विरोध प्रस्तुत किया। तब हमने इन्हें सातवीं प्रतिमा के व्रत देकर लोगों को शांत किया।

उस अवस्था में भी इनकी बुद्धि अत्यंत तीक्ष्ण थी एवं स्मरण शक्ति भी प्रबल थी। कोई भी पाठ या विषय एक बार बतला देने पर कंठस्थ कर लेती थीं। गोमट्टसार आदि कई विषयों को पढ़ाते समय देखा कि १५ दिन में ३०० गाथायें याद कर लीं, बुद्धि की इतनी तीक्ष्णता को देखकर बड़ा आश्चर्य होता था। एक बार जब दश भक्ति पाठ याद करने के लिए कहा तो संस्कृत होते हुए भी १०-१५ दिन में एकदम पत्रकी याद कर ली।

चातुर्मास के पश्चात् बिहार करके जब हम श्री महावीर जी आये तो इनकी उत्कृष्ट भावना को देखकर शुभमुहूर्त में चैत्रकृष्ण वि० सं० २००६ को क्षुल्लिका दीक्षा दे दी। इनकी दीक्षा के पुरुषार्थ को देखकर ही हमने इनका दीक्षित नाम "बीर मती" रखा।

जब हम यहाँ से वापस कानपुर-लखनऊ होते हुए दरियाबाद पहुँचे तब इनके पिता जी आदि कई लोगों ने आकर टिकैत नगर चातुर्मास करने की प्रार्थना की। मेरे न चाहते हुए भी समाज के आग्रह पर इनकी जन्मभूमि पर ही पहला चातुर्मास हो गया।

चातुर्मास के बाद वापस महावीर जी आगमन हुआ। आगामी चातुर्मास (वि० सं० २०११ में) जयपुर होना निश्चित हुआ। जयपुर चातुर्मास में इन्होंने मात्र दो माह में पं० दामोदर जी शास्त्री से कातंत्र व्याकरण पढ़ ली। इस प्रकार शीघ्र ही संस्कृत का अध्ययन अच्छी तरह कर निपुणता प्राप्त कर ली। एक व्याकरण के अध्ययन के आधार से अनेकों बड़े-बड़े ग्रन्थों का मूल संस्कृत से स्वाध्याय कर लिया।

कहने का तात्पर्य यह है कि इनकी बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण तथा एकपाठी थी। ज्ञान से अपनी चारित्रिक उन्नति कर समाज में एक अच्छी विदुषी शिरोमणी की पदवी पाई। हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसी स्त्री रत्न और छोटी अवस्था में घर छोड़कर इतने उच्च स्थान को प्राप्त करना मामूली बात नहीं है। लोग कहेंगे कि शिष्य होने से प्रशंसा लिख दी है सो बात नहीं है किन्तु गुणों के कारण प्रशंसा की गई है।

आयिका दीक्षा मांगने पर हमने थोड़े दिन ठहरने को कहा। कुछ समय बाद बिहार करते हुए आचार्यवर श्री वीरसागर जी महाराज से वि० सं० २०१३ में आयिका दीक्षा ले ली। तत्पश्चात् अनेकों धर्मशास्त्रों का अध्ययन करते-करते हुए वक्तृत्व कला को भी सम्पन्न कर लिया। आज कई बड़े-बड़े संस्कृत के मूल ग्रन्थों का अध्ययन करके उनका अनुवाद करना भी प्रारम्भ किया है, उनमें से एक ग्रन्थ यह अष्टसहस्री है जो कि बारह सौ वर्ष पूर्व आचार्य विद्यानन्द द्वारा रचित है। इस महान् ग्रन्थ के अनुवाद में बड़े-बड़े विद्वान भी हार मान गये, ऐसे ग्रन्थ का इन्होंने परिश्रम करके हिन्दी अनुवाद किया है जिससे अब इसके स्वाध्याय में भी सुगमता हो गई है। सभी स्त्री-पुरुष इसका रसास्वादन कर सकेंगे।

इसलिए हम अपनी शिष्या ज्ञानमती को बार-बार आशीर्वाद देते हैं एवं इस ग्रन्थ के अध्ययन से सभी जैन-अजैन जनता को सच्चे आत्म-कल्याण का मार्ग प्राप्त हो यही सबको हमारा शुभाशीर्वाद है।



❁ आभार ❁



श्रेष्ठी श्री अनन्तवीर्य जी जैन, हस्तिनापुर [मेरठ], उ० प्र०

आप दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान के प्रति प्रारम्भ से ही अनन्य सहयोगी रहे हैं। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती अर्द्धा देवी भी एक धर्मपरायण एवं धैर्यशील महिलारत्न हैं।

४ मार्च १९६० को कार दुर्घटना में श्री अनन्तवीर्य जी का आकस्मिक निधन हो गया है। आप अपने पीछे एक पुत्र [मनोज कुमार] पुत्रवधू एवं दो पुत्रियों [कु० ममता, कु० विनीता] को छोड़ गए हैं।

श्री मनोज कुमार जैन एक सुयोग्य पुत्र के नाते अपने समस्त परिवार को एवं व्यापार को धैर्यपूर्वक संभाल रहे हैं तथा पूज्य गणिनी आर्थिका श्री ज्ञानमती माताजी के आशीर्वाद और आदेशानुसार जम्बूद्वीप के समस्त कार्य-कलापों में सहयोग देकर पिताजी की क्षतिपूर्ति कर रहे हैं।

देवशास्त्र गुरु भक्त स्वर्गीय श्री अनन्तवीर्य जी एवं उनके परिवार की ओर से इस अष्टसहस्री (प्रथम भाग) के प्रकाशन में ग्रन्थमाला को ११००१ रु० का आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ एतदर्थ संस्थान उनके प्रति आभार व्यक्त करता है।

सम्पादक—ड० रवीन्द्र कुमार जैन

शास्त्र स्वाध्याय का प्रारम्भिक मंगलाचरण

ॐ नमः सिद्धेभ्यः, ॐ नमः सिद्धेभ्यः, ॐ नमः सिद्धेभ्यः

ओंकारं विन्दुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव, ओंकाराय नमो नमः ॥१॥
अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलमलकलंका ।
मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥२॥
अज्ञानतिमिरान्धानां, ज्ञानांजनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥३॥

श्री परमगुरवे नमः, परम्पराचार्यगुरवे नमः । सकलकलुषविध्वंसकं,
श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, पापप्रणाशकं पुण्यप्रकाशकं भव्यजीवमनः-
प्रतिबोधकारकमिदं शास्त्रं श्री अष्टसहस्री' नामधेयं, अस्य मूलग्रन्थकर्तारः
श्री सर्वज्ञदेवाः, तदुत्तरग्रन्थकर्तारः, श्री गणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवाः तेषां
वचोनुसारमासाद्य श्री विद्यानन्दाचार्य विरचितं । श्रोतारः सावधानतया
शृण्वन्तु ।

मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमो गणी ।
मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो, जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥४॥
सर्वं मंगल माङ्गल्यं, सर्वकल्याणकारकम् ।
प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयतु शासनम् ॥५॥

1. जिस ग्रन्थ का स्वाध्याय करना हो उसका नाम लेना चाहिये ।

2. उस ग्रन्थ के जो रचयिता हों उनका नाम लेना चाहिये ।

✽ पुरोवाक् ✽

—आर्थिका ज्ञानमती

श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः विज्ञायेत ययैव स्वसमयपरसमयसद्भावः ॥

श्री विद्यानंद स्वामी का यह कहना है कि एक अष्टसहस्री को ही सुनना चाहिये अन्य हजारों ग्रन्थों को सुनने से क्या प्रयोजन है ? क्योंकि इस एक अष्टसहस्री ग्रन्थ के द्वारा ही स्वसमय और परसमय का स्वरूप जान लिया जाता है ।

महान् आचार्य श्री उमास्वामी जी ने महान् ग्रन्थराज तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ की रचना के प्रारम्भ में “मोक्ष-मार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभूतां । ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां बंदे तद्गुणलब्धये” इस मंगल श्लोक को रचा है । श्रीसमंत-भद्रस्वामी ने इस मंगलाचरण श्लोक का आधार लेकर ‘आप्तमीमांसा’ नाम से एक स्तोत्र रचा है जिसका अपरनाम ‘देवागमस्तोत्र’ भी है । श्रीभट्टाकलंक देव ने आप्तमीमांसा स्तुति पर ‘अष्टशती’ नाम से भाष्य बनाया है । जो कि जैनदर्शन का एक अतीव गूढग्रन्थ बन गया है । इसी भाष्य पर आचार्यवर्य श्री विद्यानंदमहोदय ने ‘अष्टसहस्री’ नाम से अलंकार टीका बनाई है जो कि जैनदर्शन का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ कहलाता है । इसमें दश परिच्छेद में अस्ति-नास्ति, भेद-अभेद, द्वैत-अद्वैत आदि एक-एक प्रकरणों के एकांतों का पूर्वपक्ष पूर्वक निरसन करके सर्वत्र स्याद्वाद-प्रक्रिया से वस्तुतत्त्व को समझाया गया है । वास्तव में तत्त्व-अतत्त्व को समझने के लिये यह न्याय ग्रन्थ एक कसौटी का पत्थर है और अधिक तो क्या कहा जाये श्री स्वामी समंतभद्राचार्यवर्य ने आप्त और अनाप्त की मीमांसा करते हुये आप्तअर्हतदेव को ही न्याय की कसौटी पर कसकर सत्य सिद्ध किया है, देखिये !

देवागमनभोयान-चामरादि-विभूतयः मायाविष्वपि दृष्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥ १ ॥

अतिशय गुणों से युक्त भगवान् की स्तुति करने के इच्छुक श्री समंतभद्रस्वामी स्वयं अपनी श्रद्धा और गुणज्ञता लक्षण प्रयोजन से ही इस देवागम स्तव में आप्त की मीमांसा करते हुये भगवान् से प्रश्नोत्तर करते हुये के समान ही कहते हैं । अर्थात् मानो भगवान् यहाँ प्रश्न कर रहे हैं कि हे समंतभद्र ? मृझमें देवों का आवागमन, चमर, छवादि अनेकों विभूतियाँ हैं फिर भी तुम मुझे नमस्कार क्यों नहीं करते हो ! तब उत्तर में स्वामी जी कहते हैं कि “हे भगवन् ! आपके जन्म कल्याणक आदिकों में देव, चक्रवर्ती आदि का आगमन, आकाश में गमन, छत्र, चामर, पुष्पवृष्टि आदि विभूतियाँ देखी जाती है किंतु ये विभूतियाँ तो मायावी जनों में भी हो सकती हैं अतएव वाप हमारे लिये महान्-पूज्य नहीं हैं ।

इस पर भगवान् मानों पुनः प्रश्न करते हैं कि हे समंतभद्र ! बाह्य विभूतियों से तुमने हमें नमस्कार नहीं किया तो न सही किन्तु मुस्करी आदि में असंभवी ऐसे अंतरंग में पसीना आदि का न होना एवं बहिरंग में जो गंधोदक वृष्टि आदि महोदय हैं जो कि दिव्य और सत्य हैं वे मुझ में हैं अतः आप मेरी स्तुति करिये । इस पर श्रीसमंतभद्रस्वामी कहते हैं कि अंतरंग और बहिरंग शरीरादि के महोदय भी रागादिमान् देवों में पाये जाते हैं अतः

इनसे भी आप महान् नहीं हैं अर्थात् देवों के शरीर में भी पसीना मलमूत्रादि नहीं हैं उनके यहाँ भी गंधोदक वृष्टि आदि वैभव होते हैं अतः इन महोदय से भी आप हमारे पूज्य नहीं हैं ।

मानों पुनः भगवान् कहते हैं कि हे समंतभद्र ! रामादिमान् देवों में भी असंभवी ऐसे तीर्थकृत् संप्रदाय को चलाने वाला 'मैं तीर्थकर हूँ' अतः मैं अवश्य ही तुम्हारे द्वारा स्तुति करने के योग्य हूँ । इस पर श्री समंतभद्रस्वामी प्रत्युत्तर देते हुये के समान कहते हैं कि हे भगवन् ! आगमरूप तीर्थ को करने वाले सभी तीर्थकरों के आगमों में परस्पर में विरोध पाया जाता है अतः सभी तो आप्त हो नहीं सकते अर्थात् बुद्ध, कपिल, ईश्वर आदि सभी ने अपने-अपने आगमों को रचकर अपना-अपना तीर्थ चलाकर अपने को तीर्थकर माना है किंतु सभी के आगम में परस्पर में विरोध होने से सभी सच्चे आप्त नहीं हो सकते हैं इसलिये इन सभी में कोई एक ही परमात्मा-सच्चा आप्त हो सकता है ऐसा अर्थ ध्वनित कर देते हैं इस कारिका की अष्टसहस्री टीका में श्री विद्यानंद महोदय ने बहुत ही विस्तार से सभी संप्रदायों का परस्पर में विरोध दर्शाया है ।

अन्य संप्रदायों में वेदों को प्रमाण मानने वाले वैदिक संप्रदायी हैं । उनमें मीमांसक, वैशेषिक, नैयायिक एवं सांख्य वैदिक कहलाते हैं और चार्वाक, बौद्ध आदि वेद को नहीं मानने वाले अवैदिक कहलाते हैं । आजकल कुछ लोग वेद के मानने वालों को आस्तिक एवं नहीं मानने वालों को नास्तिक कहते हैं और उसमें जैन को भी नास्तिक में लिया है क्योंकि जैन भी वेदों को प्रमाणीक नहीं मानते हैं । किन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है जो आत्मा, मोक्ष, परलोक आदि के अस्तित्व को मानते हैं वे आस्तिक एवं आत्मा आदि के अस्तित्व को मानने वाले नास्तिक कहलाते हैं अतः चार्वाक और शून्यवादी नास्तिक हैं बाकी सभी आस्तिक की कोटि में आ जाते हैं । अस्तु ! सभी के संप्रदायों के परस्पर विरोध का यहाँ किञ्चित् दिग्दर्शन कराते हैं ।

चार्वाक—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार जड़ तत्त्वों को ही मानता है । उसका कहना है कि इन्हीं भूतचतुष्टयों के मिलने से संसार बना है और इन्हीं भूतचतुष्टयों से आत्मा की उत्पत्ति होती है । ये चार्वाक परलोक गमन, पुण्यपाप का फल आदि नहीं मानते हैं । वेदांती एक ब्रह्मरूप ही तत्त्व स्वीकार करते हैं, उनका कहना है कि एक परम ब्रह्म ही तत्त्व है संपूर्ण विश्व में जो चेतन अचेतन पदार्थ दिख रहे हैं हम और आप सभी उस एक पर-ब्रह्म की ही पर्यायें हैं यह चर-अचर जगत् मात्र अविद्या का ही विलास है इत्यादि । बड़े आश्चर्य की बात है कि एक कोई जड़ से चैतन्य की उत्पत्ति मान रहा है तो दूसरा चैतन्य ब्रह्म से अचेतनों की उत्पत्ति मान रहा है । दोनों में सर्वथा परस्पर विरोध है ।

ऐसे ही बौद्ध सभी वस्तुओं को क्षणिक मानते हैं उनका कहना है कि एक क्षण के बाद सभी वस्तुयें जड़ मूल से नष्ट हो जाती हैं जो उनका ठहरना द्वितीय आदि क्षणों में दिख रहा है वह सब कल्पना मात्र है वासना से ही ऐसा अनुभव आता है । इधर सांख्य कहता है कि सभी वस्तुयें सर्वथा नित्य ही हैं कोई वस्तु नष्ट नहीं होती है किंतु तिरोभूत हो जाती है एवं उत्पत्ति भी नहीं है वस्तु का आविर्भाव ही होता है । मिट्टी से घट बनता नहीं है बल्कि मिट्टी में घट सदा विद्यमान है कुम्हार के प्रयोग से प्रगट हो गया है इत्यादि । इन दोनों में भी सर्वथा ३६ का आंकड़ा है ।

वैशेषिक एक सदाशिव महेश्वर को मानकर उसे सृष्टि का कर्ता मानते हैं तो मीमांसक सर्वज्ञ के अस्तित्व को न मानकर वेद वाक्यों से ही सम्पूर्ण सूक्ष्मादि अतीन्द्रिय पदार्थों का जानना मानते हैं । वेद को प्रमाण मानने वालों

में भी उन वेद वाक्यों को पृथक्-पृथक् अर्थ करके कई लोग आपस में विसंवाद करते हैं। भाट्ट, वेद वाक्यों का अर्थ भावना करते हैं। प्रभाकर उन्हीं वाक्यों का अर्थ नियोग करते हैं और वेदान्ती उन्हीं वाक्यों से ब्रह्मवाद को पुष्ट करते हैं।

अतएव श्री समंतभद्रस्वामी कहते हैं कि सभी के सम्प्रदायों में परस्पर में विरोध होने से सभी आप्त नहीं हो सकते हैं किन्तु कोई एक ही आप्त-सच्चा देव हो सकता है। पुनः मानों भगवान् यह प्रश्न करते हैं कि सच्चे आप्त में आप क्या गुण चाहते हैं ? तो समंतभद्रस्वामी कहते हैं कि वह सर्वज्ञ होना चाहिये। सूक्ष्म-परमाणु आदि, अंतरित्त-रामरावण आदि और दूरवर्ती-हिमवन सुमेरु आदि पदार्थ अनुमान ज्ञान से जाने जाते हैं जैसे कहीं पर धुये को देखकर अग्नि का अनुमान लगाया जाता है तो वह अग्नि किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य है और जिनके ये सूक्ष्मादि पदार्थ प्रत्यक्ष होते हैं वे ही सर्वज्ञ हैं। पुनः प्रश्न होता है कि हम सभी संसारी प्राणी अल्पज्ञ हैं तो सर्वज्ञ कैसे बन सकते हैं ? इस पर आचार्य कहते हैं कि दोष और आवरणों का अभाव किसी न किसी जीव में सम्पूर्ण रूप से हो सकता है क्योंकि हम लोगों में दोष-रागादि भाव और आवरण-कर्मों की तरतमता देखी जाती है किन्हीं में रागादि दोष कम हैं किन्हीं में उससे भी कम हैं। इससे यह अनुमान लगता है कि किसी जीव में ये दोषादि सर्वथा भी नष्ट हो सकते हैं जैसे कि अपने निमित्तों से स्वर्ण पाषाण से किट्ट और कालिमा का सर्वथा अभाव हो जाता है और स्वर्ण शुद्ध हो जाता है।

प्रश्न—दोष और आवरण में क्या अन्तर है ?

उत्तर—कर्म के उदय से होने वाले जीव के राग-द्वेष, अज्ञान आदि परिणाम दोष कहलाते हैं इन्हें भाव कर्म भी कहते हैं। ज्ञानावरण आदि पौद्गलिक कर्म आवरण कहलाते हैं इन्हें द्रव्य कर्म कहते हैं। इन दोनों में परस्पर में कार्य कारण भाव निश्चित है जैसे बीज से अंकुर एवं अंकुर से बीज की परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है उसी प्रकार से दोष से आवरण और आवरण से दोष होते रहते हैं।

बौद्ध—अज्ञानादि दोष स्वपरिणाम के निमित्त से ही होते हैं। इसमें आवरण (कर्म का उदय) कुछ भी नहीं कर सकता है।

जैनाचार्य—ऐसा नहीं है। यदि दोषों को स्वनिमित्तक ही मानोगे तो इनका कभी अभाव नहीं हो सकता पुनः इसके नाश के बिना मोक्ष होना भी असंभव हो जावेगा। जैसे जीव के जीवत्व आदि भाव स्वनिमित्तक होने से कभी भी नष्ट नहीं होते हैं। इसलिये दोषों को आवरण निमित्तक मानना ही चाहिये।

सांख्य—अज्ञान आदि दोष परनिमित्तक ही हैं क्योंकि ये स्वयं प्रधान-प्रकृति—जड़ के परिणाम हैं, आत्मा के नहीं।

जैनाचार्य—ये दोष सर्वथा पर पुद्गल के निमित्त से ही ही ऐसी बात नहीं है अन्यथा मुक्त जीव में भी इनका प्रसंग आ जावेगा, क्योंकि पुद्गल वर्गणार्थ तो वहाँ भी मौजूद हैं किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता है। उन सिद्धों में अज्ञान आदि दोष के न होने से केवल पुद्गल के निमित्त से वहाँ पर कर्मबंध नहीं होता है। निष्कर्ष यह निकलता है कि राग-द्वेष आदि से कर्मबंध होता है। और कर्म के उदय से दोष होते हैं। जैसे—ज्ञानावरण कर्म के उदय से जीव में अज्ञान, दर्शनावरण के उदय से अदर्शन, दर्शनमोहनीय के उदय से मिथ्यात्व, चारित्र-मोहनीय के उदय से अचारित्र आदि दोष होते हैं। वैसे ही प्रदोष, निन्दव, मात्सर्य, अंतराय आदि भावों के

निमित्त से ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म का आस्त्र होता है। केवली, श्रुत, संघ, धर्म आदि को झूठा दोष लगाने से दर्शन मोहनीय का एवं कषायों की तीव्रता से चारित्र्य मोहनीय का आस्त्र होकर बंध होता है। इस प्रकार से भाव कर्म के लिये निमित्त कारण द्रव्य कर्म हैं एवं द्रव्य कर्म के लिये निमित्त कारण भावकर्म हैं ऐसा निश्चय हो जाता है। जो लोग ऐसा समझते हैं कि 'मेरी भूल से ही संसार है कर्म का उदय मेरा कुछ बिगाड़ नहीं सकता' उन्हें अपनी एकांत मान्यता को हटा देना चाहिए।

प्रश्न—जैसे किसी जीव में दोष और आवरण का पूर्णतया नाश हो सकता है ऐसे ही किसी जीव में बुद्धि-ज्ञान का भी पूर्णतया नाश मान लेना चाहिये ?

उत्तर—ठीक है, हम स्याद्वादी है। किसी जीव ने पृथ्वीकाय आदि को शरीररूप से ग्रहण करके छोड़ दिया, अतः उन पाषाण, मिट्टी आदि में चैतन्य-ज्ञान का सर्वथा अभाव हो गया। इससे यह समझना चाहिए कि भस्म लोष्ट आदि पृथ्वीकाय सर्वथा अजीव हैं पृथ्वीकायिक में ही जीव विद्यमान रहता है। दूसरी बात यह है कि मति, श्रुत आदि रूप क्षयोपशम ज्ञान का अभाव हो जाता है किन्तु पूर्ण—केवलज्ञान का किसी जीव में अभाव होना सम्भव नहीं है क्योंकि ज्ञान यह जीव का स्वाभाविक परिणाम है।

आत्मा के परिणाम दो प्रकार के हैं—स्वाभाविक और आगंतुक। अनंत ज्ञान आदि गुण स्वाभाविक हैं और अज्ञान आदि मल आगंतुक हैं। आगंतुक मिथ्यात्व, राग-द्वेष अज्ञान भादि दोष के प्रतिपक्षी सम्यग्दर्शन आदि गुणों की वृद्धि हो जाने से दोषों का अभाव हो जाता है।

मीमांसक—संपूर्ण कर्मों से रहित भी आत्मा, परमाणु, धर्म, अधर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थों को कैसे जानेगा ? इनका ज्ञान तो वेद वाक्यों से ही होता है अतः विश्व में कोई सर्वज्ञ नहीं हो सकता है।

जैनाचार्य—सूक्ष्म परमाणु आदि और राम-रावण, सुमेरु आदि किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं, क्योंकि वे अनुमान ज्ञान के विषय हैं। सर्वज्ञ भगवान् अतीन्द्रिय ज्ञान से ही सूक्ष्मादि पदार्थों को जानते हैं, इन्द्रिय ज्ञान से नहीं। क्योंकि इन्द्रियाँ तो वर्तमान और नियत पदार्थ को विषय करती हैं भूत, भविष्यत् के अनंत पदार्थों को नहीं। वेद-वाक्यों से सूक्ष्मादि पदार्थों को ज्ञान मानने में तो सबसे पहले वेद को सर्वज्ञ का वाक्य कहना होगा अन्यथा हम आप जैसे अल्पज्ञ का कथन निर्दोष नहीं हो सकेगा। 'वेद का कर्ता कोई नहीं है' इसका खंडन समया-नुसार किया जावेगा।

अतः कोई न कोई कर्ममलकलंक रहित अकलंक आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी है, वही निर्दोष है यह बात सिद्ध हो जाती है। अब वह निर्दोष, सर्वज्ञ आत्मा कौन हो सकता है ? इस बात को सिद्ध कर रहे हैं।

वे निर्दोष सर्वज्ञ आप ही हैं

चार्वाक—कोई तीर्थंकर प्रमाण नहीं है न कोई आगम है न वेद है अथवा न कोई तर्क अनुमान ही है बस एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन भूतचतुष्टय से ही चैतन्य की उत्पत्ति होती है।

जैनाचार्य—यह बात ठीक नहीं है, देखिये ! यदि आप प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं तब तो कोई भी प्रत्यक्ष से सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध नहीं कर सकते हैं। अच्छा ! आप पहले इन्द्रिय प्रत्यक्ष से सारे विश्व में घूम-कर देख लो कि कहीं भी सर्वज्ञ तीर्थंकर नहीं है तभी आपका कहना सत्य होगा और यदि आपने सारे विश्व को देखा लिया, जान लिया तब तो आप स्वयं ही सर्वज्ञ बन गये क्योंकि 'सर्वं जानातीति सर्वज्ञः' जो सभी को जानता है वही सर्वज्ञ है।

तत्त्वोपप्लववादी—सभी प्रमाण प्रमेय उपप्लुत ही हैं अर्थात् अभावरूप ही हैं । इसलिये सर्वज्ञ कोई है ही नहीं ।

जैनाचार्य—आप सभी प्रमाण—ज्ञान, प्रमेय-जीवादि वस्तुओं का अभाव मानते हैं तब आप अपना और अपनी मान्यता—शून्यवाद का अस्तित्व स्वीकार करते हैं या नहीं ? यदि करते हैं तब तो सर्वथा शून्यवाद नहीं रहा । यदि अपना तथा अपनी मान्यता का भी अस्तित्व स्वीकार नहीं करते हैं तब तो आपका कथन भी अस्तित्व रहित होने से कैसे माना जायेगा ? जैसे कि आकाश का कमल नहीं माना जा सकता है ।

बात यह है—मीमांसक, चार्वाक और तत्त्वोपप्लववादी ये तीनों सर्वज्ञ को मानते ही नहीं हैं । बौद्ध, सांख्य, वैशेषिक और ब्रह्मवादी ये लोग सर्वज्ञ को तो मानते हैं किन्तु उनकी मान्यतायें गलत हैं इस बात का स्पष्टीकरण आगे समयानुसार होगा । हे भगवन् ! जो आत्मा कर्ममल रहित निर्दोष और सर्वज्ञ है वह आप ही हैं क्योंकि आपके वचन युक्ति और शास्त्र से अविरोधी हैं । वह आपका अविरोध इष्ट—शासन, प्रसिद्ध—प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से बाधित नहीं होता है । अर्थात् घातिया कर्मों के नष्ट हो जाने से वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशिता ये तीन गुण आप अर्हंत में ही घटित होते हैं अन्यत्र किसी में घटित नहीं होते हैं, इसलिये आप अर्हंत ही निर्दोष सर्वज्ञ हैं क्योंकि आपके वचनों में किसी प्रकार का विरोध न होने से आपका मत बाधा रहित सर्व प्राणी को हितकर है । और आपके शासन में संसार और मोक्ष तथा संसार के कारण और मोक्ष के कारण ये चार तत्त्व बाधा रहित हैं ! ये चारों बाधा रहित कैसे हैं ?

मोक्ष की समीक्षा

सांख्य—प्रकृति और पुरुष का भेद ज्ञान हो जाने पर चैतन्यमात्र स्वरूप में आत्मा का अवस्थान हो जाना मोक्ष है । सर्वज्ञता प्रधानजड़ का स्वरूप है आत्मा का नहीं, क्योंकि ज्ञानादि अचेतन हैं । वे प्रकृति के ही स्वरूप हैं ।

जैनाचार्य—यह आपका कथन असंभव है । हमारे यहाँ तो अनंत ज्ञान, दर्शन, सुख आदि स्वरूप चैतन्य में अवस्थान हो जाने को ही मोक्ष कहा है, क्योंकि ज्ञानादि आत्मा के स्वभाव हैं—जैसे चैतन्य । वे ज्ञानादि आत्मा को छोड़कर अन्यत्र अचेतन में नहीं पाये जाते हैं । ज्ञान से ही आत्मा सुख दुःख का अनुभव करता है । ज्ञान को आत्मा का स्वभाव नहीं मानने पर तो आत्मा का अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा ।

वंशेषिक—बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार इन नव विशेष गुणों का नाश हो जाना ही मोक्ष है क्योंकि बुद्धि आदि आत्मा के स्वभाव नहीं हैं आत्मा से भिन्न हैं ।

जैनाचार्य—यदि मुक्ति में बुद्धि-ज्ञान और सुख का ही विनाश माना जायेगा तब मुक्ति के लिये भला कौन बुद्धिमान प्रयत्न करेगा ?

ज्ञान आत्मा से सर्वथा भिन्न नहीं हैं कर्ता और करण की अपेक्षा से कथंचित् ही भिन्न हैं । हाँ, इतनी बात अवश्य है कि क्षायोपशमिक ज्ञान और सादा वेदनीयजन्य सुख का तो हम लोग भी मुक्ति में विनाश मान लेते हैं किन्तु क्षायिक पूर्णज्ञान और अतीन्द्रिय अव्याबाध सुख का तो मोक्ष में अभाव नहीं है प्रत्युत ज्ञान और सुख की पूर्णता के लिये ही मोक्ष के लिये प्रयत्न किया जाता है ।

वेदान्तवादी—मुक्त जीव के अनन्त सुख संवेदनरूप ज्ञान तो है किन्तु उन्हें बाह्य पदार्थ का ज्ञान नहीं है ।

जैनाचार्य—पहले यह बताओ कि मुक्त जीव के इन्द्रियों का अभाव है इसलिये बाह्य पदार्थ का ज्ञान नहीं है या बाह्य पदार्थ का अभाव है इसलिये उनका ज्ञान नहीं है ? यदि बाह्य पदार्थ का अभाव हो तो सुख का भी अभाव हो जायेगा क्योंकि आप अद्वैत वादियों ने सुख को भी बाह्य पदार्थ ही माना है । यदि इन्द्रिय का अभाव कही तब तो उन्हें सुख का भी अनुभव कैसे होगा ?

बौद्ध—आत्मवरहित चित्तसंतति की उत्पत्ति ही मोक्ष है ।

जैनाचार्य—यह भी ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञान क्षणों में अन्वय पाया जाता है । तथा निरन्वय क्षणक्षय (अन्वयरहित क्षण-क्षण में क्षय होने की व्यवस्था) को एकान्त से स्वीकार करने पर आपके द्वारा मान्य मोक्ष की सिद्धि बाधित ही है । इस प्रकार से अन्यमतावलंबियों द्वारा मान्य मोक्ष तत्त्व में बाधा आती है अतः जैनों द्वारा मान्य 'कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः' संपूर्ण कर्मों का आत्मा से पृथक् हो जाना मोक्ष है वहाँ पर अनंत गुणों की सिद्धि हो जाती है ।

मोक्ष के कारण की समीक्षा —

सांख्य ज्ञानमात्र को ही मोक्ष का कारण मानते हैं । सो भी ठीक नहीं है । क्योंकि सर्वज्ञ भगवान् के क्षायिक अनंतज्ञान की पूर्णता हो जाने पर भी अघातिया कर्मों के शेष रहने से उनका परमादारीक शरीर पाया जाता है : यदि ज्ञान उत्पन्न होते ही मोक्ष हो जावे तो यहाँ पर सर्वज्ञ का रहना, उपदेश आदि देना नहीं घटेगा । तथा यदि एकान्त से ज्ञान को ही मोक्ष का कारण मान लिया जावे तो सभी के आगम में दीक्षा यदि बाह्य चारित्र का अनुष्ठान एवं सकल दोषों के अभावरूप अभ्यन्तर चारित्र का जो वर्णन है वह सब व्यर्थ हो जायेगा । किन्तु सभी ने तो दीक्षा ग्रहण, गेरुआ वस्त्र धारण और ध्यान आदि को माना ही है ।

ऐसे ही कोई मात्र सम्यग्दर्शन से या कोई-कोई मात्र चारित्र से-क्रियाकांड से ही मुक्ति मानते हैं । उन सबकी मान्यता गलत है ।

हम जैनों ने तो 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इस आगम सूत्र के सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता को ही मोक्ष माना है और यही मान्यता सुसंगत है इसलिये जैनाचार्य द्वारा मान्य मोक्ष के कारण तत्त्व ठीक ही हैं ।

कोई मोक्ष को अकारणक ही कहते हैं किन्तु यह मान्यता बिल्कुल गलत है क्योंकि अनिमित्तक मोक्ष होने से तो हमेशा ही सभी जीवों को मोक्ष हो जावेगी, पुनः कोई संसारी और दुःखी रहेगा ही नहीं । किन्तु ऐसा तो प्रत्यक्ष से ही बाधित है ।

संसार की समीक्षा —

सांख्य कहता है कि प्रकृति-जड़ को ही संसार है आत्मा को नहीं हैं, किन्तु ऐसी एकान्त मान्यता गलत है । हम देखते हैं कि जड़ के संसर्ग से यह संसारी आत्मा संसार में जन्म, मरण आदि अनेकों दुःखों को उठा रही है । 'संसरणं संसारः' संसरण करना—एक गति से दूसरी गति में गमन करना इसी का नाम संसार है । इसके पंच परिवर्तन की अपेक्षा पाँच भेद हैं—द्रव्यसंसार, क्षेत्रसंसार, कालसंसार, भवसंसार और भावसंसार । इन का विवेचन सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में देखना चाहिये, इसलिये संसार तत्त्व भी सिद्ध ही है ।

संसार के कारण की समीक्षा—

सांख्यों ने मिथ्याज्ञान मात्र को ही संसार का कारण माना है। सो ठीक नहीं है। क्योंकि मिथ्याज्ञान का अभाव हो जाने पर भी राम आदि दोषों का अभाव न होने से संसार का अभाव नहीं होता है। यह बात स्वयं सांख्यों ने भी मान ली है। हम जैनों को मान्य संसार के कारण आगम में प्रसिद्ध है “मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतवः” मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पांच बंध के कारण हैं। बंध से ही संसार होता है अतः बंध के कारण ही संसार के कारण माने गये हैं।

किन्हीं का कहना है कि संसार के कारण मिथ्यात्व आदि अनादिकालीन हैं अतः ये निहंतुक हैं। किन्तु ऐसी बात नहीं है यद्यपि ये संसार के कारण अनादि हैं फिर भी अहेतुक (अकारणक) नहीं हैं। इनके कारण द्रव्य कर्म मौजूद हैं, तथा द्रव्य कर्म के कारण ये भाव कर्म हैं इन दोनों में परस्पर में कार्य-कारणभाव पाया जाता है। इसीलिये इन मिथ्यात्व आदि कारणों को सम्यग्दर्शन आदि कारणों से विनाश भी हो सकता है अन्यथा निहंतुक का विनाश होना असम्भव ही हो जाता।

इस प्रकार से आप अर्हन्त भगवान् के शासन में मोक्ष और मोक्ष के कारण तथा संसार और संसार के कारण ये चार तत्त्व अबाधित रूप से सिद्ध हैं अतः आपके वचन युक्ति और शास्त्र से अविरोधी सिद्ध हैं और इसीलिये आप निर्दोष परमात्मा हैं यह बात सिद्ध हो जाती है।

इस तरह छह कारिकायें मात्र अष्टसहस्री के प्रथम भाग में आई हैं। यहाँ तक उन छह कारिकाओं का अभिप्राय है। आगे सातवीं कारिका से लेकर तेईस कारिका तक प्रथम परिच्छेद है जो कि द्वितीयभाग में लिया गया है।

अष्टसहस्री ग्रन्थराज का महत्त्व

इस अष्टसहस्री ग्रन्थ में श्री समंतभद्राचार्य ने दश अध्यायों में मुख्यरूप से दश प्रकार के एकांत का निरसन करके स्याद्वाद की सप्तभंगी प्रक्रिया को घटित किया है। उन एक-एक परिच्छेद में मुख्य-मुख्य एकांतों के खण्डन में उभयैकात्म्य तथा अवाच्य का खण्डन करते हुये “विरोधान्नोभयैकात्म्यं” स्याद्वादन्यायविद्विषाम्। अवाच्यतैकांतैस्स्यु-क्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥ इस कारिका को प्रत्येक अध्याय में लिया है अतः यह कारिका दस बार आ गई है।

प्रथम अध्याय में मुख्यता से भावैकांत अभावैकांत का खंडन है पुनः उभयैकात्म्य का खंडन एवं अवाच्य का खण्डन करते हुये “विरोधान्नोभयैकात्म्यं” इत्यादि कारिका दी गई है। पुनः कथंचित् भाव और कथंचित् अभाव को सिद्ध करके सप्तभंगी प्रक्रिया घटित की है तथा इस भाव अभाव के खण्डन में अनेक अन्य विषय भी स्पष्ट किये हैं। द्वितीय अध्याय में एकत्व पृथक्त्व को एकांत से न मानकर प्रत्येक वस्तु कथंचित् एकत्व-पृथक्त्वरूप ही है यह प्रगट किया है। तृतीय परिच्छेद में नित्यानित्य को दिखाया है। चतुर्थ में भेदाभेदात्मक वस्तु को बताया है, पांचवें में कथंचित् आपेक्षिक अनापेक्षिकरूप वस्तु को सिद्ध किया है। पुनः छठे में हेतुवाद और आगम को स्याद्वाद से सिद्ध करके सातवें में अन्तस्तत्त्व-बहिस्तत्त्व का अनेकांत बताया है। आठवें में दैव-पुरुषार्थ को स्याद्वाद से प्रगट करके नवमें में पुण्य-पाप का अनेकांत उद्योतित किया है। दसवें में ज्ञान-अज्ञान से मोक्ष और बन्ध की व्यवस्था को प्रकाशित किया है तथा स्याद्वाद और नयों का उत्तम रीति से वर्णन किया है। तात्पर्य यही है कि इस अष्ट-सहस्री ग्रन्थ में जिस रीति से स्याद्वाद का वर्णन प्रत्येक स्थान पर किया गया है वैसे वर्णन अन्यत्र न्याय ग्रन्थों में कहीं पर भी नहीं है। प्रत्येक अध्याय में सप्तभंगी प्रक्रिया बहुत ही अच्छी मालूम पड़ती है। अन्त में आचार्य ने यह बताया है कि मोक्षाभिलाषी भव्य जीवों के लिये यह आप्त मीमांसा—सर्वज्ञ विशेष की परीक्षा की गई है। क्योंकि

मुख्यरूप से मोक्ष ही हितरूप है। और उसकी प्राप्ति के कारणभूत रत्नत्रय भी हितरूप माना गया है अतः सम्यक्त्व और मिथ्यात्व विशेष का ज्ञान कराने के लिये यह आप्त मीमांसा प्रधान ग्रन्थ है क्योंकि सत्य-असत्य तत्त्व का एवं आप्त का पूर्णतया निर्णय हो जाने के बाद ही यह जीव असत्य को छोड़कर सत्य मार्ग का या सत्य-आप्त का आश्रय लेता है। अतः यह अष्टसहस्री ग्रन्थ आर्हत्य लक्ष्मी की प्राप्ति पर्यंत स्वार्थ संपत्ति को सिद्ध करने वाली है इसलिये शास्त्र की आदि में स्तुति किये गये आप्त ही मोक्ष मार्ग के प्रणेता कर्मभूभृद् भेत्ता और विश्व तत्त्वों के ज्ञाता सिद्ध हुये अर्हत भगवान् ही निर्दोष आप्त हैं उन्हीं के गुणों को प्राप्त करने के लिये उन्हें ही नमस्कार करना उचित है अन्य को नहीं। यही कारण है कि—

श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः । विज्ञायेत ययं स्वसमयपरसमयसद्भावः ॥

स्वयं श्री विद्यानन्दि आचार्यवर्य ऐसा कहते हैं कि एक अष्टसहस्री ग्रन्थ को ही सुनना चाहिये अन्य हजारों ग्रन्थों के सुनने से क्या प्रयोजन है? क्योंकि इस एक ग्रन्थ के द्वारा ही स्वसमय अपने स्याद्वाद जैन सिद्धांत और परसमय—पर परिकल्पित अनेक एकांत तत्त्वों को समझ नहीं लेंगे तब तक हम अपना सिद्धान्त भी अत्यंत सूक्ष्मतया स्याद्वाद की कसौटी पर कस नहीं सकेंगे और जब तक सप्तभंगी स्याद्वाद प्रक्रिया से हम अपने तत्त्वों को नहीं समझ लेंगे तब तक एकांतवाद के किसी प्रवाह में बहने का डर बना ही रहेगा।

आगम और तर्क दोनों की कसौटी पर कसा गया तत्त्व ही शुद्ध सत्य सिद्ध होता है अन्यथा नहीं। केवल सिद्धांत अथवा केवल अध्यात्म रूप आगम से जाना गया तत्त्व कदाचित् बेमालूम ही एकांत के गड्ढे में डाल सकता है किन्तु आगम और तर्क दोनों के द्वारा समझा गया तत्त्व सम्यक् श्रद्धान से कथमपि च्युत नहीं कर सकता। श्री समंतभद्राचार्यवर्य ने अपनी रचनाओं को भगवान् की स्तुति का रूप देते हुए प्रौढतया न्याय के ग्रन्थ रूप बना दिया है यह विशेषता केवल एक समंतभद्रस्वामी में ही थी कि न्यायपूर्ण शब्दों के द्वारा निर्भीकतया भगवान् के साथ भी वार्तालाप करते हुये उन्हीं सर्वज्ञ भगवान् की भी परीक्षा करने का साहस कर डाला है सो ठीक ही है क्योंकि जब उन्होंने स्वयंभूस्तोत्र की रचना के द्वारा शिवपिंडी से भगवान् चन्द्रप्रभु को ही प्रगट कर लिया था तब उनका इस पद्धति से भगवान् को ही न्याय की कसौटी पर कस देना कोई बड़ी बात नहीं है। सचमुच में यह कोई साधारण व्यक्ति का काम नहीं कि भगवान् की परीक्षा शुरू कर देवे। श्री समंतभद्र जैसे महान् मुनि पुंगवों का ही काम है। इस ग्रन्थ में भगवान् को ही निर्दोष आप्त सिद्ध करके अन्त में यह बतलाया है कि—

इतीयमाप्तमीमांसा विहिता हितमिच्छतां । सम्यग्मित्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्तये ॥११४॥

अर्थात् यह आप्त की मीमांसा-परीक्षा हित-मोक्ष सुख की इच्छा करने वाले भव्यपुरुषों के लिये ही की गई है क्योंकि सम्यक् और मिथ्या उपदेश विशेष की जानकारी होने से मिथ्यात्व का त्याग और सम्यक्त्व का ग्रहण शक्य है अन्यथा नहीं।

अपने जैनसिद्धांत के ही एक-एक कणरूप एक-एक अंश को लेकर मिथ्यावादी जनहठाग्रही बन जाते हैं वे अपेक्षावाद—कथंचित्वादरूप सिद्धांत को नहीं समझ पाते हैं। एक-एक के आग्रह से ही नित्यैकांतवादी, क्षणिकैकांतवादी बन जाते हैं। जैसे सूक्ष्मऋजुसूत्र नय से हमारे यहाँ प्रत्येक वस्तु अर्थपर्यायरूप से प्रतिक्षण होने वाली अर्थ-पर्याय एक समयवर्ती-क्षणिक हैं किन्तु यह नय अन्य नयों से सापेक्ष होने से ही सम्यक् नय है। यदि वह अन्य नयों की अपेक्षा न करे तो मिथ्या नय है इसी एक नय के हठाग्रही बौद्धजन हैं जिन्होंने अपना क्षणिकसिद्धान्त ही बना लिया है इत्यादि। इन सब एकांतों का खण्डन करके यह अष्टसहस्री ग्रन्थ अपने स्याद्वाद को पद-पद पर पुष्ट करता है।

अतएव आचार्य विद्यानन्द महोदय ने यह श्लोक सार्थक ही दिया है—कि इसी एक ग्रन्थ से ही सभी स्वसमय और परसमय का ज्ञान हो जाता है। इसका अष्टसहस्री यह महान सार्थक ही नाम है। इसमें ११४ कारिकाओं से श्री समन्तभद्राचार्यवर्य ने देवागमस्तोत्र रचना की है उस स्तोत्र के ऊपर श्री भट्टाकलंकदेव ने अष्टशती नाम से ८०० श्लोक प्रमाण में टीका की है पुनः उस अष्टशती सहित देवागमस्तोत्र की श्री विद्यानंदि स्वामी ने ८००० आठ हजार श्लोक प्रमाण से अष्टमहस्रो नाम की टीका की है इसका नाम आपने कष्टसहस्री भी दिया है। क्योंकि न्याय के प्रत्येक प्रकरण इसमें बहुत ही क्लिष्ट हैं बड़े ही कष्ट साध्य हैं। तथा आपने इसे “अभोष्टसहस्री पुण्यात्” कहा है कि यह ग्रन्थ नित्य ही हजारों मनोरथों को पुष्ट करे। अतः इस अष्टसहस्री ग्रन्थराज का नित्य ही मनन करना चाहिये तथा देवागम स्तोत्र को भी नित्य ही पढ़ना चाहिये। इस स्तुति के प्रसाद से ही इसका अर्थ समझ सकेंगे।

अष्टसहस्री का अनुवाद

चारित्रचक्रवर्ती १०८ श्री शान्तिसागर जी महाराज के तृतीय पट्टाधीश आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज का चातुर्मास सन् १९६९ वीर सं० २०२७ में जयपुर में मेहदी वालों के चौक में हो रहा था। उस समय संघ में मैं अनेक मुनि-आधिकाओं व ब्रह्मचारी ब्रह्मचारिणियों को अष्टसहस्री, राजवार्तिक आदि ग्रन्थों का अध्ययन कराती थी।

अष्टसहस्री ग्रन्थ के अध्ययन में मोतीचन्द भी थे। इन्होंने मेरी प्रेरणा से शास्त्री का फार्म सोलापुर परीक्षालय का भर दिया था और कलकत्ते का न्यायतीर्थ का फार्म भी भर दिया था इतने क्लिष्ट अष्टसहस्री ग्रन्थ को पढ़ते समय वे प्रतिदिन कहते—माताजी ! मैं इसे मूल से पढ़कर परीक्षा नहीं दे पाऊँगा। मैंने तभी इस अष्टसहस्री ग्रन्थ का अनुवाद करना प्रारम्भ किया। मुझे उस समय पढ़ाने से भी ज्यादा लिखने में आनन्द आने लगा।

कुछ पेजों का अनुवाद देखकर पं० इंद्रलाल जी शास्त्री, पं० भंवरलाल जी न्यायतीर्थ, पं० गुलाबचन्द्र जैन दर्शनाचार्य, पं० सत्यधर कुमार जी सेठी आदि विद्वानों ने प्रशंसा के साथ-साथ यह प्रार्थना शुरू कर दी कि माताजी ! इस ग्रन्थ का अनुवाद पूरा कर दीजिये यह आपके ही वश का काम है इत्यादि। यद्यपि मैं तो स्वयं अपनी रुचि से अनुवाद के कार्य में दत्तचित थी फिर भी विद्वानों की प्रेरणा भी सहायक थी। मैंने सन् १९७० में टोडाराय सिंह में पौष शुक्ला द्वादशी के दिन यह अनुवाद कार्य पूरा किया। अनन्तर मैंने इस ग्रन्थ के अनुवाद की दश कावियों से सार लेकर चौबन सारांश बनाये। मेरे इन सारांशों के आधार से विद्यार्थी मोतीचन्द्र, रवीन्द्रकुमार, कुमारी मालती, माधुरी, त्रिशला, कला ने शास्त्री की परीक्षा में उत्तीर्णता प्राप्त की थी।

दिल्ली में कई बार डॉ० पं० लाल बहादुर जी शास्त्री आदि ने मेरे से निवेदन किया कि माताजी ! आप इन सारांशों को अवश्य ही प्रकाशित करा दीजिये। इनके आधार से आज अनेक विद्यार्थी अष्टसहस्री ग्रन्थ की परीक्षा दे सकेंगे। वे सभी सारांश इस अष्टसहस्री ग्रन्थ की हिन्दी टीका में यथास्थान जोड़े गये हैं जिससे यह अनुवादित हिन्दी टीका बहुत ही सरल बन गई है।

यह पहला भाग मात्र जिसमें छह कारिकायें ही हैं वह सन् १९७४ में छप चुका था। उस समय उसकी टीका का नामकरण नहीं किया गया था। पुनः मैंने “स्याद्वादचितामणि” ऐसा इसका सार्थक नाम दिया है।

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला का अष्टसहस्री ग्रन्थ का वह प्रथम भाग प्रथम पुष्प था और आज सन् १९८६ में इसका द्वितीय भाग अट्ठानव्वेवां पुष्प बना है। इस द्वितीय भाग के छपते ही प्रथम भाग का द्वितीय संस्करण निकालना अतीव आवश्यक प्रतीत हुआ क्योंकि यह प्रथम संस्करण अप्राप्य हो चुका था, मुझे हर्ष है कि अष्टसहस्री

का यह प्रथम भाग पुनः आपके हाथों में पहुँच रहा है। इस बीच में ग्रन्थमाला के द्वितीय पुष्प से लेकर सत्तानवें पुष्प तक छप चुके हैं। आगे इसके तृतीय और चतुर्थ भाग भी शीघ्र ही प्रकाशित होंगे ऐसी भावना है।

न्यायसार कुंचिका है

इन बड़े-बड़े न्यायग्रन्थों को—जैन दर्शन के ग्रन्थों को सरलता से समझने के लिये मैंने परीक्षामुख, न्यायदीपिका, षट्दर्शन समुच्चय आदि ग्रन्थों का अच्छी तरह मनन करके उनमें से कुछ सारभूत सूत्रों को लेकर एक “न्यायसार” नाम से छोटी-सी पुस्तक लिखी है उसे अष्टसहस्री के प्रथम भाग के परिशिष्ट में दे दिया था। यह एक स्वतन्त्र पुस्तक है। अष्टसहस्री के पाठकों को उस “न्यायसार” का अध्ययन अवश्य करना चाहिये। यह छोटी-सी पुस्तक न्यायशास्त्रों में प्रवेश पाने के लिये कुंचिका (चाबी) के समान है।

आगे इस “अष्टसहस्री” ग्रंथराज के मूलकर्ता—आधारभूत आचार्य श्री उमा स्वामी आदि चारों आचार्यों का कुछ परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

श्री उमास्वामी आचार्य

तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ के रचयिता आचार्य श्री उमास्वामी हैं। इनको उमास्वाति भी कहते हैं। इनका अपरनाम गृद्धपिच्छाचार्य है। ध्वलाकार ने इनका नामोल्लेख करते हुये कहा है कि—

“तह गिद्धपिच्छाइरियप्पयासिदत्तच्चत्थसुत्तेवि”¹।

उसी प्रकार से गृद्धपिच्छाचार्य के द्वारा प्रकाशित तत्त्वार्थसूत्र में भी कहा है। इनके इस नाम का समर्थन श्री विद्यानन्द आचार्य ने भी किया है। यथा—

“एतेन गृद्धपिच्छाचार्यपर्यतमुनिसूत्रेण व्यभिचारता निरस्ता”²।”

इस कथन से गृद्धपिच्छाचार्य पर्यत मुनियों के सूत्रों से व्यभिचार दोष का निराकरण हो जाता है।

तत्त्वार्थ सूत्र के किसी टीकाकार ने भी निम्न पद्य में तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता का नाम गृद्धपिच्छाचार्य दिया है—

तत्त्वार्थसूत्रकर्तारं गृद्धपिच्छोपलक्षितम् । वंदे गणीन्द्रसंजातमुमास्वामिमुनीश्वरम् ॥

“गृद्धपिच्छ” इस नाम से उपलक्षित, तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता, गण के नाम उमास्वामी मुनीश्वर की मैं वन्दना करता हूँ।

श्री वादिराज ने भी इनके गृद्धपिच्छ नाम का उल्लेख किया है—

अतुच्छगुणसंपातं गृद्धपिच्छं नतोऽस्मि तम् । पक्षीकुर्वन्ति यं भव्या निर्वाणाद्योस्पतिष्णवः³ ॥

आकाश में उड़ने की इच्छा करने वाले पक्षी जिस प्रकार अपने पंखों का सहारा लेते हैं उसी प्रकार मोक्ष नगर को जाने के लिये भव्य लोग जिस मुनीश्वर का सहारा लेते हैं, उन महामना, अगणित गुणों के भंडार स्वरूप गृद्धपिच्छ नामक मुनिमहाराज के लिये मेरा सविनय नमस्कार हो।

1. षट्खंडागम, ध्वलाटीका, जीवस्थान, काल अनुयोग द्वार पृ० ३१६।
2. तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक पृ० ६।
3. पार्श्वनाथचरित १, १६।

श्रवणवेलगोला के एक अभिलेख में गृद्धपिच्छ नाम की सार्थकता और कुन्दकुन्द के वंश में उनकी उत्पत्ति बतलाते हुये उनका “उमास्वाति” नाम भी दिया है। यथा—

अभूदुमास्वातिमुनिः पवित्रे, वंशे तदीये सकलार्थवेदी ।
सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीतं, शास्त्रार्थज्ञातं मुनिपुंगवेन ॥
स प्राणिसंरक्षणसावधानो, बभार योगी किल गुद्धपक्षान् ।
तदा प्रभृत्येव बुधा यमाहुराचार्यशब्दोत्तरगृद्धपिच्छम् ॥

आचार्य कुन्दकुन्द के पवित्र वंश में सकलार्थ के ज्ञाता उमास्वाति मुनीश्वर हुये, जिन्होंने जिनप्रणीत द्वादशामवाणी को सूत्रों में निबद्ध किया। इन आचार्य ने प्राणि रक्षा हेतु गृद्धपिच्छों को धारण किया। इसी कारण वे गृद्धपिच्छाचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुये। इस प्रमाण में गृद्धपिच्छाचार्य को “सकलार्थवेदी” कहकर “श्रुतकेवली सद्गुरु” भी कहा है। इससे उनका आगम सम्बन्धी सातिशय ज्ञान प्रकट होता है।

इस प्रकार त्रिगम्बर साहित्य और अभिलेखों का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता गृद्धपिच्छाचार्य, अपरनाम उमास्वामि या उमास्वाति हैं।

समय निर्धारण और गुरु-शिष्य परम्परा :—नदिसंघ की पट्टावली और श्रवणवेलगोला के अभिलेखों से यह प्रमाणित होता है कि ये गृद्धपिच्छाचार्य कुन्दकुन्द के अन्वय में हुए हैं। नदिसंघ की पट्टावली विक्रम के राज्याभिषेक से प्रारम्भ होती है। वह निम्न प्रकार है—

१. भद्रबाहु द्वितीय (४), २. गुप्तिशुप्त (२६), ३. माघनंदि (३६), ४. जिनचन्द्र (४०), ५. कुन्दकुन्दाचार्य (४), ६. उमास्वामि (१०१), ७. लोहाचार्य (१४२) ………।

अर्थात् “नदिसंघ की पट्टावली में बताया है कि उमास्वामी वि० सं० १०१ में आचार्य पद पर आसीन हुये, वे ४० वर्ष आठ महीने आचार्य पद पर प्रतिष्ठित रहे। उनकी आयु ८४ वर्ष की थी और विक्रम सं० १४२ में उनके पट्ट पर लोहाचार्य द्वितीय प्रतिष्ठित हुये। प्रो० हार्नले, डा० पिटर्सन और डा० सतीशचन्द्र ने इस पट्टावली के आधार पर उमास्वाति को ईसा की प्रथम शताब्दी का विद्वान माना है^२।”

“किन्तु स्वयं नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य ने इन्हें ईस्वी सन् की द्वितीय शताब्दी का अनुमानित किया है।”

कुछ भी हो ये आचार्य श्री कुन्दकुन्द के शिष्य थे। यह बात अनेक प्रशस्तियों से स्पष्ट है। यथा—

तस्मादभूद्योगिकुलप्रदीपो, बलाकपिच्छः स तपोमहद्भिः ।
यदंगसंस्पर्शनमात्रतापि, वायुविधादीनमृतीचकार^३ ॥१३॥

इन योगी महाराज की परम्परा में प्रदीपस्वरूप महद्भिःशाली तपस्वी बलाकपिच्छ हुये। इनके शरीर के स्पर्शमात्र से पवित्र हुई वायु भी उस समय लोगों के विष आदि को अमृत कर देती थी।

1. जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, अभिलेख सं० १०८, पृ० २१०-१११।
2. भगवान् महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग २, पृ० १५२।
3. वही पुस्तक, पृ० ४११।

विरुदावलि में भी कुन्दकुन्द के पट्ट पर उमास्वाति को माना है। “दशाध्यायसमाक्षिप्तजैनागमतत्त्वार्थ-सूत्रसमूहश्रीमदुमास्वातिदेवानाम्^१ ॥३॥”

इन सभी उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्री कुन्दकुन्ददेव के पट्ट पर ही ये उमास्वामी आचार्य हुये हैं और इन्होंने अपना आचार्य पद बलाकपिच्छ या लोहाचार्य को सौंपा है।

तत्त्वार्थसूत्र रचना—इन आचार्य महोदय की “तत्त्वार्थसूत्र” रचना यह अपूर्व रचना है। यह ग्रन्थ जैन धर्म का सार ग्रन्थ होने से इसके मात्र पाठ करने का या सुनने का फल एक उपवास बतलाया गया है यथा—

दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति । फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुंगवैः ॥

दश अध्याय से परिमित इस तत्त्वार्थसूत्र के पढ़ने से एक उपवास का फल होता है ऐसा मुनिपुंगवों ने कहा है। वर्तमान में इस ग्रन्थ को जैन परम्परा में वही स्थान प्राप्त है, जो कि हिन्दू धर्म में “भगवद्गीता” को, इस्लाम में “कुरान” को और ईसाई धर्म में “बाइबिल” को प्राप्त है। इससे पूर्व प्राकृत में ही जैनग्रन्थों की रचना की जाती थी।

इस ग्रन्थ को दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा में समानरूप से ही महानता प्राप्त है। अनेक आचार्यों ने इस पर टीका ग्रन्थ रचे हैं। श्री देवनन्दि अपरनाम पूज्यपाद आचार्य ने इस पर “सर्वार्थसिद्धि” नाम से टीका रची है जिसका अपरनाम “तत्त्वार्थवृत्ति” भी है। श्री भट्टाकलंकदेव ने तत्त्वार्थराजवार्तिक नाम से तथा विद्यानन्द महोदय ने “तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक” नाम से दार्शनिक शैली में टीका ग्रन्थों का निर्माण करके इस ग्रन्थ के अतिशय महत्त्व को सूचित किया है। श्री श्रुतसागरसूरि ने “तत्त्वार्थवृत्ति” नाम से टीका रची है और अन्य-अन्य कई टीकायें उपलब्ध हैं। श्री समन्तभद्र स्वामी ने इसी ग्रन्थ पर “गन्धहस्तिमहाभाष्य” नाम से “महाभाष्य” रचा है जो कि आज उपलब्ध नहीं हो रहा है।

दशाध्यायपूर्ण इस ग्रन्थ का एक मंगलाचरण ही इतना महत्त्वशाली है कि आचार्य श्री समन्तभद्र ने उस पर “आप्तमीमांसा” नाम से आप्त की मीमांसा-विचारणा करते हुये एक स्तोत्र ग्रन्थ रचा है, उस पर श्री भट्टाकलंकदेव ने “अष्टशती” ग्रन्थ रचा है। इसी पर श्री विद्यानन्द आचार्य ने “अष्टसहस्री” नाम से महान् उच्चकोटि का दार्शनिक ग्रन्थ रचा है। श्री विद्यानन्द आचार्य ने तत्त्वार्थ सूत्र पर ही “श्लोकवार्तिक” नाम से जो महान् टीका ग्रन्थ की रचना की है उसमें सबसे प्रथम मंगलाचरण की टीका में ही उन्होंने १२४ कारिकाओं में आप्त परीक्षा ग्रन्थ की रचना की एवं उसी पर स्वयं ने ही स्वोपज्ञ टीका रची है।

कुछ विद्वान् “मोक्षमार्गस्य नेतार” इत्यादि मंगलाचरण को श्री उमास्वामी आचार्य द्वारा रचित न मान कर किन्हीं टीकाकारों का कह रहे थे। परन्तु “श्लोकवार्तिक” और “अष्टसहस्री” ग्रन्थ में उपलब्ध हुये अनेक प्रमाणों से अब यह अच्छी तरह निर्णीत किया जा चुका है कि यह मंगलश्लोक श्री सूत्रकार आचार्य द्वारा ही विरचित है।

इन महान् आचार्य के द्वारा रचा हुआ एक श्रावकाचार भी है जो कि “उमास्वामी-श्रावकाचार” नाम से प्रकाशित हो चुका है। कुछ विद्वान् इस श्रावकाचार को इन्हीं सूत्रकर्ता उमास्वामी का नहीं मानते हैं, किन्तु

1. वही पुस्तक, पृ० ४३१ ।

ऐसी बात नहीं है। वास्तव में वह इन्हीं आचार्यदेव की रचना है यह बात उसी श्रावकाचार के निम्न पद्यों से स्पष्ट है। यथा—

सूत्रे तु सप्तमेऽप्युक्ताः पृथग्भोक्तास्तदर्थतः । अवशिष्टः समाचारः सोऽत्रैव कथितो ध्रुवम् ।
॥४६४॥

अर्थात्—इस श्रावकाचार में श्रावकों की षट् आवश्यक क्रियाओं का वर्णन करते हुये उनके अणुव्रत आदिकों का भी वर्णन किया है। पुनः यह संकेत दिया है कि मैंने “तत्त्वार्थसूत्र” के सप्तम अध्याय में श्रावक के १२ व्रतों का और उनके अतीचारों का विस्तार से कथन किया है अतः यहाँ उनका कथन नहीं किया है। बाकी जो आवश्यक क्रियायें, “देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान का वर्णन वहाँ नहीं किया है उन्हीं को यहाँ पर कहा गया है।”

पुनरपि अंतिम श्लोक में कहते हैं कि—

इति वृत्तं मयेष्टं सश्रये षष्ठमकेऽखिलम् । चान्यन्मया कृते ग्रंथेऽन्यस्मिन् दृष्टव्यमेव च ।

॥४७६॥

इस प्रकार से मैंने इस श्रावकाचार की छठी अध्याय में श्रावक के लिये इष्ट चारित्र का वर्णन किया है। अन्य और जो कुछ भी श्रावकों का आचार है वह सब मेरे द्वारा रचित अन्य ग्रन्थ (तत्त्वार्थसूत्र) से देख लेना चाहिये।

इस प्रकार के उद्धरणों से यह निश्चित हो जाता है कि श्रावकाचार भी पूज्य उमास्वामी आचार्य की ही रचना है।

यद्यपि इस श्रावकाचार में भाषा शैली की अतीव सरलता है फिर भी उससे यह नहीं कहा जा सकता है कि यह रचना उनकी नहीं है, क्योंकि सूत्रग्रन्थ में सूत्रों की रचना सूत्ररूप ही रहेगी और श्लोक ग्रन्थों में श्लोकरूप। जिस प्रकार से श्री कुंदकुंददेव द्वारा रचित समयसार, प्रवचनसार आदि ग्रन्थों की रचना अतीव प्रौढ़ है “तथा अष्टपाहुड़ के गाथासूत्रों की रचना उतनी प्रौढ़ न होकर सरल है फिर भी एक ही आचार्य कुंदकुंद इन ग्रन्थों के रचयिता मान्य हैं वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये और उमास्वामी आचार्य की प्रमाणता के अनुरूप ही उनके इस श्रावकाचार को भी प्रमाण मानकर उसका भी स्वाध्याय करना चाहिये।

श्री समंतभद्र स्वामी

जिस प्रकार गृद्धपिच्छाचार्य संस्कृत के प्रथम सूत्रकार हैं, उसी प्रकार जैनवाङ्मय में स्वामी समंतभद्र प्रथम संस्कृत कवि और प्रथम स्तुतिकार हैं। ये कवि होने के साथ-साथ प्रकाण्ड दार्शनिक और गंभीर चिंतक भी हैं। स्तोत्रकाव्य का सूत्रपात आचार्य समंतभद्र से ही होता है। इनकी स्तुतिरूप दार्शनिक रचनाओं पर अकलंक और विद्यानंद जैसे उद्भट आचार्यों ने टीका और विवृत्तियाँ लिखकर मौलिक ग्रन्थ रचयिता का यश द्विगुणित किया है। बीतरामी तीर्थंकर की स्तुतियों में दार्शनिक मान्यताओं का सनावेश करना असाधारण प्रतिभा का द्योतक है।

आदिपुराण में आचार्य जिनसेन इन्हें कवियों के विधाता कहते हैं और उन्हें गमक आदि चार विशेषणों से त्रिशिष्ट बतलाते हैं। यथा—

नमः समंतभद्राय महते कविधेधसे । यद्वचोवज्रपातेन निर्भिन्ना कुमताद्रयः ॥
कवीनां गमकानां च वादिनां वाग्मिनामपि । यशः सामन्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीयते ॥^१

मैं कवि समंतभद्र को नमस्कार करता हूँ, जो कि कवियों के लिये ब्रह्मा हैं और जिनके वचनरूपी वज्रपात से मिथ्यामतरूपी पर्वत चूर-चूर हो जाते हैं। कविगण, गमकगण, वादीगण और वाग्मीगण इन सभी के मस्तक पर श्री समंतभद्र स्वामी का यश चूडामणि के समान शोभित होता है।

स्वतन्त्र कविता करने वाले “कवि” कहलाते हैं, शिष्यों को मर्म तक पहुँचा देने वाले “गमक”, शास्त्रार्थ करने वाले “वादी” और मनोहर व्याख्यान देने वाले “वाग्मी” कहलाते हैं।

श्रीशुभचंद्र आचार्य, श्रीवर्द्धमानसूरि, श्रीजिनसेनाचार्य और श्रीवादीभक्तिसहसुरी आदि ने अपने-अपने ग्रन्थ जानार्णव, वरांगचरित, अलंकार चिंतामणि और गद्यचिंतामणि आदि में श्री समंतभद्र स्वामी की सुन्दर-सुन्दर श्लोकों में स्तुति की है।

ये जैनधर्म और जैनसिद्धांत के मर्मज्ञ विद्वान होने के साथ-साथ तर्क, व्याकरण, छन्द, अलंकार एवं काव्य, कोष आदि विषयों में पूर्णतया अधिकार रखते थे। सो ही इनके ग्रन्थों से स्पष्ट झलक जाता है। इन्होंने जैनविद्या के क्षेत्र में एक नया आलोक विकीर्ण किया है। श्रवणवेलगोला के अभिलेखों में तो इन्हें जिनशासन के प्रणेता और भद्रमूर्ति कहा गया है।

इनका जीवन परिचय, मुनिपद, गुरु-शिष्य परंपरा, समय और इनके रचित ग्रन्थ इन पाँच बातों पर यहाँ संक्षेप में प्रकाश डाला जायेगा।

जीवन परिचय

इनका जन्म दक्षिण भारत में हुआ था। इन्हें चोल राजवंश का राजकुमार अनुमित किया जाता है। इनके पिता उरगपुर (उरैपुर) के क्षत्रिय राजा थे। यह स्थान कावेरी नदी के तट पर फणिमण्डल के अन्तर्गत अत्यन्त समृद्धशाली माना गया है। श्रवणवेलगोला के दोरवली जिनदासशास्त्री के भंडार में पाई जाने वाली आप्त-मीमांसा की प्रति के अन्त में लिखा है—“इति फणिमंडलालंकारस्थोरगपुराधिपसूतोः श्रीस्वामीसमंतभद्रमुनेः कृतौ आप्तमीमांसायाम्”—इस प्रशस्तिवाक्य से स्पष्ट है कि समंतभद्र स्वामी का जन्म क्षत्रियवंश में हुआ था और उनका जन्मस्थान उरगपुर है।

इनका जन्म नाम शांतिवर्मा बताया जाता है “स्तुतिविद्या” अपरनाम “जिनस्तुतिशतक” के ११६वें पद्य में कवि और काव्य का नाम चित्रबद्धरूप में अंकित है। इस काव्य के छह आरे और नव बलय वाली चित्ररचना पर से “शांतिवर्मकृतम्” और “जिनस्तुतिशतम्” ये दो पद निकलते हैं। संभव है यह नाम माता-पिता के द्वारा रखा गया हो और “समंतभद्र” मुनि अवस्था का हो।

मुनिदीक्षा और भस्मकव्याधि

मुनिदीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् जब वे मणुवकहल्ली स्थान में विचरण कर रहे थे कि उन्हें भस्मक

1. महापुराण, भाग १, 1 (४४-४३)।

व्याधि नामक भयानक रोग हो गया, जिससे दिगम्बर मुनि चर्या का निर्वाह उन्हें अशक्य प्रतीत हुआ। तब उन्होंने गुरु से समाधिमरण धारण करने की इच्छा व्यक्त की। गुरु ने भावी होनहार शिष्य को आदेश देते हुये कहा—

“आपसे धर्म प्रभावना के लिये बड़ी-बड़ी आशायें हैं अतः आप दीक्षा छोड़कर रोग शमन का उपाय करें, रोग दूर होने पर पुनः मुनिदीक्षा ग्रहण करके स्वपर कल्याण करें।” गुरु की आज्ञानुसार समंतभद्र रोगोपचार हेतु जिनमुद्रा छोड़कर सन्यासी बन गये और इधर-उधर विचरण करने लगे। एक समय वाराणसी में शिवकोटि राजा के शिवालय में जाकर राजा को आशीर्वाद दिया और शिवजी को ही मैं खिला सकता हूँ ऐसी घोषणा की। राजा की अनुमति प्राप्त कर समंतभद्र शिवालय के किवाड़ बंद कर उसे नैवेद्य को स्वयं ही भक्षण कर रोग को शांत करने लगे। शनैः शनैः उनकी व्याधि का उपशम होने लगा अतः भोग की सामग्री बचने लगी तब राजा को सदेह हो गया अतः गुप्तरूप से उसने इस रहस्य का पता लगा लिया। तब समंतभद्र से उन्होंने शिवजी को नमस्कार के लिये प्रेरित किया। समंतभद्र ने इसे उपसर्ग समझकर चतुर्विंशति तीर्थंकरों की स्तुति प्रारंभ की। जब वे चन्द्रप्रभ की स्तुति कर रहे थे कि शिव की पिंडी से भगवान् चन्द्रप्रभ की प्रतिमा प्रकट हो गई। समंतभद्र के इस माहात्म्य को देखकर शिवकोटि राजा अपने भाई शिवायन सहित उनके शिष्य बन गये। यह कथानक “राजावलिकथे” में उपलब्ध है।

श्रवणबेलगाला के एक अभिलेख में लिखा है—

वंद्यो भस्मकभस्मसात्कृतिपटः पद्मावतीदेवता-दत्तोदात्तपदस्वमंत्रवचनव्याहृतचन्द्रप्रभः ।
आचार्यस्स समंतभद्रगणभृद्येनेह काले कलौ, जैन वर्त्म समंतभद्रमभवद्भद्रं समन्तान्मुहुः¹ ॥

अथात् जो अपने भस्मक रोग को भस्मसात् करने में चतुर है, पद्मावती नामक देवी की दिव्य शक्ति के द्वारा जिन्हें उदात्त पद की प्राप्ति होने से मंत्रवचनों द्वारा जिन्होंने चन्द्रप्रभ को प्रकट किया है और जिनके द्वारा यह कल्याणकारी जैनमार्ग इस कलिकाल में सब ओर से भद्ररूप हुआ है वे गणनायक आचार्य श्री समंतभद्र स्वामी बार-बार हम सभी के द्वारा वंद्य हैं।

आराधना कथाकोष में मूर्ति प्रकट होने के अनंतर ऐसा प्रकरण आया है कि चन्द्रप्रभ की मूर्ति प्रकट होने के इस चमत्कार को देखकर उनकी स्तोत्र रचना पूरी होने के बाद राजा शिवकोटि ने उनसे उनका परिचय पूछा। तब समंतभद्र ने उत्तर देते हुए कहा—

कांच्यां नग्नाटकोऽहं, मलमलिनतनुर्लम्बिशो पांडुपिण्डः ।
पुण्ड्रेण्डे शाक्यभिक्षुर्दशपुरनगरे, मिष्टभोजी परिव्राट् ।
वाराणस्यामभूवं शशकरधवलः, पाण्डुरांगस्तपस्वी ।
राजन् यस्यास्ति शक्तिः स, वदतु परतो जैननिर्ग्रन्थवादी ॥

मैं कांची में नग्न दिगम्बर यति के रूप में रहा, शरीर में रोग होने पर पुण्ड्र नगरी में बौद्ध भिक्षु बनकर मैंने निवास किया। पश्चात् दशपुर नगर में मिष्टान्त भोजी परिव्राजक बनकर रहा। अनंतर वाराणसी में आकर शैव तपस्वी बना। हे राजन् ! मैं जैन निर्ग्रन्थवादी हूँ। यहाँ जिसकी शक्ति वाद करने की हो वह मेरे सम्मुख आकर वाद करे। पुनश्च—

1. जैन शिलालेखसंग्रह, प्रथम भाग, अभिलेख संख्या ५४, पृ० १०२ ।

पूर्व पाटलिपुत्रमध्यनगरे, भेरी मया ताडिता ।
पश्चान्मालवसिन्धुषकविषये कांचीपुरे वैदिशे ।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं,
वादार्यो विचराम्यहं नरपते ! शार्दूलविक्रीडितम् ॥

मैंने पहले पटना नगर में वाद की भेरी बजाई, पुनः मालवा, सिन्धु-देश, षक-ढाका (बंगाल), काञ्चीपुर और वैदिश—विदिशा—भेलसा के आसपास के प्रदेशों में भेरी बजाई । अब बड़े-बड़े वीरों से युक्त इस करहाटक नगर को प्राप्त हुआ हूँ । इस प्रकार हे राजन् ! मैं वाद करने के लिये सिंह के समान इतस्ततः क्रीड़ा करता हुआ विचरण कर रहा हूँ ।

राजा शिवकोटि समंतभद्र के इस आख्यान को सुनकर भोगों से विरक्त हो दीक्षित हो गये । ऐसी वर्णन है ।

गुरु-शिष्य परम्परा—यद्यपि समंतभद्र की गुरु-शिष्य परंपरा के विषय में बहुत कुछ अनिर्णीत ही है । फिर भी इन्हें किन्हीं प्रशस्तियों में उमास्वामी के शिष्य बलाकपिच्छ के पट्टाचार्य माना है । श्वणबेलगोला के एक अभिलेख में भी आया है—“श्रीगृद्धपिच्छमुनिपस्य बालकपिच्छः । शिष्योऽजनिष्टः” । एवं महाचार्यपरंपरायां, “समंतभद्रोऽजनि वार्दिसहः”¹ ।

अर्थात् भद्रबाहुश्रुतकेवली के शिष्य चंद्रगुप्त, चंद्रगुप्त के वंशज पद्मनदि अपरनाम श्री कुन्दकुन्दाचार्य, उनके वंशज गृद्धपिच्छाचार्य, उनके शिष्य बलाकपिच्छ और उनके पट्टाचार्य श्री समंतभद्र हुये हैं ।

“श्रुतमुनि-पट्टावलिः” में भी कहा है—

तस्माद्भूद्-योगिकुलप्रदीपो, बलाकपिच्छः स तपोमहर्द्धिः ।
यदंगसंस्पशनमात्रतोऽपि, वायुर्विषादीनमृतीचकार ॥ १३॥
समंतभद्रोऽजनि भद्रमूर्तिस्ततः प्रणेता जिनशासनस्य ।
यदीयवाग्बज्रकठोरपातश्चूर्णाचकार प्रतिवादिशंलान् ॥ १४॥

चन्नरायपट्टण ताल्लुका के अभिलेख नं० १४६ में इन श्रुतकेवलि में ऋद्धि मानी है और वर्धमान जिन के शासन की सहस्रगुणी वृद्धि करने वाला कहा है ।

समय निर्धारण—आचार्य समंतभद्र के समय के संबंध में विद्वानों ने पर्याप्त ऊहापोह किया है । मि० लेविस राईस का अनुमान है कि ये आचार्य ई० की प्रथम या द्वितीय शताब्दी में हुये हैं । डा० ज्योतिप्रसाद जी आदि ने भी सन् १२० में राजकुमार के रूप में, सन् १३० में मुनि पद में, सन् १८५ के लगभग स्वर्गस्थ हुये ऐसे ईस्वी सन् की द्वितीयशती को ही स्वीकार किया है । अतएव संक्षेप में समंतभद्र का समय ईस्वी सन् द्वितीय शताब्दी ही प्रतीत होता है ।

1. जैन शिलालेखसंग्रह, प्रथम भाग, लेख संख्या ४०, पद्य ८-६, पृ० २५ ।

2. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परंपरा भाग ४, पृ० ४११ ।

समंतभद्र की रचनायें

१. बृहत्स्वयंभूस्तोत्र, २. स्तुतिविद्या-जिनशतक, ३. देवागमस्तोत्रआप्तमीमांसा, ४. युक्त्यनुशासन, ५. रत्नकरण्डश्रावकाचार, ६. जीवसिद्धि, ७. तत्त्वानुशासन, ८. प्राकृतव्याकरण, ९. प्रमाण पदार्थ, १०. कर्मप्राभूत-टीका, ११. गंधहस्तिमहाभाष्य ।

१. "स्वयंभूवा भूतहितेन भूतले" आदि रूप से स्वयंभूस्तोत्र, धर्मध्यान दीपक आदि पुस्तकों में प्रकाशित हो चुका है । यह सटीक भी छप चुका है ।

२. "स्तुतिविद्या" इसमें भी चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति है जो कि एक अक्षर, दो अक्षर आदि के श्लोकों में अथवा मुरजबंध, हारबंध आदि चित्रकाव्यरूप श्लोकों में एक अपूर्व ही रचना है ।

३. इस देवागमस्तोत्र में सर्वज्ञदेव को तर्क की कसौटी पर कसकर सच्चा आप्त सिद्ध किया गया है । तत्कालीन नैरात्म्यवाद, क्षणिकवाद, ब्रह्माद्वैतवाद, पुरुष-प्रकृतिवाद आदि की समीक्षा करते हुये स्याद्वाद सिद्धान्त की प्रतिष्ठा जैसी इस ग्रन्थ में उपलब्ध है वैसी सप्तभंगी की सुन्दर व्यवस्था अन्यत्र जैनवाङ्मय में आपको नहीं मिलेगी । यह स्तोत्र ग्रन्थ केवल तत्त्वार्थसूत्र के "मोक्षमार्गस्य" मंगलाचरण को आधार करके बना है । इसी स्तोत्र पर अकलंक देव ने अष्टशती नाम का भाष्य ग्रन्थ बनाया है और विद्यानंद आचार्य ने अष्टसहस्री नाम का जैन दर्शन का सर्वोच्च ग्रन्थ निमित्त किया है ।

४. युक्त्यनुशासन में भी परमत का खंडन करते हुये आचार्यदेव ने वीर के तीर्थ को सर्वोदय तीर्थ घोषित किया है ।

५. रत्नकरण्ड श्रावकाचार में तो १५० श्लोकों में ही आचार्यदेव ने श्रावकों के सम्पूर्ण व्रतों का वर्णन कर दिया है । इसमें अतिथिसंविभाग व्रत के स्थान पर वंधावृत्य का सुन्दर स्वरूप बतलाकर इसी व्रत में देव पूजा को भी ले लिया है ।

आगे की ७ रचनायें आज उपलब्ध नहीं हैं ।

इस प्रकार से भी समंतभद्राचार्य अपने समय में एक महान आचार्य हुए हैं । इनकी गौरव गाथा गाने के लिये हम और आप जैसे साधारण लोग समर्थ नहीं हो सकते हैं । कहीं-कहीं इन्हें भावी तीर्थंकर माना गया है ।

श्री अकलंकदेव आचार्य

जैन दर्शन में अकलंकदेव एक प्रखर तार्किक और महान दार्शनिक हुये हैं । बौद्ध दर्शन में जो स्थान धर्मकीर्ति को प्राप्त है, जैन दर्शन में वही स्थान अकलंकदेव का है । इनके द्वारा रचित प्रायः सभी ग्रन्थ जैन दर्शन और जैन न्याय विषयक हैं ।

श्री अकलंकदेव के सम्बन्ध में श्रवणभेलगोला के अभिलेखों में अनेक स्थान पर स्मरण आया है ।

अभिलेख संख्या ४७ में लिखा है—

षट्कर्णेश्वकलंकदेवविबुधः साक्षादयं भूतले^१ ।

१. जैन शिलालेख संग्रह, भाग १, अभिलेख ४७ ।

अर्थात् अकलंकदेव घट्टदर्शन और तर्कशास्त्र में इस पृथ्वी पर साक्षात् बृहस्पति देव थे ।
अभिलेख नं० १०८ में पूज्यपाद के पश्चात् अकलंकदेव का स्मरण किया गया है—

“ततः परं शास्त्रविदां मुनीनामग्रेसरोऽभूदकलंकसूरिः ।

मिथ्यान्धकारस्थगिताखिलार्थाः, प्रकाशिता यस्य वचोमयूखैः^१ ॥”

इनके बाद शास्त्र ज्ञानी महामुनियों के अग्रणी श्री अकलंकदेव हुये जिनकी वचनरूपी किरणों के द्वारा मिथ्यान्धकार से ढके हुए अखिल पदार्थ प्रकाशित हुए हैं ।

इनका जीवन परिचय, समय, गुरुपरम्परा और इनके द्वारा रचित ग्रन्थ इन चार बातों को संक्षेप से यहाँ दिखाया जायेगा ।

जीवन परिचय—तत्त्वार्थवातिक के प्रथम अध्याय के अन्त में जो प्रशस्ति है उसके आधार से ये “लघुहृव्वनृपति” के पुत्र प्रतीत होते हैं यथा—

“जीयाच्चिरमकलंकब्रह्मा लघुहृव्वनृपतिवरतनयः ।

अनवरतनिखिलजननुतविद्यः प्रशस्तजनहृद्यः ॥”

लघुहृव्वनृपति के श्रेष्ठ पुत्र अकलंक ब्रह्मा चिरकाल तक जयशील होंगे, जिनकी हमेशा सभी जन नमस्कार करते थे और जो प्रशस्तजनों के हृदय के अतिशय प्रिय हैं ।

ये राजा कौन थे ? किस देश के थे ? यह कुछ पता नहीं चल पाया है । हो सकता है ये दक्षिण देश के राजा रहे हों । श्री नेमिचन्द्रकृत आराधना कथाकोष में इन्हें मंत्रीपुत्र कहा है । यथा—

मान्यखेट के राजा शुभतुंग के मन्त्री का नाम पुरुषोत्तम था उनकी पत्नी पद्मावती थीं । इनके दो पुत्र थे—अकलंक और निकलंक । एक दिन अष्टाभिहक पर्व में पुरुषोत्तम मन्त्री ने चित्रगुप्त मुनिराज के समीप आठ दिन का ब्रह्मचर्य ग्रहण किया और उसी समय विनोद में दोनों पुत्रों को भी व्रत दिला दिया ।

जब दोनों पुत्र युवा हुए तब पिता के द्वारा विवाह की चर्चा आने पर विवाह करने से इन्कार कर दिया । यद्यपि पिता ने बहुत समझाया कि तुम दोनों को व्रत विनोद में दिलाया था तथा वह आठ दिन के लिये ही था किन्तु इन युवकों ने यही उत्तर दिया कि—पिताजी ! व्रतग्रहण में विनोद कैसा ? और हमारे लिये आठ दिन की मर्यादा नहीं की थी ।

पुनः ये दोनों बाल ब्रह्मचर्य के पालन में दृढ़प्रतिज्ञ हो गये और धर्मारारधना में तथा विद्याध्ययन में तत्पर हो गये । ये बौद्ध शास्त्रों के अध्ययन हेतु “महाबोधि” स्थान में बौद्ध धर्माचार्य के पास पढ़ने लगे । एक दिन बौद्ध गुरु पढ़ाते-पढ़ाते कुछ विषय को नहीं समझा सके तो वे चिन्तित हो बाहर चले गये । वह प्रकरण सप्तभंगी का था, अकलंक ने समय पाकर उसे देखा, वहाँ कुछ अशुद्ध पाठ समझकर उसे शुद्ध कर दिया । वापस आने पर गुरु को शंका हो गई कि यहाँ कोई विद्यार्थी जैन धर्मी अवश्य है । उसकी परीक्षा की जाने पर ये अकलंक-निकलंक पकड़े गये । इन्हें जेल में डाल दिया गया । उस समय रात्रि में धर्म की शरण लेकर ये दोनों वहाँ से भाग निकले । प्रातः इनकी खोज शुरू हुई । नंगी तलवार हाथ में लिये घुड़सवार दौड़ाये गये ।

1. जैन शिलालेख संग्रह, भाग १, अभिलेख १०८ ।

जब भागते हुये उन्हें आहट मिली तब निकलंक ने भाई से कहा—भाई ! आप एकपाठी हैं—अतः आपके द्वारा जैन-शासन की विशेष प्रभावना हो सकती है अतः आप इस तालाब के कमलपत्र में छिपकर अपनी रक्षा कीजिये । इतना कहकर वे अत्यधिक वेग से भागने लगे । इधर अकलंक ने कोई उपाय न देख अपनी रक्षा कमलपत्र में छिपकर की । निकलंक के साथ एक धोबी भी भागा, तब ये दोनों मारे गये ।

कुछ दिन बाद एक घटना हुई वह ऐसी है—

रत्नसंचयपुर के राजा हिमशीतल की रानी मदनसुन्दरी ने फाल्गुन की अष्टान्हिका में रथयात्रा महोत्सव कराना चाहा । उस समय बौद्धों के प्रधान आचार्य 'संघश्री' ने राजा के पास आकर कहा कि जब कोई जैन मेरे से शास्त्रार्थ करके विजय प्राप्त कर लेगा तभी यह जैन रथ निकल सकेगा अन्यथा नहीं । महाराज ने यह बात रानी से कह दी । रानी अत्यधिक चिंतित हो जिनमंदिर में गई और वहाँ मुनियों को नमस्कार कर बोली प्रभो ! आप में से कोई भी इस बौद्धगुरु से शास्त्रार्थ करके उसे पराजित कर मेरा रथ निकलवाइये । मुनि बोले—रानी ! हम लोगों में एक भी ऐसा विद्वान् नहीं है । हाँ, मान्यखेटपुर में ऐसे विद्वान् मिल सकते हैं । रानी बोली । गुरुवर ! अब मान्यखेटपुर से विद्वान् आने का समय कहाँ है ? वह चिंतित हो जिनेन्द्रदेव के समक्ष पहुँची और प्रार्थना करते हुये बोली—भगवन् ! यदि इस समय जैन शासन की रक्षा नहीं होगी तो मेरा जीना किस काम का ? अतः अब मैं चतुराहार का त्याग कर आपकी ही शरण लेती हूँ । ऐसा कहकर उसने कायोत्सर्ग धारण कर लिया ।

उसके निश्चल ध्यान के प्रभाव से पद्मावती देवी का आसन कंपित हुआ । उसने जाकर कहा देवि ! तुम चिन्ता छोड़ो, उठो, कल ही अकलंकदेव आवेंगे जो कि तुम्हारे मनोरथ को पूर्ण करने के लिये कल्पवृक्ष होंगे । रानी ने घर आकर यत्र-तत्र किकर दीड़ाये । अकलंकदेव बगीचे में अशोकवृक्ष के नीचे ठहरे हैं सुनकर वहाँ पहुँची । भक्तिभाव से उनकी पूजा की और अश्रु गिराते हुए अपनी विपदा कह सुनाई । अकलंकदेव ने उसे आश्वासन दिया और वहाँ आये । राजसभा में शास्त्रार्थ शुरु हुआ । प्रथम दिन ही 'संघश्री' घबड़ा गया और उसने अपने इष्टदेव की आराधना करके तारादेवी को शास्त्रार्थ करने के लिये घट में उतारा ।

छह महीने तक शास्त्रार्थ चलता रहा किन्तु तारादेवी भी अकलंकदेव को पराजित नहीं कर सकी । अन्त में अकलंक को चिन्तानुर देख वक्रेश्वरी देवी ने उन्हें उपाय बतलाया । प्रातः अकलंकदेव ने देवी से समुचित प्रत्युत्तर न मिलने से परदे के अन्दर घुसकर घड़े को लात मारी जिससे वह देवी पराजित हो भाग गई और अकलंकदेव के साथ-साथ जैन शासन की विजय हो गई । रानी के द्वारा कराई जाने वाली रथयात्रा बड़े धूमधाम से निकली और जैन धर्म की महती प्रभावना हुई । श्री मल्लिषेणप्रशस्ति में इनके विषय में विशेष श्लोक पाये जाते हैं । यथा—

तारा येन विनिजिता घटकुटीगूढावतारा समं ।
 बौद्धैर्यो धृतपीठपीडितकुट्टदेवात्तसेवांजलिः ॥
 प्रायश्चित्तमिवांग्रिवारिजरजस्नानं च यस्याचरत् ।
 दोषाणां सुगतस्स कस्य विषयो देवाकलंकः कृती ॥२०॥

चूणि "यस्येदमात्मनोऽनन्यसामान्यनिरवद्यया-विभवोपवर्णनमाकर्ण्यते ।"

राजन्साहसतुंग ! संति बहवः श्वेतातपत्रा नृपाः
 किंतु त्वत्सदृशा रणे विजायिनस्त्यागोन्नता दुर्लभाः ।
 त्वद्वत्सति बुधा न संति कवयो वादीश्वरा वाग्मिनो ।
 नानाशास्त्रविचारचानुरधियः काले कलौ महिधाः ॥२१॥

आगे २३ वें श्लोक में कहते हैं—

नाहंकारवशीकृतेन मनसा न द्वेषिणा केवलं
नैरात्म्यं प्रतिपद्य नश्यति जने कारुण्यबुद्ध्या मया ।
राज्ञः श्रीहिमशीतलस्य सदसि प्रायो विदग्धात्मनो ।
बौद्धौघान् सकलान् विजित्य सुगतः पादेन विस्फोटितः^१ ॥

अर्थात् महाराज हिमशीतल की सभा में मैंने सर्व बौद्ध विद्वानों को पराजित कर सुगत को पैर से ठुकराया । यह न तो मैंने अभिमान के वश हीकर किया है न किसी प्रकार के द्वेष भाव से, किन्तु नास्तिक बनकर नष्ट होते हुये जनों पर मुझे बड़ी दया आई, इसलिये मुझे बाध्य होकर ऐसा करना पड़ा है ।

इस प्रकार से संक्षेप में इनका जीवन परिचय दिया गया है ।

समय—डा० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य ने इनका समय ईस्वी सन् की ८वीं शती सिद्ध किया है । पं० कैलाशचन्द्र सिद्धांतशास्त्री ने ईस्वी सन् ६२०-६८० तक निश्चित किया है । किन्तु पं० महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य के अनुसार यह समय ई० सन् ७२०-७८० आता है ।

गुरुपरम्परा—देवकीर्ति की पट्टावली में श्री कुन्दकुन्ददेव के पट्ट पर उमास्वामी अपरनाम गृद्धपिच्छ आचार्य हुये । उनके पट्ट पर बलाकपिच्छ आरूढ़ हुये इनके पट्टाधीश श्री समंतभद्र स्वामी हुये । उनके पट्ट पर श्री पूज्यपाद हुये पुनः उनके पट्ट पर श्री अकलंकदेव हुये ।

“अजनिष्ठाकलंकं यज्जिनशासनमादितः । अकलंकी बभौ येन सोऽकलंकी महामतिः” ॥१०॥

“श्रुतमुनि—पट्टावली” में भी इन्हें पूज्यपाद स्वामी के पट्ट^३ पर आचार्य माना है । इसके संव भेद की चर्चा की है ।

इनके द्वारा रचित ग्रन्थ—

इनके द्वारा रचित स्वतन्त्र ग्रन्थ चार हैं और टीका ग्रन्थ दो हैं ।

- | | |
|-------------------|-----------------------|
| १. लघीयस्त्रय | (स्वोपज्ञविवृति सहित) |
| २. न्यायविनिश्चय | (सवृत्ति) |
| ३. सिद्धिविनिश्चय | (सवृत्ति) |
| ४. प्रमाण संग्रह | (सवृत्ति) |

टीका ग्रन्थ—

१. तत्त्वार्थवार्तिक (सभाष्य) २. अष्टशती (देवागम विवृत्ति)

1. तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग, ४, पृ० ३८४ ।
2. तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग ४, पृ० ४१२ ।
3. तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग ४, पृ० ३७५-३७६ ।

लघीयस्त्रय—

इस ग्रन्थ में प्रमाणप्रवेश, नयप्रवेश और निक्षेपप्रवेश ये तीन प्रकरण हैं। ७८ कारिकाएँ हैं, मुद्रित प्रति ७७ ही हैं। श्री अकलंदेव ने इस पर संक्षिप्त विवृति भी लिखी है जिसे स्वोपज्ञ विवृति कहते हैं। श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने इसी ग्रन्थ पर “न्यायकुमुदचन्द्र” नाम से व्याख्या रची है जो कि न्याय का एक अनूठा ग्रन्थ है।

न्यायविनिश्चय—इस ग्रन्थ में प्रत्यक्ष, अनुमान और प्रवचन ये तीन प्रस्ताव हैं कारिकाएँ ४८० हैं। इसकी विस्तृत टीका श्री बादिराजसूरी ने की है। यह ग्रन्थ ज्ञानपीठ काशी द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

सिद्धिविनिश्चय—इस ग्रन्थ में १२ प्रस्ताव हैं। इसकी टीका श्री अनंतवीर्य सूरि ने की है। यह भी ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

प्रमाण संग्रह—इसमें ६ प्रस्ताव हैं और ८७ कारिकाएँ हैं। यह ग्रन्थ “अकलंक ग्रन्थत्रय” में सिद्धी ग्रन्थमाला से प्रकाशित हो चुका है।

इस ग्रन्थ की धनंजय कवि ने मानमाला में एक पद्य लिखा है—

प्रमाणमकलंकस्य, पूज्यपादस्य लक्षणम् । धनंजयकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम् ॥

अकलंकदेव का प्रमाण, पूज्यपाद का व्याकरण और धनंजय कवि का काव्य ये अपश्चिम-सर्वोत्कृष्ट रत्नत्रय—तीनरत्न हैं।

वास्तव में जैन न्याय को अकलंक की सबसे बड़ी देन है प्रमाण संग्रह। इनके द्वारा की गई प्रमाण व्यवस्था दिगम्बर और श्वेतांबर दोनों संप्रदाय के आचार्यों को मान्य रही है।

तत्त्वार्थवार्तिक—यह ग्रन्थ श्री उमास्वामी आचार्य के तत्त्वार्थसूत्र की टीका रूप है। तत्त्वार्थसूत्र के प्रत्येक सूत्र पर वार्तिकरूप में व्याख्या लिखी जाने के कारण “तत्त्वार्थवार्तिक” यह सार्थक नाम श्री भट्टाकलंक-देव ने ही दिया है। इस ग्रन्थ की विशेषता यही है कि इसमें तत्त्वार्थसूत्र के सूत्रों पर वार्तिक रचकर उन वार्तिकों पर ही भाष्य लिखा गया है। अतः यह ग्रन्थ अतीव प्रंजल और सरल प्रतीत होता है।

अष्टशती—श्री स्वामी समंतभद्र द्वारा रचित आप्तमीमांसा की यह भाष्यरूप टीका है। इस वृत्ति का प्रमाण ८०० श्लोक प्रमाण है अतः इसका “अष्टशती” यह नाम सार्थक है।

जैन दर्शन अनेकांतवादी दर्शन है। आचार्य समंतभद्र अनेकांतवाद के सबसे बड़े व्यवस्थापक हैं। उन्होंने श्री उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र के मंगलाचरण “मोक्षमार्गस्य नेतारं” आदि को लेकर आप्त-सच्चे देव की मीमांसा परीक्षा करते हुए ११४ कारिकाओं द्वारा स्याद्वाद की प्रक्रिया को दर्शाया है। उस पर श्री भट्टाकलंकदेव ने “अष्टशती” नाम से भाष्य बनाया है। इस भाष्य को वेष्टित करके श्री विद्यानंद आचार्य ने ८००० श्लोक प्रमाण रूप से “अष्टसहस्री” नाम का सार्थक टीका ग्रन्थ तैयार किया, इसे “कष्टसहस्री” नाम भी दिया है। जैन दर्शन का यह सर्वोपरि ग्रन्थ है। मैंने पूर्वाचार्यों और अपने दीक्षा, शिक्षा आदि गुरुओं के प्रसाद से इस “अष्टसहस्री” ग्रन्थ का हिन्दी भाषानुवाद किया है जिसका प्रथम खंड “वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला” से प्रकाशित हो चुका है। अब यह दूसरा खंड आपके हाथ में है।

इस प्रकार से श्रीमद् भट्टाकलंक देव के बारे में मैंने संक्षिप्त वर्णन किया है। वर्तमान में “निकलंक का बलिदान” नाम से इनका नाटक खेला जाता है। जो कि प्रत्येक मानव के मानसपटल पर जैन शासन की रक्षा और प्रभावना की भावना को अंकित किये बिना नहीं रहता है।

बाल्यकाल में “अकलंक निकलंक नाटक” देखकर ही मेरे हृदय में एक पंक्ति अंकित हो गई थी कि—

“प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम्”

कीचड़ में पैर रखकर धोने की अपेक्षा कीचड़ में पैर न रखना ही अच्छा है। उसी प्रकार से गृहस्थावस्था में फंस कर पुनः निकलकर दीक्षा लेने की अपेक्षा गृहस्थी में न फंसना ही अच्छा है। इस पंक्ति ने ही मेरे हृदय में वैराग्य का अंकुर प्रगट किया था जिसके फलस्वरूप आज मैं उनके पदचिन्हों पर चलने का प्रयास करते हुये उनके विषय में कुछ लिखने के लिये सज्ज हो चुका हूँ।

श्री विद्यानंद आचार्य का परिचय पं० वर्द्धमानशास्त्री की प्रस्तावना में है अतः यहाँ नहीं दिया गया है। श्री उमास्वामी आचार्य, श्री समंतभद्राचार्य, श्री अकलंकदेव आचार्य और श्री विद्यानंद आचार्य इन चारों आचार्यों को मेरा शतशत नमन।

प्रस्तावना

नमः श्री स्याद्वाद विद्यापतये

न्यायशास्त्र प्रमाणभूत शास्त्र है, इतना ही नहीं, इतर सिद्धांत, व्याकरण, साहित्य, चरणानुयोग, करणानुयोग, प्रथमानुयोग आदि ग्रन्थों में प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए साधन है। द्वादशांग वाणी में दृष्टिवाद नामक जो अन्तिम अंग है उससे प्रसृत यह न्यायशास्त्र है। न्यायशास्त्र के द्वारा सिद्धांत समर्थित विषयों को कसौटी में कसकर सिद्ध किया जाता है। सिद्धांत प्रतिपादित तत्त्वों में प्रामाणिकता किस प्रकार है इसे न्यायशास्त्र प्रतिपादन करता है। वस्तु का सर्वांश से, सर्वांग से यथार्थ दर्शन न्यायशास्त्र के द्वारा होता है। न्यायशास्त्र की आधार शिला स्याद्वाद या अनेकांत है तो प्रमाण व नय उसके दो पंख हैं। नय प्रमाणरूपी पंखों को धारण कर स्याद्वाद यथेच्छ सर्वत्र जल, स्थल, आकाश में भ्रमण कर सकता है। उसे कोई भी किसी भी क्षेत्र में रोकने के लिए समर्थ नहीं है। उसकी गति निर्बाध है, उसकी गति आतंक रहित वेगवती है। उसमें उपरोध करने वाली कोई शक्ति संसार में नहीं है।

संसार में युक्ति प्रयुक्त करने की योग्यता वाले हर विषय को विवादास्पद बना सकते हैं। उसे, उस कथन को एवं युक्ति को तर्क की कसौटी में कसकर देखना होगा कि वह सम्यक् है या मिथ्या है? युक्ति और शास्त्र से अविरोध जो वचन है वह सम्यक् तर्क है। तर्क में तर्क भी होता है, कुतर्क भी होता है। परन्तु सुतर्क ग्राह्य है, उपादेय है परन्तु कुतर्क त्याज्य है, निषेध्य है, सुतर्क या तर्क के द्वारा द्रव्य की प्रतिष्ठा होती है, द्रव्य में द्रव्यत्व की सिद्धि, गुण में गुणत्व की सिद्धि, पर्याय में उत्पाद व्यय की सिद्धि आदि सभी तर्क पूर्ण दृष्टि से होती है, अनुदिन के बोलने वाले वचनों में भी न्याय का पुट लगना चाहिये, अन्याय पूर्ण वचनों से विवाद, कलह, संघर्ष उत्पन्न होते हैं। इसलिए युक्ति शास्त्र से अविरोध वचनों से पूर्ण न्याय पथ से चलने को ही बोलने के लिए मनुष्य को सीखना चाहिये। भगवान् समंतभद्र ने अर्हत्परमेश्वर भगवान् महावीर की स्तुति करते हुए आप्तमीमांसा में लिखा है कि—

स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्। अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥

हे भगवन् ! आप ही युक्ति और आगम के अविरोधी वचन को बोलते हैं, अतएव निर्दोष हैं। आपके बोलने चलने में जो अविरोध है, वह प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित नहीं है, अर्थात् स्पष्टतया आदर्शरूप से दिखता

है, आप जैसा बोलते हैं, वैसा ही चलते हैं, आपको यह इष्ट है, जो ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित नहीं है वही न्यायशास्त्र के लिए सम्मत है, उसी से पदार्थ का निर्दोष ज्ञान होता है।

इसलिए सिद्धांत शिरोमणि श्री उमास्वामी ने तत्त्वार्थ सूत्र में स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि “प्रमाणनयैर-धिगमः” प्रमाण व नयों से तत्त्व का ज्ञान होता है, अर्थात् पदार्थों का निर्दोष ज्ञान होता है, इस परिपाटी को सिखाने वाला न्यायशास्त्र है, इस सरणि को छोड़कर हम पदार्थों के ज्ञान को ही प्राप्त नहीं कर सकते हैं। हमारे ज्ञान में प्रमाण की सत्ता रहेगी, या नयांविबधा रहेगी या नयांश रहेगा। इसके बिना हम पदार्थों का चतुर्मुखी ज्ञान नहीं कर सकते हैं। पदार्थों का चतुर्मुखी ज्ञान ही निर्दोष ज्ञान है, अविकृत दर्शन है।

इसलिए आगम सिद्धांत की सिद्धि के लिये, लोक व्यवहार की प्रसिद्धि के लिये, स्वमत स्थापन, परमत खंडन कर वस्तु तत्त्व की सिद्धि के लिये न्यायशास्त्रों के अध्ययन की आवश्यकता है। इसलिए जैनाचार्यों ने इस विषय के भी ग्रन्थों का निर्माण कर भगवान् अहंत्परमेश्वर के द्वारा प्रतिपादित तत्त्व विवेचन को निर्दोष सिद्ध किया है। इन सब कार्यों को करते हुए उन्होंने एक ही स्याद्वाद साधन का उपयोग किया है। स्याद्वाद या अनेकांत के रूप में सर्व पदार्थ व्यवस्थित हैं, अतएव उनका ज्ञान भी स्याद्वाद या अनेकांत से ही ठीक तरह से हो सकता है। स्याद्वाद के बिना हम पदार्थों के ज्ञान से वंचित रह जाते हैं, पदार्थों के ज्ञान में गड़बड़ी होती है, हम संशय कल्लोल में गोता खाते हैं। इसलिए वस्तु तत्त्व की निर्दोष सिद्धि के लिए स्याद्वाद का ही अवलंबन करना चाहिये।

भगवान् महावीर की स्तुति करते हुए महर्षि समन्तभद्र ने स्पष्ट कहा है कि—

अनवद्यः स्याद्वादः तव दृष्टेष्टाविरोधतः स्याद्वादः।

इतरो न स्याद्वादः सद्वितयविरोधान्मुनीश्वरास्याद्वाद ॥

(स्वयंभूस्तोत्र) १३८

जिस स्याद्वाद से पदार्थों की ठीक स्थिति का ज्ञान होता है उसके सम्बन्ध में आचार्य कहते हैं कि हे भगवन् ! आपका स्याद्वाद निर्दोष है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाणों से अबाधित है, अतएव स्याद्वाद है। प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति, तर्क आदि कोई भी प्रमाण इसे बाधित करने के लिये समर्थ नहीं हैं। दूसरे जो एकांतवाद हैं उन्हें स्याद्वाद नहीं कह सकते हैं, उनमें स्यात् का प्रयोग नहीं हो सकता है। इसके अलावा उसमें प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधा भी उत्पन्न होती है। अतः वह स्याद्वाद भी नहीं है। अस्याद्वाद है।

इसलिये न्याय शास्त्रों के निरूपण में मूलाधार स्याद्वाद है। उसके आधार से तत्त्व की वस्तुनिष्ठ प्रतिष्ठा हो जाती है।

तत्त्वों की निर्दोष सिद्धि करते हुए हित प्राप्ति एवं अहित परिहार के लिए न्यायशास्त्रों का अध्ययन आवश्यक है। इसी के लिये ही जैनाचार्यों ने न्याय ग्रंथों की रचना की है।

इस सम्बन्ध में विचार करने पर न्यायशास्त्र की परम्परा का उद्योत करने वाले निम्नलिखित आचार्य अग्र्य उल्लेखनीय प्रतीत होते हैं।

परम तार्किक श्री अकलंकदेव, विद्यानन्दि, माणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द्र, धर्मभूषण, वादिराज सूरि आदि का नाम ब्रह्म गौरव के साथ इस दिशा में लिया जा सकता है, इन आचार्यों ने अपने अगाध पांडित्य के द्वारा जैन सिद्धांत की समीचीनता का दर्शन युक्ति और आगम के अविरोधी बचन के द्वारा एवं अपने तर्क कीमल्य के द्वारा कराया, यही कारण है कि आज जैनदर्शन निर्दोष रूप से और पूर्वापर अविरोध रूप से व्यवस्थित है।

अष्टसहस्री एक महान् न्यायग्रन्थ

अष्टसहस्री एक महान् तार्किक ग्रन्थ है। इसका मूलाधार देवागमस्तोत्र है। स्वामी समंतभद्राचार्य के द्वारा विरचित गंधहस्ति महाभाष्य का यह देवागमस्तोत्र मंगलाचरण कहलाता है। गंधहस्ति महाभाष्य के सम्बन्ध में अन्य ग्रन्थों में 'उक्तं च' कहते हुये उद्धरण मिलता है, इसलिए स्वामी समन्तभद्राचार्य के द्वारा तत्त्वार्थ सूत्र के ऊपर एक महान् भाष्य ग्रन्थ की रचना की गई है, यह स्पष्ट है, देवागम उसी का यदि मंगलाचरण है तो निस्संदेह वह ग्रन्थ भी विद्यानन्दि के श्लोकवार्तिकालंकार के समान ही महान् तार्किक ग्रंथ होगा, इसे सहज अनुमान कर सकते हैं। आचार्य श्री ने मंगलाचरण की रचना में भी इतनी तर्क पूर्ण दृष्टि रखी है तो मूलग्रंथ में न मालूम कितना रहस्य भरा होगा। जिस ग्रन्थ के मंगलाचरण पर अकलंक देव अष्टशती भाष्य की रचना कर सकते हैं और महर्षि विद्यानन्दि अष्टसहस्री की रचना करते हैं तो समझना चाहिये कि वह ग्रंथ सामान्य नहीं हो सकता है, परन्तु हमारा दुर्भाग्य है कि आज वह अनुपलब्ध है।

समंतभद्र की अनुपम कृति

महर्षि समंतभद्र की यह अनुपम कृति है, इसे देवागमस्तोत्र इसलिये कहते हैं कि इसका प्रारम्भ देवागम पद से होता है, जिस प्रकार भक्तामर, कल्याणमन्दिर आदि स्तोत्र उन्हीं पदों से प्रारम्भ होने के कारण उस नाम से कहे जाते हैं, इसी प्रकार यह भी देवागमस्तोत्र कहलाता है। नहीं तो इसे आप्तमीमांसा के नाम से भी कहते हैं। आप्त किस प्रकार होना चाहिये? आप्त में किन गुणों की आवश्यकता है? इस बात की सुन्दर मीमांसा इस ग्रन्थ में की गई है, अतः इसका नाम "आप्तमीमांसा" सार्थक है।

आप्तमीमांसा समन्तभद्र की एक अर्थगर्भित दुरूह कृति है, उस पर तर्कपूर्ण दृष्टि से अकलंक देव ने अष्टशती नामक वृत्ति लिखी है, यह ग्रन्थ आठ सौ श्लोक प्रमाण है, अतः इसका नाम अष्टशती पड़ गया है, अकलंक देव ने यह जो ग्रन्थ लिखा, वह गंभीर, तर्क पूर्ण एवं अर्थगर्भित है, अनेक स्थानों में विशद व्याख्या न होने के कारण ग्रन्थ गंभीर्य को विद्वान् भी समझने में असमर्थ रहे, इसीलिए तार्किक चूड़ामणि विद्यानंदि स्वामी ने अष्टसहस्री नामक आठ हजार श्लोक परिमित ग्रन्थ की रचना कर अनेक गुत्थियों को स्वैर शैली से सुलझाया है। कठिन से कठिन विषयों को सरल बनाकर जिज्ञासु हृदयों को आकर्षित ही नहीं, आल्हादित भी किया है। इस देवागम पर वसुनंदि सिद्धांतदेव के द्वारा विरचित देवागम वृत्ति नामक ग्रन्थ भी है जो कि श्लोकों का अर्थमात्र सूचित करता है। इससे स्तोत्र के अर्थ को समझने में कोई बाधा नहीं है, यद्यपि अकलंक या विद्यानंदी के समान गंभीर तर्क पूर्ण भाषा से ग्रन्थ की रचना नहीं है, तथापि अपने स्थान में उसका महत्त्व है इसमें कोई संदेह नहीं है।

प्रकृत ग्रन्थ की महत्ता

यह विद्यानंदि कृत अष्टसहस्री सचमुच में देवागम का विशेष अलंकार है, अतः इसे देवागमालंकार के नाम से भी कहते हैं अथवा अकलंकदेवकृत आप्त मीमांसा को सामने रखकर यह व्याख्यान रूप अलंकार किया गया है इस दृष्टि से इसे आप्तमीमांसाालंकार भी कह सकते हैं। इसका प्रसिद्ध नाम अष्टसहस्री है। शायद इसलिए कि यह आठ हजार श्लोक प्रमाण है। अष्टसहस्री में विद्यानंद स्वामी ने भी इस ग्रन्थ को अष्टसहस्री के नाम से यत्र-तत्र उल्लेख किया है।

ग्रन्थ की शैली अनूठी है। जनेतर तर्क ग्रन्थों का सूक्ष्म तलस्पर्शी ज्ञान होने के कारण उसके तर्कों को पूर्व पक्ष में रखकर ग्रन्थ में अकाट्य युक्तियों के द्वारा उत्तर दिया गया है। ग्रन्थकार ने कुमारिल भट्ट, प्रज्ञाकर, धर्मकीर्ति आदि मीमांसक, बौद्ध सिद्धांतों का जिस तर्क के साथ खंडन किया है वह अजोड़ है।

कुमारिल भट्ट ने अपने मीमांसा श्लोकवार्तिक में सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध करते हुए लिखा है कि—
सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा । तावुभौ यदि सर्वज्ञौ मतभेदः कथं तयोः ॥

यदि सुगत सर्वज्ञ है तो कपिल सर्वज्ञ क्यों नहीं है। उसके निषेध में प्रमाण क्या है? यदि वे दोनों सर्वज्ञ हैं तो उनमें मतभेद क्यों? मतभेद होने के कारण निश्चय से दोनों सर्वज्ञ नहीं हैं यह स्पष्ट है।

अष्टसहस्री को लिखते समय वह मीमांसाश्लोकवार्तिक ग्रन्थकार के सामने था, इसलिए उन्होंने भावना, विधि व नियोग को वाक्यार्थ निषेध करने में उसी युक्ति का प्रयोग कर खंडन किया है।

भावना यदि वाक्यार्थो नियोगो नेति का प्रमा तावुभौ यदि वाक्यार्थो हतो भट्टप्रभाकरौ ।

कार्यर्थे चोदना ज्ञानं स्वरूपे किन्न तत्प्रमा द्वयोश्चेदंतौ नष्टौ भट्टवेदांतवादिनौ ॥

यदि भावना श्रुति वाक्य का अर्थ है तो नियोग नहीं है इसमें क्या प्रमाण है, यदि दोनों ही श्रुतिवाक्य के अर्थ हैं तो भट्ट व प्रभाकर का सिद्धांत नष्ट होता है इसी प्रकार नियोग श्रुतिवाक्य का अर्थ है तो विधि क्यों नहीं है? इसमें प्रमाण क्या है? यदि दोनों श्रुतिवाक्य के अर्थ हैं तो भट्ट व वेदांती दोनों का सिद्धांत खंडित हो जाता है।

अष्टसहस्री में स्थान-स्थान पर इसी प्रकार की तर्कणा शैली के द्वारा स्वमत सिद्धांत का मंडन किया गया है। भाषा सौष्ठव, सरलता, युक्तियुक्त कथन, गंभीर शैली, कोमल प्रहार आदि बातों का विचार करने पर समग्र न्यायसंसार में इसकी बराबरी करने वाला अन्य ग्रन्थ नहीं है यह कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी।

अष्टसहस्री की तर्कणा शैली अद्वितीय है। खंडन मंडन पद्धति मनोहारिणी है। सूक्ष्मतल स्पर्शी सिद्धांत का निरूपण है। विद्वत्संसार को चकित करने वाली मीमांसा है।

स्वयं अष्टसहस्री में ग्रन्थकार ने ग्रन्थ के संबंध में स्पष्ट किया है कि :—

स्फुटमकलंकपदं या प्रकटयति परिचेतसामसमम् । दर्शितसमन्तभद्रं साष्टसहस्री सदा जयतु ॥

अर्थात् अकलंक के अत्यंत दुर्गम्य पदों का जो स्पष्टीकरण करती है, समंतभद्र की दिशाओं को जो प्रदर्शन करती है वह अष्टसहस्री सदा जयवंत रहे।

इससे स्पष्ट है कि ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर समंतभद्र के अभिप्रायानुसार अकलंक की अष्टशती के स्पष्ट आशय को व्यक्त किया है। अष्टशती में यह अष्टसहस्री इतनी अनुप्रविष्ट हुई है कि अष्टशती की अनेक पंक्तियाँ अष्टसहस्री में उपलब्ध होती हैं, एवं उनकी विशद व्याख्या इस ग्रंथ में की गई है। इसकी शैली अत्यंत गंभीर व प्रसन्न है, गंभीर इसलिए की वह गूढ़ है, प्रसन्न इसलिए कि स्वयं व दूसरों के लिए खेदजनक नहीं है। सभ्य, मृदु, मधुर, संतुलनात्मक शब्दों से यह ग्रंथित है। इसलिए ग्रन्थ में एक स्थान पर कहा गया है कि :—

जीयादष्टसहस्री देवागमसंगतार्थमकलंकम् । गमयन्ती सन्नयतः प्रसन्नगंभीरपदपदवी ॥

देवागम स्तोत्र में समंतभद्र ने जिस स्याद्वाद का प्रतिपादन किया है, जिसे अकलंक देव ने समर्थन किया है जिसमें प्रसन्न गंभीर पदों का प्रयोग हुआ है ऐसी आप्तमीमांसात्मक अष्टसहस्री सदा जयवंत रहे। यह आचार्य के द्वारा की गई स्वप्रशंसा नहीं है, अपितु वस्तु स्थिति का परिचायक है। देवागम की दिशा को प्रतिपादन करने वाला, इसकी तुलना करने वाला अन्य ग्रन्थ नहीं है।

इस ग्रंथ में संशय, निपर्यय, वैयधिकरण्य, व्यतिकर आदि दोषों का उद्भावन कर पूर्व पक्ष में परमत का मंडन कर खंडन किया गया है, एवं स्वमत का मंडन किया गया है, सर्वज्ञ अभाव वादियों को करारा उत्तर देते हुए निर्दोष सर्वज्ञ की सिद्धि करते हुए आचार्य ने मनोरम शैली से ग्रंथ को प्रवाहित किया है। निस्संदेह कहा जा सकता है कि अष्टसहस्री का प्रमेय अन्यत्र दुर्लभ है। सिद्धांत पक्ष का समर्थन समर्थन है। इस ग्रंथ के अध्ययन से अनेक विषयों का परिज्ञान हो जाता है। कतिपय विषयों में वह निष्णात विद्वान् बन जाता है। इस गौरव मय व्याख्यान के संबंध में स्वयं ग्रंथकार ने वर्णन किया है कि—

श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः । विज्ञायेत यथैव स्वसमयपरसमयसद्भावः ॥

हजार शास्त्रों के सुनने से क्या लाभ है ? केवल एक अष्टसहस्री के सुनने से ही सर्व इष्टार्थों की सिद्धि हो सकती है, जिसके सुनने से स्वसमय क्या है, पर समय क्या है इसका अन्वयन बोध हो जाता है। यह इस ग्रंथ का विषय है।

इस ग्रंथ के कर्ता महर्षि विद्यानंदि

इस ग्रंथ की रचना महर्षि विद्यानंदि ने की है। विद्यानंदि यतिपति के ऐतिहासिक पता लगाने पर ज्ञात होता है कि आप वैदिक ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने पर जैनमार्ग के अकाद्य तर्क व सयुक्तिक कथन से आकर्षित

होकर उस पवित्र धर्म में आये एवं अपनी विद्वत्ता व तर्कणा शक्ति का सदुपयोग किया। उन्होंने अपनी विद्वत्ता के द्वारा अनेक न्याय ग्रन्थों की रचना कर जैन न्याय संसार की श्री वृद्धि की है।

उनके द्वारा विरचित ग्रंथ संपत्ति का उल्लेख यहाँ पर करना अप्रस्तुत नहीं होगा।

(१) विद्यानन्द महोदय, (२) तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, (३) अष्टसहस्री, (४) युक्त्यनुशासनालंकार, (५) आप्त परीक्षा, (६) प्रमाण परीक्षा, (७) पत्र परीक्षा, (८) सत्यशासन परीक्षा, (९) श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र, इस प्रकार ९ ग्रन्थों की रचना का उल्लेख मिलता है, इन ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय यों कराया जाता है।

(१) **विद्यानन्द महोदय**—यह विद्यानन्दि आचार्य के द्वारा विरचित शायद प्रथम रचना है, क्योंकि उत्तरवर्ती ग्रन्थों में इसका प्रायः उल्लेख आता है, इतना ही नहीं, विस्तार से देखना हो तो विद्यानन्द महोदय में देखो ऐसी सूचना भी इनमें पायी जाती है। परन्तु दुर्भाग्य से आज यह ग्रन्थ अनुपलब्ध है। महर्षि विद्यानन्दि के बाद करीब पाँच सौ वर्षों तक यह ग्रन्थ उपलब्ध रहा, तत्कालीन आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में इस ग्रन्थ का उद्धरण दिया है।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक—उमास्वामी विरचित तत्त्वार्थ सूत्र पर श्लोक व वार्तिक रूप बृहद्भाष्य है। यह निश्चित कहा जा सकता है कि तत्त्वार्थ सूत्र पर जो आज उपलब्ध भाष्य हैं, उनमें सबसे अधिक विद्वत्तापूर्ण है। तत्त्वार्थ सूत्र ही एक ऐसा ग्रन्थ रत्न है जिस पर पूज्यपाद, अकलंक, भास्करनन्दी, श्रुतसागर आदि अनेक विद्वानों ने भाष्य की रचना की है। कुमारिल भट्ट के मीमांसक श्लोकवार्तिक का यह बेजोड़ जवाब है, यह विद्यानन्दि यतिपति की अद्वितीय रचना व न्यायशास्त्र की शोभा को बढ़ाने वाली है।

अष्टसहस्री—प्रकृत ग्रन्थ है। यह समन्तभद्र के देवागम स्तोत्र पर अकलंक देव के द्वारा विरचित आप्त मीमांसा पर टीकालंकृत भाष्य है। इस ग्रन्थ में आचार्य ने अकलंक ग्रन्थ की दुरूह गुत्थियों को अच्छी तरह लीला-मात्र से मुलझाया है। पाठकों को इसके अध्ययन से सहज ज्ञात हो जावेगा।

युक्त्यनुशासनालंकार—आचार्य समन्तभद्र के द्वारा विरचित तर्कपूर्ण स्तोत्र ग्रन्थ की यह टीका ग्रन्थ है। महर्षि विद्यानन्दि ने अपनी ही शैली से इसमें युक्ति प्रयुक्तियों से भगवत् की उपासना की है।

आप्त परीक्षा—इस ग्रन्थ में महर्षि विद्यानन्द ने—

मोक्षमार्गस्य नेतार, भेत्तारं कर्मभूभूताम् । ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वन्दे तद्गुणलब्धये ॥

इस श्लोक को आधार बनाकर अत्यन्त सरल व सुबोध शैली से आप्त की परीक्षा की है। वस्तुतः अर्हत ही निर्दोष सर्वज्ञ आप्त हो सकते हैं इस बात की सुन्दर सिद्धि आचार्य देव ने इस ग्रन्थ में की है। इसके साथ स्वोपज्ञ टीका होने से ग्रन्थ के हृद्य को समझने में बड़ी सहूलियत हो गई है।

प्रमाण परीक्षा—इस ग्रन्थ में इतर दर्शनों के द्वारा प्रतिपादित प्रमाणों के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए जैनमत सम्मत प्रमाण के स्वरूप में विशद विवेचन किया गया है। प्रमाणपरीक्षा नाम सार्थक है।

पत्र परीक्षा—यह विद्यानन्दि के द्वारा विरचित गद्य पद्यमय रचना है, इसमें साध्य के लिए उपयुक्त अनुमान प्रमाण के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए स्वमत को स्थापना एवं परमत का निराकरण किया गया है। शायद विद्यानन्दि को जैनधर्म की निर्दोषता को व्यक्त करने की अत्यन्त आसक्ति ही उत्पन्न हो गई थी।

सत्यशासन परीक्षा—यह ग्रन्थ अपूर्ण उपलब्ध होता है, प्रकाशित भी है, इसमें पुरुषार्थ आदि १२ इतर शासनों की परीक्षा करने का संकल्प आचार्य ने व्यक्त किया है, परन्तु ९ की ही मीमांसा की गई है, शायद आचार्य

की यह अन्तिम कृति है, बीच में ही आयु का अन्त हो गया हो, इसे पूर्ण न कर सके हों, अनेकांत शासन की परीक्षा का प्रकरण इस ग्रन्थ में अनुपलब्ध है, शायद इस प्रकरण को तार्किक विद्यान्दि की लेखनी से हम अत्यधिक सम्पन्न स्थिति में देख सकते थे परन्तु दुर्भाग्य है ।

श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र—यह श्रीपुर 'सिरपुरअंतरिक्ष' पार्श्वनाथ का नामांतर है । अथवा उसी का अपभ्रंश होकर सिरपुर हो गया है । इस सातिशय पार्श्वनाथ जिनत्रिब की तर्कपूर्ण शैली से इस स्तोत्र में स्तुति की गई है, यद्यपि यह स्तोत्र अत्यन्त लघुकाय है तथापि अर्थगर्भित है, महत्त्वपूर्ण है ।

इस प्रकार अनेक ग्रन्थों की रचना कर विद्यान्दि स्वामी ने अपनी सम्यक्त्व निष्ठा को व्यक्त किया है । वे जिनमत के निस्सीम व सुदृढ़ उपासक थे, इस विषय का अनुभव उनकी पंक्तियों के अध्ययन में निश्चित रूप से हो जाता है ।

स्व० न्यायाचार्य पं० माणिकचंद जी तर्क रत्न कहते थे कि बनारस विद्यालय के न्यायाध्यापक न्याय विषय के प्रकांड विद्वान् पं० अंबादास जी, विद्यान्दि की तर्कणा शैली से अत्यन्त प्रभावित थे, ईश्वर सृष्टिकर्तृत्व के विरोध में उन्होंने अपने ग्रन्थों में जो युक्तियों का प्रयोग किया है वह अन्यत्र देखने में नहीं आते, शायद विद्यान्दि जी ईश्वर के पीछे डन्डे लेकर ही चल पड़े थे, जिससे उनके अनेक ग्रन्थों में इस विषय का अकाट्य सिद्धान्त देखने को मिलता है ।

स्व० न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमार जी जो हमारे सहपाठी थे, उन्होंने अपने एक निबन्ध में निबद्ध किया था कि—'तक ग्रन्थ के अभ्यासी विद्यान्दि के अतुल पांडित्य, तलस्पर्शी विवेचन, सूक्ष्मता तथा गहराई के साथ किये जाने वाले पदार्थों के स्पष्टीकरण एवं प्रसन्न भाषा (मृदुमधुर गम्भीर) में गूँथे गये युक्ति जाल से परिचित होंगे । उनके प्रमाण परीक्षा, पत्र परीक्षा, आप्त परीक्षा आदि प्रबन्ध अपने-अपने विषय के बेजोड़ निबन्ध हैं, ये ही निबन्ध एवं विद्यान्दि के द्वारा विरचित अन्य ग्रन्थ आगे बने हुए समस्त दि० श्वे० न्याय ग्रन्थ के आधारभूत हैं, इनके विचार तथा शब्द उत्तरकालीन दि० श्वे० न्याय ग्रन्थों पर अमिट छाप लगाये हुये हैं । यदि जैन न्याय के कोषागार से विद्यान्दि के ग्रन्थों को अलग कर दिया जाये तो वह एकदम निष्प्रभ-सा हो जायेगा ।'

स्व० पं० महेन्द्रकुमार जी का कथन सचमुच में विद्यान्दि के ग्रन्थों पर संक्षेप में अपितु वस्तु का दर्शक हैं, आचार्य विद्यान्दि उसी कोटि के विद्वान् थे ।

श्वेतांबर संप्रदाय के माने हुये विद्वान् प्रज्ञाचक्षु प्रज्ञाविवेकी पं० सुखलाल जी ने एक स्थान पर लिखा है कि "तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक में (विद्यान्दि विरचित) जितना जैसा सबल मीमांसक दर्शन का खण्डन है, वैसा तत्त्वार्थ सूत्र की दूसरी किसी की टीका में नहीं, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक में चर्चित हुए कोई विषय छूटे नहीं, बल्कि बहुत से स्थानों पर सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक की अपेक्षा श्लोकवार्तिक की चर्चा बढ़ जाती है, कितनी ही बातों की चर्चा तो श्लोकवार्तिक में अपूर्व ही है । राजवार्तिक में दार्शनिक अभ्यास की विशालता है तो श्लोकवार्तिक में इस विशालता के साथ सूक्ष्मता का तत्त्व भरा हुआ दृष्टिमोचर ही रहा है, समग्र जैन वाङ्मय में जो थोड़ी बहुत कृतियाँ महत्त्व रखती हैं उनमें की दो कृतियाँ राजवार्तिक व श्लोकवार्तिक भी हैं ।"

1. पं० सुखलाल जी ने तत्त्वार्थ सूत्र की प्रस्तावना में यह निर्देश किया है । इसलिए विद्यान्दि की इसी विषय की कृति का इसमें विवेचन है ।

तत्त्वार्थ सूत्र पर उपलब्ध श्वेतांबर साहित्य में से एक भी ग्रन्थ राजवार्तिक या श्लोकवार्तिक की तुलना कर सके ऐसा दिखाई नहीं देता ।”

पं० सुखलाल जी का यह कथन सचमुच में अर्थ पूर्ण है । एवं विद्यानन्द के अद्भुत विद्वत्ता को सूचित करने के लिये पर्याप्त है ।

उत्तरवर्ती ग्रन्थकर्ताओं पर प्रभाव

यह असामान्य प्रभाव उत्तरवर्ती ग्रन्थकर्ताओं पर भी निश्चित रूप से पड़ा है; अनेकों ने विद्यानन्द की शैली को अपनाया है तो अनेकों ने विद्यानन्द के वचनों का उद्धरण किया है, अनेकों ने विद्यानन्द के निर्मल आचार एवं वाग्वैखर्य की प्रशंसा की है ।

श्रीमद् विद्यानन्द के ग्रन्थों का परिशीलन करने पर ज्ञात होता है कि वे केवल न्यायशास्त्र के ही प्रकांड पंडित नहीं थे अपितु व्याकरण, साहित्य, छन्द व सिद्धांत के भी निष्णात विद्वान् थे, इसलिये उन्होंने अपनी विद्वत्ता द्वारा उनका समावेश अपने ग्रन्थों में किया है, अतः उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों ने उनके उद्धरण को महत्त्व दिया हो तो आश्चर्य की बात नहीं है ।

उत्तरवर्ती ग्रन्थकार माणिक्यनंदि, वादिराजसूरि, प्रभाचंद्र, अभयदेव, वादिदेवसूरि, हेमचन्द्र, लघु समन्तभद्र, धर्मभूषण, यशोविजय आदि विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में विद्यानन्द के ग्रन्थों से मार्गदर्शन प्राप्त किया है । इतना ही नहीं, कहीं-कहीं विद्यानन्द के उद्धरणों को भी स्थान दिया है । अनेक उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों ने विद्यानन्द के विद्या वैभव की प्रशंसा करते हुए अपने ग्रन्थ श्री की शोभा बढ़ाई है ।

न्यायविनिश्चय में ग्रन्थकार ने निम्न श्लोक के द्वारा विद्यानन्द की प्रशंसा की है ।

देवस्य शासनमतीवगभीरमेतत् तात्पर्यतः क इह बोद्धुमतीवदक्षः ।

विद्वान् न चेत् सद्गुणचंद्रमुनिर्न विद्यानंदोऽनवद्यचरणः सदनंतवीर्यः ॥

[न्यायविनिश्चय.]

भगवान् अकलंक देव के गम्भीर वचनों की गुंथियों को अगर निर्दोष चारित्र्य को धारण करने वाले विद्यानन्द न होते तो कौन समझने में समर्थ होता ? सचमुच में यह विद्यानन्द का ही प्रसाद है, उन्होंने अष्टसहस्री ग्रन्थ में उसका रहस्योद्घाटन किया है ।

वादिराज सूरि ने पार्श्वनाथ चरित में श्री विद्यानन्द की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि—

ऋजुसूत्रं स्फुरद्वत्तं विद्यानंदस्य विस्मयः शृण्वतामप्यलंकारं दीप्तिरंगेषु रंगति ॥

[अ० १ श्लोक-२८.]

विद्यानन्द के सरल, सतेज, दार्शनिक विचारों को सुनने में भी बहुत बड़ा आनंद आता है, वह भी अपने शरीर में अलंकार के रूप में परिवर्तित होता है तो उसके अध्ययन व अनुभव में न मालूम कितना आनन्द होता होगा ।

इस प्रकार उत्तरवर्ती अनेक ग्रन्थकारों ने विद्यानंद का उल्लेख अपने ग्रन्थों में गौरवपूर्वक किया है।

प्रमाण परीक्षा के प्रारम्भ में मंगलाचरण के रूप में श्री जिनेश्वर की वंदना करते हुए अपने नाम का दिग्दर्शन कराते हुए विद्यानंद स्वामी ने जिनेश्वर का विशेषण उस विद्यानंद पद को किया है।

जयति निर्जिताशेषसर्वथैकांतनीतयः । सत्यवाक्याधिपाः शश्वद्विद्यानंदा जिनेश्वराः ॥

[प्रमाणपरीक्षा मंगलाचरण]

इन उद्धरणों से विद्यानंद की महत्ता सहज समझ में आ सकती है। पत्र परीक्षा के अंत में विद्यानंद की प्रशंसा में निम्नलिखित श्लोक पाया जाता है।

जोयान्निरस्तनिशेषसर्वथैकांतशासनम् सदा श्रीवर्द्धमानस्य विद्यानंदस्य शासनम् ॥

इसमें विद्यानंद ने अपने नाम का उल्लेख करते हुए भी भगवान् महावीर के लिए विद्यानंद विशेषण का प्रयोग किया है।

आप्त परीक्षा की प्रशस्ति में स्वयं विद्यानंद ने लिखा कि :—

स जयतु विद्यानंदो रत्नत्रयभूरिभूषणस्सततम् तत्त्वार्थार्णवतरणे सदुपायः प्रकटितो येन ॥

रत्नत्रय के द्वारा विभूषित समर्थ विद्यानंद सदा जयवत रहें जिन्होंने तत्त्वार्थ समुद्र को तैरने का सरल उपाय प्रकट किया है। ऐसे विद्यानंद के द्वारा प्रकृत अष्टसहस्री की रचना की गई है।

आचार्य विद्यानंद की कृतियों से स्पष्ट है कि वे एक प्रतिभा संपन्न तार्किक थे, उन्होंने उसी दृष्टि से अनेक ग्रन्थ रत्नों की रचना की है।

आचार्य विद्यानंद का काल

ऐसे आचार्य पुंगव का समय कौन सा था इस संबंध में तार्किक जिज्ञासुओं को जानने की इच्छा होना साहजिक है। परन्तु आचार्य ने अपने किसी भी ग्रन्थ में अपने समय का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। अतः उनके ग्रन्थों से हम समय निर्धारण नहीं कर सकते हैं, तथापि अन्य अनेक अनुमानों से उनके समय का निर्धारण हो सकता है, इस दृष्टि से अनेक ऐतिहासिक विद्वानों के द्वारा उनके समय का अनुमान किया गया है। विद्वानों ने उन्हें करीब आठवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में होने का निर्णय किया है, न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जी कोठिया ने आप्त परीक्षा की प्रस्तावना लिखते हुए आप्त परीक्षा के कर्ता महर्षि विद्यानंद के समय का भी उल्लेख किया है, समय निर्धारण में उन्होंने निम्नलिखित प्रमाण उपस्थित किये हैं। वह इस प्रसंग में उपयुक्त होंगे।

(१) न्यायसूत्र पर लिखे गये वात्स्यायन के न्यायभाष्य और न्यायसूत्र तथा न्यायभाष्य पर रचे गये उद्योतकर के न्यायवार्तिक, इन तीनों का तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक आदि में सविस्तृत समालोचना की है, उद्योतकर का समय ई. सन् ६०० माना जाता है।

(२) तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक और अष्टसहस्री आदि ग्रन्थों में विद्यानंद ने प्रसिद्ध शद्राद्वैतवादी भर्तृहरि का नाम लेकर एवं अनुल्लेख से भी उनके वाक्य प्रदीप ग्रन्थ की कारिकाओं को उद्धृत कर खंडन किया है, भर्तृहरि का समय करीब ६०० से ६५० तक सुनिर्णीत है।

(३) जैमिनि, शबर, कुमारिल भट्ट और प्रभाकर इन मीमांसक विद्वानों के सिद्धान्तों का विद्यानंद ने अपने ग्रन्थों में निरसन किया है कुमारिल भट्ट प्रभाकर का समय ई. सन् ६२५ से ६८० तक सुनिर्णीत है ।

(४) कणाद के वैशेषिक सूत्र पर लिखे गये प्रशस्तपाद के प्रशस्तपादभाष्य एवं उस पर रची गई व्योम शिवाचार्य की व्योमवती टीका की आचार्य विद्यानंद ने आप्त परीक्षा में आलोचना की है । व्योमशिवाचार्य का समय ७ वीं सदी का उत्तरार्ध माना जाता है । (अर्थात् विद्यानंद सातवीं शती के उत्तरकालीन सिद्ध होते हैं) ।

(५) धर्मकीर्ति और उनके अनुशामी प्रज्ञाकर तथा धर्मोत्तर का अष्टसहस्री में एवं प्रमाण परीक्षा में विद्यानंद ने खंडन किया है । प्रज्ञाकर व धर्मोत्तर का आठवीं सदी का प्रारंभिक काल माना जाता है ।

(६) अष्टसहस्री में मंडनमिश्र का खंडन किया गया है । श्लोकवार्तिक में भी मंडनमिश्र के सिद्धान्तों का खंडन किया गया है, मंडन मिश्र का भी समय आठवीं सदी का प्रारंभ माना जाता है । इसी प्रकार शंकराचार्य के प्रधान शिष्य सुरेश्वर मिश्र के ग्रन्थों का उल्लेख कर आचार्य विद्यानंद ने खंडन किया है, सुरेश्वर मिश्र का समय भी आठवीं सदी का प्रारंभ माना जाता है । इसके उत्तरवर्तिग्रन्थकारों के उद्धरण आचार्य विद्यानंद के ग्रन्थों में पाये नहीं जाते हैं । इसलिए उनका समय आठवीं शताब्दी के पूर्वार्ध का जो विद्वानों ने निर्णय किया है वही समुचित होता है । उनके उत्तरवर्ति ग्रन्थकारों में किसी-किसी ने उनकी स्तुति की है । इससे भी वे उनसे पूर्ववर्ती हुए हैं । यह सुनिश्चित विषय है ।

वादिराज सूरि ने अपने न्याय विनिश्चय विवरण व पार्श्वनाथ चरित में विद्यानंद का स्मरण किया है । न्याय विनिश्चय विवरणकार १०२५ सन् में हुए हैं ।

प्रशस्त पाद भाष्य पर चार टीकायें लिखी गई हैं उनमें सिर्फ व्योमवती टीका का विद्यानंद ने निरसन किया है, अन्य तीन टीकाओं का निरसन नहीं किया, इससे ज्ञात होता है कि विद्यानंद के समय वे तीन टीकायें नहीं थीं, न्याय कंदली के टीकाकार श्रीधर का समय १० वीं सदी का माना जाता है, उदयन का भी समय प्रायः वही है, इससे विद्यानंद, उदयन व श्रीधर से पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं ।

अष्टसहस्री की अंतिम प्रशस्ति में विद्यानंद ने दो पद्य दिये हैं । उनमें दूसरा पद्य इस प्रकार है ।

कष्टसहस्री सिद्धा साष्टसहस्रीयमत्र मे पुष्यात् शश्वदभीष्टसहस्री कुमारसेनोक्तिवर्धमानार्था ॥

इससे स्पष्ट होता है कि अकलंक की अष्टशती पर कुमारसेन की कोई टिप्पणी होगी, वह विद्यानंद के समय अवश्य रही होगी, उसका स्पष्टीकरण करने के लिए ही यह अष्टसहस्री की रचना की गई है । कुमारसेन का समय निश्चित ७८३ से पहिले है । क्योंकि हरिवंशकार जिनसेन ने अपने ग्रन्थ में कुमारसेन का स्मरण किया है, इसलिए कुमारसेन जिनसेन के भी पूर्ववर्ती प्रतीत होते हैं । इसलिए आचार्य विद्यानंद किसी भी तरह ७वीं सदी के अंतिम भाग में नहीं हो सकते हैं, अगर वे होंगे भी तो उनका वह प्रातः काल हो सकता है, ग्रन्थ निमित्त का काल नहीं माना जा सकता है । यह सुनिश्चित है ।

आचार्य विद्यानंद ने अपने श्लोक वार्तिक के अंत में श्लेष रूप में शिवमार राजा का उल्लेख किया है । इससे मालूम होता है कि उनके समय में शिवमार शासक था गंगवंशी श्रीपुरुष नरेश का उत्तराधिकारी शिवमार

(द्वितीय) था। जिसका समय आठवीं शती का प्रारंभ माना जाता है। यह जैन धर्म का अनन्य भक्त था, इसने श्रवण बेलगोला के चंद्रगिरि पर एक जिन मंदिर बनवाया था जिसका नाम 'शिवमारनबसदि' है, कन्नड में बसदि का अर्थ मंदिर है। इस बसदि के पास ही चट्टान पर शिवमारन बसदि यह लेख भी अंकित है। इसका समय करीब ८१० सन् का माना जाता है। उसके बाद इसका भतीजा सत्य वाक्य राजपट्ट पर आया, उसका भी उल्लेख आचार्य विद्यानंद ने किया है, वह करीब ८१६ के आसपास पट्टाधिकारी हुआ था, तदनंतर वर्षों उसका कार्य काल रहा होगा, आचार्य विद्यानंदि ने भी उसके राजाश्रय को वाकर अपने ग्रंथों का निर्माण निरांतक के रूप में किया, सत्य वाक्य को धारण करने वाले कई राजा हुए हैं, सत्य शासन परीक्षा नामक ग्रन्थ की रचना भी इसी सत्य वाक्य शासक के काल में ही रची गई है।

इन सब प्रमाणों से हम निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आचार्य विद्यानंद के ग्रन्थ निर्माण का समय सन् ८०० से ८४० तक रहा होगा। उसी काल में उन्होंने अपने ग्रंथों का निर्माण किया है। अष्टसहस्री व तत्त्वार्थ श्लोक-वार्तिकालंकार उनकी प्रौढ़ रचनायें हैं, आयु के उत्तर काल में इनकी उन्होंने रचना की होगी, सत्यशासनपरीक्षा विद्यानंद की अंतिम रचना प्रतीत होती है।

अष्टसहस्री की कष्टमय हिंदी टीका

न्याय ग्रंथों की हिन्दी या भाषा टीका करना सरल काम नहीं है। सिद्धान्त और काव्यों का भावांतर सरल व सरस हो जाता है, परन्तु न्याय शास्त्र की पारिभाषिक शैली का भावानुवाद शुष्क ही नहीं दुरधिगम्य भी हो जाता है। तथापि पूज्य विदुषी आर्यिका ज्ञानमती माताजी ने इसकी टीका न्यायलोक में उपस्थित कर सचमुच में एक लोकोत्तर कार्य किया है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

पूज्य आर्यिका श्री ज्ञानमती जी साठवीमणि हैं

बालब्रह्मचारिणी आर्यिका ज्ञानमती जी का क्षयोपशम अलौकिक है, आपने बाल्यकाल से ही विरक्ति को वाकर आचार्य देशभूषणजी महाराज से क्षुल्लिका दीक्षा ग्रहण की तदनंतर परम पूज्य स्व० आचार्य वीर सागर महाराज से आर्यिका दीक्षा ग्रहण की, संघ में निरंतर अभीक्षण ज्ञानोपयोग क्रमबद्ध रूप से शब्द, अलंकार, व्याकरण, न्याय सिद्धान्तों का अध्ययन जारी रहा, केवल पठन की दृष्टि ही नहीं, ग्रंथों के अन्तस्तल में पहुँचकर उनके सूक्ष्म मर्म को समझने के नैपुण्य को उन्होंने प्राप्त किया, विद्यालयों में दसों वर्ष रहकर क्रम बद्ध शास्त्रीय कक्षा तक अध्ययन करने वाले छात्रों में वह योग्यता प्राप्त नहीं होती है, जो योग्यता ग्रन्थ का सूक्ष्म तलस्पर्शी ज्ञान आर्यिका ज्ञानमती जी को प्राप्त हो गई है। इससे यह श्रद्धा दृढीभूत होती है कि सम्यग्दर्शन के साथ सिर्फ ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है, चारित्र्य पूर्वक जो ज्ञान है उसमें विशिष्ट क्षयोपशम की प्राप्ति होती है, तप की प्रखरता से ज्ञान भी निखर उठता है। इस बात के लिए आर्यिका ज्ञानमती माताजी ही निदर्शन हैं। बहुत दूर जाने की आवश्यकता नहीं है, जिस अष्टसहस्री को कष्टसहस्री समझकर विद्यार्थी पठन से विद्वान् पाठन से उपेक्षा करते हैं उस अष्टसहस्री का बिना किसी की सहायता के स्वयं अध्ययन कर अर्थ करना, भाषांतर लिखना, सुबोध अनुवाद का निर्माण करना, यह उनके तपःपूत प्रज्ञातिशय का ही कार्य है, यह सर्व साधारण को साध्य नहीं है। आचार्य शांतिसागर जी की परम्परा में प्राप्त ऐसी साध्वीरत्नों से जैन समाज के साधु समुदाय का मुख उज्ज्वल है, मस्तक ऊँचा है, यह लिखने में हमें बरा भी संकोच नहीं होता है।

टिकैतनगर (उ. प्र.) सदृश छोटे से कस्बे में जन्म होने पर सर्व भारत के कोने-कोने में विहार तत्तत्प्रान्तीय भाषाओं का प्रगाढ़ पङ्क्तिचय, साधु सन्तों के प्रति नितांत भक्ति, विद्वानों के प्रति वात्सल्यमय स्नेह, गुणीजनों के प्रति धर्म स्नेहयुक्त समादर यह माताजी की विशेषता है ।

कन्नड़, मराठी, हिंदी, संस्कृत व प्राकृत ग्रन्थों में सूक्ष्मतम प्रवेश ही नहीं, अपितु उन भाषाओं में काव्य-रचना की योग्यता भी माताजी में है अनेक काव्यमय ग्रन्थ उनकी ज्ञान गंगा से प्रवाहित हुए हैं एवं जनादर को पा चुके हैं । विपुल प्रमाण में ज्ञानदान करने के कारण उनका नाम सचमुच में सार्थक है ।

चातुर्मास में प्रायः निरन्तर अध्ययन अध्यापनादि के कारण स्वपर कल्याण के महान् कार्य में वे संलग्न होती हैं, उनका चातुर्मास प्रायः सर्वत्र हुआ है, कर्नाटक, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, राजस्थान एवं उत्तर प्रदेश के भव्य षर्गों के हृदय में उन्होंने अपनी अमिट छाप छोड़ दी है । वे सपने में, जागृत अवस्था में उनका स्मरण करते रहते हैं । उनकी कृपा से कभी उच्छ्रम नहीं हो सकेंगे ।

पूज्य माताजी जिस प्रकार ज्ञान की धनी हैं, उसी प्रकार वे प्रवचन में भी पटु हैं, ज्ञानाराधना और बीज हैं, गणधर बनकर द्वादशांग वाणी का विस्तार-विवेचन करना और बात है, सबको यह सिद्धि प्राप्त नहीं होती है । पूज्य विदुषी आर्यिका ज्ञानमती में यह विशेषता है कि वे अपने हस्तगत ज्ञान को दूसरों के सामने करतलामलकवत् सुस्पष्ट रूप से रख सकती हैं । कठिन से कठिन विषयों को सरल बनाकर लोक के सामने रखने में आप सिद्ध हस्त हैं ।

भारत की राजधानी देहली में उन्होंने भगवान महावीर निर्वाण रजत शती वर्ष में दि० जैन त्रिलोक शोध संस्थान सदृश आवश्यक व अनिवार्य कार्य का जो नेतृत्व किया है वह अभिनन्दनीय है । उस त्रिलोक शोध-संस्थान भवन का यह महान् कार्य कलश के रूप में सिद्ध होगा, माताजी का कार्य अनुपम है । दुरूह है, दुःसाध्य है, सर्वजनोपयोगी है । केवल उनके प्रति अनन्य भक्ति होने से ही दो शब्दपुष्प उन्हें समर्पित किये हैं ।

कल्याण भवन

सोलापुर (महाराष्ट्र)

१ जून १९७४

वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री



प्राक्-कथन

आ० विद्यानन्द और उनके ग्रन्थ-वाक्यों का अपने ग्रन्थों में उद्धरणारूप से उल्लेख करने वाले उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों के समुल्लेखों तथा विद्यानन्द की स्वयं की रचनाओं पर से जो उनका संक्षिप्त किन्तु अत्यन्त प्रामाणिक परिचय उपलब्ध होता है उस पर से विदित है कि विद्यानन्द वर्तमान मैसूर राज्य के पूर्ववर्ती गंगराजाओं—शिवमार द्वितीय (ई० ८१०) और उसके उत्तराधिकारी राजमल्ल सत्यवाक्य प्रथम (ई० ८१६) के समकालीन विद्वान् हैं। इनका कार्यक्षेत्र मुख्यतया इन्हीं गंगराजाओं का राज्य मैसूर प्रान्त का वह बहु भाग था, जिसे 'गंगवाडि' प्रदेश कहा जाता था। यह राज्य लगभग ईसवी चौथी शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी तक रहा और आठवीं शती में श्री पुरुष (शिवमार द्वितीय के पूर्वाधिकारी) के राज्यकाल में वह चरम उन्नति को प्राप्त था। शिलालेखों तथा दानपत्रों से ज्ञात होता है कि इस राज्य के साथ जैनधर्म का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। जैनाचार्य सिंहनन्दि ने इसकी स्थापना में भारी सहायता की थी और आचार्य पूज्यपाद-देवनन्दि इस राज्य के गंग नरेश दुर्विनीत (लगभग ई० ५००) के राजगुरु थे। अतः आश्चर्य नहीं कि ऐसे जिनशासन और जैनाचार्य भक्त राज्य में विद्यानन्द ने बहुवास किया हो और वहाँ अपने बहुत समय साध्य विशाल तार्किक ग्रन्थों का प्रणयन किया हो। कार्यक्षेत्र की तरह संभवतः यही प्रदेश उनकी जन्मभूमि भी रहा ज्ञात होता है, क्योंकि अपनी ग्रन्थ-प्रशस्तियों में उल्लिखित इस प्रदेश के राजाओं की उन्होंने पर्याप्त प्रशंसा एवं यशोगान किया है।^१ इन्हीं तथा दूसरे प्रमाणों से विद्यानन्द का समय इन्हीं राजाओं का काल स्पष्ट ज्ञात होता है। अर्थात् विद्यानन्द ई० ७७० से ८४६ के विद्वान् निश्चित होते हैं।^१

विद्यानन्द के विशाल पाण्डित्य, सूक्ष्म प्रज्ञा, विलक्षण प्रतिभा, गम्भीर विचारणा, अद्भुत अध्ययनशीलता, अपूर्व तर्कणा आदि के सुन्दर और आश्चर्यजनक उदाहरण उनकी रचनाओं में पद-पद पर मिलते हैं। उनके ग्रन्थों में प्रचुर व्याकरण के सिद्धि प्रयोग, अतूठी पद्यात्मक काव्य रचना, तर्कागम वादचर्चा, प्रमाणपूर्ण सैद्धान्तिक विवेचन और हृदयस्पर्शि जिन शासन भक्ति उन्हें निःसन्देह उत्कृष्ट वैयाकरण, श्रेष्ठतम कवि, अद्वितीय वादी, महान् सैद्धान्ती और सच्चा जिनशासनभक्त सिद्ध करने में पुष्कल समर्थ हैं। वस्तुतः विद्यानन्द जैसा सर्वतोमुखी प्रतिभावान् तार्किक उनके बाद भारतीय वाङ्मय में कम-से-कम जैन परम्परा में तो दृष्टिगोचर नहीं होता। यही कारण है कि उनकी प्रतिभापूर्ण कृतियाँ उत्तरवर्ती माणिक्यनन्दि, वादिराज, प्रभाचन्द्र, अभयदेव, वादिदेवसूरि, हेमचन्द्र, लघु समन्तभद्र, अभिनव धर्मभूषण, उपाध्याय यशोविजय आदि जैन तार्किकों के लिए पथप्रदर्शक एवं अनुकरणीय सिद्ध हुई हैं। माणिक्यनन्दि का परीक्षामुख जहाँ अकलङ्क देव के वाङ्मय का उपजीव्य है, वहाँ वह विद्यानन्द की प्रमाणपरीक्षा आदि तार्किक रचनाओं का भी आभारी है। उस पर उनका उल्लेखनीय प्रभाव है।^२ वादिराज सूरि^३ (ई० १०२५) ने लिखा है कि यदि विद्यानन्द अकलङ्क देव के वाङ्मय का रहस्योद्घाटन न करते तो उसे कौन

१. देखिए, लेखक द्वारा सम्पादित 'आप्त-परीक्षा' की प्रस्तावना।

२. वही, प्रस्तावना पृ० ५३ तथा ५४। ३. वही, प्रस्तावना पृ० ५३ तथा ५४।

४. प्रमाण परीक्षा और परीक्षा मुख की तुलना देखें—आ० प० प्रस्तावना पृ० २८-२९।

५. न्यायविनिश्चयविवरण भाग २, पृ० १३१।

समझ सकता था। विदित है कि विद्यानन्द ने अपनी तीक्ष्ण प्रतिभा द्वारा अकलङ्कदेव की अत्यन्त जटिल एवं दुरूह रचना अष्टशती के तात्पर्य को 'अष्टसहस्री' व्याख्या में उद्घाटित किया है। पार्श्वनाथ चरित में भी वादिराज ने विद्यानन्द के तत्त्वार्थालङ्कार (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक) तथा देवागमालङ्कार (अष्टसहस्री) की प्रशंसा करते हुए यहां तक लिखा है—'आश्चर्य है कि विद्यानन्द के इन दीप्तिमान् अलङ्कारों की चर्चा करने-कराने और सुनने-सुनाने वालों के भी अङ्गों में कान्ति आ जाती है तब फिर उन्हें धारण करने वालों की तो बात ही क्या है।' प्रभाचन्द्र, अभयदेव, देवसूरि, हेमचन्द्र और धर्मभूषण की कृतियाँ भी विद्यानन्द के तार्किक ग्रन्थों की उपजीव्य हैं। उन्होंने इनके ग्रन्थों से स्थूल के स्थल उद्धृत किए और अपने अभिधेय को उनसे पुष्ट किया है। विद्यानन्द की अष्टसहस्री को जिसके विषय में उन्होंने स्वयं लिखा है कि "हजार शास्त्रों को सुनने की अपेक्षा अकेली इस अष्टसहस्री को सुन लीजिए, उसी से ही समस्त सिद्धान्तों का ज्ञान हो जायेगा" पाकर यशोविजय भी इतने विभोर एवं मुग्ध हुए कि उन्होंने उस पर 'अष्टसहस्री तात्पर्य विवरण, नाम की नव्य न्यायशैली प्रपूर्ण विस्तृत व्याख्या लिखी है। इस तरह हम देखते हैं कि आ० विद्यानन्द एक उच्चकोटि के प्रभावशाली दार्शनिक एवं तार्किक थे तथा उनकी अजूठी दार्शनिक कृतियाँ भारतीय विशेषतः जैनवाङ्मयाकाश की दीप्तिमान् नक्षत्र हैं।

जैन दर्शन को उनकी अपूर्व देन

विद्यानन्द ने जैन दर्शन को दो तरह से समृद्ध किया है। एक तो अपनी कृतियों के निर्माण से और दूसरे उनमें कई विषयों पर किए गए नये चिन्तन से। हम यहाँ उनके इन दोनों प्रकारों पर कुछ विस्तार से विचार करेंगे।

(क) कृतियाँ

जैन दर्शन के लिए विद्यानन्द की जो सबसे बड़ी देन है, वह है उनकी महत्वपूर्ण रचनाएं। वे ये हैं—

(१) विद्यानन्द महोदय, (२) तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, (३) अष्टसहस्री, (४) युक्त्यनुशासनालङ्कार, (५) आप्तपरीक्षा, (६) प्रमाण परीक्षा, (७) पत्र-परीक्षा, (८) सत्यशासन परीक्षा और (९) श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र। इनमें तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री और युक्त्यनुशासनलङ्कार ये तीन व्याख्या-ग्रन्थ हैं और शेष उनके मौलिक ग्रन्थ हैं।

(१) भावना-विधि-नियोग—इसमें सन्देह नहीं कि आ० विद्यानन्द का दर्शनान्तरीय अभ्यास अपूर्व था। वैशेषिक, न्याय, मीमांसा, चार्वाक, सांख्य और बौद्ध दर्शनों के वे निष्णात विद्वान् थे। उन्होंने अपने ग्रन्थों में इन दर्शनों के जो विशद पूर्व-पक्ष प्रस्तुत किए हैं और उनकी जैसी मानिक समीक्षा की है, उससे स्पष्टतया विद्यानन्द का समग्र दर्शनों का अत्यन्त सूक्ष्म और गहरा अध्ययन जाना जाता है। किन्तु मीमांसा दर्शन की भावना-नियोग और वेदान्त दर्शन की विधि सम्बन्धी दुरूह चर्चा को जब हम उन्हें अपने तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक और अष्टसहस्री में विस्तार के साथ करते हुए देखते हैं, तो उनकी अगाध विद्वत्ता, असाधारण प्रतिभा और सूक्ष्म प्रज्ञा पर आश्चर्य-चकित हो जाते हैं। उनका मीमांसा और वेदान्त दर्शनों का कितना गहरा और तलस्पर्शी पांडित्य था, यह सहज ही उनका पाठक जान जाता है। जहाँ तक हम जानते हैं, जैन वाङ्मय में यह भावना-नियोग-विधि की दुरवगाह चर्चा सर्वप्रथम तीक्ष्णबुद्धि विद्यानन्द द्वारा ही की गई है और इसलिए जैन दर्शन को यह उनकी अपूर्वदेन है। मीमांसा दर्शन की जैसी और जितनी सबल मीमांसा तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में है वैसी और उतनी जैन वाङ्मय की अन्य कृतियों में नहीं है।

(२) सह-क्रमानेकान्त की परिकल्पना—आचार्यमूर्धन्य गृह्यपिच्छ ने द्रव्य का लक्षण गुण और पर्याययुक्त प्रतिपादित किया है, यद्यपि यही लक्षण आचार्य कुन्दकुन्द भी प्रकट कर चुके हैं। इस पर शङ्का की गई कि 'गुण' संज्ञा तो इतर दार्शनिकों (वैशेषिकों) की है, जैनों की नहीं। उनके यहाँ तो द्रव्य और पर्याय रूप ही वस्तु वर्णित है और इसी से उनके ग्राहक द्रव्याधिक तथा पर्यायाधिक इन दो ही नयों का उपदेश है। यदि गुण भी उनके यहाँ मान्य हो तो उसको ग्रहण करने के लिए एक और तीसरे गुणाधिक नय की भी व्यवस्था होना चाहिये? इस शङ्का का समाधान सिद्धसेन, अकलङ्क और विद्यानन्द तीनों तार्किकों ने किया है सिद्धसेन ने^१ बतलाया कि 'गुण' पर्याय से भिन्न नहीं—पर्याय में ही गुण संज्ञा जैनागम में स्वीकृत है और इसलिए गुण तथा पर्याय एकार्थक होने से पर्यायाधिक नय द्वारा ही गुण का ग्रहण होने से गुणाधिक नय पृथक् उपदिष्ट नहीं है। अकलङ्क^२ कहते हैं कि द्रव्य का स्वरूप सामान्य और विशेष दोनों रूप है तथा सामान्य, उत्सर्ग, अन्वय और गुण ये सब उसके पर्याय शब्द हैं। तथा विशेष, भेद, पर्याय ये तीनों विशेष के पर्यायवाची हैं। अतः सामान्य को ग्रहण करने वाला द्रव्याधिक और विशेष को विषय करने वाला पर्यायाधिक नय है। अतएव गुण का ग्राहक द्रव्याधिक नय ही है, उससे जुदा गुणाधिक नय प्रतिपादित नहीं हुआ। अथवा गुण और पर्याय अलग-अलग नहीं है—पर्याय का ही नाम गुण है।

सिद्धसेन और अकलङ्क के इन समाधानों के बाद भी शङ्का उठायी गयी कि यदि गुण, द्रव्य या पर्याय से अतिरिक्त नहीं है तो द्रव्य लक्षण में गुण और पर्याय दोनों का निवेश क्यों किया? 'गुणवद् द्रव्यम्' या 'पर्यायवद् द्रव्यम्' इतना ही लक्षण पर्याप्त था? इसका उत्तर विद्यानन्द ने^३ जो दिया वह बहुत ही महत्वपूर्ण एवं सूक्ष्म प्रज्ञता से भरा हुआ है। वे कहते हैं कि वस्तु दो तरह के अनेकान्तों का रूप (पिण्ड) है—१ सहानेकान्त और २ क्रमानेकान्त। सहानेकान्त का ज्ञान कराने के लिए गुणयुक्त को और क्रमानेकान्त का निश्चय कराने के लिए पर्याययुक्त को द्रव्य कहा है। अतः द्रव्य लक्षण में गुण तथा पर्याय दोनों पदों का निवेश युक्त एवं सार्थक है।

जहाँ तक हम जानते हैं, विद्यानन्द से पूर्व अकलङ्क देव ने सम्यगनेकान्त और मिथ्यानेकान्त के भेद से दो प्रकार के अनेकान्तों का तो प्रतिपादन किया है। परन्तु सहानेकान्त और क्रमानेकान्त इन दो तरह के अनेकान्तों का कथन विद्यानन्द से पूर्व उपलब्ध नहीं होता। इन अनेकान्तों के कथन और उनकी सिद्धि के लिए द्रव्य लक्षण में गुण तथा पर्याय दोनों शब्दों के निवेश का समाधान विद्यानन्द की अद्भुत प्रतिभा का सुपरिणाम है। उनका यह समाधान और स्पष्ट शब्दों में सहानेकान्त और क्रमानेकान्त इन दो अनेकान्तों की परिकल्पना इतनी सजीव एवं सबल सिद्ध हुई कि स्याद्वादसिद्धिकार आ० वादीभसिंह ने^४ उससे प्रेरणा पाकर उक्त अनेकान्तों की प्रतिष्ठा के लिए सहानेकान्त-सिद्धि और क्रमानेकान्तसिद्धि नाम से दो स्वतन्त्र प्रकरणों की सृष्टि स्याद्वादसिद्धि में की है तथा उनका विस्तृत विवेचन किया है।

(३) व्यवहार और निश्चय द्वारा वस्तुविवेचन—अध्यात्म के क्षेत्र में तो व्यवहार और निश्चय द्वारा वस्तु का विवेचन किया ही जाता है, पर तर्क के क्षेत्र में भी उनके द्वारा वस्तुविवेचन हो सकता है, यह दृष्टि हमें विद्यानन्द से प्राप्त होती है। उन्होंने इन दोनों नयों से अनेक स्थलों में वस्तु-विवेचन किया है। 'निष्क्रियाणि

श्रोतव्याष्टसहस्री धृतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः ।

विज्ञायेत ययैव स्वसमय-परसमयसङ्कावः ॥ अष्टसं. पृ० १५७ ।

१. देखिए सन्मत्तिसूत्र ३-६, १०, १२ । २. देखिए, तत्त्वार्थवार्तिक ५-३७ ।

३. गुणवद् द्रव्यमित्युक्तं सहानेकान्त सिद्धये ।

तथा पर्यायवद् द्रव्यं क्रमानेकान्त सिद्धये ॥ तत्त्वा० श्लो० पृ० ४३८ ।

४. स्याद्वाद सिद्धि ३-१ से ३-७४ तथा ४-१ से ४-८६ ।

च' (त० सू० ५-७) इस सूत्र की व्याख्या करते हुए वे तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक [पृ० ४००] में लिखते हैं, कि निश्चयनय से सभी वस्तुएँ कथंचित् निष्क्रिय हैं और व्यवहारनय से कथंचित् सक्रिय हैं। लोकाकाश और धर्मादि द्रव्यों में आधाराधेयता का विचार करते हुए वे कहते हैं कि व्यवहारनय से लोकाकाश तथा धर्मादि द्रव्यों में आधाराधेयता है तथा निश्चयनय से उनमें उसका अभाव है। उनका तर्क है कि निश्चयनय से प्रत्येक द्रव्य अपने में अवस्थित होता है। अन्य द्रव्य की स्थिति अन्य द्रव्य में नहीं होती, अन्यथा उनका अपना प्रातिस्विक रूप न रहकर उनमें स्वरूप-सांकर्य हो जायेगा। इसी तरह सब द्रव्यों में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की व्यवस्था करते हुए वे त० सू० ५-१६ टीका में लिखते हैं कि निश्चयनय से सभी द्रव्यों की उत्पादादि व्यवस्था विस्रसा (स्वभावतः) है। व्यवहारनय से उनके उत्पादादिक सहेतुक हैं। अतः व्यवहार और निश्चयनय के स्वरूप को समझ कर द्रव्यों की आधाराधेयता तथा कार्यकारण भाव की व्यवस्था जहाँ जिस नय से की गई हो उसे उसी नय से जानना चारिए। इस तरह विद्यानन्द का व्यवहार और निश्चय द्वारा वस्तु विचार भी जैन दर्शन के लिए उनकी एक अनन्यतम उपलब्धि है।

(४) उपादान और निमित्त का विचार—यों तो कारणों का विचार सभी दर्शनों में है और उनकी विस्तार से चर्चा की गई है किन्तु जैन दर्शन में उनका चिन्तन बहुत सूक्ष्म किया गया है। कार्य की उत्पत्ति में कितने कारणों का व्यापार होता है, इस सम्बन्ध में न्याय तथा वैशेषिक दर्शन का मन्तव्य है कि समवायि, असमवायि और सहकारी इन तीन कारणों का व्यापार कार्योत्पत्ति में होता है। बौद्धदर्शन का मत है कि उपादान और सहकारी इन दो ही कारणों से कार्य उत्पन्न होता है। सांख्य दर्शन भी कारणों का विचार करता है, लेकिन उसका दृष्टिकोण कार्य की उत्पत्ति से न होकर उसके आविर्भाव से और कारण से तात्पर्य केवल उपादान से है। जो भी स्वरूप अथवा विरूप कार्य उत्पन्न होता है वह एकमात्र प्रकृति रूप उपादान से होता है, उसका कोई प्रकृति से भिन्न सहकारी कारण नहीं है। जैन दर्शन यद्यपि बौद्ध दर्शन की तरह प्रत्येक कार्य में उपादान और निमित्त इन दो कारणों को स्वीकार करता है। परन्तु बौद्ध दर्शन की मान्यता से जैन दर्शन की मान्यता में बड़ा अंतर है। बौद्ध दर्शन पूर्व रूपादिक्षण को उत्तररूपादि क्षण में उपादान तथा रसादि को सहकारी मानता है। पर जैनदर्शन अन्वय-रहित पूर्व पर्याय विशिष्ट द्रव्य को उपादान और कालादि सामग्री को निमित्त स्वीकार करता है। यहाँ हम विद्यानन्द के सूक्ष्म चिन्तन के दो उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

प्रश्न है कि उपादान के नाश से उपादेय की उत्पत्ति होती है। सम्यक्दर्शन सम्यक्ज्ञान का उपादान है। अतः सम्यक्ज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर सम्यक्दर्शन का नाश हो जाना चाहिए? इसके उत्तर में विद्यानन्द कहते हैं कि उपादेय की उत्पत्ति में उपादान का नाश कथंचित् इष्ट है, सर्वथा नहीं, अन्यथा, कार्य की उत्पत्ति कभी भी न हो सकेगी। इसका स्पष्टीकरण करते हुए वे कहते हैं कि दर्शन परिणाम से परिणत आत्मा ही वस्तुतः दर्शन है और वह विशिष्ट ज्ञान 'परिणाम की उत्पत्ति का उपादान है। अन्वय रहित केवल पर्याय या केवल जीव द्रव्य उसका उपादान नहीं है, क्योंकि केवल पर्याय या केवल जीवादि द्रव्य कूर्मरोम आदि की तरह अवस्तु है। इसी तरह दर्शन-ज्ञान परिणत जीव-दर्शन-ज्ञान है और दर्शन-ज्ञान चारित्र का उपादान है, क्योंकि पर्याय विशेष परिणत द्रव्य उपादान है, जिस प्रकार घट परिणमन में समर्थ पर्यायरूप मिट्टी द्रव्य घट का उपादान होता है। विद्यानन्द उपादान का स्वरूप बतलाते हुए लिखते हैं—'जो पूर्व रूप को छोड़ता हुआ तथा अपूर्व रूप को न छोड़ता हुआ तीनों कालों में भी विद्यमान रहता है उस द्रव्य को उपादान कहा गया है। किन्तु जो सर्वथा अपने रूप को छोड़ देता है अथवा जो विल्कुल नहीं छोड़ता वह किसी भी वस्तु का उपादान नहीं है। जैसे सर्वथा क्षणिक या सर्वथा नित्य।' विद्यानन्द ने

१. त० श्लो० पृ० ४०८-४११ । २. त० श्लो० पृ० ४१० । ३. तत्त्वार्थश्लोकवा० पृ० ६८-६९ ।

उपादान के इसी लक्षण को सामने रखकर सर्वत्र उपादानोपादेय की व्यवस्था की है। यह तो हुआ उनके उपादान का विचार।

इसी प्रकार उन्होंने^१ निमित्त-सहकारि कारण का भी चिन्तन किया है। वे लिखते हैं कि बिना सहकारी सामग्री के उपादान कार्यजनन में समर्थ नहीं है। जब तक आयोग केवल गुणस्थान का उपादान और अन्त्य समय प्राप्त नहीं होता तब तक नामादिक कर्मों के निर्जरण की शक्ति प्रकट नहीं होती और न मुक्ति ही सम्भव है। अतः अयोग केवली का अन्त्य क्षण ही शेष कर्मों के क्षय में कारण है। इस तरह सहकारी सापेक्षित उपादान कार्यजनक है, अकेला नहीं। इस प्रकार आचार्य विद्यानन्द का यह उपादान और निमित्त सम्बन्धी चिन्तन जैन दर्शन के अनेकान्तवादी दृष्टिकोण को पुष्ट करता है।

इस तरह आचार्य विद्यानन्द की जैन दर्शन को कितनी ही नयी देने हैं जो उसे गौरवास्पद और सर्वादरणीय बनाती हैं।

अष्टसहस्री का प्रस्तुत संस्करण

आचार्य विद्यानन्द की कृतियों का पीछे उल्लेख कर आये हैं। अष्टसहस्री उन्हीं में से एक महनीय कृति है। इसका सन् १९१५ में सेठ नाथारङ्ग जी गांधी द्वारा आज से ५९ वर्ष पूर्व एक बार प्रकाशन हो चुका है। किन्तु उसका हिन्दी-रूपान्तर अब तक नहीं हो सका था। अत्यन्त प्रमोद की बात है कि अभीक्षण ज्ञानोपयोग में ही नहीं, चारित्र्याचारादि पंचाचार में सतत निरत पूज्या माता श्री ज्ञानमती जी ने इस अभाव की पूर्ति का सफल एवं स्तुत्य प्रयत्न किया है। अष्टसहस्री कितना जटिल और दुरवगाह दार्शनिक ग्रन्थ है, इसे तज्ज्ञ विद्वान् जानते हैं। एक ही स्थल पर बौद्धदर्शन की चर्चा करते-करते अन्य दर्शनों की भी चर्चा आ जाती है, जिसे समझना साधारण बुद्धि का कार्य नहीं है। उसे समझने-समझाने के लिए बुद्धि का बहु-आयाम करना पड़ता है। जिसका सभी भारतीय दर्शनों में गहरा प्रवेश होगा, वही अष्टसहस्री का मर्मोद्घाटन कर सकता है। माता जी ने इस दुरवगाह ग्रन्थ का हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत करके जिस साहस एवं बुद्धि-वैभव का परिचय दिया है वह निःसंदेह स्तुत्य है।

ज्ञानानुरागी श्री मोतीचन्द जी सर्राफ द्वारा प्रेषित माता जी के अष्टसहस्री-अनुवाद के कुछ मुद्रित कर्मों को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उन्हें 'स्थाली-पुलाक' न्याय से देखकर हम अनुभव करते हैं कि माता जी ने गहराई से ग्रंथ का अध्ययन कर यह हिन्दी-रूपान्तर लिखा है। भारतीय दर्शनों का उनका तलस्पर्शी अभ्यास भी स्पष्टतया अवगत होता है। बुद्धि वैभव और सत्साहस से भरे माता जी के इस महान् प्रयत्न की हम सराहना करते हैं। इसके लिए हम ही नहीं, समस्त समाज एवं विद्वद्गण उनका उमकृत हैं। उनके द्वारा जिनशासन की अधिक काल तक प्रभावना हो, यही मंगल-कामनाएँ हैं।

वीर-शासन-जयन्ती

श्रावण कृष्णा १, वी. नि. सं० २५००

५ जुलाई, १९७४,

वाराणसी-५

डॉ० हरबारीलाल कोठिया

[रीडर, जैन-बौद्ध दर्शन]

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

१. त्यक्तात्यक्तात्मरूपं यत्पूर्वापूर्वेण वर्तते । कालत्रयेऽपि तद् द्रव्यमुपादानमिति स्मृतम् ॥१॥

यत्स्वरूपं त्यजत्येव यत्र त्यजति सर्वथा । तत्रोपादानमर्थस्य क्षणिकं शाश्वतं यथा ॥२॥ अष्ट स० पृ० २१० ।

स्वसामग्र्या बिना कार्यं न हि जातुचिदीक्षते ।

कालादिसामग्रीको हि मोहक्षयस्तद्रूपाविर्भावहेतुर्न केवलः तथाऽप्रतीतेः ।

क्षीणेऽपि मोहनीयाख्ये कर्मणिप्रथमं क्षणे । यथा क्षीणकषायस स्रवितरन्त्यक्षणे मता ॥

ज्ञानावृत्यादि कर्माणि हन्तु तद्वदयोमितः । पर्यन्तं क्षण एव स्याच्छेषकर्मक्षयेऽप्यसौ ॥ त० श्लो० पृ० ७०-७१ ।

मंगल-स्तोत्र

यह अष्टसहस्री आप्तमीमांसा की व्याख्या है। अब प्रश्न है कि स्वामी समन्तभद्र ने यह आप्तमीमांसा जिस 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' मङ्गल-स्तोत्र में स्तुत आप्त की मीमांसा (समीक्षा) में लिखी है और स्वयं विद्यानन्द ने भी स्तोत्रगत आप्त की परीक्षा में आप्त परीक्षा रची है, वह महत्त्वपूर्ण मंगल-स्तोत्र तत्त्वार्थ सूत्र का मंगलाचरण है या सर्वार्थसिद्धि का ? इस प्रश्न पर भी विचार लेना आवश्यक है।

इस विषय में पर्याप्त ऊहापोह हुआ है। कुछ विद्वानों का मत रहा कि उक्त मंगल-पद्य सर्वार्थ सिद्धि के आरम्भ में उपलब्ध होने और उस पर सर्वार्थ सिद्धिकार की व्याख्या न होने से उसी का मंगलाचरण है, तत्त्वार्थ-सूत्र का नहीं। सर्वार्थसिद्धि में तत्त्वार्थ सूत्र के अवतरण की जो प्रश्नोत्तर रूप उत्पत्तिका दी गई है, उससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि तत्त्वार्थ सूत्रकार ने तत्त्वार्थसूत्र के आरम्भ में मंगलाचरण किये बिना ही उसकी रचना की है।

इसके विपरीत दूसरे अनेक विद्वानों का स्पष्ट अभिमत है, कि सूत्रकार ने, जिन्हें शास्त्रकार भी कहा गया है, तत्त्वार्थ सूत्र के आदि में मंगलाचरण किया है और वह 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' मंगल-स्तोत्र है। सर्वार्थसिद्धि में वहीं से वह लिया गया है। तत्त्वार्थ सूत्रकार आचार्य गृह्यविच्छ परम आस्तिक थे। वे मंगलाचरण की प्राचीन परम्परा का, जो षट्खण्डागम, कषायपाहुड आदि आगम ग्रन्थों में भी उपलब्ध है, उल्लंघन नहीं कर सकते। अतः उक्त पद्य उन्हीं द्वारा तत्त्वार्थ सूत्र के आरम्भ में रचित मङ्गल-स्तोत्र है। वृत्तिकार आचार्य पूज्यपाद-देवनन्दि ने उसे अपनी टीका सर्वार्थ सिद्धि में अपना लिया है और अपना लेने से उन्होंने उसकी व्याख्या नहीं की।

इस सम्बन्ध में डाक्टर दरबारीलाल कोठिया ने ऊहापोहपूर्वक सूक्ष्म एवं गम्भीर विचार किया है और 'तत्त्वार्थसूत्र का मंगलाचरण' शीर्षक अपने दो विस्तृत निबन्धों में आचार्य विद्यानन्द के प्रचुर ग्रन्थोल्लेखों एवं अन्य प्रमाणों से बलवत्ता के साथ सिद्ध किया है कि तत्त्वार्थ सूत्रकार ने तत्त्वार्थ सूत्र के आरम्भ में 'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र्याणि मोक्षमार्गः' [१-१] सूत्र से पहले मंगलाचरण किया है, और वह उक्त 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि मंगल-स्तोत्र है, जिसे विद्यानन्द ने 'शास्त्रकारकृत स्तोत्र' बतलाते हुए 'तीर्थोपम', 'प्रथित-पृथु-पथ' और 'स्वामि-मीमांसित' जैसे अर्थगर्भ महत्त्वपूर्ण विशेषणों से युक्त किया है। विद्यानन्द का उसे शास्त्रकारकृत बतलाना, तीर्थोपम कहना, प्रथित-पृथु-पथ-प्रसिद्ध-महानमार्ग प्रकट करना और स्वामी द्वारा मीमांसित निरूपित करना ये सभी बातें विशेष महत्त्वपूर्ण एवं सार्थ हैं। आगे डाक्टर कोठिया ने बल देते हुए लिखा है, कि विद्यानन्द के 'इन तथा अन्य उल्लेखों

१. अनेकान्त, वर्ष ५, किरण ६, ७ तथा १०, ११, वीर सेवा मन्दिर, सन् १९४४ ।

२. आप्तपरीक्षा, कारिका ३ व १२३ वीर सेवा मन्दिर-संस्करण, सन् १९४६ ।

३. श्री मत्तत्त्वार्थशास्त्राङ्कृत-सलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य
प्रोत्थानाऽरम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत् ।
स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथित-पृथु-पथं स्वामि-मीमांसितं तत्
विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्धये ॥

४. इति तत्त्वार्थशास्त्रादौ मुनीन्द्रस्तोत्र-मोचरा ।

प्रणीताऽऽप्तपरीक्षेयं विवाद-विनिवृत्तये ॥

—आप्त परीक्षा, का० १२३, १२४; पृ० २६१ ।

से स्पष्ट है 'कि स्वामी समन्तभद्र ने इसी मंगल-स्तोत्र पर उसके व्याख्यान में 'आप्तमीमांसा' लिखी और स्वयं विद्यानन्द ने भी उसी की व्याख्या में अष्टसहस्री के अतिरिक्त 'आप्तपरीक्षा' रची। सूत्रकार एवं शास्त्रकार पदों से विद्यानन्द का स्पष्ट अभिप्राय तत्त्वार्थ सूत्रकार आचार्य गृद्धपिच्छ से है, तत्त्वार्थ वृत्तिकार आचार्य पूज्यपाद-देवनन्दि से नहीं है। सर्वार्थसिद्धि में उक्त मंगल-स्तोत्र को अपना मङ्गलाचरण बना लिया गया है और इसी कारण उसकी व्याख्या नहीं की गयी। सर्वार्थसिद्धि में जो तत्त्वार्थशास्त्र के अवतरण की प्रश्नोत्तर रूप उत्थानिका दी गयी है, उसका यह अर्थ नहीं कि प्रश्नकर्ता भव्य के प्रश्न करने पर आचार्य ने सारा व्याख्यान देकर उसे तत्काल निबद्ध किया है। अपितु उसने मोक्ष और मोक्षमार्ग की जिज्ञासा प्रकट की। तदनुसार आचार्य ने उसकी या उस जैसे अनेक भव्यों की जिज्ञासा-ज्ञाति के लिए उक्त प्रकार के ग्रन्थ-निर्माण की आवश्यकता अनुभव करके 'तत्त्वार्थ सूत्र' शास्त्र की रचना की और उसके आरम्भ में पूर्व परम्परानुसार उक्त स्तोत्र को मंगलाचरण के रूप में निबद्ध किया।

अतः मंगल-स्तोत्र के विषय में अधिक न लिखकर अब इतना ही लिखना पर्याप्त है, कि वह आचार्य गृद्धपिच्छरचित तत्त्वार्थ सूत्र का ही मंगलाचरण है, सर्वार्थ सिद्धि का नहीं।

इस विषय में पूज्य आर्यिका श्री ज्ञानमती माता जी ने अष्टसहस्री और श्लोकवातिक ग्रन्थ से अनेकों प्रमाण निकाले हैं। उनमें से कुछ उद्धरण वानगी के रूप में यहाँ दिये जा रहे हैं—

अष्टसहस्री के मंगलाचरण में ही प्रारम्भ में "शास्त्रावतार रचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितं कृतिरलं क्रियते मयास्य" इस उत्तरार्ध में श्री विद्यानन्दि महोदय ने स्पष्ट कह दिया है कि शास्त्रावतार—तत्त्वार्थ सूत्र महाशास्त्र के प्रारम्भमें रचित स्तुति के गोचर जो आप्त हैं उनकी मीमांसा रूप यह कृति मेरे द्वारा अलंकृत की जाती है।

टिप्पणीकार श्री लघु समन्तभद्र ने भी इसे अत्यधिक विस्तृत कर दिया है—

"इह हि खलु पुरा स्वकीयनिरवद्यविद्यासंपदा गणधरप्रत्येकबुद्धश्रुत-केवलदशपूर्वाणां सूत्रकृन्महर्षीणां महिमानमात्मसातकुर्वद्भिर्रुमास्वामिपादराचार्यवर्यैरासूत्रितस्य तत्त्वार्थाधिगमस्य मोक्षशास्त्रस्य गंधहस्त्याख्यं महाभाष्यमुपनिबन्धन्तः स्याद्वादविद्याप्रगुरवः श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्यास्तत्र मंगलपुरस्सर-स्तवविषयपरमाप्त-गुणातिशय-परीक्षामुपक्षिप्तवंतो देवागमाभिधानस्य प्रवचनतीर्थस्य सृष्टिमापूरयाञ्चक्रिरे।"

तत्त्वार्थाधिगमरूपमोक्षशास्त्र के ऊपर 'गंधहस्ति' नाम का महाभाष्य लिखते हुए श्री समन्तभद्र स्वामी ने मंगलाचरण में स्तुति के विषय को प्राप्त परम आप्त के गुणों के अतिशयों की परीक्षा करते हुये 'देवागम' नामक प्रवचनतीर्थ की सृष्टि को बनाया है।

स्वयं श्री विद्यानन्द महोदय ने छठी कारिका की उत्थानिका में—“तन्वस्तु नामैवं कस्यचित्कर्म भूभूद्भूदित्वमिव विश्व तत्त्व साक्षात्कारित्वं, प्रमाण सद्भावात्। स तु परमात्माहंनेवेति कथं निश्चयो यतोहमेव महानभिवंद्यो भवतामिति.....”।

कर्म पर्वत भेदन करने वाले के समान कोई महापुरुष विश्व तत्त्व को साक्षात् करने वाले ही जावें, किन्तु वह परमात्मा अर्हत ही हैं? यह निश्चय कैसे हुआ कि जिससे 'मैं ही आपके द्वारा अभिवंद्य होऊँ, मानों ऐसा प्रश्न श्री समन्तभद्र ने स्वयं भगवान् के सामने रखा है। आगे सातवीं कारिका की उत्थानिका में भी कहते हैं कि—“भगवतोऽर्हत एव युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वेन सुनिश्चितासंभवद्वाधक प्रमाणत्वेन च सर्वज्ञत्वधीतरागत्वसाधनात्। तत्त्वमेव महान मोक्षमार्गस्य प्रणेता नान्यः कपिलादिः।”

इन वाक्यों से यह बात स्पष्ट है कि 'मोक्ष मार्ग के नेता, कर्म पर्वत के भेत्ता और विश्वतत्त्व के ज्ञाता' इन तीन विशेषणों से ही अर्हत को सच्चा आप्त सिद्ध किया जा रहा है, अथवा अर्हत में ये तीन विशेषण घटित होते हैं इसलिये ही वे सच्चे आप्त हैं। यह सिद्ध किया गया है।

आगे और देखिये—अन्तिम ११४ वीं कारिका की टीका में श्री अष्टसहस्रीकार क्या कहते हैं—

“शास्त्रारम्भेभिष्टुतस्याप्तस्य मोक्षमार्गप्रणेतृया कर्मभूभृद्भूतृया विश्वतत्त्वानां ज्ञातृया च भगवदर्हत-सर्वज्ञस्यैवान्ययोगव्यवच्छेदेन व्यवस्थापनपरा परीक्षेयं विहिता ।”

शास्त्र के आरम्भ में स्तुति को प्राप्त जो आप्त हैं, वे 'मोक्षमार्ग के प्रणेता, कर्म पर्वत के भेत्ता और विश्वतत्त्व के ज्ञाता' इन तीन विशेषणों से युक्त भगवान् अर्हत सर्वज्ञ ही हैं, अन्य कोई नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार अन्य योग का व्यवच्छेद करके भगवान् अर्हत में ही इन विशेषणों की व्यवस्था को करने में तत्पर यह परीक्षा की गई है। यह है सारे अष्टसहस्री ग्रन्थ का अन्तिम उपसंहार। यह मंगलाचरण श्री उमास्वामी आचार्य-कृत ही है, इस बात को सिद्ध करने के लिये इससे बढ़कर सबल प्रमाण और क्या हो सकता है? पूज्य श्री ज्ञानमती माता जी आश्चर्यपूर्वक कहा करती हैं, कि यह मंगलाचरण श्री उमास्वामी कृत है या नहीं? विद्वानों में ऐसी शंका कहाँ से उत्पन्न हो गई?

श्लोकवार्तिकालंकार ग्रन्थ में भी श्री विद्यानन्द महोदय ने स्थल-स्थल पर इस बात को स्पष्ट किया है। देखिये !

‘प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थसाक्षात्प्रक्षीणकल्मषे । सिद्धे मुनीन्द्रसंस्तुत्ये मोक्षमार्गस्य नेतरि ॥१॥

सत्यां तत्प्रतिपित्सायामुपयोगात्मकात्मनः । श्रेयसा योक्ष्यमाणस्य प्रवृत्तं सूत्रमादिदम् ॥२॥

कल्याणमार्ग के अभिलाषी अनेक शिष्यों की मोक्षमार्ग जानने की इच्छा होने पर ही 'मोक्षमार्गस्य नेतारं भेतारं.....।' इस अच्छी तरह सिद्ध किये गये मंगलाचरण की भित्ति पर ही श्री उमास्वामी महाराज ने पहला सूत्र लिखा है। जिन्होंने केवलज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण पदार्थ ज्ञान लिये हैं, ज्ञानावरण आदि घाति कर्म नष्ट कर दिये हैं तथा मोक्षमार्ग को प्राप्त करने और कराने वाले मुनि पुंगवों द्वारा स्तुति करने योग्य हैं ऐसे जितेन्द्रदेव के सिद्ध होने पर ही तथा ज्ञानदर्शनोपयोग स्वरूप और मोक्ष से युक्त होने वाले शिष्य की मोक्षमार्ग को जानने की तीव्र अभिलाषा होने पर यह पहला सूत्र 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' उमास्वामी आचार्य ने प्रचलित किया है।

“सिद्धे मोक्षमार्गस्य नेतरि प्रबंधेन वृत्तं सूत्रमादिमं शास्त्रस्येति” ।

“ततो^१ निः शेषतत्त्वार्थवेदी प्रक्षीणकल्मषः । श्रेयोमार्गस्य नेतास्ति स संस्तुत्यस्तदर्थिभिः” ॥४९॥

इन सभी प्रमाणों से सर्वथा यह बात सिद्ध हो जाती है कि मंगलाचरण श्री सूत्रकार उमास्वामी आचार्य-कृत ही है।

१. तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकालंकार प्रथम खंड, पृ० ४० ।
२. तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकालंकार प्र० खं० पृ० ५८ ।
३. तत्त्वार्थ श्लोक पृ० १४५ ।

श्री उमास्वामी आचार्य ने 'गागर ने सागर' को भरने वाली कहावत को पूर्णतया चरितार्थ कर दिया है। उनके इस तत्त्वार्थ सूत्र ग्रन्थ के ऊपर अनेकों बड़े-बड़े ग्रन्थ तैयार हो गये हैं। जब एक मंगलाचरण के ऊपर आप्त मीमांसा, अष्टशती और अष्टसहस्री जैसे जैन दर्शन के सर्वोपरि ग्रन्थ बन गये। आप्तपरीक्षा ग्रन्थ बन गया। तब उस ग्रन्थ की महत्ता और विशेषता की जितनी भी गौरव गाथायें गाई जावें, थोड़ी ही हैं। यही कारण है कि आज भी भारतवर्ष में दक्षिण-उत्तर आदि प्रान्तों में सर्वत्र नर-नारी इस तत्त्वार्थ सूत्र का पाठ बड़ी भक्ति से करते हैं और एक उपवास करने का फल समझते हैं। बहुत-सी महिलाओं का तो नियम ही रहता है कि 'तत्त्वार्थसूत्र सुने बिना भोजन नहीं करता'। कहा भी है—

दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति । फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुङ्गवैः ॥

दश अध्याय से परिपूर्ण इस तत्त्वार्थसूत्र को पढ़ने पर एक उपवास का फल प्राप्त होता है ऐसा श्री मुनियों में श्रेष्ठ मुनियों ने कहा है।

इस ग्रन्थ का यह मंगलाचरण सच्चे आप्त-देव को सिद्ध करने में सर्वोपरि मान्य अमोघ उपाय है। ऐसा समझना चाहिए।

कु० मालती शास्त्री, धर्मलंकार



इस अष्टसहस्री ग्रंथ का अनुवाद तथा प्रकाशन

क्यों ? कब ? एवं कैसे ?

लेखक—पीठाधीश क्षुल्लक मोतीसागर

मोती माणक पन्ना आदि पिरोंकर अथवा रंग बिरंगे फूलों से गूँथी गई माला जिस प्रकार से वक्षस्थल की शोभा बढ़ाती है उसी प्रकार से समंतभद्राचार्य ने भगवान् की भक्ति उनकी परीक्षारूप में करते हुए देवागम स्तोत्र की रचना की। उस स्तोत्र को ही आधार बनाकर अकलंकदेव ने अष्टशती का निर्माण किया तदनंतर उसी स्तोत्र पर टीकारूप में विद्यानंद स्वामी ने अब से बारह सौ वर्ष पूर्व अष्टसहस्री का सृजन किया। अष्टसहस्री में देवागम स्तोत्र को ऐसा गूँथा कि जिसने न्याय दर्शन का सेहरा बनकर जिनागम के मस्तक को गौरवान्वित किया।

न्यायदर्शन की शृंखला में समय-समय पर अनेक दिग्गज विद्वान जैनाचार्यों द्वारा कड़ियाँ जोड़ते रहने से एक विशाल अर्गल बन गई जिससे उन्मत्त वादियों को बाँधना (परास्त करना) सुगम हो गया। कालचक्र निरंतर चलते हुए भी इस फौलादी सांकल को काट नहीं सका। यही कारण है कि विलासिता के इस दुर्गम समय में भी जिनमत का प्रचार-प्रसार निरंतर अविरल गति से हो रहा है।

अनुवाद का बीजारोपण—

अष्टसहस्री का अनुवाद समस्त दार्शनिक जगत के लिये एक अनूठी उपलब्धि है। किसी भी मिष्टान्न को खा लेना और उसे खाकर उसका आनन्द प्राप्त करना बहुत ही सुगम है किन्तु उसके बनाने में कितना श्रम लगा यह वही जान सकता है जिसने उसे बनाया है अथवा आद्योपांत बनते देखा है व बनाने में सहयोग दिया है।

किसी भी वस्तु को बनाने वाला या किसी काम को करने वाला जब उसमें तन्मय होता है तब वह उसका स्वाभाविक आस्वाद प्राप्त कर लेता है। प्रत्युत यहाँ तक देखने में आता है कि वस्तु के उपभोक्ता से भी अधिक आनंद निर्माता को प्राप्त होता है।

ठीक यही स्थिति ग्रंथ निर्माता आचार्यों की रही है। परम निग्रन्थ गुरु भगवान् कुंद-कुंद, पूज्यपाद, समंतभद्र, अकलंकदेव, जिनसेन, पुष्पदंत, भूतबली, अमृतचन्द्र, जयसेन, विद्यानंद आदि ने आत्मानंद में निमग्न होकर उन्हीं भावों को ताड़पत्रों पर लिपिबद्ध कर दिया। यह उसी का प्रतिफल है कि हम उनका स्वाध्याय करके अपनी आत्मानुभूति का मार्ग खोज रहे हैं। जो आनन्द उन महामुनिराजों ने प्राप्त किया उसका शतांश भी हमको अनुपलब्ध है।

अनुवाद का उद्देश्य—

जिस कार्य के बारे में सोचना भी कठिन था ऐसे इस अष्टसहस्री ग्रंथ का भाषानुवाद पूज्य माताजी ने सहज में करके एक आश्चर्यजनक कार्य कर दिया। अधिकांश प्राचीन ग्रन्थों का सृजन शिष्यों के अध्यापन अथवा प्रश्नों के निमित्त से हुआ है। इस ग्रंथ का भाषांतर भी माताजी द्वारा साधुओं तथा शिष्यों को अध्ययन कराने के निमित्त से ही किया गया।

विक्रम सं० २०२५ में शांतिवीरनगर (श्रीमहावीरजी) राज० में सम्पन्न पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के अनंतर नूतन आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज विशाल संघ को लेकर स्व० आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज की निषीधिका के दर्शनार्थ जयपुर खानिया पधारे । जयपुर शहर के श्रावकों के अत्यधिक आग्रह के कारण श्री आदिनाथ दिगम्बर जैन मंदिर (बक्शीजी), मेंहदी वालों का चौक, रामगंज बाजार, बड़ी चौपड़ में चातुर्मास स्थापना हुई ।

अनुवाद का शुभारंभ—

वर्षायोग में एक स्थान पर लगातार चार माह तक निश्चित ठहरने के कारण साधुओं का ध्यान अध्ययन विशेष होता है । वरिष्ठता के कारण माताजी ने आर्थिका संघ संबंधी अनेक दैनिक व्यवस्थाओं को सम्हालने के साथ-साथ अध्ययन कराते हुए जब हम लोगों को अष्टसहस्री का अध्ययन कराना प्रारम्भ किया तो मैंने माताजी से निवेदन किया कि इतने बड़े ग्रंथ को मूल से पढ़कर परीक्षा देना हमारे लिये कठिन है ।

माताजी ने हमारी प्रार्थना को सुनकर अनुवाद करना ही प्रारम्भ कर दिया । समय बीतने के साथ ही अनुवाद को भी तीव्र गति प्राप्त हो गई । अनुवाद कार्य समाप्ति से पूर्व वि० सं० २०२७ का आगामी चातुर्मास का समय आ गया । इस चातुर्मास का योग टोक (राज०) को प्राप्त हुआ । चातुर्मास समाप्ति तक अनुवाद कार्य भी चरमसीमा को प्राप्त हो चुका था । अनुवाद के समापन का श्रेय टोक जिले में स्थित टोडारार्यसिंह नगर को प्राप्त हुआ ।

इस अष्टसहस्री ग्रंथ में अत्यधिक कठिन समझे जाने वाले भावना नियोग अधिकार को पहले तो माताजी ने भी अनुवाद करने से यह सोचकर छोड़ दिया था कि किसी विद्वान का सहारा लेकर इसका अनुवाद करना पड़ेगा किंतु जब किसी भी विद्वान ने इस कठिन कार्य में हाथ डालने की हिम्मत नहीं की तो स्वयं माताजी ने ही आत्म-विश्वास के साथ भगवान् के समक्ष मंदिर में बैठकर मात्र दस दिन में ही उसे भी पूरा कर दिया ।

अनुवाद समापन समारोह—

वि० सं० २०२७ के पौष की सुदी बारस का वह उज्ज्वल दिवस था जिस दिन अनुवाद कार्य सम्पन्न हुआ । इसके तीन दिन बाद ही आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज का ५७वां जन्म दिवस मनाया गया । अनुवाद कार्य की निर्विघ्न समाप्ति के हर्षोपलक्ष्य में पौष शु० १५ को विधान करके विशाल रथयात्रा के साथ अष्टसहस्री की अनुवादित हस्तलिखित कापियों को सुसज्जित सुन्दर पालकी में विराजमान करके जूलूस के बाद आरती पूजनादि के द्वारा महती प्रभावना की गई ।

प्रकाशन से पूर्व की तैयारी—

माताजी ने तो अनुवाद पूर्ण कर आचार्यों के मनोभावों का रसास्वादन प्राप्त कर लिया किन्तु न्यायदर्शन के पाठक विद्यार्थी एवं स्वाध्याय प्रेमी भी अष्टसहस्री के मर्म को हृदयंगम कर सकें इस पुनीत भावना से इसे अनुवाद सहित शीघ्र प्रकाशित करने की उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हुई । किन्तु प्रकाशन हेतु प्रेस में देने से पूर्व जो सबसे पहली समस्या सामने आई वह थी पुनर्निरीक्षण एवं संशोधन करके प्रेस कार्या तैयार करने की । इस कार्य के लिये बड़ी आशाएँ थी परम तपस्वी पूज्य आचार्य श्री महावीर कीर्ति जी महाराज से । किन्तु उनका असमय में ही स्वर्गवास हो गया ।

तब आचार्य श्री जानसागर जी महाराज को अनुवादित कापियाँ पढ़ने के लिए दी गईं । उन्हें वृद्धावस्था तथा शारीरिक कमजोरी के कारण स्वयं पढ़ने की तो शक्ति नहीं थी अतः कुछ पृष्ठ पढ़कर सुनाये गये । जिस पर

उन्होंने अतीव संतोष व्यक्त करते हुए कई बार ये शब्द कहे कि—“अनुवाद बहुत ही सरल, स्पष्ट एवं प्रभावक हुआ है। साथ ही यह भी कहा कि माताजी स्वयं ही एक बार सूक्ष्मता से दृष्टि डालकर परिमार्जित कर लें। अतः माताजी ने अन्य कार्यों को गौण करके अपना अमूल्य समय एवं सम्पूर्ण शक्ति इसी में लगाकर कृति को पूर्ण रूप से विशुद्ध बना दिया।

हस्तलिखित प्रति की प्राप्ति—

अनुवाद के समय तो केवल छपी हुई प्रति ही सामने थी जो कि निर्णयसागर प्रेस बम्बई की छपी थी। वि० सं० २०२६ के अजमेर चातुर्मास के पश्चात् जब माताजी व्यावर पधारीं तब पं० हीरालाल जी सिद्धांतशास्त्री ने अष्टसहस्री के अनुवाद को देखने की अभिलाषा व्यक्त की। कुछ पृष्ठों का अवलोकन करके परम संतोष व्यक्त करते हुये इस महान कार्य की भूरि-२ प्रशंसा की। बाद में पं० हीरालाल जी के सौजन्य से ऐलक पन्नालाल दिगम्बर जैन सरस्वती भवन व्यावर के विशाल ग्रंथ भण्डार से जिसमें कि वे सेवारत थे, ४०० वर्ष प्राचीन एक हस्तलिखित अष्टसहस्री की प्रति प्राप्त हुई। उसमें छपी हुई प्रति से कुछ अधिक टिप्पणियाँ एवं पाठांतर दे रखे थे जिनसे अर्थ का विशेष स्पष्टीकरण होता है यदि यह प्रति अनुवाद से पूर्व सामने होती तो अनुवाद में जितना श्रम लगा उसमें सहायता मिलती। उस हस्तलिखित प्रति की विशेष टिप्पणियों एवं पाठांतरों को माताजी ने इस ग्रन्थ में जोड़ लिया है।

प्रकाशन का निश्चय

जब प्रकाशन की तैयारी हो चुकी तो प्रेस की समस्या सामने आई। व्यावर में तो ऐसी कोई प्रेस उपलब्ध नहीं हुई जिसमें संस्कृत का कार्य हो सके। तब पं० अभयकुमार जी अजमेर (तत्कालीन प्रबंधक-जैन गजट साप्ताहिक) के सहयोग से केशव आर्ट प्रिंटर्स, हाथी भाटा अजमेर के यहाँ छपवाना प्रारम्भ हुआ। संस्कृत प्रूफ रीडिंग एवं पेज कटिंग के लिये कई लोगों से बात की किन्तु कोई उचित व्यक्ति न मिल पाने से अंततोगत्वा प्रूफ रीडिंग का कार्य हमें ही करना पड़ा। पेज कटिंग व फायनल प्रूफ रीडिंग का कार्य भार माताजी पर ही छोड़ा गया क्योंकि और कोई करने में सक्षम भी नहीं था।

प्रकाशन व्यवस्था अजमेर से दिल्ली—

बड़ी कठिनाई से यह व्यवस्था बन पाई थी कि संघ का बिहार दिल्ली के लिए हो गया। पुनः यह समस्या उपस्थित हो गई कि इतनी दूर रहकर यह काम चलाना अशक्य है अतः दिल्ली में संस्कृत का काम करने वाली अनुभवी प्रेस की खोज की गई। सम्राट प्रेस पहाड़ी घोरज इसके लिये सक्षम रही। अजमेर से छपे हुये फर्मे व अवशेष कागज आने तक छह माह बीत गये एवं प्रेस निर्णय के बाद भी टाइप आदि की व्यवस्था में तीन माह और निकल गये। पुनः वि० सं० २०२६ में भाद्रपद माह के शुभ दिन से छपाई का कार्य मंद गति से चलने लगा।

पूज्य माताजी का अनुवाद सौष्ठव में अपार श्रम

पूज्य माताजी ने अनुवाद करने में जितना श्रम किया है उसके विषय में कलम से लिखना कठिन है। मूल एवं हिन्दी प्रकरणों के शीर्षक बनाना, प्रत्येक पृष्ठ के ऊपर विषय के अनुसार शीर्षक देना, मूल पंक्तियों के अर्थ के साथ टिप्पणियों के अर्थ को खोलना, अर्थ के अनंतर स्थान-स्थान पर भावार्थ एवं विशेषार्थ के द्वारा अति स्पष्ट रूप में प्रकरण के रहस्य को प्रस्फुट करना सामान्य श्रम नहीं था।

इन सबके अतिरिक्त समस्त प्रतिवादियों की विचारधारा को मस्तिष्क में रखकर सार रूप में विषय विभाजन करते हुये ५४ सारांश बनाये जिनकी सहायता से प्रारम्भ में थोड़ा पढ़कर भी बहुत कुछ समझा जा सकता है। मैंने तथा संघस्थ अन्य छात्र-छात्राओं ने इन्हीं सारांशों के आधार से शास्त्री एवं न्यायतीर्थ की परीक्षाएँ दीं। बहुत सी बातों को एक सूत्र में गभित करके कहना अथवा एक सूत्र पर एक ग्रन्थ तैयार कर देना ये दोनों कार्य अपने-अपने स्थान पर विशेष महत्त्व रखते हैं।

एक और हस्तलिखित प्रति की उपलब्धि—

जब प्रथम भाग के ३०० पृष्ठ छप गये तब दि० जैन नया मन्दिर धर्मपुरा, दिल्ली के प्राचीन शास्त्र भण्डार से अष्टसहस्री की एक और हस्तलिखित प्रति श्री पन्नालाल जैन अग्रवाल (किताब वालों) के सौजन्य से प्राप्त हुई। उसमें विस्तारपूर्वक टिप्पणियाँ दी गई हैं। इस प्रति से भी अधिकांश टिप्पणियाँ एवं पाठांतर लिये गये हैं उनको अलग से दिखाने के लिये दिल्ली प्रति—दि० प्र० ऐसा संकेत उनके आगे किया है।

पूज्य माताजी की अपार क्षमता एवं कार्य कुशलता—

नीतिकारों ने कार्य करने वाले तीन प्रकार के बतलाये हैं। एक तो वे होते हैं जो कठिनता आदि कारणों से कार्य को करते ही नहीं हैं। दूसरे वे होते हैं जो कि विघ्न बाधाएँ आने पर प्रारम्भ किये हुये कार्य को मध्य में ही अधूरा छोड़ देते हैं। तीसरे वे होते हैं जो विघ्न बाधाओं की परवाह न करके अनेक कष्टों को सहन करते हुये कार्य को पूर्ण करके ही छोड़ते हैं अथवा पूर्ण करने में संलग्न रहते हैं।

पू० माताजी तीसरे प्रकार के व्यक्तियों में से एक हैं जिन्होंने अपने जीवन में कभी भी यह नहीं सोचा कि यह काम नहीं हो सकता है। सदैव सोचे हुये कार्य आत्मीक बल से पूर्ण किये। आपका मनोबल अपार है। उत्साह हीनता को आपके जीवन में प्रश्रय नहीं मिला। कर्मठता ही आपके जीवन का ध्येय रहा। इसी के फल-स्वरूप यह अष्टसहस्री ग्रन्थ अनुवादित होकर पाठकों के हाथों में पहुँच सका है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की विशेषता—

इस अष्टसहस्री की महानता के विषय में स्व० पं० श्री जुगलकिशोर मुख्त्यार द्वारा लिखित देवागम अपरनाम आप्तमीमांसा नामक पुस्तक की प्रस्तावना में उन्होंने लिखा है—“एक बार खुर्जा के सेठ पं० मेवाराम जी ने बतलाया कि जर्मनी के एक विद्वान् ने उनसे कहा कि—“जिसने अष्टसहस्री नहीं पढ़ी वह जैनी नहीं और जो अष्टसहस्री पढ़कर जैनी नहीं बना उसने अष्टसहस्री को पढ़ा नहीं, समझा ही नहीं।” यह कितना महत्त्वपूर्ण वाक्य है। एक अनुभवी विद्वान् के मुख से निकला हुआ यह वाक्य इस अष्टसहस्री ग्रन्थ के गौरव को कितना अधिक स्थापित करता है। सचमुच अष्टसहस्री ऐसी ही एक अपूर्वकृति है। खेद है कि आज तक ऐसी महत्त्वपूर्ण कृति का कोई हिन्दी अनुवाद गौरव के अनुरूप होकर प्रकाशित नहीं हो सका।”

काश ! यदि आज पं० जुगलकिशोर जी मुख्त्यार होते तो उन्हें इस अनुवादित ग्रन्थ को देखकर कितनी प्रसन्नता होती।

इस महान् ग्रन्थ की महत्ता को स्वयं आचार्य विद्यानन्द स्वामी ने द्वितीय अध्याय के मंगलाचरण में इस रूप में लिखा है—

श्रोतव्याष्टसहस्रीभुतैः किमन्यैः सहस्र संख्यानैः ।

विज्ञायेत ययैव स्वसमयपरसमय सद्भावः ॥

अष्टसहस्री को ही सुनना चाहिये, हजारों ग्रन्थों को सुनने/पढ़ने से क्या प्रयोजन/लाभ है। जबकि एक अष्ट-सहस्री से ही स्वसमय अर्थात् आत्मा—जैन सिद्धान्त और उसके तलस्पर्शी रहस्यों का बोध हो जाता है तथा पर समय अर्थात् अनात्म अन्य मतावलम्बियों के सिद्धान्त और भ्रांत धारणाओं का एवं कपोलकल्पनाओं का सर्वथा निराकरण हो जाता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के महत्त्व पर स्वयं माताजी का अभिमत—

“कुछ महानुभावों की यह धारणा है कि न्यायशास्त्रों में आत्मा का वर्णन नहीं है किन्तु यह उनकी मात्र भ्रांति है। प्रमाण-सच्चे ज्ञान का एवं आप्त-कर्ममल रहित आत्मा का इसमें विशद वर्णन है। आत्मा या अन्य द्रव्यों को समझने के लिये स्याद्वाद ही महान् आधार है जबकि यह ग्रन्थ स्याद्वाद कथनमय है।”

माताजी का कहना है कि “सप्तभंगीमय स्याद्वाद प्रक्रिया का स्थल-स्थल पर जितना अधिक विवेचन अष्ट-सहस्री में है उतना वर्तमान में उपलब्ध जैन सिद्धान्त ग्रन्थों में किन्हीं में भी नहीं है। यह ग्रन्थ स्याद्वाद प्रक्रिया को समझने में सर्वोपरि है।”

युग की अनुपम देन—

ग्रन्थ रचना काल के इतिहास को देखने से ज्ञात होता है कि भगवान् महावीर से लेकर अब तक जितने भी ग्रन्थ लिखे गये वे सब पुरुष वर्ग द्वारा लिखे गये या मुनियों-आचार्यों ने लिखे अथवा विद्वान् पंडितों ने लिखे। पूर्व से पश्चिम तक अथवा उत्तर से दक्षिण तक किसी भी शास्त्र भण्डार में किसी श्राविका अथवा आर्यिका द्वारा लिखित एक भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता।

ग्रन्थ लेखन का यह कार्य जो कि महिलाओं के द्वारा नहीं हो पाया था उसका शुभारम्भ पूज्य ज्ञानमती माताजी ने किया। पूज्य माताजी के पश्चात् अन्य और भी आर्यिका माताओं ने ग्रन्थ लेखन करके साहित्यधारा को प्रवाहित किया है। इस युग की यह एक बड़ी भारी ऐतिहासिक देन है कि न्याय दर्शन जैसे बिलम्ब एवं शुष्क विषयक ग्रन्थ का अनुवाद कठिनतम संयम को धारण करने वाली गणिनी आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा किया जाकर इतनी सुन्दरता एवं विशेषता के साथ प्रकाशित हुआ है।

अनेक विद्वानों को यह सुनकर विश्वास नहीं होता था कि किन्हीं आर्यिका जी ने अष्टसहस्री का अनुवाद किया है। किन्तु अष्टसहस्री प्रथम भाग जब सबके हाथों में पहुंचा तो सब आश्चर्यचकित रह गये। स्व० पं० कैलाशचन्द जी सिद्धान्त शास्त्री जैसे साधुओं के आलोचक विद्वान् ने भी यह कहा कि—“सौ विद्वान् मिलकर जिस काम को नहीं कर पाते उसे अकेली ज्ञानमती माताजी ने कर दिया।

अन्य विद्वानों के अभिमत—

अष्टसहस्री प्रथम भाग के छपे हुए कुछ पृष्ठों का अवलोकन करके पं० परमेष्ठीदास जी ललितपुर, डॉ० लालबहादुर जी शास्त्री, पं० गुलाबचंद जी जंतदरनाचार्य-प्राचार्य संस्कृत महाविद्यालय जयपुर, पं० बाबूलाल जी जमादार बड़ौत; पं० मूलचंदजी शास्त्री श्री महावीर जी, डॉ० ए० एन० उपाध्याय, पं० फूलचंद जी सिद्धान्त शास्त्री, पं० मोतीलाल जी कोठारी फलटन आदि अनेक मूर्धन्य विद्वानों ने बड़ी प्रसन्नता एवं गौरव व्यक्त किया कि अभी भी अष्टसहस्री जैसे न्याय के महान् ग्रन्थों का अध्ययन करने वाले ही नहीं अपितु उसके अनुवाद जैसे दुर्लभ

कार्य को करने वाली पूज्य श्री ज्ञानमती माताजी जैसी परम विदुषी आधिका विद्यमान हैं जिनके कि हमें साक्षात् दर्शन हो रहे हैं ।

पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य ने तो माताजी के साहित्य का अवलोकन करते हुए अत्यन्त मद्गद होकर कहा कि “ज्ञानमती माताजी तो सरस्वती की अवतार हैं ।”

पं० दरबारीलाल जी कोठिया जी कि न्यायदर्शन के उत्कृष्ट विद्वान् हैं हस्तिनापुर आये तो माताजी ने वात्सल्य भाव से उन्हें कहा कि आप तो सरस्वती पुत्र हैं तो उन्होंने कहा—“माताजी ! आप तो साक्षात् ही सरस्वती हैं ऐसा कहते हुए उन्होंने अनेकशः माताजी की प्रशंसा की ।

पं० कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री ने अष्टसहस्री का प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित करने के लिये अत्यधिक आग्रह किया था किन्तु दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान के अन्तर्गत स्थापित वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला का यह प्रथम भाग पहला पुष्प था इसलिये ज्ञानपीठ से प्रकाशन कराने की भावना नहीं बनी ।

टिप्पण संकलन—

अष्टसहस्री प्रथम भाग में मुद्रित प्रति के टिप्पण तो सभी रखे ही गये हैं साथ ही ब्यावर से प्राप्त हस्त-लिखित प्रति से एवं दिल्ली से प्राप्त हस्तलिखित प्रति से लिये गये प्रमुख टिप्पण भी दिये गये हैं ।

ब्यावर प्रति से ब्र० रवीन्द्रकुमार, ब्र० मालती एवं ब्र० माधुरी आदि से माताजी ने टिप्पण निकलवाए थे । बाद में उनमें से प्रमुख टिप्पण स्वयं माताजी ने छांटकर निकालने में अत्यधिक परिश्रम किया था ।

इस प्रथम भाग का द्वितीय संस्करण—

इस अष्टसहस्री प्रथम भाग के प्रकाशन के बाद से एक-एक करके १७ पुष्पों का प्रकाशन हो गया । १५ वर्ष के पश्चात् इसके दूसरे भाग का प्रकाशन हुआ । प्रथम भाग के समाप्त हो जाने से पुनः इसके द्वितीय संस्करण के प्रकाशन की आवश्यकता प्रतीत हुई । यह लिखते हुए प्रसन्नता हो रही है कि प्रथम भाग का द्वितीय संस्करण आपके हाथों में है ।



दिल्ली ग्रंथ भंडार से हस्तलिखित प्राचीन अष्टसहस्री के एक पृष्ठ का नसूना
(जिससे इस ग्रंथ में दिग्गण व पाठांतर संग्रहीत किये गये हैं)

२०८

पवि रु ध धर्मवेष नि नि
क्षे म नि =

ध सु र व चै न म दि ज्ञान म
अ न व मि व =

२ सु र वा दि चै त न म स =

१ सु र वा दि प त्रि धा पितृ जा = १ इत्यं रु प त न या = २ आत्म शब्दे क सु त्र ऊ त्र सं व द्यु ते ते न वि ज्ञो षा ष्म न ए का म्
न श्चे ति ज्यो ज न ना क र्त्त व्वा = २ वि ज्ञो द्वै त वा दी = ३ सौ रा तः = ३ व र्ति वि ज्ञा न ना मे क म व = २ ज्यो न द स म शब्द
ध मे य = अ परि वि वि = ४ त्त्वे र्प म =

य ते वि त्र ज्ञा न व क्क षे चि द् स क्ती षि वि ज्ञो षे का त्म नः सु र वा दि चै त त्पे स्य
व र्ण सं स्था ना द्या त्म नः र्क ध स्य व प्र द्वा णा ते स्या त्म त सु र वा दि चै त न्या म स
क्ती षि वि ज्ञो षा त्म व भे व न भु त रे का त्म कं सु र व चै त त्पा व ज्ञा द न आ
र त्ते चै बो ध ता का स्य वि ज्ञा न रा त्प त्वा द्वि रु ध ध र्मो ध्या म स्या न्य च
सा ध न द्या द त्प द्या वि श्व स्ये क च प्र स्या दि ति तं ट सं च्चि त्र ज्ञा न स्या प्य का
त्म क चो बा व प्र स्या त पी ता का र ए व द न स्य नी ला द्या का र सा व द नो द्य
त्वा त्त्वं द्वि रु ध र्मो ध्या मा तं य दि भु न र्त्रा क्ये वि व च न त्वा पी ता द्या का
र सं वे द न म का त्म क मु र री क्ति य ते त द्वा सु र वा दि चै त न्य ते का प र ग वः इ
त स्त स्या प्य श्वा क् वि व च न त्वा टि का त्म क त्वा प प त्त्रेः पी ता द्या का रा ग मि
व सु र वा द्या का रा णां चै त त्पा त रं ने त्त म च्च क्ये वि व च न च स्य स चा वा त त्ते

१ द्य व त्त म सु र व द्वा का रा णां अ त्त स त न प्र ति प्रा प यि तु इ ध क्त रु द्म र्म क्त वा त् = १ सौ रा तः =

४ अ नि न्तरूप वा त् =

**पूज्य आर्थिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी कृत हिन्दी टीका
का एक पृष्ठ नमूनार्थ**

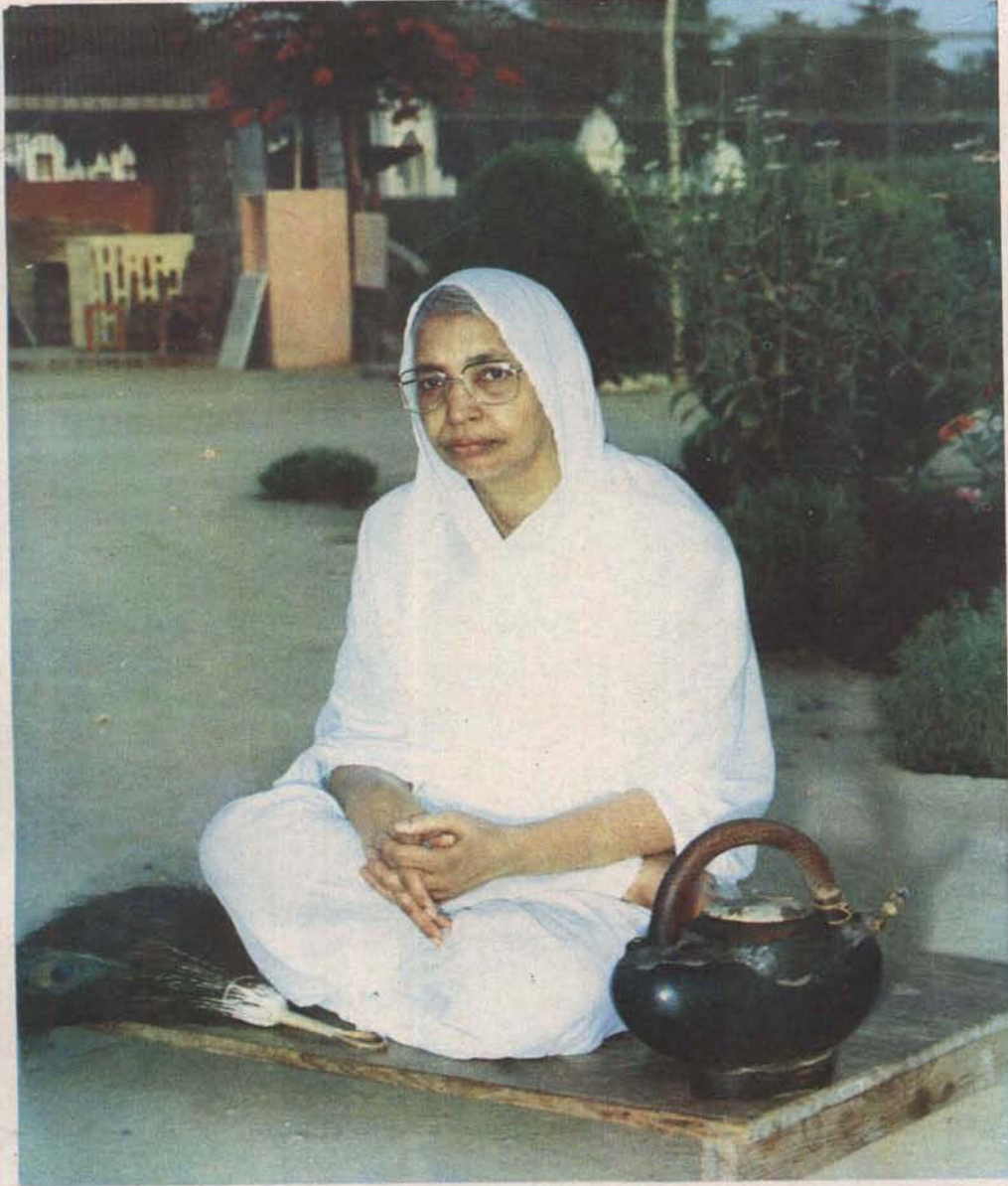
रावी नं. ६.

अ. पृ. २७५

२७१

जैन — ऐसा नहीं कहना, अनुमानादि से भी जानी गई वस्तु में 'पदार्थ का ऐसा ही स्वभाव है' ऐसा उत्तर देना विरुद्ध नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष के समान अनुमानादि को भी हमने प्रमाणभूत मान्य है। इसलिये प्रमाणसिद्ध परमाणु से भव्य एवं अभव्यरूप प्रकृत में भाये हुये जीव के स्वभाव, प्रतीति का अनुसर्ण करते हुये तर्क के विषय नहीं हैं कि जिससे उनमें प्रश्न उठाया जा सके अर्थात् स्वभाव में प्रश्न नहीं उठाया जा सकता है। अन्यथा तर्क के विषयभूत पदार्थों में भी आगम के विषयरूप से प्रश्न उठाने का प्रसंग आ जायेगा और उसी प्रकार से प्रत्यक्ष के विषय-भूत पदार्थों में भी प्रश्न उठते ही रहेंगे अर्थात् यह आगम उष्ण क्यों है ? तो यह जल ठंडा क्यों है ? इत्यादि। पुनः इस प्रकार से तो प्रत्यक्ष और आगम स्वतंत्र सिद्ध नहीं हो सकेंगे, तर्क के समान।

सिद्धान्त वाचस्पति, न्यायप्रभाकर गणिनी आर्यिकारत्न
श्री ज्ञानमती माताजी



जन्म

टिकैतनगर (बाराबंकी उ.प्र.)
सन् १९३४ वि. सं १९९१
असोज शु. १५ (शरद पू०)

क्षुल्लिका दीक्षा

आ० श्री देशभूषण जी से
श्री महावीरजी में
वि.सं. २००६ चैत्र कृ. १

आर्यिका दीक्षा

आ० श्री वीरसागर जी से
माधोराजपुरा (राज०) में
सं. २०१३ वैशाख कृ. २

टीकाकर्त्री पूज्य गणिनी आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी का संक्षिप्त परिचय

लेखिका—**ब्र० कु० माधुरी झास्त्री**

अवध प्रान्त के टिकैतनगर ग्राम में सन् १९३४ शरद् पूर्णिमा की रात्रि में धरती पर एक चाँद अवतीर्ण हुआ। श्रेष्ठी धनकुमार जी के सुपुत्र श्री छोटेलाल जी की बगिया खिल उठी और श्रीमती मोहिनी देवी का प्रथम मातृत्व धन्य हो गया। कन्या के रूप में मानों कोई देवी ही वरदान बनकर आई थी। कन्या का नाम रखा गया—“मैना”

वैसे कन्या का जन्म साधारणतया घर में कुछ समय के लिए क्षोभ उत्पन्न कर देता है किन्तु विश्व में अनादिकाल से पुरुषों के समान नारियों ने भी महान् कार्य कर धरा को गौरवान्वित किया है। बल्कि यों भी कह सकते हैं कि सतीत्व के बल पर ही धर्म की परम्परा अक्षुण्ण बनी हुई है।

संस्कारों का प्रभाव जीवन में बहुत महत्व रखता है। ११ वर्ष की उम्र में कुमारी मैना के जीवन पर अमिट छाप पड़ी—अकलंक निकलंक नाटक के एक दृश्य की। विवाह की चर्चा के समय जो बात अकलंक ने अपने माता-पिता से कही थी कि “कीचड़ में पैर रखकर धोने की अपेक्षा नहीं रखना ही श्रेयस्कर है।” तदनुसार मैना ने भी उसी क्षण आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत रखने का मन में संकल्प कर लिया था।

सन् १९५२ की शरद् पूर्णिमा के दिन बाराबंकी में मैना ने आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज से सप्तम प्रतिमा रूप आजन्म ब्रह्मचर्यव्रत धारण कर लिया। बहुतों ने रोका, समझाया, संघर्ष किया लेकिन स्वातन्त्र्य प्रिय कु० मैना को रोकने में सफलता नहीं मिली। वि० सं० २००६ चैत्र कृ० १ के दिन आचार्य श्री से ही श्री महावीर जी अतिशय क्षेत्र पर क्षुत्लिका दीक्षा प्राप्त की। आपकी दृढ़ता देखकर गुरु ने नाम रखा—“वीरमती”।

जिस समय चारित्र्य स्रवर्ती आचार्य श्री शातिसागर जी महाराज की कुंथलगिरि में सल्लेखना हो रही थी उस समय आप भी क्षुत्लिका विशालमती माताजी के साथ कुंथलगिरि आईं और आचार्य श्री की विधिवत् सल्लेखना का दृश्य साक्षात् दृष्टि से देखा। आचार्य श्री ने अपने प्रथम शिष्य मुनि श्री वीरसागर जी को आचार्य पट्ट प्रदान किया था। श्री शातिसागर जी महाराज की आज्ञानुसार “कु० वीरमती” ने आचार्य श्री वीरसागर जी के संघ में प्रवेश कर वि० सं० २०१३ वैशाख कृष्णा दूज को माधोराजपुरा (राज०) में आर्यिका दीक्षा ग्रहण कर ली। आचार्य श्री वीरसागर महाराज ने दीक्षोपरांत वीरमती का नाम परिवर्तन कर नामकरण कर दिया—**आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी।**

आर्यिका ज्ञानमती जी ने अपनी छोटी सी अवस्था में ही गुरु के आशीर्वाद से महान ज्ञानार्जन कर लिया। आचार्य श्री इन्हें हमेशा यही संबोधन दिया करते थे—माताजी! मैने जो आपका नाम रखा है उसका ध्यान रखना। २ वर्ष पश्चात् गुरुदेव भी जयपुर खानिया में समाधिस्थ हो गये। आचार्य श्री की समाधि के पश्चात् लगभग ६ वर्ष तक आपने आ० शिवसागर महाराज के संघ में ही रहकर ध्यानाध्ययन किया। अनंतर

आ० श्री की आज्ञानुसार अपने आर्थिका संघ सहित सहित सम्प्रेदशिखर, कलकत्ता तथा सम्पूर्ण दक्षिण भारत की यात्रा हेतु अलग विहार किया ।

दीपक जिस प्रकार स्वयं जलकर भी दूसरों को प्रकाश प्रदान करता है, चंदन विषधरों के द्वारा डसे जाने पर भी सुगन्धि ही बिखराता है । उसी प्रकार पू० ज्ञानमती माताजी ने सदैव परोपकार में ही अपने जीवन की सार्थकता मानी है ।

जहाँ आपने कुमारी कन्याओं, सोभाग्यवती महिलाओं एवं विधवा महिलाओं को गृहस्थ कीचड़ से निकाल कर मोक्षमार्ग में लगाया है वहीं कई नवयुवक एवं प्रौढ़ पुरुषों को भी शिक्षा देकर त्याग के चरम शिखर पर पहुँचाया है । चारित्र्यचक्रवर्ती आचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज के चतुर्थ पट्ट पर विराजमान आचार्य श्री अजितसागर महाराज वर्तमान में इसके जीते-जागते उदाहरण हैं । बाल ब्र० श्री राजमल जी को सन् 1958-59 में राजवास्तिक, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, पंचाध्यायी आदि ग्रन्थों का अध्ययन कराया और दीक्षा की प्रेरणा देती रहीं । उसी के फलस्वरूप अपने अथक प्रयासों के बल पर आखिर एक दिन मुनि दीक्षा के लिये ज्ञानमती माताजी जी ने तैयार ही कर दिया और सन् 1961 में सीकर (राज०) में आचार्य श्री शिवसागर महाराज ने उन्हें दीक्षा देकर मुनि अजितसागर बना दिया ।

देखिए ! त्याग की विशेषता और मातृ हृदय की उदारता, आर्थिका श्री ज्ञानमती माताजी ने तत्क्षण ही उन्हें नमोस्तु करना प्रारम्भ कर दिया । क्योंकि जैनधर्म में जिनलिंग-मुनिवेष सर्वाधिक पूज्य माना गया है ।

परमपूज्य आचार्यकल्प श्री श्रुतसागर जी महाराज हमेशा कहा करते थे—

“पारस मणि तो लोहे को सोना बनाता है, पारस रूप नहीं बनाता किन्तु ज्ञानमती माताजी वह पारस हैं जो लोहे को सोना ही नहीं किन्तु पारस बना देती हैं । प्रत्युत “निजसम की बात तो जाने दो निज से महान् कर देती हैं ।” वास्तव में मैंने भी यह अनुभव किया कि पू० माताजी अपने शिष्यों की तथा दूसरों की उन्नति देख सुनकर अत्यधिक प्रसन्न होती हैं । जिस समय उदयपुर (राज०) में जून १९६७ में मुनि श्री अजितसागर महाराज को आचार्यपट्ट प्रदान किया गया उस समय ज्ञानमती माताजी हस्तिनापुर में बैठकर भी कितनी प्रसन्न होकर उनके दीर्घ जीवन एवं उज्ज्वल परम्परा की अखण्डता हेतु मंगल कामना कर रही थीं ।

इसी प्रकार से आपकी शिष्याओं में से आर्थिका श्री ज्ञानमती माताजी, आदिमती माताजी ने आपके मुखारविन्द से ही धर्माध्ययन करके प्रमेयकमलमार्तण्ड एवं गोम्मटसार कर्मकाण्ड जैसे ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद करके एक आदर्श उपस्थित किया है । कई आर्थिकायें एवं ब्रह्मचारिणी शिष्यायें अपनी-अपनी योग्यतानुसार यत्र तत्र धर्म प्रचार में संलग्न हैं ।

साहित्यिक क्षेत्र—

दृढ़ संकल्पी आत्मा का प्रत्येक कार्य अवश्यमेव सफल होता है । जिस प्रकार ज्ञानमती माताजी ने शिष्य निर्माण में अच्छी सफलता प्राप्त की है उसी प्रकार साहित्य निर्माण के क्षेत्र में इस युग में एक नया कीर्तिमान स्थापित किया है ।

वर्तमान शताब्दी में जैन समाज की किसी महिला ने भी साहित्यसृजन का कार्य नहीं किया था । किन्तु ज्ञानमती माताजी ने जबसे अपनी लेखनी प्रारम्भ की, तब से लेकर आज तक उन्होंने लगभग १५० ग्रन्थों की रचना

की एवं सैकड़ों संस्कृत स्तुतियाँ आदि बनाईं। जहाँ अष्टसहस्री जैसे क्लिष्टतम ग्रन्थ का हिन्दी में अनुवाद किया, अध्यात्मग्रन्थ नियमसार पर स्याद्वादचंद्रिका नामक संस्कृत टीका लिखी है वहीं बालोपयोगी बालविकास के ४ भाग तथा उपन्यास शैली में अनेकों कथानक भी लिखे हैं। जिनमें से लगभग १०० ग्रन्थों का लाखों की संख्या में प्रकाशन भी हो चुका है।

निवृत्ति मार्ग में रहते हुए भक्तिमार्ग भी आपसे अछूता नहीं रहा। उसी का प्रतिफल आज हम देख रहे हैं कि सारे हिन्दुस्तान में इन्द्रध्वज और कल्पद्रुम विधानों की धूम मची हुई है। इसी प्रकार से सर्वतोभद्र महाविधान, तीनलोक विधान, त्रैलोक्य विधान, तीसचौबीसी तथा पंचमेरू आदि विधान पू० माताजी की कलम से लिखे गए हैं। उनका भी हस्तिनापुर से शुभारंभ हो चुका है। भक्ति में आदर नहीं रखने वाले कितने ही व्यक्ति इन विधानों को सुनकर भक्तिक बन जाते हैं तथा भक्तिरस में डूब कर प्रत्येक प्राणी कुछ क्षणों के लिए तो निज आत्मा में निमग्न हो ही जाते हैं। धर्म का गूढ़ से गूढ़ रहस्य इन विधानों की जयमालाओं में भरा हुआ है। आत्मरसिक मुमुक्षु के लिए किसी भी विधान की एक पुस्तक ही पर्याप्त होती है जिसके द्वारा वे चारों अनुयोगों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

इस प्रकार से ज्ञानमती माताजी ने अपने जीवन में साहित्यसृजन का नवीन कार्य किया है। उनके मार्ग का अनुसरण करते हुए आज तो कई आर्थिकाओं ने ग्रन्थ निर्माण की ओर अपने कदम बढ़ाए हैं जो नारीजाति के लिए गौरव का विषय है। एककवि ने कहा भी है—

जो बतलाते नारी जीवन लगता मधुरस की लाली है।
वह त्याग तपस्या क्या जाने कोमल फूलों की डाली है।।
जो कहते योगों में नारी नर के समान कब होती है।
ऐसे लोगों को ज्ञानमती का जीवन एक चुनौती है।।

जम्बूद्वीप निर्माण एवं ज्ञानज्योति प्रवर्तन—

सन् १९६५ में आर्थिका श्री ज्ञानमती माताजी ने ५ आर्थिकाओं सहित आर्थिका संघ का चातुर्मास कर्नाटक प्रान्त के श्रवणबेलगोला में किया। भगवान् बाहुबली की अमरकृति से वहाँ का इतिहास सर्वप्रसिद्ध है। उस वीतरागता छवि को हृदयान्तरित करने हेतु पू० माताजी ने एक बार 15 दिन तक मौनपूर्वक विध्यगिरि पर्वत पर ध्यान करने का संकल्प किया। उसी ध्यान की शृंखला में एकदिन सम्पूर्ण अकृत्रिम चैत्यालयों की बंदना हुई, चित्त की यात्रा ने जम्बूद्वीप को प्रधानता दी। ध्यान की क्रिया सम्पन्न होने के पश्चात् जैनागम का आलोकन होने लगा। मन में प्रश्न उभरता कि क्या ऐसा अतिशय सम्पन्न स्थान कहीं है? हाँ, प्रश्नवाचक चिन्ह उत्तर रूप में परिवर्तित हुआ, खोज करते-करते करणानुयोग के तिलोयपण्णति एवं त्रिलोकसार में सारा ज्यों का त्यों वर्णन देखने को मिला। माताजी की प्रसन्नता का पार नहीं क्योंकि उनका ध्यान आज सार्थक साकार रूप ले चुका था।

इसे तो भगवान् बाहुबलि की देन, ध्यान की एकाग्रता और पूर्वभ्रम के संस्कार ही मानना पड़ेगा क्योंकि इससे पूर्व माताजी को कोई ऐसा विकल्प नहीं था। पू० माताजी के मुखारविन्द से इस रचना का विवरण सुनकर सर्वप्रथम तो श्रवणबेलगोल के पीठाधीश भट्टारक श्री चारुकीर्ति जी ने बहुत प्रसन्नता व्यक्त की। पुनः कई स्थानों पर इस निर्माण की चर्चा आई किन्तु हीनहार को कोई टाल नहीं सकता, माताजी ने उत्तर प्रान्त में आकर स्थान चयन किया—हस्तिनापुर पावन तीर्थक्षेत्र का।

सन् १९७५ में दि० जैन त्रिलोक शोध संस्थान ने हस्तिनापुर में संस्था के नाम से एक भूमि खरीदकर निर्माण कार्य प्रारम्भ किया जिसमें प्रथमचरण के रूप में बीचोंबीच का ८४ फुट ऊँचा सुमेरूपर्वत सन् १९७६ में बनकर तैयार हो गया उसके १६ जिनमंदिरों की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा २६ अप्रैल से ३ मई १९७६ तक सम्पन्न हुई। अब तो अजैन बन्धु भी इस पर्वत पर कुतुबमीनार की परिकल्पना करके चढ़ने लगे, किन्तु अनायास ही भगवान् के सामने उन सबका भी मस्तक नत हो जाता था। सुमेरू पर्वत एवं ज्ञानमती माताजी का प्रभाव था कि निर्माण कार्य आगे बढ़ता गया और ६ वर्ष की अल्प अवधि में पूरा जम्बूद्वीप बन कर तैयार हो गया।

इसी बीच ४ जून १९८२ को पू० माताजी की प्रेरणा से प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने दिल्ली के लाल किला मैदान से जम्बूद्वीप ज्ञान ज्याति का प्रवर्तन किया जिसके द्वारा १०४५ दिनों तक सम्पूर्ण भारत में जम्बूद्वीप एवं भगवान् महावीर के सिद्धान्तों का खूब प्रसार हुआ तथा अन्त में २८ अप्रैल १९८५ को हस्तिनापुर में समापन समारोह के साथ रक्षामन्त्री श्री पी० वी० नरसिंह राव, एवं सांसद श्री जे० के० जैन ने यहीं पर उस ज्ञानज्योति की अखण्ड स्थापना की जो प्रत्येक प्राणी को अहर्निश ज्ञान का सन्देश प्रदान करती है।

यही अवसर था जम्बूद्वीप में विराजमान समस्त जिन बिम्बों की प्राण प्रतिष्ठा का। अतः २८ अप्रैल से २ मई १९८५ तक जम्बूद्वीप की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई।

अब तो हस्तिनापुर नगरी सचमुच में भगवान् शांतिनाथ का युग दर्शा रही है जिसे कभी राजधानी के रूप में माना जाता था। किन्तु मध्यकाल में इसकी गरिमा मात्र पुराणों तक सीमित हो गई थी, वर्तमान दशक में इसकी उन्नति देखकर कविवर दयानतराय की ये पंक्तियाँ स्मृत हो आती हैं—

गुरु की महिमा वरणी न जाय, गुरु नाम जपो मनवचनकाय ॥

पू० ज्ञानमती माताजी के चरण पड़ते ही यहाँ की रज पुनः चंदन बन गई और वीणा के मूक तार पुनः शंकृत होकर पूर्व इतिहास की गाथा गाने लगे—

अरे ! यह तो वही भूमि है जहाँ आदि तीर्थंकर वृषभदेव को प्रथम बार इक्षुरस का आहार राजा श्रेयांस ने दिया था और स्वप्न में सुमेरूपर्वत देखा था। शायद इसीलिए ऊँचे सुमेरू पर्वत का निर्माण यहाँ की पवित्र स्थली पर हुआ है। एक ही नहीं न जाने कितने इतिहास इस भूमि से जुड़े हैं। देखिए न ! रक्षाबंधन पर्व, महाभारत की कथा, मनोवती की दर्शन प्रतिज्ञा का इतिहास, द्रौपदी के शील का महत्व, राजा अशोक और रोहिणी का संबंध, अभिनंदन आदि पांच सौ मुनियों का उपसर्ग, गजकुमार मुनि का उपसर्ग तथा भगवान् शांतिनाथ, कुंथुनाथ, अरहनाथ के चार-चार कल्याणक का सौभाग्य यहाँ की माटी को ही प्राप्त हुआ था उसी का पुनरुद्धार किया एक परमतपस्विनी गणिनी आर्थिकारत्न ज्ञानमती माताजी ने।

अपनी निन्दा प्रशंसा से दूर, आत्महित और जनहित की भावना से ओत-प्रोत, रत्नत्रय की इस साधिका के पास न जाने कितने लोग आकर प्रतिदिन उनसे अपना कष्ट कहकर शांति प्राप्त करते हैं।

पूज्य माताजी की दैनिक चर्या :—

कर्मभूमि में दिन और रात का विभाजन सूर्य और चांद के इशारों पर होता है क्योंकि यहाँ की प्रकृति ने इसे ही स्वीकार किया है। मनुष्य सुबह से शाम तक अपनी समस्याओं से जूझता है पुनः थककर निद्रा की गोद

में स्थान प्राप्त कर लेता है। प्रातःकाल उठकर अपने धन्धे में लग जाता है। यही क्रम सी पचास वर्ष की प्राप्त अल्पायु में चलता है पुनः कालकवलित हो जाता है।

इस क्षणिक विनश्वर जीवन में भी महापुरुष जीवन के प्रत्येक क्षणों का उपयोग करके उसे महान बना लेते हैं।

आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी का जीवन भी उन महापुरुषों में एक है जिन्होंने सन् १९५२ से गृह-परित्याग करके आज ३६ वर्षों में अपने को एक महान साधक की कोटि में पहुंचा दिया है। सुबह से शाम तक उनका प्रत्येक क्षण अमूल्य होता है।

प्रातः ४ बजे उठकर प्रभु का स्मरण, अपरराशिक स्वाध्याय, प्रतिक्रमण के पश्चात् ६ बजे तक सामायिक करती हैं। लेखन चूंकि उनके जीवन का मुख्य अंग ही है पुनः इस शीत ऋतु में पहले ६-३० बजे से ७-३० बजे तक लेखन कार्य करती हैं। वर्तमान में समयसार की दोनों टीकाओं का हिन्दी अनुवाद चल रहा है। उसके पश्चात् ७-३० बजे से त्रिमूर्ति मन्दिर, कमल मन्दिर और जम्बूद्वीप के दर्शन करके अभिषेक देखती हैं।

प्रातः ८ बजे से पू० माताजी समस्त शिष्यों को समयसार ग्रन्थ का संस्कृत टीकाओं से स्वाध्याय कराती हैं। बाहर से आए हुए तीर्थयात्रियों को धर्मोपदेश भी सुनाती हैं और १० बजे आहारचर्या के लिये निकलती हैं।

अनंतर मध्याह्न में सामायिक करती हैं। पुनः २-३० बजे से विभिन्न प्रान्तों से आये हुये यात्रीगण उनके दर्शन करते हैं तथा अपनी-अपनी समस्याओं के आधार पर पू० माताजी से समाधान भी प्राप्त करते हैं। यह समय २-३० बजे से ४-१५ बजे तक रहता है। ४-१५ बजे से ५ बजे तक सामूहिक प्रतिक्रमण होता है पुनः ५ बजे माताजी अपने शिष्य शिष्याओं सहित मंदिरों के दर्शन करती हैं एवं जम्बूद्वीप की ५-७ प्रदक्षिणा लगाती हैं कभी-कभी सुमेरु पर्वत के ऊपर तक जाकर वंदना भी करती हैं।

अनंतर मध्याह्न में सामायिक करती हैं। पुनः २-३० बजे से विभिन्न प्रान्तों से आए हुए यात्रीगण उनके उनके दर्शन करते हैं तथा अपनी-अपनी समस्याओं के आधार पर पू० माताजी से समाधान भी प्राप्त करते हैं। यह समय २-३० बजे से ४-१५ बजे तक रहता है। ४-१५ बजे से ५ बजे तक सामूहिक प्रतिक्रमण होता है पुनः ५ बजे माताजी अपने शिष्य शिष्याओं सहित मंदिरों के दर्शन करती हैं एवं जम्बूद्वीप की ५-७ प्रदक्षिणा लगाती हैं कभी-कभी सुमेरु पर्वत के ऊपर तक जाकर वंदना भी करती हैं।

५-४५ बजे से सायंकालिक सामायिक प्रारम्भ हो जाती है जो ६-४५ तक चलती है पुनः ७ बजे से पूर्वरात्रि स्वाध्याय सुनती हैं। अनंतर स्वयं का चिन्तन करके ६ बजे से रात्रि विश्राम करती हैं। यह तो मैंने स्वयं देखा है कि जब माताजी का स्वास्थ्य अनुकूल था तो उनका ४-५ घण्टे का समय साधु वर्गों को अध्ययन कराने में एवं ३-४ घण्टे लेखन में व्यतीत होता था।

इस प्रकार पू० गणिनी आधिकारिक श्री ज्ञानमती माताजी की संक्षिप्त जीवन झांकी मैंने प्रस्तुत की है आशा है कि हमारे पाठकगण उनके जीवनवृत्त से लाभ उठायेंगे तथा हस्तिनापुर पधार कर साक्षात् पू० माताजी के एवं उनकी अमरकृतिमों के दर्शन कर धर्मलाभ प्राप्त करेंगे।

श्री वीर के समवसृति में चंदना थीं, गणिनी बनीं जिनचरण जगवंदना थीं।
गणिनी वही पदविभूषित को नमूं मैं, श्रीमात ज्ञानमती को नित ही नमूं मैं ॥

“इत्यलम्”

अष्टसहस्री का आधारभूत

देवागमस्तोत्र

[पद्यानुवाद-आयिका ज्ञानमती]

(प्रथम परिच्छेद)

देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः । मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥१॥

भगवन् ! पंचकल्याणक में तव देवों का आगमन महान् ।

केवलज्ञान प्रगट होने पर तभ में अधर गमन सुखदान ॥

छत्र, चमर आदिक वैभव सब, मायावी में भी दिखते ।

अतः आप हम जैसें द्वारा, पूज्य-बंध नहि हो सकते ॥१॥

अध्यात्मं बहिरप्येष विग्रहादिमहोदयः । दिव्यः सत्यो दिवोकस्त्वप्यस्ति रागादिमत्सु सः ॥२॥

विग्रह आदि महोदय भगवन् ! तव अध्यात्म क्षुधादि रहित ।

बाह्य महोदय कुसुम वृष्टि गंधोदक आदिक देव रचित ॥

दिव्य, सत्य ये वैभव फिर भी रागादिक युत सुरगण में ।

पाये जाते हैं हे जिनवर ! अतः आप नहि पूज्य हमें ॥२॥

तीर्थकृतसमयानां च परस्परविरोधतः । सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेद्गुरुः ॥३॥

सभी मत्तों में सभी तीर्थकृत, के आगम में दिखे विरोध ।

सभी आप्त सच्चे परमेश्वर, नहि हो सकते, अतः जिनेश ॥

इन सब में से कोई एक ही, आप्त-सत्यगुरु हो सकता ।

चित्-सर्वज्ञ देव परमात्मा, सत्त्वहितंकर जगभर्ता ॥३॥

दोषावरणयोर्हानिनिःशेषास्त्यतिशयनात् । भवच्चिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरंतर्मलक्षयः ॥४॥

किसी जीव में सर्व दोष अरु, आवरणों की हानि निःशेष ।

हो सकती है क्योंकि जगत् में, तरतमता से दिखे विशेष ॥

रागादिक की हानि किन्हीं में, दिखती है कुछ अंशों से ।

जैसे हेतु से बाह्यांतर, मलक्षय होता स्वर्णों से ॥४॥

सूक्ष्मांतरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा । अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ॥५॥

सूक्ष्म वस्तु परमाणु आदि, अंतरित राम रावण आदिक ।
दूरवर्ति हिमवन् सुमेरु ये, हैं प्रत्यक्ष किसी के नित ॥
क्योंकि ये अनुमेय कहे हैं, जैसे अग्न्यादिक अनुमेय ।
इस अनुमान प्रमाण कथित, सर्वज्ञ व्यवस्था है स्वयमेव ॥५॥

स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् । अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥६॥

वह रागादिक दोष रहित, सर्वार्थविज्ञ प्रभु तुम्हीं कहे ।
क्योंकि तुम्हारे वचन युक्ति, आगम से अविरोधी नित हैं ॥
प्रत्यक्षादि प्रमाणों से तब, तत्त्व अबाधित है जग में ।
अतः प्रभो ! यह शासन तेरा, नित अविरोधी जनगण में ॥६॥

त्वन्मतामृतवाह्यानां, सर्वथैकांतवादिनाम् । आप्ताभिमानवशानां, स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते ॥७॥

प्रभु तब मत अमृत से बाहर, दुराग्रही एकांतमती ।
'मैं हूँ आप्त' सदा इस मद से, दग्ध हुये अज्ञानमती ॥
उनका वह ऐकांतिक शासन, इष्ट उन्हें फिर भी बाधित ।
प्रत्यक्षादि प्रमाणों से वह, तत्त्व सदा निन्दित दूषित ॥७॥

कुशलाकुशलं कर्म परलोकश्च न क्वचित् । एकांत-ग्रह-रक्तेषु नाथ स्व-पर-वैरिषु ॥८॥

नाथ ! स्वपर वैरी एकांत-ग्रह पीड़ित जन के मत में ।
शुभ अरु अशुभ क्रिया परलोका-दिक फल भी नहीं बनते हैं ॥
पुण्य पाप फल बंध-मोक्ष की नहीं व्यवस्था भी बनती ।
क्योंकि सर्वथा नित्य-क्षणिक में, अर्थक्रिया ही नहीं घटती ॥८॥

भावंकांते पदार्थनामभावानामपन्हवात् । सर्वात्मकमनाद्द्वयन्तमस्वरूपमतावकम् ॥९॥

सब पदार्थ एकांतरूप से, अस्तिरूप ही यदि जग में ।
तरे अभाव का लोप हुआ फिर, चार दोष हैं प्रमुख बने ॥
सब पदार्थ सबरूप, अनादि, अनिधन, निःस्वरूप होंगे ।
हे भगवन् ! तब मत के द्वेषी जन के यहां न कुछ होंगे ॥९॥

कायद्रव्यमनादि स्यात्प्रागभावस्य निन्हे । प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत् ॥१०॥

प्रागभाव को यदि नहीं मानों, सभी कार्य हो अनादि सिद्ध ।
मिट्टी में घट सदा बना है, फिर क्या करता चक्र निमित्त ॥
यदि प्रध्वंस धर्म नहीं मानों, किसी वस्तु का अंत न हो ।
पिता, पितामह आदि कभी भी, अंत-मरण को प्राप्त न हों ॥१०॥

सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्यापोह-व्यतिक्रमे । अन्यत्र समवाये न व्यपदिश्येत सर्वथा ॥११॥

यदि अन्योन्याभाव नहीं हो, एक वस्तु सब रूप बने ।
एक समय में मनुज बने सुर पशु नारक पर्याय घने ॥
यदि अत्यन्ताभाव न होवे, एक द्रव्य का अन्यो में ।
हो जावे संमिश्रण फिर यह, जीव अजीव न भेद बने ॥११॥

अभावैकांत-पक्षेपि भावापन्हव-वादिनाम् । बोधवाक्यं प्रमाणं न, केन साधनदूषणम् ॥१२॥

यदि सब वस्तु अभावरूप हैं, शून्यवाद जन के मत में ।
तब तो भाव-पदारथ किंचित्, नहीं प्रतिभासित हों जग में ॥
ज्ञान और आगम भी किंचित्, नहीं प्रमाण होंगे तबतो ।
कैसे अपने मत का साधन, परमत दूषण किससे हो ॥१२॥

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वाद-न्याय-विद्विषाम् । अवाच्यतैकान्तेषु क्विर्नावाच्यमिति युज्यते ॥१३॥

अस्ति नास्ति से उभयरूप ये, द्रव्य कदापि नहीं होंगे ।
क्योंकि विरोध परस्पर इनका, स्याद्वाद विद्वेषी के ॥
यदि एकांत अवाच्य तत्त्व है, कहो कथन कैसे होगा ।
“तत्त्व अवाच्य” यही कहना तो, वाच्य हुआ स्ववचन बाधा ॥१३॥

कथंचित्ते सदेवेष्टं कथंचिदसदेव तत् । तथोभयमवाच्यं च नय-योगान्न सर्वथा ॥१४॥

हे भगवन् ! तब मत में वस्तु, तत्त्व कथंचित् “सत्” ही है ।
वही कथंचित् “असत्” रूप ही “उभय” कथंचित् वो ही है ॥
वह “अवाच्य” भी है नयशैली, से ही सप्तभंगयुत है ।
वस्तु सर्वथा अस्तिरूप या, नास्ति आदि से अघटित है ॥१४॥

सदेव सर्वं को नेच्छेत्स्वरूपादि-चतुष्टयात् । असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥१५॥

अपने द्रव्य सुक्षेत्र काल अरु भाव चतुष्टय से नित ही ।
सभी वस्तुयें अस्तिरूप ही, नास्तिरूप ही हैं वे भी ॥
परद्रव्यादि चतुष्टय से यह कौन नहीं स्वीकार करे ।
यदि नहि माने तव मत हे जिन ! वस्तु व्यवस्था नहीं बने ॥१५॥

क्रमापित-द्वयाद् द्वैतं सहावाच्यमशक्तितः । अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो भंगाः स्वहेतुतः ॥१६॥

क्रम से स्वपर चतुष्टय से ही, वस्तु उभय धर्मात्मक हैं ।
युगपत् द्वय को नहि कह सकते, अतः “अवाच्य” वस्तु वह है ॥
बचे शेष त्रय भंगों में यह, अवक्तव्य उत्तर पद हैं ।
सत् असत् उभय पदों के आगे, अवक्तव्य निज हेतुक है ॥१६॥

अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येक-धर्मिणि । विशेषणत्वात्साधर्म्यं यथा भेदविवक्षया ॥१७॥

एक वस्तु में अस्ति धर्म अपने प्रतिषेधी नास्ति के ।
बिना नहि रह सकता-अविनाभावी कहलाता इससे ॥
क्योंकि विशेषण है जैसे अन्वय हेतु व्यतिरेक बिना ।
नहीं रहे अविनाभावी है ऐसा यह दृष्टांत बना ॥१७॥

नास्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि । विशेषणत्वाद्बैधर्म्यं यथाऽभेद-विवक्षया ॥१८॥

एक वस्तु में नास्ति धर्म भी, स्वविरोधी अस्ति के साथ ।
अविनाभावी ही रहता है, क्योंकि विशेषण भी वह खास ॥
जैसे हेतु के प्रयोग में, है व्यतिरेक हेतु नित ही ।
अन्वय हेतु के सह रहता, अविनाभावी सुघटित ही ॥१८॥

विधेयप्रतिषेध्यात्सा विशेष्यः शब्दगोचरः । साध्यधर्मो यथा हेतुरहेतुश्चाप्यपेक्षया ॥१९॥

वस्तु सदा विधिप्रतिषेधात्मक, है विशेष्य धर्मों विख्यात ।
क्योंकि शब्द के गोचर है वह, सत् असत् रूप जग विख्यात ॥
यथा साध्य-अग्नि का साधन धूम अग्नि का हेतु है ।
वही अपेक्षा से हेतु भी जल के लिये अहेतु है ॥१९॥

शेषभंगाश्च नेतव्या यथोक्त-नय-योगतः । न च कश्चिद्विरोधोस्ति मुनीन्द्र ! तव शासने ॥२०॥

अस्ति नास्ति उभयात्मक क्रम से, तीन भंग ये कहे गये ।
यथायोग्य नय विधि से आगे, भंग चार हैं शेष कहे ॥
अवाच्य, अस्तिअवाच्य, नास्तिअवाच्य, अस्तिनास्ति अवाच्य ।
हे मुनीन्द्र ! तव शासन में कुछ भी विरोध नहीं दिखे कदापि ॥२०॥

एवं विधिनिषेधाभ्यामनवस्थितमर्थकुत् । नेति चेन्न यथा कार्यं बहिरन्तरूपादिभिः ॥२१॥

ऐसे विधि निषेध द्वारा जो, एकरूप से नहीं कही ।
वह अनवस्थित वस्तु जगत् में, अर्थक्रियाकारी नित ही ॥
यदि ऐसा नहीं मानों तो, बाह्याभ्यंतर द्वय कारण से ।
कार्य कहा है, वह नहीं होगा, अर्थक्रिया नहीं होने से ॥२१॥

धर्म धर्मन्य एवार्थो धमिणोऽनन्तधर्मणः । अंगित्वेऽन्यतमान्तस्य शेषान्तानां तदंगता ॥२२॥

अनंतधर्मा वस्तु के प्रत्येक धर्म के पृथक्-पृथक् ।
अर्थ कहे हैं अतः वस्तु है, अनंत धर्मात्मक शाश्वत ॥
अनंत धर्मों में जब इक ही, धर्म प्रधान कहा जाता ।
तब वे शेषधर्म हो जाते, गौण यही जिन ने भाषा ॥२२॥

एकानेक-विकल्पादावुत्तरत्रापि योजयेत् । प्रक्रियां भंगिनीमेनां नयनय-विशारदः ॥२३॥

नय में निपुण जनों को नित ही, एक अनेक विकल्पों में ।
नित्य क्षणिक आदिक में भी ये, सप्तभंग कर लेने हैं ॥
सुनय विवक्षा के द्वारा प्रत्येक धर्म में सुघटित है ।
सप्तभंग प्रक्रिया विधि यह, जिनमत में ही वर्णित है ॥२३॥

इति आप्तमीमांसायां प्रथमः परिच्छेदः ।



स्वाध्याय प्रारम्भ एवं समापन की विधि

अथ पौर्वाण्हिक' स्वाध्यायप्रतिष्ठापनक्रियायां श्रुतभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं ।

णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं ।

णमो उवज्जायाणं णमो लोए सब्ब साहूणं ॥

चत्तारि मंगलं—अरहंत मंगलं सिद्ध मंगलं साहू मंगलं केवलपण्णत्तो-धम्मो मंगलं । चत्तारि लोगुत्तमा—अरहंत लोगुत्तमा सिद्ध लोगुत्तमा साहू लोगुत्तमा केवलपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा । चत्तारि सरणं पव्वज्जामि अरहंत सरणं पव्वज्जामि सिद्ध सरणं पव्वज्जामि साहू सरणं—पव्वज्जामि । केवलपण्णत्तो धम्मो सरणं पव्वज्जामि ।

जाव अरहंताणं भयवंताणं पज्जुवासं करोमि तावकालं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि ।

(६ बार णमोकार मन्त्र जपना—सत्ताईस श्वोसोच्छवास में ।)

थोस्सामि हं जिणवरे तित्थयरे केवलअणंतजिणे । णरपवर लोयमहिंए विहुयरयमले महप्पण्णे ॥१॥

लोयस्सुज्जोययरे धम्मं तित्थंकरे जिणे वन्दे । अरहंते कित्तिस्से चौबीसं चैव केवलिणो ॥२॥

श्रुतभक्ति—

श्रुतमपि जिनवरविहितं गणधररचितं द्व्यनेकभेदस्थम् ।

अंगांगवाह्यभावितमनन्तविषयं

नमस्यामि ॥१॥

इच्छामि भन्ते । सुदभक्तिकाउस्सग्गो कओ तस्स आलोचेउं अंगोवंगपइण्णए पाहुडयपरियम्म-सुत्तपढमाणिओगपुव्वगयचूलिया चैव सुत्तत्थयथुइ—धम्मकहाइयं णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि णमंसांमि दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो सुगइगमणं, समाहिमरणं जिनगुणसम्पत्ति होउ मज्झं ।

अथ पौर्वाण्हिकस्वाध्याय प्रतिष्ठापन क्रियायां आचार्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं ।

(णमो अरहंताणं से लेकर पूरा पाठ पढ़कर ६ बार णमोकार मन्त्र जपकर 'थोस्सामि' स्तव पढ़कर भक्ति पढ़ें ।)

आचार्यभक्ति—

गुरुभवत्या वयं सार्धद्वीपद्वितयवर्तिनः ।

वंदामहे त्रिसंख्योननवकोटिमुनीश्वरान् ॥१॥

इच्छामि भन्ते ! आयरियभक्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं सम्मणाण-सम्मदंसणसम्म-चारित्त-जुत्ताणं पंचविहाचाराणं आयरियाणं आयारादिसुदणाणोवदेसयाणं उवज्जायाणं तिरयणगुण-पालणरयाणं सब्बसाहूणं णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसांमि दुक्खक्खओ कम्मक्खओ, बोहिलाहो सुगइगमणं समाहिमरणं जिनगुणसम्पत्ति होउ मज्झं ।

पुनः स्वाध्याय समापन करते समय—

नमोऽस्तु पौर्वाण्हिक स्वाध्याय निष्ठापनक्रियायां श्रुतभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं ।

(पूर्ववत् णमो अरहंताणं आदि पढ़कर ६ बार महामन्त्र जपकर 'थोस्सामि' पढ़कर श्रुत-भक्ति पढ़ें ।)

१. मध्याह्न में स्वाध्याय करते समय 'अपराण्हिक' बोले । रात्रि में स्वाध्याय के प्रारम्भ के समय 'पूर्वरात्रिक' बोले ।

अष्टसहस्री ग्रंथ का मूल श्लोक

(श्रीमदुमास्वामिविरचित—तत्त्वार्थसूत्रमहाशास्त्र का मंगलाचरण)

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेतारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वंदे तद्गुणलब्धये ॥१॥

卐 卐 卐

(श्रीमत्समंतभद्रस्वामि विरचित देवागमस्तोत्र का मंगलाचरण)

देवागम—नभोयान—चामरादि—विभूतयः ।

मायाविष्वपि दृश्यन्ते, नातस्त्वमसि नो महान् ॥१॥

卐 卐 卐

(श्रीमद्भट्टाकलंकदेव विरचित अष्टशती भाष्य का मंगलाचरण)

उद्दोपीकृतधर्मतीर्थमचलज्योतिर्ज्वलत्केवला-

लोकालोकितलोकलोकमखिलैरिन्द्रादिभिर्वंदितम् ॥

वंदित्वा परमाहंतां समुदयं मां सप्तभंगोर्विधि ।

स्याद्वादादामृतगभिणीं प्रतिहृतैकांतान्धकारोदयाम् ॥१॥

卐 卐 卐

(श्रीमद्विद्यानंद आचार्य विरचित अष्टसहस्री का मंगलाचरण)

श्रीवद्धंमानमभिवंद्य समंतभद्र—मुद्भूतबोधमहिमानमनिन्द्यवाचम् ।

शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्त—मीमांसितं कृतिरलंक्रियते मयास्य ॥१॥

卐 卐 卐

(स्याद्वादचितामणि नामा हिंदी टीकाकर्त्री आर्यिका ज्ञानमती कृत मंगलाचरण)

सिद्धान्मत्वाहंतश्चाप्तान्, आदिब्रह्मा स वंद्यते ।

युगादौ सृष्टिकर्ता यः, ज्ञानज्योतिः स मे दिश ॥१॥

卐 卐 卐



श्रीमद्विद्यानं दस्वामिविरचिता

अष्टसहस्री

स्याद्वादचिंतामणि-हिन्दी टीका सहित
(टीकाकर्त्री-आर्यिका ज्ञानमती)

प्रथम परिच्छेद

मंगलस्तवः

(टीकाकर्त्रीकृतः)

अनुष्टुप् छन्द

सिद्धान् नत्वाहृतश्चाप्तान्, आदिब्रह्मा स वन्दते । युगादौ सृष्टिकर्ता यः, ज्ञानज्योतिः स मे दिश ॥१॥

मंदाक्रांता छन्द

तीर्थेशं श्रीत्रिभुवनपतिं वीरनाथं प्रणम्य, श्रीतत्त्वार्थं जिनवरवचःपूतपीयूषगर्भम् ।

चित्ते धृत्वा यतिपतिजगत्पत्युमास्वामिसूरिः, मूर्ध्ना नित्यं भुवममहितः वन्दते सूत्रकर्ता ॥२॥

सिद्धों को और आप्तस्वरूप अर्हंतों को नमस्कार करके उन आदिब्रह्मा की मेरे द्वारा वंदना की जाती है कि जो युग की आदि में सृष्टिकर्मभूमिरूपी सृष्टि के कर्ता हुये हैं । वे आदिनाथ भगवान् मुझे ज्ञानज्योति प्रदान करें ।

धर्म तीर्थ के ईश्वर-तीर्थेश्वर श्री-अंतरंग लक्ष्मी अनंतचतुष्टय आदि और बहिरंग लक्ष्मी समवसरणविभूति, उसके स्वामी तथा तीनेलोक के नाथ ऐसे महावीर स्वामी को नमस्कार करके जिनेंद्रदेव के पवित्र वचनरूपी अमृत से गर्भित श्री तत्त्वार्थसूत्र नामक महाशास्त्र को अपने हृदय में धारण करके यतीश्वरों के अधिपति तथा जगत् के स्वामी श्री उमास्वामी आचार्य जो कि जगत् में पूज्य हैं, तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथ के कर्ता हैं, शिर झुकाकर नित्य ही मेरे द्वारा उनकी वंदना की जाती है ।

श्रीमत्सूत्रावतरणविधौ श्लोकमादौ कृतं यत्,
श्रीमान् स्वामी मुनिगणपतिः स्तोत्रमाश्रित्य तर्कित् ।
मीमांसां यां जिनपतिमहाप्तस्य सामन्तभद्रौ,
कृत्वा लोके जयति नितरां नम्यतेऽसौ मयात्र ॥३॥

वसंततिलका छन्द

देवागमस्तवनमाप्तपरीक्षया यत् । तस्योपरि प्रकटिताष्टशती मुटीका ॥
येनेह तं विजितवादिगणं मुनीन्द्र, वंदे कलंकरहितं ह्यकलंकदेवम् ॥४॥

अनुष्टुप् छन्द

देवागमस्तवं ह्यष्टशतीयुक्तं प्रपद्य यैः । कृता टीकाष्टसाहस्री, श्रीविद्यानंदिने नमः ॥५॥

आर्या छन्द

अष्टसहस्री वंद्या, सप्तभुगंस्तरंगितामृतसरणिः ।
यामवगाह्य वचो मे, समन्तभद्रं ह्यकलंकं लघु भूयात् ॥६॥

श्रीमान्-रत्नत्रय लक्ष्मी से विभूषित सूत्र के अवतार की विधि में सर्वप्रथम ग्रंथकार ने जो श्लोक बनाया था । श्रीमान् मुनियों के अधिपति श्री समंतभद्र आचार्य ने उस मंगलस्तोत्र का आश्रय लेकर तर्क-बुद्धि से जिनेंद्रदेव महाआप्त की मीमांसा की, जो कि श्री समंतभद्राचार्य की कृति और सब प्रकार से भद्र-कल्याण को करने वाली आप्तमीमांसा है उसको रच करके जो लोक में अतिशय जय-शील हो रहे हैं, ऐसे श्रीस मंतभद्राचार्य को यहाँ मेरे द्वारा नमस्कार किया जा रहा है ।

विशेषार्थ—श्री उमास्वामी आचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथ की रचना के प्रारम्भ में जो प्रथम सूत्र बनाया, “सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः” इस सूत्र से भी पहले “मंगलाचरण” बनाया था । मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृतां, ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये । इस मंगलाचरण का आश्रय लेकर श्री समंतभद्रस्वामी ने उस एक श्लोक को आधार बनाकर “आप्तमीमांसा” नाम से एक स्तुति ग्रंथ बनाया । इसमें आप्त की मीमांसा—परीक्षा करते हुये आप्त को कसौटी पर कसकर उनको सच्चे आप्त सिद्ध किया है । इस स्तुति का दूसरा नाम देवागमस्तोत्र भी है चूंकि प्रारम्भ में ही इसमें “देवागमनभोयान” से स्तोत्र शुरू किया है ।

आप्त की परीक्षापूर्वक यह ‘देवागमस्तोत्र’ नाम का जो शास्त्र है उसके ऊपर जिन्होंने “अष्टशती” नाम से टीका बनाई है । वादीजनों को जीतने वाले, कलंक रहित, मुनींद्र श्री अकलंकदेव की मेरे द्वारा वंदना की जाती है ।

अष्टशती से युक्त इस देवागमस्तोत्र को प्राप्त करके जिन्होंने ‘अष्टसहस्री’ नाम से टीका रची है उन श्री विद्यानंदि आचार्य को मेरा नमस्कार हो ।

सप्तभंगरूपी तरंगों से सहित अमृत की नदीस्वरूप अष्टसहस्री सदा वंच है कि जिसका अव-गाहन करके मेरे वचन शीघ्र ही समंतभद्र स्वरूप—सबका हित करने वाले और अकलंक—निर्दोष हो जावें ।

वर्तमानगुरुपरम्परा—अनुष्टुप् छन्द

चारित्र्यचक्रवर्ती यः, शान्तिसिद्धिर्गणीश्वरः । धर्मधुर्योजगत्पूज्यस्तस्मै नित्यं नमोऽस्तु मे ॥७॥
जातरूपधरो धीरो, गणी श्रीवीरसागरः, नमस्तस्मै च भक्त्या मे, शिवसागरसूरये ॥८॥
धर्मध्यानरतो नित्यं, सूरियो धर्मसागरः । तस्मै नमोऽस्तु मे भक्त्या, जगतां धर्मवृद्धये ॥९॥
एते परंपराचार्याः, रत्नत्रयविभूषिताः । मया भक्त्या प्रवंच्यन्ते, रत्नत्रयविशुद्धये ॥१०॥

गुरुवंदना

श्रीदेशभूषणाचार्यः, क्षुल्लिकाव्रतदायकः । भवकूपात् समुद्धर्ता, तस्मै भक्त्या नमोऽस्तु मे ॥११॥
श्रीवीरसागराचार्यो, नमस्तस्मै च येन मे, महाव्रतादिकं दत्त्वा, ज्ञानमत्पार्यायिका कृता ॥१२॥
न्यायसिद्धांतसज्जानं, लब्धं यस्याः प्रसादतः । देवशास्त्रगुरुणां सा, भक्तिः स्यान्मे स्थिरासदा ॥१३॥

टीकायाः उपक्रमः

कवायं ग्रन्थः क्व मे बुद्धिस्तथापि श्रुतभक्तितः । अहो! ह्यष्टसहस्रीयं, भाषयानुद्यते मया ॥१४॥
पंचमहागुरुन् चित्ते, धृत्वा लिखयतेऽधुना । सतां चेतो हरेन्नित्यं, त्वत्प्रसादेन मे कृतिः ॥१५॥
सरस्वति ! नमस्तुभ्यं, प्रसीद वरदा भव । त्वत्प्रसादेन मे भूयात् वाक्शुद्धिः सर्वसिद्धिदाः ॥१६॥

टीकाकर्त्री की गुरुपरंपरा—

चारित्र्य के चक्रवर्ती—प्रधान, धर्म के धुर्य, जगत् में पूज्य, श्री शान्तिसागर जी महान् आचार्य हुए हैं, उनको मेरा नमोऽस्तु होवे । यथाजात मुद्रा के धारी महाधीर वीर श्री वीरसागर आचार्य को मेरा भक्तिपूर्वक नमस्कार होवे और श्री शिवसागर आचार्य को भी मेरा नमस्कार होवे । नित्य ही धर्म-ध्यान में लीन जो श्री धर्मसागर आचार्य हैं भक्तिपूर्वक उनको मेरा नमस्कार होवे वे जगत् में सदा धर्म की वृद्धि करते रहें । रत्नत्रय से विभूषित इन परंपरा के आचार्यों को अपने रत्नत्रय की विशुद्धि के लिये गुरुभक्तिपूर्वक मेरा नमस्कार होवे ।

गुरु वंदना—

क्षुल्लिका दीक्षा के देने वाले श्री देशभूषण आचार्य मुझे भवकूप से निकालने वाले हैं । भक्ति-पूर्वक उनको मेरा नमस्कार होवे । श्री वीरसागर आचार्य को मेरा नमस्कार होवे जिन्होंने मुझे महा-व्रत आदि भूलगुणों को देकर आर्यिका 'ज्ञानमती' बना दिया है । जिसके प्रसाद से मैंने न्याय और सिद्धांत ग्रन्थों का ज्ञान प्राप्त किया है, वह देव, शास्त्र और गुरु की भक्ति मुझ में सदा स्थिर बनी रहे ।

टीका प्रारम्भ करने का उपक्रम —

कहाँ यह अष्टसहस्री नाम का दार्शनिक महाग्रन्थ ? और कहाँ मेरी बुद्धि ? फिर भी आश्चर्य है कि मेरे द्वारा गुरुभक्ति से इस अष्टसहस्री ग्रन्थ का हिन्दी भाषा में अनुवाद किया जा रहा है । पंचमहागुरुओं को अपने हृदय में धारण कर मेरे द्वारा इस समय यह टीका लिखी जा रही है । उन पंचपरमेष्ठी के प्रसाद से यह मेरी रचना नित्य ही सज्जन पुरुषों के चित्त को हरण करने वाली होवे ।

हे सरस्वति मातः ! आपको मेरा नमस्कार हो आप मुझे वर देने वाली हों । आपके प्रसाद से मुझे सर्वसिद्धि को देने वाली वचनशुद्धि प्राप्त होवे ।

इन्द्रवज्रा छन्द

स्याद्वादचितामणिनामधेया । टीका मयेयं क्रियतेऽल्पबुद्ध्या ॥

चितामणिः चितितवस्तुदाने । सम्यक्त्वशुद्धयं भवतात् सदा मे ॥१७॥

अष्टसहस्री वंदना

उमास्वामिकृतं पूत-महत्सस्तवमंगलं । महेश्वरश्रियं दद्यात्, महादेवपदस्थितं ॥१८॥

मूलाधारं स्तुतेराप्त—मीमांसाकृतेरिदं । मूलमष्टसहस्र्याश्च, मंगलं मंगलं क्रियात् ॥१९॥

देवागमस्तवोद्भूता, समंतात् भद्रकारिणी । अकलंकवचःपूता, विद्यामंदं तनोतु मे ॥२०॥

महापूज्या जगन्माता, स्याद्वादात्मतर्वाषिणी । अनेकांतमयीमूर्तिः सप्तभंगतरंगिणी ॥२१॥

स्वपर—समयज्ञानं, प्रकटीकुरुते सदा । सर्वथंकांतदुर्दातान्, विमदीकुरुते क्षणात् ॥२२॥

जिनशासन माहात्म्य-वर्धने पूर्णचंद्रवत् । मिथ्यामतमहाध्वात—ध्वंसने सूर्यवत् सदा ॥२३॥

जीयात् कष्टसहस्रं र्या साध्या सर्वार्थसिद्धिदा ।

पुण्यात्साष्टसहस्री मे, वाञ्छां शतसहस्रिकाम् ॥२४॥ चतुष्कं ॥

“स्याद्वादचितामणि” नाम की यह टीका मुझ अल्पबुद्धि के द्वारा की जा रही है । यह चितित वस्तु को देने में चितामणि ही है, यह चितामणि टीका सदा मेरे सम्यक्त्व की शुद्धि के लिये होवे ।

अष्टसहस्री वंदना—

उमास्वामी के द्वारा कृत, पवित्र अर्हंतदेव का स्वरूप मंगलाचरण महादेव पद में स्थित ऐसी महेश्वर की लक्ष्मी मुझे प्रदान करे ।

भावार्थ—इस श्लोक में श्लेषालंकार है अतः उमा—पार्वती के पति महादेव पक्ष में उमा—लक्ष्मी—तपो लक्ष्मी के स्वामी आचार्य श्री उमास्वामी के द्वारा रचित “मोक्षमार्गस्य नेतारं” आदि मंगलाचरण मुझे महादेव की लक्ष्मी—“महांश्वासो देवश्च महादेवः” के अनुसार महान् देव—देवों के भी देव श्री अर्हंतदेव की लक्ष्मी प्रदान करें ।

आप्तमीमांसा नाम की स्तुति का मूल आधारभूत और अष्टसहस्री का भी मूल ऐसा यह मंगलाचरण सदा मंगल करे । “देवागमस्तव” से उत्पन्न हुई, समंतात्—सब तरफ से भद्र—कल्याण को करने वाली, अकलंकवचन—निर्दोष वचन से पवित्र यह अष्टसहस्री ग्रंथ मुझे विद्यानंद—ज्ञान और आनन्द—सुख को देवे । यहाँ श्री समंतभद्र, श्री अकलंकदेव और श्री विद्यानंद ऐसे तीनों आचार्यों का नाम लेकर स्तवन भी कर दिया गया है । जो महान् पूज्य है, जगत् की माता है, स्याद्वादरूपी अमृत को बरसाने वाली है, अनेकांतमयी मूर्ति है, सप्तभंगों के तरंगों से सहित उत्तम नदी है, हमेशा स्वसमय और परसमय के ज्ञान को प्रगट करती है । सर्वथा—एकांत दुराग्रहरूपी मत्त हस्तियों के मद की क्षण में दूर करने वाली है । जिनशासन के माहात्म्य को बढ़ाने में पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान है । मिथ्यामतरूपी महाअंधकार को नष्ट करने में सदा सूर्य के समान है । जो हजारों कष्टों से सिद्ध होने योग्य है वह अष्टसहस्री सदा जयशाली होवे, सर्व अर्थ की सिद्धि को देने वाली होवे और मेरी कोटि-कोटि वाञ्छाओं को सफल करे । इस प्रकार हिन्दी टीकाकर्त्री द्वारा रचित पीठिका प्रकरण पूर्ण हुआ ।

इति पीठिकाबंधः

मंगलाचरणम्

श्री 'वर्द्धमानमभिवन्द्य समन्तभद्र-मुद्भूतबोधमहिमानमनिन्द्यवाचम् ।
शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्त-मीमांसितं कृतिरलङ्कियते मयास्य ॥१॥

मङ्गलाचरण का अर्थ—जा समंत-सर्वप्रकार से भद्र-कल्याणस्वरूप हैं, जिनके केवलज्ञान की महिमा प्रकट हो चुकी हैं—जो विद्यानन्दमय हैं, जिनके वचन अनिन्द्य-अकलंकरूप अनेकांतमय हैं, ऐसे श्री-अंतरंग-अनन्तचतुष्टयादि एवं बहिरंग-समवसरणादि विभूति से सहित अंतिम तीर्थंकर श्री वर्द्धमान भगवान् को नमस्कार करके महाशास्त्र-तत्त्वार्थसूत्र के प्रारम्भ में “मोक्षमार्गस्य नेतारम्” इत्यादि मंगलरूप से रचित स्तुति के विषयभूत आप्त भगवान् की मीमांसा स्वरूप जो “देवागमस्तोत्र” है उसे भाष्यरूप से मैं—विद्यानंदि स्वामी अलंकृत करता हूँ ।

[श्री लघुसमंतभद्रकृत टिप्पणी का भावार्थ—इसमें मंगलाचरण से सर्वप्रथम श्री वर्द्धमान भगवान् को एवं संपूर्ण अर्हत्समुदाय को नमस्कार किया है । पुनः इसी श्लोक से श्री समंतभद्रस्वामी को एवं आप्तीमीमांसा स्तोत्र को नमस्कार किया है ।]

उत्थानिका—इसी भरतक्षेत्र में पहले अपनी निर्दोष विद्या एवं निर्दोष संयमरूपी संपत्ति से गणधरदेव, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली, दशपूर्वधारी आदि सूत्र की रचना करने वाले महर्षियों की महिमा को आत्मसात् (स्वयं प्रत्यक्ष) करते हुए भगवान् श्री उमास्वामी आचार्यवर्य ने तत्त्वार्थसूत्र नामक महाशास्त्र की रचना की है । स्याद्वादविद्या के अग्रणी श्री समंतभद्रस्वामी ने उस तत्त्वार्थ सूत्र महाशास्त्र की ‘गंधहस्ति महाभाष्य’ रूप टीका रचते हुए मंगलाचरण में “मोक्षमार्गस्य नेतारम्” इत्यादि की टीका में मंगल स्वरूप स्तुति के गोचर परम आप्त भगवान् के गुणों की मीमांसा (परीक्षा) को करते

1 ॐ नमः । इह हि खलु पुरा स्वकीयनिरबद्यविद्यासंयमसम्पदा गणधरप्रत्येकबुद्धश्रुतकेवलिदशपूर्वाणां सूत्रकृन्महर्षीणां महिमानमात्मसात्कुर्वद्भिर्भगवद्भिर्हमास्वामिपादैराचार्यवर्यैरासूत्रितस्य तत्त्वार्थाधिगमस्य मोक्षशास्त्रस्य गन्धहस्त्याख्यं महाभाष्यमुपनिबध्नन्तः स्याद्वादविद्याग्रगुरवः श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्यास्तत्र मङ्गलपुरस्सरस्तवविषयपर-

हुए प्रवचनमय तीर्थ की सृष्टि की पूर्ति स्वरूप इन 'देवागम-नभोयान' इत्यादि पदों द्वारा 'देवोगम-स्तोत्र' नाम के ग्रन्थ की रचना की है ।

इसके पश्चात् जिनके चरणनख की किरणों सकल तार्किक जनों के चूड़ामणि की किरणों से चित्र विचित्र शोभा को प्राप्त हैं, ऐसे भगवान् भट्टाकलङ्कदेव ने इसी देवागम-स्तोत्र की 'अष्टशती' नामक टीका रची है ।

इसी प्रकार महाभाग तार्किकजनों से मान्य 'वादीभसिंह' इस पदवी से अलंकृत श्री विद्यानन्दि स्वामी स्याद्वाद से प्रगट सत्यवचनों का प्रवाह है जिसमें, ऐसी अपनी वाणी की चतुरता को प्रगट करते हुए 'आप्त-मीमांसा' को अलंकृत करने की इच्छा करते हुए 'श्री वर्द्धमानम्' इत्यादि प्रतिज्ञा श्लोक को कहते हैं ।

"मया अलंकियते" मेरे द्वारा अलंकृत की जाती है,—इस पद से अलंकार का महत्व प्रगट किया है अर्थात् जिस प्रकार सौंदर्यशालिनी कन्या की भी अलंकार आदि से शोभा द्विगुणित हो जाती है, उसी प्रकार से यह टीका भी इस स्तोत्र के लिए अलंकार स्वरूप इस स्तोत्र के पदों के अर्थों को अत्यर्थ रूप में स्पष्ट करते हुए श्रोता जनों के मन को हरण करने वाली है ।"

"मेरे द्वारा क्या अलंकृत की जाती है ?" "कृति"—रचना । वह किस रूप में है ? शास्त्र के प्रारंभ में रचित स्तुति के विषय को प्राप्त जो परम आप्त भगवान् हैं, उनकी मोमांसा-परोक्षा की जाती है । "अस्य" यह निर्देश विशेष्य-विशेषण सम्बन्ध से युक्त होने से स्वामी समन्तभद्राचार्य के माहात्म्य को प्रगट करता है अर्थात् स्वामी समन्तभद्राचार्य की रचना, 'अभिवन्ध'—नमस्कार करके—मन वचन काय से वंदना करके, मेरे द्वारा अलंकृत की जाती है । इस नमस्कार पद से आस्तिक्य भावना के अस्तित्व को दिखलाया है । किसको नमस्कार करके ? "श्री वर्द्धमानम्" सब तरफ से वृद्धि को प्राप्त है 'मान'—केवलज्ञान जिनका, ऐसे वर्द्धमान भगवान् को । श्री—समवसरण दि लक्षण एवं परम आर्हत्य

माप्तगुणातिशयपरीक्षामुपक्षिप्तवन्तो देवागमाभिधानस्य प्रवचनतीर्थस्य सृष्टिमापूरयाञ्चक्रिरे । तदनु सकलतार्किक-चक्रचूड़ामणिमरीचिमेचकितचरणनखकिरणो भगवान् भट्टाकलङ्कदेवस्तदेतस्याष्टशत्याख्येन भाष्येणोन्मेषमकार्षीत् । तदेवं महाभागैस्तार्किकाकर्षणज्ञातां श्रीमता वादीभसिंहेनोपलालितामाप्तमीमांसामलचिकीर्षवा स्याद्वादोद्भासिसत्य-वक्यसरो गिरां चातुरीमाविर्भावयन्तः प्रतिज्ञाश्लोकमाहुः "श्रीवर्द्धमानमित्यादि" अस्यार्थः ।—अलङ्कियते विभूष्यते । केन ? मया विद्यानन्दिसूरिणा । अनेनालङ्कारस्य महत्त्वमुदघोषितम् । का ? कृतिः सन्दर्भः । किरूपा ? शास्त्रावतार-रचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितम् । विशेष्यविशेषणयोरविष्टलिङ्गत्वादयं निर्देशो यथा ।—रमणीरत्नमुर्वशीति । कस्य ? अस्य स्वामिसमन्तभद्राचार्यस्य । माहात्म्यमावेदितम् । श्रीवर्द्धमानः समन्तभद्रः सूरिरनिन्द्यवागित्येतत्त्रितयस्यानन्तरोक्त-स्यास्येत्यनेन परिग्रहप्राप्तावपि सूरेरेव परिगृहीतिः कृतेरनेनैव प्रत्यासत्तिप्रकर्षयोगात् । किं कृत्वा ? प्रागभिवन्ध अभितः समन्तान्मनसा वचसा वपुषा च वन्दित्वा । अनेन नमस्कृतावास्तिक्यस्यास्तित्वमादर्शितम् । कम् ? श्रीवर्द्ध-मानम् । अत्र समन्तादूर्द्धं प्रवृद्धं मानं केवलज्ञानं यस्यासी तथोक्तः । श्रिया समवसरणादिलक्षणया परमार्हत्यलक्ष्या लक्षितो वर्द्धमानः श्रीवर्द्धमानः परमजिनेश्वरसमुदयस्तम् । अर्थसमुदयस्यार्थः कथम् ? अत्र समतादूर्द्धं परमातिशयप्राप्तं

लक्षण से विभूषित श्री वर्द्धमान भवगान् अंतिम तीर्थंकर अथवा संपूर्ण अर्हत्परमेष्ठी समुदाय को नमस्कार करके । पुनः कैसे हैं भगवान् ? “समंतभद्र” भद्र अर्थात् जिनके शतेन्द्रवन्दित गर्भावतरण आदि कल्याणक हुये हैं, ऐसे भगवान् ही समन्तभद्र हैं । पुनः कैसे हैं भगवान् ? “उद्भूतबोध महिमानम्” जिनके केवज्ञान की महिमा-यथावत् संपूर्ण वस्तुतत्त्व के प्रकाशन की महिमा प्रगट हुई है । इस विवेक्षण से अचल ज्योतिः स्वरूप केवलज्ञान के द्वारा समस्त लोकालोक को अवलोकन करने वाले हैं, यह प्रगट किया है । पुनः कैसे हैं भगवान् ? “अनिन्द्यवाचम्” अनेकान्त की नीति वही हुआ गंगाप्रवाह, उसमें अवगाहन करने वाली है वाणी दिव्यध्वनि जिनकी ऐसे भगवान् को । इस विशेषण से धर्म तीर्थ की प्रवृत्ति स्वरूप भगवान् के वचन हैं—यह स्पष्ट किया है ।

[अथवा इसी श्लोक से आचार्य समंतभद्र स्वामी को नमस्कार करते हैं—]

दूसरा अर्थ - श्री समंतभद्र स्वामी को नमस्कार करके । कैसे हैं समंतभद्र स्वामी ? “श्री वर्द्धमानम्” निर्दोष स्याद्वाद विद्या के वैभव की आधिपत्य-लक्षण लक्ष्मी से जो वृद्धि की प्राप्त हैं । पुनः कैसे हैं ? “उद्भूत-बोध-महिमानम्” भव्य जीवों को इस कलिकाल में भी कलंकरहित निर्दोष विद्या को प्रगट करने के लिए स्याद्वाद तत्व को प्रगट करने में जिनका ज्ञान समर्थ है । पुनः कैसे हैं ? “अनिन्द्यवाचम्” सप्तभंगी से युक्त आप्तमीमांसा नाम की स्तुति जिन्होंने रची है, ऐसे

मानं केवलज्ञानं यस्यासी वर्द्धमानः । अवाप्योरल्लोप इत्यवशब्दस्याकारलोपः । श्रिया बहिरङ्गया चान्तरङ्गया सम-
वसरणान्तचतुष्टयलक्षणया चोपलक्षितो वर्द्धमानः श्रीवर्द्धमानोऽर्हत्समुदय इति व्युत्पत्तेः । अनेन परमार्हतां समुदयमिति
वृत्तिकारोक्तप्रतिज्ञाश्लोकनमस्कृतौ विशेष्यमुपात्तम् । कथम्भूतम् ? समन्तभद्रम् समन्ताद्भद्राणि शतमुखशताभिवन्दितानि
गर्भावतरणमहिमादिकल्याणानि यस्य तम् । अनेनाखिलैरिन्द्रादिभिर्वन्दितमिति विशेषणमुपगृहीतम् । भूयः कथम्भूतम् ?
उद्भूतः प्रतिद्वो बोधस्य महिमा वस्तुयाथात्म्यप्रकाशनसामर्थ्यलक्षणो यस्य तम् । अनेनाचलज्योतिर्ज्वलत्केवलालोका-
लोकितलोकालोकमिति विशेषणं स्वीकृतम् । अचलैर्निर्बाधैर्ज्योतिर्भिर्निर्भासैर्ज्वलता दीप्यमानेन केवलालोकेन केवलदर्शने-
नालोकितौ लोकालोकौ येन तमिति प्रतिपादनात् । भूयोपि कथम्भूतम् ? अनिन्द्यवाचम् । अनिन्द्यानेकान्तनीतिगङ्गा-
प्रवाहावगाहिनी वाग् वाणी यस्य तम् । अनेनोद्दीपीकृतधर्मतीर्थमिति विशेषणमात्मोक्तम् । उद्दीपीकृतं धर्मप्रतिपादकं
तीर्थं शास्त्रं येनेति व्युत्पादनात् । भगवान् श्रीवर्द्धमानः कल्याणसम्पदाशंसिनामभिवन्द्यः सकलकल्याणसम्पदभिराम-
त्वात् । यथा सकललक्ष्मीसम्पदभिरामः सार्वभौमो लक्ष्मीसम्पदाशंसिनामिति स्वभावलिङ्गजनितमनुमानम् । सकल-
कल्याणसम्पदभिरामोऽयमुद्भूतबोधमहिमत्वादिति कारणसहचरलिङ्गजनितं केवलज्ञानोदयसहभाविनस्तीर्थंकरपुण्यो-
दयात् सकलकल्याणभिरामपरमार्हन्त्यलक्ष्मीसम्पत्संयुतः सर्वत्रोद्भूतमहिमायं तत्र युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वात् । यथै-
वागवद्भारकर्मणि युक्तिशास्त्राविरोधिवाग्भिषग्वरस्तत्रोद्भूतमहिमेति कार्यलिङ्गजनितं महीयसां वचनातिशयस्य प्रजा-
तिशयनिबन्धनत्वादिति । एवमुत्तरत्र व्याख्याद्वयेपि यथासम्भवं हेतुपन्यासः प्रतिपत्तव्यः ।

अथवा अभिवन्द्य । कम् ? समन्तभद्रं समन्तभद्राचार्यम् । कीदृशम् ? श्रीवर्द्धमानं श्रिया दिखिलविद्यालङ्कार-
निरवद्यस्याद्वादविद्याविभवाधिपत्यलक्षणया लक्ष्म्या वर्द्धमानमेधमानम् । साक्षात्कृतसकलवाङ्मयत्वेन समस्तविद्याविद
परमैश्वर्यमातिष्ठमानस्य स्याद्वादविद्याग्रगुरोर्महामुनेः श्रीवर्द्धमानतायां विवादाभावात् । भूयः कीदृशम् ? उद्भूतबोध-
महिमानम् । उद्भूतो बोधस्य महिमा भव्यानां कलिकालेऽप्यकलङ्कभावाविर्भावाय स्याद्वादतत्त्वसमर्थने पटिमा यस्य

श्री समन्तभद्र स्वामी को नमस्कार करके यह आप्त मीमांसा की टीका मेरे द्वारा अलंकृत की जाती है ।

[अथवा तीसरा अर्थ—यहाँ आप्तमीमांसा को नमस्कार करते हैं ।]

इस आप्त मीमांसा स्तुति को मैं नमस्कार करता हूँ । कैसी है वह स्तुति ? “अनिन्द्यवाचं” प्रत्यक्षादिप्रमाणों से अबाधित एवं पूर्वा पर विरोध से रहित वचन जिसमें हैं । पुनः कैसी है ? “श्री वर्धमान” जो स्यात्कार लक्ष्मी से वृद्धि को प्राप्त-अभ्युदयशोल है । पुनः कैसी है ? “समन्तभद्र” सब तरफ से भद्र-कल्याण स्वरूप है, सभी के हृदय को आल्हादकारी तत्व स्वरूप आगम वो ही अमृत उसके निर्झर से जो रमणीय है ।

पुनः यह स्तुति कैसी है ? “उद्भूत बोध महिमानं ।” जिसमें अनेकांत तत्व की महिमा प्रगट अर्थात् पाप रूप एकान्तवाद वही हुआ अधकार, उसको नाश करने में प्रचंड सूर्य के समान जिसमें ज्ञान है । इन विशेषणों से विशिष्ट इस आप्तमीमांसा स्तुति को नमस्कार करके, शास्त्र जो तत्त्वार्थ सूत्र है उसके प्रारम्भ में रचित जो मंगलाचरण स्तुति “मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्म भूभृतां” आदि इस स्तुति के विषय को प्राप्त जो आप्त—भगवान् उनकी मीमांसा-परीक्षा जिसमें है ऐसी यह आप्तमीमांसा नामक स्तोत्र की टीका मेरे द्वारा अलंकृत की जाती है ।

तम् । भूयोपि कीदृशम् ? अनिन्द्यवाचम् । अनिन्द्या सप्तभङ्गीसमालिङ्गिता वागाप्तमीमांसास्तुतिर्यस्य तम् । अनेन स्याद्वादविद्याधिपत्यं भव्याकलङ्कभावाविभवावनावैदग्ध्यं तीर्थप्रभावनाप्रागल्भ्यमिति विशेषणत्रयेण तीर्थमित्येतदादौ कृत्वैत्येतदन्ते वृत्तांशे वाक्यत्रयोपदर्शितं सुरैर्विशेषणत्रयं संबोधितम् । तत्राद्येन विशेषणेन सर्वपदार्थतत्त्वविषयस्याद्वाद-पुण्योदशेरुद्धृत्यैतद्वाक्यमाश्लिष्टं भगवान् यमाचार्यः स्याद्वादविद्याविभवाधिपतिस्तद्विद्यामहोदधेरुद्धृत्य प्रकरणमारचयित्वात् । यथा सकलश्रुतविद्यामहोदधेरुद्धृत्योत्तराध्ययनप्रकरणमारचयन् भद्रवाहुस्तद्विद्याविभवाधिपतिरित्युपपादनात् । द्वितीयेन भव्यानामकलङ्कभावकृतये काले कलावित्येतदिष्टं स्पृष्टम् । तृतीयेन तीर्थं प्राभावीत्येतदुपक्षिप्तमिति । विशेष्यं तु प्रसिद्धमेव ।

अथवाभिवन्द्य । कम् ? अनिन्द्यवाचम् । अनिन्द्या प्रमाणाबाधा पूर्वापरविरोधविधुरा वाग्व्याहृतिर्यस्मिन्नसाव-निन्द्यवाक् प्रस्तुतत्वात् समन्तभद्राचार्यकृतिराप्तमीमांसास्तवस्तम् । अनेन गामिति विशेष्यमालिङ्गतम् । कीदृशम् ? श्रीवर्द्धमानम् । श्रिया नानाभङ्गीभावसुव्यक्तमूर्त्त्या स्यात्कारलक्ष्म्या वर्द्धमानमभ्युदयमानम् । अनेन सप्तभङ्गीविधिमिति विशेषणभुपगूढम् । भूयः कीदृशम् ? समन्तभद्रं समन्तात्सर्वतो भद्रं सहृदयहृदयाल्हादितत्त्वागमसुधासारनिष्पन्दिस्त्कि-रमणीयमिति यावत् । अनेन स्याद्वादाद्मृतगभिणीमिति विशेषणं परिरब्धम् । अनेकान्ततत्त्वाकलनात्मना पीयूषेण सान्तस्सारमिति गोशब्दस्य धेन्वर्थवृत्तितामभिसमीक्ष्य प्रतिपादनात् । भूयोपि कीदृशम् ? उद्भूतबोधमहिमानम् । उद्भूतो बोधस्यानेकान्ततत्त्वप्रकाशस्य महिमा दुरितैकान्तवादतमस्काण्डखण्डने प्रचण्डिमा यस्माद्विनेयानां तम् । अनेन प्रतिहृतैकान्ताऽधकारोदयामिति विशेषणं परिरब्धम् । गोशब्दस्य दीप्त्यर्थविषयतामाकलय निवेदनात् । शास्त्रं तत्त्वार्थ-सूत्रं तस्यावतारः प्रारम्भस्तस्मिन् रचिता यासौ स्तुति “मोक्षमार्गस्य नेतारं कर्मभूभृतां भेत्तारं” मित्यादिस्तस्या गोचरो विषयोसावाप्तस्तस्य मीमांसितं या । अस्मिन् श्लोके पूर्वाद्धेन भाष्यादिपद्यद्वयार्थः उत्तराद्धेन प्रथमभाष्यार्थश्च सङ्-गृहीतः समस्तः । सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुगामिभिः । स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः ।

[मंगलाचरणस्य महत्त्वं ग्रन्थकर्तुरुद्देश्यञ्च]

श्रेयः¹ श्रीवर्द्धमानस्य परमजिनेश्वरसमुदायस्य समन्तभद्रस्य तदमलवाचश्च² संस्तवनमाप्त-
मीमांसितस्यालङ्कारणे³ तदाश्रयत्वादन्यतमासम्भवे तदघटनात् ।⁴ तद्वृत्तिकारैरपि तत एवोद्दी-
पीकृतेत्यादिना तत्संस्तवनविधानात् ।⁵ देवागमेत्यादिमङ्गलपुरस्सरस्तवविषयपरमाप्तगुणा-
तिशयपरीक्षामुपक्षिपतं⁶ स्वयं⁷ श्रद्धागुणज्ञतालक्षणं⁸ प्रयोजनमाक्षिप्तं⁹ लक्ष्यते¹⁰ ।¹¹ तदन्य-
तरापायेऽर्थं¹² स्यानुपपत्तेः¹³ ।¹⁴ शास्त्रन्यायानुसारितया¹⁵ तथैवोपन्यासात् * । इत्यनेन¹⁶

[मंगलाचरण का महत्त्व और ग्रन्थकर्ता का उद्देश्य]

श्री वर्द्धमान भगवान्, समस्त तीर्थंकरों का समुदाय, श्री समन्तभद्र स्वामी और उनके निर्दोष वचन रूप स्तुति का संस्तवन ही कल्याणकारी है, क्योंकि आप्तमीमांसा की टीका करने में वे सब आश्रयभूत हैं। इनमें से एक किसी की भी स्तुति न करने से इसकी टीका नहीं हो सकती है। इस आप्तमीमांसा की प्रथमतः वृत्ति (टीका) करने वाले श्री भट्टकलंक देव ने भी इसी विषय को अष्टशती नामक टीका करते समय “उद्दीपीकृत” इत्यादि श्लोक के द्वारा मंगलाचरण किया है। तथैव “देवागम” इत्यादि मंगल-पूर्वक स्तुति के विषय को प्राप्त, परम आप्त भगवान् के गुणातिशय की परीक्षा को स्वीकार करते हुए श्री समन्तभद्र स्वामी ने स्वयं अपनी श्रद्धा और गुणज्ञता लक्षण प्रयोजन को सूचित किया है, ऐसा जाना जाता है। क्योंकि श्रद्धा और गुणज्ञता इन दोनों में से किसी एक के अभाव में देवागम स्तव में परीक्षा लक्षण अर्थ नहीं बन सकता है। अतः आचार्य पूर्वशास्त्र के आधार से ही अर्थात् तत्त्वार्थसूत्र का अवलंबन लेकर ही टीका करते हैं * । इस कथन से ग्रंथकार ने स्वरचित एवं स्वरुचि-विरचित शास्त्र का परिहार किया है।

1 ननु चेष्टदेवतामभिषटुत्यैव सर्वेपि शास्त्रकृतः शास्त्रमुपक्रमन्ते न पुनःस्तुत्यस्तोतृस्तुतीस्तत्रयस्तोत्रमिदं शास्त्रादी भगवता सूचितं कथं सोन्दर्यमास्कन्दतीत्याशङ्क्यामाह श्रेय इत्यादि । 2 इदं साध्यम् । अनेन श्लोकवर्त्य-भिवन्द्यशब्दः संस्तवनार्थ एव न तु प्रणमनार्थ इति प्रकाशितः (तम्) । अनेनोपकारकरणार्थं स्तुत्यादित्रयसंस्तवनं कृतमिति प्रकाशितं श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिरित्यादी तथैव श्रवणात् । अतएव तदाश्रयत्वात्तदन्यतमासम्भवे तदघटनात् अनेन सम्मतिर्दक्षिता भाष्यादिपद्यद्वयस्याभिप्रायश्च सूचितः, भाष्यानुसारेणैवालङ्कारः क्रियते इति च प्रकाशितः (तम्) । 3 पक्षः । 4 ननु चास्यालङ्कारणस्य स्तुत्यस्तोतृस्तुतिनिमित्तकत्वेपि तत्र तत्रयस्तोत्रेण श्रेयसा भाव्यमिति कोयं नियम इत्याशङ्क्यामाह तद्वृत्तिकारैरपीत्यादि । भट्टकलङ्कदेवैः । 5 नन्वस्य भगवतः समन्तभद्रस्य समन्तभद्रादयस्तिष्ठ एव कृतयः श्रूयन्ते न तु शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितं नाम कृतिस्तस्मात्कथमियं प्रतिज्ञा सुघटनामटतीत्युक्ते वक्ति देवाग मेत्यादि । मोक्षमार्गस्य नेतारमित्यादि । 6 स्वीकुर्वता समन्तभद्रस्वामिना । 7 स्वस्य समन्तभद्रस्य । 8 प्रेरकत्वं वाऽऽराध्यत्वेन ज्ञानं भक्तिस्तत्रात्यन्तमनुरागः श्रद्धा । 9 कटाक्षिसंसूचितमित्यर्थः । प्रतिज्ञातम् । स्वीकृतम् । सामर्थ्यं नोपपन्नम् । संगृहीतम् । 10 (यतः) प्रयोजनाभावे शास्त्रकरणं न स्वात् । 11 तयोः श्रद्धागुणज्ञतयोर्मध्ये एकस्याभावे । 12 परीक्षालक्षणस्य । देवागमस्तवस्य । 13 प्रयोजनानुसारेण शास्त्रकरणं घटते । 14 अनुपपत्तिः कुत इत्याह पूर्वशास्त्रानुसारितया । 15 ग्रन्थकारस्य तत्त्वार्थशास्त्रप्रसिद्धानुसारित्वेन स्वीपक्रान्तत्वस्वरुचि-विरचितत्वपरिहारलक्षणप्रयोजनेन मङ्गलपुरस्सरस्तवविषयेत्यादिप्रकारैर्णवोपन्यासात् । अन्यथानुपपत्तिप्रकारेण परीक्षात्वेन वा । 16 वृत्ति ग्रन्थेन ।

ग्रन्थकारस्य¹ श्रद्धागुणज्ञतालक्षणे² प्रयोजने साध्ये³ शास्त्रारम्भस्तवविषयाप्तगुणा⁴ तिशय⁵ परीक्षो-
पक्षोपस्य⁶ साधनत्वसमर्थनात् । शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितमिदं शास्त्रं देवा-
गमाभिधानमिति निर्णयः⁸ । मङ्गलपुरस्सरस्तवो¹⁰ हि शास्त्रावताररचितस्तुतिरुच्यते । मङ्गल
पुरस्सरमस्येति मङ्गलपुरस्सरः शास्त्रावतारकालस्तत्र रचितः स्तवो मंगलपुरस्सरस्तवः इति
व्याख्यानात् । तद्विषयो यः¹¹ परमाप्तस्तद्गुणातिशयपरीक्षा तद्विषयाप्तमीमांसितमेवोक्तम् ।

इस प्रकार से ग्रन्थकार ने श्रद्धा, गुणज्ञता लक्षण प्रयोजन रूप साध्य में शास्त्र के प्रारम्भ में
रचित स्तव के विषय को प्राप्त परम आप्त के गुणातिशय की परीक्षा की स्वीकारता को हेतु बनाया
है । शास्त्र के आदि में रचित स्तुति के विषय को प्राप्त आप्त की मीमांसा रूप यह शास्त्र “देवागम-
स्तोत्र” इस नाम का है—यह निर्णय हुआ क्योंकि मंगल-पूर्वक स्तव ही शास्त्र के आदि में रचित
स्तुति कहलाती है । मंगल है पूर्व में जिसके, उसे मंगलपुरस्सर कहते हैं । शास्त्र-रचना के प्रारम्भ में
रचित मंगलपुरस्सर स्तव कहलाता है । उस स्तुति के विषयभूत परम आप्त भगवान्, उनके मोक्षमार्ग
प्रणेतृत्वादि गुणातिशयों की परीक्षा ही तद्विषयक आप्तमीमांसा है ।

भावार्थ—श्री विद्यानंद स्वामी का कहना है कि श्री वर्धमान भगवान्, सभी तीर्थकरों का
समुदाय एवं देवागम स्तोत्र के कर्ता श्री समन्तभद्र स्वामी तथा उनके निर्दोष वचन इन सबकी मंगला-
चरण के द्वारा मैंने स्तुति की है क्योंकि इनमें से किसी एक की भी स्तुति न करें तो इस आप्तमीमांसा
की टीका को करने में हम समर्थ नहीं हो सकेंगे । एवं श्री भट्टाकलंक देव ने तो अष्टशती भाष्य में
स्पष्ट ही कह दिया है कि इस ग्रन्थ में आप्त-अर्हंत भगवान् की परीक्षा करने में श्रद्धा और गुणज्ञता ये
दो ही प्रयोजन मुख्य हैं । यदि हमारे में श्रद्धा और भगवान् के गुणों का ज्ञान नहीं है तो कथमपि

1 ग्रन्थकारः पक्षः । 2 प्रेरकत्वे । 3 मोक्षमार्गस्येत्यादि । 4 मोक्षमार्गप्रणेतृत्वादि । 5 विरुद्धनानायुक्तिप्राबल्य (घट-
मानयोश्च) दौर्बल्यावधारणाय प्रवर्तमानो विचारः परीक्षा । सा खल्वेवं चेदेवं स्यादेवं चेदेवं न स्यादित्येवं प्रवर्तते ।
6 स्वीकारस्य । 7 श्रद्धागुणज्ञतालक्षणं प्रयोजनं पक्षः धर्मित्वं समन्तभद्राचार्यस्यास्ति । आप्तगुणातिशय परीक्षोपक्षे-
पान्यथानुपपत्तेः । 8 अर्थस्यानुभवगम्यस्य परीक्षाविशेषस्य गुणातिशयपरीक्षोपक्षिप्तस्यास्यैव तावद्देवागमाभिधानमिति
निर्णयः । कथमिति चेदुच्यते । अस्य देवागमत्वाभिधाने ग्रन्थकारस्य श्रद्धागुणज्ञतालक्षणे प्रयोजने साध्ये साधनमिदं न
भवत्येव स्वरूपाभिद्धत्वात् । कथमिति चेद्देवागममन्तरेणान्यस्य मोक्षशास्त्रारम्भरचित “मोक्षमार्गस्य नेतारः” मित्या-
दिस्तवनविषयाप्तगुणातिशयपरीक्षारूपायाः समन्तभद्राचार्यकृतेः सर्वथाप्यसम्भवात् । निश्चयेसपूर्वोक्तशास्त्रशब्दस्यार्थो-
यम् । 9 एतच्च विभावयति । 10 नन्वेवमपि शास्त्रारम्भस्तवविषयपरमात्मगुणातिशयपरीक्षैव देवागमाभिधानं
लब्धुमर्हति देवागमेत्यादिमङ्गलपुरस्सरस्तवविषयपरमात्मगुणातिशयपरीक्षामित्यनेन तयोरेकत्वेनाभिधानात्, न पुनः
शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितं देवागमाभिधानं लब्धुमर्हति । ततः कथमिदमुक्तम् ।—शास्त्रावताररचित-
स्तुतिगोचराप्तमीमांसितमिदं शास्त्रम् । देवागमाभिधानमित्युक्ते तद्गुणातिशयपरीक्षातदाप्तमीमांसितयोरेकत्वे साधिते
तदाप्तमीमांसितमपि देवागमाभिधानं भविष्यत्येवेति स्वीकृत्य तयोरेकत्वसमर्थनार्थमाह ।—मङ्गलपुरस्सरेत्यादि ।
11 मोक्षमार्गप्रणेतृत्वादि ।

१तदेवं २निःश्रेयसशास्त्रस्यादौ तन्निबन्धनतया ३ मंगलार्थतया च ४मुनिभिः संस्तुतेन निरति-
शयगुणेन भगवताप्तेन श्रेयोमार्गमात्महितमिच्छतां ५ ६सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेष ७प्रतिपत्त्यर्थ-
माप्तमीमांसां ८विदधानाः, श्रद्धागुणज्ञताभ्यां प्रयुक्तमनसः, कस्माद् देवागमादिविभूतितोऽहं ९
महान्नाभिष्टुत १० इति स्फुटं पृष्ठा ११ इव स्वामिसमन्तभद्राचार्याः प्राहुः—

उनकी परीक्षा नहीं की जा सकती है। यदि श्रद्धा या गुणज्ञता इन दोनों गुणों में से एक गुण नहीं हो तो भी आप्त की परीक्षा नहीं हो सकती है। इस कथन से यह जाना जाता है कि श्री समन्तभद्र स्वामी भगवान् के गुणों में विशेष रूप से अनुरक्त हो करके ही व्यंग्यात्मक शैली से आप्त की परीक्षा के बहाने से उनके महान् गुणों की स्तुति कर रहे हैं। इससे यह भी ध्वनित हो जाता है कि जो व्यक्ति किसी देव, शास्त्र या गुरुओं की परीक्षा को करने में रुचि रखते हैं तो सबसे पहले उन्हें श्रद्धालु एवं गुणग्राही होना चाहिये न कि अश्रद्धालु अथवा दोषज्ञ, क्योंकि मात्र दोषग्राही व्यक्ति किसी के गुणों की परीक्षा करने में या किसी के गुणों का मूल्यांकन करने में समर्थ नहीं हो सकते हैं, क्योंकि दोषग्राही बुद्धि से तो सामने वाले के गुणों में भी दोषारोपण कर दिया जाता है अतः परीक्षा करने में कुशल, अधि-कारी व्यक्ति को ही किसी की परीक्षा में कदम उठाना चाहिये क्योंकि सभी को सभी की परीक्षा का अधिकार नहीं है।

उत्थानिका—इस प्रकार से निःश्रेयस शास्त्र (मोक्षमात्र) के आदि में मोक्ष के लिये जो कारण भूत हैं और श्री उमास्वामी आचार्य के द्वारा स्तुति को प्राप्त अतिशय गुण सहित जो भगवान् आप्त हैं, उन्होंने श्री समन्तभद्र स्वामी से यह प्रश्न किया है। कैसे हैं समन्तभद्र स्वामी? मोक्षमार्ग ही आत्मा का हित है इस प्रकार स्वीकार करने वाले शिष्यों को सम्यक् उपदेश और मिथ्या उपदेश की जानकारी के लिये आप्तमीमांसा को करते हुए श्रद्धा और गुणज्ञता से जिनका मन युक्त है—उनसे भगवान् ने प्रश्न किया कि हे समन्तभद्र! “देवागम आदि विभूति से मैं महान् हूँ पुनः आप मेरी स्तुति क्यों नहीं करते हैं?” इस प्रकार स्पष्टतया भगवान् के प्रश्न करने पर ही मानों समन्तभद्र स्वामी कहते हैं—

1 ननु च भीमांसितं, परीक्षा, विचार इत्यन्तरे तच्च वादिप्रतिवादिभ्यां भवितव्यम् । तथा च सति समन्त-
भद्राचार्यस्य महावादिनः प्रतिवादी न कश्चिन्मनुष्यमात्रः सम्भवत्येव (अवटुतटमटति इटिति स्फुटतटवाचाटधूजंटेजिह्वा ।
वादिनि समन्तभद्रे कान्येषां संकषा तत्र) ततः कथमाप्तमीमांसाविधानमुपपद्यते इति पृष्ठः सत्त्वाचष्टे तदेवमित्यादि ।
तदेवमुक्तन्यायेनेत्यर्थः । 2 तत्त्वार्थसूत्रस्य । 3 मोक्षनिमित्तं मङ्गलनिमित्तमाचार्याः शास्त्रं कुर्वन्ति । 4 उमास्वामिपादैः
गृद्धपिच्छाचार्यापरनामधेयैः “आचार्यः कुन्दकुन्दाद्यो वक्रग्रीवो महामतिः । एलाचार्यो गृद्धपिच्छः पद्यनन्दी वितन्यते”
॥१॥ “तत्त्वार्थसूत्रकर्तृत्वात्प्रकटीकृतसम्मतः । उमास्वामिपादाचार्यो मिथ्यात्वतिमिरांशुमान् ॥२॥ (टिप्पण्यन्तरम्) ।
5 विनेयानाम् । 6 यतः (द्वन्द्वसमासः) । 7 अर्थविशेषप्रतिपत्त्यर्थं शास्त्रन्यायानुसारितया तथैवोपन्यासादिति पूर्वोक्त-
भाष्यांशविवरणमिदम् । एवं यथायोग्यं ज्ञातव्यम् । 8 कुर्वाणाः समन्तभद्राचार्याः । 9 जिनः, परमेष्ठी । 10 तत्त्वार्थ-
सूत्रकारैः । 11 मोक्षमार्गस्य नेता कर्मभूभृता भेत्ता विश्वतत्त्वानां ज्ञातेति विशेषणत्रयेणाहं स्तुतः सूत्रकृता भो
समन्तभद्राचार्या देवागमादिविभूत्या त्वं महानिति कुतोहं नाभिष्टुत इति पृष्ठा इव ।

देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः ।

मायाविष्वपि दृश्यन्ते ^१नातस्त्वमसि^२ नो^३महान् ॥१॥

देवागमादीनामादिशब्देन प्रत्येकमभिसम्बन्धनाद्देवागमादयो^४ नभोयानादयश्चामराद-
यश्च^६ विभूतयः परिगृह्यन्ते ताश्च भगवतीव मायाविष्वपि मस्करिप्रभृतिषु दृश्यन्ते इति
तद्वत्तया^७ भगवन्नोस्माकं परीक्षाप्रधानानां महान्न स्तुत्योसि । ^८आज्ञाप्रधाना ^९हि त्रिदशाग-
मादिकं परमेष्ठिनः परमात्मचिन्हं प्रतिपद्येरन् नास्मदादयस्तादृशो^{१०} मायाविष्वपि ^{११}भावा-
दित्यागमाश्रयो^{१२} स्तवः * । श्रेयोभार्गस्य प्रणेता भगवान् स्तुत्यो महान् देवागमनभोयान-
चामरादिविभूतिमत्वाद्यन्यथानुपपत्तेरिति हेतोरप्यागमाश्रयत्वात्^{१३} । तस्य च प्रतिवादिनः^{१४}
प्रमाणत्वेनासिद्धेः तदागमप्रामाण्यवादिनामपि विपक्षवृत्तितया गमकत्वायोगात्^{१५} । तदागमा-
देव हेतोर्विपक्षवृत्तित्वप्रसिद्धेः ।

कारिकार्थ—आप के जन्म कल्याणक आदिकों में देवों का आगमन, आप का आकाश मार्ग में
गमन एवं समवसरण में चामर छत्र आदि अनेक विभूतियों का होना आदि यह सब बाह्य वैभव
मायावी विद्याघर मस्करी आदिकों में भी पाया जा सकता है अतः हे भगवन् ! हम लोगों के लिए
आप महान् नहीं हैं, स्तुति करने योग्य नहीं हैं ॥१॥

इस कारिका के आदि पद को प्रत्येक पद के साथ लगाना चाहिए । इससे देव चक्रवर्ती
आदिकों का आगमन, आकाश में गमन, चतुर्मुख आदि, चामर, छत्र, पुष्पवृष्टि आदि विभूतियाँ ग्रहण
की जाती हैं—ये विभूतियाँ जिस प्रकार अर्हत भगवान् में देखी जाती हैं उसी प्रकार मायावी मस्करी,
पूरण आदिकों में भी पाई जा सकती हैं । इसलिए हे भगवन् ! हम जैसे परीक्षा-प्रधानी महापुरुषों के
लिए आप स्तुति करने योग्य नहीं हैं । हाँ ! जो आज्ञा प्रधानी हैं वे ही अर्हत भगवान् के देवागम,
नभोयान आदि वैभव को परमात्मा का चिह्न समझ कर नमस्कार करते हैं न कि हम जैसे परीक्षा-
प्रधानी जन, क्योंकि वैसा वैभव मायावी जनों में भी पाया जाता है । अतः इस प्रकार का स्तवन
आगम के आश्रित है ।*

यथा—“मोक्ष मार्ग के प्रणेता भगवान् स्तुति करने योग्य महान् हैं, क्योंकि देवागम नभोयान
चामरादि विभूतियों का अन्यथा होना सम्भव नहीं है ।”

१ इति हेतोः । अथवा देवागमादिविभूतितः । २ वर्द्धमानः । ३ अस्माकं परीक्षाप्रधानानां समन्तभद्रार्दीनाम् । ४
चक्रवर्त्यगमादि । ५ चतुरास्यत्वादि । ६ सुरपुष्पवृष्ट्यादि । ७ देवागमादिविभूतियुक्तितया (व्या० प्र०) । ८ परीक्षाप्रधा-
नानां स्तुत्यो नासीत्यादि भावयति । ९ आज्ञावशवर्तिनः नान्दशाभाषितमिति वर्दति शास्त्रविचारं न जानंतीति आज्ञा-
सम्बन्धवशवर्तिनः । १० देवागमादिचिह्नस्य । ११ इति हेतोः । १२ देवागमादिविभूतितत्त्वं महान्तित्ययम् ।
१३ महत्त्वाभावे (व्या० प्र०) । १४ मीमांसकस्य । १५ जैनागमसत्यवादिनां स्याद्वादिनामपि विपक्षेषु मस्करिप्रभृतिषु
प्रवर्तमानत्वाद्धेतोः साधकत्वासम्भवात् ।

[विभूतिमत्त्वहेतोर्निर्दोषत्व साधने युक्तिः]

परमार्थपथप्रस्थापियथोदितविभूतिमत्त्वस्य हेतोर्मायो¹ पर्दशिततद्विभूतिमद्भिर्मायाविभिर्न
व्यभिचारः² सत्यधूमवत्त्वादेः पावकादौ साध्ये स्वप्नोपलब्धधूमादिमता देशादिनानैकान्ति-
कत्वप्रसंगात् सर्वानुमानोच्छेदात्³ ।

[तटस्थजैनेन समाधानजनकं प्रत्युत्तरं कारिकाया द्वितीयोऽर्थश्च]

इति चेत् तर्हि मा भूदस्य⁴ हेतोर्व्यभिचारः पारमार्थिक्यः पुरन्दरभेरीनिनादादिकृत-
⁵प्रतिघातागोचरचारिण्यो यथोदितविभूतयस्तीर्थकरे भगवति त्वयि तादृश्यो मायाविष्वपि
नेत्य⁶तस्त्व⁷ महानस्माकमसीति⁸ व्याख्यानान्दग्रन्थविरोधाभावादिति⁹ कश्चित्¹⁰,

यह हेतु भी आगमाश्रित है इसलिए यह हेतु प्रतिवादी को प्रमाण रूप से मान्य नहीं है, क्योंकि वे लोग भी अपने आगम को प्रमाण मानते हैं। अतः विपक्ष में चले जाने से यह हेतु गमक (अपने साध्य को सिद्ध करने वाला) नहीं हो सकता है। उनके आगम में भी चले जाने से इस हेतु में विपक्षवृत्तित्व सिद्ध ही है।

[विभूतिमत्त्व हेतु को निर्दोष मानने में युक्ति]

अब कोई प्रश्न करता है कि वास्तविक आगम कथित विभूतिमान् जो हेतु है वह माया से उपदर्शित विभूति वाले मायावी जनों के साथ व्यभिचारी नहीं है, क्योंकि मायावी जनों में उस प्रकार की विभूतियाँ नहीं पाई जाती हैं, यदि ऐसा नहीं मानोगे तो सत्य भूमवत्त्वादिक हेतु से अग्नि आदि साध्य के सिद्ध करने में स्वप्न में उपलब्ध हुए धूमादिमान प्रदेशादिक से भी व्यभिचार मानना पड़ेगा और पुनः सभी अनुमानों का उच्छेद हो जायेगा।

[तटस्थ जैनी द्वारा समाधान जनक उत्तर एवं कारिका का द्वितीय अर्थ]

अब यहाँ कोई तटस्थ जैनी उत्तर देता है कि यदि ऐसी बात है तो इस "देवागमत्व हेतु को व्यभिचारी मत मानिये, किन्तु ऐसा अर्थ कर लीजिए कि देवादिकों के भेरी निनाद आदि के द्वारा होने वाली एवं विनाश को न प्राप्त होने वाली, ऐसी वास्तविक, यथोदित (शास्त्र में कही गई) विभूतियाँ जिस प्रकार की आप तीर्थकर भगवान् में है, उस प्रकार की मायावी जनों में नहीं हैं। अतएव आप हम लोगों के लिए महान् हैं—इस श्लोक का ऐसा अर्थ करने पर ग्रन्थ में भी विरोध नहीं आता है।

1 माययोपदर्शिताश्च तास्तद्विभूतयो देवागमादिविभूतयस्तास्सन्ति येषां मायाविनां ते मायोपदर्शिततद्विभूति-
मन्तस्तैः । 2 अत्राह कश्चित्स्वमतवर्ती 'हे समन्तभद्राचार्या ! मायाविभिः कृत्वास्य हेतोर्व्यभिचारो नास्ति तदेव
सत्यधूमवत्त्वादेरित्यादिना दर्शयति । 3 सर्वानुमानोच्छेदापत्तेः—इति पाठांतरम् (व्या० प्र०) । 4 देवागमादिमत्त्वस्य ।
5 विनाश । 6 मायाविषु तादृश्यो विभूतयो न दृश्यन्ते । 7 इति हेतोः । 8 देवागमादिश्लोकस्यैवं व्याख्यानानादित्यर्थः ।
9 व्यभिचाराभावे देवागमेत्यादिग्रन्थविरोध इत्यत आह ग्रन्थविरोधाभावात् । 10 तटस्थः स्वमतवर्ती पृच्छति ।

[पुनरप्याचार्यास्तर्कण हेतोर्व्यभिचारं साधयति]

सोपि कुतः प्रमाणात्प्रकृतहेतु¹ 2विपक्षासम्भविनं प्रतीयात्³? न तावत्प्रत्यक्षादनुमानाद्वा 4तस्य 5तदविषयत्वात् । नाप्यागमादसिद्ध⁶प्राणाप्यात्तत्प्रतिपत्तिरतिप्रसंगात् । 7प्रमाणतः⁸ सिद्धप्रामाण्यादागमात्तत्प्रतिपत्तौ ततः 9साध्यप्रतिपत्तिरेवास्तु 10परम्परापरिश्रमपरिहारश्चैव¹¹ प्रतिपत्तुः स्यात् । ततः¹² सूक्तं सर्वथा नातो हेतोस्त्वमसि नो महान्स्तस्यागमाश्रयत्वादिति ।

[पुनः आचार्य तर्क द्वारा हेतु को व्यभिचारी सिद्ध करते हैं]

इस पर श्री विद्यानन्दि स्वामी प्रश्न करते हैं कि आप किस प्रमाण से प्रकृत हेतु (देवागमनादि) को विपक्ष में असंभवी निश्चित करते हैं—प्रत्यक्ष से या अनुमान से ?

इन दोनों प्रमाणों से भी चामरादि विभूतिमत्व हेतु की सिद्धि नहीं हो सकती है और सिद्ध नहीं है प्रमाणता जिसकी, ऐसे आगम से भी यह हेतु विपक्ष-व्यावृत्ति रूप सिद्ध नहीं है । यदि आप कहें अनुमान प्रमाण से सिद्ध है प्रमाणता जिसकी, ऐसे आगम से इस हेतु को सिद्ध करेंगे तो इस आगम से महानपने रूप साध्य की ही सिद्धि हो जावे जिससे कि प्रतिपत्ता-ज्ञाता के परम्परा से होने वाले परिश्रम का परिहार हो जाता है । अर्थात् आगम से विभूतिमत्व हेतु की सिद्धि, पुनः इस हेतु से भगवान् के महानपने रूप साध्य की सिद्धि होती है । अतः इस परम्परा परिश्रम से कोई प्रयोजन नहीं है । किन्तु स्वयं आगम से ही साध्य की सिद्धि कर सकते हैं, इसलिए यह ठीक ही कहा है कि सर्वथा इस 'विभूतिमत्त्वादि' हेतु से आप हम लोगों के लिए महान् नहीं हैं क्योंकि यह हेतु आगमाश्रित है ।

भावार्थ—ग्रन्थकर्त्ता का कहना है कि विभूतिमत्व हेतु से हम भगवान् को महान समझकर नमस्कार नहीं करते है । इस पर कोई जैन ही कह देता है कि जैसी विशेष एवं सच्ची विभूतियाँ अर्हत् भगवान् में हैं वैसी अन्य मायावी जनों में हो ही नहीं सकती हैं । इस पर कोई दूसरा तटस्थ जन उत्तर देता है कि पुनः इस हेतु को व्यभिचारी मत मानिये एवं कारिका के अर्थ में 'न' शब्द को "मायाविष्वपि" के साथ लगाकर अर्थ कर लीजिये, जिससे भगवान् अर्हत् इन विभूतियों से ही महान्

1 देवागमादिहेतुम् । 2 मङ्करिष्वसम्भविनम् । 3 निश्चीयात् । 4 विभूतिमत्त्वादिहेतोः । 5 तयोः प्रत्यक्षानुमानयोरगोचरत्वात् प्रत्यक्षाच्चामरादिविभूतिर्न दृश्यते नाप्यनुमानेन हेतोरसिद्धेरिति प्रत्यक्षानुमानाभ्यां हेतुरयं गोचरो न । 6 असिद्धप्रमाणत्वादागमात्तस्य हेतोः परिज्ञानं चेत्तदातिप्रसङ्गः । 7 अयमागमो धर्मी प्रमाणं भवितुमर्हति पूर्वापरविरोधरहितत्वादित्यनुमानात् प्रमाणात् । 8 यदि प्रमाणादागमसिद्धिरागमात्साध्यसिद्धिर्हेतुना किं प्रयोजनम् (व्या० प्र०) । 9 महानिति । 10 अगमाद्धेतुप्रतिपत्तिस्ततः साध्यसिद्धिरिति परम्परापरिश्रमस्तस्यपरिहारः । 11 आगमात्साध्य प्रतिपत्तिप्रकारेण । 12 निर्विशेषे सति विशेषव्याख्यानद्वयस्यागमाश्रितत्वं यतः ।

तर्ह्यन्तरंगबहिरंगविग्रहादिमहोदयेनान्यजनाति शायिना¹ सत्येन² स्तोतव्योहं³ महानिति
भगवत्पर्यनुयोगे⁴ सतीव प्राहुः :-

अध्यात्मं बहिरप्येष विग्रहादिमहोदयः ।

दिव्यः सत्यो⁵ दिव्यौकस्स्वाप्यस्ति⁶ ⁷रागादिमत्सु सः ॥२॥

आत्मानमधिश्रित्य वर्त्तमानोऽध्यात्ममन्तरंगो विग्रहादिमहोदयः शश्वन्निःस्वेदत्वादिः

हैं अतः हम लोगों के लिये पूज्य हैं क्योंकि मायावीजनों में ये विभूतियां नहीं पाई जाती हैं, ऐसा अर्थ करके परस्पर में समाधान कर देने पर श्री विद्यानन्द स्वामी कहने लगे कि यह “विभूतिमत्त्व” हेतु अन्य के भी आगम में चला जाता है। अतः विपक्ष में चले जाने से यह व्यभिचारी है क्योंकि सभी मतावलंबी जन अपने-अपने आगम को प्रमाण मानते हैं। जो हेतु पक्ष, सपक्ष और विपक्ष तीनों में रहे वह हेतु व्यभिचारी कहलाता है जैसे कि “आकाश नित्य है क्योंकि वह ज्ञान का विषय है” अब यहाँ ज्ञान का विषय रूप “ज्ञेयत्व” हेतु व्यभिचारी है। क्योंकि यह घट पट आदि अनित्य पदार्थों में भी पाया जाता है। तथा “इस पर्वत पर अग्नि है क्योंकि धूमवाला है” यहाँ यह धूमवत्त्व हेतु पक्ष-रूप पर्वत पर है एवं सपक्ष रूप रसोईघर में भी है तथा विपक्षभूत तालाब में नहीं है अतः यह हेतु व्यभिचारी नहीं है। उपर्युक्त व्यभिचारी हेतु का दूसरा नाम अनैकांतिक भी है।

उत्थानिका—पुनः मानो साक्षात् भगवान् ही समन्तभद्र स्वामी से प्रश्न कर रहे हैं—कि हे समन्तभद्र ! बाह्य विभूति से तुमने हमें नमस्कार नहीं किया तो न सही, किन्तु अन्य मस्करी पूरण आदि जनों में नहीं पाये जाने वाले, ऐसे वास्तविक अन्तरंग, बहिरंग विग्रहादि महोदय हैं, उनके द्वारा तो मैं तुम्हारे स्तवन करने योग्य महान् अवश्य ही हूँ।

इस प्रकार के प्रश्न करने पर ही मानों समन्तभद्र स्वामी कहते हैं :—

कारिकार्थ—अंतरंग विग्रह आदि महोदय-निरन्तर पसीना रहितपना आदि एवं बहिरंग-गन्धोदक वृष्टि आदि महोदय जो कि दिव्य हैं, सत्य अर्थात् वास्तविक हैं। इस प्रकार अन्तरंग, बहिरंग शरीर आदि महोदय भी मस्करीपूरण आदि में न होते हुए भी रागद्वेष-युक्त देवों में पाये जाते हैं, इसलिए भी हे भगवन् ! आप महान् नहीं हैं ॥२॥

1 मष्करिपूरणाद्यन्यजनेभ्योतिशयवता । 2 परमार्थभूतेन । 3 अहं पक्षः महान् भवामीति साध्यो धर्मः अन्तरङ्ग-बहिरङ्गविग्रहादिमहोदयसद्भावान्यथानुपपत्तेः । 4 प्रश्ने । 5 अक्षीणकषायेषु देवेषु । 6 वर्त्तते यस्मात्तस्मात्त्वं महान् । अथवा किमस्तीति काकुः नास्तीत्यर्थः । अतस्त्वं महानस्माकमसीत्यभिप्रायो भगवतः । 7 आदिशब्दान्मोह-द्वेषमदाहङ्काराणां ग्रहणम् ।

परानपेक्षत्वात्^१ । ततो बहिर्गन्धोदकवृष्ट्यादिर्बहिरंगो देवोपनीतत्वात् । स च सत्यो माया-
विष्वसत्वात् । दिव्यश्च^२ भुजेन्द्राणामप्यभावात् । स एष बहिरन्तःशरीरादिमहोदयोपि^३
पूरणादिष्वसम्भवी व्यभिचारी स्वर्गिषु भावादक्षीणकषायेषु ।^४ततोपि न भवान् परमात्मेति
स्तुयते * ।

[अत्र कश्चित्तटस्थजैनः महोदयत्वहेतुं निर्दोषं साधयति]

अथ^५ यादृशो घातिक्रयजः स^६ भगवति न तादृशो देवेषु^७ येनानैकान्तिकः स्यात् ।^८दिव्यो-
कस्स्वप्यस्ति ? रागादिमत्सु स नैवास्तीति व्याख्यानादभिधीयते

[पुनरपि आचार्या हेतुं सदोष साधयति]

तथाप्यागमाश्रयत्वादहेतुः पूर्ववत्^९ । ननु प्रमाणसंप्लववादिनां^{१०} प्रमाणप्रसिद्धप्रामाण्या-

आत्मा का आश्रय लेकर जो होवे उसे अध्यात्म कहते हैं अर्थात् अन्तरंग शरीरादि महोदय
हमेशा मल-मूत्र, पसीना आदि से रहित अवस्था विशेष, जो कि पर मंत्रादि किसी की भी अपेक्षा नहीं
रखते हैं उससे भिन्न बाह्य-गन्धोदक, पुष्प वृष्टि आदि बहिरंग महोदय होते हैं जो कि देवों के द्वारा
किये जाते हैं । ये दोनों प्रकार के महोदय सत्य (वास्तविक) हैं, क्योंकि ये मायावी जनों में नहीं पाये
जाते हैं और दिव्य हैं क्योंकि चक्रवर्ती आदि महापुरुषों में भी इनका अभाव है । इस प्रकार ये
“बहिरंग, अंतरंग शरीरादिक महोदय” भी मस्करीपूरण आदि में असम्भव हैं, तो भी रागादिमान्—
कषाय सहित देवों में पाये जाते हैं अतः व्यभिचारी हैं, इसलिए इस हेतु के द्वारा भी आप परमात्मा
नहीं हैं अतः मेरे द्वारा स्तुत्य नहीं हैं ।

[यहाँ कोई तटस्थ जैनी “विग्रहादि महोदयत्वात्” हेतु को निर्दोष सिद्ध करता है]

अब कोई तटस्थ जैनी कहता है कि जिस प्रकार का घातिया कर्म के क्षय से होने वाला
अतिशय भगवान् में है, उस प्रकार का देवों में नहीं है जिससे कि यह विग्रह आदि महोदय हेतु
अनेकान्तिक होवे, अर्थात् यह हेतु व्यभिचारी नहीं है तथा यह विग्रहादि महोदय रागादिमान् देवों में
है ? अर्थात् नहीं है । इस प्रकार वक्रोक्ति रूप व्याख्यान के द्वारा अर्थ करने से आगम में भी बाधा
नहीं आती है ।

[पुनः आचार्य हेतु को सदोष सिद्ध करते हैं]

इस पर आचार्य श्री विद्यानन्दि स्वामी कहते हैं कि यह हेतु भी पूर्ववत् आगमाश्रय होने से
अहेतु है, क्योंकि यह हेतु विपक्ष में नहीं रहता है, यह कैसे जाना जाये । कोई कहता है कि आप जैनी

१ मन्त्राद्यनपेक्षत्वात् । २ चक्रवर्त्यादीनाम् । ३ अहं धर्मी महान् भवामि अंतरंगबहिरंगमहोदयसद्भावान्य
यानुपपत्तेः (व्या० प्र०) । ४ हेतोर्व्यभिचारित्वात् । ५ यदि । आह स्वमतवर्ती । ६ विग्रहादिमहोदयः । ७ न केनापि ।
८ किमस्तीति काकुः नास्तीत्यर्थः । ९ सोपि प्रकृतहेतुं विपक्षासम्भविनं कुतः प्रतीयादित्यादिसम्बन्धनीयम् ।
१० बहूनां प्रमाणानामेकस्मिन्नर्थे प्रवृत्तिः प्रमाणसम्प्लवः । जैनानाम् ।

दागमात्साध्यसिद्धावपि¹ तत्प्रसिद्धसाधनजनितानुमानात्पुनस्तत्प्रतिपत्तिरविरुद्धैवेति चेन्न, ²उप-
योगविशेषस्याभावे प्रमाणसंप्लवस्यानभ्युपगमात् । सति हि प्रतिपत्तुरूपयोगविशेषे ³देशादि-
विशेषसमवधानादागमात्प्रतिपन्नमपि⁴ हिरण्यरेतसं स पुनरनुमानात्प्रतिपित्सते । तत्प्रतिबद्ध-
धूमादिसाक्षात्करणत्प्रतिपत्तिविशेषघटनात् ⁵पुनस्तमेव प्रत्यक्षतो बुभुत्सते । ⁶तत्करणसम्बन्धा-
त्तद्विशेष⁷प्रतिभाससिद्धेः⁸ । न ⁹चैवमागममात्रगम्ये साध्ये साधने च ¹⁰तत्प्रतिपत्तिविशेषो-
स्तीति ¹¹किमकार¹²णमत्र¹³ प्रमाणसंप्लवोभ्युपगम्यते ¹⁴प्रत्यक्षनिश्चतेऽनौ धूमे च तदभ्युपगम-
प्रसंगात् । सर्वथा विशेषाभावात् । ततो देवागमनभोयानवामरादिविभूतिभिरिवान्तरंगबहिरंग-
विग्रहादिमहोदयेनापि न स्तोत्रं भगवान् परमात्माहति ।

तो प्रमाण सम्प्लववादी हैं, अतः प्रमाण से प्रसिद्ध है प्रमाणता जिसकी, ऐसे आगम से साध्य की सिद्धि, अर्थात् भगवान् का महत्व सिद्ध हो जाने पर भी आगम से प्रसिद्ध हेतु से उत्पन्न होने वाले अनुमान प्रमाण से पुनरपि साध्य की सिद्धि होने में कोई बाधा नहीं है । आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि उपयोग विशेष के अभाव में हमने प्रमाण सम्प्लव को स्वीकार नहीं किया है ।

जानने वाले ज्ञाता का उपयोग—प्रयोजन विशेष होने पर ही देश, कालादि विशेष से निर्णीत आगम से निश्चित जाने गये भी अग्नि को अनुमान विशेष से जानना चाहता है, एवं साध्य से सम्बद्ध धूमादि के साक्षात् करण से ज्ञान विशेष होता है, पुनः वह ज्ञाता उस साध्य अग्नि आदि को प्रत्यक्ष से जानना चाहता है, क्योंकि साध्य 'अग्नि' का चक्षु इन्द्रिय आदि के सम्बन्ध से उनका विशेष पीत वर्ण रूप भासुराकार प्रतिभास सिद्ध होता है । इस प्रकार प्रमाण संप्लव के द्वारा आगम मात्र गम्य साध्य और साधन में साध्य का परिज्ञान विशेष नहीं हो सकता है ।

अतः यहाँ पर व्यर्थ ही प्रमाण संप्लव को स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं है । यदि कारण के बिना भी प्रमाण-संप्लव स्वीकार करेंगे तो प्रत्यक्ष से निश्चित हुई अग्नि और धूम में भी प्रमाण-संप्लव मानने का प्रसंग आयेगा । सर्वथा यहाँ पर भी विशेष का अभाव है, इसलिए 'देवागम नभोयान चामरादि विभूतिमत्व' के समान अन्तरंग, बहिरंग विग्रहादि महोदय के द्वारा भी आप भगवान्—परमात्मा स्तवन करने योग्य नहीं हैं ।

भावार्थ—पुनरपि ग्रंथकर्त्ता "विग्रहादि महोदयत्व" हेतु से भी भगवान् को महान् मानने को तैयार नहीं है । इस पर भी कोई तटस्थ जैन कहता है कि घाति कर्म के क्षय से होने वाले जो दिव्य

1 महत्ता । 2 परिच्छित्ति । 3 कालस्वरूपम् । 4 निर्णयात् । 5 पुनः स प्रतिपत्ता तं हिरण्यरेतसं साक्षादोद्बु-
मिच्छति । कस्मात् ? अग्निनेत्रेन्द्रियसंयोगात्साध्यविशेषप्रतिभासः सिद्धयति यतः । 6 इन्द्रियेण । 7 पिङ्गभासुरा-
कार । 8 विशेषप्रतिभाससिद्धेरिति वा पाठः । 9 अग्निप्रकारेण । 10 प्रमाणसंप्लवेन तस्य साध्यस्य परिज्ञानविशेषो
नास्ति । 11 किमिति किमर्थम् । 12 कारणं विना । 13 साध्ये । 14 अनौ धूमे च प्रत्यक्षं निश्चिन्ते सति तस्य
प्रमाणसंप्लवस्याङ्गीकारप्रसङ्गो घटते ।

तर्हि तीर्थकृत्सम्प्रदायेन^१ स्तुत्योहं महानिति भगवदाक्षेपप्रवृत्ताविव^२ साक्षादाहुः—

तीर्थकृत्समयानां^३ च परस्परविरोधतः^४ ।

^६सर्वेषामाप्तता^६ नास्ति ^७कश्चिदेव भवेद्गुरुः ॥३॥

अतिशय हैं वे रागादिमान् देवों में असंभव हैं अतः कारिका के अर्थ में वक्रोक्ति के द्वारा अर्थ करके प्रश्न-वाचक कर देने से, मतलब ये विग्रहादि महोदय रागादिमान् देवों में हो सकते हैं क्या ? अर्थात् नहीं हो सकते हैं ऐसा अर्थ कर देने से आगम में भी बाधा नहीं आती है। इस समाधान पर भी श्री विद्यानन्द स्वामी कहते हैं कि यह हेतु आगमाश्रित होने से अनैकांतिक ही है। इस पर किसी का कहना है कि आप जैन प्रमाण संप्लव को मानते हैं अतः प्रमाण से प्रसिद्ध प्रमाणता वाले आगम प्रमाण से भगवान् का महत्व सिद्ध करो, पुनः प्रसिद्ध हेतु से उत्पन्न हुये अनुमान प्रमाण से भी भगवान् का महत्व सिद्ध करो, इस प्रकार से आप जैनों के यहाँ तो कोई भी बाधा नहीं है अर्थात् बहुत से प्रमाणों का एक ही साध्य को सिद्ध करने में प्रवृत्त हो जाना प्रमाण संप्लव कहलाता है। जैसे किसी पुस्तक में पढ़ा कि जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य होती है। पुनः सामने के पर्वत पर धूम को देखकर अनुमान से जाना कि यहाँ अग्नि अवश्य है, तदनंतर कदाचित् उसी पर्वत पर चढ़ गये अथवा रसोईघर में गये एवं अग्नि को प्रत्यक्ष चक्षुर्द्रिय से देखा। इस अग्निरूप साध्य को सिद्ध करने में आगम, अनुमान एवं प्रत्यक्ष ऐसे तीन प्रमाण प्रवृत्त हुये हैं। कोई-कोई इस विषय में आगे के प्रमाण को अपूर्वार्थ-ग्राही न होने से दोष मानते हैं किन्तु जैनाचार्य इसे दोष नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि प्रत्येक प्रमाण आगे-आगे कुछ विशेष-विशेष अंशों को ग्रहण करने वाले होने से अपूर्वार्थग्राही ही हैं इत्यादि। इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि हम प्रयोजन के बिना ही प्रमाण संप्लव को नहीं मानते हैं। जहाँ प्रयोजन विशेष होता है वहाँ पर मानते हैं, नहीं तो एक बार अग्नि को प्रत्यक्ष से देखकर भी उसका अनुमान लगाते बैठेंगे।

उत्थानिका—तब तो देवों में भी असंभवी ऐसे आगम रूप तीर्थकृत् सम्प्रदाय के द्वारा तो मैं अवश्य ही स्तुति करने योग्य महान् हूँ, इस प्रकार मानों भगवान् के साक्षात् प्रश्न करने पर ही श्री समन्तभद्र स्वामी प्रत्युत्तर देते हुए के समान ही कहते हैं :—

कारिकार्थ—परमागम लक्षण तीर्थ को करने वाले तीर्थकृत् कहलाते हैं। उनके समय अर्थात्

१ दिवोकस्त्वप्यसम्भविता आगमेन । २ प्रश्नप्रवृत्तौ सत्याम् । ३ तीर्थ परमागमलक्षणं कुर्वन्ति ये ते तीर्थकृतौ जैनव्यतिरिक्तवादिनः कपिलादयस्तेषां समया आगमास्तेषाम् । ४ स्वकीयस्वकीयभिन्नाभिप्रायेण । ५ मीमांसिक, सांख्य, सौगत, नैयायिक, चार्वाक, तत्त्वोपप्लवनादि, योग, ब्रह्माद्वैतवादि, पुरुषाद्वैतवादि, चित्राद्वैतवादी, शब्दाद्वैतवादि, ज्ञानाद्वैतवादिप्रमुखाणां वादिनामेकान्तमताश्रयिणाम् । ६ यथाभूतार्थोपदेष्टृत्वम् । ७ परमतापेक्षया कावका व्याख्यानं, कश्चित्किं गुरुर्भवेदपितु न कश्चिद्गुरुर्भवेदिति । जैनमतापेक्षायामर्थो ग्राह्योऽस्याः कारिकायाः, कः परमात्मा चिदेवाहं केवल्येवाप्तो भवेन्नान्यः । भवं यन्ति ये ते भवेतः संसारिणस्तेषां गुरुर्भवेद्गुरुरित्येकपदं ज्ञेयम् । चार्वाकमते बृहस्पते-ग्रहणं ज्ञेयम् ।

इति भगवतो महत्त्वे साध्वे तीर्थकरत्वं साधनं कुतः प्रमाणात् सिद्धम् ? न तावदध्यक्षात्तस्य 'तदविषयत्वात्साध्यवत् । नाप्यनुमानात्तदविनाभाविलिगाभावात् । ^३समयात्सिद्धमिति चेत् पूर्ववदागमाश्रयत्वादगमकत्वमस्य व्यभिचारश्च । न^४ हि तीर्थकरत्वमाप्ततां साधयति, शक्रादिष्वसम्भवि सुगतादौ दर्शनात् * । यथैव^५ हि भगवति तीर्थकरत्वसमयोस्ति तथा सुगतादिष्वपि । सुगतस्तीर्थकरः, कपिलस्तीर्थकर इत्यादिसमयाः ^६सन्तीति सर्वे महान्तः स्तुत्याः स्युः । न च सर्वे सर्वदर्शिनः परस्परविरुद्धसमयाभिधायिनः * । ^७तदुक्तम् ।

सुगतो यदि सर्वज्ञो कपिलो नेति का प्रमा । तावुभौ यदि सर्वज्ञौ मतभेदः^८ कथं तयोः ॥

आगमों में परस्पर में भिन्न-भिन्न अभिप्राय होने से विरोध पाया जाता है, अतः सभी को आप्तपना (सर्वज्ञपना) नहीं है, अर्थात् मीमांसक सांख्य, सौगत, नैयायिक, चार्वाक, तत्वोपप्लववादी, योग, ब्रह्माद्वैतवादी, ज्ञानाद्वैतवादी आदि अनेक एकान्तमतावलम्बी वादियों में सभी के ही सर्वज्ञता नहीं हो सकती है, इसलिए कोई एक गुरु-परमात्मा अवश्य है ॥३॥

इस प्रकार भगवान् में "महानपना" साध्य करने में तीर्थकरत्व हेतु भी किस प्रमाण से सिद्ध है ?

यह हेतु प्रत्यक्ष से तो सिद्ध नहीं है, क्योंकि साध्य के समान यह हेतु भी प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, न अनुमान से सिद्ध है क्योंकि साध्य जो महान् है उसके साथ अविनाभावी लिग नहीं पाया जाता है । यदि आप कहें—आगम से सिद्ध है, तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि पूर्ववत् आगमाश्रय होने से यह हेतु अगमक है—साध्य को सिद्ध करने वाला नहीं है । और विपक्ष में जाने से व्याभिचारी भी है ।

देखिये—यह 'तीर्थकरत्व' हेतु आप्तपने को सिद्ध नहीं कर सकता है । यद्यपि यह तीर्थकरत्व हेतु देवादिकों में असंभवी है फिर भी बुद्ध आदिकों में पाया जाता है । * क्योंकि जिस प्रकार भगवान्—तीर्थकर का आगम मौजूद है उसी प्रकार सुगत आदि में भी अपने-अपने तीर्थ को करने वाला आगम पाया जाता है । सुगत भी तीर्थकर हैं, कपिल भी तीर्थकर हैं, इस प्रकार आगम मौजूद है । अतः सभी ही महान् एवं स्तुति के योग्य हो जावेंगे ।

किन्तु वे सभी सर्वदर्शी सर्वज्ञ नहीं हैं, क्योंकि परस्पर में विरुद्ध आगम का कथन करने वाले हैं ।*

जैसा कि कुमारिल भट्ट ने कहा—

श्लोकार्थ—बुद्ध यदि सर्वज्ञ है और कपिल (सांख्य का गुरु) नहीं है इसमें क्या प्रमाण है

१ प्रत्यक्षागोचरत्वात् । २ भगवान् धर्मी महान् भवतीति साध्यस्तीर्थकरत्वान्यथानुपपत्तेरिति हेतुः । यो महात्त भवति स तीर्थकरो न भवति यथा रथवापुरुषः तीर्थकरश्चासौ तस्माद् महान् भवतीति । ३ आगमात् । ४ व्यभिचारमेव भावयति । ५ एतन्नास्तीत्युक्ते आह । ६ आशङ्क्य । ७ कुमारिलेन । ८ सर्वथा क्षणिकं, सर्वथा नित्यमित्यादि ।

इति । ततोऽनैकान्तिको हेतुः * तीर्थकरत्वाख्यो न कस्यचिन्महत्त्वं साधयतीति कश्चिदेव गुरुर्महान् भवेत् ? नैव भवेदित्यायातम्^२ । अत एव न कश्चित्पुरुषः सर्वज्ञः * स्तुत्यः श्रेयोर्थिनां श्रुतेरेव^४ श्रेयःसाधनोपदेशप्रसिद्धेरित्यपरः^५ । तं प्रत्यधीयमेव कारिका योज्या । तीर्थं कृन्तन्तीति तीर्थकृतो मीमांसकाः^६ सर्वज्ञागमनिराकरणवादित्वात् । तेषां^७ समयास्तीर्थकृतसमयास्तीर्थच्छेदसम्प्रदाया भावनादि^८ वाक्यार्थप्रवादा इत्यर्थः । तेषां च परस्परविरोधादाप्तता संवादकता^९ ^{१०} नास्तीति कश्चिदेव सम्प्रदायो भवेद्गुरुः । संवादको नैव भवेदिति व्याख्यानात् । तदेवं वक्तव्यम् ।

और यदि दोनों सर्वज्ञ हैं तो उन दोनों में मतभेद क्यों पाया जाता है, क्योंकि बुद्ध तो सर्वथा वस्तु को क्षणिक ही मानते हैं और सांख्य सर्वथा सभी वस्तु को नित्य ही मानते हैं ।

इसलिए यह 'तीर्थकरत्व' हेतु अनैकान्तिक है,* यह किसी भी पुरुष को "महान्" सिद्ध नहीं कर सकता है । अतः कोई गुरु-महान् हो सकता है क्या ? अर्थात् नहीं हो सकता है ।

अब मीमांसक कहते हैं कि इसीलिए मोक्षाभिलाषी के द्वारा कोई भी पुरुष विशेष सर्वज्ञ स्तुति योग्य नहीं है ।* श्रुति अर्थात् अपौरुषेय वेद के द्वारा ही मोक्ष के साधन भूत उपदेश की प्रसिद्धि है ।

ऐसा कहने वाले उन मीमांसकों के प्रति भी इस कारिका का अर्थ इस प्रकार करना चाहिए—

"तीर्थं कृन्तन्तीति तीर्थकृतो मीमांसकाः" अर्थात् मीमांसकजन तीर्थ का नाश करने वाले तीर्थकृत् हैं क्योंकि वे सर्वज्ञ के द्वारा प्रतिपादित आगम का निराकरण करने वाले हैं । उनके आगम (उपदेश) तीर्थकृत् आगम हैं, अर्थात् तीर्थ के नाशक सम्प्रदाय वाले हैं—भावना, विधि, और नियोग रूप वेद वाक्यों के प्रतिपादक अर्थ करने वाले हैं । अर्थात् वेदवाक्यों का अर्थ कोई तो भावना रूप करते हैं, कोई उससे विरुद्ध विधिरूप करते हैं, एवं कोई उससे विरुद्ध नियोगरूप करते हैं । इसलिए उनमें परस्पर में विरोध होने से आप्तपना-संवादकपना सम्भव नहीं है । अतः कोई भी सम्प्रदाय गुरु-संवादक नहीं है, ऐसा व्याख्यान समझना चाहिए ।

भावार्थ—पुनरपि श्री समंतभद्र स्वामी भगवान् को तीर्थकृत्त्व हेतु से भी महान् सिद्ध नहीं कर रहे हैं । इस पर मीमांसक, चार्वाक और शून्यवादी को बोलने का मौका मिल जाता है । वे कहते हैं कि कारिका के "कश्चिदेव भवेद्गुरुः" इस अंतिम चरण का वक्रोक्ति के द्वारा प्रश्न वाचक अर्थ कर दीजिये कि सभी आगमों में परस्पर में विरोध पाया जाता है अतः "क्या कोई गुरु भगवान् हो सकता है ?" अर्थात् नहीं हो सकता है । बस ! ऐसा अर्थ कर देने पर हम मीमांसकों का मत पुष्ट हो

1 पुंसः । 2 यत एव ततस्तीर्थकरत्वनामा हेतुर्व्यभिचारी सन् कस्यचित् सुगतादेर्महत्त्वं न साधयति । 3 सर्वेषां तीर्थकरत्वप्रतिपादकत्वमस्ति यतः । 4 श्रेयोर्थिनां कथं श्रेय इत्युक्ते आह 'वेदात्' । 5 मीमांसकः । 6 सर्वज्ञप्रतिपादक । 7 उपदेशाः । 8 आदिशब्देन विधिनियोगौ । 9 संवादकताप्रेरणालक्षणभावनाज्ञानम् । 10 संवादकता नास्ति यतः । 11 भावनारूपे ।

भावना^१ यदि वाक्यार्थो नियोगो^२ नेति का प्रमा^३ । तावुभौ यदि वाक्यार्थो हतौ भट्टप्रभाकरौ ॥१॥इति
^४कार्ये चोदनाज्ञानं स्वरूपे किन्त तत्प्रमा । ^५द्वयोश्चेद्धन्त तौ नष्टौ भट्टवेदान्तवादिनौ ॥२॥इति

जाता है कि जगत में कहीं पर भी कोई सर्वज्ञ भगवान् है ही नहीं । हमारे द्वारा अपौरुषेय वेद से ही धर्म अधर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान सिद्ध हो जाता है । अतः किसी पुरुष को सर्वज्ञ मानने की आवश्यकता ही नहीं है । इस पर जैनाचार्यों ने इस अन्तिमचरण का प्रथम तो यह अर्थ किया है कि कोई एक ही गुरु हो सकता है पुनः उसी से यह अर्थ भी कर दिया है कि कः—परमात्मा, चित्-अर्हत भगवान्, एव—ही भवेत्, भव-संसार का जो इत्-प्राप्त हैं वे भवेत् हैं उन संसारी जीवों के गुरु-भगवान् महान् केवली आप्त ही हो सकते हैं, अन्य कोई भी नहीं हो सकते हैं ।

श्लोकार्थ—यदि वेदवाक्य का अर्थ भावना है नियोग नहीं है इसमें क्या प्रमाण है ? यदि वे दोनों ही वाक्य के अर्थ हैं तो भट्ट और प्रभाकर दोनों ही नष्ट हो जाते हैं ॥१॥ नियोगरूप कार्य के अर्थ में वेद का ज्ञान प्रमाण है तो स्वरूप-विधि में वह प्रमाण क्यों नहीं है ? यदि कार्य और स्वरूप दोनों में ही वह वेदवाक्य प्रमाण होवे तब तो खेद है कि भट्ट और वेदांतवादी दोनों ही नष्ट हो गये ॥२॥

विशेषार्थ—जैनाचार्य अपौरुषेय वेद में भी परस्पर विरोध को दिखलाते हुये दूषण देते हैं । “अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्ग कामः” इत्यदि वाक्यों में जो “यजेत” पद विधि लिङ् है, अद्वैतवादी लोग इसका अर्थ विधिरूप एक अद्वितीय परमब्रह्म ही करते हैं, नियोगवादी प्रभाकर इसी का अर्थ “मैं इस वाक्य से यज्ञ कार्य में नियुक्त हुआ हूँ” ऐसा नियोग रूप करते हैं तथा भावनावादी भट्ट इसी वेद का अर्थ भावना रूप करते हैं । “यः सर्वज्ञः स सर्ववित्” इन वेद वाक्यों से नैयायिक लोग ईश्वर का सर्वज्ञत्व अर्थ निकालते हैं एवं इसी वाक्य से मीमांसक लोग कर्मकांड की स्तुति करने वाला अर्थवाद वाक्य मानते हैं और चार्वाक “अन्नाद्वै पुरुषः” आदि श्रुतियों से अपना मत पुष्ट करते हुये कहते हैं कि अन्नादि भूत चतुष्टय से ही आत्मा का निर्माण होता है । कामधेनु के समान इन वेदवाक्यों से भिन्न-भिन्न मतावलम्बी जन भिन्न-भिन्न ही अर्थ की कल्पना करके अपना-अपना मत पुष्ट कर रहे हैं । इस प्रकार सभी के मतों में परस्पर में एक दूसरे से विरोध आता है । मीमांसक तो सर्वज्ञ को मानते ही नहीं हैं । ये वेदवाक्य स्वयं तो कहते नहीं हैं कि मेरा यह अर्थ प्रमाण है एवं यह अर्थ अप्रमाण है । तथा उस वेद के व्याख्याता पुरुष भी रागी द्वेषी ही मिलेंगे । इसलिये “ये ही अर्थप्रमाण हैं” ऐसी अंध परम्परा से अर्थ का निर्णय होना नहीं बनेगा । एक अंध ने दूसरे अंध का एवं दूसरे ने तीसरे का इत्यादि रूप से संकड़ों अंध हाथ पकड़कर पंक्ति से खड़े हो जावें तो क्या सबको दीखने लगेगा ? अर्थात् नहीं दीखेगा और न वे अंधे अभीष्ट स्थान को ही प्राप्त कर सकेंगे और यदि उन अंधों की पंक्ति में आगे एक चक्षुष्मान् व्यक्ति जुड़ जावेगा तो कदाचित् सभी को

१ किं केन कथमित्यंशत्रयवती भावना-भाव्यकरण कर्तव्यता रूपमंशत्रयं (व्या० प्र०) । २ नियुक्तोहमित्याकृतं यस्माद्भवति स एव नियोग इत्यर्थः । ३ सर्वं वै खल्विदं ब्रह्मेत्यादिविधिस्वरूपप्रतिपादने वेदवाक्यं कथं न प्रमाणम् ।

४ भावनारूपे यागे (व्या० प्र०) । ५ कार्यस्वरूपयोः ।

अभीष्ट स्थान तक पहुँचा भी सकता है। तथैव यदि आप मीमांसक इस अनादि निधन वेद का व्याख्याता सर्वज्ञ को मान लें तो सभी अल्पज्ञों—असर्वज्ञों को भी सच्चा अर्थ बोध हो सकता है हम जैनों ने भी द्रव्यार्थिक नय से श्रुत को अनादि निधन माना है एवं पर्यायार्थिक नय से ही सादि सान्त भी माना है। किन्तु सर्वज्ञ को मानने से हमारे यहाँ अर्थकर्ता तो सर्वज्ञ ही हैं किन्तु ग्रन्थकर्ता चार ज्ञानधारी गणधर हैं। उन्हीं की परम्परा से अविच्छिन्न परम्परा तक ग्रन्थ प्रमाण माने जाते हैं। इसका श्लोकवार्तिक में अच्छा स्पष्टीकरण है।

यहाँ पर तो अपौरुषेय वेद में प्रभाकर, भाट्ट एवं अद्वैतवादी इन तीनों ने ही नियोग भावना और विधिरूप से वेदवाक्यों का अर्थ किया है तथा जैनाचार्यों ने एक दूसरे के द्वारा ही उनका खंडन करा दिया है।

आप्त परीक्षण का सारांश

मोक्षशास्त्र की आदि में मोक्ष के लिये कारणभूत एवं मंगल के लिये कारणभूत श्री उमास्वामी आचार्य द्वारा जो अतिशय गुण सहित भगवान् आप्त हैं उनकी स्तुति करने के इच्छुक श्री समंतभद्र स्वामी भगवान् से प्रश्न-उत्तर करते हुये के समान ही कहते हैं कि—

हे भगवन् ! आपके जन्मकल्याणकादिकों में देव चक्रवर्ती आदि का आगमन, आकाश में गमन, छत्र, चामर, पुष्पवृष्टि आदि विभूतियाँ देखी जाती हैं किन्तु ये विभूतियाँ तो मायावी आदिकों में भी हो सकती हैं अतएव आप हमारे लिये महान्-पूज्य नहीं हैं। अर्थात्—“श्रेयोमार्ग प्रणेता भगवान् स्तुत्यो महान् देवागमनभोयान-चामरादि-विभूतिमत्वाद्यन्यथानुपपत्तेः” इसमें ‘देवागमनभोयान चामरादि विभूतिमान् की अन्यथानुपपत्ति होने से’ यह हेतु आगमाश्रय होने से असिद्ध है क्योंकि सभी लोग अपने-अपने आगम को प्रमाण मानते हैं। यदि कोई तटस्थ जैनी यों कहे कि वास्तविक आगम कथित विभूतिमान् हेतु मायावीजनों में सम्भव नहीं है क्योंकि साधारण में असम्भवी असाधारण विभूतियाँ तीर्थंकर भगवान की हैं इसलिये इस श्लोक का अर्थ ऐसा करना चाहिये कि “देवागम आदि विभूतियाँ जो आप में हैं सो मायावीजनों में नहीं देखी जाती हैं अतएव आप हमारे लिये महान् हैं इस पर श्री विद्यानन्द स्वामी कहते हैं कि इस “विभूतिमत्वात्” हेतु को विपक्ष से असम्भवी आप किस प्रमाण से निश्चित करते हैं, प्रत्यक्ष प्रमाण से या अनुमान प्रमाण से ? इन दोनों से तो आप सिद्ध नहीं कर सकते। यदि आगम प्रमाण से सिद्ध करें तब तो हमने पहले कहा ही है कि यह हेतु आगमाश्रय होने से असिद्ध है।

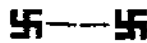
इस पर भगवान् मानो पुनः प्रश्न करते हैं कि हे समंतभद्र ! बाह्य विभूति से तुमने हमें नमस्कार नहीं किया तो न सही किन्तु अन्य मस्करी आदि में असम्भवी ऐसे अंतरंग में पसीना आदि से रहितपना एवं बहिरंग गंधोदक की वृष्टि आदि महोदय हैं जो कि दिव्य हैं, सत्य हैं वे मुझमें हैं अतः आप स्तुति करिये । इस पर स्वामी समंतभद्राचार्य कहते हैं कि ये महोदय भी रागादिमान् देवों में पाये जाते हैं अतः इनसे भी आप महान् नहीं हैं ।

इस पर कोई तटस्थ जैनी कहता है कि जैसा घाति कर्म के क्षय से होने वाला अतिशय भगवान् में है वैसा देवों में नहीं है । अतः “विग्रहादि महोदयत्वात्” हेतु व्यभिचारी नहीं है इसलिये कारिका का अर्थ ऐसा करना कि ये विग्रहादि महोदय रागादिमान् देवों में हैं ? अर्थात् नहीं है इस प्रकार वक्रोक्ति द्वारा अर्थ करने से आगम में बाधा नहीं आती है । इस पर श्री विद्यानन्द स्वामी कहते हैं कि पूर्ववत् ही यह हेतु आगमाश्रय होने से अहेतु है । अतः पूर्ववत् आप विग्रहादि महोदय के द्वारा भी हमारे लिये महान् पूज्य नहीं हो सकते हैं ।

तब तो देवों में भी असम्भवी ऐसे आगमरूप तीर्थकृत् सम्प्रदाय महोदय के द्वारा तो मैं अवश्य स्तुति करने योग्य हूँ इस प्रकार से मानो भगवान् के द्वारा साक्षात् प्रश्न करने पर ही श्री समंतभद्र स्वामी प्रत्युत्तर देते हुये के समान कहते हैं कि हे भगवन् ! आगमरूप तीर्थ को करने वाले तीर्थकरों में परस्पर में भिन्न-भिन्न अभिप्राय होने से विरोध पाया जाता है अतः सभी तो आप्त हो नहीं सकते अर्थात् मीमांसक, सांख्य, सौगत, नैयायिक, चार्वाक, तत्वोपप्लववादी, योग, ब्रह्माद्वैतवादी, चित्राद्वैतवादी, शब्दाद्वैतवादी, विज्ञानाद्वैतवादी आदि अनेक एकान्त भतावलम्बियों में सभी के सर्वज्ञता सिद्ध नहीं हो सकती है इसलिये कोई एक ही गुरु परमात्मा हो सकता है ।

यहाँ भी तीर्थकृत्व हेतु देवों में असंभवी होते हुये भी बुद्धादिकों में पाया जाता है, क्योंकि सभी अपने-अपने बुद्ध, कपिल आदि को तीर्थकृत् मानते हैं किन्तु सभी सर्वदर्शी नहीं हो सकते हैं । कुमारिलभट्ट ने कहा है कि “यदि बुद्ध भगवान् सर्वज्ञ हैं सांख्य के गुरु कपिल सर्वज्ञ नहीं हैं इसमें क्या प्रमाण है और यदि दोनों ही सर्वज्ञ हैं तो उनमें मतभेद क्यों पाया जाता है?” इस पर मीमांसक कहता है कि—

कोई विशेष पुरुष सर्वज्ञ स्तुति करने योग्य नहीं है अतः अपौरुषेय वेद के द्वारा ही मोक्ष के साधनभूत उपदेश की एवं अतीन्द्रिय पदार्थ की सिद्धि हो जाती है । उनके प्रति आचार्य उत्तर देते हैं कि “तीर्थ कृततीति तीर्थकृत् मीमांसकः” तीर्थ का नाश करने वाले आप मीमांसक हैं क्योंकि आपके आगम तीर्थ के नाशक हैं एवं आपके वेदवाक्यों का अर्थ कोई तो भावना करते हैं कोई उससे विरुद्ध विधिरूप एवं कोई नियोगरूप करते हैं इसलिये इनमें परस्पर विरोध होने से आप्तत्वा नहीं है ।



विशेष सूचना

यद्यपि आगे नियोगवाद, विधिवाद एवं भावनावाद ये तीनों प्रकरण क्लिष्ट एवं नीरस हैं ये प्रकरण वेद से संबंधित हैं एवं इनमें व्याकरण का संबंध भी अधिक है तथापि भावार्थ और विशेषार्थ द्वारा उसे सरल एवं सरस बनाने का प्रयत्न किया गया है, फिर भी स्वाध्याय प्रेमी जनों को इन विषयों में रुचि न हो तो आगे चार्वाक, शून्यवादी के प्रकरण से स्वाध्याय करें। अनन्तर ये तीनों प्रकरण भी सरल मालूम पड़ेंगे। किन्तु इनके समान सारे ग्रंथ को ही कठिन समझकर स्वाध्याय न छोड़ें क्योंकि आगे-आगे इस ग्रंथ में प्रकरण सरल, सरस एवं अतीव रुचिपूर्ण हैं। स्थान-स्थान पर पाठकों को स्वयं ही अनुभव आता रहेगा।

卐—卐

[अत्र भाट्टो नियोगवादनिराकरणार्थं तस्य पूर्वपक्षं स्पष्टयति]

ननु च^१ भावनावाक्यार्थं इति सम्प्रदायः श्रेयान् नियोगो न, नियोगे बाधकसद्भावात् । नियुक्तो-
हमनेनाग्निष्टोमादिवाक्येनेति निरवशेषो योगो हि नियोगस्तत्र मनागप्ययोगस्य^२ सम्भवा-
भावात् स चानेकविधः^३ प्रवक्तृमतभेदात् ।

[एकादशघा नियोगस्य क्रमशः वर्णनम् ।]

(१) ^४केषाञ्चित्लिङादि^५प्रत्ययार्थः^६ ^७शुद्धोन्यनिरपेक्षः^८ ^९कार्यरूपो नियोगः ।

[यहाँ पर भावनावादी भाट्ट प्रभाकर द्वारा मान्य नियोगवाद के खंडन हेतु पहले उसका पूर्वपक्ष रखते हैं ।]

भाट्ट—वेदवाक्यों का अर्थ भावना ही है नियोग नहीं है, और यही सम्प्रदाय श्रेयस्कर है क्योंकि यदि आप वेदवाक्य का अर्थ नियोग करेंगे तब तो नियोग में बाधा का सद्भाव देखा जाता है । “इस अग्निष्टोमादि वाक्य से मैं नियुक्त हुआ हूँ” इस प्रकार निरवशेष योग को नियोग कहते हैं क्योंकि वहाँ पर किंचित् भी अयोग (अप्रेरकत्व असंघटमान चिद्भावना रूप) कार्य संभव नहीं है और वह नियोग अनेक प्रकार का है क्योंकि नियोग के कथन करने वाले प्रवक्ता लोग भिन्न-भिन्न अभिप्राय को लिए हुये हैं ।

भावार्थ—“अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः” मैं इस वाक्य से नियुक्त हो गया हूँ इस प्रकार “नि” निरवशेष तथा “योग” अर्थात् मन, वचन, काय और आत्मा की एकाग्रता होकर प्रवृत्ति हो जाना नियोग है । नियुक्त किये गये व्यक्ति का अपने नियोज्य कार्य में परिपूर्ण योग लग रहा है जैसे कि स्वामिभक्त सेवक या गुरु-भक्त शिष्य को स्वामी या गुरु विवक्षित कार्य करने की आज्ञा दे देते हैं कि तुम जबपुर से पुखराज रत्न लेते आना, अथवा तुम अष्टसहस्री पढ़ो तो सेवक एवं शिष्य उन कार्यों में परिपूर्ण रूप से नियुक्त हो जाते हैं । कार्य होने तक उनको उठते, बैठते, सोते, जागते शांति नहीं मिलती है सदा उसी कार्य में परिपूर्ण योग लगा रहता है । इसी प्रकार प्रभाकर लोग “यजेत” इत्यादि वाक्यों को सुनकर नियोग से आक्रांत हो जाते हैं । जन्मोत्सव, विवाह, प्रतिष्ठा आदि के

१ अत्राह भावनावादी भाट्टः । २ अग्निष्टोमं स्वर्गकामो यजेतानेन वादिनो मते लिङ्लोत्तव्यप्रत्ययस्वरूपः । ३ अप्रेरकत्वस्य, असंघटमानस्य, चिद्भावनारूपस्य कार्यस्य । ४ अभिप्राय । ५ अनेन लिङ्लोत्तव्यप्रत्ययार्थः सूच्यते न तु लडादिप्रत्ययार्थः । ६ “जातिर्भ्यंक्तिश्च लिङ्गं च प्रकृत्यर्थोभिधीयते । संख्या च कारकं चेति प्रत्ययार्थः प्रतीयते” ७ पूर्वकारिकायां वाक्यार्थ एव नियोगः प्रतिपादितः इदानीं प्रत्ययार्थः प्रतिपाद्यते । तर्हि विरोधमिति नाशकनीयं, गुण-मुक्त्यभावात् नियोगस्तावत्प्रत्ययेन विहितः तस्मात्तदर्थमुक्त्यत्वं प्रत्ययार्थरूपस्येति सूत्रेण नियोगार्थं लिङ्गादिप्रत्यया भवन्ति (व्या० प्र०) । ८ अग्निहोत्रादिविशेषणरहितः । ९ धात्वर्थनिरपेक्षः । १० अवश्यं करणीयः ।

१प्रत्ययार्थो नियोगश्च यतः शुद्धः प्रतीयते । २कार्यरूपश्च तेनात्र^३ शुद्धं कार्यमसौ मतः ॥१॥
विशेषणं तु यत्तस्य^४ किञ्चिदन्यत्^५ प्रतीयते । ६प्रत्ययार्थो न तद्युक्तं धात्वर्थः स्वर्गकामवत् ॥२॥
प्रेरकत्वं तु^७ यत्तस्य^८ ९विशेषणमिहेष्यते । तस्याप्रत्ययवाच्यत्वाच्छुद्धे^{१०} कार्ये नियोगता ॥३॥

[प्रमाणवातिकालंकार पृ० २६]

इति वचनात् ।

(२) ^{११}परेषां शुद्धा^{१२} प्रेरणा^{१३} नियोग इत्याशयः^{१४} ।

अवसर पर पुरोहित, नाई आदि नियोगी पुरुष अपने कर्तव्य को पूरा करते हैं, तभी तो उनके नेग (नियोग) का परितोष दिया जाता है। वह नियोग अनेक प्रकार का है। मीमांसकों के प्रभाकर, भट्ट और मुरारि ये तीन भेद हैं, प्रभाकरों की भी अनेक शाखायें हैं ये प्रभाकर लोग “यजेत” इस विधि-लिङ् प्रत्यय, “यजताम्” इस लोट् प्रत्यय, एवं “यष्टव्यं” इस तव्य प्रत्यय का अर्थ नियोग रूप से करते हैं।

[एकादश प्रकार के नियोग का क्रम से वर्णन]

(१) कोई-कोई कहते हैं कि जो लिङ्, लोट् और तव्य प्रत्यय का अर्थ है, शुद्ध है, अन्य निरपेक्ष है एवं कार्यरूप है, वही नियोग है। अर्थात् पहले वेदवाक्य के अर्थ को नियोग कहा था इस समय प्रत्यय के अर्थ को नियोग कहते हैं इस तरह से तो परस्पर में विरोध आता है, ऐसी शंका नहीं करना चाहिये क्योंकि गौण मुख्य कथन है। प्रत्यय के द्वारा नियोग का कथन होता है। कहा भी है—

श्लोकार्थ—“जो प्रत्यय का अर्थ शुद्ध अग्निहोत्रादि विशेषण से रहित प्रतीति में आता है उसे नियोग कहते हैं और वह कार्यरूप ही है, इसलिये इस वेदवाक्य का अर्थ शुद्ध कार्यरूप है” ॥१॥

श्लोकार्थ—एवं जो उस कार्यरूप नियोग का अग्निहोत्रादि कुछ अन्य विशेषण प्रतीति में आता है वह प्रत्यय का अर्थ नहीं है किन्तु वह धातु का अर्थ है, जैसे स्वर्गकामः ॥२॥

श्लोकार्थ—जो उस कार्यरूप नियोग कार्य की निष्पत्ति के लिये प्रेरकत्व—प्रवर्तकत्व विशेषण है, वह प्रत्ययों से वाच्य अर्थ नहीं है क्योंकि शुद्धकार्य में ही नियोगता होती है ऐसा कहा गया है।

१ कुत एतदित्याशङ्क्य पुरातनं श्लोकत्रयमाह । २ एव । ३ वेदवाक्ये । ४ कार्यरूपस्य नियोगस्य । ५ अग्निहोत्रा-
दिकम् । ६ यजनमात्रः । ७ कार्यस्य स्वनिष्पत्त्यर्थं यत्प्रेरकत्वं प्रवर्तकत्वम् । ८ कार्यरूपस्य नियोगस्य । ९ यागकर्मणि ।
१० प्रत्ययार्थप्रतिपादकाभावान्मया करणीये (व्या० प्र०) । ११ नियोगवादिनाम् । १२ वाक्यान्तर्गतकर्माद्यवयवापेक्षा-
रहिता । १३ प्रेरकत्वम् । १४ सिद्धान्तः ।

विशेष—यह नियोगवाद का प्रकरण, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक मूलग्रन्थ के 262 पेज पर एवं हिंदी सहितग्रन्थ की चौथी पुस्तक के 163 पर है। तथा न्यायकुमुदचन्द्रोदय ग्रन्थ के 583 पेज पर है।

प्रेरणैव नियोगोत्र ^१शुद्धा सर्वत्र गम्यते । नाप्रेरितो यतः कश्चिन्नियुक्तं स्वं प्रबुध्यते ॥४॥

[प्रमाणवातिकालंकार पृ० २६]

(३) प्रेरणासहितं कार्यं नियोग इति केचिन्मन्यन्ते ।

ममेदं कार्यमित्येवं ज्ञातं पूर्वं यदा भवेत् । ^२स्वसिद्धौ ^३प्रेरकं तत्स्यादन्यथा^४ तन्न सिद्धयति ॥५॥

[प्रमाणवातिकालंकार पृ० २६]

(४) कार्यसहिता प्रेरणा नियोग इत्यपरे ।

प्रेर्यते पुरुषो नैव कार्येणेह विना क्वचित्^५ । ततश्च प्रेरणा प्रोक्ता नियोगः कार्यसङ्गता ॥६॥

[प्रमाणवातिकालंकार पृ० २६]

अर्थात् जैसे यजि, पचि आदि धातुओं के अर्थ शुद्ध याग, पाक हैं स्वर्ग की अभिलाषा रखने वाला या तृप्ति की कामना करने वाला धात्वर्थ नहीं है क्योंकि वह प्रत्यय के अर्थ का प्रतिपादक नहीं है ॥३॥

(२) तथा अन्य किन्हीं नियोगवादियों का ऐसा कहना है कि वाक्यांतर्गत कर्मादि अवयवों की अपेक्षा से रहित 'शुद्ध प्रेरणा ही नियोग है ऐसा सिद्धांत है ।'

श्लोकार्थ—शुद्ध प्रेरणा ही नियोग है और वह सर्वत्र जानी जाती है क्योंकि प्रेरित नहीं हुआ कोई भी पुरुष अपने को नियुक्त हुआ नहीं समझता है । अर्थात् जाति, व्यक्ति और लिंग तो जिस प्रकृति से प्रत्यय किये जाते हैं उस प्रकृति के अर्थ कहे जाते हैं और संख्या एवं कारक ये प्रत्यय के अर्थ हैं, इस मन्तव्य की अपेक्षा शुद्ध प्रेरणा को ही प्रत्यय का अर्थ मानना चाहिये । वह प्रेरणा जिस धात्वर्थ के साथ लग जावेगी उस क्रिया में नियुक्त जन प्रवृत्ति करता रहेगा ॥४॥

(३) कोई प्रेरणा सहित कार्य को नियोग कहते हैं ।

श्लोकार्थ—"यह मेरा कर्त्तव्य—कार्य है ऐसा जब पहले ज्ञान हो जाता है, तभी वह वाक्य अपने कार्य की सिद्धि में—पुरुष को याग कर्म में प्रेरक हो सकता है अन्यथा—यदि यह मेरा कार्य है ऐसा पहले नहीं जाना है तब वह अपने कार्य की सिद्धि में प्रेरक नहीं हो सकता है । अर्थात् अकेली प्रेरणा या शुद्ध कार्य नियोग नहीं है किन्तु प्रेरणा सहित कार्य नियोग है" ॥५॥

(४) कोई कार्यसहित प्रेरणा को नियोग कहते हैं । तथाहि—

श्लोकार्थ—कार्य के बिना कोई पुरुष यज्ञ क्रिया में प्रेरित नहीं किया जाता है इसलिये कार्य-

1 नियोगरहिता । 2 वाक्यस्य । 3 पुरुषस्य यागकर्मणि । 4 ममेदं कार्यमित्येवं ज्ञानाभावे तत्स्वसिद्धौ प्रेरकं न सिद्धयति । 5 यागकर्मणि (व्या० प्र०) ।

(५) कार्यस्यैवोपचारतः^१ प्रवर्तकत्वं नियोग इत्यन्धे ।

^२प्रेरणाविषयः ^३कार्यं न तु तत्प्रेरकं स्वतः । ^४व्यापारस्तु प्रमाणस्य प्रमेय^५ उपचर्यते ॥७॥

[प्रमाणवार्तिकालंकार पृ० ३०]

(६) कार्यप्रेरणयोः^६ सम्बन्धो नियोग इत्यपरे ।

प्रेरणा हि विना कार्यं प्रेरिका नैव कस्यचित् । कार्यं वा प्रेरणायोगो नियोगस्तेन^७ सम्मतः ॥८॥

[प्रमाणवार्तिकालंकार पृ० ३०]

(७) तत्समुदायो^८ नियोग इति चापरे ।

परस्परविनाभूतं ^९द्वयमेतत्प्रतीयते^{१०} । नियोगः समुदायोस्मात् कार्यप्रेरणयोर्मतः ॥९॥

[प्रमाणवार्तिकालंकार पृ० ३०]

सहित प्रेरणा ही नियोग कही जाती है । अर्थात् तृतीय पक्ष में कार्य की प्रधानता थी, और यहाँ प्रेरणा की मुख्यता है, जैसे गुरु से सहित शिष्य या शिष्य से सहित गुरु इन वाक्यों में विशेषण विशेष्य भाव से प्रधानता और अप्रधानता हो जाती है, उसी प्रकार यहाँ भी विशेषण को गौण और विशेष्य को मुख्य समझना चाहिये ॥६॥

(५) कोई कार्य को ही उपचार से प्रवर्तक कहकर उसे नियोग कहते हैं अर्थात् वेदवाक्य का जो मुख्य प्रेरकत्व है वह यागलक्षण कार्य में उपचरित किया जाता है उसका नाम उपचार है । कार्य को ही उपचार से प्रवर्तक मानते हैं और उसे नियोग कहते हैं ।

श्लोकार्थ—वेदवाक्य का व्यापार—याग प्रेरणा का विषय कार्य है (प्रवर्तक है) किंतु वह स्वतः प्रेरक नहीं है । प्रमाण का व्यापार प्रमेय में उपचरित किया जाता है (वेदवाक्य का जो व्यापार है उस यागादि कार्य रूप प्रमेय में प्रमाण का उपचार किया जाता है ॥७॥

(६) कार्य और प्रेरणा का संबंध नियोग है अर्थात् याग और वेदवाक्य का संबंध नियोग है, ऐसा कोई कहते हैं ।

श्लोकार्थ—कार्य के बिना प्रेरणा किसी पुरुष को प्रेरणा नहीं करती है अथवा कार्य और प्रेरणा का योग ही नियोग है ऐसा सम्मत है अर्थात् प्रेरणा के बिना कार्य भी किसी का प्रेरक नहीं है इसलिये प्रेरणा और कार्य का संबंध ही नियोग है” ॥८॥

1 मुख्यं वेदवाक्यस्य यत्प्रेरकत्वं तच्चागलक्षणकार्यं उपचर्यते इत्युपचारः । 2 वेदवाक्यव्यापारः यागः । 3 प्रवर्तकत्वम् । 4 वेदवाक्यस्य । 5 यागादी कार्ये । 6 यागवेदवाक्ययोः सम्बन्धः । 7 प्रेरणां विना कार्यं कस्यचित्प्रेरकं नैव तेन कारणेन प्रेरणाकार्ययोः सम्बन्धो नियोगः प्रतिपादितः । 8 तयोः प्रेरणाकार्ययोस्तादात्म्यम् । 9 तादात्म्यम् 10 यतः कारणात् ।

(८) तदुभयस्वभावविनिर्मुक्तो¹ नियोग इति चान्ये ।

²सिद्धमेकं ³यतो ब्रह्म गतमाप्नायतः⁴ सदा । सिद्धत्वेन न तत्कार्यं प्रेरकं ⁵कुत एव तत् ॥१०॥

[प्रमाणवार्तिकालंकार पृ० ३०]

(९) यंत्रारूढो⁷ नियोग इति कश्चित् ।

⁸कामी यत्रैव⁹ यः कश्चिन्नियोगे ¹⁰सति तत्र सः । ¹¹विषयारूढमात्मानं मन्यमानः प्रवर्तते ॥११॥

[प्रमाणवार्तिकालंकार पृ० ३०]

(७) “उन प्रेरणा और कार्य का समुदाय ही नियोग है” ऐसा कोई कहते हैं ।

श्लोकार्थ—परस्पर में अविनाभूत ये दोनों तादात्म्य रूप से प्रतीति में आते हैं अतः कार्य और प्रेरणा का समुदाय ही नियोग माना गया है ॥६॥

(८) कार्य और प्रेरणा इन उभय स्वभाव से विनिर्मुक्त ही नियोग है, ऐसा कोई कहते हैं ।

श्लोकार्थ—क्योंकि एक ब्रह्म आम्नाय से सदा सिद्ध है और सिद्ध होने से ही नियोग उसका कार्य नहीं हो सकता है पुनः वह प्रेरक कैसे होगा ? अर्थात् कार्य रूप ही जो कुछ होता है वह अपनी निष्पत्ति के लिये प्रेरक होता है किन्तु यह ब्रह्म तो नित्य रूप होने से कार्य रूप नहीं है अतः प्रेरक भी नहीं है । “अग्निष्टोमादि” वाक्य में कार्य एवं प्रेरणा से निरपेक्ष होकर जो अवभास है अथवा जो परमात्म स्वभाव है वही एक ब्रह्म रूप से सिद्ध है, निरंश है और वेदवाक्य से जाना जाता है एवं सदा सिद्ध रूप होने से वह कार्य नहीं है पुनः वह प्रेरक कैसे होगा ? ॥१०॥

(९) यन्त्रारूढ - याग कर्म में लगा हुआ जो पुरुष है वही नियोग है ऐसा कोई कहते हैं ।

श्लोकार्थ—स्वर्ग की इच्छा करने वाला पुरुष (प्रवर्तक वाक्य रूप) नियोग के होने पर जिस यज्ञ कार्य में नियुक्त है वह वहाँ पर—यागलक्षण विषय में अपने को आरूढ मानता हुआ प्रवृत्त होता है, वही नियोग है । अर्थात् यंत्रों में आरूढ होने के समान यज्ञादि कार्यों में आरूढ हो जाना नियोग है जैसे झूला या यन्त्र से चलने वाले घोड़े आदि पर आरूढ हुआ पुरुष उन्हीं भावों में रंगा हुआ प्रवर्त रहा है उसी प्रकार से जिस पुरुष को जिस विषय की लगन लग रही है वह पुरुष उसी में अपने को रंगा हुआ मानकर प्रवृत्ति करता है ॥११॥

1 कार्यरूपमेव हि यत्किञ्चन स्वनिष्पत्त्यै प्रेरकं स्यादस्य तु ब्रह्मणो नित्यत्वेन कार्यरूपत्वाभावात् प्रेरकत्वं न भवतीत्यर्थः । 2 अग्निष्टोमादिवाक्ये कार्यप्रेरणानिरपेक्षतयावभासः परमात्मस्वभावो वा । 3 निरंशम् । 4 वेदात् । 5 कुतः ? यतः । 6 यागकर्म । 7 पुरुषः । 8 स्वर्गकामी । 9 यागकर्मणि । 10 प्रवर्तकवाक्ये सति । 11 यागलक्षण । स्वर्ग ।

(१०) ^१भोग्यरूपो नियोग इत्यपरः ।

ममेदं भोग्यमित्येवं भोग्यरूपं प्रतीयते । ममत्वेन च विज्ञानं भोक्तार्येव व्यवस्थितम् ॥१२॥
स्वामित्वेनाभिमानो^२ हि भोक्तुर्यत्र भवेदयम् । भोग्यं तदेव विज्ञेयं तदेवं^३स्वं निरुच्यते ॥१३॥
‘साध्यरूपतया येन^४ ममेदमिति गम्यते । तत्प्रसाध्येन रूपेण भोग्यं स्वं व्यपदिश्यते ॥१४॥
सिद्धरूपं हि यद्भोग्यं न नियोगः स तावता । साध्यत्वेनेह^५ भोग्यस्य प्रेरकत्वान्नियोगता^६ ॥१५॥

[प्रमाणवार्तिकालंकार पृ० ३०]

(११) पुरुष एव नियोग इत्यन्यः ।

ममेदं कार्यमित्येवं मन्यते पुरुषः सदा । पुंसः^७कार्यविशिष्टत्वं नियोगोस्य^८ च वाच्यता ॥१६॥
कार्यस्य^९ सिद्धौ जातायां तद्युक्तः^{१०} पुरुषस्तदा । भवेत्साधित इत्येवं पुमान् वाक्यार्थं उच्यते ॥१७॥

[प्रमाणवार्तिकालंकार पृ० ३०]

(१०) कोई कहते हैं कि भोग्यरूप—भविष्य में होने वाला जो भोग्य है वही नियोग है ।

श्लोकार्थ—मेरा यह भोग्य है इस प्रकार से जो भोग्य का रूप प्रतीति में आता है और ममत्व रूप से जो विज्ञान है, वह भोक्ता में ही व्यवस्थित है ॥१२॥ जहाँ पर स्वामीपने से भोक्ता का अभिप्राय है उसी को भोग्य समझना चाहिये । इस प्रकार वह स्वकीय कहलाता है ॥१३॥ साध्य रूप से जिस पुरुष के द्वारा यह मेरा है, इस प्रकार से जाना जाता है, वह प्रसाध्य रूप से स्वकीय भोग्य कहलाता है ॥१४॥ और सिद्ध रूप भोग्य है वह नियोग नहीं है वह उतने साध्य रूप से इस वेद-वाक्य में भोग्य का प्रेरक होने से नियोग रूप है ॥१५॥

भावार्थ—कार्य कर चुकने पर भविष्य में जो भोगने योग्य अवस्था होगी उसे भोग्य कहते हैं जैसे कि अपराधी को कठोर कारावास की आज्ञा के वचन सुनकर भोग्य रूप का अनुभव ही रहा है । जिस पदार्थ का जो स्वामी है उसके लिए वही पदार्थ भोग्य है अतः आत्मा का स्वरूप ही ‘स्व’ शब्द से कहा जाता है । आत्मा अपने स्वभावों का भोक्ता है । मेरे द्वारा यह कार्य साध्य है इस प्रकार से जान लेने पर निज स्वरूप भोग्य नियोग है किन्तु जो आत्मा का स्वरूप सिद्ध हो चुका है वह भोग्य नहीं है अपितु भविष्य में करने योग्य ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों से विशिष्ट आत्मा का स्वरूप ही भोग्य है, वही नियोग है ।

(११) कोई पुरुष—आत्मा को ही नियोग कहते हैं ।

श्लोकार्थ—यह मेरा कार्य है इस प्रकार से पुरुष हमेशा मानता है वह पुरुष का कार्य विशिष्ट ही नियोग है और यही इसकी वाच्यता है ॥१६॥

1 भविष्यद्रूपमेव भोग्यं नियोग इत्याह । 2 अभिप्रायः । 3 स्वकीयम् । 4 स्वर्गादिकं साध्यम् । 5 पुंसा । 6 वेदवाक्ये । 7 यतः । 8 यागादिलक्षणसम्पृक्तत्वम् । यज्ञकर्ता । भोग्यतामात्रेण । 9 नियोगः स्यादवाधितः इति वा पाठः । 10 यदि पुरुष एव नियोगस्तदा तस्य नित्यत्वात् कथं साध्यरूपो भवतीत्याशङ्क्यामाह । 11 साध्यकार्यविशिष्टः ।

[अत्रत्यात् भाट्टः नियोगं निराकरोति]

¹सोयमेकादशप्रकारोपि नियोगो विचार्यमाणो बाध्यते ।

प्रमाणाद्यष्टविकल्पानतिक्रमात् । ²तदुक्तम् :—

³प्रमाणं किं नियोगः स्यात् प्रमेयमथवा पुनः । उभयेन विहीनो वा द्वयरूपोथवा पुनः ॥१॥

शब्दव्यापाररूपो वा ⁴व्यापारः पुरुषस्य वा । द्वयव्यापाररूपो वा द्वयाव्यापार एव वा ॥२॥

[नियोगस्य प्रमाणप्रमेयादिरूपाभ्युपगमे दोषारोपणम्]

(१) ⁵तत्रैकादशभेदोपि नियोगो यदि प्रमाणं⁶ तदा विधिरेव⁷ वाक्यार्थ इति वेदान्तवाद-
प्रवेशः प्रभाकरस्य⁸ स्यात्, प्रमाणस्य चिदात्मकत्वात्⁹, चिदात्मनः प्रतिभासमात्रत्वात्,

[एवं कोई कहे कि यदि पुरुष ही नियोग है तब तो वह नित्य है साध्य रूप कैसे होगा ? इस पर समाधान]

कार्य की सिद्धि हो जाने पर उस साध्य-कार्य से विशिष्ट पुरुष ही उस समय साधित हो जाता है । इस प्रकार पुरुष ही वेदवाक्य का अर्थ है ॥१७॥

किन्तु यह ११ प्रकार का नियोगवाद भी विचार करने पर प्रमाण प्रमेयादि वक्ष्यमाण आठ विकल्पों से पार नहीं पा सकने के कारण बाधित हो जाता है ।

[इस प्रकार से अब विधिवाद का आश्रय लेकर भावनावादी भाट्ट प्रभाकर सम्बन्धी नियोगवाद को दूषित करते हैं ।]

रविगुप्त नाम के आचार्य ने कहा भी है—

श्लोकार्थ—यह आप प्रभाकरवादी का नियोग प्रमाण रूप है या प्रमेयरूप है, दोनों से रहित है या उभयरूप है, शब्द-व्यापार रूप है अथवा पुरुष के व्यापार रूप, दोनों के व्यापार रूप है या दोनों के व्यापार से रहित है ? ॥

[नियोग को प्रमाण, प्रमेयादि रूप मानने में दोषारोपण]

इन आठ प्रकार के विकल्पों में से यदि पहला विकल्प लेवें कि उपर्युक्त ग्यारह प्रकार का नियोग भी प्रमाण है, तब तो विधि ही वाक्य का अर्थ सिद्ध हो जावेगी, पुनः आप नियोगवादी प्रभाकर का वेदांतवाद में प्रवेश हो जाता है क्योंकि प्रमाण तो चिदात्मक है एवं चिदात्मा प्रतिभास मात्र है तथा वह प्रतिभास परब्रह्मस्वरूप ही है । उस प्रतिभास मात्र से पृथक् विधि कार्य-कर्तव्यरूप से

1 अथ विधिवादमाश्रित्य भट्टः प्राभाकरमतसम्बन्धिनं नियोगवादं दूषयति । 2 रविगुप्तेन । 3 भाट्टः प्राभाकरं प्रतिपृच्छति । 4 वाङ्मयमात्रकथनो व्यापारः । 5 अष्टप्रकारविकल्पमध्ये । 6 प्रथमः प्रमाणस्वरूपो विकल्पः । 7 कर्त्तव्यार्थोपदेशो विधिः । ब्रह्म । 8 नियोगवादिनः । 9 अत्र प्रमाणस्याचिदात्मकत्वशङ्कायां तस्याचिदात्मकत्वे प्रमाणत्वाद्यन्तर्गतोपचारादित्यग्रे वक्ष्यमाणमुत्तरं द्रष्टव्यम् ।

तस्य¹ च परब्रह्मत्वात्² । प्रतिभासमात्राद्धि पृथग्विधिः³ कार्यरूपतया न प्रतीयते घटादि-
वत्⁴ । प्रेरकतया वा⁵ नानुभूयते⁶ वचनादि⁷वत्⁸ ।⁹ कर्मकरणसाधनतया हि¹⁰ तत्प्रतीतौ
कार्यताप्रेरकताप्रत्ययो युक्तो¹¹ नान्यथा । किं¹² तर्हि¹³ दृष्टव्योरेयमात्मा श्रोतव्यो-
ऽनुमन्तव्यो¹⁴ निदिध्यासितव्य¹⁶ इत्यादिशब्दश्रवणादवस्थान्तरविलक्षणणेन¹⁷ प्रेरितोहमिति

प्रतीति में नहीं आता है । जैसे घट प्रतिभासमात्र से कार्य रूप से पृथक् अनुभव में आता है, वैसे ही
विधि प्रतिभास मात्र स्वरूप से भिन्न रूप-पृथक् अनुभव में नहीं आती है ।

अथवा प्रेरक रूप से भी वह विधि अनुभव में नहीं आती है, वचनादि के समान । अर्थात्
जैसे वचनादि प्रेरक रूप से प्रतिभास मात्र से पृथक् अनुभव में आते हैं, उस प्रकार विधि अनुभव में
नहीं आती है, क्योंकि कर्म और करण साधन रूप से उस विधि का अनुभव मानने पर तो कार्यता
प्रत्यय और प्रेरकता प्रत्यय मानना युक्त है अन्यथा नहीं । अर्थात् जो किये जावें, बनाये जावे वे कर्म
हैं, जैसे घटादि । जो पुरुष अपने कार्य में जिसके द्वारा प्रेरित किया जावे—नियुक्त किया जावे वह
प्रेरक-वचन करण है । इन कर्म और करण रूप से यदि विधि का अनुभव आवे तब तो उसे कार्य और
प्रेरकपना मानना अन्यथा कैसे मानना ! मतलब “विधीयते यत् या विधीयतेऽनेन” इस प्रकार
से निरुक्ति द्वारा विधि शब्द कर्म साधन या करण साधन में नहीं बनता है अतः कर्म करण साधन
के बिना ही शुद्ध सन्मात्र विधि का ज्ञान पाया जाता है पुनः उसे कार्य या प्रेरक नहीं माना जा सकता
है । तब तो उस विधि का स्वरूप क्या है ? ऐसा प्रश्न होने पर सुनिये ! अरे ! यह आत्मा “देखने
योग्य है, सुनने योग्य है और ध्यान करने योग्य है” इत्यादि शब्दों के सुनने से अवस्थांतर विलक्षण—
अन्य अवस्थाओं से विलक्षण दर्शनादि के द्वारा “मैं प्रेरित हुआ हूँ” इस प्रकार के अभिप्राय से सहित; अहं
कार रूप से स्वयं आत्मा ही प्रतिभासित होती है और वही विधि है ऐसा वेदांतवादियों का कहना है ।
ब्रह्मा में तात्पर्य का निश्चय करना श्रोतव्य है । सुने हुये अर्थ का युक्ति से विचार करना अनुमन्तव्य है

1 प्रतिभासमात्रस्य । 2 प्रतिभासश्चान्यो विधिश्चान्य इत्युक्ते आह । 3 कर्तव्य । 4 व्यतिरेकदृष्टान्तः । यथा घटः
प्रतिभासमात्रात् कार्यरूपतया पृथक् प्रतीयते न तथा विधिः प्रतिभासमात्रात् स्वरूपात् पृथक् प्रतीयते । 5 नानुमीयते
इत्यपि खपाठः । 6 व्यतिरेकदृष्टान्तः । 7 अंगुलिसंज्ञा । ८ यथा वचनादिः प्रेरकतया प्रतिभासमात्रात् पृथगनुभूयते ।
तथा विधिनानुभूयते । 9 उभयरूपतया विधिनानुभूयते इत्युक्ते आह । क्रियते निष्पाद्यते इति कर्म घटादि । प्रेर्यते
नियुज्यते पुरुषः स्वकृत्येऽनेनेति प्रेरकं वचनं करणम् । 10 विधिप्रतीतौ । 11 कर्मकरणसाधनत्वाभावेन विधिप्रतीतौ
कार्यताप्रेरकताज्ञानं युक्तं न स्यात् । 12 तर्हि किं स्वरूपं विधेरित्युक्ते आह द्रष्टव्येत्यादि । 13 “श्रोतव्यः श्रुति-
वाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तितः । मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः” । 14 ब्रह्माणि तात्पर्यावधारणं श्रोतव्यं ।
श्रुतार्थस्य युक्त्या विचारणमनुमन्तव्यम् (व्या० प्र०) । 15 परब्रह्मस्वरूपेण ध्यातव्यः । 16 श्रवणमननाभ्यां
निश्चतार्थमनवरतं मनसा परिचितनं निदिध्यासितव्यम् (व्या० प्र०) । 17 अवस्था दर्शनादिः अवस्थान्तरमदर्शना-
दिस्तेन विलक्षणो दर्शनादिस्तेन ।

¹जाताकृतेना²हङ्कारेण³ स्वयमात्मैव प्रतिभाति स एव विधिरिति वेदान्तवादिभिरभिधानात् ।

(२) प्रमेयत्वं तर्हि नियोगस्यास्तु प्रमाणत्वे दोषाभिधानादित्यप्यसत्—प्रमाणाभावात् । प्रमेयत्वे हि तस्य⁴ प्रमाणमन्यद्वाच्यम्⁵—तदभावे प्रमेयत्वायोगाद् । श्रुतिवाक्यं⁶ प्रमाणमिति चेन्न—⁷तस्याचिदात्मकत्वे प्रमाणत्वाघटनादन्यत्रोपचारात्⁸ । ⁹संविदात्मकत्वे श्रुति-

और सुने गये एवं मनन किये गये निश्चित अर्थ का हमेशा ही मन से परिचिन्तन करना निदिध्यासितव्य है । ऐसा तीनों का अर्थ समझना चाहिये ।

भावार्थ—विधि है ? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर यह है कि अरे मंत्रेय ! यह आत्मा दर्शन करने योग्य है और आत्मा का दर्शन यों होता है कि पहले उस आत्मा का वेदवाक्यों के द्वारा श्रवण करना चाहिये तभी ब्रह्म ज्ञान में तत्परता हो सकती है । पुनः श्रुत आत्मा का युक्तियों से विचार कर अनुमनन करना चाहिये । श्रवण और मनन से निश्चित किये गये अर्थ का मन से परिचिन्तन करना चाहिये अथवा “तत्त्वमसि” वह प्रसिद्ध ब्रह्म तू ही है इत्यादि वैदिक शब्दों के श्रवण से मैं पहली अदर्शन, अश्रवण आदि अवस्थाओं की अपेक्षा विलक्षण हो रही दूसरी अवस्थाओं से इस समय प्रेरित हो गया हूँ, इस प्रकार से “अहं” शब्द का दर्शन आदि द्वारा प्रत्यक्ष कराने रूप अहंकार अथवा आकार वाली चेष्टा करके स्वयं आत्मा ही प्रतिभासित हो रही है और वह आत्मा ही तो विधि है इस प्रकार वेदांतवादियों का कथन है । अतः नियोग को प्रमाण रू मानने पर आप प्रभाकर को वेदांतवादी बनना ही पड़ेगा ।

(२) इस पर यदि आप कहें कि नियोग को हम प्रमेय मानेंगे क्योंकि आपने उसको प्रमाण मानने से अनेक दोष दिये हैं सो यह कथन भी असत् है क्योंकि नियोग को प्रमेय सिद्ध करने के लिये कोई प्रमाण नहीं है । नियोग को प्रमेय मान लेने पर तो उसको ग्रहण करने वाला अन्य कोई प्रमाण आप प्रभाकर को कहना ही चाहिये क्योंकि प्रमाण के अभाव में प्रमेय है, यह कैसे कहा जावेगा ? “प्रमाणेन ज्ञातुं योग्यम् प्रमेयं” जो प्रमाण के द्वारा जानने योग्य है वही तो प्रमेय है ।

1 अप्रेरितावस्थाविलक्षणेनाकारेण प्रेरितोहमित्यभिमानरूपेण । 2 दर्शनादिना । 3 जाताकृतेनाकारेण इति पा० (व्या० प्र०) । 4 प्रमेयरूपस्य नियोगस्य ग्राहकं प्रमाणम् । 5 प्रभाकरेण । 6 श्रुतिवाक्यं प्रमाणं, नियोगः प्रमेयमिति चेत् । 7 अत्राह भावनावादी भट्टः ।—भो नियोगवादिन् प्रभाकर तावकं श्रुतिवाक्यं चिदात्मकमचिदात्मकं वेति । तत्र विकल्पद्वयं खण्डयति । 8 चन्द्रवन्मुखमित्यादिरुपचारः । 9 ज्ञानात्मकत्वे सति ।

वाक्यस्य पुरुष^१ एव श्रुतिवाक्यमिति स एव प्रमाणम् । तत्संवेदनविवर्त्तस्तु^२ नियुक्तोह-
मित्यभिमानरूपो^३ नियोगः प्रमेयत्वमिति नायं पुरुषादन्यः प्रतीयते यतो वेदान्तवादिमत-
प्रवेशोऽस्मिन्नपि पक्षे न भवेत् ।

(३) तर्हि प्रमाणप्रमेयरूपो नियोगो भवत्वित्यध्ययुक्तम् संविद्विवर्त्तत्वापत्तेः अन्यथा^४
प्रमाणप्रमेयरूपतानुपपत्तेः । तथा च स एव^५ चिदात्मोभयस्वभावतयात्मानमा^६ दर्शयन्नियोग
इति सिद्धो ब्रह्मवादः ।

प्रभाकर—श्रुति-वेदवाक्य तो प्रमाण हैं और नियोग प्रमेय है हम ऐसा मानते हैं ।

भाट्ट—ऐसा भी आप नहीं कह सकते क्योंकि वेदवाक्यों के अचिदात्मक होने से उनमें प्रमाणता घटित नहीं होती है और यदि मानेंगे भी तो उपचार के सिवाय वस्तुतः वे प्रमाण नहीं हो सकेंगे । यदि उन वेदवाक्यों को आप चिदात्मक-ज्ञानात्मक मानेंगे तब तो पुरुष ही श्रुति वाक्य है इस प्रकार से वह पुरुष-परब्रह्म ही प्रमाण सिद्ध हुआ और उस संवेदन की पर्याय-ब्रह्म की पर्याय ही “नियुक्तोऽहं” इस प्रकार के अभिमान-अभिप्राय रूप नियोग है और वही प्रमेय है इस प्रकार से तो यह प्रमेय रूप नियोग पुरुष से भिन्न कोई प्रतीति में नहीं आता है कि जिससे इस पक्ष के मानने पर वेदांतवादी के मत में प्रवेश न हो जावे अर्थात् यदि आप नियोग को प्रमेय रूप मानते हैं तो भी आप वेदांतवादी बन जावेंगे ।

(३) प्रभाकर—तब तो प्रमाण और प्रमेय इन उभय रूप नियोग को मानना यह तृतीय पक्ष ही उचित है ।

भाट्ट—यह कथन भी अयुक्त है क्योंकि वह नियोग ज्ञान की पर्याय हो जावेगा अन्यथा प्रमाण और प्रमेय रूपता ही घटित नहीं होगी । अर्थात् नियोग ज्ञान की पर्याय हो जाता है क्योंकि सामान्य से “मैं नियुक्त हूँ” इस प्रकार के अभिप्राय को स्वीकार किया है अन्यथा ज्ञान पर्याय न मानने पर वह नियोग प्रमाण नहीं हो सकेगा और अप्रकाशमान होने से प्रमेय रूप भी नहीं हो सकेगा क्योंकि जो वस्तु प्रमाण, प्रमेय रूप से उभयरूप है वह चैतन्यात्मक अवश्य है । पुनः वह सत्, चिद्, आनन्द स्वरूप आत्मा ही प्रमाण प्रमेय रूप सिद्ध होता है और यही तो ब्रह्माद्वैतवाद सिद्धान्त है । इसलिये वह चिदात्मा ही उभय स्वभाव रूप से अपने स्वरूप को प्रकाशित करता हुआ नियोग कहलाता है । इस प्रकार से नियोग ब्रह्मवाद रूप ही सिद्ध हो जाता है ।

१ परब्रह्म पश्चात् कार्यं कुर्यात् । २ पर्यायः । ३ विशेषणमिदं नियोगस्य संवेदनविवर्त्तत्वसमर्थनार्थम् ।

४ ज्ञानपर्यायप्राप्तत्वान्नियोगस्य सामान्येन नियुक्तोहमित्यभिमानरूपत्वाभ्युपगमादन्यथा ज्ञानपर्यायप्राप्त्यभावे प्रमाण-
रूपत्वं नोपपद्यते, अप्रकाशमानत्वेन प्रमेयरूपत्वं च न घटते इति भावः । ५ स्वरूपम् । ६ प्रकाशयन् ।

(४) अनुभयस्वभावो नियोग इति चेत्तर्हि^१ संवेदनमात्रमेव^२ पारमार्थिक^३ तस्य^४ कदाचिदप्यहेयत्वा^५दनुभयस्वभावत्वसम्भवात् । ^६प्रमाणप्रमेयत्वव्यवस्थाभेदविकलस्य सन्मात्र-देहतया^७ तस्य^८ वेदान्तवादिभिर्निरूपितत्वात्तन्मतप्रवेश एव ।

(५) यदि पुनः ^९शब्दव्यापारो नियोग इति मतं तदा भट्टमतानुसरणमस्य^{१०} दुर्निवारम्-शब्दव्यापारस्य^{११} शब्दभावनारूपत्वात् ।

(६) अथ पुरुषव्यापारो ^{१२}नियोगस्तदापि परमतानुसरणम्-पुरुषव्यापारस्यापि ^{१३}भावना-स्वभावत्वात् शब्दात्मव्यापारभेदेन भावनायाः परेण ^{१४}द्वैविध्याभिधानात् ।

(४) प्रभाकर—अनुभय स्वभाव ही नियोग है ।

भाट्ट—तब तो आपका नियोग प्रमाण और प्रमेय इन दोनों रूपों का त्याग कर देने से तो केवल शुद्ध संवेदन मात्र ही पारमार्थिक रूप होगा क्योंकि वह संवेदन मात्र कदाचित् भी अहेय—त्यागने योग्य न होने से वही अनुभय स्वभाव हो सकता है । उस संवेदन मात्र को छोड़कर अन्य कोई अनुभय स्वभाव ही नहीं सकता है । वेदांतवादियों ने भी ऐसा ही निरूपण किया है कि “प्रमाण प्रमेय भेद की व्यवस्था से रहित सन्मात्र देहरूप से वह संवेदन मात्र परब्रह्म रूप सिद्ध है । “इसलिये चतुर्थ पक्ष के मानने पर भी आप उस वेदांतवादी के मत में ही प्रविष्ट हो जाते हैं अर्थात् “न उभयः अनुभयः” नञ् समास का पर्युदास अर्थ करने से सर्वथा प्रमाण प्रमेय रूप उपाधियों से रहित शुद्ध प्रतिभास ही ग्रहण हो जाता है जो कि “सत्स्वरूप” इतने मात्र शरीर को धारण करने वाले ब्रह्म का ही द्योतक है ।

(५) प्रभाकर—“अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत” इत्यादि रूप से शब्द का व्यापार ही नियोग है ।

भाट्ट—तब तो आपको हमारे मत का ही अनुसरण दुर्निवार है क्योंकि हमारे यहाँ शब्द का व्यापार शब्द की भावना रूप है । शब्द भावक है और उसका व्यापार भावना स्वरूप है ।

(६) प्रभाकर—तब तो हम पुरुष के व्यापार को नियोग कहेंगे ।

भाट्ट—तो भी आपको पर—हमारे मत का ही अनुसरण करना पड़ेगा क्योंकि पुरुष का व्यापार भी भावना स्वभाव है । हम भाट्टों ने शब्द-व्यापार और आत्म-व्यापार के भेद से भावना के दो भेद माने हैं ।

१ प्रमाणप्रमेयरूपत्यागे । २ संवेदनमात्रादन्यस्य कस्यचिदनुभयस्वभावत्वावधनात् । ३ पारमार्थिकत्वं कुतः ? । ४ संवेदनमात्रस्य । ५ कुतः । ६ अनुभयस्वभावत्वं कुतः । ७ सत्स्वरूपतया । ८ संवेदनमात्रस्य । ९ अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत इत्यादिशब्दव्यापारः । १० प्रभाकरस्य । ११ शब्दरूपार्थरूपा चेति भावना द्वेषा । १२ तदेव (पूर्वोक्तमेव) इति खपुस्तकपाठः । १३ अर्थभावना । १४ शब्दभावना आत्म (अर्थ) भावना च ।

(७) तदुभयरूपो^१ नियोग इति चेत्तर्हि पर्यायेण युगपद्वा ? यदि पर्यायेण स^२ एव दोषः—क्वचित्कदाचिच्छब्दव्यापारस्य पुरुषव्यापारस्य च भावनास्वभावस्य नियोग इति नामकरणात् । युगपदुभयस्वभावत्वं पुनरेकत्र विरुद्धं^३ न शक्यं व्यवस्थापयितुम्^४ ।

(८) तर्हि तदनुभयव्यापाररूपो नियोगोऽङ्गीकर्तव्य इति चेत् सोपि^५ विषयस्वभावो वा स्यात् फलस्वभावो वा स्यान्नस्वभावो^६ वा ? गत्यन्तराभावात् । विषयस्वभाव इति चेत् । कः पुनरसौ विषयः ? अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम इत्यादिवाक्यस्यार्थो यागादिविषय इति चेत्^७ स^८ तद्वाक्यकाले स्वयमविद्यमानो विद्यमानो वा ? यद्यविद्यमानस्तदा^९ तत्स्वभावो

(७) प्रभाकर—शब्द व्यापार और पुरुष व्यापार ऐसे उभय के व्यापार को हम नियोग कहते हैं ।

भाट्ट—तब तो आप पर्याय से—क्रम से कहते हैं या युगपत् ? यदि पर्याय—क्रम से कहें तब तो वही पूर्वोक्त हमारे मत का अनुसरण करने रूप दोष आता है क्योंकि कहीं पर किसी काल में आपने शब्द व्यापार रूप और कहीं पर पुरुष व्यापार रूप भावना के स्वभाव को ही नियोग यह नाम कर दिया है । यदि युगपत् उभय स्वभाव कहो तो एक जगह विरुद्ध दो धर्मों को व्यवस्थापित करना शक्य नहीं है अर्थात् शब्द-व्यापार प्रेरणा रूप है और पुरुष व्यापार क्रिया रूप है एवं प्रेरणा तो अतीतकाल संबंधी है तथा क्रिया भविष्यत्काल संबंधी है । जैसे प्रकाश और अंधकार एक जगह नहीं रह सकते हैं वैसे ही ये दोनों विरुद्ध धर्म एक जगह एक काल में नहीं रह सकते हैं ।

(८) प्रभाकर—तब तो उन दोनों के अनुभय व्यापार को नियोग मानना ठीक है । अर्थात् आठवें पक्ष के अनुसार वह नियोग शब्द व्यापार और पुरुष व्यापार इन दोनों ही व्यापारों से रहित है ।

भाट्ट—यदि आप ऐसा कहें तो भी हम आपसे नञ् समास का पर्युदास पक्ष लेकर प्रश्न करते हैं कि वह अनुभय व्यापार रूप भी नियोग विषय (यज्ञादि कर्म रूप) स्वभाव है, या फल (स्वर्गादि) स्वभाव है अथवा (प्रसज्य निषेध पक्ष लेने पर) निःस्वभाव है ? इन तीनों विकल्पों के सिवाय और अन्य कोई प्रकार संभव नहीं है । यदि विषय स्वभाव मानों तब तो यह विषय क्या है ? यह बतलाइये ।

प्रभाकर—“स्वर्ग की इच्छा करने वाला अग्निष्टोम से यज्ञ करे” इत्यादि वाक्य का अर्थ जो यागादि रूप है वही विषय है ।

१ शब्दव्यापारेण पुरुषव्यापारेण च । २ तर्हि । भट्टमतानुसरणलक्षणः पूर्वोक्तः । ३ प्रेरणाया अतीतकालत्वं क्रियाया भविष्यत्कालत्वं यतः पूर्वं प्रेरितः पश्चात् कार्यं करोति । ४ यथा तेजस्तमसोरैक्यमेकत्र स्यात् न शक्यम् । ५ विषयो यागादिकर्म । ६ पर्युदासवृत्त्या द्वौ विकल्पो प्रसज्यवृत्त्या त्वेकः (निःस्वभावः) । ७ विषयः । ८ वेदवाक्यकाले । ९ विषयस्वभावः ।

नियोगोप्यविद्यमान एवेति ¹कथमसौ वाक्यार्थः खपुष्पवत् । ²बुद्ध्यारूढस्य भाविनस्तस्य³ वाक्यार्थत्वे सौगतमतानुसरणप्रसङ्गः⁴ । अथ ⁵तद्वाक्यकाले ⁶विद्यमानोसौ तर्हि न नियोगो वाक्यस्यार्थः—तस्य ⁷यागादिनिष्पादनार्थत्वात्⁸—निष्पन्नस्य च यागादेः पुनर्निष्पादनायोगात्,⁹ पुरुषादिवत् । अथ ¹⁰तस्य किञ्चिदनिष्पन्नं रूपं तदा तन्निष्पादनार्थो नियोग इति मतम् तर्हि ¹¹तत्स्वभावो नियोगोप्यनिष्पन्न इति कथं वाक्यार्थः ? ¹²स्वयमसन्निहितस्य कल्पनारूढस्य वाक्यार्थत्वे स¹³ एव सौगतमतप्रवेशः । फलस्वभावो नियोग इत्ययमपि पक्षो न कक्षी कर्तव्यः—तस्य¹⁴ नियोगत्वाघटनात् । न हि स्वर्गादिफलं नियोगः—¹⁵फलान्तरपरिकल्पनप्रसाङ्गात्-

भाट्ट—पुनः वह विषय उस वेदवाक्य के काल में स्वयं अविद्यमान है या विद्यमान ? यदि अविद्यमान रूप प्रथम पक्ष लेवें तब तो उस विषय का स्वभाव रूप नियोग भी अविद्यमान हो रहा । पुनः ऐसी स्थिति में वह नियोग आकाश-कुसुम के समान वेदवाक्य का अर्थ कैसे हो सकता है ? बुद्धि से परिणत (वर्तमान काल में कल्पित विषय रूप) भावी—विषय स्वभाव नियोग को वेदवाक्य का अर्थ मानने पर तो सौगत मत के अनुसरण का प्रसंग आ जावेगा क्योंकि सौगत के मत में प्रमाण प्रमेय व्यवहार काल्पनिक है । उनके यहाँ वचनों को वक्ता के अभिप्राय मात्र का सूचक माना है । यदि कहो कि वेदवाक्य के काल में वह विषय स्वभाव विद्यमान है, तब तो वह नियोग वाक्य का अर्थ नहीं हो सकेगा क्योंकि वह तो यागादि को निष्पादन करने के लिये हुआ है और निष्पन्न हुये यागादि का पुरुषादि के समान पुनः निष्पादन करना बनता नहीं है । अर्थात् जिस प्रकार निष्पन्न परमब्रह्म पुरुष का संपादन करना नहीं बन सकता उसी प्रकार निष्पन्न यागादिकों का संपादन करना भी नहीं बन सकेगा । यदि आप कहें कि उस यागादि का किञ्चित्-कुछ अनिष्पन्न रूप है इसलिये उस शेष अनिष्पन्न के निष्पादन के लिये नियोग है तब तो यागादि विषय स्वभाव नियोग भी अनिष्पन्न है इस प्रकार से वेदवाक्य का अर्थ कैसे होगा ? स्वयं असन्निहित-भावी विषय स्वभाव, कल्पनारूढ को वेदवाक्य का अर्थ मानने पर वही सौगत मत में आपका प्रवेश हो जावेगा, उसका रोकना दुर्निवार है ।

“फल स्वभाव नियोग है” यह पक्ष भी तुम्हें स्वीकार नहीं करना चाहिये क्योंकि वह नियोग फल स्वभाव भी घटित नहीं होता है । स्वर्गादि के फल नियोग नहीं है अन्यथा फलान्तर की कल्पना का प्रसंग आ जावेगा क्योंकि निष्फल-फल रहित नियोग का अभाव है । एवं फल स्वभाव नियोग-वादियों के यहाँ फलान्तर को नियोग मानने पर उसके लिए अन्य फल की कल्पना करने पर अनवस्था

- 1 नियोगः । 2 बुद्धिपरिणतस्य । वर्तमानकाले कल्पितविषयस्य । 3 विषयस्वभावनियोगस्य । 4 प्रमाणप्रमेय-व्यवहारस्य काल्पनिकत्वात्सौगतमते । वक्त्रभिप्रेतमात्रस्य सूचकं वचनं त्वितीदं हि सौगतमतम् । 5 वेद । 6 यागादि-विषयो नियोगो यागमुत्पादयति । 7 आकाशादि । 8 यागादिनिष्पादनं वाक्यकाले जातमेव । 9 पुरुषादिविषयस्य । 10 यागादेः । 11 यागादिविषयस्वभावः । 12 भाविनो विषयस्य । 13 पूर्वोक्तः । 14 फलस्वभावस्य । 15 अन्यथा ।

निष्फलस्य नियोगस्यायोगात् । फलांतरस्य च फलस्वभावनियोगवादिनां नियोगत्वापत्तौ तदन्यफलपरिकल्पनेऽनवस्थाप्रसङ्गः^१ । ^२फलस्य ^३वाक्यकाले स्वयमसन्निहितत्वाच्च ^४तत्स्वभावो नियोगोप्यसन्निहित एवेति कथं वाक्यार्थः ? ^५तस्य वाक्यार्थत्वे ^६निरालम्बनशब्दवादाश्रयणात् कुतः प्रभाकरमतसिद्धिः ? निःस्वभावो नियोग इत्ययमपि पक्षोऽनेनैवप्रतिक्षिप्तः^७ ।

का प्रसंग आ जावेगा । तथा स्वर्गादि फल “अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः” इत्यादि वाक्य के काल में स्वयं असन्निहित अविद्यमान हैं पुनः वह फल स्वभाव रूप नियोग भी असन्निहित-अविद्यमान ही रहेगा । इस प्रकार से वह वेदवाक्य का अर्थ कैसे सिद्ध होगा ? यदि आप अविद्यमान फल स्वभाव वाले ‘नियोग’ को वेदवाक्य का अर्थ मान लेवो तो निरालम्ब शब्दवाद का आश्रय लेने से आप प्रभाकर के मत की सिद्धि कैसे होगी ? अर्थात् शब्द को अन्यापोह मात्र का कहने वाला मानने से बौद्ध का अर्थ शून्यवाद सिद्ध होता है । बौद्ध के मत में शब्द अन्यापोह रूप हैं, अर्थ को कहने वाले नहीं हैं ।

यदि आप निःस्वभाव को नियोग कहें तो यह पक्ष भी इसी कथन से निराकृत हो जाता है क्योंकि निःस्वभाव अन्यापोह रूप ही है ।

भावार्थ—प्रभाकर ने नियोग का लक्षण करके भिन्न-भिन्न वक्ता के अभिप्राय से उन्हें ११ प्रकार से सिद्ध किया है । इस प्रकार भाट्ट ने उन ११ विकल्प रूप नियोगों को दूषित ठहराने के लिये प्रमाण प्रमेय आदि रूप आठ विकल्प उठाकर उस प्रभाकर को वेदांतवादी होने का दूषण दिखाया है । उसी में अंतिम “अनुभय व्यापार रूप” आठवें पक्ष में तीन विकल्प उठाये हैं । उसमें विषय और फल स्वभाव को पर्युदास पक्ष से एवं निःस्वभाव नियोग को प्रसज्य निषेध पक्ष से लिया है । उसमें विषय स्वभाव और फल स्वभाव नियोग में दूषण दिया है कि “अग्निष्टोम से यज्ञ करना चाहिये” इस वाक्य के उच्चारण काल में यज्ञादि कर्म नहीं हैं अतः यज्ञ रूप नियोग भी संभव नहीं है । जो कार्य भविष्य में होने वाला है उस कार्य के साथ तादात्म्य संबंध रखने वाला धर्म वर्तमान काल में नहीं है और यदि भविष्य में होने वाले यज्ञ की वर्तमान में संभावना मानो जावे तो पुनः वाक्य का अर्थ नियोग नहीं हो सकेगा क्योंकि वह नियोग तो कर्त्तव्य कार्यों को भविष्य में बनाने के लिये हुआ करता है । जो किया जाकर बन चुका है उसका पुनः बनाना नहीं हो सकता है, जैसे कि अनादि काल के बने हुए (अकृत्रिम) नित्य द्रव्य-आत्मा, आकाशादि नहीं बनाये जा सकते हैं । एवं उस नियोग को स्वर्गादि फल स्वभाव मानने पर वे स्वर्गादि फल तो स्वयं उस यज्ञ के अंतिम परिणाम हैं । फल का पुनः फल होता नहीं है किन्तु नियोग तो फल से सहित है । यदि अन्य फलों की कल्पना करो तो अनवस्था तैयार खड़ी है । यदि फल को भविष्य में होने वाला माना जावे तो वर्तमान काल का नियोग नहीं हो

1 प्रसङ्गादिति खपुस्तकपाठः । 2 स्वर्गादिः । 3 अग्निष्टोमेन यजेतेति वाक्यकाले । 4 फलस्वभावः । 5 असन्निहितस्य फलरूपनियोगस्य । 6 शब्दस्यान्यापोहाभिधायित्वेनार्थशून्यवादः । सौगतमते शब्दस्त्वन्यापोहरूपो नत्वर्थ-भिधायी । 7 निःस्वभावस्यान्यापोहत्वानतिक्रमात् ।

[नियोगस्य सदसदादिरूपस्वीकारे दोषारोपणम्]

किञ्च सन्नेव वा नियोगः स्यादसन्नेव वोभयरूपो वानुभयरूपो वा ? प्रथमपक्षे विधिवाद एव । द्वितीयपक्षे निरालम्बनवादः^१ । तृतीयपक्षे तूभयदोषानुषङ्गः^२ । चतुर्थपक्षे^३ व्याघातः—^४सत्त्वासत्त्वयोः^५ परव्यवच्छेद^६रूपयोरेकतरस्य निषेधेऽन्यतरस्य विधानप्रसक्तेः— सकृदेकत्र^७ प्रतिषेधायोगात् । सर्वथा सदसत्त्वयोः प्रतिषेधेषु कथञ्चित्सद^८सत्त्वा^९विरोधाददोष इति चेत् स्याद्वादाश्रयणप्रसङ्गः प्रभाकरस्य ।

सकता है । दूसरी बात यह भी है कि उस वाक्य उच्चारण के समय में उन स्वर्गादि फलों का सन्निधान नहीं है । यदि उस अविद्यमान फल को भी वाक्य का अर्थ मानोगे तो निरालंब शब्द पक्ष को लेने से आप बौद्ध बन जावेंगे क्योंकि बौद्धों के यहाँ शब्द का अर्थ वस्तुभूत कुछ भी नहीं है । अविद्यमान-अवास्तविक अर्थों को ही शब्द कहा करते हैं किंतु आपने तो आगम को प्रमाण माना है अतः यह मान्यता ठीक नहीं है । तथा यदि आप तृतीय निःस्वभाव पक्ष को अनुभय के नञ् समास का प्रसज्य प्रतिषेध करके मानें तब तो सभी स्वभावों से रहित नियोग खर-विषाण के समान असत् ही हो जावेगा एवं बौद्धों ने शब्दों का वाच्य असत्-अन्यापोह ही माना है । उन्हीं के मत में आपका प्रवेश हो जावेगा अतः आठों विकल्पों की कसौटी पर कसने से आपका नियोग सिद्ध नहीं होता है ।

[नियोग को सत् असत् आदि मानने में दोषारोपण]

दूसरी बात यह है कि यह आपका नियोग सत् रूप ही है या असत् रूप ही है या उपयरूप है अथवा अनुभय रूप है ? प्रथम पक्ष में तो विधिवाद-ही आता है अर्थात् वेदांती संपूर्ण जगत् को सत् रूप ही मानते हैं । द्वितीय पक्ष के लेने पर निरालंबनवाद-शून्यवाद ही आता है अर्थात् शून्यवादी संपूर्ण जगत् को असत् रूप ही मानते हैं । तृतीय पक्ष में उभयपक्ष में दिये गये दोषों का प्रसंग आता है । एवं चतुर्थ पक्ष के मानने पर व्याघात-विरोध नाम का दोष आता है क्योंकि सत् और असत् एक दूसरे के व्यवच्छेद विरोध रूप हैं अतः इन दोनों में से किसी एक का निषेध करने पर दूसरे का विधान हो जाता है । एक साथ एक ही वस्तु में सत्त्व एवं असत्त्व का प्रतिषेध नहीं हो सकता है अर्थात् “सत् नहीं है” ऐसा कहने पर असत् स्वयं ही आ जाता है एवं “असत् नहीं है” ऐसा कहने पर सत् स्वयमेव आ जाता है । तथा सर्वथा सत्त्व एवं असत्त्व का प्रतिषेध करने पर भी कथञ्चित् सत्त्व असत्त्व का विरोध न होने से कोई दोष नहीं है यदि आप ऐसा कहें तो आप प्रभाकर स्याद्वाद मत का आश्रय ले लेंगे ।

१ अन्धसर्पविलप्रवेशन्यायेन । २ तदुक्तम् ।—प्रत्येकं यो भवेद्दोषो द्वयोर्भवे कथं न स इति वचनात् । ३ विरोधः । ४ कथम् ? । ५ परस्परव्यवच्छेदययोः । इतिपाठान्तरं (व्या० प्र०) । ६ यथा सदित्युक्तेऽसत्त्वयमेवावाति, असदित्युक्ते सत्त्वयमेवावाति । ७ सत्त्वासत्त्वयोः । ८ सदसत्त्वविधानाददोष इति खपाठः । ९ सर्वेषां पदार्थानां क्रमवर्ति-त्वात् शब्दानां च ।

[नियोगस्य प्रवर्तकाप्रवर्तकस्वीकारे दोषारोपण]

किञ्च^१ नियोगः सकलोपि^२ प्रवर्तकस्वभावो वा स्यादप्रवर्तकस्वभावो वा ? प्रवर्तकस्वभावश्चेत् प्रभाकराणामिव ताथागतादीनामपि प्रवर्तकः स्यात्—तस्य सर्वथा^३ प्रवर्तकत्वात् । तेषां^४ विपर्यासादप्रवर्तक इति चेत्^५ परेषामपि^६ विपर्यासाद^७ प्रवर्तकोस्तु^८ । शक्यं हि वक्तुं, प्राभाकरा^९ विपर्यस्तत्वाच्छब्द^{१०}नियोगात्प्रवर्तन्ते^{११} नेतरे^{१२}—तेषामविपर्यस्तत्वादिति । सौगतादयो^{१३} विपर्यस्तास्तन्मतस्य प्रमाणबाधितत्वात् । न पुनः प्राभाकरा इत्यपि^{१४} पक्षपातमात्रम्-तन्मतस्यापि प्रमाणबाधितत्वाविशेषात् । यथैव हि प्रतिक्षणविनश्वरसकलार्थकथनं

[नियोग को प्रवर्तक या अप्रवर्तक मानने में दोष]

दूसरी बात यह है कि ग्यारह प्रकार का भी नियोग प्रवर्तक स्वभाव है या अप्रवर्तक स्वभाव है ? यदि प्रवर्तक स्वभाव मानों तो आप प्रभाकर के समान ही वेदवाक्य का अर्थ बौद्धों के लिये भी प्रवर्तक हो जावेगा क्योंकि वह वेदवाक्य सर्वथा प्रवर्तक स्वभाव वाला है । यदि आप कहें कि वे सौगतादि विपरीत बुद्धि वाले हैं अतः वह नियोग उनके लिये अप्रवर्तक है तब तो आप प्रभाकरों को भी विपर्यास होने से वह अप्रवर्तक हो जावे । हम ऐसा कह सकते हैं कि प्रभाकर विपर्यस्त-विपरीत बुद्धि वाले होने से शब्द नियोग से प्रवृत्ति करते हैं इतर बौद्धादि नहीं करते हैं क्योंकि वे विपर्यस्त बुद्धि वाले नहीं हैं । टिप्पणी में “अप्रवर्तक” की जगह “प्रवर्तक” ऐसा पाठ है उसका ऐसा अर्थ करना कि आप प्रभाकर को भी विपरीत बुद्धि होने से ही वह नियोग प्रवृत्ति कराता है । अर्थात् आपकी ही बुद्धि विपरीत है ।

प्रभाकर—सौगतादि विपर्यस्त-विपरीत बुद्धि वाले हैं क्योंकि उनका मत प्रमाण से बाधित है, किंतु हम प्रभाकर मत प्रमाण से बाधित नहीं हैं ।

भाट्ट—यह आपका कथन पक्षपात मात्र को सूचित करता है क्योंकि आपका मत भी प्रमाण से बाधित ही है, अतः दोनों ही मत प्रमाण से बाधित हैं । जिस प्रकार से सभी पदार्थों की प्रतिक्षण विनश्वर कहना प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरुद्ध है उसी प्रकार से नियोक्ता-यज्ञकर्ता, नियोग-वेदवाक्य और उसका विषय-यज्ञादि रूप से भेद की परिकल्पना भी प्रत्यक्षादि सभी प्रमाणों से बाधित ही है क्योंकि सभी प्रमाण विधि के विषय को व्यवस्थापित करते हैं अतः नियोग की सिद्धि बाधित ही है ।

१ भाट्टः । २ एकादशप्रकारोपि । ३ सर्वपुरुषापेक्षाप्रकारेण । ४ सौगतादीनाम् । ५ प्रवर्तकस्वभावे नियोगेऽप्रवर्तकतया मननं विपर्यासः । ६ युष्माकं प्राभाकराणां विपरीतत्वादप्रवर्तकोस्तु । ७ अप्रवर्तकस्वभावे नियोगेऽप्रवर्तकतया मननं विपर्यासः । ८ प्रवर्तकोस्त्विति खपाठः । ९ विपर्यासात्प्रवर्तकोस्तु । इति पा० (व्या० प्र०) । १० अप्रवर्तकत्वात् (खपुस्तके) । ११ शब्दाधिकारात् । १२ ताथागतादयः । १३ बौद्धा अविपर्ययत्वाच्छब्दनियोगात् प्रवर्तन्ते । (व्या० प्र०) १४ अत्राह नियोगवादी प्रभाकरः । १५ अत्राह भावनावादी भट्टः ।—भो प्रभाकर इति ते वचनं स्वमतपक्षपातमात्रम् । कस्मात् ? प्रभाकरमतस्यापि प्रमाणबाधितत्वेन विशेषो नास्ति यतः ।

प्रत्यक्षादिविरुद्धं तथा ¹नियोक्तृनियोग²तद्विषयादि³भेदपरिकल्पनमपि, सर्वप्रमाणानां ⁴विधि⁵विषयता⁶व्यवस्थापनेन⁷ ⁸तद्बाधकत्वोपपत्तेः । यदि पुनरप्रवर्तकस्वभावः⁹ शब्दनियोग-स्तदा सिद्ध एव तस्य¹⁰ प्रवृत्तिहेतुत्वायोगः । स¹¹ च वाक्यार्थत्वाभावं साधयति ।

अर्थात् प्रमाण चेतन रूप है और विधि ब्रह्म भी चेतन रूप है । अतः विधि में ही सभी प्रमाण घटित हो जाते हैं, किन्तु नियोग में घटित नहीं होते हैं । इसलिये नियोग बाधित हो जाता है क्योंकि जब सभी प्रमाण विधि-परब्रह्म में अंतर्भूत हो जाते हैं तब यह नियोक्ता है, यह नियोग है इत्यादि भेद कल्पना प्रत्यक्षादि से ही विरुद्ध हो जाती है ।

पुनः यदि द्वितीय पक्ष लेवो कि शब्द नियोग अप्रवर्तक स्वभाव वाला है तब तो वह शब्द नियोग प्रवृत्ति हेतुक नहीं है अतः उसमें प्रवृत्ति का अभाव सिद्ध ही है । वह शब्दनियोग उपरोक्त विधि से सिद्ध होता हुआ वेदवाक्य के अर्थ के अभाव को सिद्ध करता है ।

भावार्थ—यहाँ पर भाट्ट विधिवाद का आश्रय लेकर प्रभाकरों से प्रश्न करते हैं कि आपका नियोग प्रवृत्ति करा देने रूप स्वभाव वाला है या प्रवृत्ति नहीं कराने रूप ? यदि प्रथम पक्ष लेवो तो वह नियोग जैसे आप प्रभाकरों को यज्ञादि कर्म में प्रवृत्ति कराता है वैसे ही बौद्धों को भी क्यों नहीं कराता है ? क्योंकि यदि अग्नि का स्वभाव जलाने का है तो वह पक्षपात रहित काष्ठ, वस्त्र, मूर्ख के शरीर, पंडित के शरीर, रत्न, तृण आदि सभी को भस्म कर देती है । यदि आप कहें कि बौद्ध मिथ्या बुद्धि वाले हैं अतः उन्हें वेदवाक्य प्रवृत्ति नहीं करा सकते हैं जैसे कि सुवर्ण, अभ्रक आदि को अग्नि नहीं भी जलाती है तब तो हम ऐसा भी कह सकते हैं कि आप प्रभाकर विपरीत बुद्धि वाले हैं अतः वेदवाक्य के अर्थ नियोग से अपने आपको यज्ञकार्य में नियुक्त होना अर्थ मान लेते हैं और कर्मकांडों में प्रवृत्ति भी करते हैं किन्तु बौद्धादि विपरीत बुद्धि वाले नहीं हैं अतः वे नियोग को प्रवृत्ति कराने वाला नहीं मानते हैं एवं उसके अमुकूल यज्ञादि में प्रवृत्ति भी नहीं करते हैं । यह हमारा कथन भी आप किसी तरह से बाधित नहीं कर सकते हैं । यदि आप बौद्ध चार्वाकादि के मतों को बाधित कहें तो जैसे उनके मत प्रत्यक्षादि से बाधित हैं वैसे ही आपका नियोग पक्ष भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित ही है क्योंकि

1 नियोगकृद्-यज्ञकृद्-यज्ञकर्त्ता । अयं यज्ञकर्त्तायं नियोग इदं फलमिति भेदापादनं प्रत्यक्षादिप्रमाणाद्विरुद्धं मतभेदः साधयितुं न शक्यते । 2 वेदवाक्य । 3 आदिशब्दात् पुरुषफले । 4 विधिमध्यपतितत्वव्यवस्थापनेन । 5 प्रमाणं चेतनं विधिश्चेतनो विधिमध्ये सर्वाणि प्रमाणानि घटते न च नियोगे (व्या० प्र०) । 6 व्यवस्थापने इति पा० । सति यदा सर्वेषां प्रमाणानां विधौ परमब्रह्मणिअंतर्भावे नियोक्तृनियोगादिभेदकल्पनं प्रत्यक्षादिविरुद्धं भवतीति भावः । (व्या० प्र०) । 7 प्रत्यक्षादिविरुद्धमिति सम्बन्धः । 8 तस्य नियोगस्य बाधकमुपपद्यते यतः । 9 अग्निष्टोमादिवाक्य-निबन्धनः (व्या० प्र०) । 10 शब्दनियोगस्य । 11 शब्दनियोगः सिद्धः सन् ।

[निबोधः फलरहितः फल सहितो वेत्युभयपक्षे दोषारोपणम्]

किञ्च नियोगः फलरहितो वा स्यात् फलसहितो वा ? फलरहितश्चेत्, न ततः^१ प्रेक्षा-
वतां प्रवृत्तिः अप्रेक्षावत्वप्रसङ्गात्^२, प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोपि प्रवर्तते इति प्रसिद्धेश्च ।
^३प्रसिद्धचण्ड^४नरपतिवचननियोगादफलादपि प्रवर्तनदर्शनाददोष इति चेन्न, तस्यापायपरि-
रक्षणफलत्वात् । ^५तन्नियोगादप्रवर्तते तदाज्ञोल्लङ्घन^६कृतामपायोवश्य^७ सम्भवतीति ।

सभी प्रमाणों से विधिवाद-सत्-चित् परमब्रह्मस्वरूप ही सिद्ध होता है । यदि आप द्वितीय पक्ष में उस
नियोग को प्रवृत्ति नहीं कराने वाला मानेंगे तब तो उन “यजेत” आदि वाक्यों से यज्ञादि कार्य में
कभी भी प्रवृत्ति ही नहीं कर सकेंगे पुनः आप कर्मकांडी मीमांसक कैसे रहेंगे ? अतः उपर्युक्त विकल्पों
से भी वेदवाक्य का अर्थ नियोग सिद्ध नहीं होता है ।

[नियोग फल रहित है या फल सहित]

प्रकारांतर से यह भी प्रश्न होता है कि वह नियोग फल रहित है या फल सहित है ? यदि
फल रहित मानों तब तो उस फल रहित नियोग में बुद्धिमान् पुरुषों की प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी अन्यथा
वे बुद्धिमान् भी मूर्ख ही हो जावेंगे क्योंकि “प्रयोजन के बिना मंद-भूढ़ भी प्रवृत्ति नहीं करते हैं” यह
बात प्रसिद्ध है । अर्थात् बुद्धिमान् जन फल की अभिलाषा से ही प्रवृत्ति करते हैं । यदि फल के अभाव
में भी प्रवृत्ति करेंगे तब तो विद्वान् नहीं कहे जा सकेंगे ।

प्रभाकर—प्रसिद्ध अत्यंत क्रोधी राजा के वचन के नियोग से—फल रहित भी वचन के नियोग
से प्रवृत्ति देखी जाती है अतः कोई दोष नहीं है ।

भाट्ट—ऐसा भी नहीं कहना, वह प्रवृत्ति भी अपाय (कष्ट) से परिरक्षण रूप फल वाली है
क्योंकि उस क्रोधी राजा के वचनादेश से प्रवृत्ति न करने पर तो उस राजा की आज्ञा का उलंघन
करने वाले मनुष्यों का घनापहरण आदि अपाय अवश्यभावी है ।

प्रभाकर—तब तो वेदवाक्य से भी नियुक्त हुआ मनुष्य प्रत्यवाय-विघ्नों को दूर करने के लिये
प्रयत्न करे क्योंकि हमारे यहाँ कहा भी है कि विघ्नों को दूर करने के लिये नित्य और नैमित्तिक
अनुष्ठानों को करे अर्थात् “त्रिकाल संध्या, उपासना, जप, देव, ऋषि, पितृ-तर्पण आदि अनुष्ठान
नित्य कर्म कहलाते हैं एवं अमावस्या, पीर्णमासी, ग्रह, ग्रहण आदिकों में किया गया अनुष्ठान नैमित्तिक
कहलाता है । इन नित्यनैमित्तिक क्रियाओं को विघ्नों का नाश करने के लिये करे” ।

१ फलरहितान्नियोगाद्विचारचतुराणां प्रवृत्तिर्न घटते । घटते चेतदा तेषामप्रेक्षावत्त्वं सजतीति । २ अन्यथा । प्रेक्षावतः
फलमभिलष्य प्रवर्तते यदि फलाभावे प्रवर्तते तर्हि—। (व्या० प्र०) । ३ प्रसिद्ध इत्ययं शब्दः खपुस्तके नास्ति ।
४ चण्डस्त्वत्यन्तकोपनः । ५ चण्डनरपतिवचनादेशात् । ६ जनानाम् । ७ वित्तापहारादिः ।

तर्हि¹ वेदवचनादपि नियुक्तः प्रत्यवायपरिहाराय² प्रवर्तताम्—³“नित्यनैमित्तिके⁴ कुर्यात्प्रत्यवायजिहासये⁵” ति वचनात् । ⁶कथमिदानीं⁷ स्वर्गकाम⁸ इति वचनमवतिष्ठते—⁹जुहुयाज्जुहोतु होतव्यमिति लिङ्लोट्त्वव्यप्रत्ययान्त¹⁰ निर्देशमात्रादेव नियोगमात्रस्य सिद्धेस्तत एव च प्रवृत्तिसम्भवात्¹¹ । यदि पुनः फलसहितो नियोग इति पक्षस्तदा फलार्थित्वैव प्रवृत्तिका न नियोगः—¹²तमन्तरेणापि फलार्थिनां प्रवृत्तिदर्शनात् । ¹³पुरुषवचनान्नियोगे¹⁴—यमुपालम्भो¹⁵ ¹⁶नापौरुषेयादग्निहोत्रादिवाक्यात्—¹⁷तस्यानुपालम्भत्वादिति चेत्, “सर्वं वै

“नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिहासया ।
अकुर्वन् विहितं कर्म प्रत्यवायेन लिप्यते ॥”

ऐसा श्रुतिवाक्य है ।

भाट्ट—पुनः विघ्नों के परिहार रूप फल का प्रतिपादन करते समय “स्वर्गकामः” यह वचन कैसे सिद्ध हो सकेगा ? अर्थात् यदि विघ्न का परिहार करने के लिये यज्ञ किया जाता है तब “स्वर्ग की इच्छा करने वाला पुरुष” इस शब्द से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ?

“जुहुयात्, जुहोतु, होतव्यं” इस प्रकार से लिङ्, लोट् और तव्य प्रत्यय जिसके अंत में हैं ऐसे शब्द के निर्देश कर देने मात्र से ही नियोग मात्र सिद्ध है और उसी से ही प्रवृत्ति संभव है । अर्थात् इस संसार में लौकिक विघ्नों को दूर करने की इच्छा रखता हुआ पुरुष होम क्रिया में प्रवृत्त होवे न कि स्वर्ग की इच्छा करने वाला मनुष्य, क्योंकि लिङ्, लोट् और तव्य प्रत्यय स्वरूप ही नियोग है इसलिए स्वर्ग की इच्छा के बिना ही यज्ञादि कर्म में प्रवृत्ति संभव है अतः आप नियोगवादियों को पूर्वापर विरुद्ध दो प्रकार के वचन नहीं कहना चाहिये क्योंकि पाप का परिहार करने के लिए यज्ञादि कर्म हैं पुनः वे यज्ञादि कर्म स्वर्ग की प्राप्ति कैसे करावेंगे ? अतः “स्वर्गकामः” यह शब्द संभव है ऐसा नहीं कहना चाहिये । यदि पुनः आप दूसरा पक्ष लें कि फल सहित ही नियोग है तब तो फल की इच्छा होना ही प्रवृत्तिका-प्रवर्तन कराने वाली है न कि नियोग, क्योंकि उस नियोग के बिना भी फलार्थी-फल की इच्छा करने वाले जनों की प्रवृत्ति देखी जाती है ।

1 प्रभाकरः । 2 पापपरिहारफलाय । अवश्यं विघ्न आयाति धर्मकार्ये तन्निवारणाय । 3 त्रिकालं सन्ध्योपासनजप-देवर्षिपितृतर्पणादिकमित्याद्यनुष्ठानम् । 4 दर्शपौर्णमासीग्रहग्रहणादिषु क्रियमाणं नैमित्तिकानुष्ठानम् । 5 अकुर्वन् विहितं कर्म प्रत्यवायेन लिप्यते इति श्रुतेः । 6 भावनावादी । 7 प्रत्यवायपरिहारस्य फलत्वप्रतिपादनकाले । 8 यदि विघ्नविनाशनाय यज्ञः क्रियते तर्हि स्वर्गकाम इत्यनेन वचनेन किं प्रयोजनम् ? । 9 इहलोकप्रत्यवायपरिहारार्थं पुमान् जुहुयादिति प्रवर्ततां, न तु स्वर्गकाम इति । 10 प्रत्ययस्वरूप एव नियोगः । 11 ततः स्वर्गकामनिरपेक्षतया यागे प्रवर्ततां नाम । 12 नियोगं विनापि । 13 अत्राह नियोगवादी । 14 पूर्वोक्तः सर्वः । 15 दूषणम् । 16 अग्निष्टोमं स्वर्गकामो यजेतेत्याद्यपौरुषेयादग्निहोत्रादिवाक्यान्नियोगे दूषणं न—तस्य वाक्यस्यादूष्यत्वात् । 17 अनुपालम्भत्वात् इति पा० । अदूष्यत्वात् । (व्या० प्र०) ।

खल्विदं ब्रह्मे” त्यादि¹ वचनमपि विधिमात्रप्रतिपादकमनुपालभ्यमस्तु² तत एव । तथा च वेदान्तवादसिद्धिः । तस्मान्न नियोगो वाक्यार्थः³ कस्यचित्प्रवृत्तिहेतुत्वाभावाद्विधिवत्⁴ ।

[पूर्वकथितैकादशप्रकारस्य नियोगस्य क्रमशः निराकरणम्]

सर्वेषु⁵ च पक्षेषु नियोगस्य प्रत्येकं विचार्यमाणस्यायोगान्न वाक्यार्थत्वमवतिष्ठते । तथा हि ।—न तावत्कार्यं शुद्धं नियोग इति पक्षो घटते प्रेरणानियोज्यवर्जितस्य⁷ नियोगस्या-सम्भवात् । तस्मिन्नियोगसंज्ञाकरणे स्वकम्बलस्य⁸ कूर्दालिकेति नामान्तरकरणमात्रे स्यात् । न च तावता⁹ स्वेष्टसिद्धिः । शुद्धा प्रेरणा¹⁰ नियोग इत्यप्यनेनापास्त¹¹⁻¹² नियोज्यफल-¹³

नियोगवादी प्रभाकर—यदि हम अपौरुषेय वचन-पुरुष के वचन से नियोग का अर्थ करें तब तो उपर्युक्त दोष आ सकते हैं किन्तु हम तो अपौरुषेय वेद के अग्निहोत्रादि वाक्य से नियोग मानते हैं अतएव उस मान्यता में आप उलाहना नहीं दे सकते हैं ।

भावनावादी-भाट्ट—तब “सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन । आरामं तस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन ॥” इस विधि मात्र के प्रतिपादक वचन भी निर्दोष सिद्ध होंगे क्या बाधा है ? क्योंकि अपौरुषेयत्व हेतु दोनों जगह समान है और उस प्रकार से तो वेदांतवाद की सिद्धि हो जाती है । इसलिये वेदवाक्य का अर्थ नियोग नहीं है क्योंकि उसमें किसी भी पुरुष की प्रवृत्ति का अभाव है जैसे विधि-परब्रह्म में किसी की प्रवृत्ति नहीं है ।

[प्रारम्भ में जो नियोग के ११ प्रकार से अर्थ किये हैं उनका क्रमशः भाट्ट द्वारा खंडन किया जा रहा है]

उपर्युक्त सभी एकादश प्रकार के पक्षों में प्रत्येक का विचार करने से वह नियोग सिद्ध नहीं होता है अतः वेदवाक्य का अर्थ नियोग करना ठीक नहीं है । तथाहि—

(१) “शुद्ध कार्य नियोग है” यह पक्ष भी घटित नहीं होता क्योंकि “यजेत स्वर्गं कामः” इस प्रकार से प्रेरणा और नियोज्य—स्वर्ग की इच्छा करने वाले श्रोतापुरुष से वर्जित नियोग ही असम्भव है अर्थात् स्वर्ग की इच्छा करने वाले पुरुष से वर्जित नियोग ही असम्भव है । और उसकी नियोग संज्ञा करने पर तो अपने कम्बल को ‘कूर्दालिका-कुदालि’ ऐसा एक भिन्न नाम रख दिया गया मात्र ही हो जाता किन्तु उत्तने से अपने इष्ट अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती है । अर्थात् नियोग पक्ष में स्वर्ग है और कूर्दालिका-कुदाली पक्ष में खोदना आदि है । अर्थात् कुछ का कुछ नाम रख देने से कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती । प्रेरणा और नियोज्य पुरुष से रहित केवल शुद्ध कार्य रूप

1 नेह नानास्ति किञ्चन । आराम (विस्तारं) तस्य पश्यन्ति न तत्पश्यति कश्चन ॥ 2 अदृष्यत्वस्याविशिष्टत्वात् । 3 पुरुषस्य । 4 परब्रह्म यथा । 5 एकादशभेदनियोगेषु । 6 यजेतेति । प्रवर्त्तकत्व । 7 स्वर्गकाम । 8 कुदाली । 9 स्वर्गं । स्वर्गो नियोगपक्षे कूर्दालिकापक्षे खननादि । 10 अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम इत्यादि । 11 पूर्वोक्तेन वक्ष्यमाणेन च । 12 नियोज्यः पुमान् । 13 स्वर्गः । 14 अपौरुषेयत्वादेव । (व्या० प्र०)

रहितायाः ^१प्रेरणायाः ^२प्रलापमात्रत्वान्नियोगरूपतानुपपत्तेः । प्रेरणासहितं कार्यं नियोग इत्यप्यसम्भाव्यम्—नियोज्यविरहे नियोगविरोधात् । कार्यसहिता प्रेरणा नियोग इत्यप्यनेन निरस्तम् । कार्यस्यैवोपचारतः प्रवर्तकत्वं नियोग इत्यप्यसारम्—नियोज्यादिरिरेक्षस्य कार्यस्य ^३प्रवर्तकत्वोपचारायोगात् । कदाचित्क्वचित्परमार्थतस्तस्य^४ तथानुपलम्भाच्च^५ । ^६कार्यप्रेरणयोः^७ सम्बन्धो नियोग इति ^८वचनमसङ्गतम्—^९ततो भिन्नस्य^{१०} सम्बन्धस्य सम्बन्धि-निरिरेक्षस्य ^{११}नियोगत्वाघटनात् ^{१२}सम्बन्ध्यात्मनः सम्बन्धस्य नियोगत्वमित्यपि दुरन्वयम्^{१३}—

नियोग से स्वर्ग नहीं मिल सकता है जैसे कि कम्बल को कुदाली कह देने से उससे सड़क का खोदना नहीं हो सकता है ।

(२) और जो आपने कहा था कि “शुद्ध प्रेरणा ही नियोग है” अर्थात् “अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः” इस कथन का भी पूर्वोक्त कथन से ही निरसन हो जाता है । नियोज्य—पुरुष और उसका फल-स्वर्ग इन दोनों से रहित प्रेरणा प्रलाप मात्र ही है इसलिये वह प्रेरणा नियोग रूप नहीं हो सकती है ।

(३) “प्रेरणा सहित कार्यं नियोग है” यह पक्ष भी असम्भव है क्योंकि नियोज्य मनुष्य के न होने पर नियोग ही असम्भव है ।

(४) “कार्यं सहित प्रेरणा ही नियोग है” इसका भी इसी कथन से निरसन हो जाता है ।

(५) “कार्य ही उपचार से प्रवर्तक होने से नियोग है” यह पक्ष भी असार है । नियोज्य—पुरुष आदि से निरिरेक्ष कार्य में प्रवर्तक का उपचार ही नहीं हो सकता है क्योंकि कदाचित् क्वचित् परमार्थ से वह नियोज्यादि निरिरेक्ष कार्य प्रवर्तक प्रकार से उपलब्ध नहीं होता है । अर्थात् नियोज्य—श्रोता-पुरुष, नियोजक—शब्दादि की अपेक्षा रहित कार्य उपचार से भी यज्ञादि में प्रवृत्ति नहीं करता है । मुख्य रूप से सिंह के असिद्ध होने पर वीर पुरुषों में सिंह का उपचार कर दिया जाता है किन्तु यहाँ कभी कहीं नियोज्यादि से रहित केवल कार्य उस प्रकार से प्रवर्तक नहीं हो सकता है ।

(६) “यागादि कार्यं और वेदवाक्य रूप प्रेरणा का सम्बन्ध ही नियोग है ।” यह वचन भी असंगत है क्योंकि कार्य और प्रेरणा रूप सम्बन्धी से भिन्न सम्बन्ध यदि सम्बन्धी से निरिरेक्ष है तो वह नियोग रूप से घटित नहीं हो सकता है । “संबन्ध्यात्मक सम्बन्ध को नियोग कहना भी दुरन्वय-गलत ही है” क्योंकि प्रेर्यमाण पुरुष से निरिरेक्ष, संबन्ध्यात्मक भी कार्य और प्रेरणा नियोग नहीं हो सकते हैं ।

भावार्थ—सम्बन्धियों से सर्वथा भिन्न पड़ा हुआ सम्बन्ध तटस्थ पदार्थ के समान उनका नियोग

१ प्रेरकत्वस्य । २ निरर्थकत्वात् । ३ निरर्थकत्वादिति भावः । ४ नियोज्यादिरिरेक्षस्य कार्यस्य । ५ प्रवर्तकत्व-प्रकारेण । ६ यागादि । ७ वेदवाक्य । ८ इति च न सङ्गतमिति खपुस्तकपाठः । ९ कार्यप्रेरणारूपेभ्यः सम्बन्धिभ्यः । १० सम्बन्धो हि सम्बन्धिभ्यां भिन्नोऽभिन्नो वेति विकल्पद्वयमवतीति क्रमेण निराकुर्वन्नाह । ११ नियोगत्वेनाघटना-दिति खपुस्तकपाठः । १२ सम्बन्धनावात्मानो स्वरूपे यस्य । १३ दुष्टोपदेशः । (व्या० प्र०)

प्रेर्यमाणपुरुष^१निरपेक्षयोः ^२सम्बन्ध्यात्मनोरपि कार्यप्रेरणयोनियोगत्वानुपपत्तेः । ^३तत्समु-
दायनियोगवादोप्यनेन^४ प्रत्याख्यातः । कार्यप्रेरणाविनिर्मुक्तस्तु नियोगो न विधिवादमतिशेते^५ ।
यत्पुनः स्वर्गकामः पुरुषोऽग्निहोत्रादिवाक्यनियोगे सति यागलक्षणं विषयमारूढमात्मानं मन्य-
मानः प्रवर्तते इति यन्त्रारूढनियोगवचनं तदपि न ^६परमात्मवादप्रतिकूलम्—^७पुरुषाभिमान-
मात्रस्य^८ नियोगत्ववचनात्, ^९तस्य चाविद्योदयनिबन्धनत्वात् । भोग्यरूपो नियोग इति चायु-
क्तम्—^{१०}नियोक्तु ^{११}प्रेरणांशून्यस्य ^{१२}भोग्यस्य तद्भावानुपपत्तेः । पुरुषस्वभावो हि^{१३} न नियोगो
घटते ^{१४}तस्य ^{१५}शाश्वतिकत्वेन नियोगस्य शाश्वतिकत्वप्रसङ्गात् । ^{१६}पुरुषमात्रविधेरेव ^{१७}तथा-
भिधाने वेदान्तवादपरिसमाप्तेः^{१८} कुतो नियोगवादो नाम ।

नहीं हो सकता एवं कार्य और प्रेरणा रूप सम्बन्धियों से अभिन्न तदात्मक हो रहा सम्बन्ध जब तक श्रोता-पुरुष की अपेक्षा नहीं रखेगा तब तक कथमपि नियोग नहीं हो सकता । शिष्य की अपेक्षा नहीं रखकर अध्ययन करने की प्रेरणा करना बहुत ही कठिन है सम्बन्धियों के साथ सम्बन्ध का भेद अथवा अभेद इन दोनों पक्षों में नियोग व्यवस्थित नहीं होता है ।

(७) “उन दोनों का तादात्म्य समुदाय ही नियोग है” उपर्युक्त भिन्न अभिन्न पक्ष उठाने से यह पक्ष भी निरस्त हो जाता है क्योंकि पुरुष के बिना उन दोनों के समुदाय को नियोग कहना उचित नहीं है ।

(८) कार्य और प्रेरणा से रहित भी नियोग विधिवाद का उलंघन नहीं कर सकता है किन्तु विधिवाद ही आ जाता है । तुच्छाभाव को न मानने से आप प्रभाकरों के यहाँ कार्य और प्रेरणा से रहित नियोग वेदान्तवादी के ब्रह्माद्वैतवाद का ही आश्रय ले लेता है ।

(९) जो आपने कहा है कि स्वर्ग की इच्छा करने वाला पुरुष अग्निहोत्रादि वाक्यों से नियुक्त होने पर अपने को याग लक्षण विषय में आरूढ मानता हुआ प्रवृत्ति करता है इस प्रकार से “यन्त्रारूढ नियोग वचन ही नियोग है” यह कथन भी परमात्म-ब्रह्मवाद के प्रतिकूल नहीं है । वहाँ विधिवाद में भी पुरुष के अभिप्राय मात्र को नियोग कहा है और पुरुष का अभिमान-अभिप्राय भो तो अविद्या के उदय से ही होता है ।

(१०) “भोग्य रूप नियोग है” यह कथन भी अयुक्त है क्योंकि नियोक्ता—वेदवाक्य और

१ यसः (कर्मधारयः) । २ संबन्धात्मनोः इति पा० । (व्या० प्र०) ३ तादात्म्यम् । ४ ततो भिन्नस्येत्यादिना । ५ नातिशयं प्राप्नोति । नातिक्रामति । किन्तु विधिवाद एवायातः । ६ विधिवाद । ७ अभिप्रायः । ८ तत्संवेदन-
विवर्तस्तु नियुक्तोहमिति अभिमानरूपो नियोग इति नायं पुरुषादन्यः प्रतीयते । (व्या० प्र०) ९ पुरुषस्याभिमाना-
भावादित्युक्ते वाह । पुरुषाभिमानमात्रस्य । १० वेदवाक्य । ११ प्रवर्तकलक्षणो वाक्यधर्मः । १२ स्वर्गस्य । १३ पुरुषस्वभावोपीति खपुस्तकपाठः । १४ अन्यथा । तस्य पुरुषस्वभावस्य । १५ नित्यत्वेन । १६ अस्तित्वस्य । १७ नियोग इति । १८ प्राप्तेः ।

प्रेरणा-प्रवर्तक लक्षण वेदवाक्य का धर्म इन दोनों से रहित भोग्य-स्वर्ग (भविष्यत्काल में भोगने योग्य पदार्थ) की व्यवस्था नहीं बन सकती है ।

(११) एवं ग्यारहवें पक्ष में माना गया “पुरुष का स्वभाव नियोग है” यह कथन भी घटित नहीं होता है । अन्यथा यदि पुरुष के स्वभाव को ही नियोग मानोगे तो पुरुष का स्वभाव तो शाश्वतिक है पुनः वह नियोग भी शाश्वतिक हो जावेगा । पुरुषमात्र के अस्तित्व को ही “नियोग” कहने पर तो वेदान्तवाद की प्राप्ति हो जाने से नियोगवाद नाम ही कैसे रह सकेगा ?

इस प्रकार आप प्रभाकर द्वारा मान्य ११ प्रकार का नियोग कथमपि सिद्ध नहीं होता है विचार कोटि में रखने पर वह विधिवाद में ही चला जाता है एवं आगे विधिवाद का भी निराकरण कर देने से अपौरुषेय वेदवाक्य एवं उसमें मान्य नियोग, विधि आदि सभी समाप्त हो जाते हैं ।

नियोगवाद के खंडन का सारांश

मीमांसक वेद को अपौरुषेय मानते हैं और उन्हीं के यहाँ जो भेद प्रभेद हैं उनके अर्थ में अनेक की कल्पना करके परस्पर में विसंवाद करते हैं । प्रभाकर मतानुयायी वेदवाक्य का अर्थ नियोग करते हैं, भाट्ट भावना अर्थ करते हैं और वेदान्ती वेदवाक्य का अर्थ विधि करते हैं ।

सर्वप्रथम नियोगवादी का पक्ष स्थापित करके भावनावादी भाट्ट दोष दिखाता है—

भावनावादी—आप प्रभाकर ने वेदवाक्य का अर्थ नियोग किया है सो ठीक नहीं है उसमें अनेक बाधाएँ सम्भव हैं “अग्निष्टोमादि वाक्य से मैं नियुक्त हुआ हूँ” इस प्रकार से निरवशेष योग को नियोग कहते हैं वहाँ भी किञ्चित् चिद् भावना रूप कार्य सम्भव नहीं है क्योंकि आपके यहाँ नियोग का अर्थ अनेक वक्तव्यों ने ग्यारह प्रकार से किया है ।

(१) कोई कहते हैं कि जो लिङ्, लोट् और तव्य प्रत्यय का अर्थ है, शुद्ध है, अन्यनिरपेक्ष है, एवं कार्यरूप (यज्ञरूप) है वही नियोग है ।

(२) वाक्यांतर्गत कर्मादि अवयवों से निरपेक्ष शुद्ध प्रेरणा ही नियोग है ।

(३) प्रेरणा सहित कार्य ही नियोग है ।

(४) कार्य सहित प्रेरणा को नियोग कहते हैं क्योंकि कार्य के बिना कोई पुरुष प्रेरित नहीं होता है ।

(५) कार्य को ही उपचार से प्रवर्तक कहकर उसे नियोग कहते हैं ।

(६) प्रेरणा और कार्य का सम्बन्ध ही नियोग है ।

(७) प्रेरणा और कार्य का समुदाय ही नियोग है ।

(८) इन दोनों से विनिर्मुक्त स्वभाव ही नियोग है ।

(९) यंत्रारूढ़—यागलक्षण कार्य में लगा हुआ जो पुरुष है वही नियोग है ।

(१०) भोग्य—भविष्यत् रूप ही नियोग है ।

(११) पुरुष ही नियोग है ।

इन एकादश पक्षों का विचार करने से वह नियोग सिद्ध नहीं होता है यथा—

(१) “शुद्ध कार्य नियोग है” यह पक्ष असंभव है क्योंकि “यजेत स्वर्गकामः” इस प्रकार प्रेरणा और नियोज्य से रहित नियोग असंभव है ।

(२) जो आपने कहा था “ शुद्ध प्रेरणा ही नियोग है” क्योंकि नियोज्य—पुरुष और उसका फल—स्वर्ग उससे रहित प्रेरणा प्रलाप मात्र है ।

(३) “प्रेरणा सहित कार्य ही नियोग है” इसमें भी नियोज्य मनुष्य के न होने पर नियोग ही असम्भव है ।

(४) “कार्य सहित प्रेरणा” का इसी से निरसन हो गया ।

(५) “कार्य को ही उपचार से प्रवर्तक कहना” भी असार है क्योंकि पुरुषादि से निरपेक्ष कार्य (यज्ञ) में प्रवर्तक का उपचार ही असम्भव है ।

(६) “कार्य और प्रेरणा का संयोग” अर्थ करने पर तो इन दोनों सम्बन्धी से भिन्न सम्बन्ध यदि सम्बन्धी से निरपेक्ष है तो वह नियोग रूप से नहीं घटता है ।

(७) “उन दोनों का समुदाय” अर्थ कहने पर वह उससे भिन्न है या अभिन्न ? इत्यादि विकल्पों से दूषित हो जाता है ।

(८) “कार्य और प्रेरणा से रहित नियोग” विधिवाद में ही प्रविष्ट हो जाता है ।

(९) “यंत्रारूढ़ नियोग वचन ही नियोग है” इस कथन से भी विधिवाद ही आता है ।

(१०) भोग्य को नियोग कहने से वेदवाक्य और प्रेरणारूप वाक्य का धर्म इन दोनों से रहित भोग्य-स्वर्ग की व्यवस्था ही असम्भव है ।

(११) “पुरुष का स्वभाव नियोग है” ऐसा अर्थ करने पर तो पुरुष का स्वभाव शाश्वतिक होने से नियोग भी शाश्वत हो जावेगा ।

इस प्रकार से ११ विकल्पों में कहा गया नियोग सिद्ध नहीं होता तथा इनमें आठ विकल्प और उठते हैं कि ये ग्यारहों विकल्प रूप नियोग प्रमाण है या प्रमेय, उभय रूप है या अनुभय रूप तथा शब्द व्यापार रूप है या पुरुष व्यापार रूप, दोनों के व्यापार रूप है या दोनों के व्यापार से रहित ?

यदि आप प्रथम पक्ष लेवें तो विधिवाद आ जावेगा क्योंकि प्रमाण तो चिदात्मक है । यह आत्मा “दृष्टव्यः, श्रोतव्यो, निदिध्यासितव्यः” इत्यादि वाक्यों के सुनने से अवस्थांतर से विलक्षण “मैं प्रेरित हुआ हूँ” ऐसी अहंकार बुद्धि से आत्मा ही प्रतिभासित होती है और वही विधि है । यदि दूसरा पक्ष लेवें तो प्रमेय को ग्रहण करने वाला कोई प्रमाण मानना होगा अन्यथा प्रमाण के अभाव में प्रमेय कैसे रहेगा ? एवं प्रमेय रूप नियोग पुरुष से भिन्न न होने से आप वेदान्ती बन जावेंगे ।

यदि उभयरूप को नियोग कहें तब तो नियोग को ज्ञान पर्याय-चिदात्मक मानने से विधिवाद ही सिद्ध हो जाता है यदि अनुभय स्वभाव कहो तो उभयरूप से रहित संवेदनमात्र ही पारमार्थिक होने से विधिवाद ही आवेगा। यदि शब्द व्यापार को नियोग कहो तो “अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः” इत्यादि शब्द का व्यापार नियोग होने से आप हमारे-भाट्ट के मत में प्रवेश कर जावेंगे क्योंकि हमने “शब्द भावना” को नियोग कहा है। एवं छठे पक्ष में भी आप भाट्ट ही हो जावेंगे कारण हमने पुरुष के व्यापार को भी भावना स्वभाव कहा है। हमारे यहाँ भावना के २ भेद हैं-शब्द भावना और अर्थ-भावना। यदि उभय के व्यापार का नियोग कहो तो क्रम से कहोगे या युगपत् ? क्रम से कहो तो वही भाट्टमत प्रवेश नाम का दोष आता है। यदि युगपत् कहो तो एक जगह एक साथ उभय स्वभाव की व्यवस्था नहीं होगी। अनुभय स्वभाव को नियोग कहो तो वह यागादि कर्म रूप विषय का स्वभाव है या फल का स्वभाव है अथवा निःस्वभाव ?

यदि विषय स्वभाव कहो तो यागादि अर्थ के विषय विद्यमान हैं या नहीं ? यदि वेदवाक्य के काल में विषय अविद्यमान हैं तो उस विषय का स्वभाव रूप नियोग भी अविद्यमान ही रहा। यदि विद्यमान कहो तो वह वेदवाक्य के काल में विषय स्वभाव विद्यमान होने से वाक्य का अर्थ नहीं होगा क्योंकि वह तो यागादि को निष्पादन करने के लिये हुआ है। निष्पन्न हुये यागादि का पुनः निष्पादन शक्य नहीं है। यदि यागादि का रूप किञ्चित् अनिष्पन्न है उसे निष्पादन करने के लिये नियोग है कहो तो यागादि विषय स्वभाव नियोग भी अनिष्पन्न होने से वेदवाक्य का अर्थ कैसे होगा ? यदि फल स्वभाव नियोग है कहो, तो स्वर्गादि का फल नियोग नहीं है क्योंकि वह स्वर्गादि फल वाक्य के काल में अविद्यमान है यदि असन्निहितफल को भी नियोग कहो तो निरालंबवाद-बौद्ध के मत में प्रवेश हो जावेगा क्योंकि वे शब्द को निरालंब-अन्यापोह अर्थवाला कहते हैं यदि निःस्वभाव कहो तो भी अन्यापोहवाद ही आवेगा।

दूसरी बात यह है कि यह नियोग सत् है या असत्, उभयरूप है या अनुभयरूप ? प्रथम पक्ष में विधिवाद है। द्वितीय में निरालंब-शून्यवाद है, उभयपक्ष में उभय पक्षोपक्षिप्त दोष है एवं चतुर्थ पक्ष में विरोध दोष आता है क्योंकि सत् के निषेध में असत् का विधान होगा ही। यदि सर्वथा सत् असत् का निषेध करो तो कथञ्चित् सत् असत् आ जाता है जो कि स्याद्वाद का आश्रय ले लेता है, वह आपको इष्ट नहीं है। पुनः नियोग प्रवर्तक स्वभाव है या अप्रवर्तक स्वभाव ? यदि प्रथम पक्ष लेवो तो आप प्रभाकर के समान ही वह बौद्धों को भी प्रवर्तक हो जावेगा क्योंकि सर्वथा प्रवर्तक स्वभाव है यदि दूसरा पक्ष लेवो तो वह नियोग प्रवृत्ति का हेतु न होता हुआ वेदवाक्य के अर्थ के अभाव को ही सिद्ध करेगा। तथा यह नियोग फल रहित है या फल सहित ? यदि प्रथम विकल्प कहो तो फल रहित नियोग से कोई भी बुद्धिमान प्रवृत्त नहीं होगा क्योंकि प्रयोजन के बिना मूर्ख भी प्रवृत्ति नहीं करता है यदि कहो कि अत्यन्त क्रोधी राजा के फल रहित भी वचन के नियोग से प्रवृत्ति देखी जाती है सो भी प्रवृत्ति कष्ट से परिरक्षण रूप फल वाली है क्योंकि क्रोधी राजा के वचनादेश से प्रवृत्ति न करने पर धनापहरण, मृत्यु दंड आदि अवश्यंभावी हैं। इस पर यदि कहें कि वेदवाक्य से नियुक्त हुआ पुरुष विघ्नों को दूर करने के लिये ही प्रवृत्ति करता है क्या बाधा है ? त्रिकाल संध्योपासन, पितृऋषितर्पण आदि नित्य कर्म और पूर्णमासी आदि तिथियों में किया गया अनुष्ठान नैमित्तिक कर्म है। कहा भी है—

‘ नित्यनेमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिहासया ।
अकुर्वन् विहितं कर्म प्रत्यवायेन लिप्यते ॥’

परन्तु यह कथन भी विरुद्ध है। विघ्नों के परिहार रूप फल को प्रतिपादन करते समय “स्वर्गकामः” यह वचन कैसे सिद्ध होगा? जब विघ्न का परिहार करने के लिये यज्ञ किया जाता है तब “स्वर्गकामः” इस शब्द से क्या प्रयोजन है? अतएव “जुहुयात् जुहोतु होतव्यं” इन लिङ्, लोट्, तव्य प्रत्यय को अन्त में रखकर निर्देश कर देने से नियोग मात्र सिद्ध हो गया उसी से प्रवृत्ति सम्भव है इसलिये स्वर्ग की इच्छा के बिना भी याग कर्म में प्रवृत्ति हो गई।

यदि फल सहित नियोग है ऐसा कहो तो फल की इच्छा होना ही प्रवर्तक है न कि नियोग, क्योंकि नियोग के बिना भी फलार्थीजनों की प्रवृत्ति देखी जाती है।

नियोगवादी—ये सभी दोष तो तब भावेंगे जब हम वेद को पौरुषेय-पुरुषकृत मानें। हमारे यहाँ अपौरुषेय वेदवाक्य से नियोग अर्थ मानने में कोई दोष नहीं आते हैं।

भाट्ट—तब तो आपको ‘सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन, आरामं तस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन’ इत्यादि विधि वचन को भी प्रमाण मानना होगा। अतः एकादश प्रकार के सभी पक्षों में प्रत्येक का विचार करने पर वह नियोग सिद्ध नहीं होता है।



[भाट्टो नियोगवादं निराकृत्याधुना विधिवादं निराकरोति]

१ नन्वेवं नियोगनिराकरणेऽपि २ विधेर्विक्यार्थत्वघटनान्न भावना वाक्यार्थः सिद्धो भट्टस्येति न ३ चेतसि विधेयम् ४—विधेरपि विचार्यमाणस्य बाध्यमानत्वात् । सोऽपि हि प्रमाणरूपो वा स्यात् प्रमेयरूपो वा तदुभयरूपो वा अनुभयरूपो वा पुरुषव्यापाररूपो वा ५ शब्द-व्यापाररूपो वा द्वयव्यापाररूपो वाऽद्वयव्यापाररूपो वेत्यष्टौ विकल्पान्नातिक्रामति । तथाहि ।

[विधेः प्रमाणरूपाभ्युपगमे दोषानाह]

प्रमाणं विधिरिति ६ कल्पनायां प्रमेयं किमपरं स्यात् ? ७ तत्स्वरूपमेवेति चेन्न—सर्वथा निरंशस्य सन्मात्रदेहस्य विधेः प्रमाणप्रमेयरूपद्वयविरोधात् । ८ कल्पितत्वात्तद्रूपद्वयस्य

[प्रभाकर नियोगवाद को मानता है जैनाचार्यों ने भावनावादी भाट्ट के मुख से उस नियोगवादी का खंडन कराया है । अब जैनाचार्य पुनः विधिवादी वेदान्ती का भी खंडन भाट्ट के द्वारा ही करा रहे हैं ।]

विधिवादी [वेदांतवादी]—इस प्रकार से नियोग का निराकरण हो जाने पर भी वेद का अर्थ विधि ही घटित होता है किन्तु आप भाट्टों के द्वारा मान्य वेदवाक्य का भावना अर्थ सिद्ध नहीं हो सकता है ।

भाट्ट—ऐसा भी तुम्हें मन में नहीं समझना चाहिये क्योंकि विधिवाद को भी विचार की कोटि में रखने से वह बाधित हो जाता है । उस विधि अर्थ में हम प्रश्न करेंगे कि वह विधि प्रमाण रूप है या प्रमेयरूप, उभयरूप है या अनुभयरूप, पुरुष व्यापार रूप है या शब्द व्यापार रूप, द्वय—इन दोनों के व्यापार रूप है या अद्वय—इन दोनों से रहित व्यापार रूप है ? इन आठ विकल्पों का उलंघन वह विधि—ब्रह्मवाद भी नहीं कर सकता है ।

[विधि को प्रमाण रूप मानने पर उसका खंडन]

(१) तथाहि—विधि को प्रमाण मानने पर आप ब्रह्माद्वैतवादियों के यहाँ अन्य प्रमेय नाम की और क्या वस्तु होगी ? यदि आप कहो विधि (ब्रह्म) का स्वरूप ही प्रमेय है तब तो सर्वथा निरंश, सन्मात्रदेहवाले विधि—परब्रह्म के प्रमाण और प्रमेय ऐसे दो रूप नहीं हो सकते हैं क्योंकि विरोध आता है ।

वेदांती—कल्पित होने से वे प्रमाण और प्रमेय दोनों रूप वहाँ पर विधि में अविहद्ध हैं ।

1 अथ नियोगवादिनं निराकृत्य भट्टो विधिवादिनं दूषयति । 2 वाक्यार्थनिवेदनादिति खपाठः । 3 त्वया विधि-वादिनेति शेषः । 4 निधेयं इति वा पाठः । (व्या० प्र०) 5 यदि शब्दः सद्भावस्वरूपं नाभिदधाति निषेधस्वरूपमभि-दधाति चेतदभावे क्वचिद्वस्तुनि प्रवृत्तिर्न स्मात् । 6 ब्रह्माद्वैतवादिनाम् । 7 विधिस्वरूपमेव । 8 ननु स एव चिदा-त्मोभयस्वभावतया स्वात्मानं प्रकाशयन्नित्युक्तं तावत्, साम्प्रतं निरंशतैवोच्यतेऽतः पूर्वापरविरोधः इति चेन्न, प्रमेय-स्वभावः काल्पनिकः प्रतिपाद्यार्थमुच्यते न तु वास्तवस्तद्विवर्तत्वात्तस्य ।

तत्राविरोध इति चेत्, ¹कथमिदानीमन्यापोहः² शब्दार्थः प्रतिषिध्यते³—संविन्मात्रस्या-
प्रमाणत्व⁴व्यावृत्त्या प्रमाणत्वमप्रमेयत्वव्यावृत्त्या च प्रमेयत्वमिति । ⁵परैरभिधातुं शक्य-
त्वात् । ⁶वस्तुस्वभावाभिधायकत्वाभावे शब्दस्यान्यापोहा⁷भिधायकत्वेऽपि ⁸क्वचित्⁹ प्रवर्त-
कत्वायोगान्नान्यापोहः शब्दार्थ इति चेत्, तर्हि वस्तुस्वरूपाभिधायिनोपि शब्दस्यान्यापोहान¹⁰।

भाट्ट—तब तो बौद्धाभिमत शब्द का अर्थ अन्यापोह है उसका आप निषेध कैसे करते हैं ? क्योंकि “अप्रमाण की व्यावृत्ति से प्रमाण और अप्रमेय की व्यावृत्ति से प्रमेय है” इस प्रकार से संविन्मात्र को ही विज्ञानाद्वैतवादी योगाचार बौद्ध ने स्वीकार किया है ।

भावार्थ—शंका यह हुई थी कि चिदात्मा प्रमाण एवं प्रमेयरूप उभयस्वभाव से अपने को प्रकाशित करता हुआ युक्त है ऐसा विधिवादी का कहना था पुनः ऐसा कह दिया वह परमब्रह्म निरंश ही है इसलिये परस्पर विरुद्ध हो गया ऐसा कहने पर उसने कहा कि प्रमेय स्वभाव तो काल्पनिक है और वही प्रतिपाद्य अर्थ है वह वास्तविक नहीं है वह तो उस ब्रह्म की ही पर्याय है । तब उस भाट्ट ने कहा कि प्रमाण और प्रमेय दोनों रूपों को कल्पित कहने पर तो बौद्ध भी शब्द का अर्थ अन्यापोह करता है उसका निषेध आप क्यों करते हैं क्योंकि बौद्धों के यहाँ भी संविन्मात्र-विज्ञानमात्र तत्त्व अप्रमाण की व्यावृत्ति से प्रमाण रूप है और प्रमेय भी अप्रमेय की व्यावृत्ति से प्रमेय रूप है ऐसा संवेदनाद्वैतवादी बौद्ध भी कह सकते हैं क्या बाधा है ? मतलब—आप विधिवादी प्रमाण प्रमेय दोनों को कल्पना रूप से विधि में विरुद्ध नहीं मानते हो तब तो “अगोव्यावृत्तिर्गोः, अघटव्यावृत्तिर्घटः” इत्यादि लक्षण अभावात्मक-अन्यापोह रूप शब्द का अर्थ क्यों नहीं मान लेते हो, उसका निषेध क्यों करते हो क्योंकि कल्पित रूप तो प्रमाण और अन्यापोह दोनों में समान है ? जैसे आप वेदांतवादी प्रमाण को कल्पित मानते हो वैसे ही बौद्ध अन्यापोह को कल्पित मानते हैं इसलिये दोनों में कोई अन्तर नहीं दीखता है ।

विधिवादी—आप बौद्ध की मान्यतानुसार शब्द अन्यापोह का कथन करने वाले भले ही हों किन्तु वस्तु के स्वभाव का कथन करने वाले नहीं हैं । अतः उन शब्दों की क्वचित्-विधि में प्रवृत्ति नहीं होती है इसीलिये शब्द का अर्थ अन्यापोह नहीं है ।

1 प्रमाणप्रमेयरूपद्वयस्य कल्पितत्वाभिधानकाले । 2 विधी कल्पितत्वात्प्रमाणप्रमेयरूपद्वयं घटते चेत्कल्पितं किमन्या-
पोहः ? स एव शब्दार्थस्तत्रापि वाक्यार्थत्वघटनात् । 3 अत्राह सौगतमतमवलम्ब्य भावनावादी विधिवादिनं प्रति ।
—हे विधिवादिन् कल्पनारूपत्वात्प्रमाणप्रमेयरूपद्वयं विधी न विरुध्यते इति त्वया प्रतिपाद्यते चेत् तर्हि कल्पनारूप-
त्वादगोव्यावृत्तिर्गोः अघटव्यावृत्तिर्घट इत्यादिलक्षणः सौगताभ्युपगतशब्दार्थः अन्यापोहः अभावात्मकस्त्वया विधि-
वादिना कथं निराक्रियते ? प्रमाणान्यापोहयोः कल्पितत्वाविशेषात् । 4 शून्य । 5 सौगतैः संविन्मात्रपक्षग्राहकैः ।
6 विधिवादी । 7 तदा शब्दो वस्तुस्वरूपमभिदधाति अन्यापोहस्वरूपं नाभिदधाति चेदन्यपरिहारेण प्रवृत्तिर्न स्यात्
स्वपररूपयोः सङ्गरो भवेदित्यर्थः । 8 विधी । 9 सर्वत्र निवर्तकत्वात् । (व्या० प्र०) 10 विधेयत्वात्प्राप्तत्वात् ।

भिधायित्वे¹ऽन्य²परिहारेण क्वचित्प्रवृत्तिनिबन्धनतापा³याद्विधिरपि शब्दार्थो मा भूत् ।
⁴परमपुरुषस्यैव ⁵विधेयत्वात्तदन्य⁶स्यासम्भवान्नान्यपरिहारेण ⁷प्रवृत्तिरिति चेत् कथमि-
 दानीं⁸ “दृष्टव्यो⁹रेयमात्मे” ¹⁰त्यादिवाक्यान्नैरात्म्यादि¹¹परिहारेणात्मनि ¹²प्रवृत्तिर्नैरा-
 त्म्यादिदर्शनादीनामपि प्रसङ्गात् । ¹³नैरात्म्यादेरनाद्यविद्योपकल्पितत्वान्न ¹⁴तद्दर्शनादौ प्रवृ-
 त्तिरिति चेत्¹⁵ कथमन्यपरिहारेण प्रवृत्तिर्न भवेत् ? ¹⁶परमब्रह्मणो ¹⁷विधिरेवान्य¹⁸स्यानाद्य-

भाट्ट—यदि ऐसा कहो तब तो वस्तु स्वरूप का कथन करने वाले भी शब्द अन्यापोहका कथन करने वाले नहीं हैं ऐसा मानने पर तो आपके यहाँ ब्रह्म को छोड़कर अन्य कोई है ही नहीं अतः अन्य का परिहार करके वे शब्द कहीं पर भी प्रवृत्ति के निमित्त नहीं हो सकेंगे इसलिये विधि भी शब्द का अर्थ मत होवे । अर्थात् विधि तो प्रवर्तनस्वभाव वाली ही है तो फिर अन्य का निषेध करके एक ब्रह्म के विषय में ही नियम रूप से वह प्रवृत्ति कैसे करावेगी ?

विधिवादी—परम पुरुष ही विधेय है क्योंकि ब्रह्म को छोड़कर कोई भिन्न वस्तु है ही नहीं इसलिये अन्य का परिहार करने से विधि में प्रवृत्ति ही नहीं होगी ।

भाट्ट—यदि ऐसा कहो तो अन्य का परिहार करके प्रवृत्ति के न होने रूप समय में “दृष्टव्योऽरेयमात्मा श्रोतव्योऽनुमतव्यो निदिध्यासितव्यः” अरे मंत्रेय ! यह आत्मा देखने योग्य है, श्रवण करने योग्य है, अनुमनन करने योग्य है और ध्यान करने योग्य है, इत्यादि वाक्यों से नैरात्म्य दर्शनादिकों का परिहार करके आत्मा में प्रवृत्ति कैसे हो सकेगी ! अन्यथा—यदि नैरात्म्यादि दर्शन का परिहार नहीं मानोगे तो उनका भी प्रसंग आ जावेगा अर्थात् नैरात्म्यादि सिद्धान्त भी मानने पड़ेंगे ।

भावार्थ—यहाँ यदि आप वेदांती के वचन केवल विधि वाक्य को ही कहते हैं, निषेधवाक्य को नहीं कहते हैं तो फिर आप क्षणिकवाद, शून्यवाद आदि का परिहार भी कैसे करेंगे ? पुनः आपके ब्रह्मवाद में शून्यवाद आदि आ घुसेंगे, आप किसी को भी नहीं रोक सकेंगे ।

वेदांती—नैरात्म्यादि दर्शन तो अनादिकालीन अविद्या से ही उपकल्पित हैं अतः उन दर्शनों में शब्द की प्रवृत्ति नहीं होती है ।

1 विधेयत्वात्प्राप्यत्वात् । 2 अन्यद् ब्रह्मव्यतिरिक्तं वस्तु नास्ति विधिवादिनो मते । 3 अनियामकत्वाद् विधेः प्रवर्तनस्वभावत्वादन्वपरिहारेण क्वचित् प्रवृत्तिः कथं स्यात् । (व्या० प्र०) 4 विधिवादी । 5 प्राप्यत्वात् । 6 परमपुरुषात्किञ्चिद्भिन्नं वस्तु नास्ति यतः । 7 विधो । 8 अन्यपरिहारेण प्रवृत्त्यभावप्रतिपादनकाले । 9 दृष्टव्यः श्रुतवाक्येभ्यो मंतव्यश्चोपपत्तितः । मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः । इति स्मृति वाक्यं । (व्या० प्र०) 10 दृष्टव्योयमात्मा श्रोतव्योनुमन्तव्यो निदिध्यासितव्य इति श्रुतिः । 11 सौख्यत आह ।—हे विधिवादिन् अन्यथा नैरात्म्यादि परिहाराभावे पुरुषे शब्दस्य प्रवृत्तिर्घटते चेत्तदा नैरात्म्यादिदर्शनादीनामपि प्रवृत्तिर्घटताम् । 12 अन्यथा । 13 विधिवाद्याहानात्मवादिकम् ।—अनाद्यज्ञानोपरूढं यतस्तस्मान्नैरात्म्यादिदर्शनश्रवणादौ प्रवृत्तिर्न घटते । 14 नैरात्म्य । 15 भाट्टः । 16 विधिवादी (परब्रह्मणः) । 17 विधानम् । 18 अन्यापोहस्य ।

विद्योपकल्पितस्य नैरात्म्यादेः परिहार¹ इति चेत्² कथमेवमन्यापोह³वादिनोपि परापोह-
हनमेव स्वरूपविधिर्न⁴ भवेत् ?⁵ तस्यान्यापोहवादविरोधा⁶न्नैवमिति चेत्⁷ विधिवादिनोपि⁸
तथा विधिवादविरोधादन्यापोहाभ्युपगमो मा भूत् ।⁹ परमार्थतो न्यापोहो विधिवादिना
नैवाभ्युपगम्यते तस्य प्रतिभास¹⁰समानाधिकरणत्वेन¹¹ प्रतिभासान्तःप्रविष्टत्वसिद्धेः परम-
पुरुषत्वात्, प्रतिभासस्वरूपवत् । तस्याप्रतिभासमानत्वे¹² व्यवस्थानुपपत्तेरन्यथातिप्रसङ्गात्¹³ ।

भाट्ट—यदि ऐसा मानते हो तो पुनः अन्य का परिहार करके शब्द की प्रवृत्ति कैसे नहीं होगी ?

वेदांती—परब्रह्म की विधि ही तो अनादि अविद्या से उपकल्पित—माने गये नैरात्म्यादि अन्यदर्शनों का परिहार है ।

भाट्ट—तब तो अन्यापोह वादी बौद्ध-शून्यवादियों के द्वारा पर का अपोहन—अभाव करना भी स्वरूप की विधि क्यों न हो जावेगा अर्थात् हो ही जावेगा । मतलब यह है कि शून्यवादियों के अन्यापोह से भी स्वरूप का ही विधान होता है ऐसा मान लेना चाहिये ।

विधिवादी—उस विधि का अन्यापोहवाद से विरोध है इसलिये वह अन्यापोह स्वरूप का विधान करने वाला नहीं हो सकता है । अर्थात् बौद्धों के यहाँ सभी वस्तुयें अपने स्वभाव से शून्य ही हैं क्योंकि स्वरूप की विधि—अस्तित्व को उन्होंने स्वीकार ही नहीं किया है और अन्य के अभाव वस्तु से स्वरूप का विधान तो होता ही नहीं है ।

भाट्ट—तब तो आप विधिवादियों के यहाँ भी विधि-कथन के प्रकार से अन्यापोह में विधिवाद का विरोध होने से अन्यापोह की स्वीकृति नहीं होनी चाहिये ।

विधिवादी—हम वेदांतियों ने तो परमार्थ से अन्यापोह को स्वीकार ही नहीं किया है वह अन्यापोह तो प्रतिभास-समानाधिकरण रूप के प्रतिभास के अन्तःप्रविष्ट सिद्ध है क्योंकि वह परम पुरुष रूप है जैसे कि प्रतिभास का स्वरूप । यदि उस अन्यापोह को प्रतिभासमान नहीं मानोगे तब तो व्यवस्था ही नहीं हो सकेगी, अन्यथा अतिप्रसंग आ जावेगा ।

1 निषेधः । 2 सौगतः । भाट्टः । 3 शून्यवादिनः । 4 अपि तु भवेदेव (विधिवादे दूषणं दत्तम्) । 5 विधिवाद्याह ।
—तस्यविधेरन्यापोहवादेन विरोधाद्धे सौगत ! यदुक्तं त्वया अन्यापोहनमेव विधिस्तदेवं न स्यात् । 6 सर्वेषां वस्तूनां
निःस्वभावत्वं बौद्धानां मते यतः । स्वरूपविधेरनगीकारादन्यस्यापोहनं स्वरूपविधिरिति नास्ति यतः । (ब्या० प्र०)
7 सौगतः । भाट्टः । 8 अन्यापोहस्य विधिकथनप्रकारेण । 9 विधिवादी । 10 विधिः प्रतिभासतेऽपोहः प्रतिभासते
इत्यन्यापोहस्य प्रतिभाससामानाधिकरण्यम् । विधिवादिनोऽनुमानम् ।—अन्यापोहः पक्षः प्रतिभाससामानाधिकरणत्वेन
कृत्वा प्रतिभासान्तःप्रविष्टो भवतीति साध्यो धर्मः—प्रतिभासमानत्वात् । यत्प्रतिभासमानं तत्प्रतिभासान्तःप्रविष्टम् ।
प्रतिभासते चायं तस्मात्प्रतिभासान्तःप्रविष्टः । विधिवाद्याह ।—अन्यापोहः प्रतिभासते न प्रतिभासते वा ? प्रति-
भासते चेत्तदा विधौ प्रविष्टः । न प्रतिभासते चेत्तदा तस्य व्यवस्थितिरपि नास्ति । 11 भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां
एकस्मिन्नधिकरणे प्रवृत्तिः समानाधिकरणत्वं । (ब्या० प्र०) 12 असावन्यापोह इति । (ब्या० प्र०) 13 अप्रति-
भासमानत्वेऽन्यापोहस्य स्थितिरुपपद्यते चेत्तदातिप्रसङ्गः स्यात् । असतः स्थितिश्चेत्तदा खरविषाणादेरपि सास्तु ।

¹शब्दज्ञानेस्यानु²मानज्ञाने³ चान्यापोहस्य प्रतिभासनेपि तत्समानाधि⁴करणतया प्रतिभासनात् 5ततोन्त्यत्वम् । तस्य⁶ च शब्दानुमानज्ञानस्य प्रतिभासमात्रात्मकत्वान्ना⁷र्थान्तरत्वमिति चेत् कथमिदा⁸नीमुपनिषद्वाक्य⁹ ¹⁰प्रतिभासमात्रादन्यत्लिङ्ग¹¹ वा¹² यतस्तत्प्रतिपत्तिः ¹³प्रेक्षावतः स्यात् । तस्य¹⁴ परमब्रह्म¹⁵विवर्तत्वाद्द्विवर्तस्य च ¹⁶विवर्त्तितोऽभेदेन¹⁷

भावार्थ—विधि प्रतिभासित होता है, अन्यापोह प्रतिभासित होता है । इस प्रकार से अन्यापोह प्रतिभास समानाधिकरण है, विधिवादियों के अनुमान में अन्यापोह पक्ष है, प्रतिभास समानाधिकरण रूप से प्रतिभास के अन्तः प्रविष्ट है यह साध्य है, प्रतिभासमानत्वात् यह हेतु है । वे विधिवादी प्रश्न करते हैं कि अन्यापोह प्रतिभासित होता है या नहीं ? यदि होता है तो विधि में ही प्रविष्ट है, यदि नहीं होता है तो उसकी स्थिति ही नहीं हो सकती है । एवं प्रतिभासमान न होने पर भी यह अन्यापोह है इस प्रकार से उसकी स्थिति मानों तो असत् खर विषाणादि की भी स्थिति माननी पड़ेगी ।

शब्दज्ञान और अनुमानज्ञान में इस अन्यापोह का प्रतिभास होने पर भी तत्समानाधिकरण-अभेद रूप से प्रतिभासित होने से वह अन्यापोह प्रतिभास से भिन्न नहीं है । एवं वह शब्दज्ञान और अनुमानज्ञान भी प्रतिभासमात्रात्मक स्वरूप वाला होने से प्रतिभास से भिन्न नहीं है ।

भाट्ट—प्रतिभास का समानाधिकरण होने से अन्यापोहादि प्रतिभास से भिन्न नहीं है ऐसा कहने पर तो “सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म” इत्यादि उपनिषद्वाक्य अथवा “प्रतिभासमानत्वात्” हेतु प्रतिभासमात्र—परमब्रह्म से भिन्न कैसे हो सकेंगे कि जिससे उनका ज्ञान विद्वानों को हो सके अर्थात् ऐसी मान्यता में तो विद्वानों को उपनिषद्वाक्य अथवा हेतु का ज्ञान भी नहीं हो सकेगा ।

विधिवादी—वह हेतु परमब्रह्म की पर्याय है तथा पर्यायों अपने पर्यायी परमब्रह्म से अभिन्न मानी गई हैं, अतः उनका ज्ञान होता है । अथवा पाठांतर ऐसा भी है कि ये हेतु आदि परब्रह्म से भेद रूप कल्पित किये जाते हैं, वास्तव में उस ब्रह्म से उनमें भेद नहीं है । अतः भेद रूप से माने जाने से ही उनका ज्ञान होता रहता है ।

1 अन्यापोह इति । 2 अन्यापोहोस्ति-अमुकत्वात् । 3 शब्दज्ञानेऽनुमानज्ञाने इ० पा० । (व्या० प्र०) 4 अभेदतया । 5 प्रतिभासादन्यापोहस्यान्यत्वं न । 6 शब्दज्ञानानुमानज्ञानसमानाधिकरणत्वे न द्वैतप्रसंग इति शंकां परिहरति । (व्या० प्र०) 7 प्रतिभासात् । विधेः । 8 प्रतिभाससमानाधिकरण्यात्प्रतिभासादन्यापोहादीनामभेदप्रतिपादनकाले । 9 सर्वं वै खल्विदं ब्रह्मेत्यादि । 10 ब्रह्मणः । 11 प्रतिभासमानत्वम् । 12 कथं । (व्या० प्र०) 13 परमब्रह्म-परिज्ञानं विचारकस्य कुतः स्यात् ? न कुतोपि । 14 विधिवादी प्राह ।—लिङ्गस्य । 15 “पूर्वाकारपरित्यागादपरः प्रतिभाति चेत् । विवर्त्तः स परिज्ञेयो दर्पणे प्रतिबिम्बवत्” (“पूर्वाकारपरित्यागादिति कपाठः) । 16 ब्रह्मणः । 17 भेदेन कल्पनमेव न तु परमार्थता भेदः । भेदेन इति पा० । (व्या० प्र०)

परिकल्पनात्ततस्तत्प्रतिपत्तिरिति चेत् ¹कथं तत्परिकल्पिताद्वाक्याल्लिङ्गाद्वा परमार्थ-
पथावतारिणः परमब्रह्मणः प्रतिपत्तिः—परिकल्पिताद्धूमादेः पारमार्थिकपात्रकादि-
प्रतिपत्तिप्रसङ्गात् । ²पारमार्थिकमेवोपनिषद्वाक्यं लिङ्गं च परमब्रह्मत्वेनेति³ चेत् तर्हि⁴
यथा तत्पारमार्थिकं ⁵तथा साध्यसमं⁶ कथं पुरुषाद्वैतं व्यवस्थापयेत्⁷ ? यथा⁸ च प्रतिपाद्य-
⁹जनस्य प्रसिद्धं न तथा¹⁰ पारमार्थिकं¹¹—द्वैत¹²प्रसङ्गात् । इति कुतः परमार्थसिद्धिः । ¹³त-
स्तामभ्युपगच्छता पारमार्थिकमुपनिषद्वाक्यं लिङ्गं च¹⁴ प्रतिपत्तव्यम् । ¹⁵तच्चाचित्स्वभावं,

भाट्ट—परिकल्पित उपनिषद्वाक्य से अथवा कल्पित हेतु से, परमार्थ-पथावतारी—वास्तविक परमब्रह्म का ज्ञान कैसे हो सकेगा ? अन्यथा परिकल्पित धूमादि से वास्तविक अग्नि आदि का भी ज्ञान होने लगेगा ।

विधिवादी—उपनिषद्वाक्य और हेतु ये दोनों पारमार्थिक ही हैं, क्योंकि वे परमब्रह्म रूप ही हैं ।

भाट्ट—तब तो जैसे वे पारमार्थिक हैं वैसे ही कल्पितरूप से साध्यसम-असिद्ध पुरुषाद्वैत को कैसे व्यवस्थापित कर सकेंगे ? क्योंकि जिस प्रकार से कल्पित रूप से प्रतिपाद्य जनों को प्रसिद्ध है उसी प्रकार से वे पारमार्थिक नहीं है अन्यथा द्वैत का प्रसंग आ जावेगा इस प्रकार से परमार्थ की सिद्धि कैसे हो सकेगी ? इसलिये उपनिषद् वाक्य और हेतु से परमार्थ सिद्धि को स्वीकार करते हुये आप विधिवादी को उपनिषद्वाक्य और हेतु को भी पारमार्थिक रूप ही स्वीकार करना चाहिए ।

वे उपनिषद्वाक्य एवं हेतु अचित्स्वभाव हैं । यदि आप इन उपनिषद् वाक्य और हेतु को चित्स्वभाव मानेंगे तब तो उपर्युक्त अनुमान के अनुसार पर के द्वारा संवेद्य का विरोध हो जायेगा, क्योंकि वे प्रतिपादक—गुरु के चित्स्वभाव हैं । जैसे कि उस प्रतिपादक के सुखादि का अनुभव स्वयं

1 भाट्टः । सौगतः । 2 विधिवाद्याह । 3 ब्रह्मरूपत्वेन । (व्या० प्र०) 4 भाट्टः । सौगतो वदति ।—यथा तथेदं वाक्यं लिङ्गं वा सत्यभूतं तथा सत्यभूतपरब्रह्मसमानमनुमानं च कर्तृपुरुषाद्वैतं कथं व्यवस्थापयेत् ? अपि तु न । 5 कल्पितत्वप्रकारेण । 6 असिद्धं । (व्या० प्र०) 7 प्रतिपाद्यभेदेन सिद्धमुपनिषद्वाक्यमित्याशंकायामाहुः । (व्या० प्र०) 8 कल्पितत्वप्रकारेण । 9 येन प्रकारेणोपनिषद्वाक्यं लिङ्गं च प्रतिपादकादिजनस्य प्रसिद्धं तेन प्रकारेण प्रसिद्धं पारमार्थिकं न पारमार्थिकम् । भवति चेत् तदा द्वैतं प्रसज्यते, इति कुतः पारमार्थिकसिद्धिः ? न कुतोपि । उपनिषद्वाक्यस्येति शेषः । 10 कोर्थः पारमार्थिकमुपनिषद्वाक्यं लिङ्गं चेति त्वयोक्तं तथा चेत्साध्यसमं यथाप्रसिद्धं तथोपनिषद्वाक्यमप्यसिद्धम् । असिद्धं साध्यमिति वचनात् । विरुद्धयोरधिकरणात् । 11 अन्यथा । 12 पारमार्थिकत्वं प्रतिपाद्यस्य प्रसिद्धं किल तर्हि कुतः चित्स्वभावस्य प्रतिपाद्यादीनां प्रसिद्धेरभावात्, प्रतिपादकसुखादिवत् । 13 तत उपनिषद्वाक्याल्लिङ्गाच्च परमार्थमिद्धिमङ्गीकुर्वता विधिवादिना उपनिषद्वाक्यं लिङ्गं च परमार्थभूतं ज्ञातव्यम् । 14 च अङ्गीकर्तव्यं प्रतिपत्तव्यमिति कपुस्तकपाठः । 15 विकल्पचतुष्टयं मनसि कृत्वा क्रमेण दूषयन्नाह ।

चित्स्वभावत्वे परसंवेद्यत्वविरोधात् प्रतिपादकचित्स्वभावत्वात्, तत्सुखादिवत् । प्रतिपाद्य-
चित्स्वभावत्वे वा न प्रतिपादकसंवेद्यत्वं प्रतिपाद्यसुखादिवत् । तस्य^२ तदुभयचित्स्वभावत्वे
प्राश्निकादिसंवेद्यत्वविरोधस्तदुभयसुखादिवत् । ^३सकलजनचित्स्वभावत्वे ^४प्रतिपादकादिभावानु-
पपत्तिः—^५अविशेषात् । प्रतिपादकादीनामविद्योपकल्पितत्वाददोष इति चेत्, ^६यैव प्रतिपाद-

उसी को होता है पर को नहीं होता है अथवा प्रतिपाद्य—शिष्य का चित्स्वभाव स्वीकार करने पर प्रतिपादक के संवेद्य नहीं होंगे, उस प्रतिपाद्य के सुखादि के समान । यदि उन उपनिषद् वाक्य और लिंग को गुरु और शिष्य दोनों का चित्स्वभाव मानोगे तब तो प्राश्निक—प्रश्न करने वाले मनुष्यादिकों के द्वारा संवेदन का विरोध हो जाता है उन दोनों गुरु शिष्यों के सुखादि के समान । अर्थात् गुरु और शिष्य के सुख दुःख का अनुभव गुरु और शिष्य को ही होगा, किन्तु प्रश्न करने वाले एवं सुनने वाले लोगों को गुरु शिष्य के सुख दुःख का अनुभव नहीं होता है । तात्पर्य यह है कि उपनिषद्वाक्य और हेतु को चित्स्वभाव मानने पर दूसरों के द्वारा ये संवेद्य-ग्राह्य नहीं हो सकते हैं । तथा इन दोनों को गुरु का चित्स्वभाव कहने पर गुरु के सुख दुःखादि के समान उनका भी अन्य शिष्यों के द्वारा संवेदन विरुद्ध होता है । अथवा इन दोनों को यदि शिष्य का चित्स्वभाव कहोगे तो शिष्य के सुखादि के समान गुरु के द्वारा उनका संवेदन विरुद्ध हो जावेगा । यदि उन गुरु और शिष्य का ही चित्स्वभाव इन उपनिषद्वाक्य और हेतु को कहोगे तब तो ये प्रश्न करने वालों के ज्ञान के द्वारा ग्राह्य नहीं हो सकेंगे ।

सभी प्रतिपाद्यजनों का चित्स्वभाव कहने पर तो प्रतिपादक आदि भाव ही नहीं बन सकेंगे, क्योंकि सभी समान हैं अर्थात् सभी जनों का चित्स्वभाव इन आगमवाक्य और हेतु को मान लेने पर उसका यह गुरु है, यह शिष्य है ये प्रश्न करने वाले लोग हैं इत्यादि भाव नहीं बन सकेंगे क्योंकि ये दोनों तो सभी के चित्स्वभाव हैं पुनः भेद कैसे होगा ?

१ सौगतो वदति हे विधिवादिन् तत् (उपनिषद्वाक्यं लिङ्गं च) अचित्स्वभावं चित्स्वभावं वेति प्रश्नविकल्पः । अचित्स्वभावं चेत्तदा परब्रह्मणो द्वैतं व्यवस्थापयति । चित्स्वभावं चेत्तदा प्रतिपादकाद्यनुमानद्वारेण दूषयति । प्रतिपादकवाक्यं पक्षः प्रतिपाद्यसंवेद्यं न भवतीति साध्यो धर्मः प्रतिपादकचित्स्वभावत्वात् । यत्प्रतिपादकचित्स्वभावं तत्प्रतिपाद्यसंवेद्यं न, यथा प्रतिपादकसुखादिकम् । प्रतिपादकचित्स्वभावं चेदं तस्मात्प्रतिपाद्यसंवेद्यं न भवति । एवमग्रेपि । २ उपनिषद्वाक्यस्य लिङ्गस्य च चित्स्वभावत्वे सति परेषां ग्राह्यत्वं विरुध्यते । उपनिषद्वाक्यस्य लिङ्गस्य गुरोश्च चित्स्वभावत्वमस्तीत्युक्ते तथा सति गुरुसुखदुःखादिवत्तस्यापि परेषां प्रतिपाद्यादीनां संवेद्यत्वं विरुध्यते । तस्य शिष्यस्य चित्स्वभावत्वे सति वा शिष्यसुखादेर्यथा तथा तस्यापि गुरोः संवेद्यत्वं विरुध्यते । तस्य गुरुशिष्योभयचित्स्वभावत्वे सति तत्सुखादेर्यथा तथोपनिषद्वाक्यस्यापि प्राश्निकानां संवेद्यत्वं ज्ञानग्राह्यत्वं विरुध्यते । ३ प्रतिपाद्यादि । ४ सर्वजनचित्स्वभावत्वे सति तस्यायं गुरुः, अयं शिष्यः, अमी प्राश्निका इत्यादिभावो नोपपद्यते सर्वेषां चित्स्वभावत्वेन विशेषाभावात् । ५ या अविद्या गुरोर्गुस्त्वव्यवस्थापिका सैव शिष्यादेः सकाशादभिन्ना सती शिष्यादेरपि गुरुत्वं व्यवस्थापयेत् । ६ सकलजनचित्स्वभावस्याविशेषात् ।

कस्याविद्या प्रतिपादकत्वोपकल्पिका सैव प्रतिपाद्यस्य प्राश्निकादेश्चाविशिष्टा प्रतिपादकत्व-
मुपकल्पयेत् । प्रतिपाद्यस्य चाविद्या प्रतिपाद्यत्वोपकल्पनपरा प्रतिपादकादेरविशिष्टा प्रति-
पाद्यत्वं परिकल्पयेत् प्रतिपादकादीनामभेदात्तदविद्यानामभेदप्रसङ्गात्^१ । भेदे^२ वा प्रतिपाद-

भावार्थ—प्रश्न यह होता है कि आप विधिवादी 'सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म' इस उपनिषद्वाक्य रूप आगम को एवं "प्रतिभासमानत्वात्" इस हेतु को अचेतन स्वभाव मानते हो या चेतन स्वभाव ? यदि कहो कि इन्हें हम अचेतन स्वभाव कहते हैं तब तो चेतन स्वरूप परमब्रह्म से ये भिन्न ही रहेंगे पुनः आप अद्वैतवादी के यहाँ द्वैत का प्रसंग आ जावेगा और यदि आप इन्हें चेतन स्वभाव कहें तो चार विकल्प उठाये जा सकते हैं कि ये आगम वाक्य और हेतु गुरु के चेतन स्वभाव हैं या शिष्य के, प्राश्निकजनों के या सभी जनों के चेतन के स्वभाव हैं ? गुरु के कहने पर तो शिष्य को उनका अनुभव नहीं होगा अर्थात् गुरु के चेतनस्वभाव रूप आगम और हेतु गुरु के ही संवेदन योग्य हैं शिष्य के संवेदन करने योग्य नहीं हैं क्योंकि वे गुरु के ही चैतन्य स्वभाव हैं । जो जो गुरु का स्वभाव होता है वह वह शिष्य को संवेद्य नहीं होता है जैसे कि गुरु के सुख-दुःखादि का अनुभव गुरु को ही होता है शिष्यों को नहीं हो सकता है । इसी प्रकार से यदि दूसरे पक्ष में आप इन आगम और हेतु को शिष्य का चैतन्य स्वभाव कहो तो भी वे गुरु के द्वारा अनुभव करने योग्य नहीं रहेंगे एवं तीसरे विकल्पानुसार यदि इन्हें प्रश्न करने वालों का चेतन स्वभाव कहो तो गुरु और शिष्य दोनों को ही इनका ज्ञान नहीं हो सकेगा । तथा इन्हें सभी का चेतन स्वभाव माना जावेगा तब तो ये गुरु हैं, ये शिष्य हैं, ये प्राश्निक लोग हैं एवं ये सुनने वाले हैं इत्यादि रूप से कुछ भी भेदभाव नहीं बन सकेगा और यदि अविद्या से ही आप यह सब भेद स्वीकार करोगे तो भी आपके यहाँ अविद्या भी सर्वथा निःस्वभाव-स्वभाव से शून्य ही है उसके द्वारा इन कल्पित भेद भावों की व्यवस्था नहीं की जा सकेगी जैसे कि आकाश के गुलाब पुष्पों से माला बना कर बंध्या के पुत्र को पहनाना शक्य नहीं है तद्वत् आपके द्वारा कल्पित अविद्या से असत् रूप गुरु शिष्यादि भेद करना सर्वथा असंभव ही है । इस अविद्या के विषय में आगे स्वयं ही स्पष्टीकरण किया जा रहा है ।

विधिवादी—प्रतिपादक, प्रतिपाद्य आदि भाव तो अविद्या से ही उपकल्पित हैं अतः कोई दोष नहीं आता है ।

भाट्ट—तब तो जो अविद्या प्रतिपादक—गुरु में प्रतिपादकपने को कल्पित कराती है वही अविद्या प्रतिपाद्य—शिष्य और प्राश्निकजनों में समान रूप से है अतः उन्हें भी प्रतिपादक—गुरु बना देने में क्या बाधा है ? अर्थात् जो अविद्या गुरु में गुरुत्व की व्यवस्था करती है वही अविद्या शिष्यादिकों से अभिन्न होती हुई शिष्यादिकों को भी गुरु रूप से व्यवस्थापित कर सकती है । शिष्य की

१ प्रतिपादकादीनां सङ्करप्रसङ्गः । प्रसङ्ग इति कपाठः । २ अविद्याभेदकृतः प्रतिपादकादीनां भेद इति ।

कादीनां भेदसिद्धिः—¹विरुद्धधर्माध्यासात् । अनाद्यऽविद्योपकल्पित एव तदविद्यानां भेदो न पारमार्थिक इति चेत्, परमार्थतस्तर्ह्यभिन्नास्तदविद्या इति स एव प्रतिपादकादीनां सङ्करप्रसङ्ग² । यदि पुनरविद्यापि³ प्रतिपादकादीनामविद्योपकल्पितत्वादेव, न भेदाभेद-विकल्पसहा⁴ नीरूपत्वादिति मतं तदा परमार्थपथावतारिणः प्रतिपादकादय इति बला-दायातम्—तदविद्यानामविद्योपकल्पितत्वे विद्यात्वविधेरवश्यम्भावित्वात् । तथा च प्रति-

अविद्या शिष्य में शिष्य की उपकल्पना करने में तत्पर हुई प्रतिपादक गुरु आदि में समान रूप से विद्यमान है पुनः उन गुरुओं में शिष्य की कल्पना भी करा देगी । एवं प्रतिपादकों में अभेद होने से उस अविद्या में भी अभेद का प्रसंग आ जावेगा पुनः सभी प्रतिपादकादिकों में संकर का प्रसंग आ जावेगा अर्थात् गुरु जी शिष्य बन जावेंगे एवं शिष्य गुरु जी बन बैठेंगे । अथवा अविद्या के भेद से उन प्रतिपादकों में भेद की सिद्धि माननी पड़ेगी तब तो अभेद को सिद्ध करने में प्रवृत्त हुये आप भेद को सिद्ध कर देंगे तो विरुद्धधर्माध्यास हो जावेगा ।

विधिवादी—उन अविद्याओं का जो भेद है वह भी अनादि अविद्या से उपकल्पित ही है पारमार्थिक नहीं है ।

भाट्ट—तब तो परमार्थ से वह अविद्या अभिन्न ही रही । अतः प्रतिपादक आदिकों में वही संकर दोष आ जावेगा अर्थात् गुरु और शिष्यादि का भेद न रहने से गुरु ही शिष्य और शिष्य ही गुरु बन बैठेंगे ।

विधिवादी—प्रतिपादकादिकों की अविद्या भी अविद्या से ही उपकल्पित है अर्थात् प्रतिपादक आदि केवल अविद्या से ही उपकल्पित है ऐसा ही नहीं है किन्तु अविद्या भी अविद्या से ही उपकल्पित है । अतः वह भेद और अभेद के विकल्प को सहन ही नहीं कर सकती हैं क्योंकि वह नीरूप-निःस्वभाव-तुच्छाभाव रूप है अर्थात् अविद्यमान रूप है ।

[यहाँ पर भाट्ट जैन मत का आश्रय लेकर विधिवाद का खंडन करता है]

भाट्ट—यदि आप ऐसा मानते हैं तब तो प्रतिपादकादि—गुरु, शिष्य आदि परमार्थ पथावतारी ही हैं यह बात बलपूर्वक आ गई क्योंकि उन प्रतिपादकादिकों की अविद्या को अनादि अविद्या से कल्पित मानने पर विद्या की विधि ही अवश्यभावी है और इस प्रकार से प्रतिपादकादिकों से उपनिषद्-वाक्य भिन्न हैं क्योंकि युगपत् उन गुरु शिष्यादिकों के संवेदन करने योग्य संवेद्य की अन्यथानुपपत्ति

1 अभेदसाधने प्रवृत्तत्वे भेदः साधित इति विरुद्धधर्माध्यासः (अध्यासः साहित्यम्) । 2 य एव प्रतिपादक स एव प्रतिपाद्य इति । 3 न केवलं प्रतिपादकादय एवाविद्योपकल्पिताः । 4 तस्या अविद्याया नीरूपत्वाद् अविद्यमानत्वा-दित्यर्थः । 5 प्रतिपादकाद्यविद्यानामनाद्यविद्योपकल्पितत्वे प्रतिपादकादीनां विद्यासद्भावोऽवश्यमेव सम्भवति ।

पादिकादिभ्यो भिन्नमुपनिषद्वाक्यं^१ सकृत्^२ संवेद्यत्वान्यथानुपपत्तेः^३ इत्यचित्स्वभावं^४ सिद्धं^५ बहिर्वस्तु तद्वद्घटादिवस्तुसिद्धिरिति न प्रतिभासाद्वैतव्यवस्था प्रतिभास्य^६स्यापि सुप्रसिद्धत्वात् ।^७ प्रतिभास^८समानाधिकरणता पुनः प्रतिभास्यस्य^९ कथञ्चिद्भेदेपि^{१०} न विरुद्ध्यते ।

है इसलिये वह अचित्स्वभाव रूप बहिर्वस्तु सिद्ध है अर्थात् यदि उपनिषद्वाक्य प्रतिपादकादिकों से भिन्न नहीं होवे तो उन सभी को युगपत् संवेदन नहीं हो सकेगा किन्तु एक साथ सबको उसका संवेदन देखा जाता है अतः उपनिषद्वाक्य अचेतन स्वभाव हैं और बाह्यवस्तु रूप हैं यह बात सिद्ध हो गई ।

उसी प्रकार से घटादि वस्तुएँ भी बाह्यवस्तु हैं इसलिये प्रतिभासाद्वैत—ब्रह्माद्वैत की व्यवस्था नहीं हो सकती क्योंकि प्रतिभासित होने योग्य—प्रतिभास्य बाह्य पदार्थ सुप्रसिद्ध हैं । अर्थात् उपनिषद्वाक्य और घटादि वस्तुरूप प्रतिभास्य प्रमेय भी जगत् में प्रसिद्ध हैं न कि प्रतिभास मात्र एक पुरुष । प्रतिभाससमानाधिकरणता भी प्रतिभास्य से कथञ्चित् भेद होने पर विरुद्ध नहीं है अर्थात् घट प्रतिभासित होता है, पट प्रतिभासित होता है यह समानाधिकरणता है । यदि कोई कहे कि घटादि पदार्थ ज्ञान से अर्थात्तरभूत हैं पुनः घटादिपदार्थों की ज्ञान से समानाधिकरणता कैसे घटेगी ? अर्थात् घट और ज्ञान में विषय-विषयी-भाव है घट तो विषय है और ज्ञान विषयी है तब घट प्रतिभासित होता है ऐसा कैसे कह सकेंगे ? इसका उत्तर तो यही है कि प्रतिभास की समानता है । ज्ञान से ज्ञेय पदार्थ उपचार से अभिन्न हैं किन्तु परमार्थ से भिन्न हैं । इस प्रकार से प्रतिभास से प्रतिभासित होने योग्य-अन्यापोह लक्षण में कथञ्चित् भेद होने पर भी प्रतिभास की समानाधिकरणता विरुद्ध नहीं है । प्रतिभास है समानाधिकरण जिसका उसे प्रतिभास समानाधिकरण कहते हैं ।

घट प्रतिभासित होता है । मतलब घट प्रतिभास का विषय होता है ऐसा कहने से विषय और विषयी में उपचार से अभेद माना है । अर्थात् “घट प्रतिभासित होता है” यह उपचरित समानाधिकरण है, संवेदन—ज्ञान प्रतिभासित होता है यह मुख्य समानाधिकरण है, संवेदन का प्रतिभासन यह उपचरित वैयधिकरण्य है और पट का प्रतिभास यह मुख्य वैयधिकरण्य है । घट और प्रतिभास में

१ उपनिषद्वाक्यं प्रतिपादकादिभ्यो भिन्नं न भवतीति चेत्तदा प्रतिपादकादीनां युगपदेव सर्वेषां संवेद्यत्वं न भवेत् ।
 २ तेषां प्रतिपादकादीनाम् । ३ प्रत्ययरूपतया । (व्या० प्र०) ४ उपनिषद्वाक्यमचित्स्वभावं तद्वद्बहिर्वस्तु सिद्धं यथा तद्वत् (उपनिषद्वाक्यवत्) घटादिवस्तुनोपि बहिर्वस्तुत्वं सिद्ध्यति । ५ तद्वत्सिद्धं । इतिपा० । (व्या० प्र०) ६ उपनिषद्वाक्यं घटादि वस्तुरूपं प्रतिभास्यं प्रमेयमपि सुप्रसिद्धम् । (प्रतिभासस्यापीति खपाठः) । ७ घटः प्रतिभासते, ज्ञानं प्रतिभासते इति प्रतिभाससमानाधिकरणता । ८ यदि घटादयो ज्ञानादर्थान्तरभूतास्तदा कथं ज्ञानसामानाधिकरण्यं घटादेर्घटेत्युक्ते आह प्रतिभाससमानेति । ९ प्रतिभासस्येति खपाठः । १० ज्ञानाज् ज्ञेयमुपचारादभिन्नं परमार्थतो भिन्नमिति प्रतिभासात्प्रतिभास्यस्यान्यापोहलक्षणस्य कथञ्चिद्भेदेपि प्रतिभाससमानाधिकरणता न विरुद्ध्यते । प्रतिभासः समानमधिकरणं यस्य स समानाधिकरणस्तस्य भावः प्रतिभाससमानाधिकरणता ।

घटः प्रतिभासत इति प्रतिभासविषयो भवतीत्युच्यते^२ विषयविषयिणोर^३भेदोपचारात्^४, प्रस्थप्रमितं धान्यं प्रस्थ इति यथा । ततः सामानाधिकरण्यादुपचरितान्नुपचरितैकत्वसिद्धिः । मुख्यं सामानाधिकरण्यं क्व सिद्धमिति चेत्, संवेदनं प्रतिभासते भाति चकास्तीत्यादि व्यवहारे मुख्यम् । ततो^६वैयधिकरण्यव्यवहारस्तु गौणस्तत्र^७ संवेदनस्य प्रतिभासनमिति पटस्य प्रतिभासनमित्यत्र तस्य^८ मुख्यत्वप्रसिद्धेः । कथञ्चिद्भेदमन्तरेण सामानाधिकरण्यानुपपत्तेश्च^९ । तत^{१०} एव^{११}कथञ्चिद्भेदसिद्धिः । ^{१२}शुक्लः पट इत्यत्र सर्वथा शुक्लपटयोरैक्ये हि न समानाधिकरणता^{१३} पटः^{१४} पट इति यथा । नापि सर्वथा भेदे हिमवन्मकरा-

विषय-विषयी भाव है घट प्रतिभासित होता है इसमें अभेदोपचार है जैसे प्रस्थ प्रमाण धान्य को प्रस्थ कह देते हैं इसलिये उपचरित समानाधिकरण से अनुपचरित—वास्तविक एकत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है ।

शंका—मुख्य समानाधिकरण कहाँ पर सिद्ध है ?

समाधान—संवेदन प्रतिभासित होता है “संवेदनं प्रतिभासते भाति चकास्ति” इत्यादि व्यवहार में मुख्य है । इसलिए वैयधिकरण व्यवहार गौण है मुख्य समानाधिकरण में “संवेदनस्य प्रतिभासनमिति पटस्य प्रतिभासनमिति” संवेदन का प्रतिभासन, पट का प्रतिभासन इस प्रकार से यहाँ प्रतिभासन में वैयधिकरण्य व्यवहार मुख्य है । कथञ्चित् भेद को माने बिना समानाधिकरण बन नहीं सकता इसलिये उस समानाधिकरण से ही कथञ्चित् भेद की सिद्धि होती है । अर्थात् प्रतिभासित होने योग्य पदार्थ और प्रतिभास रूप ज्ञान के प्रकार से भेद सिद्ध ही है । “शुक्लः पटः” इसमें यदि सर्वथा शुक्ल और पट में ऐक्य मानों तो समानाधिकरण नहीं बनेगा जैसे पट पट में समानाधिकरण नहीं है । अर्थात् “पटः पटः” इस प्रकार से दो पट शब्द हैं, वे दोनों एक अर्थ के वाचक हैं या अनेक अर्थ के वाचक हैं ? यदि एक अर्थ के वाचक हैं तो भिन्न प्रवृत्ति में निमित्त नहीं हो सकेंगे और यदि भिन्न-भिन्न अर्थ के वाचक हैं तो एक अर्थ की वृत्ति नहीं बन सकेगी । तथैव सर्वथा भेद में भी हिमवान्

१ घटः प्रतिभासत इत्युपचरितं सामानाधिकरण्यं, संवेदनं प्रतिभासते इति मुख्यं सामानाधिकरण्यं, संवेदनस्य प्रतिभासनमिति उपचरितं वैयधिकरण्यं, पटस्य प्रतिभासनमिति मुख्यं वैयधिकरण्यम् । २ यदि घटप्रतिभासयोर्विषय-विषयिभावस्तदा कथं घटः प्रतिभासते इत्याशङ्क्याह । (व्या० प्र०) ३ यदि घटप्रतिभासयोर्विषयविषयिभावस्तदा कथं घटः प्रतिभासते इत्याशङ्क्याह । “मुख्यवाधायां” सति हि प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्तते इतिन्यायानुसाराद् घटः प्रतिभासत इत्यत्राभेद उपचर्यते तत्र घटस्याप्रतिभासत्वं मुख्यवाधाप्रतिभासत्वंनिमित्तं तद्व्यवहारः प्रयोजनमिति । ४ घटः प्रतिभासत इत्यत्र घटे ज्ञानस्योपचारो विषयिभावो निमित्तम् । ५ यत एव तत उच्चारभूतादन्वा-पोहस्य प्रतिभाससामानाधिकरण्यान परमार्थभूतैकत्वसिद्धिः । ६ भिन्नाधिकरण्यव्यवहारः । ७ मुख्ये सामानाधिकरण्ये । ८ वैयधिकरण्य व्यवहारस्य । ९ सामानाधिकरण्यस्यानुपपत्तेश्च । (व्या० प्र०) १० सामानाधिकरण्यादेव । ११ प्रतिभासस्यप्रतिभासकप्रकारेण । (व्या० प्र०) १२ सर्वथा भेदे वा किं दूषणमित्युक्ते आह । १३ भिन्नप्रवृत्ति निमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थं प्रवृत्तिनिमित्तत्वं । (व्या० प्र०) १४ एकस्मिन् । पटशब्दद्वयस्यैकार्थवाचकत्वं वा इति विकल्प्य दूषणांतरयोरेकार्थवाचकत्वे भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तत्वाघटनात् । भिन्नार्थवाचकत्वे एकार्थवृत्तित्वाघटनात् । (व्या० प्र०)

करवत् । 'तथान्यापोहस्य'^२ प्रतिभासमानस्य प्रतिभाससमानाधिकरणत्वेऽपि प्रतिभासाद्भेदव्यवस्थितेस्तद्विषयः शब्दः कथं विधिविषय एव^३ समवतिष्ठते । 'तथाभ्युपगमे च कथमन्य-परिहारेण क्वचित्प्रवर्तकः शब्दो यतो विधिविषयः स्यादिति सूक्तम्—विधेः प्रमाणत्वे तस्यैव प्रमेयत्वकल्पनायामन्यापोहानु^५प्रवेशो^६न्यथान्यत्प्रमेयं वाच्यमिति ।

[विधिः प्रमेयादिस्वरूपाभ्युपगमेऽपि दोषाः संभवन्तीत्याह]

प्रमेयरूपो विधिरिति कल्पनायामपि प्रमाणमन्यद्वाच्यमिति तस्यैवोभय^७स्वभावत्व-

पर्वत और समुद्र के समान समानाधिकरण नहीं है उसी प्रकार से अन्यापोह प्रतिभासमान का प्रतिभास समानाधिकरण होने पर भी प्रतिभास से वह अन्यापोह भिन्न ही सिद्ध होता है पुनः तद्विषयक शब्द विधि को ही विषय करता है यह बात कैसे सिद्ध हो सकेगी और ऐसा स्वीकार कर लेने पर तो शब्द कहीं पर भी अन्य का परिहार करके कैसे प्रवृत्ति करेगा कि जिससे वह विधि को ही विषय करने वाला हो सके ? अर्थात् अन्यापोह विषयक शब्द विधि-विषयक होता है ऐसा स्वीकार करने पर तो नैरात्म्यादि-शून्यवादी जनों का परिहार करके परब्रह्म में अथवा अविवक्षित वस्तु का परिहार करके किसी विवक्षित वस्तु में शब्द प्रवृत्ति कैसे कर सकेगा ? जिससे कि वह शब्द विधि को विषय करने वाला ही होवे, अर्थात् नहीं होगा । अतएव शब्द परार्थ—अन्य के अर्थ को छोड़कर स्व अर्थ में प्रवृत्ति करता हुआ भावाभावात्मक है यही स्याद्वाद प्रक्रिया है । इसलिए यह बात बिल्कुल ठीक कही है कि—विधि को प्रमाण रूप स्वीकार करके पुनः उसी में ही प्रमेय की कल्पना भी कर लेने पर अन्यापोहवाद में अनुप्रवेश हो जाता है । अन्यथा आपको "अन्य कोई प्रमेय है" ऐसा कहना चाहिये ।

[वेदवाक्य का अर्थ विधि—परमब्रह्म रूप है, ऐसी मान्यता में भ्राष्ट्र ने प्रश्न उठाये थे कि आपका यह ब्रह्माद्वैतवाद प्रमाण रूप है या प्रमेय रूप इत्यादि ? उसमें से विधि को प्रमाण रूप मानने से उस भ्राष्ट्र ने यहाँ तक उस विधिवादी को दूषण दिया है अब आगे उस विधि को प्रमेय रूप मानने पर दूषण दिखाते हैं ।]

(२) द्वितीय पक्ष में विधि 'प्रमेय रूप है' ऐसी कल्पना के करने पर भी किसी भिन्न को प्रमाण

१ पटप्रकारेण । २ समानाधिकरणता इति सम्बन्धः । ३ कथञ्चिद्भेदे सामानाधिकरण्यव्यवस्थापनद्वारेण प्रतिभासमानान्यापोहः समानाधिकरणत्वे सत्यपि प्रतिभासाद्भिन्नो व्यवतिष्ठते, यतस्तस्मादन्यापोहविषयः शब्दो विधिविषय एव कथं समवतिष्ठते ? न कथमपि । ४ अन्यापोहविषयः शब्दो विधिविषयो भवतीत्यंगीकारे कृते सति नैरात्म्यादिपरिहारेण विवक्षितवस्तुपरिहारेण वा क्वचिद्ब्रह्मणि विवक्षितवस्तुनि वा शब्दः कथं प्रवर्तको यतः कुतो विधिविषयः स्यान्न कुतोपि । एवं शब्दः परार्थं परिहृत्य स्वार्थं प्रवर्तमानो भावाभावात्मको ज्ञेय इति स्याद्वादप्रक्रिया । ५ अन्यापोहवादी आह—अप्रमाणत्वव्यावृत्त्या प्रमाणत्वमप्रमेयत्वव्यावृत्त्या प्रमेयत्वमित्यन्यापोहवावतारः । ६ अन्यापोहस्य प्रमेयत्वकल्पनाभावे । ७ अन्यापोहवादानुप्रवेशेन ।

विरोधात्—¹कल्पनावशाद्विधेः प्रमेयप्रमाणरूपत्वेन्यापोहवादानुषङ्गस्याविशेषात् । प्रमाण-
प्रमेयरूपो विधिरिति कल्पनाप्यनेन निरस्ता । तदनुभयरूपो विधिरिति कल्पनायां तु खर-
शृङ्गादिवदवस्तुतापत्तिः—प्रमाणप्रमेयस्वभावरहितस्य विधेः स्वभावान्तरेण व्यवस्थाना-²
योगात् । ³प्रमात्रादेरपि प्रमेयत्वोपपत्तेः⁴ । अन्यथा तत्र⁵ प्रमाणवृत्तेरभावात् सर्वथा
वस्तुत्वहानिः ।

[विधेः शब्दादिव्यापाररूपाभ्युपगमे दोषानाह]

शब्दव्यापाररूपो विधिरिति चेत् सा शब्दभावनैव । पुरुषव्यापारः स इति चेत् सार्थ-

कहना पड़ेगा क्योंकि वह विधि प्रमाण प्रमेय रूप उभय स्वभाव वाली नहीं हो सकती है, विरोध आ जाता है । अर्थात् प्रमाण को माने बिना विधि—ब्रह्म को प्रमेय रूप कैसे कहोगे ? और यदि आप ब्रह्म को प्रमाण प्रमेय रूप से उभय रूप कह दोगे तब तो एक ही निरंश परमब्रह्म अद्वैत रूप है पुनः वही दो रूप कैसे बन सकेगा ? कल्पना के निमित्त से विधि को प्रमेय और प्रमाण रूप से उभय रूप कहने पर तो अन्यापोहवादी होने का प्रसंग समान ही है । अर्थात् बौद्धों ने शब्दों से वाच्य अर्थ को कल्पना से ही अन्यापोह रूप माना है उसी के समान आपकी मान्यता भी कल्पना से होने से आपके यहां भी अन्यापोहवाद आ जावेगा ।

(३) तृतीय पक्ष में “विधि प्रमाण और प्रमेय से उभय रूप है” यह कल्पना भी इस उपर्युक्त विवेचन से ही निरस्त कर दी गई है ।

(४) चतुर्थ विकल्प में विधि को आप इन प्रमाण प्रमेय से रहित अनुभय रूप कल्पित करोगे तब तो खरविषाणादि के समान वह विधि अवस्तु ही हो जावेगी, क्योंकि प्रमाण और प्रमेय से रहित विधि का भिन्न किसी भी स्वभाव से रहना ही असंभव है । यदि आप कहें कि विधि प्रमाण, प्रमेय से भिन्न, प्रमाताज्ञाता एवं प्रमिति—जानने रूप किया रूप से व्यवस्थित होगी तो भी ठीक नहीं है क्योंकि प्रमाता—आत्मा आदि भी प्रमेय रूप ही हैं । अन्यथा—उन प्रमाता—आत्मा अथवा प्रमिति रूप ज्ञप्ति में प्रमाणवृत्ति का अभाव होने से सर्वथा वस्तुत्व की हानि हो जावेगी अर्थात् पुनः वे प्रमाता प्रमिति वस्तुभूत ही नहीं रह सकेंगे, क्योंकि आपके यहां तो एक परम ब्रह्म ही जाता, ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञप्ति रूप से अभेद रूप ही है पुनः आप उसे ज्ञान, ज्ञेय रूप से नहीं मानकर यदि ज्ञाता और ज्ञप्ति रूप से मानेंगे तो प्रमाण—ज्ञान रूप न मानने से वह विधि—ब्रह्म वास्तविक सिद्ध नहीं हो सकेगा ।

1 तस्यैवोभयस्वभावत्वविरोधादित्यादिना द्वितीयविकल्पनिराकरणेन । 2 स्वभावान्तरेण व्यवस्थानाभावः कुतो यावता प्रमात्रादिरूपेण विधेर्व्यवस्थितिर्भविष्यतीत्याङ्गन्याह । 3 प्रमिति । 4 विधिवाद्याह ।—विधिः प्रमाणं प्रमेयं च सा भवतु किन्तु प्रमातृप्रमितिरूपोस्तीति चेदाहान्यापोहवादी ।—प्रमात्रादेरपि प्रमाणविषयत्वं घटते अन्यथा प्रमेयत्वं न घटते चेत्तदा प्रमाणव्यापारस्याभावात् प्रमात्रादिरूपेणाभ्युपगतस्य विधेर्वस्तुत्वं हीयते । 5 प्रमातरि प्रमितौ वा ।

भावना¹ स्यात् । ²एतेनोभय³व्यापाररूपो विधिरिति प्रत्याख्यातम् । ⁴तदनुभयव्यापाररूपस्तु⁵ विधिर्विषय⁶स्वभावश्चेत् तस्य⁷ वाक्य⁸कालेऽसन्निधानान्निरालम्बनशब्दवादप्रवेशः⁹ । ¹⁰फल-
¹¹स्वभावश्चेत् स¹² एव दोषः—तस्यापि तदाऽसन्निधानादन्यथा¹³ विधेरनवतारात् । निःस्व-
भावो विधिरिति कल्पनायां तु विधिर्वाक्यार्थ इति न किञ्चिद्वाक्यार्थ इत्युक्तं स्यात् ।

[विधि को शब्द के व्यापार आदि रूप से ४ विकल्प रूप मानने में हाति]

(५) यह विधि को शब्द का व्यापार रूप मानोगे, तब तो वह हमारे द्वारा मान्य शब्दभावना रूप ही सिद्ध होगी ।

(६) यदि पुरुष का व्यापार कहो तो वह ब्रह्म अर्थभावना रूप (पुरुष भावना) ही होवेगा ।

(७) इसी कथन से उभय व्यापार रूप सातवें पक्ष का भी खंडन कर दिया गया है अर्थात् पूर्व में जैसे नियोग पक्ष का निराकरण करने में—क्रम से या युगपत् ? इत्यादि अनेक विकल्प उठाये हैं वे सभी यहां पर भी समझना चाहिये ।

(८) यदि उन दोनों के व्यापार से रहित अनुभय रूप कहो तब तो प्रश्न उठेंगे कि वह विधि विषय का स्वभाव है या फल का स्वभाव है या निःस्वभाव है ? यदि विषय का स्वभाव मानो तब तो “सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म” इत्यादि वाक्य के काल में असन्निहित—निकट न होने से निरालम्बन शब्द-वाद (सौगत के अन्यापोहवाद) में प्रवेश हो जावेगा ।

यदि फल स्वभाव मानो, तो भी अर्थ रहित फल का स्वभाव भी निरालम्बन शब्दवाद ही हो जावेगा, क्योंकि वह विधि वेदवाक्य के समय विद्यमान नहीं है अन्यथा विधि का (मनन, निदिध्यासन आदि का) अवतार ही नहीं होगा । यहां फल स्वभाव से ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति होना रूप अर्थ समझना चाहिये ।

तथा विधि को निःस्वरूप मानने पर तो “विधि वेदवाक्य का अर्थ है” ऐसा कहने पर तो “कुछ भी वेदवाक्य का अर्थ नहीं है” ऐसा ही कहा गया हो जावेगा, क्योंकि विधि तो स्वभाव से शून्य है । अर्थात् आपने ही तो विधि को स्वभाव से शून्य कह दिया है ।

पुनरपि ये प्रश्न उठेंगे कि वह विधि सत् रूप है या असत् रूप, उभय रूप है या अनुभय रूप ?

1 पुरुषभावना । 2 प्रत्येकपक्षद्वयनिराकरणेन । 3 पर्यायेण युगपद्वेत्यादिना नियोगनिराकरणे प्रोक्तं दूषणमत्रापि ज्ञातव्यं दृष्टव्येत्यादिना । 4 तदुभयव्यापाररूप इति वा पाठः । 5 ब्रह्मादर्शनादि । 6 शब्दात्मव्यापाररहितो विधिरिति चेत् सोपि विषयस्वभावो वा स्यान्निःस्वभावो वा फलस्वभावो वेति क्रमेण दूषयति । 7 विषयस्वभावस्य विधेः । 8 सर्वं वै खल्विदं ब्रह्मेत्यादिवाक्यकाले । 9 सौगतमते निरालम्बनशब्दवादोभिप्रेतः । 10 ब्रह्मस्वरूप-प्राप्तिः । (व्या० प्र०) 11 अर्थरहितः । 12 फलस्वभावस्य विधेः स एव निरालम्बनशब्दवादप्रवेशः । कस्मात् ? तदा वाक्यकाले विधेरसामोप्यात् । 13 मनननिदिध्यासनाविधानस्थ । (व्या० प्र०)

[विधेः सदसदादिरूपाभ्युपगमे दोषानाह]

किञ्च^१ यदि विधिः सन्नेव तदा न^२ कस्यचिद्विधेयः पुरुषस्वरूपवत् । अथासन्नेव तथापि न विधेयः खरविषाणवत्^३ । अथ पुरुषरूपतया सन्^४ दर्शनादिरूपतया त्वसन्निति विधेयः स्यात्^५ 'तदोभयरूप^७तापत्तिः^८ । न सन्नाप्यसन् विधिरिति चेत् तदिदं^९ व्याहृतम्— सर्वथा सत्त्वप्रतिषेधे सर्वथैवासत्त्वविधिप्रसंगात्^{१०}—तन्निषेधे वा सर्वथा सत्त्वविधानानुषङ्गात् ।

[विधि को सत् असत् आदि रूप मानने में दोषारोपण]

(१) यदि सर्वथा सत् रूप ही विधि होगी तब तो विधि किसी भी पुरुष को विधेय—करने योग्य नहीं होगी, पुरुष के स्वरूप के समान । अर्थात् “विधिः कस्यचित् मनुष्यस्य विधेयो न भवति सत्त्वात् । यः सन् स न कस्यचित् विधेयो यथा पुरुषः, संश्चायं तस्माद् न कस्यचिद् विधेयः” इत्यर्थः । विधि—ब्रह्म किसी को करने योग्य नहीं है क्योंकि वह सत् रूप ही है, जो सत् रूप है वह किसी का विधेय नहीं होता है । जैसे आत्मा सत् रूप है अतः वह किसी के लिये करने योग्य—विधेय नहीं है और यह ब्रह्म सत् रूप है इसलिये किसी को विधेय नहीं है । अर्थात् जो सर्वथा सत् रूप होता है वह किसी के करने योग्य नहीं हो सकता है ।

(२) असत् ही मानो तो भी वह विधि खरविषाण के समान किसी के लिये भी विधेय नहीं होगी । अर्थात् असत् रूप होने से वह विधि किसी को विधेय—करने योग्य नहीं हो सकती । जैसे खरशृंग किसी का विधेय—करने योग्य नहीं है ।

(३) यदि कहो कि पुरुष रूप से तो वह विधि सत् रूप है किंतु “दृष्टव्योरेऽयमात्मा” इत्यादि दृश्यत्व, कर्तव्य भादि रूप से असत् रूप है इसलिये वह विधेय हो जावेगी तब तो उस विधि के उभय रूप हो जाने से द्वैत का प्रसंग आ जावेगा अर्थात् स्वसिद्धान्त का भी व्याघात हो जावेगा, क्योंकि वेदान्त-वादियों ने तो विधि को सर्वथा सत् रूप माना है असत् रूप से माना ही नहीं है । एवं सर्वथा निरंश, सन्मात्र स्वरूप ब्रह्म के दो रूप की प्राप्ति का विरोध स्पष्ट है ।

(४) वह विधि न सत् रूप है न असत् रूप । ऐसा चतुर्थ पक्ष लेने पर तो विरुद्ध ही हो जाता

1 विधिः सन्नेव वाऽसन्नेव वा उभयरूपो वानुभयरूपो वेति विकल्पक्रमेण दूषयति । 2 विधिः पक्षः कस्यचिन्नुविधेयो न भवतीति साध्यो धर्मः—सत्त्वात् । यः सन् स न कस्यचिद्विधेयो यथा पुरुषः । संश्चायं तस्मान्न कस्यचिद्विधेयः (कर्तव्यः) । 3 द्वितीयविकल्पानुमानम्—विधिः पक्षः कस्यचिद्विधेयो न भवतीति साध्यः—असत्त्वात् । यदसत्तन्न कस्यचिद्विधेयं यथा खरविषाणम् । असंश्चायं तस्मान्न कस्यचिद्विधेयः । 4 दृष्टव्यो रेयमात्मेत्यादिदृश्यत्वकर्तव्यत्वादिना । 5 विधिरिति शेषः । 6 ततः स्वसिद्धान्तव्याघातः—विधेः सर्वथासत्त्वाभ्युपगमात्—असद्रूपस्य कस्यापि वेदान्तिनानभ्युपगमात् । 7 द्वैतापत्तिः । 8 सर्वथा निरंशस्य सन्मात्रदेहस्य विधेः रूपद्वयप्राप्तिविरोधः । (व्या० प्र०) 9 विरुद्धम् । 10 सर्वथा असत्त्वनिषेधे ।

सकृदुभयप्रतिषेधे तु कथञ्चित्सदसत्त्वविधानान्मतान्तरानुषङ्गात्^१ कुतो विधिरेव वाक्यार्थः ।

[विधेः प्रवर्तकादिस्वभावस्वीकारे हानिः]

किञ्च विधिः प्रवर्तकस्वभावो वा स्यादप्रवर्तकस्वभावो वा ? प्रवर्तकस्वभावश्चेद्वेदान्तवादिनामिव ताथागतादीनामपि प्रवर्तकः स्यात्^२ । तेषां 'विपर्यासान्न प्रवर्तक इति चेत्तत्^३ एव वेदान्तवादिनामप्रवर्तक इत्यपि शक्येत^४ । सौगतादीनामेव विपर्यासोऽप्रवर्तमानानां, न पुनः प्रवर्तमानानां विधिवादिनामित्यप्रामाणिकमेवेष्टम्^५—उभयेषां समानाक्षेपसमाधानत्वात् । यदि पुनरप्रवर्तकस्वभाव एव विधिस्तदा कथं वाक्यार्थः स्यान्नियोगवत् ।

है, सर्वथा सत्त्व का प्रतिषेध करने पर सर्वथा असत्त्व की ही विधि हो जावेगी, अथवा सर्वथा असत्त्व का निषेध करने पर सत्त्व का विधान अवश्यभावी हो जावेगा, और एक साथ दोनों का प्रतिषेध करने से कथञ्चित् सत्त्व असत्त्व का विधान हो जाने से मतांतर—स्याद्वाद के आश्रय का प्रसंग आ जावेगा । पुनः विधि ही वेदवाक्य का अर्थ है यह बात कैसे सिद्ध हो सकेगी ?

[विधि को प्रवर्तक स्वभाव या अप्रवर्तक स्वभाव मानने में दोष]

दूसरी तरह से भी प्रश्न होंगे कि विधि प्रवर्तक स्वभाव है या अप्रवर्तक स्वभाव ? यदि प्रवर्तक स्वभाव मानो तब तो वह विधि आप वेदांतवादियों के समान बौद्धादिकों के लिये भी प्रवर्तक स्वभाव हो जावेगी क्योंकि वह सर्वथा ही प्रवर्तक स्वभाव वाली है । यदि कहो कि बौद्धादिकों को प्रवर्तक नहीं होती है क्योंकि वे विपर्यास रूप—विपरीत बुद्धि वाले हैं तब तो विपर्यास होने से ही वेदांतवादियों को भी प्रवर्तक नहीं होगी, ऐसा भी हम कह सकते हैं । अर्थात् यदि विधि प्रवृत्ति कराने रूप स्वभाव वाली है तब तो आपको और बौद्धों को, दोनों को ही प्रवर्तक होवे अथवा किसी को भी प्रवर्तक न होवे । एक को प्रवर्तक और एक को अप्रवर्तक कहने से तो कथञ्चित्वाद आ जाता है । यदि आप कहो कि अप्रवर्तमान—प्रवृत्ति न करने वाले सौगतादिकों को ही विपर्यास है किन्तु प्रवर्तमान विधिवादियों को नहीं है । आपका यह कथन भी अप्रामाणिक ही है आप विधिवादी और सौगत दोनों के प्रति दोष और समाधान सदृश ही लागू होते हैं । अर्थात् आप वेदवाक्य का अर्थ ब्रह्म रूप करते हैं और उसे प्रवर्तक मानते हैं तब वह परमब्रह्म आप ब्रह्माद्वैतवादी एवं अन्य सौगत आदि सभी को यज्ञादि क्रियाकाण्ड में प्रवृत्ति करावे अथवा किसी को भी प्रवृत्ति न करावे । यदि आप विधि को अप्रवर्तक स्वभाव वाली मानोगे तब तो वह विधि वेदवाक्य का अर्थ कैसे हो सकेगा, नियोगवाद के समान ।

१ जैनमता (स्याद्वाद) श्रयणात् । २ तस्य सर्वथा प्रवर्तकत्वात् । ३ ताथागतादीनाम् । ४ प्रवर्तकस्वभावे विधावप्रवर्तकतया गमनं विपर्यासः । ५ विपर्यासादेव । ६ वक्तुमिति शेषः । ७ इति स्याद्वादी वदति ।—उभयेषां सौगतादीनां वेदान्तवादिनां चेष्टं प्रतिपादितं प्रमाणविरुद्धं भवति । कस्मात् ? सदृशप्रत्यवस्थानव्यवस्थानात् ।

[विधिः फलरहितः सहितो वा इत्याद्यभ्युपगमे हानिः ?]

किञ्च विधिः फलरहितो वा स्यात् फलसहितो वा ? फलरहितश्चेन्न प्रवर्तको नियोगवदेव^१ । ^२पुरुषाद्वैते न कश्चित्^३कुतश्चित्प्रवर्तक इति चेत् कथमप्रवर्तको विधिः सर्वथा वाक्यार्थः^४ कथ्यते ।—तथा^५ नियोगस्यापि वाक्यार्थत्वप्रसङ्गात् । तथा दृष्टव्यो रेऽयमात्मेत्यादिवाक्यादात्मनि^६ दर्शनश्रवणानुमननध्यानविधाने प्रतिपत्तुरप्रवृत्तौ^७ किमर्थ-स्तद्वाक्याभ्यासः ? फलसहितो विधिरिति कल्पनायां फलार्थितयैव लोकस्य प्रवृत्तिसिद्धेर्व्यर्थं

अर्थात् आप जैसे नियोगवाद को अप्रवर्तक स्वभाव मान करके वाक्य का अर्थ नहीं मानते हो तथैव आपका परमब्रह्म भी वेदवाक्य का अर्थ नहीं हो सकेगा ।

[विधि को फल रहित या सहित मानने में दोषारोपण]

प्रकारांतर से यह भी प्रश्न होता है कि वह विधि फल रहित है या फल सहित ?

फल रहित कहो तो नियोग के समान ही प्रवर्तक नहीं होगी । अर्थात् आपके मन से नियोग फल शून्य होने से ही प्रवर्तक नहीं है अतः वेदवाक्य का अर्थ भी नहीं है ।

विधिवादी—हमारे यहाँ पुरुषाद्वैतवाद में कोई भी किसी—वेदवाक्य प्रकार से प्रवर्तक है ही नहीं ।

भाट्ट—तब तो सर्वथा अप्रवर्तक विधि वेदवाक्य का अर्थ है यह भी कैसे कहा जावेगा ? अन्यथा—अप्रवर्तक होते हुये नियोग भी वेदवाक्य का अर्थ हो जावेगा और उस प्रकार से “दृष्ट-व्योरेऽयमात्मा” इत्यादि वाक्यों से ब्रह्मरूप आत्मा का दर्शन, श्रवण, अनुमनन और ध्यान करने में प्रतिपत्ता—मनुष्य की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकेगी पुनः उन वेदवाक्यों का अभ्यास भी किसलिये किया जावेगा ? अर्थात् “दृष्टव्योरेऽयमात्मा” इत्यादि वाक्यों से परमब्रह्म रूप आत्मा का दर्शन, श्रवण, ध्यान करना आदि प्रवृत्ति रूप ही तो है पुनः विधि को फल रहित या अप्रवर्तक मानने पर तो उपर्युक्त प्रवृत्ति कैसे घटित हो सकेगी ? यदि विधि को फलसहित मानो तब तो फलार्थी होने से ही लोक की प्रवृत्ति सिद्ध है पुनः विधि को प्रवर्तक कहना नियोग के कथन के समान व्यर्थ ही हो जाता है । तथापि—अप्रवर्तक होने पर भी यदि आप विधि को वेदवाक्य का अर्थ कहोगे तब तो नियोग भी वाक्य का अर्थ क्यों नहीं होगा ? अर्थात् प्रमाण और प्रमेयादि अनेक विकल्पों के निरसन द्वारा विधि वेदवाक्य का अर्थ है ऐसा सिद्ध नहीं हुआ फिर भी विधिवादी यदि हठपूर्वक विधि को वेदवाक्य का अर्थ मान ही लेवें तो नियोग भी वेदवाक्य का अर्थ क्यों नहीं होगा ?

1 विधिः पक्षः वाक्यार्थो न भवतीति साध्यो धर्मः—अप्रवर्तकत्वान्नियोगवत् । 2 अत्राह विधिवादी ।—कश्चित्द्विधिः कुतश्चित्प्रमाणात्प्रमाणाद्वैते प्रवर्तको न स्यात् । 3 वाक्यात् । (व्या० प्र०) 4 अन्यथा । 5 अप्रवर्तकत्वेन । 6 ब्रह्मणि । 7 किंप्रयोजनकः । दृष्टव्येत्यादि । विधिः प्रवर्तक इति प्रतिपादनम् ।

¹विधिकथनं नियोगकथनवत् । ² तथापि² विधेर्वाक्यार्थत्वे नियोगस्यापि वाक्यार्थत्वं कुतो न भवेत् । ³पटादिवत्⁴ ⁵पदार्थान्तरत्वेना⁶प्रतिभासना⁷न्नियोज्य⁸मानविषय⁹नियोक्तृधर्मत्वेन चानवस्थानान्न नियोगो ¹⁰वाक्यार्थ इति चेत् ¹¹तदितरत्रापि¹² समानम्¹³—विधेरपि घटादिवत् पदार्थान्तरत्वेनाप्रतिभासनात्—विधाप्य¹⁴मानविषय¹⁵विधायक¹⁶धर्मत्वेनाव्यवस्थितेष्व ।

विधिवादी—‘नियोग’ वस्त्रादि (या घटादि पाठ भेद भी है) के समान भिन्न रूप होने से प्रतिभासित नहीं होता है और नियोज्यमान पुरुष के यागादि विषय में “अग्निष्टोमेन” इत्यादि नियोक्ता के धर्म रूप से व्यवस्थित न होने से नियोग वेदवाक्य का अर्थ नहीं हो सकता है । अर्थात् घट शब्द से जैसे पृथु बुध्नोराकार—गोलमटोल रूप “घट” अन्य ही प्रतीति में आता है वैसे ही अग्नि-ष्टोमादि वाक्य से अन्य रूप नियोग प्रतीति में नहीं आता है । इस रीति से अप्रवर्तक स्वभाव में भी विधि ही वाक्य का अर्थ है नियोग है ऐसा नियम है । यहाँ “घटवत्” यह दृष्टांत व्यतिरेक में है ।

भाट्ट—यह बात तो आपके विधिपक्ष में भी समान ही है—विधि भी घटादि के समान भिन्न होने से प्रतिभासित नहीं होती है “सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म” इत्यादि वाक्य से विधोयमान—यागादि रूप विषय, विधायक—आत्मा के धर्म रूप से व्यवस्थित न होने से वह विधि भी वेदवाक्य का अर्थ नहीं हो सकती है ।

भावार्थ—अद्वैतवादी का कहना है कि जैसे आत्मा से भिन्न कल्पित किये गये घट पटादि पदार्थ भिन्न-२ प्रतिभासित होते हैं, वैसे न तो भिन्न पदार्थ रूप से नियोग ही प्रतिभासित है, न वेद-वाक्य रूप नियोग से नियुक्त हुये श्रोता पुरुष ही प्रतिभासित हैं और न यज्ञ आदि विषय का धर्म रूप नियोग ही प्रत्यक्ष है अतः “भिन्न पदार्थ रूप हेतु” से एवं “श्रोता पुरुष के यज्ञादि विषय में नियोक्ता (वेदवाक्य) के धर्म रूप” हेतु से, इन दोनों ही हेतुओं से नियोग प्रतिभासित नहीं है अतः वेदवाक्य का अर्थ नियोग नहीं हो सकता है । इस पर भाट्ट कहता है कि इसी आक्षेप का हम आपके ऊपर भी

१ अप्रवर्तकत्वेपि । यद्यपि प्रमाणप्रमेयाद्यनेकधा विकल्पखण्डनद्वारेण विधिर्वाक्यार्थो नास्ति तथापि विधिवादिनो बलात्कारेण विधेर्वाक्यार्थत्वे नियोगस्यापि वाक्यार्थत्वं कथं न भवेत् ? इत्याशयः । २ व्यतिरेकदृष्टान्तः । विधि-वाद्याह ।—यथा पुरुषात्पटादिकार्यरूपं भिन्नं प्रतिभासते तथा न नियोगप्रेर्यमाणपुरुषविषयप्रेरकधर्मरूपेण घटादिः प्रतिभासते तथा नियोग इति हेतुद्वयान्नियोगस्यानवतारान्न नियोगो वाक्यार्थो न भवति । ३ भिन्नत्वेन । ४ घटादि-वत् इति पा० । यथा घटशब्दात्पृथुबुध्नोदराकाररूपो घटोऽन्यः प्रतीयते तथाग्निष्टोमादिवाक्यादन्यो नियोगः प्रतीयते इति नियामकमनया रीत्याप्रवर्तकस्वभावेऽपि विधिरेव वाक्यार्थो न नियोगः । घटवदिति व्यतिरेकदृष्टांतः । (व्या० प्र०) ५ पुरुष । ६ नियोगो वाक्यार्थो न भवेदतः कारणात् । (व्या० प्र०) ७ नियोज्यमान-इति पा० । (व्या० प्र०) ८ यागादि । ९ अग्निष्टोमेत्यादि । १० अग्निष्टोमेत्यादि । (व्या० प्र०) ११ दूषणं । (व्या० प्र०) १२ विधिपक्षे । १३ विधिर्न वाक्यार्थः इत्यादि । १४ अवश्यकरणीयतयाभिन्न्यमान । सर्वं वै खल्विदं ब्रह्मेत्यादि-वाक्याद्विधाप्यमान । १५ यागादिरूप । १६ आत्मा ।

[अधुना जैनमतमाश्रित्य भाट्टः विधिवादिनं दूषयति]

'यथैव'² हि नियोज्यस्य पुंसो धर्मो नियोगेऽन³नुष्ठेयता नियोगस्य सिद्धत्वाद्—
अन्यथा⁴ तदनुष्ठानोपरमाभावानुषङ्गात्⁵—⁶कस्यचिद्रूपस्यासिद्धस्याभावात्⁷ । ⁸असिद्धरूपतायां⁹
वाऽनियोज्यत्वं-विरोधाद्वन्ध्यास्तनन्ध्यादिवत् । ¹⁰सिद्धरूपेण नियोज्यत्वे तस्यैवासिद्धरूपेण¹¹ वा
नियोज्यतायामेकस्य¹² पुरुषस्य¹³ सिद्धासिद्धरूप¹⁴सङ्करान्नियोज्येतरस्त्वविभागासिद्धिः । ¹⁵तद्रूपा-

आरोप कर सकते हैं । अर्थात् आपका परमब्रह्म भी घट पटादि के समान पुरुष से भिन्न प्रतिभासित नहीं होता है तथा विधान करने योग्य दर्शन, श्रवण, मनन आदि या दृष्टव्य विषय का धर्म, अथवा ब्रह्म को कहने वाले वेदवाक्यों के द्वारा भी विधिरूप परमब्रह्म की व्यवस्था नहीं हो सकती है अतः आपके द्वारा मान्य वेदवाक्य का 'विधि' अर्थ भी सिद्ध नहीं हो पाता है ।

[जैनमत का आश्रय लेकर भाट्ट विधिवादी पर दोषारोपण करता है]

जिस प्रकार से नियोज्य पुरुष का नियोगधर्म में अनुष्ठेयपना न होने से अकर्तव्यता है क्योंकि नियोग की सिद्धि है । अन्यथा उसके अनुष्ठान के उपरम—समाप्ति का अभाव ही हो जावेगा, क्योंकि उसका कुछ भी रूप असिद्ध नहीं है । अर्थात् यदि सिद्ध रूप नियोग की कर्तव्यता है तब तो नियोग को करने में अनवस्था का प्रसंग आता है क्योंकि उस नियोग में कोई भाग असिद्ध नहीं है ।

यदि कहो कि असिद्ध रूप भी नियोग नियोज्य है तब तो बंध्या के पुत्रादि भी नियोज्य हो जावेंगे, किन्तु ऐसा तो है नहीं, लोक में विरोध देखा जाता है । सिद्ध रूप से-पुरुष रूप से नियोज्य को मानने पर अथवा उसी को असिद्ध रूप से नियोज्य कहने पर तो सर्वथा निरंश रूप एक पुरुष में सिद्ध और असिद्ध दो रूप से संकर दोष आ जावेगा । पुनः नियोज्य और अनियोज्य रूप से विभाग ही सिद्ध नहीं हो सकेगा । अर्थात् नियोग का एक रूप सिद्ध है अन्य रूप असिद्ध है, सिद्ध रूप से नियोज्य मानने

1 एतदेव क्रमेण विप्रियते । 2 अतो नियोगखण्डनद्वारेण विधिखण्डनार्थं भावनावादी वदति । 3 अकर्तव्यता । 4 पुरुषधर्मस्य नियोगस्य सिद्धत्वं कथमित्याशंकायामाह । (व्या० प्र०) 5 सिद्धरूपस्य नियोगस्य यद्यनुष्ठेयता तदा तस्य नियोगस्य करणीयानवस्थाप्रसंगः—यतस्तत्र नियोगे कश्चिद्भागो असिद्धो नास्ति । 6 पुरुषधर्मस्य नियोगस्य सिद्धत्वं कथमित्याशंकायामाह कस्यचिदिति । 7 पुरुषस्य । (व्या० प्र०) 8 असिद्धरूपोपि नियोगः नियोज्यो भवतीति चेत्तदावन्ध्यास्तनन्ध्यादेरपि नियोज्यत्वप्रसंगः । तथा नास्ति लोके विरोधदर्शनात् । 9 वा नियोज्यत्वविरोधात् । इति पा० । तच्छुद्धं प्रतिभाति । (व्या० प्र०) 10 पुरुषरूपतया । (व्या० प्र०) 11 अगिनष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम इत्यसिद्धरूपेण । (व्या० प्र०) 12 नियोगस्यैकं रूपं सिद्धमन्यदसिद्धं सिद्धरूपेण नियोज्यत्वे सति तस्यैव नियोगस्यासिद्धरूपेण कृत्वा अनियोज्यतायां सत्यामित्येकपुरुषस्य सिद्धासिद्धरूपमिश्रणादयं नियोज्योयमनियोज्य इति भेदो न सिद्ध्यति । अथवा तद्रूपयोरमिश्रणे सति भेदघटनादात्मनः सिद्धासिद्धरूपयोश्च परस्परसम्बन्धो नास्ति । कस्मात् ? उपकाराकरणात् । 13 सर्वथा निरंशस्येत्यर्थः । (व्या० प्र०) 14 अभेदः । (व्या० प्र०) 15 तद्रूपासंकरे एव भेदप्रसंगादिति वा पाठः ।

सङ्करे वा¹ भेदप्रसङ्गादात्मनः³ सिद्धासिद्धरूपयोः सम्बन्धाभावोनुपकारात् । उपकारकल्पना-
यामात्मनस्तदुपकार्यत्वे⁴ नित्यत्वहानिः । तयोरात्मोपकार्यत्वे सिद्धरूपस्य⁵ सर्वथोपकार्यत्व-
व्याघातः । असिद्धरूपस्याप्युपकार्यत्वे गगनकुसुमादेरुपकार्यतानुषङ्गः । सिद्धासिद्धरूपयोरपि⁶
कथञ्चिदसिद्धरूपोपगमे प्रकृतपर्यनुयोगानिवृत्तेरनवस्था⁷नुषङ्गादित्युपालम्भः⁸ ।

[भावनावादिना भाट्टेन प्राग्यथा नियोगवादे निराकृतस्तथैवाधुना विधिवादोपि निराक्रियते ।

⁹तथा विधाप्यमानस्य पुरुषस्य धर्मे¹⁰विधावपि सिद्धस्य पुंसो दर्शनश्रवणानुमननध्यानवि-

पर वही नियोग असिद्ध रूप से अनियोज्य हो जाता है । इस प्रकार से एक पुरुष में सिद्ध, असिद्ध रूप का मिश्रण हो जाने से यह नियोज्य है और यह अनियोज्य है, ऐसा भेद सिद्ध नहीं हो सकेगा । अथवा उन दोनों रूपों का मिश्रण न होने पर भेद घटित हो जाने से आत्मा में परस्पर में सिद्धासिद्ध रूप संबंध नहीं रहेगा ।

अथवा उन रूपों का संकर न होने पर भेद का प्रसंग आ जाने से आत्मा के सिद्ध असिद्ध रूप में संबंध का अभाव है, क्योंकि कोई भी उपकार संबंध नहीं है और यदि आप उपकार की कल्पना करोगे तो उन सिद्ध और असिद्ध के द्वारा आत्मा का उपकार मानने पर आत्मा के नित्यत्व की हानि हो जावेगी । एवं उन दोनों सिद्ध असिद्ध रूप नियोगों पर आत्मा के द्वारा उपकार मानने पर जो सिद्ध रूप है उसके तो सर्वथा उपकारपने का विरोध आता है । तथा असिद्ध रूप का भी उपकार मानने पर आकाश फूल आदि के भी उपकारित होने योग्य का प्रसंग आ जावेगा । अर्थात् आत्मा सिद्ध रूप का उपकारक है या असिद्ध रूप का ? इन दो विकल्पों को उठाकर उन दोनों में दोष दिखाया है ।

सिद्धासिद्ध रूप नियोग को भी कथञ्चित् असिद्ध रूप स्वीकार करने पर प्रकृत के-उपर्युक्त प्रश्न दूर नहीं किये जा सकेंगे, प्रश्नों की अनवस्था ही आ जावेगी ।

[पूर्व में भावनावादी भाट्ट ने जैसे नियोग का खण्डन किया है उसी प्रकार से विशेषरूप से अब विधिवाद का भी खण्डन करता है]

भाट्ट—जिस प्रकार से नियोग पक्ष में दूषण आते हैं तथैव विधाप्यमान—जिसके लिये विधि की जावे अर्थात् “अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः” इस वाक्य के द्वारा जिसके लिये यज्ञ का विधान

1 आत्मनः सकाशात् सिद्धासिद्धरूपयोर्भेदप्रसङ्गात् । 2 आत्मनः सकाशात्सिद्धासिद्धरूपयोर्भेदप्रसङ्गादित्यर्थः । (व्या० प्र०) 3 ता । (व्या० प्र०) 4 ताभ्यां सिद्धासिद्धाभ्यामुपकार्यत्वे किं दूषणं स्यात् ? आत्मनो नित्यत्वहानिः । 5 आत्मा सिद्धरूपस्योपकारकोऽसिद्धरूपस्य वेति विकल्पद्वयं कृत्वा निराचष्टे । (व्या० प्र०) 6 किञ्चित् इत्यपि पाठः प्रतिभाति । (व्या० प्र०) 7 प्रारब्धनियोगप्रश्नस्य निवृत्तिर्न भवतीति तदा किमायातम् ? अनवस्थानाम् दूषणं स्यात् । 8 अतः प्रभृति नियोगखण्डनद्विधेः खण्डनं करोति भावनावादी । 9 यथैव हीत्यादिनियोगपक्षे । 10 अवश्य-करणीयदर्शनश्रवणमननादिरूपे ।

धानविरोधः^१ । ^२तद्विधाने वा सर्वदा ^३तदनुपरतिप्रसक्तिः । दर्शनादिरूपेण ^४तस्यासिद्धी
^५विधानव्याघातः कूर्मरोमादिवत् । सिद्धरूपेण विधाप्यमानस्य विधाने तस्यैवासिद्धरूपेण
 चाविधाने सिद्धासिद्धरूपसङ्कराद्विधाप्येतरत्वविभागासिद्धिः । तद्रूपासङ्करे वा भेद-
 प्रसङ्गादात्मनः^६ सिद्धासिद्धरूपयोस्तत्संबन्धाभावादि दोषासञ्ज^७नस्याविशेषः । ^८तथा विषयस्य

किया गया है ऐसे उस पुरुष के विधि (अवश्यकरणीय, दर्शन, श्रवण, मननादि) रूप धर्म में भी परमब्रह्म रूप सिद्ध पुरुष के दर्शन, श्रवण, अनुमनन, ध्यान के विधान का विरोध आता है ।

अथवा उस सिद्ध पुरुष के भी यज्ञ करने का विधान मान लेने पर हमेशा उसके यज्ञ करने की उपरति नहीं हो सकेगी एवं उस विधि रूप ब्रह्म को असिद्ध मानने पर उसके दर्शन, श्रवण आदि के विधान का विरोध हो जाता है । जैसे कूर्म रोमादि है नहीं, तो उससे वस्त्रादि बनाने का विरोध ही है एवं सिद्ध रूप से विधाप्यमान—ब्रह्म का विधान करने पर और उसी का असिद्ध रूप से विधान न करने पर सिद्धासिद्ध रूप का संकर हो जाने से विधाप्यमान और अविधाप्यमान रूप विभाग की सिद्धि नहीं हो सकेगी । अथवा उन दोनों रूपों का संकर न मानने से भेद का प्रसंग आ जाने पर आत्मा से सिद्धासिद्ध का संबंध न हो सकना आदि दोषों का प्रसंग समान ही है ।

भावार्थ—यहाँ पर भाट्ट विधिवादी को दूषण देते हुये कहते हैं कि जैसे आप विधिवादी नियोग में दूषण देते हो वैसे ही आपके यहाँ विधिवाद में भी दूषण समान ही है । अर्थात् जैसे प्रभाकर का मान्य नियोग नियोज्य-पुरुष का धर्म तथा याग लक्षण-विषय का धर्म, एवं नियोक्ता-शब्द का धर्म नहीं हो सकता है वैसे ही विधि भी विधीयमान-पुरुष का धर्म तथा विधेय-विषय का धर्म एवं विधायक-शब्द का धर्म नहीं हो सकता है । देखिये ! जिस प्रकार 'नियुक्त होने योग्य पुरुष का धर्म' यदि नियोग माना जावे तो आप अद्वैतवादियों ने प्रभाकर के ऊपर "अनुष्ठान नहीं करने योग्य" आदि दोषों का आरोप किया है, मतलब नियुक्त होने योग्य पुरुष अनादिकाल से स्वतः सिद्ध है तो उस आत्मा का स्वभाव नियोग भी पूर्वकालों से सिद्ध है और यदि सिद्ध हो चुके पदार्थ का अनुष्ठान माना जावेगा तो अनुष्ठान का कभी भी अंत ही नहीं हो सकेगा, कृत का पुनः करना होते रहने से पुनः पुनः उसी किये को करते चलिये, चर्वित का चर्वण अनंत काल तक करते रहिये । अतः यही अच्छा है कि बन चुके को पुनः न बनाया जावे । नित्य पुरुष के धर्म रूप नियोग का कोई भाग असिद्ध तो है नहीं । हाँ ! यदि किसी असिद्ध रूप को नियुक्त होने योग्य माना जावेगा तब तो सर्वथा असिद्ध—बंध्या-पुत्र, अश्वविषाण आदि को भी नियोज्य मानना पड़ेगा । यदि आप कहें कि आत्मा का धर्म नियोग किसी एक सिद्ध रूप से नियोज्य एवं किसी एक असिद्ध रूप से अनियोज्य है तब तो एक ही आत्मा

1 अनुष्ठेयतेत्यर्थः । (व्या० प्र०) 2 तस्य सिद्धस्य पुरुषस्य करणे वा । 3 अविश्रान्तिरनवस्था वा । 4 विधेः ।
 5 यागलक्षणस्य विषयधर्मस्य नियोगस्य । 6 सकाशात् । 7 अनुषङ्गस्य । 8 हे विधिवादिन् !

में दोनों का संकर हो जाने से नियोज्य और अनियोज्य रूप दो प्रकार का विभाग भी नहीं हो सकेगा। यदि सिद्ध असिद्ध, इन दोनों रूपों का आत्मा में संकर न मानों तब तो इन दोनों स्वभावों से अभिन्न एक आत्मा के भेद का प्रसंग आ जावेगा अथवा नित्य-आत्मा से ये दोनों रूप पृथक् हो जावेंगे ऐसी दशा में ये दोनों सिद्ध असिद्ध रूप आत्मा के हैं ऐसा नियामक-बताने वाला कोई संबंध आपके यहाँ है ही नहीं, क्योंकि राजा का पुरुष, गुरु का शिष्य या पुरुष का राजा, शिष्य का गुरु, यहाँ परस्पर में आजीविका देना, चाकरी देना, पढ़ाना, सेवा करना आदि उपकार करने से स्वामी-भृत्य संबंध, गुरु-शिष्य संबंध, राजा-प्रजा संबंध माने जाते हैं, किन्तु उपकार नहीं होने से उन सिद्ध असिद्ध रूप और कूटस्थ नित्य आत्मा का कोई षष्ठी विधायक सम्बन्ध नहीं हो पाता है।

यदि उपकार की कल्पना करो तो प्रश्न यह होता है कि इन सिद्ध असिद्ध दोनों रूपों से आत्मा के ऊपर उपकार किया जाता है या आत्मा के द्वारा दो रूपों पर उपकार किया जाता है? प्रथम विकल्प मानों तो आत्मा नित्य नहीं माना जा सकेगा क्योंकि जो उपकृत होता है वह कार्य होता है और कार्य अनित्य ही होता है। यदि दूसरे विकल्पानुसार सिद्धासिद्ध रूपों पर आत्मा के द्वारा उपकार मानों तब तो जो सिद्ध रूप हो चुका है उसमें उपकार को धारण करने योग्य कोई अंश शेष नहीं है। यदि दूसरे असिद्ध रूप को भी उपकार प्राप्त करने योग्य माना जावे तब तो आकाश पुरुष आदि भी उपकार झेलने वाले हो जायेंगे। यदि कथंचित् सिद्धासिद्ध रूप कहो तो उपर्युक्त दोषों की ही अनवस्था चलती रहेगी। इस प्रकार से विधिवादी ने नियोगवादी पर दूषण दिया है अब भाट्ट इन्हीं सभी दूषणों को विधिवादी पर आरोपित करते हैं।

देखिये ! विधान कराये जा रहे पुरुष का धर्म विधि है और परिपूर्णतया सिद्ध हो चुका श्रोतापुरुष भी नित्य है वह नित्य पुरुष परमब्रह्म का दर्शन श्रवण आदि कैसे कर सकेगा क्योंकि जो पहले दर्शन आदि से रहित है वह परिणामी पदार्थ ही दर्शनादि का विधान अनुष्ठान कर सकता है, नित्य कृतकृत्य नहीं हैं। यदि सिद्ध हो चुका पुरुष भी दर्शन, श्रवणादि का विधान करेगा तो सर्वदा ही उन दर्शन, मनन आदि से विराम नहीं हो सकेगा क्योंकि दो-चार बार दर्शन कर चुकने पर भी पुनः पुनः सिद्ध हो चुके पुरुष भी यदि दर्शनादि में प्रवृत्ति करते रहेंगे तो पूर्ववत् चर्चित चर्चण ही होता रहेगा। यदि आप कहें कि आत्मा का धर्म रूप जो विधि है उसका दर्शन श्रवण आदि स्वरूप असिद्ध नहीं है तब तो कछुवे के रोम के समान उस असिद्ध स्वरूप आदि से असत् रूप विधि का विधान नहीं हो सकेगा। यदि उस विधि को सिद्ध असिद्ध ऐसे दो रूप मानोगे तब तो एक ही परमब्रह्म सिद्ध रूप होने से विधान करने योग्य होगा और असिद्ध रूप से विधान के योग्य नहीं होगा तो संकर दोष आ जावेगा एवं विधान करने के योग्य-अयोग्य का विभाग नहीं हो सकेगा। तथा एक ब्रह्म में स्वरूप संकर न मानने से दोनों रूपों का आत्मा से भेद हो जावेगा एवं सर्वथा भिन्न सिद्धासिद्ध दोनों रूपों का आत्मा के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं बनेगा। यदि उपकार की कल्पना करोगे तब तो पूर्ववत् दोष आते ही रहेंगे। अतः नियोग के समान आपका ब्रह्माद्वैत भी सिद्ध नहीं हो सकता है। यहाँ नियोगवादी

यागलक्षणस्य धर्मो नियोगे तस्याऽपरिनिष्पन्नत्वात् ¹स्वरूपाभावाद्वाक्येन प्रत्येतुमशक्यत्वस्य ³विधावपि ⁴विषयधर्मो समानत्वात्कुतो ⁵विषयधर्मो विधिः ? ⁶पुरुषस्यैव ⁷विषयतयावभासमानस्य विषयत्वात्तस्य⁸ च परिनिष्पन्नत्वान्न तद्धर्मस्य ⁹विधेरसम्भव इति चेत् ¹⁰तर्हि यजनाश्रयस्य ¹¹द्रव्यादेः सिद्धत्वात्तस्य¹² च विषयत्वात्कथं तद्धर्मो नियोगोपि न सिद्धयेत ? येन रूपेण विषयो विद्यते तेन तद्धर्मो नियोगोपीति, तदनुष्ठानाभावे¹³ ¹⁴विधिविषयो येन रूपेणास्ति तेन तद्धर्मस्य विधेः कथमनुष्ठानम् ?

के ऊपर विधिवादी के द्वारा कटाक्षवर्षा किये जाने पर भट्ट मीमांसकों ने विधिवादी को आड़े हाथ लिया है एवं श्लोकवार्तिकालंकार में आचार्यों ने नियोगवादी की ओर से विधिवादी के ऊपर दोषारोपण किया है।

तथा हे विधिवादिन् ! यदि आप नियोगवादी को ऐसा कहें कि यागलक्षण विषय का नियोग रूप धर्म मानने पर उसके परिनिष्पन्न होने से उसके स्वरूप का अभाव ही है अतः वाक्य के द्वारा उसका निश्चय करना अशक्य है तब तो यह बात विषय के धर्म रूप विधि में भी समान है अतः विषय का (आत्मा का) धर्म विधि है यह बात कैसे सिद्ध होगी ?

विधिवादी—पुरुष ही विषय रूप से अवभासित होता है क्योंकि वह विषय है और वह पुरुष निष्पन्न है इसलिये उस पुरुष का धर्म विधि है यह कथन असंभव नहीं है।

भाट्ट—तब तो यज्ञ—यज्ञ के आश्रयभूत द्रव्यादि सिद्ध हैं और वे विषय भी हैं। पुनः उन द्रव्यादिक का धर्म भी नियोग है यह बात भी क्यों नहीं सिद्ध हो जावेगी ? क्योंकि जिस रूप से विषय रहता है उस रूप से उसका धर्म नियोग भी रहता है यदि कहो कि उस नियोग के अनुष्ठान का अभाव है तब तो विधि का विषय जिस रूप से है उस विषय के धर्म रूप विधि का भी अनुष्ठान कैसे हो सकेगा।

विधिवादी—जिस अंश—दर्शन आदि रूप से विधि नहीं है उस अंश से विधि का अनुष्ठान घटित होता है।

भाट्ट—ऐसा अनुष्ठान तो नियोग में भी समान है।

भावार्थ—विधिवादी कहते हैं कि यदि नियोग को याग स्वरूप विषय का धर्म माना जाता है तो मान लीजिये, किन्तु वह यज्ञ अभी बनकर पूर्ण तो हुआ नहीं है। उपदेश सुनते समय तो उस यज्ञ का स्वरूप है ही नहीं, पुनः वेदवाक्य के द्वारा उसका निर्णय कैसे हो सकेगा ? इस पर भाट्ट कहता है

- 1 प्रत्येतुमशक्यत्वं कुत इत्युक्ते तत्र समर्थनपर प्रथमं साधनम् । 2 दूषणस्य । 3 अवश्यकरणीयदर्शनादे । 4 दर्शनादि । 5 आत्मनः धर्मः । 6 विधिवादी । 7 दर्शनादिरूपेण । (व्या० प्र०) 8 पुरुषस्य । 9 अवश्यकरणीयदर्शनादेः । 10 नियोगमतमवलम्ब्य भावनावादी वदति । 11 पुरुष । रूपादि । (व्या० प्र०) 12 द्रव्यादेः । 13 तस्य नियोगस्य करणाभावे सति विधेरप्यनुष्ठानं मा भूत् । 14 पुरुष । (व्या० प्र०)

¹येनांशेन² ³नास्ति ⁴तेनानुष्ठानमिति ⁵चेत् ⁶तन्नियोगेपि समानम् । ⁷कथमसन्नियोगोनुष्ठी-
यते—अप्रतीयमानत्वान् खरविषाणवदिति ⁸चेत्तत एव विधिरपि नानुष्ठेयः । ⁹प्रतीयमान-
त्वादनुष्ठेयतया¹⁰ चासिद्धत्वादनुष्ठेयो विधिरिति चेन्नियोगोपि ¹¹तथास्तु । ¹²नन्वनुष्ठेय¹³तयैव¹⁴

कि "दृष्टव्योरेऽयमात्मा" इत्यादि वाक्य के सुनने के अवसर पर जब दर्शन श्रवण हैं ही नहीं तब उनका धर्म विधि भी विद्यमान नहीं है पुनः उस असद्भूत विधि का अनुभव भी वाक्य के द्वारा कैसे हो सकेगा ? अतः जैसे यज्ञ रूप विषय का धर्म नियोग सिद्ध नहीं है वैसे ही विधि भी सिद्ध नहीं है ।

इस पर विधिवादी कहता है कि—हम दर्शन, श्रवण आदि को विधि का विषय नहीं मानते हैं किन्तु विषय रूप से प्रतिभासित परम ब्रह्म को ही हम विधि का विषय मानते हैं और पुरुष तो पहले से ही बना बनाया नित्य रूप सिद्ध है, इसलिये विधि को पुरुष रूप विषय का धर्म मानना ठीक ही है । इस पर पुनः भाट्ट कहता है कि तब तो नियोगवादियों के यहाँ यज्ञ, पूजन आदि के अधिकरण रूप द्रव्य, आत्मा, पात्र, स्थानादि पदार्थ भी पहले से ही सिद्ध हैं अतः उन द्रव्य आदिकों का विषय होने से नियोग भी क्यों नहीं सिद्ध हो जावेगा ? पुनरपि विधिवादी आरोप उठाता है कि जिस रूप से द्रव्यादि विषय पहले से विद्यमान हैं उसी रूप से उनका धर्म नियोग भी पहले से ही मौजूद है अतः बन चुके-सिद्ध रूप नियोग का अनुष्ठान कैसे हो सकेगा ?

इस पर भाट्ट कहता है कि परमब्रह्म का विषय भी जिस रूप से विद्यमान है उसी स्वरूप से उसके धर्म रूप विधि का भी सद्भाव है अतः उसका विधान भी कैसे किया जा सकेगा ? यदि आप कहें कि जिस स्वरूप से विधि अविद्यमान है उस रूप से उसका अनुष्ठान होता है तो नियोग में ऐसा ही समझिये कि जिस अंश से नियोग विषयी अविद्यमान है उसी अंश से कर्मकांडी मीमांसक उसका अनुष्ठान करते हैं ।

विधिवादी—असत् रूप नियोग का अनुष्ठान कैसे किया जायेगा क्योंकि वह तो अप्रतीयमान है खर-विषाण के समान ।

भाट्ट—उसी हेतु से विधि भी अनुष्ठेय नहीं हो सकेगी ।

विधिवादी—वर्तमान काल में विधि प्रतीयमान होने से प्रतीत हो रही है, किन्तु दर्शन, श्रवण आदि अनुष्ठेय रूप से असिद्ध रूप है अतएव वह विधि अनुष्ठेय है । अर्थात् भविष्यत्काल में उस विधि का विधान करना योग्य है ।

- 1 अत्र विधिवादी वदति । 2 दर्शनादिना । (व्या० प्र०) 3 विधिर्नास्ति । 4 विधेः करणं घटते । 5 उत्तरं । (व्या० प्र०) 6 अनुष्ठानम् । 7 विधिवादी । 8 उत्तरम् । अप्रतीयमानत्वादेव । 9 विधिवादी । 10 दर्शनश्रवणा-
दिरूपतया । 11 विधिप्रकारेण प्रतीयमानत्वादनुष्ठेयो भवतु । 12 विधिवादी भावनावादितं प्रति । 13 कर्त्तव्यतया ।
14 करणीयतया एव । (व्या० प्र०)

नियोगोवतिष्ठते¹, न प्रतीयमानतया तस्याः ²सकलवस्तुसाधारणत्वात् । ³अनुष्ठेयता च यदि प्रतिभाता कोन्यो ⁴नियोगो यस्यानुष्ठितिरिति चेत् तर्हि विधिरपि न प्रतीयमानतया प्रतिष्ठामनुभवति⁵, किन्तु ⁶विधीयमानतया⁷ । सा चेदनुभूता कोन्यो विधिर्नाम यस्य

भावनावादी—तब तो नियोग को भी ऐसा ही मानों क्या बाधा है ?

विधिवादी—अनुष्ठेय—कर्त्तव्य रूप से ही नियोग है किन्तु प्रतीयमान रूप से नहीं है क्योंकि वह सकल वस्तुओं में साधारण रूप से है । और प्रश्न यह होता है कि उस नियोग की अनुष्ठेयता—कर्त्तव्यता प्रतिभात है या अप्रतिभात ? यदि प्रतिभात है तो प्रतिभास के अंतः प्रविष्ट ही है । यदि अप्रतिभात है तब तो उसकी अवस्थिति ही नहीं है इसलिये कर्त्तव्यता यदि प्रतिभात है तब तो नियोग नाम की अन्य क्या चीज है कि जिसका अनुष्ठान होवे ?

भावनावादी—तब तो विधि भी प्रतीयमान रूप से व्यवस्था को प्राप्त नहीं कर सकती है किन्तु विधीयमान रूप से ही व्यवस्थित हो सकती है, क्योंकि वह भी सकल वस्तु में साधारण रूप से है । अन्यथा अन्यापोह को भी विधिरूप का प्रसंग आ जावेगा । यदि कहो कि वह अनुभूत है तो विधि अन्य और क्या चीज है कि जिसका विधान उपनिषद् वाक्य से आप वेदांती सुन लेते हैं ।

भावार्थ—यदि विधिवादी कहे कि कुछ अंश रूप से असत् नियोग का अनुष्ठान कैसे हो सकता है ? क्योंकि जो सत् रूप नहीं है और गगनकुसुमवत् जिसकी प्रतीति ही नहीं है उसका अनुष्ठान असंभव है । तब यह दोष तो आप अद्वैतवादी पर भी लागू हो जाता है क्योंकि आपने भी विषय के असद्भूत अंश वाली विधि का ही अनुष्ठान माना है । यदि आप कहें कि हमारे यहाँ विधि की प्रतीति हो रही है अतः उस विधिरूप ब्रह्म का स्वरूप सिद्ध है पुनः उसके अनुष्ठान में क्या बाधा है ? तब तो हम भाट्ट भी ऐसा कह सकते हैं कि प्रभाकर के यहाँ वह नियोग भी प्रतीति में आ रहा है वे भी उसको अनुष्ठान करने योग्य मानते हैं ।

इस नियोग की पुष्टि के कथन पर पुनरपि विधिवादी अपना ही पक्ष पुष्ट करते हुये कहते हैं कि नियोग अनुष्ठान करने योग्य तो है किन्तु उसकी प्रतीति नहीं हो सकती है, क्योंकि केवल वह अनुष्ठेयता मात्र तो संपूर्ण वस्तुओं में सामान्य रूप से पाई ही जाती है और यदि वह अनुष्ठेयता आप प्रभाकर को प्रतिभासित हो चुकी है तब तो आपका यह कथित नियोग भी प्रतिभास के अंतरंग में प्रविष्ट हो जाने से नित्य ब्रह्म रूप ही सिद्ध हो गया समझना चाहिये । पुनः ब्रह्म से भिन्न दूसरा नियोग कुछ रहा ही नहीं कि जिससे आप उसके अनुष्ठान का विधान कर सकें और यदि आप उस

1 अयं नियोगो नान्य इति व्यवस्थितिर्भवति । 2 जुहुयादित्यादिषु । 3 अनुष्ठेयता प्रतिभाता अप्रतिभाता वा ? यदि प्रतिभाता तदा प्रतिभासान्तःप्रविष्टैव । अप्रतिभाता चेत्तदा तस्यावस्थितिरपि नास्ति । 4 वाक्यात्प्रतीयमानः । (व्या० प्र०) 5 तस्याः सकलवस्तुसाधारणत्वादिति सम्बन्धः । 6 अन्यथान्यापोहस्यापि विधित्वप्रसंगात् । (व्या० प्र०) 7 दृष्टव्योरेयमात्मेत्यादिकर्त्तव्यतया ।

विधानमुपनिषद्वाक्याद^१नुकर्ण्यते^२ । ^३ननु दृष्टव्यादिवाक्येनात्मदर्शनादिकं विहितं^४ ममेति प्रतीतेरप्रतिक्षेपाहो विधिः कथमपाक्रियते^५ ? ^६किमिदानीमग्निहोत्रादिवाक्येन यागादिविषये

नियोग को प्रतिभासित नहीं मानोगे तब तो उसका अस्तित्व ही नहीं रहेगा क्योंकि हम अद्वैतवादियों के यहाँ तो “नरः प्रतिभासते, पटः प्रतिभासते” इत्यादि रूप से मनुष्य, घट पट आदि सभी चेतन अचेतन पदार्थों को ब्रह्म स्वरूप बनाकर ब्रह्माद्वैतवाद को सिद्ध करने के लिये आकाश के समान विशाल उदर वाला सबसे सुन्दर “प्रतिभासमानत्वात्” हेतु मौजूद है जो कि सभी पदार्थों को बिना श्रम के ब्रह्म स्वरूप बना देता है तथाहि, ‘सर्वेऽपि चेतनाचेतनात्मकपदार्थाः प्रतिभासान्तः प्रविष्टाः संति, प्रतिभासमानत्वात् प्रतिभासस्वरूपवत्’ अर्थात् सभी चेतन अचेतन पदार्थ प्रतिभास रूप परम ब्रह्म के अंतः प्रविष्ट हैं, क्योंकि वे प्रतिभासित हो रहे हैं जैसे कि प्रतिभास—ब्रह्म का स्वरूप उस ब्रह्म के ही अंतः प्रविष्ट हैं। इस कारण से नियोग भी अनुष्ठान करने योग्य होकर प्रतिभासित हो चुका है और जो प्रतिभासित हो जाता है उसकी वर्तमान काल में प्रतीति नहीं होती है अतः यदि आप ब्रह्माद्वैतवादी नहीं बनना चाहते हैं तब तो आप नियोग को अप्रतीयमान ही रहने दीजिए। इस पर भाट्ट अपने भाई नियोगवादी को सहारा देते हुए कहते हैं कि इस प्रकार से आप की विधि का भी तो वर्तमान काल में अनुभव नहीं आ रहा है किन्तु वह वर्तमान में विधीयमान-विधान किए जाने रूप से ही जानी जाती है क्योंकि वह विधीयमानता भी तो सभी पदार्थों में साधारण रूप से पाई जाती है और जब विधि की विधीयमानता का अनुभव हो चुका है तो फिर उससे अन्य कौन सा अंश विधि नाम का शेष रह गया है कि जिसका “दृष्टव्योरेयमात्मा” इत्यादि वाक्यों से विधान कराया जा सके इसलिये विधि भी अप्रतीयमान है ऐसा मान लेना चाहिये अन्यथा उसका विधान नहीं किया जा सकेगा। इस प्रकार से भाट्ट ने विधिवादी पर दोषारोपण किया है। यहाँ पर अनुष्ठेयता भविष्यत्कालीन है, प्रतीयमानता वर्तमान कालीन है एवं प्रतिभासित्व भूतकाल का वाचक है इस प्रकार से कालों का व्यतिकर (भेद) दिखलाते हुए विद्वानों का अच्छा संघर्ष हो रहा है।

विधिवादी—“दृष्टव्यादि” वाक्यों से आत्मदर्शनादि अवश्यकरणीय कहे गए हैं क्योंकि ‘मम इदं कर्तव्यं’ यह मुझे करने योग्य है इस प्रकार से प्रतीति होती है अतः विधि प्रतिक्षेप—निषेध के योग्य नहीं है पुनः नियोगवादी प्रभाकर उसका निराकरण कैसे करते हैं ?

भाट्ट—तो क्या विधि की प्रतीति के समय अग्निहोत्रादि वाक्य से यज्ञादि के विषय में मैं नियुक्त हूँ ऐसी प्रतीति नहीं आती है कि जिससे नियोग का खंडन आप करते हैं। अर्थात् आप नियोग का खंडन भी नहीं कर सकेंगे।

1 वेदान्तवादिना । 2 उपवर्ण्यते इति पा० । (व्या० प्र०) 3 विधिवादी । 4 अवश्यङ्करणीयम् । 5 प्रभाकरेण । 6 विधेः प्रतीतिकाले ।

नियुक्तोहमिति प्रतीतिर्न विद्यते येन नियोगः प्रतिक्षिप्यते ? सा प्रतीतिरप्रमाणमिति चेत् विधिप्रतीतिः कथमप्रमाणं न स्यात् ? विधिप्रतीतेः पुरुषदोषरहितवेदवचनेन जनितत्वादिति चेत्तत एव नियोगप्रतीतिरप्यप्रमाणं मा भूत्—सर्वथाप्यविशेषात्¹ । तथापि नियोगस्य विषयधर्मस्यासम्भवे विधेरपि तद्धर्मस्य न सम्भवः । ²शब्दस्य³ ⁴विधायकस्य धर्मो विधिरित्यपि न निश्चेतुं शक्यम्⁵—नियोगस्यापि नियोक्तृशब्दधर्मत्वप्रतिघाताभावा-

विधिवादी—वह प्रतीति अप्रमाण है ।

भाट्ट—पुनः विधि की प्रतीति भी अप्रमाण क्यों नहीं हो जावे ?

विधिवादी—विधि की प्रतीति तो पुरुष के दोष से रहित अपौरुषेय वेदवाक्यों से उत्पन्न होती है अतः प्रमाण है ।

भाट्ट—उसी हेतु से ही नियोग की प्रतीति भी अप्रमाण मत होवे, सर्वथा भी दोनों में समानता है अर्थात् विधि की प्रतीति और नियोग की प्रतीति दोनों भी अपौरुषेय वेदवाक्यों से उत्पन्न होती हैं अतः दोनों ही प्रमाण हो सकती हैं दोनों में कोई अंतर नहीं है फिर भी यदि आप कहें कि नियोग विषय का धर्म नहीं है तो विधि भी विषय का धर्म नहीं है ।

भावार्थ—विधिवादी कहता है कि दृष्टव्य, मन्तव्य, सोहं इत्यादि वाक्यों से मुझको आत्म-दर्शनादि की विधि हो चुकी है अतः उसका खंडन नहीं किया जा सकता है इस पर भाट्ट कहता है कि अभिनहोत्र, विश्वजित् आदि यज्ञों के कहने वाले वाक्यों से “मैं यज्ञादि विषयों में नियुक्त हुआ हूँ” इस प्रतीति को आप अप्रमाण नहीं कह सकते हैं यदि आप विधिवादी कहें कि राग द्वेष अज्ञानादि दोषों से रहित अनादि, अनिधन वेदवाक्यों से उत्पन्न हुई विधि प्रमाणभूत है तब तो अपौरुषेय वेदवाक्यों से ही तो प्रभाकर नियोग को प्रमाण मानता है । यहाँ तक तो नियुक्त होने योग्य पुरुष को नियोग कहना या यज्ञ स्वरूप पुरुष के धर्म को नियोग कहने में आप विधिवादी जो बाधा देते हैं आपके यहाँ भी विधि कराने योग्य—पुरुष को विधि कहने में या विधेय के धर्म को विधि-ब्रह्मरूप करने में वे ही बाधायें समान रूप से आ जाती हैं अतः नियोग और विधि में यहाँ तक संपूर्ण अंशों में सदृश दोषारोपण किया गया है ।

विधिवादी—शब्द—विधायक का धर्म विधि है ।

भाट्ट—यह निश्चय करना भी शक्य नहीं है अन्यथा नियोग भी नियोक्ता शब्द का धर्म हो जावेगा उसका आप अभाव नहीं कर सकेंगे शब्द तो सिद्ध रूप हैं पुनः उनका धर्म नियोग असिद्ध कैसे रहेगा कि जिससे यह वेदवाक्य से अनुष्ठेय है ऐसा प्रतिपादन किया जा सके । ऐसा भी नहीं मानना

1 विधिप्रतीतिनियोग प्रतीत्योर्द्वयोरपि पुरुषदोषरहितवेदवचनजनितत्वेन कृत्वा सर्वथापि विशेषाभावात् । 2 दृष्ट-व्योरेयमित्यादिकस्य । (व्या० प्र०) 3 विधिलक्षणाधर्मप्रतिपादकस्य । 4 विधिवाद्याह ।—विदधातीति विधायको द्रष्ट-व्योरेयमात्मेत्यादिवाकरूपः शब्दस्तस्य धर्मो विधिरपि विधायक इति । 5 अन्यथा ।

नुषक्तेः । शब्दस्य ¹सिद्धरूपत्वात्तद्धर्मो नियोगः कथमसिद्धो येनासौ ²सम्पाद्यते ³कस्यचिदित्यपि न मन्तव्यम्⁴—विधिसम्पादनविरोधात्—तस्यापि⁵ सिद्धोपनिषद्वाक्य-धर्मत्वाविशेषात् । ⁶प्रसिद्धस्यापि⁷ सम्पादने पुनःपुनस्तत्सम्पादनप्रवृत्त्यनुपरमात्⁸ कथमुपनिषद्वाक्यस्य प्रमाणता—तदपूर्वार्थताविरहात्स्मृतिवत्⁹ । तस्य वा प्रमाणत्वे नियोगवाक्यं प्रमाणमस्तु—विशेषाभावात् ।

चाहिए क्योंकि विधि में भी ऐसा प्रतिपादन करना विरुद्ध है वह विधि का संपादन भी प्रसिद्ध उपनिषद्वाक्य का धर्म है दोनों जगह कोई अन्तर नहीं है । प्रसिद्ध—निष्पन्न को भी संपादित करने में पुनः पुनः उसके संपादन की प्रवृत्ति का विराम-अभाव ही नहीं होगा पुनः उपनिषद्वाक्य में प्रमाणता कैसे आवेगी क्योंकि वह अपूर्वार्थपने से रहित है जैसे कि स्मृति अपूर्वार्थ का प्रतिपादन नहीं करती है अथवा उसको प्रमाण मानोगे तो नियोग वाक्य को भी प्रमाण मानो कोई अंतर नहीं है ।

भावार्थ—अब तीसरे प्रकार से विधायक शब्द के धर्म को विधि मानने पर नियोजक शब्द के धर्म को भी नियोग कहना पड़ेगा इसका स्पष्टीकरण करते हैं कि “दृष्टव्योरेऽयमात्मा” इत्यादि वाक्यों के द्वारा विधायक शब्द के धर्म को विधि कहने पर तो “अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः” इत्यादि वाक्यों के द्वारा नियोक्ता शब्दों के धर्म को भी नियोग मानना पड़ेगा । इस पर विधिवादी यों कहता है कि शब्द को कूटस्थ नित्य मानने वाले मीमांसकों के भाई आप प्राभाकरों के यहाँ शब्द का परिपूर्ण रूप सिद्ध है अतः उस शब्द का धर्म नियोग असिद्ध कैसे रहेगा कि जिससे उस नियोग को कर्मकांड वाक्यों के द्वारा कोई भी श्रोता संपादित कर सके । इस पर भाट्ट का कहना है कि आप विधिवादी के यहाँ भी अनादि काल से परिपूर्ण सिद्ध वैदिक उपनिषद् वाक्यों का धर्म विधि है इस मान्यता में भी वेदवाक्य का धर्म विधि भी नित्य ही ठहरी । यदि सर्व अंशों में परिपूर्ण रूप से सिद्ध हो चुके पदार्थ का भी संपादन करना माना जावेगा तो पुनः सिद्ध हो चुके का भी अनुष्ठान किया जावेगा तो कभी भी अनुष्ठान का अन्त ही नहीं हो सकेगा । इस कारण स्मृति के समान अपूर्व अर्थ के ग्राही न होने से आत्म प्रतिपादक वैदिक उपनिषद् वचनों को प्रमाणता नहीं आ सकती है । यहाँ पर स्मृति का दृष्टान्त नियोगवादी की अपेक्षा से दिया गया है क्योंकि स्याद्वाद सिद्धांत में स्मृति को अपूर्वार्थग्राही मानकर प्रमाणिक माना है यदि फिर भी विधिवादी गृहीत के ग्राहक उन उपनिषद् वचनों को प्रमाण मानेंगे तो नियोग वाक्य भी प्रमाण हो जावेंगे ।

- 1 शब्दस्त्वग्निहोत्रं जुहुयादित्यादिः सिद्धरूपः शब्दधर्म एव नियोगः कथमसिद्धो यतो यागादिः कर्तव्यः स्यात् ।
 2 वेदवाक्येनानुष्ठेयो भवतीति प्रतिपाद्यते । 3 नुः । (व्या० प्र०) 4 अन्यथा । (व्या० प्र०) 5 विधिसम्पादनस्य ।
 6 ज्ञातस्यापि । 7 निष्पन्नस्यापि । (व्या० प्र०) 8 अनुपरमाङ्गीकारे । (व्या० प्र०) 9 वेदस्य उप समीपे निषदन-मुपनिषत् तस्य वाक्यमुपनिषद्वाक्यं ऽक्षः प्रमाणं न भवतीति साध्यो धर्मः तस्यापूर्वार्थताविरहात् । यथा स्मृतिः । यथा स्मृतेरपूर्वार्थताप्रतिपादनं नास्ति श्रुत्यनुसारित्वात् तथेत्यर्थः ।

विधिग्रहकं वाक्यमप्रधानतया विधिं विषयीकरोति प्रधानतया वा ? इति विकल्पोभयं दूषयति]

किञ्च तद्विधिविषयं वाक्यं गुणभावेन प्रधानभावेन वा विधौ प्रमाणं स्यात् ? यदि गुणभावेन तदाग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इत्यादिरपि ¹तदस्तु²—गुणभावेन³ विधिविषयत्वस्य भावात्—⁴तत्र भट्टमतानुसारिभिर्भाविनाप्राधान्येनोपगमात्—प्राभाकरैश्च नियोगगोचरत्वस्य प्रधानत्वाङ्गीकरणात्⁵ । तौ च भावनानियोगौ नासद्विषयौ⁶ प्रवर्तते प्रतीयेते वा सर्वथाप्यसतोः प्रतीतौ प्रवृत्तौ वा शशविषाणादेरपि तदनुषक्तेः⁷ । ⁸सद्रूपतया⁹ च तयोर्विधि-¹⁰नान्तरीयकत्वसिद्धेः सिद्धं गुणभावेन विधिविषयत्वं वाक्यस्य¹¹ । इति नाप्रमाणतापत्तिर्येन कर्मकाण्डस्य पारमार्थिकता न भवेत् । ¹²प्रधानभावेन विधिविषयं चोदनावाक्यं प्रमाणमिति

[विधि को ग्रहण करने वाले वाक्य अप्रधान रूप से विधि को ग्रहण करते हैं या प्रधान रूप से ? दोनों विकल्पों का निराकरण ।]

दूसरी बात यह है कि उस विधि को विषय करने वाले वाक्य गौण भाव से विधि को ग्रहण करने में प्रमाण है या प्रधान भाव से ? यदि प्रथम पक्ष लेवो तो “अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः” इत्यादि वाक्य भी उस नियोग भावना रूप हो जावे क्योंकि विधि का विषय गौण रूप से है । विधि में हम भाट्टों ने भावना को प्रधानता से स्वीकार किया है, और प्राभाकरों ने नियोग का विषय प्रधान माना है वे भावना और नियोग असत् के विषय नहीं हैं न असत् रूप से प्रतीत ही हैं, क्योंकि सर्वथा भी असत् की प्रतीति मान लेने पर शशविषाणादि की प्रतीति और उनमें प्रवृत्ति होने लगेगी । सत् रूप से वह भावना और नियोग विधि से भिन्न नहीं हैं इसलिये वेदवाक्य विधि को गौण रूप से विषय करते हैं यह बात सिद्ध हो गई । अतः अप्रमाणिकता का प्रसंग नहीं आता है जिससे कि कर्मकाण्ड (क्रियाकाण्ड) को पारमार्थिकपना न होवे अर्थात् कर्मकाण्ड पारमार्थिक ही सिद्ध हो जाते हैं यदि आप कहें कि हम द्वितीय पक्ष ले करके वेदवाक्य को प्रधानभाव से विधि को विषय करने वाला मानते हैं इसलिये वे प्रमाण हैं । यह कथन भी अयुक्त है क्योंकि विधि को सत्यरूप मान लेवेंगे तब तो द्वैत का प्रसंग आ जावेगा । अर्थात् श्रोतव्य और श्रोता आदि के भेद से विधायक और विधेय से भी भेद होने से द्वैत हो जावेगा और यदि उस विधि को असत्य मानेंगे तब तो वह प्रधान नहीं हो सकेगी । तथाहि “विधि प्रधानाभाव का अनुभव नहीं करती है क्योंकि वह असत्य है जो जो असत्य

1 नियोगभावनास्तित्वम् । 2 विधौ प्रमाणत्वमस्तु । (व्या० प्र०) 3 नियोगस्योपचारेण विधिविषयत्वघटनात् । 4 विधौ । 5 प्रधानताङ्गीकरणात् । इति पा० । (व्या० प्र०) 6 असतौ च तौ विषयौ च । 7 सर्वथाप्यविद्यमानस्य शशकशृङ्गगनकुसुमवन्ध्यास्तनन्धयादेरपि तयोः प्रतीतिप्रवृत्तिकयोरनुषङ्गात् । 8 सद्रूपस्य ब्रह्मत्वस्य प्रतिपादनात् । (व्या० प्र०) 9 भावनानियोगयोर्नान्तरीयकत्वं (न विच्छेदकत्वमविनाभावित्वं वा) तस्य सिद्धेर्घटनात् । 10 अस्तित्व । अविनाभाव । (व्या० प्र०) 11 अग्निहोत्रादेः । (व्या० प्र०) 12 वेदवाक्यं मुख्यं विधिरपि मुख्य इति चेन्न—तथा—सति द्वैताभावात् । * वर्धते इत्यपि पुस्तकान्तरे ।

चायुक्तम्—विधेः¹ सत्यत्वे द्वैतावतारात्³ । तदसत्यत्वे प्राधान्यायोगात् । तथा⁴ हि । यो योऽसत्यः स स न प्रधानभावमनुभवति । यथा⁵ तदविद्याविलासः । तथा चासत्यो विधिरिति न प्रधानभावेन तद्विषयत्वोपपत्तिः । स्यान्मतम् ।—न सम्यगवधारितं विधेः स्वरूपं

है वह-वह प्रधानभाव का अनुभव नहीं करता जैसे उसकी अविद्या का विलास" और उसी प्रकार से विधि असत्य है इसलिये प्रधानभाव से वह विधि वेदवाक्य का विषय नहीं है ।

भावार्थ—प्रश्न यह होता है कि ब्रह्मरूप विधि को विषय करने वाला वाक्य गौण रूप से विधि को जानता हुआ प्रमाण समझा जाता है या प्रधानभाव से विधि का प्रतिपादन करता हुआ प्रमाण समझा जाता है ? यदि गौण रूप से विधि को कहने वाला वाक्य प्रमाण हो जावे तब तो प्रभाकरों के यहाँ "स्वर्ग की इच्छा करने वाला पुरुष अग्निहोत्र पूजन द्वारा यज्ञ को करे" इत्यादि रूप से कर्मकांड के प्रतिपादक वचन भी प्रमाणिक हो जायेंगे क्योंकि इन अग्निहोत्रादि वाक्यों का अर्थ भी गौण रूप से विधि को विषय कर रहा है । इन कर्मकांड वाक्यों में प्रभाकरों ने नियोग अर्थ प्रधान माना है तथा भट्ट ने भावना अर्थ प्रधान माना है एवं प्रभाकर और भट्ट के द्वारा मान्य नियोग और भावना रूप अर्थ अभाव रूप नहीं हैं अथवा स्वकर्तव्य के द्वारा ये दोनों भावना और नियोग असत् पदार्थ की प्रतीति कराते हों ऐसा भी नहीं है, अतः यह बात सिद्ध हो जाती है कि ये भावना और नियोग सत् रूप से (सत्सामान्य की अपेक्षा से) विधि के साथ अविनाभाव संबंध रखते हैं इसलिये प्रभाकरों के द्वारा मान्य अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोम, विश्वजित्, अश्वमेध आदि वाक्य प्रमाणभूत ही सिद्ध हो जाते हैं अतः गौण रूप से विधि को कहने वाले इन प्रभाकरों के कर्मकांड वाक्य भी आप अद्वैतवादियों को प्रमाण मानने पड़ेंगे । यदि आप विधिवादी इन दोषों को दूर करने के लिये प्रधान रूप से विधि को विषय करने वाले वाक्य को प्रमाण मानों तब तो वाक्य का अर्थ विधि है ऐसा परमार्थ कथन मान लेने पर एक विधि और दूसरा ब्रह्म इस प्रकार से द्वैतवाद आ जाता है और उस "श्रोतव्य, दृष्टव्य" आदि रूप विधि को असत्य कहोगे तो विधि को प्रधानता नहीं रहेगी क्योंकि जो असत्य है वह प्रधान नहीं हो सकता है अतः यह विधि प्रधान रूप से भी वाक्य का अर्थ सिद्ध नहीं होती है ।

विधिवादी—आपने विधि के स्वरूप को सम्यक् प्रकार से समझा ही नहीं है क्योंकि वह विधि ही व्यवस्थित है । प्रतिभास मात्र से पृथक् वह विधि घटादि के समान कार्यरूप से प्रतीति में नहीं आती है और वचनादि के समान प्रेरक रूप से भी वह जानी नहीं जाती है क्योंकि कर्म और करण साधन रूप से उस विधि की प्रतीति के मानने पर तो कार्यता और प्रेरकता प्रत्यय युक्त है अन्यथा नहीं

1 तद्व्यप्रत्ययविषय आत्मा विधिः । (व्या० प्र०) 2 उपचरितत्वाभावे । 3 श्रोतव्यश्रोतृत्वादिभेदेन विधायकतया विधेयतया च । 4 अत्र विधिविषयं वाक्यं प्रधानभावेन विधी प्रमाणमस्तीति यदुक्तं तत्खण्डनार्थं भावनावादी नियोगमतमवलम्ब्याह ।—“विधिः प्रधानभावं नानुभवति—असत्यत्वात् । यो योऽसत्य इत्यादि” । 5 सा प्रतिष्ठा । (व्या० प्र०) 6 वाक्यस्य । (व्या० प्र०)

^१भवता^२ ^३तस्यैव^४ ^५यतो व्यवस्थितत्वात् । प्रतिभासमात्राद्धि पृथग् विधिः कार्यतया न प्रतीयते घटादिवत्^६ प्रेरकतया च नाध्यवसीयते वचनादिवत्^७ । कर्मकरणसाधनतया हि ^८तत्प्रतीतौ कार्यताप्रेरकता^९प्रत्ययो युक्तो ^{१०}नान्यथा ।

[वेदांतवादी पुनरपि ब्रह्मद्वैतवादं समर्थयति]

किंतिहि ? दृष्टव्यो रेयमात्मा श्रोतव्योऽनुमन्तव्यो निदिध्यासितव्य इत्यादिशब्दश्रवणादवस्थान्तर^{११}विलक्षणेन^{१२} प्रेरितोऽहमिति जाताकृतेनाकारेण स्वयमात्मैव प्रतिभाति । स एव विधिरित्युच्यते । ^{१३}तस्य च ज्ञानं^{१४} विषयतया^{१५} ^{१६}सम्बन्धमधितिष्ठतीति प्रधानभावविभावना^{१७} विधेर्न^{१८} विहन्यते—^{१९}तथाविधवेदवाक्यादात्मन^{२०} एव विधायकतया^{२१} प्रतिभासनात् । तद्दर्शनश्रवणानुमननध्यानरूपस्य^{२२} विधीयमानतयानुभवात् । तथा^{२३} च स्वयमात्माऽऽत्मानं

अर्थात् कर्म और करण रूप साधन के अभाव में विधि का ज्ञान मानने पर कार्यता और प्रेरकता प्रत्यय युक्त नहीं हैं ।

[यहाँ विधिवादी पुनरपि ब्रह्मद्वैतवाद का समर्थन करते हैं ।]

भाट्ट—पुनः वह विधि किस रूप है ?

विधिवादी—सो हम बताते हैं । “दृष्टव्योरेऽयमात्मा श्रोतव्योऽनुमन्तव्यो निदिध्यासितव्यः” इत्यादि शब्दों के सुनने से अवस्थान्तर से विलक्षण—अप्रेरितावस्था से विलक्षण—अदृष्टव्यादि से विलक्षण रूप से “मै प्रेरित हुआ हूँ” इस प्रकार के अभिप्राय और आकार से सहित होकर स्वयं आत्मा ही प्रतिभासित होता है और वही विधि है इस प्रकार से कहा जाता है । उस विधि का ज्ञान विषय रूप से संबंध को प्राप्त कर लेता है इसलिये विधि का प्रधान भाव मानना विरुद्ध नहीं है अर्थात् दर्शन, मनन आदि विधीयमान रूप से विधि-ब्रह्म से संबंध को प्राप्त होते हैं । ‘वृक्ष की शाखा के समान’ अभेद अर्थ में षष्ठी होती है किन्तु ब्रह्म रूप से एकत्व ही है । वह ब्रह्म ही विषयी है और वही विषय है ।

१ प्रभाकरेण । २ (वेदान्त्याह) नियोगमतावलम्बिना भट्टेन त्वया । ३ तस्यैवमव्यस्थितत्वात् । इति पा० । (व्या० प्र०) ४ विधेः । ५ असत्यत्वप्रकारेण । (व्या० प्र०) ६ यथा घटादिः कार्यतया पृथक् प्रतीयते तथा विधिः प्रतिभासमात्रात् पृथङ् न प्रतीयते । ७ यथा प्रेरकतया वचनमध्यवसीयते तथा विधिर्न । ८ विधिः । ९ कार्यता-प्रेरकता (विधेः) न युक्तेत्येव खपाठः । १० कर्मकरणसाधनाभावे विधिपरिज्ञाने कार्यताप्रेरकताप्रत्ययो युक्तो न । ११ दर्शनादिरूपेण । (व्या० प्र०) १२ अप्रेरितावस्थान्तरविलक्षणेन । अदृष्टव्यादिविलक्षणेन । १३ विधेः । १४ दर्शनादिकं विधीयमानतया विधेः संबंधमधितिष्ठतीति यावद् वृक्षस्य शाखेवाभेदे षष्ठी विधिर्नैकत्वमेवेत्यर्थः । (व्या० प्र०) १५ स एव विषयी स एव विषयः । दृश्यदृष्टत्वाद्योः । (व्या० प्र०) १६ दर्शनादिकं विधीयमानतया विधेः सम्बन्धमधितिष्ठतीति यावत् । वृक्षस्य शाखेवाभेदे षष्ठीविधिना एकत्वमेवेत्यर्थः । १७ निश्चयः । (व्या० प्र०) १८ विधेर्-मुह्यत्वनिश्चयो न विरुद्ध्यते । १९ संबंधमधितिष्ठतीत्येतस्य समर्थनात् । (व्या० प्र०) २० वेदवाक्यादात्मन्य एव न तद्दर्शयति । वेदवाक्यं ज्ञानमेव तच्चात्मनो धर्मोतः कारणाद्वेदवाक्यात्मनोरभेद एवेति । २१ दृष्टत्वादितया । (व्या० प्र०) २२ आत्मस्वरूपस्य । (व्या० प्र०) २३ विधायकविधीयमानधोरभेदे ।

द्रष्टुं श्रोतुमनुमन्तुं ध्यातुं वा प्रवर्तते । तथा प्रवृत्त्यसम्भवे ¹ह्यात्मनः प्रेरितोहमित्यव²-
गतिरप्रामाणिकी³ स्यात् । ततो नासत्यो विधिर्येन प्रधानता तस्य विरुध्यते । नापि सत्यत्वे
द्वैतसिद्धिः—आत्मस्वरूपव्यतिरेकेण ⁴तदभावात्—तस्यैकस्यैव तथा⁵ प्रतिभासनादिति ।

[भाट्टो नियोगपक्षमाश्रित्य पुनरपि विधिवादिनं दूषयति]

⁶तदप्यसत्यम्—नियोगादि⁷वाक्यार्थस्यापि निश्चयात्मकतया प्रतीयमानत्वात् । तथा
हि ।—नियोगस्तावदग्निहोत्रादिवाक्यादिव दृष्टव्योऽरेयमात्मेत्यादिवचनादपि प्रतीयते एव ।
नियुक्तोहमनेन वाक्येनेति निरवशेषो ⁸योगः ⁹प्रतिभाति—¹⁰मनागप्ययोगाशङ्कानवतारा-
दवश्यकर्तव्यतासम्प्रत्ययात्¹¹ । कथमन्यथा तद्वाक्यश्रवणादस्य¹² प्रवृत्तिरूपपद्यते—¹³मेघध्व-

देखने योग्य और दर्शन करने वाले से उसमें भेद नहीं है । अतः वह विधि मुख्य ही सिद्ध हो जाती है
पुनः उस प्रकार के विधिरूप वेदवाक्य से आत्मा ही विधायक रूप से प्रतिभासित होता है एवं उसका
दर्शन, श्रवण, अनुमनन और ध्यान रूप आत्मस्वरूप ही विधीयमान रूप से अनुभव में आता है । उस
प्रकार से विधायक-आत्मा और विधीयमान-दर्शन श्रवण आदि कार्य में अभेद के हो जाने पर स्वयं
आत्मा ही आत्मा को देखने, सुनने, अनुमनन करने अथवा ध्यान करने के लिये प्रवृत्त होता है उस
प्रकार की प्रवृत्ति के संभव न होने पर “मैं प्रेरित हुआ हूँ” इस प्रकार का आत्मा का ज्ञान अप्रामाणिक
हो जावेगा इसलिये विधि असत्य नहीं है कि जिससे उसकी प्रधानता विरुद्ध हो जावे । एवं सत्यरूप
मानने पर द्वैत की सिद्धि भी नहीं होती है क्योंकि आत्मा के स्वरूप को छोड़कर अन्य कोई विधि
असंभव ही है । वह एक ही विधि विधायक और विधेय रूप से प्रतिभासित होती है ।

[यहाँ भावनावादी भाट्ट पुनरपि नियोगपक्ष का आश्रय लेकर विधिवादी को दूषण देता है]

भाट्ट—यह आपका कथन भी असत् है क्योंकि नियोग और भावना भी वेदवाक्य के अर्थ हैं
वे भी निश्चायक रूप से प्रतीति में आ रहे हैं । तथाहि—अग्निहोत्रादि वाक्य के समान ही “दृष्टव्यो-
रेयमात्मा” इत्यादि वचन से भी नियोग प्रतीति में आ रहा है ।

“मैं इन वाक्यों से नियुक्त हुआ हूँ” इस प्रकार से निरवशेष योग रूप नियोग ही प्रतिभासित
होता है क्योंकि किञ्चित् भी अयोग की आशंका की गुंजाइश ही नहीं है । अवश्यकर्तव्यता का ही ज्ञान
हो रहा है एवं वही स्वीकार की गई है । अन्यथा उन वाक्यों के सुनने से ही इस मनुष्य की प्रवृत्ति
कैसे हो सकेगी ? यदि आप कर्तव्यता के ज्ञान का अभाव होने पर भी उस वाक्य के सुनने से प्रवृत्ति
होना मानोगे तब तो मेघ के शब्दादिकों से भी प्रवृत्ति का प्रसंग हो जाना चाहिये ।

1 ता । (व्या० प्र०) 2 प्रमितिः । 3 प्रामाणिका स्यात् । इति पा० । (व्या० प्र०) 4 विधेरभावात् । 5 विधाय-
कतया विधेयतया च । 6 भाट्टः । 7 आदिशब्देन भावना । 8 दर्शनश्रवणादावात्मसम्बन्धः । 9 यतः । (व्या० प्र०)
10 असंबन्ध । (व्या० प्र०) 11 अभ्युपगमात् । (व्या० प्र०) 12 नुः । 13 अन्यथा । कर्तव्यतासम्प्रत्ययाभावेपि
तद्वाक्यश्रवणात्प्रवृत्तिरूपपद्यते चेत् ।

न्या'देरपि प्रवृत्तिप्रसङ्गात् ।

भावार्थ—जैसे घट पटादि पदार्थ भिन्न प्रतिभासित होते हैं उस प्रकार से प्रतिभासमात्र परमब्रह्म से भिन्न कार्य रूप से विधि का अनुभव नहीं होता है एवं वचन, चेष्टा आदि के समान प्रेरक रूप—करणरूप से भी वह विधि नहीं जानी जाती है। कर्म साधन में “विधीयते यः सः विधिः” जो विधान किया जावे वह विधि है एवं “विधीयतेऽनेन स विधिः” जिसके द्वारा विधान किया जावे वह विधि है, इस प्रकार से करण साधन है। निरूक्ति के अनुसार कर्म साधन में कार्यता प्रत्यय के द्वारा एवं करण साधन में प्रेरकता प्रत्यय के द्वारा विधि का अनुभव नहीं आता है। यदि कोई कहे कि विधि का क्या स्वरूप है ? तो हम अद्वैतवादियों का कहना है कि “अरे संसारी जीव ! यह आत्मा दर्शन करने योग्य, श्रवण करने योग्य, मनन करने योग्य है और ध्यान करने योग्य है” “ब्रह्म-विद् ब्रह्मैव भवति” ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है। “ब्रह्मविदाप्नोति परं” “नाहं खल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं जानामि अहमस्मि इति नो इवेमानि भूतानि” इत्यादि शब्दों के सुनने से अन्य अवस्थाओं से विलक्षण होकर उत्पन्न हुई चेष्टा रूप आकार से मैं प्रेरित हुआ हूँ इस प्रकार से स्वयं आत्मा ही प्रतिभासित होता है और वह आत्मा ही “विधि” इस शब्द के द्वारा कहा जाता है, अर्थात् विधि का ज्ञान, विधि में ज्ञान ये सब अभेद होने से विधि स्वरूप ब्रह्म ही हैं। अतः विधि को प्रधान रूप से वाक्य का अर्थ कहने से उन विधिवाचक (विधायक) वाक्यों से आत्मा का ही विधान हो जाता है और उस आत्मा के दर्शन, श्रवण आदि से विधि ही कर्मरूप हो जाती है। पुनः स्वयं आत्मा ही अपने को देखने के लिये, सुनने के लिये, अनुमनन करने के लिये एवं ध्यान करने के लिये प्रवृत्ति करता है। आत्मा ही वेदवाक्य है, कर्ता, कर्म, क्रिया भी स्वयं आत्मा ही है अतएव “मैं स्वयं आत्मा से प्रेरित हुआ हूँ” ऐसा अनुभव हो रहा है क्योंकि विधायक, विधीयमान और भाव विधि रूप से वह परमब्रह्म ही प्रतिभासित हो रहा है एवं आत्मस्वरूप के अतिरिक्त उस परमब्रह्म का अभाव ही है अतएव यह विधि सत्य ही है इत्यादि रूप से विधिवादी ने अपना पक्ष रखा है।

अब भाट्ट प्रभाकर का मत पुष्ट करते हुये उसका निराकरण करते हैं अर्थात् अव्यक्त रूप से प्रभाकर के द्वारा विधिवाद का खंडन कराते हैं। भाट्टों का कहना है कि—आप विधिवादी के कथनानुसार वाक्य के अर्थ नियोग, भावना आदि भी अनुभव में आ रहे हैं। जैसे “अग्निष्टोमेन यजेत” आदि शब्दों से नियोग प्रतीत हो रहा है वैसे ही “दृष्टव्योरेऽयमात्मा” इत्यादि शब्दों के द्वारा भी “मैं इस वाक्य के द्वारा नियुक्त—प्रेरित हुआ हूँ” इस प्रकार से परिपूर्ण रूप से योग हो जाना उसमें लीन हो जाना ही तो नियोग है जो कि इस वाक्य से भी प्रतिभासित हो रहा है क्योंकि इस वाक्य से भी अवश्य कर्तव्यता का ज्ञान हो जाने से किंचित् मात्र भी शंका नहीं रह जाती है और यदि आप “दृष्टव्योरे” इत्यादि वाक्यों से पूर्ण योग-लीनता-प्रेरित अवस्था नहीं मानोगे तो इन वाक्यों के सुनने से श्रोता मनुष्यों की उस ब्रह्म के विषय में दर्शन, श्रवण, मनन, ध्यान आदि की प्रवृत्ति भी कैसे हो सकेगी ? यदि “इति कर्तव्यता” यह मेरा करने योग्य कार्य है इस रूप नियोग ज्ञान के बिना ही चाहे

1 का (पञ्चमी) ।

[विधिप्रतिपादकवाक्यमन्यार्थस्यापोहं करोति न वेति विकल्प्य दूषयति]

किञ्च शब्दाद् दृष्टव्योरेयमात्मेत्यादे^१रात्मदृष्टव्यतादिविधि^२स्तददृष्ट^३व्यतादि^४व्य-
वच्छेदरहितो^५ यदीष्यते तदा न ^६कस्यचित्प्रवृत्ति^७हेतुः^८—^९प्रतिनियतविषय^{१०}विधि-
नान्तरीयकत्वात्प्रेक्षावत्प्रवृत्तेः । तस्य चातद्विषय^{११}परिहाराविनाभावित्वात् कटः कर्तव्य
इति यथा । न हि कटे कर्तव्यताविधिरत^{१२}द्व्यवच्छेदमन्तरेण व्यवहारमार्गमवतारयितुं
शक्यः । ^{१३}परपरिहारसहितो विधिः शब्दार्थ इति चेत् ^{१४}तर्हि ^{१५}विधिप्रतिषेधात्मकः^{१६} शब्दार्थ

जिस शब्द से प्रवृत्ति होना मान लिया जावेगा तो मेघ की गर्जना, समुद्र की पूत्कार आदि शब्दों से भी श्रोताओं की प्रवृत्ति होने लगेंगी किन्तु ऐसा तो किसी ने भी नहीं माना है । मेघ की गर्जना सुनकर कोई भी मनुष्य परमब्रह्म के दर्शन, श्रवण आदि का अर्थ करके उसमें प्रवृत्ति नहीं करता है ।

[विधि को कहने वाले वाक्य अन्य अर्थ का निषेध करते हैं या नहीं ? ये दो विकल्प उठाकर दोष देते हैं]

दूसरी बात यह है कि “दृष्टव्योरेऽयमात्मा” इत्यादि शब्द से आत्मा को देखने योग्य आदि की विधि तो होती है किन्तु यदि आप उस विधि को—आत्मा को नहीं देखने योग्य आदि रूप के व्यवच्छेद—निराकरण से रहित मानते हैं तब तो वह विधि किसी को भी प्रवृत्ति में हेतु नहीं हो सकेगी अर्थात् अन्य का परिहार करके किसी भी विषय में वह प्रवृत्ति का निमित्त नहीं है । क्योंकि प्रतिनियत विषय की विधि का अविनाभाव होने से ही प्रेक्षावान् प्रवृत्ति करते हैं और वह अप्रतिनियत रूप—अतत् विषय के परिहार के साथ अविनाभावी है जैसे चटाई बनाना चाहिये, चटाई में जो कर्तव्यता विधि है वह पट कर्तव्यता आदि अतद् विषय का परिहार किये बिना व्यवहार मार्ग में नहीं आती है । यदि आप कहें कि पर के परिहार से सहित ही विधि वेदवाक्य—शब्द का अर्थ है । तब तो विधि प्रतिषेधात्मक ही शब्द का अर्थ सिद्ध हो गया पुनः विधिरूप एकांतवाद की प्रतिष्ठा-व्यवस्था कहाँ रही जैसे कि सर्वथा प्रतिषेध—अन्यापोहरूप एकांत की व्यवस्था नहीं बनती है ।

भावार्थ—यहाँ भाट्ट विधिवादी से प्रश्न करता है कि “दृष्टव्यो” इत्यादि शब्द से आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन आदि रूप जो विधि है वह विधि आत्मा की अदर्शन, अश्रवणादि अवस्थाओं का निषेध नहीं करते हुये आत्मा के दर्शन आदि रूप से होती है या आत्मा के अदर्शनादि का परिहार करते हुए भी होती है ? यदि आप कहें कि यह विधि तो आत्मा के दर्शन, मनन आदि रूप से ही होती है अन्य

1 ईप् । (व्या० प्र०) 2 विधानं । (व्या० प्र०) 3 अश्रोतव्यतादि । 4 परिहारः । (व्या० प्र०) 5 वेदान्तिना त्वया । 6 नुः । (व्या० प्र०) 7 आत्मद्रष्टव्यतादौ । 8 अन्यपरिहारेण क्वचित्प्रवृत्तिनिबन्धनापायात् । (व्या० प्र०) 9 विषया अनेके संति एकं एकं विषय प्रति प्रेक्षावता प्रवृत्तिरतद्विषयपरिहाराविनाभूता कथमदृष्टव्यादिव्यवच्छेदाभावे विवक्षिते प्रवृत्तिरिति भावः । (व्या० प्र०) 10 वसः । (व्या० प्र०) 11 अप्रतिनियतविषय । 12 पटकर्तव्यतादिपरिहारं विना । अटककर्तव्यतानिराकरणं विना । 13 विधिवादी वदति । 14 भाट्टः । 15 अस्तित्व । 16 द्वंद्वः । (व्या० प्र०)

इति कुतो विद्येकान्तवादस्य प्रतिष्ठा प्रतिषेधैकान्तवादवत्¹ । स्यान्मतम्² ।—परपरिहारस्य³ गुणीभूतत्वाद्विधेरेव प्रवृत्त्यङ्ग⁴त्वेन⁵ प्राधान्याद्विधिः शब्दार्थ इति । ‘कथमिदानीं’ शुद्धकार्यादिरूपनियोगव्यवस्थितिर्न स्यात् ?—कार्यस्यैव शुद्धस्य प्रवृत्त्यङ्गतया प्रधानत्वोपपत्तेः—⁹नियोज्यादेस्तत्रापि¹⁰ गुणीभावात् । तद्वत्प्रेरणादिस्वभावनियोगवादिनां प्रेरणादौ प्रधानताभिप्रायात् तदितरस्य सतोपि गुणभावाध्यवसायाद्युक्तो नियोगः शब्दार्थः ।

अदर्शन आदि का परिहार नहीं करती है तब तो यह विधि किसी भी श्रोता की प्रवृत्ति में हेतु नहीं बन सकेगी क्योंकि हिताहित को जानने वाले विद्वानों की प्रवृत्तियाँ प्रतिनियत विषय की विधि के साथ अविनाभाव संबंध रखती हैं जैसे घट की विधि यदि अघटों की व्यावृत्ति करेगी तब तो बुद्धिमान् नियत घट को लाने की प्रवृत्ति करेंगे अन्यथा शयन, रुदन, अध्ययन आदि जो भी कार्य कर रहे हैं उनको ही करते हुए कृतकृत्य हो जावेंगे उनको घट लाने या बनाने का कार्य आवश्यक ही नहीं रहेगा क्योंकि पर का परिहार तो नहीं किया गया है । जब इसने अपने से भिन्न अन्य का निषेध नहीं किया तब आत्मा के दर्शन, मनन के समान आत्मा के अदर्शन, अश्रवण, अध्ययन आदि में भी प्रवृत्ति कराने वाली हो जावेगी, मतलब दर्शन, श्रवण आदि में प्रवृत्ति नहीं होगी । जैसे किसी ने कहा कि आपको चटाई बनाना चाहिये यदि इस चटाई की कर्तव्य विधि में वस्त्र के बनाने रूप कर्तव्य का निषेध नहीं है तब तो वह श्रोता मनुष्य या तो चटाई वस्त्र, मकान आदि सभी कुछ बनाने लग जावेगा अथवा कुछ भी नहीं करेगा क्योंकि “कटः कर्तव्यः” यह, वाक्य जब अन्य का निषेध नहीं करता है तब उस श्रोता के सिर पर सभी काम आ पड़ेंगे । यदि दूसरा पक्ष लेकर आप कहें कि “दृष्टव्यो रे” इत्यादि वाक्य आत्मा के अदर्शन, अश्रवण आदि का निषेध करने वाले हैं तब तो आपने वेदवाक्य का अर्थ विधिप्रतिषेधात्मक रूप से उभय रूप ही मान लिया है पुनः आपका विधि-अस्तित्व रूप ही एकांतवाद कहाँ रहा ? अतएव जैसे शब्द का अर्थ अन्यापोह मात्र है ऐसा बौद्धों का कथन सिद्ध नहीं होता है वैसे ही आपका विधि रूप एकांत भी सिद्ध नहीं हो सकता है ।

विधिवादी—पर का परिहार रूप अन्यापोह गौण रूप है विधि ही प्रवृत्ति का अंग होने से प्रधान है इसलिये विधि ही वेदवाक्य का अर्थ है ।

भाट्ट—इस प्रकार से प्रधानता का आश्रय लेकर विधि को वेदवाक्य का अर्थ करते समय शुद्ध कार्यादि रूप ग्यारह प्रकार के नियोग की व्यवस्था क्यों नहीं हो जावेगी ? क्योंकि शुद्ध कार्य ही प्रवृत्ति का अंग होने से प्रधान रूप होता है, नियोज्यादि—पुरुषादि वहाँ शुद्ध कार्य रूप नियोग—वाक्य में भी गौण हैं । उसी प्रकार से प्रेरणादि स्वभाव नियोगवादियों के यहाँ प्रेरणादि में प्रधानता का

- 1 यथा सर्वथा प्रतिषेधैकान्त (अन्यापोह) वादस्य प्रतिष्ठा नास्ति । 2 विधिवादी । 3 अन्यापोहस्य । 4 हेतुत्वेन । 5 परपरिहारस्य यथागुणीभूतत्वं तथा विधेरपि भविष्यतीत्याशंक्य योजनीयमिदं साधनं । (व्या० प्र०) 6 भाट्टः । 7 प्राधान्यमाश्रित्य विधेः शब्दार्थनिरूपणावसरे । 8 शुद्धकार्याद्येकादशप्रकार । 9 पुरुषादेः । 10 शुद्धकार्यरूपे नियोगे । वाक्ये ।

¹शुद्धकार्यप्रेरणादिषु² ³स्वाभिप्रायात् कस्यचित्प्रधानभावेपि पराभिप्रायात्प्रधानत्वाभावात् ।
⁴तदन्यतरस्यापि स्वभावस्याव्यवस्थितेन⁵कस्यापि⁶ शब्दार्थत्वमिति चेत् ⁷तर्हि पुरुषाद्वैतवा-
 द्याशयवशाद्विधेः प्रधानत्वेपि ताश्चागतमताश्रयणादप्रधानताघटनात् सोपि न प्रतिष्ठामापद्येत
 विप्रतिपत्तिसद्भावाविशेषात्⁸ ।

अभिप्राय होने से विद्यमान उससे भिन्न में गौण भाव का निश्चय होने से नियोग को वेदवाक्य का अर्थ कहना युक्त ही है ।

विधिवादी—शुद्धकार्य, प्रेरणादिकों में स्व-प्रभाकर के अभिप्राय से किसी को प्रधान कर देने पर भी पर के—हमारे अभिप्राय से प्रधानता का अभाव है । उन दोनों प्रधान और अप्रधान में से किसी एक शुद्धकार्यादि नियोग स्वभाव की भी व्यवस्थिति न होने से प्रधान या अप्रधान रूप कोई भी एक प्रेरणादि नियोग वेदवाक्य का अर्थ नहीं हो सकेगा ।

[यहाँ भावनावादी भट्ट सौगत मत का अवलंबन लेकर विधिवाद को दूषित करते हैं]

भट्ट—तब तो आप—पुरुषाद्वैतवादी के अभिप्राय के निमित्त से विधि को प्रधान मानने पर भी बौद्ध मत का आश्रय लेने से तो विधि की अप्रधानता ही घटित होती है अतः वह विधि भी प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं होगी क्योंकि विधिवादी और सौगत दोनों में विवाद का सद्भाव होने से समानता ही है ।

भावार्थ—विधिवादियों का यह मन्तव्य है कि यद्यपि पर पदार्थों का परिहार करना शब्द का अर्थ है, किन्तु वह पर का परिहार गौण है । प्रधान रूप से तो विधि ही प्रवृत्ति का हेतु है क्योंकि पर पदार्थ अनंत हैं, अनंत जन्मों तक भी उनका निषेध शब्दों के द्वारा नहीं किया जा सकता है । हाँ ! कर्तव्य कार्य की विधि कर देने से नियुक्त पुरुष की तत्काल वहाँ प्रवृत्ति हो जाती है अतः शब्द का प्रधान अर्थ विधि ही है । इस पर भट्ट कहता है कि पुनः आप अद्वैतवादीजन प्रभाकर द्वारामान्य शुद्धकार्य, शुद्ध प्रेरणा आदि स्वरूप नियोग की भी व्यवस्था क्यों नहीं मान लेते हो क्योंकि प्रवृत्ति कराने का मुख्य अंग होने से शुद्ध कार्य ही प्रधान हो जावेगा और पुरुष, शब्द, फल आदि के विद्यमान होते हुये भी उनका अर्थ गौण मान लिया जावेगा । तथैव शुद्ध प्रेरणा, कार्य सहित प्रेरणा आदि स्वरूप नियोग भी प्रभाकरों के यहाँ प्रधान हैं और उनसे भिन्न, पुरुष, फल आदि के मौजूद होते हुये भी उनको गौणरूप से शब्द के द्वारा जाना जाता है । अतः नियोग को शब्द का अर्थ मानना ठीक ही है । इस पर विधिवादी कहते हैं कि शुद्धकार्य, शुद्धप्रेरणा आदि में प्रभाकरों के अपने अभिप्राय से किसी एक को प्रधानता होते हुये भी भट्ट, वेदांती, बौद्ध आदिकों के अभिप्राय से प्रधानता नहीं मानी गई है

1 विधिवादी । 2 नियोगेषु । (व्या० प्र०) 3 प्राभाकराभिप्रायात् । 4 अत्र विधिवादी वदति ।—तयोः प्रधान-
 त्वाप्रधानत्वयोरन्यतरस्यापि शुद्धकार्यादिनियोगस्य । 5 प्रेरणादिनियोगस्य प्रधानस्याप्रधानस्य वा । 6 शुद्धकार्यादि-
 नियोगस्य प्रधानभूतस्य । (व्या० प्र०) 7 भावनावादी सौगतमतमवलम्ब्य विधिवादिनमाह । 8 विधिवादिसौगतयो-
 विवादसद्भावेन विशेषाभावात् ।

[विधिरेव वाक्यस्यार्थः सर्वत्र प्रधानमिति मन्यमाने दोषः]

स्यान्मतिरेषा ते¹ विधिरेव² सर्वत्र प्रधानता—प्रवृत्त्यङ्गत्वोपपत्तेः³ । न पुनः प्रतिषेधस्य सर्वथा⁴ प्रवृत्त्यङ्ग⁵तानुपपत्तेः ।⁶ क्वचित्प्रवृत्तितुकामो हि⁷ सर्वस्तद्विधि⁸मन्वेषते⁹ तत्र पररूपप्रतिषेधान्वेषणे¹⁰ परिनिष्ठा¹¹नुपपत्तेः—¹²पर¹³रूपाणामानन्त्यात्¹⁴क्वचि¹⁵प्रतिषेद्धुम-
शक्तेश्च¹⁶ ।¹⁷ तद्वि पररूपं न¹⁸ तावत्स्वयमप्रतिपद्य¹⁹ क्रमशः प्रतिषेद्धुं शक्यम्—प्रतिषेधस्य²⁰
निर्विषयत्वप्रसङ्गात् । नापि प्रतिपद्य²¹—तत्प्रतिपत्तेरपि²² पररूपप्रतिषेधापेक्षत्वात्—²³ तस्यापि

अतः शब्द के उन प्रधान, अप्रधान दोनों अर्थों में से किसी एक स्वभाव रूप भी नियोग सिद्ध नहीं हो सकता है अतः एक भी शब्द का अर्थ नहीं हो सकता है । ऐसा कहने पर तो आप पुरुषाद्वैतवादी के अभिप्राय से विधि अर्थ को प्रधानता होते हुये भी बौद्ध के मत से विधि को अप्रधानता घटित हो जाती है अतः यह विधि भी अपनी प्रतिष्ठा को कैसे रख सकेगी क्योंकि कई दार्शनिकों की ओर से विवादों के उपस्थित हो जाने पर विधि और नियोग दोनों में समाधान और निषेध में कोई अंतर नहीं दीखता है अतएव या तो आप विधिवादी विधि और नियोग इन दोनों को ही वेदवाक्य का अर्थ मान लीजिये या तो एक को भी न मानिये पक्षपात करने में कोई सार नहीं है । आगे इसी का और भी स्पष्टीकरण ग्रंथकार स्वयं करते हैं ।

[वाक्य का अर्थ विधि ही है वही सर्वत्र प्रधान है ऐसा मानने में दोष]

विधिवादी—हमारे यहाँ विधि ही सर्वत्र वेदवाक्य में प्रधान है क्योंकि वही प्रवृत्ति का अंग है किन्तु प्रतिषेध प्रवृत्ति का अंग नहीं है अतः वह प्रधान भी नहीं है । कहीं जलादि में प्रवृत्ति करने की इच्छा करते हुये सभी पुरुष विधि—जलादि के अस्तित्व को ही खोजते हैं वहाँ जलादि में पर रूप के प्रतिषेध की अन्वेषणा के होने पर परिसमाप्ति नहीं होती है क्योंकि पर रूप तो अनंत हैं उनका कहीं जलादि में प्रतिषेध करना अशक्य ही है अर्थात् विवक्षित वस्तु में पर रूप के अभाव का विचार करने पर कहीं भी परिसमाप्ति होना संभव नहीं है क्योंकि पर रूप तो अनंत हैं अतएव उनका किसी भी वस्तु में प्रतिषेध करना शक्य नहीं हो सकता है ।

[हम आपसे प्रश्न करते हैं कि जो आप पर रूप का निषेध करते हैं वह क्रम से करते हैं या युगपत् ? क्रम से है कहो तो भी वहाँ पररूप को जान करके उसका निषेध करते हैं या बिना जाने ही ?]

1 विधिवादिनः । 2 वाक्ये । 3 प्रवृत्त्यंगतोपत्तेः इति पाठः । (व्या० प्र०) 4 सर्वथा प्रवृत्त्यङ्गतानुपपत्तेरिति वा पाठः । 5 कारणता । 6 जलादी । 7 जनः । तत्-जलं । (व्या० प्र०) 8 जलाद्यस्तित्वम् । 9 जलादी । 10 सति । 11 परिसमाप्ति । 12 परिनिष्ठानुपपत्तिः कुतः ? 13 अग्निरूपाणाम् । 14 जलादी । 15 जलादी पररूपाणाम् प्रतिषेद्धुमशक्तेश्च । (व्या० प्र०) 16 तत्र विवक्षिते वस्तुनि पररूपाभावविचारणे परिसमाप्तितनं सम्भवति । कस्मात् ? पररूपाप्यनन्तानि यतः क्वचिद्वस्तुनि प्रतिषेधः कर्तुं न शक्यते च यत इति हेतुद्वयम् । 17 विधिवादी पृच्छति ।—हे सौगतमतावलम्बिन् भावनावादिन् ! त्वया यत्पररूपं प्रतिषिध्यते तत्क्रमशो युगपद्वा ? क्रमशश्चेत्तदा तत्रापि पररूपं तदनिश्चित्य निश्चित्य वा प्रतिषिध्यते ? इति विकल्पमेव विधिवादी खण्डयति । 18 स्वरूपेण । (व्या० प्र०) 19 अज्ञात्वा । (व्या० प्र०) 20 अन्यथा । (व्या० प्र०) 21 पररूपं ज्ञात्वा स्वयं क्रमेण निवारयितुं न शक्यते । कस्मात् ? तस्य पररूपस्य निश्चितेरप्यन्यपररूपप्रतिषेधाश्रयत्वात् । 22 अपरापर-रूपस्य । (व्या० प्र०) 23 पररूपस्यापि ।

च प्रतिपन्नस्यैव ¹प्रतिषेधेऽनवस्थानुषङ्गात् । युगपत्सकलपररूपप्रतिषेधे परस्पराश्रयानुषङ्गात् । सिद्धे सकलपररूपप्रतिषेधे ²प्रतिपित्सि³तविधिसिद्धि⁴स्तत्सिद्धौ च ⁵तत्परिहारेण⁶ तत्प्रतिपत्तिपूर्वकसकलपररूपप्रतिषेधसिद्धिरिति ।

[सर्वथा विधिरेव प्रवृत्त्यंगं नास्तीति प्रतिपादयन् भाट्टो विधिवादं परिहरति]

⁷तदेतदनालोचिताभिधानम्—मण्डनमिश्रस्य⁸ । सर्वथा विधेरपि प्रवृत्त्यङ्गतानुपपत्तेः । सर्वो हीष्टे वस्तुनि प्रवृत्तितुमना जनोनिष्टपरिहारं ⁹तत्रान्वेषते—अन्यथानिष्टेपि प्रवृत्तौ समीहितव्याघातप्रसक्तेः¹⁰ । अनिष्टप्रतिषेधश्च प्रत्यक्षादिवत्¹¹ कुतश्चिद्वाक्यादपि शक्यः

यदि आप कहें कि पररूप को स्वयं बिना जाने ही उसका प्रतिषेध करते हैं ऐसा कहना तो शक्य नहीं है अन्यथा प्रतिषेध विषयशून्य—निर्विषयक हो जावेगा । यदि आप कहो कि हम पर रूप को जान करके उसका क्रम से निवारण करते हैं तो भी पर रूप का निश्चय—ज्ञान होने पर भी अन्य पररूप के प्रतिक्षेप—निषेध की अपेक्षा रहेगी ही और उस अन्य पररूप को भी जानकर उसका निषेध करने पर तो अनवस्था का प्रसंग आ ही जावेगा ।

यदि कहो कि एक साथ सभी पर रूप का प्रतिषेध करते हैं तब तो परस्पराश्रय दोष का प्रसंग आ जावेगा । सकल पररूप का प्रतिषेध सिद्ध होने पर प्रतिपित्सित—जानने योग्य का सद्भाव सिद्ध हो जावेगा एवं जानने योग्य विधि का सद्भाव सिद्ध होने पर उसका परिहार करके उसकी प्रतिपत्ति—ज्ञान पूर्वक सकल पररूप के प्रतिषेध की सिद्धि होगी ।

[सर्वथा विधि भी प्रवृत्ति में हेतु नहीं है ऐसा कहते हुए भाट्ट विधिवाद का परिहार करते हैं]

भाट्ट—आप मंडनमिश्र (विधिवादी) का यह सब कथन अविचारित ही है क्योंकि सर्वथा विधि भी प्रवृत्ति का अंग नहीं हो सकती है । इष्ट वस्तु में प्रवृत्ति करने की इच्छा रखने वाले सभी जन वहाँ इष्ट में अनिष्ट का परिहार खोजते ही हैं, अन्यथा—यदि ऐसा न मानो तो अनिष्ट में भी प्रवृत्ति के हो जाने पर सभी के हित—इष्ट के व्याघात का प्रसंग आ जावेगा एवं प्रत्यक्षादि के समान अनिष्ट का प्रतिषेध भी किन्हीं वेदवाक्यों से जानना शक्य है क्योंकि केवल विधि का ज्ञान ही अन्य के प्रतिषेध—निषेध की प्रतिपत्ति—ज्ञान रूप है अर्थात् केवलभूतल का ज्ञान होने से ही घट के अभाव का

1 प्रतिषेधेनानवस्थाप्रसङ्गादिति पाठान्तरम् । 2 प्रतिपत्तुमिष्ट । (व्या० प्र०) 3 सद्भाव । 4 प्रतिपित्सितविधिसिद्धौ । 5 प्रतिपित्सितवस्तुनिराकरणेन तत्परिज्ञानपूर्वकसर्वान्वयरूपनिषेधसिद्धिः । 6 सकल पररूपेषु विधिर्नास्तीति विधिपरिहारस्तेन । (व्या० प्र०) 7 भावनावादी भाट्टः । 8 विधिवादिनः । 9 इष्टे । 10 अनिष्टप्रतिषेधो ज्ञानु-मशक्यो नन्वित्याशंकायामाह । (व्या० प्र०) 11 प्रत्यक्षादेरिव ।

प्रतिपत्तुम्¹—केवलविधिप्रतिपत्तेरेवान्यप्रतिषेधप्रतिपत्तिरूपत्वात्—केवलभूतलप्रतिपत्तेरेव घटा-
भावप्रतिपत्तिसिद्धेः । न ह्ययं प्रतिपत्ता² किञ्चिदुपलभमानः पररूपैः³ सङ्कीर्णमुप-
लभते⁴—यतः प्रमाणान्तरात्प्रतिषेधः⁵ साध्यते । न⁶ च सर्वथा तैरसङ्कीर्णमेव⁷—
⁸सदाद्यात्मनापि तदसङ्करे⁹ तस्यासत्त्वप्रसङ्गात् । ¹⁰परस्मात्कथञ्चिद्व्यावृत्त्यव्यावृत्त्या-
त्मकं¹¹ च कुतश्चित्प्रमा¹²णादुपलभमानोर्थी¹³ परव्यावृत्तिद्वारेण वा प्रवर्तते¹⁴ विधि¹⁵ द्वारेण
वेति । विधेरिवान्यापोह¹⁶स्यापि प्रवृत्त्यङ्गत्वोपपत्तेर्न विधेरेव प्रधान्यम्—¹⁷विधात्रेव प्रत्यक्ष-
मुपनिषद्वाक्यं चेति नियमस्यासम्भवात्—¹⁸अन्यथा ¹⁹ततो विद्यावदविद्याविधानानुषङ्गात्²⁰ ।

ज्ञान सिद्ध है । यह जानने वाला पुरुष कुछ जलादि वस्तु को प्राप्त करता हुआ पररूप से संकीर्ण—
सहित वस्तु को प्राप्त नहीं करता है कि जिससे भिन्न प्रमाण से उसका प्रतिषेध सिद्ध किया जावे
अर्थात् केवल भूतलादि को जानता हुआ अथवा देखता हुआ मनुष्य पररूप घटादिकों से सहित उसको
नहीं देखता है कि जिससे अन्य प्रमाण से पररूप का प्रतिषेध सिद्ध किया जावे मतलब स्वयं ही पर-
रूप का प्रतिषेध हो जाता है ।

[इस पर किसी की शंका यह है कि हे स्याद्वादिन् ! शुद्ध भूतल घटादि पररूप से सर्वथा
असंकीर्ण—रहित ही रहेगा । इस पर आचार्य कहते हैं कि]—

सर्वथा घटादिकों से रहित ही हो ऐसा एकांत नहीं है, अन्यथा सत्त्व, प्रमेयत्व, वस्तुत्व आदि
से भी उसका संकर न मानने पर तो वे (भूतलादि) भी असत् रूप हो जावेंगे । पररूप से कथञ्चित्
व्यावृत्ति अव्यावृत्ति स्वरूप वस्तु को किसी प्रत्यक्षादि प्रमाण से प्राप्त करता हुआ प्रयोजनार्थी मनुष्य
पर की व्यावृत्ति रूप से अथवा विधि रूप से प्रवृत्ति करता है अर्थात् जलादि में “यह मरीचिका नहीं
है” अथवा “जल है” इस प्रकार से प्रवृत्ति करता है इसलिए विधि के समान ही अन्यापोह—प्रतिषेध
भी प्रवृत्ति का अंग सिद्ध हो गया है अतः विधि ही प्रधान नहीं है, क्योंकि विधाता—ब्रह्म ही प्रत्यक्ष

1 कुतः । (व्या० प्र०) 2 जलादिकम् । 3 सहितम् । 4 पश्यति । (व्या० प्र०) 5 किञ्चित्केवलभूतलादिकं जानन्
पश्यन् वायं प्रमाता पुमान् पररूपैर्घटादिकैः सङ्कुलं न पश्यति यतः कुतोऽन्यस्मात्प्रमाणात्पररूपप्रतिषेधः साध्यते ?
अपि तु न कुतोपि । 6 पर आह ।—तर्हि हे स्याद्वादिन् ! शुद्धभूतलघटादिपररूपैः सर्वथाऽसङ्कीर्णमेवेति पृष्टे स्या-
द्वादी वदति ।—नैवम् । कस्मात् ? सत्त्वप्रमेयत्ववस्तुत्वादिना कृत्वा भूतलस्य पररूपैः सहाऽमेलने सति भूतलस्याप्य-
सत्त्वमायाति यतः । 7 अन्यथा । (व्या० प्र०) 8 अन्यथा । 9 जलादिवस्तुनि सत्तायाः अभावो जायते यतः ।
(व्या० प्र०) 10 इष्टेतरात् । पररूपात् । 11 व्यावृत्ताव्यावृत्तात्मकं इति पा० । पररूपैर्व्यावृत्तं सदाद्यात्मनाऽव्या-
वृत्तं च । (व्या० प्र०) 12 प्रत्यक्षात् । 13 इदं मरीचिकादिकं न भवतीति । (व्या० प्र०) 14 इदं जलं भवतीति ।
(व्या० प्र०) 15 सदाद्यात्मना । 16 प्रतिषेधस्यापि । 17 (प्रथमान्तम्) आहुर्विधातुः प्रत्यक्षं न निषेद्धुं विपश्चितः ।
नैकत्वे आगमस्तेन प्रत्यक्षेण प्रबाध्यते इति विधिवादिप्रतिपादितं वाक्यस्यार्थस्य नियमस्यासम्भवात् । 18 अन्यथा,
नियमः सम्भवति चेत्तदा ततो विधातुः सकाशादविद्याविधानमनुषजति । 19 प्रत्यक्षादुपनिषदान्याद्वा । 20 विधा-
यकमेवोपनिषद्वाक्यं यतः । (व्या० प्र०)

सो^१यमविद्या^२विवेकि^३सन्मात्रं^४ कुतश्चित्प्रतीयन्नेव न निषेप्रत्यक्षमन्यद्देवेति ब्रुवाणः कथं स्वस्थः^६ ? कथं वा प्रत्यक्षादेर्निषेद्धृत्वाभावं प्रतीयात्^७ ? ^८यतस्तत्प्रतिपत्तिः—तस्यैवाभावविषयत्वसिद्धेः^९ । ^{१०}प्रत्यक्षादेर्विधातृत्वप्रतिपत्तिरेव निषेद्धृत्वाभावप्रतिपत्तिरिति चेत्तर्हि सिद्धं भावाभावविषयत्वं ^{११}तस्येति न ^{१२}परोदितो विधिर्वाक्यार्थः सिद्धयति । नियोगस्यैव वाक्यार्थत्वोपपत्तेः प्रभाकरमतसिद्धिः ।

और उपनिषद् वाक्य हैं ऐसा नियम करना असंभव है, अन्यथा उस प्रत्यक्ष अथवा उपनिषद् वाक्य से विद्या के समान अविद्या का भी विधान हो जावेगा। तथा च आप विधिवादी अविद्या का परिहार करके सन्मात्र को किसी प्रमाण से प्रतीतिगत करते हैं एवं प्रत्यक्ष निषेध करने वाला नहीं है, अथवा अन्य उपनिषद्वाक्य निषेध करने वाले नहीं हैं ऐसा कहते हुये स्वस्थ कैसे हैं ? क्योंकि अन्य का निषेध करके ही आप विधि में प्रवृत्त हैं। अथवा प्रत्यक्षादि से निषेध करने वाले के अभाव को कैसे प्रतीत करेंगे ? अर्थात् प्रत्यक्ष निषेध करने वाला नहीं है यह वचन विरुद्ध है, क्योंकि जो विधि का ज्ञान है वही अभाव को विषय करने वाला है, मतलब जिस प्रमाण से विधि का ज्ञान होता है उसी से ही प्रतिषेध का ज्ञान सिद्ध है। इसलिये “प्रत्यक्ष निषेध करने वाला नहीं है” ये आपके वचन विरुद्ध ही हैं।

विधिवादी—प्रत्यक्षादि से विधाता का ज्ञान होना ही निषेद्धृत्व के अभाव का ज्ञान है।

भाट्ट—ऐसा कहो तब तो यह बात सिद्ध हो गई कि प्रत्यक्षादि प्रमाण का विषय भावाभावात्मक है इसलिये वेदांतवादी के द्वारा कही गयी विधि ही वेदवाक्य का अर्थ है यह कथन सिद्ध नहीं हो सकता है। एवं नियोग ही वेदवाक्य का अर्थ सिद्ध हो जाने से नियोगवादी प्रभाकर के मत की सिद्धि हो जाती है।

भावार्थ—विधिवादी का कहना है कि प्रधान रूप से वेदवाक्य का अर्थ विधि ही है और वही प्रवृत्ति का अंग है किन्तु किसी भी शब्द का अर्थ निषेध नहीं है जैसे किसी को जल में स्नान करने की या उसे पीने की इच्छा है तो वह जल चाहता है और ‘जल’ इस शब्द के सुनने से जल को ही खोजता है। यदि वह व्यक्ति जल में पररूप का निषेध करने लगे तो पररूप तो अनंत हैं “यह जल है” इस

१ स्याद्वाद्याह ।—सोयं विधिवादी अविद्यापृथग्भूतं सन्मात्रं कुतश्चित्प्रमाणाज्जानन्नेव निषेद्धृत्प्रत्यक्षं नान्यत् (विधात्रेव प्रत्यक्षं न) इति जल्पन् कथं स्वस्थः स्यात् ? अपि तु न । अविद्याया विवेकः पृथग्भावः अविवेकः सोस्यास्तीत्यविद्याविवेकि तच्च तत्सन्मात्रं चाविद्याविवेकिसन्मात्रम् । अविद्यायाः सन्मात्रे शून्यत्वमित्यत्रैव प्रतिषेधः प्रतीयते । २ विवेकेन इति पा० । व्यावृत्त्या । (व्या० प्र०) ३ अविद्याविवेकेन (अविद्यापरिहारेण) सन्मात्रमिति पाठः खपुस्तकीयः । ४ प्रमाणात् । ५ उपनिषद्वाक्यम् । अन्यद्वेति खपाठः । ६ अन्यव्यावृत्तिरूपेण सन्मात्रे प्रवृत्तः । (व्या० प्र०) ७ ततश्च न निषेद्धृत्प्रत्यक्षमिति वचो विरुद्धेत । ८ यस्मात् प्रमाणाद्विधिप्रतिपत्तिस्तस्मादेव प्रतिषेधप्रतिपत्तिः सिद्ध्यति । ९ ततश्च न निषेद्धृत्प्रत्यक्षमिति वाचो विरुद्धयेत् । (व्या० प्र०) १० विधिवादी । ११ प्रत्यक्षादेः प्रमाणस्य । १२ वेदांतवादि । (व्या० प्र०)

शब्द में यह पुस्तक नहीं है, चौकी नहीं है इत्यादि रूप से निषेध करते-करते सारा जीवन ही समाप्त हो जायेगा किन्तु पररूप का अभाव नहीं हो सकेगा ।

पुनरपि विधिवादी सौगत से प्रश्न करता है कि आप पररूप का निषेध करते हुए क्रम-क्रम से उस जल में एक-एक वस्तु का निषेध करते हैं या एक साथ ? यदि क्रम-क्रम से कहें तो भी उन अनंतरूपों को समझकर उनका निषेध करते हैं या बिना समझे ? यदि बिना जाने ही उन पररूपों का निषेध करेंगे तो निषेध का विषय क्या रहेगा ? शून्यमात्र ही तो रहेगा । यदि जानकर निषेध करना कहो तो भी एक-एक को जान-जानकर उनका निषेध करने में कहीं पर भी अंत न आने से अनवस्था ही आ जावेगी । यदि आप कहें कि हम एक साथ ही सभी पररूपों का निषेध कर देंगे तब तो परस्परा-श्रयदोष आ जावेगा, पहले सभी पररूपों का प्रतिषेध ही जावेगा पुनः जानने योग्य जल का ज्ञान हो सकेगा और जब जल का सद्भाव सिद्ध हो जावेगा तब अनंत पररूपों का प्रतिषेध एक साथ ही सिद्ध होगा । अतः शब्द का अर्थ प्रतिषेध (अन्यापोह) नहीं है विधि ही है ऐसा सत्ताद्वैतवादी ने अपना पक्ष रखा है ।

इस पर भाट्ट का कहना है कि सर्वथा विधि ही प्रवृत्ति का हेतु नहीं है क्योंकि इष्ट जल में स्नान आदि की इच्छा रखने वाले मनुष्य वहाँ इष्ट जल में अनिष्ट अग्नि आदि का परिहार खोजते ही हैं । अन्यथा अनिष्ट अग्नि आदि में भी प्रवृत्ति हो जाने से किसी को भी अपने इष्ट की सिद्धि ही नहीं हो सकेगी अतएव विधि के समान निषेध भी शब्द का अर्थ है और प्रवृत्ति का हेतु है । यदि आप कहें कि “आहुविधातृ प्रत्यक्षं न निषेध विपश्चितः । नैकत्वे आगमस्तेन प्रत्यक्षेण प्रबाध्यते” ॥ अर्थ—विद्वान् लोग प्रत्यक्ष को विधायक—विधि को विषय करने वाला मानते हैं, किन्तु निषेधक—प्रतिषेध को विषय करने वाला नहीं मानते हैं । इसलिये एकत्व के समर्थन में जो आगम है, वह प्रत्यक्ष से बाधित नहीं होता है । यदि ऐसा ही एकांत मानोगे तो आपके यहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण अथवा उपनिषद्वाक्य भी जैसे अपना विधान करते हैं वैसे ही अविद्या का या अन्य सांख्य, सौगत, जैन के सिद्धान्त का भी विधान ही कर देंगे न कि निषेध । पुनः वेदवाक्य का अर्थ अविद्या का परिहार करके मात्र सन्मात्र परमब्रह्मरूप ही है ऐसा आप कैसे कह सकोगे ? एवं ‘प्रत्यक्ष निषेध करने वाला नहीं है’ इस वाक्य के द्वारा आप निषेध का भी निषेध कैसे करेंगे ? यदि आप कहें कि प्रत्यक्ष से की गई परमब्रह्म की विधि ही तो अन्य पदार्थों का अभाव है । तब तो जैनधर्म के अनुसार आपके प्रत्यक्षादि प्रमाण भावाभावात्मक ही सिद्ध हो जाते हैं पुनः एकांत से वेदवाक्य का अर्थ विधि ही है यह बात सिद्ध नहीं होती है । भाट्ट कहता है कि इसलिये आप नियोग को ही प्रमाण मान लीजिये ऐसे प्रभाकर का अभी तक पक्ष रखा है । अब प्रभाकर सामने आता है तब उसको बुद्ध बनाकर भाट्ट अपना स्वार्थ सिद्ध करते हुये भावनावाद को पुष्ट करते हैं ।

विधिवाद के खंडन का सारांश

भाट्ट—आप कहें कि विधि ही वेदवाक्य का अर्थ है तो आपके विधिवाद में भी हम प्रश्न करेंगे कि—विधि प्रमाण है या प्रमेय, उभयरूप है या अनुभयरूप, शब्दव्यापार रूप है या पुरुष व्यापाररूप, उभयव्यापाररूप है या अनुभय व्यापाररूप है ? यदि आप विधि को प्रमाण कहेंगे तो आप ब्रह्माद्वैतवादियों के यहाँ अन्य प्रमेय और क्या होगा ? यदि आप विधि के स्वरूप को ही प्रमेय कहो तो सर्वथा निरंश, सन्मात्र देह वाली विधि प्रमाण और प्रमेय ऐसे दो रूप वाली कैसे होगी ? एवं प्रमाण प्रमेय को कल्पित कहने पर तो आप बौद्ध ही हो जावोगे, क्योंकि बौद्ध भी प्रमाण और प्रमेय दोनों को कल्पित—अन्यापोह रूप अर्थ से मानता है किन्तु अन्यापोह को वस्तु का कथन करने वाला नहीं मानता है एवं कल्पित उपनिषद्वाक्य से या हेतु से परब्रह्म का ज्ञान कैसे होगा ? यदि इन्हें वास्तविक कहोगे तो द्वैत आ जावेगा । दूसरी बात यह है कि ये उपनिषद्वाक्य अचित्स्वभाव हैं या चित्स्वभाव ? यदि अचित्स्वभाव कहो तो ब्रह्मा से भिन्न अचेतन रूप होने से द्वैत हो गया । यदि चित्स्वभाव कहो तो प्रतिपादक—गुरु के चित्स्वभाव हैं या प्रतिपाद्य—शिष्य के अथवा दोनों के ? यदि गुरु का कहो तो शिष्य को ज्ञान नहीं होगा । यदि शिष्य का कहो तो गुरु को ज्ञान नहीं होगा, यदि दोनों का चित्स्वभाव मानों तो प्रश्न करने वाले अनेक मनुष्यों को ज्ञान नहीं हो सकेगा । यदि कहो कि ये आगम वाक्य और हेतु सभी के चित्स्वभाव हैं तो यह गुरु है, यह शिष्य है, ये प्राश्निक हैं इत्यादि भेद नहीं हो सकेंगे । यदि इन भेदों को अविद्या से मानों तो अविद्या गुरु में ही गुरु का बोध न कराकर शिष्य में गुरु का एवं गुरु में शिष्य का भी ज्ञान करा देगी, क्योंकि वह तो अविद्या ही है और वह एक ही है, सभी में अभिन्न रूप से समान काल में रहती है एवं अविद्या को अविद्या से कल्पित कहने पर तो विद्या ही सिद्ध हो गई अतः सभी में संकर दोष हो जावेगा, यदि आगमादि को ब्रह्मा से भिन्न ही मानोगे तो बाह्य वस्तु के सिद्ध हो जाने से अद्वैतवाद समाप्त हो जावेगा ।

यदि विधि को प्रमेय रूप मानो तो किसी भिन्न प्रमाण को मानना ही होगा पुनः द्वैत आ जावेगा । यदि उभयरूप कहो तो भी विरोध ही है । अनुभयरूप मानने पर तो खरविषाण के समान अवस्तु ही हो जावेगी । यदि पांचवां विकल्प लेंगे तो भाट्ट के मत में प्रवेश होगा तथैव छठे में भी वही बात है । उभय के व्यापार से कहो, तो क्रम से या युगपत् ? इन दो विकल्पों से दोष आते हैं । एवं अनुभय व्यापाररूप विधि को कहो तो वे ही प्रश्न मौजूद हैं कि विधि विषय का स्वभाव है या फल का स्वभाव है अथवा निस्स्वभाव ? विषय का स्वभाव कहो तो निरालंबवाद में प्रवेश हो जाता है । तथैव फल का स्वभाव कहने पर भी वाक्य के काल में स्वर्गादि फल असंनिहित होने से निरालंबवाद ही आता है । निःस्वभाव कहो तो “वेदवाक्य का कुछ भी अर्थ नहीं है” ऐसा हो जाता है ।

पुनरपि यह विधि सत् रूप है या असत् रूप, उभयरूप है या अनुभयरूप ? सत् रूप कहो तो किसी को भी विधेय नहीं होगी, पुरुष के समान । असत् कहो तो खरविषाण के समान हो जावेगी । उभयरूप कहो कि “दृष्टव्योरेयऽमात्मा” इत्यादि से असत् रूप है और पुरुषरूप से सत् रूप है तब तो द्वैत हो जावेगा । चतुर्थ पक्ष में सत् का निषेध होने से असत् की विधि होगी अथवा सर्वथा दोनों का निषेध होने से “कथञ्चित् सत्त्वासत्त्व” की विधि होगी तो जैनमत में प्रविष्ट हो जावोगे ।

तथैव वह विधि प्रवर्तक स्वभाव है या अप्रवर्तक स्वभाव ? यदि प्रवर्तक कहो तो बौद्धादिकों को भी विधि प्रवर्तक हो जावेगी । यदि द्वितीय पक्ष लैवो तो वेदवाक्य का अर्थ वह कैसे हो सकेगी ?

इसी प्रकार वह विधि फल रहित है या फल सहित ? फल रहित कहो तो नियोग के समान प्रवर्तक नहीं होगी । पुनः वेदवाक्यों का अभ्यास भी क्यों किया जावेगा ? फल सहित कहो तो फलार्थि-जनों की प्रवृत्ति स्वतः सिद्ध है, पुनः विधि के अर्थ से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? अतएव जिस प्रकार से वेदवाक्य का अर्थ नियोग करने में अनेक दूषण आते हैं तथैव विधि अर्थ मानने में अनेक दूषण आते हैं । यदि आप विधि अर्थ को प्रमाण कहोगे तो नियोग को भी प्रमाण मानना होगा । अतएव हमारे द्वारा मान्य “भावना” ही वेदवाक्य का अर्थ है ऐसा भाट्ट का कथन है उसका भी जैनाचार्य खंडन करेंगे ।



[अधुनापर्यन्तं भावनावादी भाट्टो नियोगवादं सौगतमतं चाश्रित्य विधिवादमदूषयत् अतःप्रभृति स्वपक्षं भावनावादं पोषयति]

¹स ²एव वाक्यार्थोस्त्विदंयुक्तम्—³धात्वर्थवन्नियोगस्य ⁴परोपवर्णितस्वरूपस्य वाक्यार्थतया प्रतीत्यभावात्—⁶सर्वत्र भावनाया⁷ एव वाक्यार्थत्वप्रतीतेः । सा हि द्विधा; शब्दभावनार्थभावना च ।

“शब्दात्मभावनामाहुरन्यामेव⁸ लिङ्गादयः⁹ । ¹⁰इयं ¹¹त्वन्वैव ¹²सर्वार्था ¹³सर्वाख्यातेषु ¹⁴विद्यते” ॥

इति वचनात् । तत्र शब्दभावना¹⁵ शब्दव्यापारः¹⁶ । ¹⁷शब्देन हि पुरुषव्यापारो ¹⁸भाव्यते, पुरुषव्यापारेण ¹⁹धात्वर्थो²⁰, धात्वर्थेन ²¹फलमिति ।

[यहाँ तक भावनावादी भाट्ट ने नियोगवादी प्रभाकर के मत का अवलंबन लेकर एवं सौगत मत का भी आश्रय करके विधिवादी-वेदांती को दूषण दिया है अब स्वयं अपना पक्ष पुष्ट करता है ।]

प्रभाकर—अतः आपके ही कथनानुसार हमारे द्वारा मान्य वह नियोग ही वेदवाक्य का अर्थ हो जावे यही ठीक है । बाधा क्या है ?

भावनावादी भाट्ट—यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि धातु के अर्थ के समान आप प्रभाकर द्वारा वर्णित स्वरूप वाला नियोग ही वेदवाक्य का अर्थ है ऐसी प्रतीति नहीं आती है क्योंकि सर्वत्र—नियोग एवं विधि आदि के प्रतिपादक वैदिक एवं लौकिक वाक्यों में भावना ही वेदवाक्य का अर्थ प्रतीति में आ रहा है । उस भावना के दो भेद हैं—(१) शब्दभावना (२) अर्थभावना । कहा भी है—

ह्लोकार्थं—लिङ् लोट् आदि लकार अर्थभावना से भिन्न शब्दभावना और आत्मभावना को कहते हैं क्योंकि यह अर्थभावना सर्वार्थ—सभी लकारों के अर्थों का प्रतिपादन करने वाली है अतः सभी आख्यातों में विद्यमान है ॥

उसमें शब्दव्यापार को शब्दभावना कहते हैं “अग्निष्टोमेन” इत्यादि शब्द के द्वारा पुरुष का व्यापार उत्पन्न किया जाता है । पुरुष के व्यापार से धातु का अर्थ सिद्ध होता है तथा उस धातु के अर्थ से फल की सिद्धि होती है ।

1 नियोगः । प्राभाकरः । 2 अतः । 3 अत्र भावनावादी वदति ।—इति नियोगवादिवचोऽयुक्तम्—विधिवादवत्परोदितनियोगस्याप्यप्रमाणत्वात् । 4 सन्मात्रं धात्वर्थोत्र विधिः । 5 प्रभाकर । 6 नियोगविध्यादिवस्वरूपप्रतिपादके वैदिके लौकिके च वाक्ये । 7 तेन (वाक्येन) भूतिषु (यागक्रियासु) कर्तृत्वं प्रतिपन्नस्य वस्तुनः (द्रष्टव्यादेः) । प्रयोजकक्रियामाहुर्भावनं भावनादिवः । 8 अर्थभावनातो भिन्नाम् । 9 लिङ् लोट् इत्याद्याः कर्तारः । 10 अर्थभावना । करोति धात्वर्थलक्षणा वक्ष्यमाणेयं सर्वार्थप्रतिपादिनी भावना अन्यापूर्वोक्तायाः शब्दभावनातो भिन्ना । कुतः ? सर्वाख्यातेषु विद्यमानत्वात् । 11 शब्दभावनातः । (व्या० प्र०) 12 सर्वार्थो यजनादिर्यस्याः सा । 13 लिङ्गादिवु । (व्या० प्र०) 14 यतः । (व्या० प्र०) 15 उत्पादकत्वं पुरुषव्यापारस्य । (व्या० प्र०) 16 प्रेरणात्परं । (व्या० प्र०) 17 अग्निष्टोमेत्यादिना । 18 उत्पाद्यते । 19 धात्वर्था इति पा० । (व्या० प्र०) 20 यथा शब्दव्यापारः । 21 धात्वर्थस्य ।

भावार्थ—भाट्टों के यहाँ शब्दभावना और अर्थभावना ये दो प्रकार की भावनाएँ मानी गई हैं। उनके ग्रन्थों में कथन है कि लिङ् लोट् और तव्य ये प्रत्यय शब्दभावना और अर्थभावना को ही कहते हैं। संपूर्ण अर्थों में व्याप्त “करोत्यर्थ” रूप अर्थभावना तो संपूर्ण तिङन्त से आख्यात—दशों लकारों में विद्यमान है। यह अर्थभावना शब्दभावना से भिन्न ही है। इन दोनों भावनाओं में शब्द-भावना तो शब्द के व्यापार रूप है क्योंकि शब्द के द्वारा ही पुरुष का व्यापार भावित किया जाता है और पुरुष व्यापार के द्वारा “यज्” “पच्” आदि धातुओं का अर्थ भावनारूप किया जाता है। तथा धातु के अर्थ से फल भावित किया जाता है यह शब्दभावनावादी भाट्टों का मत है, किन्तु उनका यह मत ठीक नहीं है क्योंकि शब्द का व्यापार शब्द का अर्थ नहीं हो सकता है। “स्वर्ग की इच्छा रखने वाला पुरुष अग्निष्टोम वाक्य से यज्ञ को करे” इस प्रकार के शब्द से उस शब्द का व्यापार रूप यज्ञ प्रतिभासित नहीं होता है। वही शब्द अपने ही व्यापार का प्रतिपादक भला कैसे हो सकेगा? एक ही शब्द स्वयं प्रतिपाद्य और प्रतिपादक इन दोनों रूप ही यह बात विरुद्ध है। वेदवाक्य के उच्चारण के समय प्रतिपादक शब्द का स्वरूप तो पहले से ही सिद्ध है और भविष्य में होने योग्य प्रतिपाद्य विषय का स्वरूप तो उस काल में असिद्ध है। अतएव अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोम आदि की भावना कराने वाले वाक्यों से अनुष्ठाता पुरुष का यज्ञ में प्रवृत्ति कराने रूप व्यापार कैसे भावित किया जावेगा तथा पुरुष के व्यापार से यज्ञ करने रूप धातु का अर्थ भी कैसे भावित किया जावेगा? तथैव धातु के अर्थ से चिरकाल में होने वाला स्वर्ग नाम का फल कैसे भावनायुक्त किया जावेगा कि जिससे आप भाट्ट के कथनानुसार भावना करने योग्य, भावना करने वाला तथा भावना का कारण इन तीन रूप से तीन अंशों से परिपूर्ण होती हुई भावना का विचार किया जा सके अथवा तीन अंश वाली भावना आत्मा में विशेषतया भायी जा सके? अतः शब्दभावना वाक्य का अर्थ नहीं है। यदि पुरुष का व्यापार भावना है तब तो पुरुष यज्ञादि के द्वारा स्वर्ग को भावित करता है, किन्तु इस प्रकार यज्ञ से भावित किया गया फल तो शब्द का अर्थ नहीं है। क्योंकि शब्द के बोलते समय स्वर्ग सन्निहित नहीं है। शब्द सुनने के पश्चात् न जाने कितने दिन बाद यज्ञ किया जावेगा और बहुत दिन पीछे मरने के बाद कदाचित् स्वर्ग मिल सकेगा अतः अनेक दूषणों से दूषित होने से ‘भावना’ वेदवाक्य का अर्थ नहीं है।

इस प्रकार से पुरुष के व्यापार में शब्द व्यापार के समान और धातु के अर्थ में पुरुष व्यापार के समान फल में जो धातु का अर्थ है वह भावना हो, ऐसा प्रसंग नहीं आता है। अर्थात् पुरुष के व्यापार में शब्द का व्यापार है तथा धात्वर्थ में पुरुष का जो व्यापार है वह भावना है। उसी प्रकार से फल में धात्वर्थ भावना नहीं है अन्यथा वह शुद्ध धात्वर्थ सन्मात्ररूप होने से विधि—ब्रह्माद्वैत रूप हो जावेगा किन्तु ऐसा है नहीं।

न ^१चैवं पुरुष^२व्यापारे ^३शब्दव्यापार^४वद्धात्वर्थे च पुरुषव्यापारवत् फले धात्वर्थो भावना-
नुषज्यते^५—^६तस्य ^७शुद्धस्य सन्मात्ररूपतया विधिरूपत्वप्रसङ्गात् । तदुक्तम् ।—

“सन्मात्रं ^८भावलिङ्गं ^९स्यादसंपृक्तं तु कारकैः^{१०} । धात्वर्थः^{११} केवलः^{१२} शुद्धो^{१३} भाव इत्यभिधीयते ॥
^{१४}तां ^{१५}प्रातिपदिकार्थं^{१६} च धात्वर्थं च प्रचक्षते । सा सत्ता सा महानात्मा^{१७} यामाहुस्त्वत्लादयः ॥”
इति च ^{१८}प्रतिक्षिप्त^{१९}चैवंविधो विधिवादो नियोगवादिनैवेति नास्माक^{२०}मत्राति-

[अर्थात् वह धात्वर्थं सन्मात्ररूप है या यजनादि रूप है अथवा क्रियारूप है ? इत्यादि रूप से भाट्ट
तीन विकल्प करके क्रम से दूषण दिखाते हैं ।]

यदि धात्वर्थं को शुद्ध सन्मात्र मानो तो वह विधिरूप ही सिद्ध होगा । कहा भी है—

श्लोकार्थं—जो कारकों के संपर्क से रहित सन्मात्र, भावलिङ्ग है एवं केवल—भिन्न अर्थ से
रहित शुद्ध (अपने अन्तर्गत विशेषों से रहित) भाव है वह धात्वर्थं कहलाता है ॥१॥

श्लोकार्थं—ज्ञानीजन प्रातिपदिक अर्थ को और धातु के अर्थ को सत्ता कहते हैं तथा वह सत्ता
ही महान् आत्मा (परब्रह्म) स्वरूप है । उस सत्ता को ही “त्व और तल्” आदि प्रत्यय द्योतित
करते हैं ॥२॥

प्रातिपदिक शब्द का अर्थ—पाणिनि व्याकरण में धातु और प्रत्यय से रहित अर्थवान् शब्द को
“प्रातिपदिक” कहते हैं एवं कातंत्रव्याकरण में “धातु विभक्तिवर्ज्यमर्थवर्ल्लिङ्गं” सूत्र से उसे लिंग सज्ञा
है एवं जैनेन्द्र व्याकरण में इसे “मृत” संज्ञा दी है ।

इस प्रकार के विधिवाद का नियोगवादी के द्वारा निरसन कर दिया गया है अतः हम भावना-
वादी भाट्टों को इस विधिवाद के निराकरण करने में विशेष आदर नहीं है । यदि आप कहें कि सन्मात्र
से भिन्न यजनादि रूप ही धात्वर्थं है तब तो वह भी प्रत्यय के अर्थ से शून्य होने से किसी अग्निहोत्रादि
वाक्य से प्रतीति में नहीं आता है प्रत्युत प्रत्यय सहित ही वह धातु का अर्थ उस वाक्य से जाना जाता
है । अर्थात् प्रत्ययार्थं विशेषणभूत का ही उससे ज्ञान होता है ।

१ धात्वर्थस्य फलजनकत्वप्रकारेण । २ कपुस्तके पुरुषव्यापारः इति प्रथमान्तेन पाठः । ३ स्वेन क्रियमाणे पुरुष-
व्यापारे शब्दव्यापारो यथा शब्दभावना । (व्या० प्र०) ४ यथा शब्दव्यापारः । ५ पुरुषव्यापारे शब्दव्यापारो यथा
धात्वर्थं पुरुषव्यापारो भावना तथा फले धात्वर्थो भावना न । ६ धात्वर्थस्य । ७ स हि धात्वर्थः सन्मात्ररूपो वा
यजनादिरूपो वा क्रियारूपो वेत्ति विकल्पत्रयं मनसि कृत्वा क्रमेण दूषयति भाट्टः । ८ भाव इति निश्चेयम् ।
९ विधिज्ञापकं । (व्या० प्र०) १० यतः । (व्या० प्र०) ११ यागादिविशेषणरहितः । (व्या० प्र०) १२ अर्थान्तर-
रहितः । १३ स्वान्तर्गतविशेषरहितः । १४ सत्ताम् । १५ विभक्त्यादिरहितानामर्थः । (व्या० प्र०) १६ अर्थवद-
धातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकमिति पाणिनिकृता शब्दानां संज्ञा । १७ परब्रह्म । १८ शुद्धधात्वर्थरूप । (व्या० प्र०)
१९ एवं नियोगवादिना धात्वर्थभावनावादः प्रतिक्षिप्तः तथा विधिवादः प्रतिक्षिप्तः । २० भावनावादिनां विधिवाद-
निराकरणं ।

तरामादरः । ¹अथ² ³ततोन्वो⁴ धात्वर्थः⁵ सोपि न ⁶प्रत्ययार्थशून्यः ⁷कुतश्चिद्वाक्यात्प्रती-
यते—⁸तदु⁹पाधेरेव तस्य ततः सम्प्रत्ययात् । ¹⁰प्रत्ययार्थस्तत्र¹¹ प्रतिभासमानोपि न प्रधानं
¹²कर्मादिवदन्य¹³त्रापि भावादिति चेत् ¹⁴तर्हि धात्वर्थो यजनादिः प्रधानं मा भूत् ¹⁵प्रत्ययान्तरेपि¹⁶
भावात् प्रकृत¹⁷प्रत्ययापायेपीति समानं पश्यामः¹⁸ । ¹⁹यदि पुनः ²⁰क्रिया सकलव्यापिनी-
धात्वर्थः—सर्वधातुषु भावात् तदा सैव ²¹भावना किं नेष्यते—²²सर्वार्थेषु सद्भावात् । यथैव हि
जुहुयाज्जुहोतु होतव्यमिति लिङादयः²³ क्रिया हवनावच्छिन्नां²⁴ प्रतिपादयन्ति तथा सर्वाख्यात-

विधिवादी—प्रत्यय का अर्थ उस धातु के अर्थ में प्रतिभासित होता हुआ भी प्रधान नहीं है क्योंकि वह प्रत्यय का अर्थ कर्म करण आदि के समान अन्यत्र—धात्वन्तर (भिन्न धातुओं) में भी विद्यमान है ।

भाट्ट—तब तो धातु का अर्थ यजन आदि भी प्रधान नहीं होवे क्योंकि प्रकृत प्रत्यय (लिङ् लोट् तव्य) के अभाव में भी प्रत्ययान्तर में विद्यमान है । इस प्रकार से हम भावनावादी और आप विधिवादी दोनों के प्रति दूषण समान ही दीखते हैं ।

यदि पुनः सकल व्यापिनी क्रिया धातु का अर्थ है क्योंकि सभी धातुओं में विद्यमान है तो उसी को ही भावना-पुरुषभावना रूप क्यों नहीं स्वीकार कर लेते हो, क्योंकि वह क्रिया सभी यजनादि लक्षण अर्थों में मौजूद है । अर्थात् भावनावादी कहता है कि हे विधिवादिन् ! आपके द्वारा स्वीकृत सन्मात्र—सत्तामात्र परम ब्रह्म ही धातु का अर्थ नहीं है क्योंकि सकलव्यापिनी—सभी धातुओं में व्याप्त “करोति” इस अर्थ के लक्षण वाली क्रिया संभव है ऐसा “करोति” क्रिया लक्षण धात्वर्थ यदि आप स्वीकार कर लेते हो तब तो हम लोग भी उसी सर्वव्यापिनी क्रिया को “भावना-पुरुषभावना रूप” क्यों नहीं स्वीकार करेंगे अपितु करेंगे ही । क्योंकि सभी अर्थों में और सभी आख्यातों में वह क्रिया संभव है ।

1 योगाचारः । (व्या० प्र०) 2 द्वितीयविकल्पः (भाट्टः) । 3 भावनावाद्याह—हे विधिवादिन् एवं किं तवाभिप्रायः । ततः सन्मात्रादन्य एव धात्वर्थ इति तदा—सोपि धात्वर्थः प्रत्ययार्थरहितो न दृश्यते । 4 यजनादिः । 5 यजनादि । (व्या० प्र०) 6 लिङाद्यर्थः करोत्यर्थव्याप्तः । 7 अग्निहोत्रादेः । 8 प्रत्ययसहितस्यैव तस्य धात्वर्थस्य ततो वाक्यात्प्रत्ययो भवति । 9 स प्रत्ययार्थ उपाधि विशेषण यस्य स तथोक्तस्तस्य तदुपाधेः प्रत्ययार्थविशेषणभूतस्य सम्प्रत्ययात् । 10 प्रभाकरः । विधिवाद्याह । 11 धात्वर्थे । 12 कर्मकरणादेर्यथान्यत्र भावो विद्यते । 13 धात्वन्तरे । 14 भाट्टः । 15 धात्वर्थान्तरे । 16 लडादी । (व्या० प्र०) 17 लिङ्लोट् तव्य । 18 वयं भावनावादिनः हे विधिवादिन् तव मम च तुल्यं दूषणं पश्यामः । 19 (तृतीयो विकल्पः) भावनावादी प्राहः ।—हे विधिवादिन् भवदभ्युपगतः सन्मात्र-स्तावद्भात्वर्थो न । यदि पुनः सकलव्यापिनी करोत्यर्थलक्षणा क्रिया सर्वधातुषु सम्भवाद्भात्वर्थस्त्वव्याभ्युपगम्यते तदा-स्माभिः सैव सर्वव्यापिनी क्रिया भावना किं नेष्यते । अपि त्वभ्युपगम्यते । कुतः ? सर्वार्थेषु सर्वाख्यातेषु च तस्याः सम्भवात् । 20 यजनत्तनादिक्रिया । 21 पुरुषभावना । 22 यजनादिलक्षणेषु लडादिषु च । 23 लोट् तव्य । (व्या० प्र०) 24 हवनविशिष्टम् ।

¹प्रत्यया अपि—पचति पपाच पक्ष्यतीति पचनावच्छिन्नायाः क्रियाया एव प्रतिपत्तेः ।
²पाकं करोति चकार करिष्यतीति³ । ⁴तथा च लिङादिप्रत्ययप्रत्याय्यः⁵ करोत्यर्थ एव वाक्यार्थं
इत्यायातम् । ⁶स च ⁷भावनास्वभाव⁸ एवेति न ⁹धात्वर्थ एव वाक्यार्थतया प्रतीयते । ¹⁰नापि
कार्यादिरूपो¹¹ नियोगः ।

जिस प्रकार से “जुहुयात्, जुहोतु, होतव्य” (हवन करना चाहिये) इस प्रकार के लिङ्, लोट्, तव्य प्रत्यय हवन से विशिष्ट क्रिया को प्रतिपादित करते हैं उसी प्रकार से सर्वाख्यात प्रत्यय—लट् लकारादि भी प्रतिपादित करते हैं क्योंकि “पचति, पपाच, पक्ष्यति” इस प्रकार से पचन से अविच्छिन्न—व्याप्त क्रिया ही जानी जाती है। उस क्रिया से वह पाक को करता है, किया था और करेगा इत्यादि ज्ञान होता है। इस प्रकार से क्रिया को भावना मान लेने पर लिङादि प्रत्यय से जानते योग्य ‘करोति’ का अर्थ ही वेदवाक्य का अर्थ होता है यह बात सिद्ध हो जाती है और वह आत्मा शुद्ध भावना स्वभाव ही है इसलिये यह तीन प्रकार का धात्वर्थ ही वाक्यार्थ—वेद के अर्थ रूप से प्रतीति में नहीं आता है और न कार्यादिरूप नियोग ही वेद के अर्थ रूप से प्रतीति में आता है।

विशेषार्थ—वेदवाक्यों में विधिलिङ् लोट् और तव्य प्रत्यय पाये जाते हैं यथा “अग्निष्टोमेन यजेत्” । इस “यजेत्” क्रियारूप पद में विधिलिङ् है तथैत्र यजताम् और यष्टव्य में लोट् और तव्य प्रत्यय हैं। व्याकरण के नियम के अनुसार मूल में दो तरह के शब्द होते हैं प्रकृति और धातु। पुरुष या धर्म शब्द प्रकृतिरूप हैं और भू, पच्, पठि आदि धातु कहलाते हैं। कातंत्रव्याकरण में “धातुविभक्ति-वर्ज्यमर्थवत्लिंगं” इस सूत्र के अनुसार धातु और विभक्ति से रहित अर्थवाले पुरुष, धर्म आदि शब्दों को लिंग संज्ञा है। सिद्धांतकौमुदी में इसकी प्रातिपदिक संज्ञा है और जनेन्द्र व्याकरण में इसी को मृत संज्ञा है। इस मृत संज्ञक शुद्ध प्रकृति रूप शब्दों से विभक्ति सु औ जस् अम् आदि आकर इस एक पुरुष शब्द को ही एकवचन, द्विवचन, बहुवचन एवं कर्ता कर्म करण आदि रूप सिद्ध कर देती हैं। जैसे ‘पुरुषः’ का अर्थ एक पुरुष है तो “पुरुषौ” का अर्थ दो पुरुष हो जाता है तथा “पुरुष” का अर्थ “पुरुष को” हुआ, तो “पुरुषेण” का अर्थ “पुरुष के द्वारा” हो जाता है। अतः प्रकृति और विभक्ति अर्थान् प्रत्यय मिलकर ही अर्थ को प्रकट करते हैं। उसी प्रकार से मिडन्त में भी ‘भू, कृ’ आदि धातु हैं इनसे दश लकार से संबंधित मि, वस्, मस् आदि विभक्तियाँ आती हैं एवं कृदंत प्रकरण के अनुसार ‘तव्य तृच्’ आदि प्रत्यय भी आते हैं तभी इनका अर्थ स्पष्ट होता है। शुद्ध प्रकृति या धातु में यदि प्रत्यय के द्वारा विकार उत्पन्न न होवे तो वे ज्यों के त्यों पड़े रहेंगे उन शुद्ध प्रकृति या धातु से कोई भी वाक्य रचना नहीं बनेगी। हां ! उनमें प्रत्यय के लग जाने पर विकार के उत्पन्न हो जाने से वे अनेक अर्थों को प्रकट करने लग जाते हैं। जैसे ‘जिन यजेत्’, “धर्ममाश्रयामि, अहं गच्छामि” आदि वाक्य रचना एक-एक पदों के मिलाने से ही बनी है और “सुम्मिडन्तं पदं” इस सूत्र के अनुसार सुप् आदि विभक्तियाँ

- 1 लडादयः । 2 केन प्रकारेण प्रतिपत्तिरित्युक्ते आह । 3 अनेन । (व्या० प्र०) 4 क्रियाया एव भावनात्वे च ।
5 ज्ञाप्यः । (व्या० प्र०) 6 आत्मा । 7 शुद्धभावना । 8 पुरुष । (व्या० प्र०) 9 त्रिविधोपि धात्वर्थः । 10 भाट्टः ।
11 वाक्यार्थतया न प्रतीयते ।

एवं मिडादि (तिडादि) प्रत्ययों के लगने से ही शब्दों की पद संज्ञा होती है और पदों के समुदाय को वाक्य संज्ञा होती है। अब यहाँ विचार इस बात का करना है कि 'यजेत्' पद में जो लिङ् प्रत्यय पड़ा है उसका क्या अर्थ है। प्रभाकर तो शुद्ध मात्र प्रत्यय के अर्थ को ही नियोग कहते हैं उनका कहना है कि "अग्निष्टोमेन यजेत्" वाक्य सुनकर "नियुक्तोऽहमनेन वाक्येन" इस प्रकार मैं इस वाक्य के द्वारा यज्ञ कर्म में नियुक्त हो जाता हूँ। विधिवादो कहते हैं कि शुद्ध यज् धातु का जो अर्थ है वह सत्तामात्र है, वही विधि अर्थात् ब्रह्मस्वरूप है। अर्थात् इस 'यजेत्' पद में जो धातु का अर्थ है उसी धात्वर्थ को यह वाक्य कहता है।

भावनावादी कहता है कि यह उपर्युक्त वाक्य न केवल धातु अर्थ को ही कहता है और न ही केवल प्रत्यय के अर्थ को ही कहता है किन्तु इसमें जो "यज्ञ को करे" इस रूप से करोति क्रिया का अर्थ है वही भावना है। अतः 'यजेत्' यह वाक्य, भावना अर्थ को ही कहता है। उनके ग्रंथों में कथन है कि—लिङ्, लोट् और तव्य प्रत्यय मात्र प्रत्यय के अर्थ रूप अर्थभावना से भिन्न ही शब्दभावना और आत्मभावना को कहते हैं। हाँ ! संपूर्ण अर्थों में व्याप्त हो रही "करोत्यर्थ" रूप अर्थभावना से भिन्न ही है जो कि गच्छति, पचति, यजति आदि संपूर्ण तिङन्त-आख्यात दशों लकारों में विद्यमान है यह अर्थभावना शब्दभावना से भिन्न है। इन दोनों भावनाओं में शब्दभावना तो शब्द का व्यापार स्वरूप है क्योंकि शब्द के द्वारा ही पुरुष का व्यापार भावित किया जाता है और पुरुष के व्यापार से यज्, पच् आदि धातु का अर्थ भावित किया जाता है तथा धातुओं के अर्थ से फल भावित किया जाता है यह शब्दभावनावादी भाट्टों का मत है। इस भाट्ट ने धात्वर्थ के विषय में तीन विकल्प उठाकर दूषण दिखाये हैं। यथा—

यह धात्वर्थ शुद्ध सन्मात्र रूप है, यजनादि रूप है, या क्रिया रूप है? यदि धात्वर्थ को शुद्ध सन्मात्र अर्थ ही मानों तब तो वह विधि रूप है क्योंकि जो कर्ता, कर्म आदि कारकों से रहित, भिन्न अर्थों से रहित, अपने अन्तर्गत विशेषों से रहित केवल भावमात्र है वही धात्वर्थ है उस सत्ता को और प्रातिपदिक अर्थ—अर्थवान् शब्द को ही धात्वर्थ कहते हैं। वह सत्ता ही महान् आत्मा है परमब्रह्म स्वरूप है। त्व, तल् और अण् आदि प्रत्यय उसको प्रकट करते हैं जैसे ब्राह्मणता, ब्राह्मणत्वं, पांडित्यं आदि शब्द भाववाची हैं। त्व, तल् यण् आदि प्रत्ययों से प्रगट हो रहे हैं। इस प्रकार से यदि प्रथम पक्ष रूप से धात्वर्थ को शुद्ध सन्मात्र मानों तो विधिवाद ही आ जाता है जो कि हम भाट्टों को इष्ट नहीं है। यदि आप दूसरा पक्ष लेवो कि सन्मात्र से भिन्न यजनादि रूप धात्वर्थ है तब तो वह प्रत्ययों के अर्थ से शून्य होने से किसी अग्निहोत्रादि वाक्य से प्रतीति में नहीं आ रहा है प्रत्युत् वाक्य के द्वारा प्रत्यय से सहित ही धातु का अर्थ प्रतीति में आता है।

इस बीच में विधिवादी बोल पड़ता है कि भले ही यञ् धातु के अर्थ में लिङ् प्रत्यय का अर्थ प्रतिभासित हो रहा हो किन्तु वह प्रत्यय का अर्थ प्रधान नहीं है क्योंकि वह प्रत्यय का अर्थ भिन्न-भिन्न अनेकों धातुओं में भी पाया जाता है, अतः धात्वर्थ ही प्रधान है। इस पर पुनः भाट्ट कहता है कि हम इससे विपरीत भी कह सकते हैं कि यञ्, पच् आदि धातु का अर्थ भी प्रधान नहीं है क्योंकि प्रकरण प्राप्त लिङ्, लोट् और तव्य प्रत्ययों के अतिरिक्त भी लट्, लिट्, तृच् आदि अनेकों भिन्न-भिन्न प्रत्ययों में आपका यञ्, पच् आदि धातु का अर्थ विद्यमान है। अर्थात् जैसे यजेत्, यजतां आदि में विधिलिङ् लोट् प्रत्यय का अर्थ है यज्ञ करना चाहिये, यज्ञ करो। किन्तु यह प्रत्यय का अर्थ प्रधान नहीं है, मात्र यज्ञ रूप धातु का भाव अर्थ ही प्रधान है, तब यञ् धातु भी लिङादि प्रत्ययों के अतिरिक्त यजति, इयाज, यष्टा आदि के लट्, लिट्, तृच् आदि भिन्न-भिन्न प्रत्ययों में पाया जाता है जिसका अर्थ-यज्ञ को करता है, यज्ञ किया था, यज्ञ करने वाला आदि हो जाता है। यह यञ् धातु भी अनेकों प्रत्ययों में चली जाती है अतः धातु के प्रत्यय का अर्थ ही प्रधान मानो क्योंकि अनेकों प्रत्ययों में धातुएँ व्याप्त रहती हैं। विधिवादी कहता है कि धातु का अर्थ तो सम्पूर्ण ही लिङ्, लिट्, लुट् आदि प्रत्ययों में माला में डाले हुये सूत्र के समान ओत-प्रोत है अतः धातु अर्थ प्रधान है इस पर भाट्ट कहता है कि इस प्रकार से तो सम्पूर्ण यजि, पचि, भू, कृ आदि धातुओं के अर्थों में पीछे-पीछे चलता हुआ प्रत्यय का अर्थ भी तो अन्वय रूप हो रहा है अतः प्रत्यय का अर्थ ही प्रधान मानना चाहिये। यदि आप अद्वैतवादी यों कहें कि विशेष-विशेष रूप प्रत्यय का अर्थ तो सभी धातुओं के अर्थों में अन्वय रूप नहीं है जैसे एक विवक्षित तिप् या तस् विभक्ति (प्रत्यय) का अर्थ सभी मिप्, वस्, लुट्, कित, तल् आदि प्रत्यय वाले धातु के अर्थों में अन्वय रूप नहीं है। इस पर हम भाट्टों का भी यही कथन है कि विशेष रूप से एक यञ् धातु का अर्थ भी पच्, गम् आदि धातुओं के साथ लगे हुये प्रत्ययों के अर्थों में ओत-प्रोत हो करके कहाँ रहता है। हाँ ! सामान्य रूप से धातु का अर्थ सम्पूर्ण प्रत्ययों के अर्थों में अन्वित है। इसलिये आप धातु के अर्थ को प्रधान कहेंगे तो हम प्रत्ययों के अर्थ को प्रधान कहने लगेंगे यह प्रश्नोंत्तरमाला दोनों मान्यताओं में समान ही है अतएव वेदवाक्य का अर्थ “शुद्ध धात्वर्थ रूप सन्मात्र है” यह कथन भी गलत है एवं वेदवाक्य का अर्थ “धातु के प्रत्यय के अर्थ रूप ही है” यह भी गलत है। हाँ ! यदि आप तृतीय पक्ष लेते हो कि धातु का अर्थ क्रियारूप है तब तो ठीक ही है क्योंकि “करोति” अर्थ लक्षण वाली क्रिया सभी धातुओं में विद्यमान है। ऐसा करोति क्रिया लक्षण धात्वर्थ यदि आप मान लें तब तो हमारे भावनावाद का हो पोषण हो जाता है क्योंकि सभी अर्थों में और सभी लकारों में वह करोति क्रिया व्याप्त है, वही तो भावना है। जैसे जुहोतु, जुहुयात्, होतव्यं से लिङ्, लोट्, तव्य प्रत्यय हवन से विशिष्ट क्रिया को बतलाते हैं उसी प्रकार से सभी लट्, लिट् आदि लकार भी बतलाते हैं। जैसे “यांग करोति, चकार, करिष्यति” ये क्रियाएँ भी अथवा “पचति, पाकं करोति” आदि क्रियाएँ भी सर्वत्र करोति अर्थ को ही बताती हैं। पकाता है, पाक को करता है। यजति, यागं करोति यजता है, यज्ञ को करता है इत्यादि में करोति क्रिया ही प्रधान है वही वेदवाक्य का अर्थ है। ऐसे भावनावादी ने अपना पक्ष पुष्ट किया है।

[शब्दव्यापाररूपेण शब्दभावनैव नियोग इति प्रभाकरेण मन्यमाने सति भाट्टः तन्निराकरोति]

¹ननु ²शब्दव्यापाररूपो नियोगः प्रतीयत³ एव । शब्दो हि स्वव्यापारस्य पुरुषव्यापारकरण⁴लक्षणस्य प्रतिपादको⁵, न पुनः कारकः शब्दादुच्चरितान्नियुक्तोहमनेनेति⁶ प्रतिपत्तृणां प्रतिपत्तेरन्यथानुपपत्तेरिति⁷ चेत् ⁸तर्हि ⁹भावनैव नियोग इति शब्दान्तरेणोक्ता स्यात् । तदुक्तम् ।—

शब्दादुच्चरितादात्मा¹⁰ नियुक्तो गम्यते नरः¹¹ । भावनातः¹² परः को ¹³वा नियोगः परिकल्प्यताम् ॥ इति ।

[गृहीतसंकेतः शब्दोऽर्थं प्रत्यायति अगृहीतसंकेतोवास्य विचारः क्रियते]

¹⁴स्यान्मतम् ।—यदि शब्दव्यापारो भावना कथमगृहीतसङ्केतो¹⁵ नैव¹⁶ गच्छति

[“शब्दव्यापाररूप शब्दभावना ही नियोग है” ऐसा प्रभाकर के द्वारा मानने पर भाट्ट कहता है कि आपने भावना को ही नियोग नाम धर दिया है वास्तव में भावना ही प्रतीति में आती है ।]

प्रभाकर—अग्निहोत्रादि शब्द का व्यापार रूप नियोग ही वेदवाक्य के अर्थरूप से प्रतीति में आता है, क्योंकि शब्द पुरुषव्यापारकरण लक्षण (कार्यरूप व्यापार के प्रति साधकतम लक्षण) अपने व्यापार का प्रतिपादक है—“ऐसा करो” इस प्रकार से शब्द ही ज्ञापक है किन्तु कारक नहीं है । अन्यथा उच्चारण किये गये शब्द से “मैं इस शब्द से नियुक्त हुआ हूँ” इस प्रकार से ज्ञाता पुरुषों को ज्ञान नहीं हो सकेगा । अन्यथा—शब्दोच्चारण के अभाव में “नियुक्तोऽहमनेन” इस प्रकार की प्रतिपत्ता—ज्ञाताओं को अनुपपत्ति—प्रतीति नहीं होती है । यह “अन्यथानुपपत्ति” का स्पष्टीकरण है ।

भाट्ट—तब तो भावना ही नियोग है उसी को आपने शब्दांतर—“शब्दभावना” इस भिन्न शब्द से कह दिया है । कहा भी है—

श्लोकार्थं—उच्चारण किये गये शब्द से आत्मा नियुक्त है ऐसा मनुष्यों के द्वारा जाना जाता है इसलिए शब्दभावना से भिन्न कोई नियोग है ऐसी कल्पना क्यों करना ? अर्थात् नहीं करना चाहिये ।

[संकेत ग्रहण किये हुए शब्द अर्थ का ज्ञान कराते हैं या बिना संकेत ग्रहण किये हुए ही शब्द अर्थ का ज्ञान कराते हैं ? इस पर विचार किया जा रहा है]

बौद्ध—यदि शब्द के व्यापाररूप भावना है तब तो संकेत को ग्रहण न करने वाला पुरुष

1 प्रभाकरः । 2 अग्निहोत्रादि । 3 वाक्यार्थतया । 4 कृतिरूपव्यापारं प्रति साधकतमलक्षणस्येति । 5 ज्ञापकः । एवं कुर्वति । 6 शब्देन । 7 अन्यथा शब्दोच्चारणाभावे नियुक्तोहमनेनेति प्रतिपत्तृणां प्रतिपत्तिर्नोपपद्यते । 8 भाट्टः । 9 शब्दभावना । 10 स्वरूपम् । 11 अतः । (व्या० प्र०) 12 शब्दभावनतः । 13 न कोपीत्यर्थः । 14 सुगतस्य । 15 प्रेरणा । 16 नावगच्छतीति पाठान्तरम् ।

नियुक्तोहमनेनेति स्वभावतस्तस्य^१ नियोजकत्वात् । सङ्केतग्रहण^२स्यानुपयोगित्वादिति^३ तदसमीचीनमेव—सङ्केतस्य^४ तथाऽवगतौ^५ सहकारित्वात्^६—सामग्री जनिका नैकं^७ कारण-मिति प्रसिद्धेः ।^८ ननु च सङ्केतसामग्री^९ न^{१०} प्रेरणे भावनायां^{११} वा व्याप्रियते—^{१२}अर्थवेदने तस्याः प्रवृत्तेः^{१३}—^{१४}अर्थप्रतीतौ^{१५} पुरुषस्य^{१६} स्वयमेव^{१७} तत्र तदर्थितया^{१८} प्रवृत्तेः ।^{१९} इदं कुर्विति^{२०}

“नियुक्तोहमनेन” इस प्रकार से क्यों नहीं जानता क्योंकि आपके मत से शब्द तो स्वभाव से ही नियोजक है । अतः संकेत का ग्रहण करना अनुपयोगी ही है ।

भाट्ट—आप बौद्धों का जो यह कथन है वह भी समोचीन नहीं है । “इस शब्द का यह अर्थ है” ऐसा संकेत उस प्रकार के ज्ञान में सहकारी कारण है अर्थात् संकेत को ग्रहण करने की शब्द में योग्यता नहीं है क्योंकि संकेत को ग्रहण करने वाला ज्ञान है न कि शब्द । सामग्री कार्य की जनक होती है तथा कोई भी कार्य एक कारण जन्य नहीं है यह बात प्रसिद्ध है ।

बौद्ध—संकेत लक्षण सामग्री प्रेरणा में—नियोग में अथवा भावना-शब्द और पुरुषरूप भावना में व्यापार नहीं करती है किन्तु अर्थसंवेदन—अर्थ के ज्ञान में उस संकेत सामग्री की प्रवृत्ति है अर्थात् सामग्री अर्थ के ज्ञान में ही प्रवृत्ति करती है किन्तु स्थिर, स्थूल, साधारण आकार रूप बाह्य पदार्थ में प्रवृत्ति नहीं करती है । यदि संकेत लक्षण सामग्री अर्थ ज्ञान में व्यापार न करे तब तो पुरुष की अर्थ में प्रवृत्ति भी कैसे हो सकेगी, किन्तु जल का ज्ञान होने पर पुरुष उसमें स्नानादि को प्रवृत्ति करता है ऐसा देखा जाता है । अर्थ की प्रतीति होने पर पुरुष स्वयमेव—नियोग और भावना से निरपेक्ष रूप ही उस अर्थ में तदर्था रूप से प्रवृत्ति करता है क्योंकि संकेत सामग्री से अर्थ का परिज्ञान होने पर पुरुष की प्रवृत्ति घटित होती है । “इदं कुरु” इस प्रकार से प्रेषण और अध्येषण रूप लिङ् अर्थ की ही प्रतीति होती है । यदि उसकी प्रतीति न मानो तो नियुक्तत्व का ज्ञान नहीं होगा और

१ शब्दस्य यतः स्वभावेन नियोजकत्वम् । २ कायस्येत्यध्याहारः । ३ सीमतमाशङ्क्य भट्टः प्राह । ४ अयं शब्द-स्यायमर्थ इति सङ्केतः । ५ सङ्केतग्रहणे शब्दस्यायोग्यत्वात् सङ्केतग्राहकं ज्ञानं न तु शब्दः । ६ एतत्कुतः । (व्या० प्र०) ७ कार्यस्य । ८ बौद्धः । ९ सङ्केतलक्षणा सामग्री । १० प्रेरणायामिति वा पाठः । नियोगे । ११ उभयरूपायाम् । १२ यदि सङ्केतसामग्री न तत्र व्याप्रियते तदा पुरुषस्य कथमर्थं प्रवृत्तिरित्युक्ते आह । १३ अर्थ-संवेदने सामाग्याः प्रवृत्तिर्न तु स्थिरस्थूलसाधारणाकारे बाह्यार्थे । (व्या० प्र०) १४ संकेतसामग्री यदि न तत्र व्याप्रियेत पुरुषस्यार्थं प्रवृत्तिः कथमित्युक्ते आह । (व्या० प्र०) १५ सत्याम् । १६ नियोगभावनानिरपेक्षतया । १७ अर्थे । १८ सङ्केतसामग्या अर्थपरिज्ञाने सति प्रवृत्तिघटनात् । १९ किञ्च भावना हि प्रेषणाध्येषणारूपा । सा च प्रयोज्यप्रयोजकद्वयी विना तयोश्च बाध्यमानप्रतीतिकत्वेनाऽस्तत्वात्कुतः सा भावना ? यतस्तत्र सङ्केतो व्याप्रिये-तेति वक्तुकामः । किञ्च प्रेषणाध्येषणयोरेषि बहिरर्थरूपतया न शाब्दी प्रतीतिरस्ति बुद्ध्यारूपस्यैवार्थस्य शब्दवाच्य-त्वादतः कथं तद्रूपा भावना शब्दाभिधेयो यतस्तत्र सङ्केतो व्याप्रियेतेति वक्तुकाम इदं कुर्वित्वाद्यारभ्य प्रज्ञाकर इति-पर्यन्त माह । २० अनेन प्रकारेण । (व्या० प्र०)

¹प्रेषणाद्ध्येषणयोरेव² हि प्रतीतिः—³तदप्रतीतौ ⁴नियुक्तत्वाप्रतिपत्तेः । नियुक्तत्वं च नाम ⁵कार्ये व्यापारितत्वम्⁶ । कार्ये ⁷व्यापृततामवस्थां प्रतिपद्य⁸ नियोजको⁹ नियुङ्क्ते¹⁰ । सा च तस्य¹¹ भाविन्यवस्था न स्वरूपेण साक्षात्कर्तुं शक्या । स्वरूपसाक्षात्करणे हि¹² सर्वं तदैव¹³ सिद्धमिति न नियोगः¹⁴ स्यात्सफलः । ततः प्रयोजको¹⁵ बाध्यमानप्रतीतिक एव । तदुक्तम् ।—
यथा प्रयोजकस्तत्र¹⁶ बाध्यमानप्रतीतिकः । ¹⁷प्रयोज्योपि ¹⁸तथैव ¹⁹स्याच्छब्दो ²⁰बुद्ध्यर्थवाचकः ॥
यथैव हि ²¹प्रयोजकस्य शब्दस्य प्रयोज्येन पुरुषेण ²²स्वव्यापारशून्यमात्मानं प्रतीयता प्रयोजकत्व-

नियोज्य-पुरुष का कार्य में व्यापार कराना ही नियुक्तत्व है । कार्य में व्यापृत-प्रवृत्त हुई अवस्था को जान करके नियोजक-शब्द नियुक्त करता है और वह उस नियोजक की भाविनी-भविष्य में होने वाली अवस्था है उसका स्वरूप से साक्षात्कार करना शक्य नहीं है । क्योंकि स्वरूप का साक्षात्कार कर लेने पर तो सभी उस काल में ही सिद्ध हो जावेंगे । अर्थात् “अग्निष्टोम” इत्यादि वाक्यों से यज्ञादि का करना और स्वर्ग को प्राप्त कराने के लिए निमित्तभूत पुण्य का उपाजन ये सब कार्य उस काल में निष्पन्न ही हैं; पुनः नियोग का मानना सफल नहीं हो सकेगा इसलिये प्रयोजक बाध्यमान प्रतीति वाला ही है । यहाँ नियोग शब्द से प्रेरणा रूप भावना ग्रहण करना चाहिये । कहा भी है—

श्लोकार्थ—जिस प्रकार से भावीकार्य से व्यापृत अवस्था वाले नियोज्य में बाध्यमान प्रतीति-वाला प्रयोजक है उसी प्रकार से प्रयोज्य-पुरुष भी बाध्यमान प्रतीतिक-काल्पनिक ही है क्योंकि शब्द बुद्धि से परिकल्पित ही अर्थ का वाचक है ॥

जिस प्रकार से प्रयोजक (प्रेरक) शब्द में यागविषयक स्वव्यापार से शून्य आत्मा का निश्चय कराते हुए प्रयोज्य पुरुष के द्वारा प्रयोजकत्व की प्रतीति बाध्यमान होती हुई निरालंबन है उसी प्रकार से प्रयोज्यत्व प्रतीति भी बाध्यमान होती हुई निरालंबन है तथा यज्ञलक्षण स्वव्यापार में अप्रविष्ट आत्मा का निश्चय न कराते हुए प्रयोज्य पुरुष के द्वारा ही वह बाधित हो जाती है । अथवा टिप्पणी

1 लिङ्गार्थोः । 2 सत्कारपूर्वकव्यापार । (व्या० प्र०) 3 कर्मणिस्वरूपं । (व्या० प्र०) 4 नत्वर्थस्य । (व्या० प्र०) 5 नियोज्यस्य । (व्या० प्र०) 6 नियोज्यस्य । 7 व्यापृतामवस्थामिति खपाठः । 8 आत्मना स्वीकृत्य । 9 शब्दव्यापारा-परपर्यायप्रेरणादिरूपः शब्दः । 10 अर्थे नियोज्यं । (व्या० प्र०) 11 नियोजकस्य । 12 व्यापृता वस्त्वकार्यं चेति । (व्या० प्र०) 13 अग्निष्टोमेन यागादिकरणं स्वर्गप्रापणनिमित्तपुण्योपाजनं च सर्वं निष्पन्नमेव तस्मिन्नेव काले । 14 स्वव्यापारे अविशिष्टं सहितमित्यर्थः । नियोगे शब्देनात्र प्रेरणारूपभावना ग्राह्या । (व्या० प्र०) 15 शब्द-व्यापारापरपर्यायः प्रेरणादिरूपः शब्दः । (व्या० प्र०) 16 भाविकार्यव्यापृततावति नियोज्ये । (व्या० प्र०) 17 पुरुषः । 18 काल्पनिकः । 19 किञ्च शब्दात् प्रेषणादिप्रतीतिरपि न युक्ता । कुत इत्याह । 20 बुद्धिपरि-कल्पितो यतः । 21 प्रेरकस्य । 22 यागविषय । स्वव्यापाराविष्टमात्मानमप्रतीयतेति पाठान्तरम् ।

प्रतीतिर्बाध्यमाना¹ निरालम्बना तथा प्रयोज्यत्वप्रतीतिरपि² तेनव³ स्वव्यापारा⁴विष्टमात्मानमप्रतीयता⁵ बाध्यते⁶ । शब्दात् सा⁷ प्रतीतिरिति च न युक्तम्⁸—तस्य⁹ ¹⁰बुद्धचर्यख्यापनत्वात्¹¹ । सोपि हि शब्दो बुद्धचर्यमेव ¹²ख्यापयति । एवं ¹³मया प्रतिपादितमेवं ¹⁴मया प्रतिपन्नमिति—द्वयोरपि प्रतिपादकप्रतिपाद्ययोरध्यवसायात् । पौरुषेयवचनाद्धि मयैवं तावत्प्रतिपन्नमस्य¹⁵ तु वक्तुरय¹⁶मभिप्रायो भवतु मा वाभूदिति ¹⁷प्रतिपत्ताध्यवस्यति । अपौरुषेयादपि ¹⁸शब्दादेवमयमर्थो मया प्रतिपन्नोस्य¹⁹ भवतु मा वा भूदिति²⁰ वक्तृव्यापारविषयो²¹ योर्थः पौरुषेयशब्दस्य यो वा बुद्धौ प्रकाशतेर्थः अपौरुषेयत्वाभिमतशब्दस्य तत्र²² प्रामाण्यं न

के आधार से ऐसा भी अर्थ कर सकते हैं कि “तथा यज्ञ लक्षण स्वव्यापार में अप्रविष्ट रूप आत्मा का निश्चय कराते हुये पुरुष के द्वारा वह प्रतीति बाधित ही है ।

यदि आप कहें कि वह प्रतीति शब्द से ही होती है तो ऐसा कहना भी युक्त नहीं है । क्योंकि वह शब्द बुद्धि से कल्पित अर्थ को ख्यापित—प्रगट करता है वह शब्द भी बुद्धि के अर्थ का ही ख्यापन करता है । इस प्रकार से मैंने प्रतिपादित किया है और इस प्रकार मैंने समझा है क्योंकि प्रतिपादक—गुरु और प्रतिपाद्य—शिष्य इन दोनों का अध्यवसाय—ज्ञान होता है अर्थात् मैंने यह प्रतिपादन किया, इस प्रकार गुरु में तथा मैंने समझा, इस प्रकार शिष्य में, ऐसा इन दोनों में प्रतिपादक-प्रतिपाद्य सम्बन्ध पाया जाता है ।

प्रतिपत्ता—श्रोता ऐसा निश्चय करता है कि पौरुषेय वचन से ही “मैंने इस प्रकार से जाना है” इस वक्ता—गुरु का यह अभिप्राय हो या न हो । इसी प्रकार से अपौरुषेय वेद वाक्य से भी “इस प्रकार से मैंने यह अर्थ जाना है इस अपौरुषेय शब्द का यह अर्थ हो या न हो” । ऐसा प्रतिपत्ता—पुरुष जानता है । ऐसा वक्ता के व्यापार का विषयभूत जो अर्थ पौरुषेय शब्द का श्रोता की बुद्धि में प्रकाशित होता है और इसी प्रकार से अपौरुषेय रूप से स्वीकृत शब्द का जो अर्थ बुद्धि में प्रकाशित होता है उसमें वह शब्द व्यापार ही प्रमाण है किन्तु बाह्यार्थ तत्त्व निमित्तक प्रमाणता नहीं है इसलिए विवक्षा में आरूढ़ अर्थ ही वेदवाक्य का अर्थ है किन्तु भावना यह वेदवाक्य का अर्थ नहीं है ।

यहाँ तक प्रज्ञाकर बौद्ध ने कहा है ।

विशेषार्थ—यहाँ पर बौद्धों का ऐसा आरोप है कि भाट्ट शब्द के व्यापार को भावना कहते हैं और प्रभाकर को खुश करने के लिये उसी भावना को नियोग कह रहे हैं वे कहते हैं कि भावना से भिन्न

- 1 सती । 2 बाध्यमाना सती निरालम्बनेति शेषः । 3 पुंसा । 4 स्वव्यापारे अविष्टं यागलक्षणे व्यापारे अप्रविष्टमित्यर्थः । (व्या० प्र०) 5 आत्मानं प्रतीयता इति पा० । (व्या० प्र०) 6 प्रयोज्येन । 7 प्रेरणाप्रेषणयोः सम्बन्धिनी । 8 इतो वदति बौद्धः ।—सा भाविनी प्रतीतिः शब्दाज्जायते इति हे भट्ट यदुक्तं त्वया तद्वक्तुं युक्तं न । 9 शब्दस्य । 10 बुद्धिशब्देन कल्पना । (व्या० प्र०) 11 ख्यापकत्वात् इति पा० । (व्या० प्र०) 12 कल्पनारूढत्वमुल्लिखति । (व्या० प्र०) 13 गुरुणा । 14 शिष्येण । 15 गुरोः । 16 बुद्ध्यारूढः । 17 श्रोता । 18 वेदवाक्यात् । 19 अपौरुषेयस्य । 20 प्रतिपत्ताध्यवस्यतीति सम्बन्धः । 21 प्रतिपन्नार्थाव्यभिचारी । वक्तृव्यापारो विवक्षा । 22 बुद्धयर्थे ।

पुनर्बाह्यार्थतत्त्वनिबन्धनम्¹ । तदुक्तम् ।—

वक्तृव्यापारविषयो योर्थो² बुद्धौ प्रकाशते ।³ प्रामाण्यं⁴ तत्र शब्दस्य नार्थतत्त्व⁵ निबन्धनम् ॥

इति वचनात् । ततो विवक्षारूढ एवार्थो वाक्यस्य, न पुनर्भावनेति प्रज्ञाकरः⁶ ।

[प्रत्यक्षवच्छब्देनापि बाह्यपदार्थस्य ज्ञानं भवति]

⁷सोपि न परीक्षकः—⁸प्रत्यक्षादिव शब्दाद्वहिरर्थप्रतीतिसिद्धेः⁹ । यथैव हि प्रत्यक्षात्प्रति-
पत्तृप्रणिधान¹⁰सामग्रीसव्यपेक्षात्प्रत्यक्षार्थप्रतिपत्तिस्तथा सङ्कोतसामग्रीसापेक्षादेव शब्दाच्छ-

नियोग नाम की कोई चीज ही नहीं है इस पर हमारा ऐसा कथन है कि “अग्निष्टोमेन यजेत्” वाक्य से संकेत को न समझने वाला कोई बालक या मूर्ख पुरुष भी यज्ञकार्य में नियुक्त हो जावे क्योंकि शब्द तो स्वभाव से ही नियोजक-प्रेरक हैं ।

इस पर भाट्ट ने उत्तर दिया कि इस शब्द का यह अर्थ है कि पृथुबुधनाकार—गोल-मटोल को घट कहना, कागज के पन्नों से सहित को पुस्तक कहना इत्यादि संकेत के अनुसार ही कार्य होता है अतः शब्द में संकेत को ग्रहण करने की योग्यता नहीं है क्योंकि संकेत को ग्रहण करने वाला ज्ञान है । अतः वेदवाक्य के द्वारा यज्ञ का संकेत ज्ञान में सहकारी कारण है । इस पर फिर बौद्ध बोल पड़ता है कि संकेत शब्दभावना और पुरुषभावना में व्यापार नहीं करता है वह संकेत अर्थ ज्ञान में व्यापार करता है और पदार्थ रूप अर्थ का ज्ञान होने से ही वह पुरुष जलादि में प्रवृत्ति करता है । मतलब यह है कि शब्द, विवक्षा में आरूढ़ हुए अर्थ को कहते हैं । बौद्धों ने वही बात अपने ग्रन्थों में कही है कि वक्तागुरु के व्यापार का विषयभूत जो अर्थ श्रोता की बुद्धि में प्रकाशित हो रहा है उसी अर्थ को कहने में शब्द प्रमाणीक हैं किन्तु वास्तविक अर्थ-तत्त्व को कारण मानकर शब्द की प्रमाणता का कोई खास कारण नहीं है । वक्ता की बुद्धि सम्बन्धी व्यापार से जाना गया अर्थ यदि शिष्य की बुद्धि में प्रकाशित हो गया तो उस अंश में शब्द प्रमाण है बाह्य अर्थ हो या न हो कोई आकांक्षा नहीं है ।

[प्रत्यक्ष के समान शब्द से भी बाह्य पदार्थों का ज्ञान होता है ।]

भाट्ट—ऐसा कहने वाले आप प्रज्ञाकर बौद्ध भी परीक्षक नहीं हैं । प्रत्यक्ष के समान ही शब्द से बाह्य पदार्थ की प्रतीति होना सिद्ध है ।

जिस प्रकार से प्रत्यक्ष से ज्ञाता के उपयोग रूप अंतरंग और बाह्य सामग्री की अपेक्षा से

1 बाह्यपदार्थस्वरूपकारणकम् । 2 श्रोतुर्बुद्धौ । 3 उपाध्यायव्यापारगम्यार्थशिष्यबुद्धिप्रकाशमानार्थं शब्दस्य प्रामाण्यम् । 4 बुद्ध्यारूढर्थे । 5 बाह्यतत्त्व । 6 बौद्धः । 7 इतो भाट्टो वदति । 8 प्रत्यक्षविषयार्थ । 9 प्रतिपत्तिसिद्धेः इति पा० । (व्या० प्र०) 10 एकाग्रता । (व्या० प्र०)

वदार्थ^१प्रतिपत्तिः सकलजनप्रसिद्धा—अन्यथा^२ ततो बहिरर्थे^३ प्रतिपत्तिप्रवृत्तिप्राप्त्ययोगात् । न चार्थ^४वेदनादेवार्थे पुरुषस्यार्थिनः स्वयमेव प्रवृत्तेः शब्दोऽप्रवर्तक इत्येव वक्तुं युक्तम्—^५प्रत्यक्षादेरप्येवमप्रवर्तकत्वप्रसङ्गात्—तदर्थेपि^६ ^७सर्वस्याभि^८लापादेव प्रवृत्तेः । ^९परम्परया प्रत्यक्षादिप्रवर्तकमिति चेत् तथा^{१०} वचनमपि प्रवर्तकमस्तु—विशेषाभावात्^{११} । यथा च प्रत्यक्षस्य सलिलादिरर्थः—तस्य तत्र प्रतीतेस्तथा वाक्यस्य भावना प्रेरणा वा तस्यैव^{१२} तत्र^{१३} प्रतीतेरबाध्यमानत्वात् ।

प्रत्यक्ष के विषयभूत पदार्थ का ज्ञान होता है तथैव संकेत सामग्री की अपेक्षा रखने वाले शब्द से ही शब्द के विषयभूत अर्थ का ज्ञान होता है और यह ज्ञान सकल जनों में सुप्रसिद्ध है । अन्यथा—यदि आप शब्द से बहिरंग घट पटादि पदार्थों का ज्ञान न मानों तब तो उन शब्दों से बाह्य पदार्थ का ज्ञान, उसमें प्रवृत्ति और उनकी प्राप्ति नहीं हो सकेगी और जहाँ पर बाह्य पदार्थ में प्रवृत्ति और प्राप्ति देखी जाती है वही शब्द का अर्थ है ऐसा समझना ।

भावार्थ—शब्द से बाह्य पदार्थ का ज्ञान न मानने पर तो जलादि शब्द से बाह्य पदार्थ जलादि में प्यासे पुरुष को जलादि का परिज्ञान होना, उसके पास जाना, स्नान करना, पीना, लाना आदि रूप प्रवृत्ति और प्राप्ति कुछ भी नहीं हो सकेगी ।

पदार्थ का ज्ञान होने से ही उस पदार्थ में उसके इच्छुक जनों की स्वयमेव प्रवृत्ति हो जाती है इसलिये शब्द अप्रवर्तक ही हैं ऐसा कहना भी शक्य नहीं है । अन्यथा प्रत्यक्ष आदि भी इस प्रकार से अप्रवर्तक हो जावेंगे । क्योंकि प्रत्यक्ष के विषयभूत अर्थ में भी सभी मनुष्यों की शब्द से ही प्रवृत्ति देखी जाती है ।

यदि आप कहो कि परम्परा से—प्रत्यक्ष से अर्थ का ज्ञान होता है उस अर्थ के ज्ञान से अभिलाषा होती है पुनः अभिलाषा से प्रवृत्ति होती है अतः परम्परा से प्रत्यक्षादि प्रवर्तक हैं ।

ऐसा मानने पर तो उसी प्रकार से वचनों को भी परंपरा से प्रवर्तक मान लो दोनों में कोई अंतर नहीं है । अर्थात् शब्द से अर्थ का ज्ञान होता है उस ज्ञान से अभिलाषा होती है और उस

१ शब्दविषयार्थ । २ शब्दाद् घटादिबाह्यपदार्थप्रतिपत्तिर्न भवति चेत्तदा ततः शब्दाद्बहिरर्थे जलादी पिपासितादेः पुंसो जलादि परिज्ञानं, तत्समीपं गमनं, स्नानपानानयनादिरूपा तत्प्राप्तिश्च न घटते । ३ यत्र हि प्रतीतिप्रवृत्तिप्राप्त्यः समधिगम्यते स शब्दार्थ इति वचनात् । (व्या० प्र०) ४ संवेदना इति पा० । (व्या० प्र०) ५ अन्यथा । ६ प्रत्यक्षार्थे । ७ नुः । ८ शब्दात् । अभिलाषादिति च क्वचित्पाठः । ९ प्रत्यक्षादर्थप्रतिपत्तिस्ततोऽभिलाषस्ततः प्रवृत्तिरिति । १० भाट्टः । ११ शब्दार्थप्रतिपत्तिस्ततोऽभिलाषस्ततः प्रवृत्तिरिति । (व्या० प्र०) १२ भावनाप्रेरणारूपस्यार्थस्य । १३ भावनाप्रेरणयोः ।

[वचनेन कार्यस्य साक्षात्कारो भवति न वेति विचारः]

‘नन्विदं कुर्विति वचनात्कार्ये^२ व्यापारितत्वं पुरुषस्य नियुक्तत्वम् । न च कार्ये^३ व्यापृ-
ततावस्था भाविनी तेन^४ साक्षात्कर्तुं शक्या—^५तत्साक्षात्करणे नियोगस्याफलत्वप्रसङ्गात् ।
ततो बाध्यमानैव^६ तत्प्रतीतिरिति । ^७तदेतदसमञ्जसमालक्ष्यते—^८अन्यत्रापि समानत्वात् ।

अभिलाषा से प्रवृत्ति होती है । जिस प्रकार से प्रत्यक्ष के जलादि पदार्थ विषय हैं उसकी वहाँ प्रतीति होती है उसी प्रकार के वेदवाक्य का भावना अथवा प्रेरणा अर्थ है उन भावना अथवा प्रेरणा रूप अर्थ की ही वहाँ उनमें प्रतीति होती है इसमें भी बाधा नहीं है ।

विशेषार्थ—भाट्ट ने कहा कि आप प्रज्ञाकर बौद्ध प्रज्ञाकर न होकर प्रज्ञाशून्य ही हैं क्योंकि जैसे प्रत्यक्ष ज्ञान से वाह्य पदार्थों का ज्ञान हो रहा है वैसे ही शब्दों से वाह्य पदार्थों का ज्ञान हो रहा है । जिस प्रकार से पुरुष के उपयोग रूप अंतरंग सामग्री और इन्द्रिय के सन्निकट पदार्थ आदि रूप बहिरंग सामग्री से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वैसे ही संकेत सामग्री से ही शब्द के द्वारा अर्थ का ज्ञान होता है । यदि शब्द से, वाह्य पदार्थों का ज्ञान नहीं होवेगा तब तो जल शब्द से जल का ज्ञान, उसमें प्रवृत्ति करना, उसे लाना, प्यास बुझाना, स्नान आदि करना कैसे हो सकेगा ? अतः शब्द से वाह्य पदार्थों का ज्ञान मानना उचित है । एवं यदि बिना संकेत ग्रहण किये गए ही शब्द वस्तु का ज्ञान करा देंगे तब तो बिना संकेत के मनुष्य, तिर्यच या बालक अथवा गूंगे भी कठिन शास्त्रों का अर्थ समझ जावेंगे । विद्यालयों में पाठकों की आवश्यकता नहीं रहेगी । अतएव “इस शब्द का यह अर्थ है” जल शब्द से वाच्य वस्तु जल एवं अग्नि शब्द से वाच्य उष्ण अग्नि है । इन इशारों को संकेत कहते हैं । परीक्षामुख में भी कहा है कि “सहजयोग्यता संकेतवशाद्धि शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्ति हेतवः ॥६६॥ यथा मेवादिय सति” ॥६७॥ अर्थों में वाच्य रूप तथा शब्दों में वाचक रूप एक स्वाभाविक योग्यता होती है, जिसमें संकेत हो जाने से ही शब्दादिक पदार्थों के ज्ञान में हेतु हो जाते हैं । जैसे सुमेरु आदि हैं ऐसा मेरु शब्द के कहने या सुनने मात्र से ही जंबूद्वीप के मध्य स्थित सुमेरु का ज्ञान हो जाता है क्योंकि शिष्य को मेरु का संकेत मालूम था उसी प्रकार से सर्वत्र ही शब्द से अर्थ का ज्ञान हो जाता है । अतएव शब्द सर्वथा प्रवृत्ति कराने वाले नहीं हैं ऐसा एकांत गलत है ।

[शब्द से कार्य का साक्षात्कार होता है या नहीं इस पर विचार]

सौगत—“इदं कुरु” इस वचन से याग लक्षण कार्य में पुरुष का व्यापार होना ही नियुक्तत्व है । एवं कार्य में होने वाली व्यापार की अवस्था उस नियोज्य-पुरुष के द्वारा साक्षात् नहीं की जा

1 सौगतः । 2 यागलक्षणे । 3 व्यापृतावस्था इति पा० । (व्या० प्र०) 4 नियोज्येन । (व्या० प्र०) 5 भावना-प्रेरणालक्षणार्थस्य । 6 व्यापृत्तत्व । 7 भट्टः । 8 प्रत्यक्षादावपि बाध्यमानप्रतीतित्वस्य समानत्वात् ।

प्रत्यक्षस्य हि प्रवर्तकत्वं प्रवृत्तिविषयोपदर्शकत्वमुच्यते । प्रवृत्तिविषयश्चार्थ¹क्रियाकारी सलिलादिः । सा च ²तस्यार्थक्रियाकारिता भाविनी न साधनावभासिना³ वेदनेन⁴ साक्षात्कर्तुं शक्या⁵ ⁶तत्साक्षात्करणे प्रवृत्तिवैफल्यात् । ततोध्यक्षस्य प्रवर्तकत्वं बाध्यमानप्रतीतिकं ⁷कथमेवेति न शक्यं वक्तुम्⁸ । ⁹यदि पुनरर्थक्रियाकारिताऽनागतापि साधनावभासिनि ¹⁰वेदने प्रतिभातैव—¹¹एकत्वाध्यवसायात्¹² तदा शब्दादपि पुरुषस्य कार्यव्यापृत्ता¹³ ¹⁴तत एव प्रतिभातैवेति किं नानुमन्यते¹⁵ । ¹⁶तथा सतिबुद्ध्यारूढोर्यःशब्दस्य स्यादिति ¹⁷चेत्थापि¹⁸ प्रत्यक्षस्य

सकती है यदि भावना अथवा प्रेरणा लक्षण अर्थ को साक्षात् करना मानोगे तब तो नियोग ही निष्फल हो जावेगा । इसलिए यह प्रतीति बाधित ही है ।

भाट्ट—यह आपका कथन असमञ्जस ही मालूम पड़ता है क्योंकि अन्यत्र—प्रत्यक्षादि में भी यह बाध्यमान प्रतीति समान ही है इसका कारण यह है कि प्रवृत्ति के विषय को दिखलाना ही तो प्रत्यक्ष का प्रवर्तकत्व कहा गया है । एवं प्रवृत्ति के विषय जलादि हैं जो कि स्नान, पानादि रूप से अर्थक्रियाकारी हैं और वह जलादि की अर्थक्रियाकारिता भाविनी—भविष्यत् में होने वाली है । स्नानपान आदि क्रिया के साधन जलादि हैं, वे साधन जिस ज्ञान में झलकते हैं वह ज्ञान साधनावभासी है वह भाविनी अर्थक्रियाकारिता साधनावभासी प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा साक्षात् नहीं की जा सकती है । यदि आप भाविनी अर्थक्रियाकारिता को साक्षात् करना मानोगे तब तो उसमें प्रवृत्ति ही विफल हो जावेगी, इसलिए प्रत्यक्ष का प्रवर्तकत्व बाधित प्रतीति वाला कैसे है ? ऐसा भी आपको कहना शक्य नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष भी बाधित प्रतीति वाला ही है ।

सौगत—अनागत—भविष्य में होने वाली भी अर्थक्रियाकारिता साधनावभासी प्रत्यक्ष ज्ञान में प्रतिभासित ही होती है क्योंकि भाविनी अर्थक्रियाकारिता और प्रत्यक्ष इन दोनों में एकत्व का ज्ञान हो रहा है अर्थात् दृश्य और प्राप्य में एकत्व का अध्यवसाय होता है । यहाँ दृश्य कहने से जल

1 स्नानपानादि । 2 सलिलादेः । 3 दृश्यं—सलिलं । स्नानपानादिक्रियायाः साधनं जलादिः । (व्या० प्र०) 4 प्रत्यक्षेण । 5 पुरुषस्य । (व्या० प्र०) 6 भाविन्यर्थक्रियाकारितायाः प्रत्यक्षीकरणे सति । 7 बाध्यमानप्रतीतिकमेव इति शक्यं वक्तुं । इति पा० । (व्या० प्र०) 8 कुतः ? यतो बाध्यमानप्रतीतिकमेवेति । 9 हे सौगत त्वमेवं वदसि । 10 प्रत्यक्षे । 11 दृश्यप्राप्ययोः । दृश्यमित्युक्ते जलं प्राप्यमित्यर्थक्रिया, तयोरेकत्वाध्यवसायात् । दृश्ये जले भाविन्यर्थक्रियायाः सद्भावात् । (व्या० प्र०) 12 भाविन्यर्थक्रियाकारिताप्रत्यक्षयोरेक्याधारत्वात् । 13 अनागतता । 14 पुरुषव्यापृत्तावस्थयोरेकत्वाध्यवसायादेव । 15 भवदिभः सौगतैः । 16 बौद्धः । 17 भाट्टः । 18 तवापि इति पा० । (व्या० प्र०)

बुद्ध् यध्यवसितोर्थः किन्न भवति^१ । ततो^२ निरालम्बनमेव प्रत्यक्षं न^३ स्यात् ।^४ परमार्थतः प्रत्यक्षमपि न प्रवर्तकम् स्वरूपस्य स्वतो गतेः संवेदनाद्वैतस्य वा सिद्धिरिति चेत्^५ पुरुषाद्वैतस्य

समझना और प्राप्य कहने से अर्थक्रिया लेना इन दोनों में एकत्व का अध्यवसाय है । मतलब दृश्य जल में भविष्य में होने वाली अर्थक्रिया—स्नान पानादि का सद्भाव है ।

भाट्ट—यदि आप सौगत ऐसा कहते हैं तब तो शब्द से भी पुरुष का अनागत कार्य—व्यापार उसी एकत्व ज्ञान रूप हेतु से प्रतिभासित ही होता है ऐसा भी आप क्यों नहीं मान लेते हो ?

यदि आप कहें कि वैसा होने पर बुद्धि से आरूढ़ अर्थ शब्द का विषय होता है तब तो उसी प्रकार से आपके यहाँ भी प्रत्यक्ष का भी अर्थ बुद्धि से अध्यवसित पदार्थ क्यों नहीं हो जावे क्या बाधा है ? क्योंकि स्नान पान आदि क्रियायें तो भाविनी ही हैं पुनः प्रत्यक्ष भी निरालम्बन ही क्यों नहीं हो जावेगा ? अर्थात् प्रत्यक्ष भी निरालम्बन रूप ही हो जावेगा ।

भावार्थ—बौद्ध कहता है कि “इदं कुरु” यह करो इस वचन से यज्ञ में पुरुष की प्रवृत्ति होना ही नियुक्त होना है एवं यज्ञ कार्य में होने वाली प्रवृत्ति उस वचन से साक्षात् नहीं की जा सकती है यदि भावना या प्रेरणा लक्षण अर्थ का साक्षात्कार करना मानोगे तब तो नियोग का फल क्या रहेगा ? इस पर भाट्ट ने कहा कि ऐसी बाधा तो प्रत्यक्षादि ज्ञान में भी आ सकती है क्योंकि प्रवृत्ति के विषय-भूत जलादि को दिखाना ही प्रत्यक्ष का प्रवर्तकपना है और जलादि की अर्थक्रिया—उसमें स्नान पान आदि करना वह तो कार्य और फल भविष्य में होता है । अर्थक्रिया के साधनभूत जल को बतलाने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान उस भविष्य की स्नान पान आदि अर्थक्रिया को साक्षात् नहीं करता है यदि बौद्ध कहें कि भविष्य में होने वाली अर्थक्रिया—कार्य प्रत्यक्ष ज्ञान में झलक रहा है क्योंकि भविष्य के कार्यरूप अर्थक्रिया और प्रत्यक्ष इन दोनों में एकत्व दिख रहा है । तब तो आप बौद्ध ऐसा भी मान लो कि शब्द के द्वारा भविष्य में होने वाला यज्ञ कार्य उस शब्द में झलक रहा है शब्द के बोलने पर प्रतीति में आ रहा है । यदि आप कहें कि ज्ञान में प्रतिभासित अर्थ ही शब्द का विषय है तब तो ज्ञान में झलकते पदार्थ ही प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय हैं ऐसा भी मानों पुनः प्रत्यक्ष ज्ञान निरालम्बन हो गया अर्थात् प्रत्यक्ष का विषय कुछ भी पदार्थ नहीं रहा, “मात्र ज्ञान में ही पदार्थ झलक रहे हैं कुछ बाह्य पदार्थ हैं ही नहीं” ऐसी विज्ञानाद्वैत की मान्यता ही सिद्ध हो जावेगी ।

बौद्ध—परमार्थ से प्रत्यक्ष भी प्रवर्तक नहीं है क्योंकि “स्वरूपस्य स्वतो गतेः” ज्ञान की स्वयं ही प्रवृत्ति हो जाती है अथवा संवेदनाद्वैत की स्वयं ही सिद्धि मानी गयी है ।

१ स्नानपानादि क्रिया भाविनी यतः । (व्या० प्र०) २ यतो इति पा० । (व्या० प्र०) ३ कुतो न स्यात् ? अपि तु स्यादेव । ४ बौद्धः । ५ ज्ञानस्य स्वस्मादेव प्रवृत्तिर्न तु बहिरर्थात् । ६ भाट्टः ।

कुतो न सिद्धिः ? तस्य नित्यसर्वगतस्यैकस्य¹ ²संवित्त्यभावादिति चेत् क्षणिकनिरंशस्यैकस्य संवित्तिः किं कस्यचित्कदाचिदस्ति ? यतस्तत्सिद्धिरेव स्यात् । ³ततः पुरुषाद्वैतवत्संवेदनाद्वै- तस्य सर्वथा व्यवस्थापयितुमशक्ते⁴भेदवादे⁵ च प्रत्यक्षस्य ⁶प्रवर्तकत्वायोगाद्भिन्नाभिन्नात्मक⁷ वस्तु⁸ प्रातीतिकमभ्युपगन्तव्यम्⁹ ¹⁰विरोधादेश्चित्रज्ञानेनोत्सारितत्वात् । ¹¹भेदस्याभेदस्य¹² वा ¹³सांवृतत्वे सर्वथार्थक्रियाविरोधात् । तथा¹⁴ च शब्दात्कार्यव्यापृतताया¹⁵ व्यक्तिरूपेण

भाट्ट—ऐसा कहो तो पुरुषाद्वैत की सिद्धि भी क्यों नहीं हो जावेगी ?

बौद्ध—उस नित्य, सर्वगत, एक स्वरूप परम पुरुष का ज्ञान ही नहीं होता है ।

भाट्ट—यदि ऐसा कहो तब तो क्षणिक, निरंश, एक ज्ञानाद्वैत रूप का संवेदन—ज्ञान किसी को कदाचित् हुआ है क्या ? जिससे कि उसकी ही सिद्धि हो सके अर्थात् वह संवेदनाद्वैत भी असिद्ध ही है ।

इसलिए पुरुषाद्वैत के समान संवेदनाद्वैत की व्यवस्था करना सर्वथा अशक्य है एवं सर्वथा भेदवाद में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति का अभाव है क्योंकि प्रवर्तकत्व का अर्थ ही अपने विषय को दिखला देना है । अतः आप सौगत को भिन्नाभिन्नात्मक ही वस्तु प्रतीति में आती हुई माननी चाहिये । अर्थात् भिन्नाभिन्नात्मक वस्तु को मानने का कथन भाट्ट जैनमत का आश्रय लेकर कह रहा है ।

दृश्य और प्राप्य रूप आकार से भेद और वस्तु रूप से अभेद मानना चाहिए और उसमें विरोध आदि दोषों का उत्सारण—निवारण चित्र ज्ञान के दृष्टांत से कर ही दिया है अर्थात् एक ही वस्तु भिन्न रूप भी है और अभिन्न रूप भी है इस मान्यता में तो परस्पर विरोध है इत्यादि, इन दोषों का परिहार चित्र ज्ञान को एकानेक सिद्ध करके पहले ही कर दिया है । दृश्य—देखने योग्य जल और प्राप्य—स्नान पानादि से प्रवृत्ति योग्य अर्थ में सर्वथा भेद मानने पर तो हे सौगत ! पूर्व का जल ज्ञान और उत्तर में स्नान, पान आदि प्रवृत्ति रूप ज्ञान में सर्वथा भेद प्रतिपादन करने पर तो पुनः प्रत्यक्ष अपनी प्रवृत्ति के विषय का उपदर्शक—बतलाने वाला भी नहीं हो सकेगा । अतः कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद रूप वाली वस्तु ही स्वीकार करना उचित है ।

1 तत्प्रतीतिर्वास्ति यतः । (व्या० प्र०) 2 प्रतीति । 3 स एव भाट्टः प्राहः । (व्या० प्र०) 4 दृश्यप्राप्ययोर्ययोः सर्वथा भेदे । 5 हे सौगत पूर्वजलज्ञानोत्तरस्नानपानप्रवृत्तिज्ञानयोः सर्वथा भेदप्रतिपादने तावत्प्रत्यक्षं ज्ञानं प्रवृत्तिविषयोपदर्शकं न स्यात्ततः । 6 प्रवर्तकत्वं नाम स्वविषयोपदर्शकत्वं । (व्या० प्र०) 7 दृश्यप्राप्याकारेण भेदो वस्तुत्वेनाभेदः । (व्या० प्र०) 8 जलादि । (व्या० प्र०) 9 भवद्भिः सौगतेः । 10 विरोधादेर्दोषस्य चित्रज्ञान-दृष्टान्तेन निराकृतत्वात् । 11 क्षणिकस्य । 12 नित्यस्य । 13 काल्पनिकत्वे सति (अस्त्यत्वे) द्रव्यवादी सांख्यो भेदं सङ्कल्पितं मनुते । पर्यायवादी बौद्धोऽभेदं सङ्कल्पितं मनुते । एवमुभयोः कल्पितत्वे वस्तुनः सर्वथापि नार्थक्रिया घटते । 14 भेदाभेदात्मकत्वेन वस्तुनः प्रतीतिसिद्धत्वे च । (व्या० प्र०) 15 अवस्थायाः । (व्या० प्र०)

भाविन्या अपि शक्तिरूपेण पुरुषस्य सतः^१ कथञ्चिदभिन्नाया^२ शब्दज्ञाने तदैव^३ प्रतिभासनेपि न नियोगो निष्फलः स्यात्^४ प्रत्यक्षतः सलिलादौ प्रवृत्तिवत् ।^५ तत्र हि सलिलादेरर्थक्रिया-^६योग्यताप्रतिभासनेपि व्यक्त्यर्थक्रियानुभवाभावात्तदर्थप्रवर्तनं प्रतिपत्तुः^७ सफलतामिर्यति नान्यथा^८ ।^९ एवं शब्दादात्मनः^{१०} ^{११}कार्यव्यापृततायोग्यताप्रतिपत्तावपि ^{१२}व्यक्तकार्यव्यापृततानुभवाभावात् ^{१३}पुरुषस्य ^{१४}नियोगः सफलतामियात्—तथा ^{१५}प्रतीतेरेव चाध्यक्षत्वसिद्धेः । ^{१६}ततो

सर्वथा भेद रूप क्षणिक वस्तु को अथवा सर्वथा अभेद रूप नित्य वस्तु को सांवृत्त-काल्पनिक मानने पर उसमें सर्वथा ही अर्थक्रिया का विरोध आता है । अर्थात् द्रव्यवादी सांख्य भेद को कल्पित मानता है और पर्यायवाची बौद्ध अभेद को कल्पित कहता है । इन दोनों को कल्पित रूप मानने पर वस्तु में सर्वथा ही अर्थक्रिया घटित नहीं होती है और भेदाभेदात्मक रूप से वस्तु की सिद्धि हो जाने पर उसी प्रकार वह अर्थ क्रिया शब्द से कार्य में व्यापृत है । व्यक्ति रूप से भाविनी-भविष्य में होने वाली होते हुए भी शक्ति रूप से विद्यमान पुरुष से कथञ्चित् अभिन्न ही है । वह अर्थक्रिया (यज्ञ) शब्द ज्ञान में “अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः” इत्यादि शब्दोच्चारण के काल में प्रतिभासित होने पर भी नियोग निष्फल नहीं हो सकता है, जैसे प्रत्यक्ष से जलादि में प्रवृत्ति निष्फल नहीं है उसी प्रकार शब्द से नियोग भी निष्फल नहीं है ।

उस प्रत्यक्ष में जलादि की अर्थक्रिया की योग्यता—सामर्थ्य का प्रतिभास न होने पर भी व्यक्ति रूप अर्थक्रिया का अनुभव नहीं है अतएव उस व्यक्ति रूप अर्थक्रिया की प्रवृत्ति के लिये उस विषय में प्रवृत्त होना मनुष्य का सफलीभूत ही रहता है अन्यथा—प्रवृत्ति के बिना अर्थक्रिया का अनुभव नहीं हो सकता है । अर्थात् प्रत्यक्ष से जल देखा, उस समय उस जल में स्नान पान आदि की योग्यता है यह बात शक्ति रूप से प्रत्यक्ष ज्ञान में झलक गयी पुनः स्पष्टतया स्नान पान आदि अर्थ-क्रिया तो आगे होती है अतः स्नान पानादि की प्रवृत्ति के लिये उस प्रत्यक्ष ज्ञान से गृहीत जल में स्नानादि से प्रवृत्ति करता है क्योंकि प्रवृत्ति किये बिना अर्थक्रिया का अनुभव नहीं होता है अतः प्रत्यक्ष ज्ञान सफलीभूत है ।

इसी प्रकार शब्द से पुरुष की याग लक्षण कार्य-व्यापार की योग्यता के जान लेने पर भी व्यक्तप्रकट रूप याग लक्षण कार्य रूप व्यापार का अनुभव नहीं होने से पुरुष का नियोग सफल ही है क्योंकि उस प्रकार से प्रतीति भी होती है और वह प्रत्यक्ष से भी सिद्ध है अतः जैसे प्रत्यक्ष से बाह्य

१ स्वतः इति पाठान्तरम् । २ शब्दज्ञाने इति पा० । (व्या० प्र०) ३ स्वर्गकामोग्निहोत्रं जुहुयादित्यादिवाक्योच्चारण-काले । ४ यथा प्रत्यक्षाज्जलादौ प्रवृत्तिनिष्फला न स्यात्तथा शब्दान्नियोगो निष्फलो न स्यात् । ५ प्रत्यक्षे । ६ सामर्थ्यं । ७ तदर्थं प्रवर्तनं । (व्या० प्र०) ८ प्रवर्तनमन्तरेणार्थक्रियानुभवो न स्यात् । व्यक्त्यर्थक्रियानुभवे सति जलक्रियार्थं प्रवर्तनं पुरुषस्य सफलतां न प्राप्नोति । ९ प्रत्यक्षप्रकारेण (भाट्ट) । १० पुरुषस्य । ११ यागलक्षण । १२ यागलक्षण । १३ पुरुषस्य तदर्थो नियोगः इति पा० । (व्या० प्र०) १४ कर्तृभूतः । १५ प्रतीतेरेवाऽऽध्यत्व-सिद्धेरिति पाठान्तरम् । १६ प्रत्यक्षादिव शब्दाद्बहिरर्थप्रतिपत्तिसिद्धिर्यतः प्रयोज्यप्रयोजकप्रतीतिश्च सत्या प्रतिपादिता यतः ।

न विवक्षारूढ एव शब्दस्यार्थः प्रमाणबलादवलम्बितुं युक्तः सन्मात्रविधिवत् ।

[कारकभेदेन क्रियायाः भेदाभेदविचारः]

^१यदप्युक्तम् ।—नियोगो यदि शब्दभावनारूपो वाक्यार्थस्तथा सति देवदत्तः ^२पचेदिति कर्तुरनभिधाना^३त्कर्तृकरणयो^४स्तृतीयेति ^५तृतीया प्राप्नोति^६ । कर्तुरभिधाने ^७त्वन-भिहिताधिकारात्तिडैव^८ चोक्तत्वात्^९ ^{१०}भवतीति । ^{११}तदप्युक्तं^{१२}—^{१३}भावनाविशेषणत्वेन

पदार्थों की प्रतीति होती है उसके समान ही शब्द से बाह्य अर्थ का ज्ञान सिद्ध है क्योंकि प्रयोज्य और प्रयोजक—पुरुष एवं शब्द की प्रतीति सत्य ही है इसलिए विवक्षा में आरूढ ज्ञान में प्रतिभासित होना ही शब्द का अर्थ है ऐसा प्रमाण के बल से अवलंबन—स्वीकार करना युक्त नहीं है जैसे कि वेदवाक्य का अर्थ सन्मात्र विधि है यह कथन ठीक नहीं है ।

भावार्थ—जब भाट्ट ने प्रत्यक्ष के विषय को निरालंब—शून्य सिद्ध किया तब तो विज्ञाना-द्वैतवादी बौद्ध को अत्रकाश मिल गया और उसने कहा कि वास्तव में प्रत्यक्ष भी प्रवर्तक नहीं है क्योंकि “स्वरूप का ज्ञान स्वयं ही होता है” अतएव बाह्य पदार्थ कोई चीज ही नहीं है केवल ज्ञान-मात्र ही तत्त्व है । इस पर भाट्ट ने कहा कि फिर आप वेदांतियों के ब्रह्माद्वैत को भी मानों । यदि कहो नित्य, एक परम पुरुष दिखता नहीं है तब क्या निरंश, क्षणिक एक रूप ज्ञान किसी को दिखता है ? अतः सौगत के द्वारा मान्य सर्वथा भेदवाद भी गलत ही है । मतलब दृश्य-जल और प्राप्य-पीने के लिए जल का ग्रहण आदि रूप भविष्यत् में होने वाली अर्थक्रिया ये दोनों यदि सर्वथा भिन्न हैं फिर जो शब्द से जल को सुनकर जल को देखेगा वही मनुष्य उस जल को पीने, लाने या उसमें नहाने की प्रवृत्ति नहीं कर सकेगा । अतः यह स्नानपानादि अर्थक्रिया शब्द से यज्ञ कार्य रूप व्यापार में है, व्यक्त-स्पष्ट रूप से भविष्य में होने वाली है फिर भी शक्ति रूप से पुरुष से अभिन्न है और शब्द के ज्ञान में झलक रही है फिर भी नियोग निष्फल नहीं है ।

[कारकों के भेद से क्रिया में भेदाभेद का विचार]

और जो आपने कहा है कि शब्द भावना रूप नियोग वेदवाक्य का अर्थ है ऐसा होने पर तो “देवदत्तः पचेत्” इस प्रकार से कर्ता का कथन नहीं होने से अप्रधान कर्ता और करण में तृतीया होती है इस कथन से तृतीया विभक्ति प्राप्त होती है एवं कर्ता का कथन करने में अभिहित का अधिकार

1 भाट्टो वदति । (प्रज्ञाकरेण स्वग्रन्थे) 2 शब्दभावनारूपस्य नियोगस्य । (व्या० प्र०) 3 देवदत्तः पचेदिति वाक्यं यदि शब्दभावना रूपं नियोगं प्रतिपादयति तदा कर्ता अनुक्तो भवति । पचेदिति क्रिया कर्तारं न प्रतिपादयति नियोग-प्रतिपादनपरत्वात्तस्याः । (व्या० प्र०) 4 अप्रधानयोः । 5 विभक्ति । 6 अनभिहिताधिकारात्तृतीया भवति अभिहिते कर्तरि तृतीया न भवति तिङोक्तत्वात् । (व्या० प्र०) 7 अनभिहिते कर्तरि । (व्या० प्र०) 8 पचेदिति । (व्या० प्र०) 9 कर्तुः । 10 तृतीया । 11 भाट्टः । 12 नियोगस्य तच्छेषत्वादप्रधानत्वादवाक्यार्थत्वमिति वक्ष्यमाणप्रकारेणस्य मुख्यवृत्त्यावाक्या र्थत्वाभावं मन्वानस्तत्रोक्तदोषमपरिहरन्मुख्यवृत्त्या वाक्यार्थभूतार्थभावनायामेव तं परिहरन्नाह । उक्तदोषस्य तत्राप्यनुषंगत् । (व्या० प्र०) 13 अर्थभावना ।

कर्तुः प्रतिपादनात् । ¹भावना हि करोत्यर्थः । ²स च देवदत्तकर्तृकः प्रतिभाति । पचेद् देव-
दत्तः पाकं कुर्यादिति पाकावच्छिन्नायाः करणक्रियाया देवदत्तकर्तृकायाः प्रतीतेः—³सकृदेव
विशेषणविशेष्ययोः प्रतिभासाविरोधात् नीलोत्पलादिवत् । ⁴ततो नेदं प्रज्ञाकरवचश्चारु ।

“⁵क्रमप्रतीतेरेवं⁶ स्यात् प्रथमं भावनागतिः । तत्सामर्थ्यात्पुनः⁷ पश्चाद्यतः⁸ कर्ता प्रतीयते⁹ ॥”

इति यदभ्यधायि¹⁰ ¹¹द्विवचन¹²बहुवचने च ¹³प्राप्नुतः—एकत्वाद्व्यापारस्य¹⁴ । ¹⁵अथ ¹⁶कारक-

न होने से लिङ्ग के द्वारा ही कर्ता को कह देने से तृतीया नहीं होती है अर्थात् “देवदत्तः पचेत्”
देवदत्त पकाता है यह वाक्य यदि शब्द भावना रूप नियोग का प्रतिपादन करता है तब कर्ता अनुक्त
है । “पचेत्” पकाता है यह क्रिया कर्ता का प्रतिपादन नहीं करती है क्योंकि यह क्रिया नियोग के
प्रतिपादन करने में तत्पर है एवं अभिहित अधिकार के न होने से तृतीया होती है किन्तु कर्ता के
अभिहित-कथन कर देने पर तृतीया नहीं होती है क्योंकि तिङ् प्रत्यय के द्वारा ही कथन हो जाता है ।

यह सब आपका कथन भी अयुक्त ही है । अर्थ भावना रूप विशेषण से कर्ता का प्रतिपादन
किया गया है क्योंकि “करोत्यर्थ” ही भावना का लक्षण है और करोति क्रिया का अर्थ देवदत्त कर्ता
रूप प्रतिभासित होता है ।

“पचेत् देवदत्तः=पाकं कुर्यात्” इस प्रकार से पाक से अवच्छिन्न देवदत्त कर्तृक, करण,
क्रिया की प्रतीति हो रही है क्योंकि युगपत् ही विशेष्य का प्रतिभास विरुद्ध नहीं है जैसे कि नीलोत्पल
में नील विशेषण और कमल विशेष्य एक साथ ही अनुभव में आते हैं । इसलिए आप प्रज्ञाकर बौद्ध के
ये वचन चारु—सुन्दर नहीं हैं अर्थात् विशेषण और विशेष्य की युगपत् प्रतीति होती है कहा भी है—

श्लोकार्थ—इस प्रकार क्रम से प्रतीति होने से पहले भावना का ज्ञान होता है पुनः उसकी
सामर्थ्य से कर्ता और भावना में विशेषण विशेष्य भाव के प्रकार से पश्चात्-बाद में कर्ता प्रतीति में
आता है ।

ऐसा तो आप सौगत ने कहा है कि क्रिया लक्षण भावना में द्विवचन और बहुवचन नहीं प्राप्त
होता है क्योंकि भाट्ट की स्वीकृति अनुसार व्यापार एक है यह आप सौगत का कथन भी असत्य
ही है ।

1 भावनायाः किं लक्षणमित्युक्ते आह । 2 करोत्यर्थः । 3 यदि भावनाविशेषणत्वेन कर्ता तथापि तयोः क्रमप्रतीति-
सम्भवेन पूर्वकर्तुः प्रतिभासाभावात्तृतीया प्राप्नोतीत्याशङ्कयामाह । 4 भट्टो वदति ।—यत् एवं तत् इदमप्रेतनकारि-
कादौ वक्ष्यमाणं सौगतवचनं मनोज्ञं न स्यात् । 5 क्रमप्रतीतिरेवं स्यादिति खपुस्तकपाठः । 6 कर्तृभावनयोर्विशेषण-
विशेष्यभावप्रकारेण । (व्या० प्र०) 7 कर्तृभावनयोर्विशेषणविशेष्यभावप्रकारेण । स्युरेवंतुपुनरेवेत्यवधारणवाचका
इति वचनात् । 8 वाक्यात् । (व्या० प्र०) 9 भवदभ्युपगमप्रकारेण । (व्या० प्र०) 10 भट्टो वदति ।—यदवादि
सौगतेन तदप्यसत्यमित्पर्यन्तं सम्बन्धः । 11 क्रियालक्षणया भावनायाः । 12 पचेतां । (व्या० प्र०) 13 च न
प्राप्नुतः इति पा० । तच्छुद्धं प्रतिभाति । (व्या० प्र०) 14 पुरुषसंबन्धिक्रियारूपकरणलक्षणस्य भाट्टस्याभ्युपगम-
प्रकारेण । (व्या० प्र०) 15 यदि । (व्या० प्र०) 16 कर्तादि । (व्या० प्र०)

भेदात् ¹स्वव्यापारभेदो भविष्यति ²क्रियते कटो ³देवदत्तयज्ञदत्ताभ्यामिति महदसमञ्जस⁴
स्यात् । तथा हि ।—

एकत्वात्कर्मणः⁵ प्राप्तं क्रियेकत्वं तथाभिदः⁶ । ⁷कर्तृ⁸भेदादित्यर्थं⁹ च किं ¹⁰कर्त्तव्यं विचक्षणैः ॥ इति ॥

¹¹तदप्यसत्यम्—¹²प्रतीतिविरोधात् । प्रतीयते हि धात्वर्थस्य भेदादेकवचनं देवदत्तयज्ञदत्ताभ्या-
मास्यते¹³ । स च धात्वर्थो न नियोगः—नियोगस्य¹⁴ प्रत्ययार्थत्वात्¹⁵ । ¹⁶स च ¹⁷धात्वर्थाति-
रिक्तः कर्तृसाध्यः । ¹⁸तस्य कर्तृभेदाद्भेद इति । ¹⁹ततः कटं कुस्त²⁰ इति द्विवचनम् ।
धात्वर्थस्तु शुद्धो न कारकभेदाद्भेदी²¹ ।

यदि कही कि कारक के भेद से अपने व्यापार में भेद हो जावेगा तब तो देवदत्त और यज्ञदत्त
के द्वारा कट (चटाई) किया जाता है यह कथन भी बहुत ही असमंजस युक्त हो जावेगा । तथाहि—

श्लोकार्थ—कट लक्षण कर्म का एक रूप है अतः क्रिया में एकत्व प्राप्त हुआ है क्योंकि कर्त्ता
में भेद देखा जाता है अतः कर्त्ता के निमित्त से क्रिया भी दो प्रकार की हो जाती है । इस प्रकार से
क्रिया में भी एकत्व अनेकत्व प्रकार हो जाने से भेद हो जाता है तो विचक्षण पुरुष क्या कर सकते
हैं ? अर्थात् वे कुछ भी नहीं कर सकते हैं ॥

इस प्रकार का आप बौद्धों का कथन भी असत्य है क्योंकि प्रत्यक्ष से प्रतीति में विरोध
आता है “देवदत्तयज्ञदत्ताभ्यां आस्यते” ऐसे भाव वाक्य में धात्वर्थ के अभेद से एकवचन ही
प्रतीति में आता है और वह धातु का अर्थ नियोग नहीं है क्योंकि नियोग तो प्रत्यय का अर्थ है वह
धात्वर्थ से भिन्न है और वह पुरुष का व्यापार धात्वर्थ क्रिया से अतिरिक्त—भिन्न कर्त्ता से साध्य
है । उस प्रत्यय के अर्थ में कर्त्ता के भेद से भेद होता है । इसलिए “कटं कुस्तः” इसमें द्विवचन होता
है किन्तु भाव रूप—शुद्ध धात्वर्थ, कारक के भेद से भेद रूप नहीं होता है ।

विशेषार्थ—व्याकरण में जिसमें प्रत्यय (विभक्ति) लगकर क्रिया बन जाती है उन्हें धातु
कहते हैं जैसे भू पच् आदि । वे धातु दो प्रकार की होती हैं सकर्मक और अकर्मक ।

1 व्यापारभेदो इति पा० । (व्या० प्र०) 2 तर्हि । 3 उदाहरणम् । 4 कारकभेदे क्रियावचनभेदो न जायेत ।
(व्या० प्र०) 5 कटलक्षणस्य । 6 भेदात् । 7 तथाभिदा, कर्तृभेद इतीत्थं चेति पाठान्तरम् । कर्त्तृपेक्षया क्रियाया
द्विविध्यं जातम् । 8 क्रियाया एकत्वानेकत्वप्रकारेण । 9 कर्तृभेद इत्यर्थं इति पा० । (व्या० प्र०) 10 न किमपि
(काकुः) । 11 भट्टः (सौगतोक्तमसत्यम्) । 12 प्रत्यक्ष । 13 भावे । 14 क्तवति क्रियारूपस्य । (व्या० प्र०)
15 प्रत्ययार्थो धात्वर्थाद्भिन्नः । 16 पुरुषव्यापारः । 17 क्रियातः । 18 प्रत्ययार्थस्य । 19 कर्तृसाध्यप्रत्ययत्वात्
(भाट्टः) । 20 देवदत्तयज्ञदत्ता । 21 भावरूपोधात्वर्थः ।

श्लोक—क्रियापदं कर्तृपदेन युक्तं, व्यपेक्षते यत्र किमित्यपेक्षा ।
सकर्मकं तं सुधियो वदांत,, शेषस्ततो धातुरकर्मकः स्यात् ॥१॥
सन्मात्रं भावलिङ्गं स्यादसंपृक्तं तु कारकैः ।
धात्वर्थः केवलः शुद्धो भाव इत्यभिधीयते ॥२॥

अर्थ—जो कर्त्तापद से युक्त क्रियापद “क्या” इस प्रकार के कर्म की अपेक्षा रखते हैं विद्वान् जन उन क्रियापदों को सकर्मक कहते हैं एवं उनसे बची हुई धातुयें अकर्मक कही जाती हैं । ॥१॥

जो सन्मात्र रूप भावलिङ्ग है, कारकों के सम्बन्ध से रहित है, केवल शुद्ध धात्वर्थ है उसे भाव वाची कहते हैं ॥२॥

यहाँ वे धातु लज्जा, सत्ता, स्थिति, जागरण, वृद्धि, क्षय, भय, जीवन, मरण, शयन, क्रीडा, रुचि और दीप्ति अर्थ वाले धातु अकर्मक कहलाते हैं क्योंकि इनमें कर्म की अपेक्षा नहीं है । इन सकर्मक और अकर्मक धातुओं में विभक्ति के लग जाने से ये तिङ्त अथवा मिङ्त कहलाते हैं एवं दस प्रकार से लकारों से प्रयुक्त किए जाते हैं । सकर्मक क्रियायें भो कर्त्तरि प्रयोग और कर्मणि प्रयोग से दो प्रकार की मानी गयी हैं एवं अकर्मक क्रियायें कर्त्तुर प्रयोग और भाव प्रयोग के भेद से दो प्रकार की होती हैं सकर्मक क्रियाओं के कर्त्तरि प्रयोग के उदाहरण—

अहं जिनालयं गच्छामि—मैं जिनालय को जाता हूँ ।

आवां अष्टसहस्रीमध्येवः—हम दो जने अष्टसहस्री का अध्ययन करते हैं ।

सर्वे जिनपूजां कुर्वति—सभी जिन पूजा करते हैं ।

देवदत्तः ओदनं पचति—देवदत्त भात को पकाता है ।

इन वाक्यों में जाने वाला, पढ़ने वाला और पकाने वाला कर्त्ता प्रधान—स्वतंत्र है अतः इन वाक्यों को कर्त्तरि प्रयोग कहते हैं । इन वाक्यों में कर्त्ता के अनुसार एकवचन, द्विवचन, और बहुवचन रूप क्रिया हो जाती है । अकर्मक धातुओं के कर्त्तरि प्रयोग के उदाहरण—

सः शेते—वह सोता है । जंबूद्वीपे सूर्यीं प्रकाशते—जम्बूद्वीप में दो सूर्य चमकते हैं । वृक्षाः वर्धते—अनेक वृक्ष बढ़ते हैं ।

इन अकर्मक धातुओं में कर्म है ही नहीं, अतः क्रिया का सभी भार कर्त्ता पर ही है । सोने वाले, प्रकाशित होने वाले एवं बढ़ने वाले कर्त्ता सर्वतः प्रधान हैं अतः ये वाक्य अकर्मक कर्त्तृ प्रयोग हैं इनमें भी कर्त्ता के अनुसार ही क्रिया एकवचन, द्विवचन, बहुवचन रूप हो जाती है ।

सकर्मक धातुओं से कर्मणि प्रयोग के उदाहरण—

देवदत्तेन अष्टसहस्री पठ्यते—देवदत्त के द्वारा अष्टसहस्री पढ़ी जाती है ।

मया व्याकरणं पठ्यते—मेरे द्वारा व्याकरण पढ़ी जाती है ।

युवाभ्यां जिनपूजा क्रियते—तुम दोनों के द्वारा जिन पूजा की जाती है ।

अस्माभिः गुरुः सेव्यते—हम सभी के द्वारा गुरु की सेवा की जाती है ।

देवदत्तेन कटी क्रियेते—देवदत्त के द्वारा दो चटाई बनाई जाती हैं ।

मया न्यायव्याकरणसिद्धांतशास्त्राणि पठ्यंते—मेरे द्वारा न्याय, व्याकरण और सिद्धांत शास्त्र पढ़े जाते हैं ।

इन वाक्यों के प्रयोग में कर्म प्रधान है और कर्ता अप्रधान है अतः कर्ता में तृतीया हो जाती है और कर्म में प्रथमा ही रहती है । तथा कर्म के एकवचन, द्विवचन और बहुवचन के अनुसार ही क्रिया में एकवचन, द्विवचन और बहुवचन हो जाते हैं ।

अकर्मक क्रियाओं के भाव प्रयोग के उदाहरण—

देवदत्तेन शय्यते—देवदत्त के द्वारा सोया जाता है ।

आवाभ्यां आस्यते—हम दोनों के द्वारा बैठा जाता है ।

जंतुभिः जन्यते—बहुत से प्राणियों के द्वारा जन्म लिया जाता है ।

इन अकर्मक धातुओं के भाव प्रयोग में कर्ता में तृतीया होती है एवं भाव के अर्थ में धात्वर्थ क्रिया में एकवचन ही रहता है । इन वाक्यों के प्रयोग में कर्ता अप्रधान है और धात्वर्थ क्रिया ही प्रधान है क्योंकि यहाँ कर्म का अभाव है ।

यहाँ पर भाट्ट का ऐसा कहना है कि प्रज्ञाकर बौद्ध ने अपने ग्रन्थों में जो ऐसा कहा है कि यदि शब्दभावना रूप नियोग ही वेदवाक्य का अर्थ है—“देवदत्त पकाता है” ऐसा वाक्य यदि शब्दभावना रूप नियोग का ही प्रतिपादन करता है तब कर्ता अनुक्त—नहीं कहा जाता है । “पकाता है” यह क्रिया अपने कर्ता का प्रतिपादन नहीं करती है क्योंकि वह क्रिया तो नियोग अर्थ का प्रतिपादन करती है और जब कर्ता अप्रधान है तब यहाँ पर कर्ता में तृतीया होनी चाहिए थी किन्तु यहाँ कर्ता का कथन होने से तृतीया नहीं हुई है ।

इस पर भाट्ट का कहना है कि यह सब आपका कथन अयुक्त है क्योंकि हमने अर्थभावना रूप विशेषण के द्वारा कर्ता का प्रतिपादन कर ही दिया है एवं करोति क्रिया का जो अर्थ है वही भावना है वह भावना देवदत्त कर्ता रूप से ही प्रतिभासित होती है । अर्थभावना तो विशेषण है और कर्ता देवदत्त विशेष्य है एवं विशेषण विशेष्य का ज्ञान एक साथ होता है क्रम से नहीं होता है इसलिए कारक के भेद से उसके व्यापार रूप क्रिया में भेद ही होवे ऐसा एकांत नहीं है ।

“देवदत्त और यज्ञदत्त इन दोनों के द्वारा एक चटाई बनाई जाती है” इसमें कर्मणि प्रयोग में कर्ता अप्रधान होने से उसमें तृतीया का द्विवचन है किन्तु कर्म रूप चटाई प्रधान है और उसमें एक वचन होने से “क्रियेते” क्रिया में एकवचन ही है ।

इसलिए कर्मणि प्रयोग में कर्म के अनुसार ही क्रिया होती है तथा इसी का कर्तारि प्रयोग करने पर देवदत्तयज्ञदत्तौ कटं कुरुतः—देवदत्त और यज्ञदत्त चटाई को बनाते हैं यहाँ कर्ता की प्रधानता से क्रिया

[शब्दभावनारूपनियमोऽर्थभावनाया विशेषणमस्य विचारः]

स्यादाकृतम्¹ ।—

सम्बन्धाद्यदि² तद्भेदो³ 4धात्वर्थस्याप्यसौ⁵ भवेत्⁶ । सोपि⁷ निर्वर्त्यं⁸ एवेति⁹ तद्भेदेनैव भिद्यताम् ॥

¹⁰अस्माकं तु :—

¹¹विवक्षापरतन्त्रत्वाद्भेदाभेद¹² व्यवस्थितेः । ¹³लाभिधानात्कारकस्य¹⁴ सर्वमे¹⁵ तत्समञ्जसम् ॥

में भी द्विवचन ही जाते हैं ।

किन्तु बौद्ध का यदि ऐसा कहना है कि कर्त्ता के भेद से क्रिया में भेद होवे ही होवे सो ठीक नहीं है । क्योंकि अकर्मक धातु से कर्त्ता में भेद होने पर भी धात्वर्थ शुद्ध क्रिया में एकवचन ही रहता है एवं प्रत्यय का अर्थ नियोग माना गया है अतः धातु का अर्थ नियोग नहीं है और धात्वर्थ शुद्ध है कारक के भेद से भी उसमें भेद नहीं होता है उसमें केवल सर्वत्र एकवचन का ही प्रयोग होता है ऐसा समझना चाहिये ।

[शब्दभावना रूप नियोग अर्थभावना का विशेषण है इस पर विचार]

श्लोकार्थ—योगाचार बौद्ध कहता है कि—यदि सम्बन्ध से उस प्रत्यय रूप नियोग में कर्त्ता सम्बन्धी कारक के भेद से भेद है तो पुनः “आस्यते” इस सत्ता रूप धात्वर्थ में भी प्रत्यय भेद होवे । वह भी पुरुष के द्वारा ही निर्वर्त्यं—निष्पाद्य है उस कारक—कर्त्ता के भेद से ही उसमें भेद हो जावे ॥

अर्थात् “जिनदत्तगुरुदत्तयज्ञदत्तैरास्यते” जिनदत्त, गुरुदत्त और यज्ञदत्त के द्वारा बँटा जाता है । इस भाव रूप क्रिया में एकवचन ही होता है किन्तु अर्थ के भेद से भाव रूप धातु के अर्थ में भेद नहीं होता है । इस प्रकार से जो आरोप है कि यदि कारक के भेद से प्रत्यय में भेद है तो यहाँ भी आस्यते क्रिया में बहुवचन होना चाहिए किन्तु हम लोगों के यहाँ तो—

श्लोकार्थ—विवक्षा—कल्पना के आधीन होने से कारक व्यापार में भेदाभेद की व्यवस्था है । दस लकार के कथन से कारक में—प्रत्यय रूप नियोग में भेद और अभेद होते हैं इसलिए एकवचनादिक सभी समञ्जस—ठीक ही हैं ॥

भाव में उत्पन्न हुई लकार नाम की क्रिया कर्त्ता और कर्म से भेद रूप से ही विवक्षित की गई है जब वह क्रिया लकार इत्यादि प्रत्यय से कही जाती है तब वह कर्त्ता नहीं है तब कर्त्ता के अप्रधान

1 योगाचारस्य । 2 तस्य प्रत्ययरूपनियोगस्य । 3 कर्त्तृसम्बन्धात्कारकभेदाद्यदि प्रत्ययभेदस्तदा । 4 सत्तारूपस्य आस्यते इत्यस्य । 5 प्रत्ययभेदः । 6 भावरूपस्य देवदत्तजिनदत्तयज्ञदत्तैरास्यते एतदेकमेव भवति नार्थभेदाद् भावरूपस्य धात्वर्थस्य भेदः । (व्या० प्र०) 7 पुरुषेण निष्पाद्यः । 8 हेतोः । 9 कारक । कर्त्तृ । प्रत्यय । 10 योगाचाराणाम् (सौगतानाम्) । 11 कल्पना । 12 व्यापारस्य कारकस्य । 13 दशलकारेण । 14 प्रत्ययरूपनियोगस्य भेदाभेदो भवतः । 15 एकवचनादिकम् ।

१क्रिया^२ हि कर्तुः^३कर्मणश्च भेदेन हि विवक्ष्यते ४सा यदा ५लकारेणाभिधीयते, न कर्ता तदा ६कर्त्तरि तृतीया भवति । यदा कर्त्ताभिधीयते तदा प्रथमार्थत्वात्प्रथमा भवति । ७क्रियते महात्मना, करोति महात्मेति, ८तदेतदपि पक्षपातमात्रम् सौगतस्य । भेदाभेदयोर्वस्तुरूपयोः प्रतीतिसिद्धत्वेन तद्विवक्षावशात् तथा व्यवहारस्य पारमार्थिकत्वोपपत्तेः । ९ततो युक्ता शब्दव्यापाररूपा शब्दभावना, पुरुषव्यापाररूपाऽर्थभावना च । तत्र हि कर्तृव्यापार-स्तिङा^{१०} प्रतिपाद्यते । ११स एव च भावना^{१२} । १३तथा चाह ।—भावार्थाः^{१४} १५कर्मशब्दाः । भावनं भावो १६प्यन्ताद्धञ्प्रत्ययः । तथा च सति भावनैवासौ । भावना च^{१७} कर्तृव्यापारः स^{१८} चोदितः^{१९} २०स्वव्यापारे प्रवर्त्तते^{२१} इति । २२नियोगस्य^{२३} च २४तच्छेषत्वादप्रधानत्वा-

में तृतीया होती है जब कर्त्ता कहा जाता है तब प्रथमार्थ का अर्थ होने से प्रथमा होती है जैसे क्रियते महात्मना—महात्मा के द्वारा किया जाता है इसमें भाव में क्रिया होने से कर्त्ता में भेद है क्योंकि कर्त्ता महात्मा यहाँ स्वाधीन नहीं है । “करोति महात्मा”—महात्मा करता है । यहाँ प्रथमान्त कर्त्ता है । यहाँ कर्त्ता प्रधान है ।

भाट्ट—यह आपका कथन भी पक्षपात मात्र ही है आप सौगत के यहाँ तो वस्तुरूप-वास्तविक भेद और अभेद की प्रतीति सिद्ध होने से उसकी विवक्षा के निमित्त से उस प्रकार का व्यवहार पार-मार्थिक हो जावेगा और उस प्रकार से “करोत्यर्थ” देवदत्त कर्तृक होता है अतः शब्द व्यापार रूप ही शब्द भावना युक्त है एवं पुरुष के व्यापार रूप अर्थ भावना भी युक्त है । वहाँ ही कर्त्ता का व्यापार तिङ् प्रत्यय-आख्यात से प्रतिपादित किया जाता है और वह कर्त्ता का व्यापार ही अर्थ भावना है । उसी को कहते हैं—कर्म शब्द, भाव अर्थ वाले हैं । अर्थात् क्रियावाचक शब्द भी भाव अर्थ वाले हैं । भावनं भावो प्यन्त-प्रेरणार्थक से घञ् प्रत्यय हुआ है और उस प्रकार से व्युत्पत्ति करने पर वह भावना ही है और भावना ही कर्त्ता का व्यापार है अर्थात् भाव्यनिष्ठ जो भावक का व्यापार है वही भावना है । वह पुरुष “अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्” इत्यादि वेदवाक्य से प्रेरित होता हुआ याग लक्षण अपने

१ भावे समुत्पन्ना लकाराभिधेया । २ क्रिया इति पा० । (व्या० प्र०) ३ का (पञ्चमी) । ४ क्रिया । ५ त्यादि-प्रत्यय । ६ अप्रधाने । ७ भावे क्रियायाः कर्तुः सकाशादत्र भेदः । ८ भाट्टः । ९ देवदत्तकर्त्तकः करोत्यर्थो भवति यतः । १० आख्यातेन । ११ कर्तृव्यापारः । १२ अर्थभावना । १३ कर्तृव्यापारस्य भावनात्वेन । १४ भाव एव अर्थो येषां ते । १५ कर्मशब्दा (क्रियावाचकाः) इत्यत्र कर्मशब्दा एव भावार्था इत्येवकारो द्रष्टव्यः । १६ प्यन्तस्य घञिति पाठान्तरम् । १७ भाव्यनिष्ठो भावकव्यापारो भावना । (व्या० प्र०) १८ स पुरुषोऽग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतेत्यादिवेदवाक्येन प्रेरितः सन् । १९ शब्दभावनाया प्रेरितः । (व्या० प्र०) २० यागे । २१ पुरुषः । २२ शब्द-व्यापाररूपप्रेरणस्य । शब्दभावनाया अप्रधानत्वं मयाप्यंगीकृतं गौणत्वेन वाक्यार्थत्वं भवतु प्रधानत्वं अर्थभावनाया एव वाक्यार्थत्वं तर्हि कर्तृस्तृतीया प्राप्नोतीति शकामग्रे निराकरोति । (व्या० प्र०) २३ नियोगस्येति पाठान्तरम् । नियोगशब्देन शब्दभावना । (शब्दव्यापाररूपप्रेरणस्य) । २४ अर्थभावनाया विशेषणत्वात् ।

¹देवाक्यार्थत्वम्² । नियोगविशिष्टत्वाच्च भावनायास्तथा³ प्रतिपादने ⁴नियमेन प्रवर्तते ।
⁵कथं चासौ कर्ता स्वव्यापारं प्रतीयन्नेव प्रवर्तते । ⁶अन्यथा स्वव्यापारे एव न
⁷चोदितो भवेत् ।

व्यापार में प्रवृत्त होता है । और नियोग तत् शेष होने से अप्रधान है अतः वह वेदवाक्य का अर्थ नहीं है । अर्थात् नियोग शब्द से शब्द भावना लेना वह शब्द भावना अर्थ भावना का विशेषण है वह अप्रधान होने से मुख्यतया वेदवाक्य का अर्थ नहीं हो सकती है । “इदं कुरु” इस प्रकार से भावना नियोग से विशिष्ट है ऐसा प्रतिपादन करने से नियम से प्रवृत्त होता है अर्थात् विशेषण विशेष्य भाव परस्पर में अविनाभावी हैं ।

यदि प्रेरित किया जाने पर भी प्रवृत्त नहीं होता है ऐसा मानों तो यह कर्ता अपने व्यापार का अनुभव करता हुआ ही कैसे प्रवृत्ति करेगा अन्यथा—यदि स्वव्यापार की प्रतीति न मानो तो अपने व्यापार में भी वह पुरुष प्रेरित नहीं हो सकेगा ।

भावार्थ—प्रभाकर नियोग को प्रत्यय (विभक्ति) के अर्थ रूप ही मानता है अतः “देवदत्त-यज्ञदत्तौ कटं कुरुतः” देवदत्त और यज्ञदत्त दोनों चटाई को बनाते हैं । इसमें कारक के भेद से प्रत्यय “कुरुतः” क्रिया में भेद हो गया है इसी प्रकार से “आस्यते” यह सत्ता रूप धात्वर्थ क्रिया है किसी ने कहा कि “देवदत्तजिनदत्तयज्ञदत्तैः आस्यते” देवदत्त, जिनदत्त और यज्ञदत्त के द्वारा बँठा जाता है ।

इस वाक्य में भी कारक तीन पुरुष हैं और बँठने रूप क्रिया का तीनों से सम्बन्ध है अतः यहाँ भी कारक के भेद से क्रिया के प्रत्यय में भेद होना चाहिये—एकवचन रूप क्रिया न होकर बहुवचन होना चाहिए क्योंकि यह बँठक रूप क्रिया भी तो पुरुष के द्वारा ही निष्पाद्य—करने योग्य है । हम योगाचार बौद्धों के यहाँ तो ये दोष नहीं आते हैं क्योंकि हम लोग विवक्षा के निमित्त से ही कारक के व्यापार रूप क्रिया में भेद और अभेद की कल्पना करते हैं । इस पर भाट्ट ने उत्तर दिया कि आप बौद्धों का कथन श्रेयस्कर नहीं है क्योंकि वास्तविक रूप से भेद और अभेद का व्यवहार नहीं है यदि मानोगे तब तो भेद और अभेद की विवक्षा से उस प्रकार का भेद-अभेद रूप व्यवहार भी सत्य ही मानना पड़ेगा । “पुनः करोति” क्रिया का अर्थ देवदत्तकर्त्तृक ही है, वही शब्द का व्यापार है, उसे ही तो हम शब्द भावना कहते हैं और कर्ता रूप पुरुष के व्यापार को अर्थ भावना कहते हैं क्योंकि पुरुष ही “अग्निष्टो-मेन यजेत् स्वर्गं कामः” ऐसे वाक्य से प्रेरित होता हुआ यज्ञ करने रूप अपने व्यापार में प्रवृत्ति करता है । अतः नियोग ही शब्द भावना है जो कि पुरुष के व्यापार रूप अर्थ भावना का विशेषण है अतः

1 मुख्यत्वेनेति शेषः । गुणवृत्त्या चेदस्ति तर्हि कथम् ? 2 स चोदितः कथं स्वव्यापारे प्रवर्तत इति । (व्या० प्र०)

3 इदं कुर्वति नियोगनिष्ठत्वेन । 5 विशेषणविशेष्यनान्तरीयकत्वादिति भावः । 4 प्रेर्यमाणोपि न प्रवर्तते चेत् ।

6 स्वव्यापाराप्रतीयमानत्वे । 7 पुरुषः ।

[वेदवाक्येन यज्ञकार्यं प्रवर्तमानः पुरुषः स्वर्गादि फलमपश्यन् कथं प्रवर्तते इति शंकायां भाट्टस्य प्रत्युत्तरं]

¹स्यान्मतम् ।—

व्यापार² एष मम ³किमवश्यमिति मन्यते । फलं विनैव नैवं⁴ चेत् सफलाधिगमः ⁵कुतः ॥इति ॥

⁶तदप्यसमीक्षिताभिधानम्—अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम इत्यादिवेदवाक्यसामर्थ्यादेव पुरुषेण ⁷तदा मम एष व्यापार इति प्रत्येतुं शक्यत्वात् । ममेदं⁸ कर्त्तव्यमिति फलमपश्यन् कथं ⁹प्रत्येतीति चेत् प्रत्यक्षतः¹⁰ कथं प्रत्येति ? ¹¹फलयोग्यतायाः प्रतीतेरिति चेद्वाक्यादपि ¹²तत एव तथा प्रत्येतु । ¹³फलस्यातीन्द्रियत्वात्कथं तद्योग्यता

शब्द भावना अप्रधान है अर्थ भावना प्रधान है इस प्रकार से हमने वेदवाक्य का अर्थ भावना किया है कि नियोग से विशिष्ट है और विशेषण विशेष्य भाव परस्पर में अविनाभावी हैं अतएव वेदवाक्य से प्रेरित होने पर पुरुष अपने यज्ञ रूप व्यापार में प्रवृत्ति करता है यह अर्थ हुआ ।

[वेदवाक्य से यज्ञकार्य में प्रवृत्त हुआ पुरुष स्वर्ग रूप फल को देखे बिना कैसे प्रवृत्त होगा ? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर]

बौद्ध—श्लोकार्थ—पुनः यह व्यापार मेरा अवश्य करणीय है इस प्रकार से ही कैसे मानता है अर्थात् वेद के द्वारा कहा गया यागादि लक्षण व्यापार अवश्य ही मेरा है यह बात पुरुष स्वर्गादि फल को देखे बिना जानता है या फल को देखकर के ? यदि वाक्य के उच्चारण काल में स्वर्गादि फल का अभाव है तो मेरा व्यापार है यह बात कैसे मानता है ?

यदि फल को देखे बिना नहीं मानता है तो ज्ञान और प्रवृत्ति की सफलता कैसे होगी ?

भाट्ट—यह आपका कथन भी अविचारित ही है । क्योंकि “अग्निष्टोमेन यजेत् स्वर्ग कामः” इत्यादि वेदवाक्य की सामर्थ्य से तो पुरुष के द्वारा उस वाक्य के उच्चारण काल में यह मेरा व्यापार है ऐसा निश्चय करना शक्य है ।

सौगत—यह मेरा कर्त्तव्य है इस प्रकार से फल को (स्वर्ग को) नहीं देखते हुए पुरुष कैसे निश्चय करेगा ?

भाट्ट—ऐसा कहो तो आप सौगत भी फल के बिना (स्नान पान आदि फल को देखे बिना) प्रत्यक्ष प्रमाण से यह “जल” है इस प्रकार से कैसे जानते हों क्योंकि स्नानादि फल तो वहां भी प्रत्यक्ष ज्ञान में देखा नहीं जाता है ।

1 सौगतस्य । 2 वेदेनोक्तो यागादिलक्षणो व्यापारोऽवश्यं ममेदं स्वर्गादिफलं विना पुरुषोऽजेति न वा । 3 वाक्योच्चारणकाले फलाभावश्चेन्ममैष व्यापारः कथं मन्यते । 4 फलं विनापि मन्यते चेत् । 5 प्राप्तिरवगतिश्च । 6 भाट्टः । 7 वाक्योच्चारणकाले । 8 सौगतः । 9 स्नानपानादिफलमपश्यन् । (व्या० प्र०) 10 भट्टो वदति । सौगतं फलं विना प्रत्यक्षप्रमाणादिदं जलमिति कथं जानाति स्नानादिफलमपश्यन् भवान् कथं प्रत्येति । 11 सौगतः । (स्नानपानादि) । 12 फलयोग्यतायाः प्रतीतेरेव । 13 फलस्य स्वर्गादिः ।

स्वव्यापारस्य ^१कर्त्रा प्रतीयते इति चेत् ^२प्रत्यक्षविषयस्य कथम् ? प्रतिपत्तुरभ्याससामर्थ्या-
त्प्रत्यक्षस्य ^३विषये फलयोग्यतानिश्चय इति चेत् ^४तत एव च ^५कर्तुः ^६स्वव्यापारे ^७तद्योग्यता-
निश्चयोस्तु—सर्वथा विशेषाभावात् ।

[बौद्धो भेदं काल्पनिकं वक्ति, किंतु भाट्टो वास्तविकं मन्यते]

^८यदप्यवादि प्रज्ञाकरेण

सौगत—फल की योग्यता अनुभव में आती है ।

भाट्ट—पुनः वेदवाक्य से भी उसी प्रकार से—फल की योग्यता के अनुभव से ज्ञान ही जावे क्या बाधा है ?

सौगत—स्वर्गादि फल तो अतीन्द्रिय हैं—इन्द्रियों से नहीं जाने जाते हैं अतः अपने यागादि लक्षण व्यापार की यह योग्यता है इस प्रकार से यज्ञकर्ता को कैसे अनुभव आयेगा ?

भाट्ट—प्रत्यक्ष के विषय की योग्यता का अनुभव कैसे आता है अर्थात् प्रत्यक्ष से जलादि को देख लेने पर तत्क्षण ही इस जल में स्नान पान आदि की योग्यता है सभी को ऐसा कैसे मालूम होता है ?

बौद्ध—जानने वाले के अभ्यास की सामर्थ्य से प्रत्यक्ष के विषय जलादि में फल-स्नान-पानादि की योग्यता का निश्चय हो जाता है ।

भाट्ट—उसी प्रकार से शान्तिक, पौष्टिक आचरण रूप फल के अभ्यास से यज्ञकर्ता को याग लक्षण अपने व्यापार में उस फल की योग्यता का निश्चय हो जावे, दोनों में कोई अन्तर नहीं है ।

भावार्थ—बौद्ध ने भाट्ट के सामने यह समस्या रखी है कि जिस समय “अग्निष्टोमेन यजेत” ऐसा वेदवाक्य सुना और उसका अर्थ यह समझा कि यज्ञ रूप कार्य मेरा अवश्य करणीय कर्तव्य है, क्या उस समय उस समझने वाले पुरुष को उस यज्ञ के फल स्वर्गादि दीखते हैं ? यदि नहीं दिखते हैं तो फल को देखे बिना, समझे बिना वह पुरुष यज्ञ को करने में प्रवृत्ति कैसे करेगा ?

और यदि करेगा तो भी उसकी यज्ञ क्रिया की सफलता भी कैसे मानी जावेगी ? इस पर भाट्ट ने बौद्धों को समझाया है कि भाई ! आप बौद्ध भी तो प्रत्यक्ष से जब जल को देखते ही तो क्या उस जल का स्नान पान आदि फल आपको दिख रहा है ? यदि फल के नहीं दीखने पर भी आप उस फल की योग्यता का अनुभव करके प्रत्यक्ष से हुए जल के ज्ञान को सत्य मानते हो और उसमें प्रवृत्ति करते-कराते हो तब तो हमारे वेद वाक्यों से भी यज्ञ कार्य में प्रवृत्ति मान लो क्योंकि उसका फल स्वर्ग है, इस प्रकार से फल की योग्यता वेदवाक्य के श्रवण के समय अनुभव में आ जाती है जैसे कि जल को प्रत्यक्ष से देखने से उस जल से प्यास बुझाना, स्नान करके स्वच्छ-शुद्ध होना आदि रूप फल

१ यज्ञकर्ता । २ (भाट्टः) तर्हि प्रत्यक्षस्य सलिलादेः पुरुषेण स्वव्यापारस्य स्नानपानादिक्रियायोग्यता कथं निश्चीयते ?
३ जलादी । ४ शान्तिकपौष्टिकाचरणफलाभ्यासात् । (ऐहिकामुत्रिकेपि) । ५ यज्ञकर्तुः । ६ यागलक्षणे । ७ फल-
योग्यतानिश्चयः । ८ भट्ट आह ।—यदपि वक्ष्यमाणमवादि प्रज्ञाकरेण । (तदपि न परीक्षाक्षममिति सम्बन्धः) ।

“यजते पचतीत्यत्र भावना^१ न प्रतीयते । ^२यज्याद्यर्थतिरेकेण^३ तस्या वाक्यार्थता कुतः ?
पाकं करोति यागं च यदि भेदः प्रतीयते । एवं सत्यनवस्था स्यादसमञ्जसताकरो”^४ ॥

^५करोति यागं स्वव्यापारं निष्पादयति यागनिष्पत्तिं निर्वर्तयति ^६व्यपदेशा एते
^७यथाकथञ्चित्पदपरिकल्पनपुरस्सराः^८ । ^९नैतेभ्योस्ति ^{१०}पदार्थतत्त्व^{११}व्यवस्थेति । शिलापुत्र-
^{१२}कस्य शरीरमिति भेदव्यवहारो भेदमन्तरेणापि दृश्यते ।

“यथा द्विजस्य व्यापारो याग इत्यभिधीयते । ततः ^{१३}परापुनर्दृष्टा करोतीति न हि क्रिया ॥
यजि क्रिया च ^{१४}द्रव्यस्य ^{१५}विशेषादपरा न हि^{१६} । ^{१७}सामानाधिकरण्येन देवदत्ततया गतेः ॥इति॥”
तदपि न परीक्षाक्षमम् ।

की योग्यता अनुभव में आ रही है । अतः पुरुष के द्वारा किया गया यज्ञ स्वर्गादि फल सहित है निष्फल नहीं है ।

[बौद्ध भेद को काल्पनिक सिद्ध करना चाहता है किन्तु भ्राट्ट भेद को वास्तविक मान रहा है]

प्रज्ञाकर बौद्ध—श्लोकार्थ—यजते, पचति इसमें भावना का अनुभव नहीं आता है क्योंकि यज्ञादि अर्थ के अतिरिक्त उस भावना की वाक्यार्थता कैसे होगी ? ॥१॥

श्लोकार्थ—यदि “पाकं करोति”, “यागं करोति” पकाता है, यज्ञ करता है ऐसा भेद प्रतीति में आता है ऐसा मानोगे तब तो असमंजसता को करने वाली अनवस्था आ जावेगी ॥२॥

याग को करता है, अपने यज्ञरूप व्यापार को निष्पन्न करता है, याग की निष्पत्ति को बनाता है ये शब्द यथाकथञ्चित्-प्रकृति प्रत्ययादि भेद बिना भी भेद की कल्पना पूर्वक होते हैं । इन व्यपदेशों से भी पदार्थ-तत्त्व की व्यवस्था नहीं हो सकती है क्योंकि शिला पुत्रक-केतु का यह शरीर है ऐसे भेद का व्यवहार बिना भेद के भी देखा जाता है ।

श्लोकार्थ—“जिस प्रकार से द्विज-ब्राह्मण का व्यापार याग—यज्ञ है ऐसा कहा जाता है पुनः उससे भिन्न करोति यह क्रिया नहीं देखी जाती है” ॥१॥

श्लोकार्थ—“यजि क्रिया—यज्ञ की क्रिया द्रव्य—पुरुष के विशेषण से भिन्न नहीं है क्योंकि

१ करोतीत्यर्थः । (व्या० प्र०) २ पचन । यज्ञाद्यर्थस्य इति वा पाठः क्वचित् लभ्यते । (व्या० प्र०) ३ अतिरेको नामाऽऽधिक्यम् । ४ वितथ । (व्या० प्र०) ५ कथमनवस्थेत्याशङ्क्याह । ६ शब्दाः । ७ प्रकृतिप्रत्ययादिभेदमन्तरेणापि । ८ वृत्तन्ते इति शेषः । ९ व्यपदेशेभ्यः । १० यदि यागं करोतीत्यत्र भावनात्पदार्थतत्त्वव्यवस्था तदा स्वव्यापारं निष्पादयतीत्यत्रापि भावनान्तराणां व्यवस्था भविष्यतीति भावः । (यजते यागं करोतीति भेदव्यवहारे सत्यपि तदभिधेयतत्त्व (भावनाख्य) स्य कथं भेदेऽनवस्था न स्यादित्याशङ्क्यायामाह) । ११ यजते यागं करोतीत्यत्रा-भेदेपि भेदस्त्वया दर्शितो यजनार्थस्त्वेक एवेत्यभेद दर्शयन्नाह । १२ केतोः । १३ यागात् । यागस्य व्यापाररूपत्वास्ततो भिन्ना करोतीति क्रिया न दृश्यते इति भावः । १४ पुरुषस्य । १५ विशेषणात् । १६ देवदत्त्वेन प्रापणात् । १७ केन कृत्वा प्रापणमित्याह सामानाधिकरण्येति ।

“यजतेपचतीत्यत्र भावनायाः^१ प्रतीतितः^२ । यजाद्यर्थातिरेकेण युक्ता वाक्यार्थता ततः ॥

पाकं करोति यागं चेत्येवं भेदेऽवभासिते । काऽनवस्था भवेतत्र तत्प्रतीत्यनुसारिणाम्^३ ॥

यजते यागं करोतीति हि यथा “प्रतिपत्तिस्तथा स्वव्यापारं निष्पादयतीत्यपि सैव प्रतिपत्तिः—स्वव्यापारशब्देन यागस्याभिधानात्—निष्पादयतीत्यनेन तु करोतीति प्रतीतेः । यागं करोति स्वव्यापारं निष्पादयतीति नार्थभेदः । यागनिष्पत्तिं निर्वर्तयतीत्यत्रापि यागनिष्पत्तिर्याग एव । निर्वर्तनं करणमेव । ततो यागं करोतीति प्रतीतं स्यात् । ततो नैते व्यपदेशा^४ यथाकथञ्चिद्भूदपरिकल्पनपुरस्सराः—प्रतीयमानकरोत्यर्थविषयत्वात् । यागं करोति विदधात्येवमादिव्यपदेशवत् । ततो युक्तैवैतेभ्यः^५ पदार्थतत्त्वव्यवस्था अनवस्थानवतारात्^६ ।

समानाधिकरण होने से देवदत्त रूप से ज्ञान होता है” ॥२॥ अर्थात् देवदत्त के द्वारा ही वह क्रिया प्राप्त की जाती है ।

भाट्ट—यह सब आप प्रज्ञाकर बौद्ध का कथन भी परीक्षा को सहन करने में समर्थ नहीं है क्योंकि—

श्लोकार्थ—“यजते, पचति” यहाँ पर भावना की प्रतीति होने से यज्ञादि अर्थ से अतिरिक्त—भिन्न वाक्यार्थता युक्त है ।

श्लोकार्थ—पाकं करोति, यागं च, इस प्रकार से भेद के अवभासित होने पर उस प्रतीति का अनुसरण—अनुभव करने वालों को अनवस्था कैसे आयेगी ? जिस प्रकार से “यजते पाकं करोति” यज्ञ करता है, पाक को करता है इत्यादि ज्ञान होता है उसी प्रकार से अपने व्यापार को निष्पादित करता है इस प्रकार से भी उसी का ज्ञान होता है, क्योंकि “स्व व्यापार” शब्द से यज्ञ का कथन किया जाता है और “निष्पादयति” इस शब्द से करोति इस क्रिया की प्रतीति होती है । यागं करोति, स्वव्यापारं निष्पादयति—यज्ञ को करता है, अपने व्यापार को निष्पादित करता है इसमें अर्थ भेद नहीं है ।

“यागनिष्पत्तिं निर्वर्तयति” इसमें भी याग निष्पत्ति का अर्थ याग ही है और निर्वर्तन का अर्थ करना ही है । इसलिए इसमें यागं करोति ऐसा ज्ञान होता है अतः इनमें एकार्थता होने से ये व्यपदेश-शब्द यथा कथञ्चित्—अर्थ भेद के बिना भेद की कल्पना पुरस्सर-पूर्वक होते हैं क्योंकि प्रतीति में आते हुए करोत्यर्थ के विषय हैं । जैसे यागं करोति, विदधाति, इत्यादि व्यपदेश-शब्द भेद के बिना ही होते हैं इसलिए “यागं करोति, स्वव्यापारं निष्पादयति, यागनिष्पत्तिं निर्वर्तयति” इन वचन व्यवहारों से पदार्थ-तत्त्व-भावनातत्त्व की वास्तविक व्यवस्था होती है । अनवस्था दोष नहीं आता है अर्थात् ये सभी वचन भेद, “करोति” क्रिया रूप अर्थ भावना की ही व्यवस्था करते हैं ।

१ करोति क्रियारूपायाः । (व्या० प्र०) २ प्रतीतिरस्ति यतः । (व्या० प्र०) ३ व्यपदेशानाम् । ४ प्रतीतिस्तथा इति पा० । (व्या० प्र०) ५ एकार्थता यतः । ६ अर्थं विना । ७ यागं करोति स्वव्यापारं निष्पादयति यागं निर्वर्तयतीत्येतेभ्यो वागव्यवहारेभ्यः (भाट्टः संविदद्वैतवादिनं प्रत्याह) । ८ एते व्यपदेशभेदाः सर्वेपि करोतिक्रियारूपार्थभावनामेव व्यवस्थापयन्ति—अर्थभेदेनाऽनवस्थाभावादिति भावः ।

[पुनरपि बौद्धो भेदकल्पनायामनवस्थां दर्शयति भाट्टश्च निराकरोति]

¹अथ यजते यागं करोति यागक्रियां करोतीत्येवमनवस्थोच्यते² ³तर्हि स्वरूपं⁴ संवेदयते स्वरूप-संवेदनं संवेदयते इत्यप्यनवस्था⁵ स्यात् । अथ स्वरूपं संवेदयते इत्यनेनैव स्वरूपसंवेदनप्रतिपत्तेः स्वरूपसंवेदनं संवेदयते इत्यादि निरर्थकत्वादयुक्तं ⁶तर्हि यागं करोतीत्यनेनैव ⁷यागावच्छिन्नक्रियाप्रतिपत्तेर्यागक्रियां करोतीत्यादिवचनमनर्थकमेव ⁸व्यवच्छेदाभावात्⁹ । यजते इत्यनेनैव यागावच्छिन्नक्रियाप्रतीतेर्यागं करोतीत्यपि वचनमनर्थकमिति चेत्सत्यं¹⁰ यदि तद्वचनादेव तथा प्रत्येति । यस्तु न प्रत्येति तं प्रति विशेषणविशेष्यभेदकथनपरत्वात् तथाभिधानस्य नानर्थक्यम् । शिलापुत्रकस्य¹¹ शरीरं राहोः शिर इत्यादिभेदव्यवहारा अपि न कथञ्चित् दूरेदमन्तरेण

[पुनरपि बौद्ध भेद कल्पना के मानने में अनवस्था दोष देता है, भाट्ट उसका परिहार करता है]

प्रज्ञाकर बौद्ध—“यजते, यागं करोति, यागक्रियां करोति”, इस प्रकार से अनवस्था दोष आता ही है ।

भाट्ट—तब तो आपके यहाँ “स्वरूपं संवेदयते”—स्वरूप का संवेदन करता है । स्वरूपसंवेदनं संवेदयते—स्वरूप संवेदन का संवेदन करता है । इस कथन में भी अनवस्था हो जावेगी । यदि आप कहें कि “स्वरूपं वेदयते” इस कथन से ही स्वरूप संवेदन का ज्ञान हो जाने से “स्वरूपसंवेदनं संवेदयते” इत्यादि वाक्य निरर्थक हैं अतः अयुक्त हैं । तब तो “यागं करोति” इस वाक्य से ही यागावच्छिन्न क्रिया—यज्ञ से सहित क्रिया का ज्ञान हो जाने से “यागक्रियां करोति” इत्यादि वचन अनर्थक ही हैं, क्योंकि परिहार करने योग्य का अभाव है ।

बौद्ध—पुनः “यजते” इस पद से ही यागावच्छिन्न—यज्ञ से सहित क्रिया की प्रतीति होने से “यागं करोति” यह वचन भी अनर्थक हो जावेगा ?

भाट्ट—आपका कहना सत्य है यदि उस ‘यजते’, वचन से ही वैसा ज्ञान हो जाता है तो वे ‘यागं करोति’ वचन व्यर्थ ही हैं किन्तु जो उतने मात्र से नहीं समझता है उसके लिए विशेषण, विशेष्य भेद को कहने वाले वाक्य प्रयुक्त किये जाते हैं इसलिए वैसा कथन अनर्थक नहीं है यह शिलापुत्रक का शरीर है, यह राहु का शिर है इत्यादि भेद व्यवहार भी कथञ्चित् भेद के बिना नहीं होते हैं अन्यथा इन्हें गौणपने का प्रसंग आ जावेगा । अर्थात् कथञ्चित् भेद के बिना भी यदि भेद व्यवहार प्रवृत्त होते हैं तब तो भेद व्यवहार गौण हो जावेंगे, किन्तु इनको औपचारिक—गौण तो माना नहीं है क्योंकि भेद वास्तविक है इसका आगे ही वर्णन किया है ।

1 प्रज्ञाकरः । 2 यदि त्वया सीगतेनेति शेषः । 3 भट्टः । 4 कर्त् । 5 सौगतस्येति शेषः । 6 भट्टः । 7 विशिष्ट । (व्या० प्र०) 8 परिहार्यं । 9 विशेषितुं योग्यस्य । (व्या० प्र०) 10 भट्टः । 11 केतोः ग्रहस्य । (व्या० प्र०)

प्रवर्तन्ते—¹गौणत्वप्रसङ्गात्² । शिलापुत्रकस्य, राहोरित्युच्यमाने हि किमिह³ सन्देहः । तद्व्यवच्छिन्नतये शरीरं, शिर इत्यभिधानमन्यस्य कार्यादिव्यवच्छेदकमुपपन्नम्⁴ । तस्मिंश्च⁵ सति कस्येति संशयः स्यात् । तद्व्यपोहनाय शिलापुत्रकस्य राहोरित्यभिधानं श्रेयः—अवस्थातद्वतोः⁶ कथञ्चिद्भेदात् । शरीरं हि शिलापुत्रकस्यावस्था ⁸अवयवोपचयलक्षणावस्थान्तर⁹व्यावृत्ता । शिलापुत्रकः पुनरवस्थाता¹⁰—¹¹खण्डाद्यवस्थान्तरेष्वपि प्रतीतेः । एतेन राहुरवस्थाता शिरोवस्थायाः ¹²ख्यातः¹³ ।

[अवस्थामन्तरेणावस्थावान् कश्चिन्नास्ति इति बौद्धेन मन्यमाने भाट्टः प्रत्युत्तरयति]

¹⁴सांवृतोऽवस्थाता—अवस्थाव्यतिरेकेणानुपलब्धेरिति चेन्न—¹⁵उभयासत्त्वात् । अवस्था-

शिलापुत्रक का, राहु का, इतना कहने पर 'क्या' इस प्रकार का सन्देह हो जाता है और उस सन्देह की व्यवच्छिन्ति-दूर करने के लिए शरीर, शिर, इस प्रकार का उत्तर रूप कथन होता है, अतः अन्य कार्यादि का व्यवच्छेदक होना सुघटित है अर्थात् अन्य योग का व्यवच्छेद न करने पर सन्देह बना ही रहता है और शरीर एवं शिर के कहने पर "किसके हैं" ऐसा संशय होता है । उस संशय को दूर करने के लिए शिलापुत्रक का, राहु का, ऐसा कथन करना भी श्रेयस्कर है क्योंकि अवस्था और अवस्थावान्—शरीर और शरीरवान् में कथञ्चित् भेद स्वीकार किया गया है । शरीरवान् तो एक जीव विशेष है और शरीर पुद्गल की पर्याय है, बहुत ही अंतर है । शरीर यह शिलापुत्रक की अवस्था है और वह अवयवों के उपचय-परिपूर्णता लक्षण वाला है एवं अवस्थांतर से व्यावृत्त है—ऊर्ध्वं स्थिति खण्ड आदि भिन्न-भिन्न अवस्था से रहित हैं किन्तु शिलापुत्रक स्थितिमान् है और खण्डादि अवस्थांतरों—भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में भी प्रतीत होता है ।

इसी कथन से राहु अवस्थावान् है शिर अवस्था है ऐसा कथन सिद्ध हो गया । अर्थात् राहु अवयवी है और शिर आदि उसके अवयव हैं ।

[अवस्था को छोड़कर अवस्थावान् कोई चीज नहीं है ऐसी बौद्ध की मान्यता पर भाट्ट के द्वारा समाधान]

बौद्ध—अवस्थावान्—स्थितिमान् काल्पनिक है क्योंकि अवस्था को छोड़कर उसकी उपलब्धि नहीं होती है ।

भाट्ट—ऐसा नहीं कहना, अन्यथा अवस्था और अवस्थावान् इन दोनों का ही अभाव हो

1 कथञ्चिद्भेदमन्तरेणापि भेदव्यवहाराः प्रवर्तन्ते चेत्तदा भेदव्यवहाराणां गौणत्वं स्यात् । 2 औपचारिकं चैतन्नष्टम्—तात्त्विकभेदस्यानन्तरं निरूपितत्वात् । 3 किमिति सन्देह इति पाठान्तरम् । 4 अन्ययोगव्यवच्छेदाभावे सन्देहव्यच्छिन्नं स्यात् । 5 शरीरे शिरसि चोच्यमाने सति । 6 शरीरशरीरवतोः । 7 अवस्थापेक्षया । 8 सर्वावयवसम्पूर्णता । 9 ऊर्ध्वस्थितिखण्डादि । 10 स्थितिमान् । 11 ऊर्ध्वस्थितिखण्डादि । 12 व्याख्यात इत्यपि पाठः । 13 व्याख्यातः इति पा० । (व्या० प्र०) 14 (बौद्धः) कल्पितः । 15 अवस्थावस्थावतोः ।

तुरसत्त्वे सांवृतत्वे वावस्थायाः सत्त्वाऽसांवृतत्वविरोधात्^१ खपुष्पसौरभवत् कृत्रिमफणिफटादि-
वच्च ।^२ ततो वस्तुस्वभावाश्रय^३ एव यागं करोतीति^४ व्यपदेशः—सत्यप्रतीतिकत्वात् ।
संविदमनुभवतीत्यादि व्यपदेशवत्^५ ।

तथा^६ द्विजस्य व्यापारो याग इत्यभिधीयते । ततः परा च निर्वाधा करोतीति क्रियेष्यते ॥
यजि क्रियापि^७ भावस्याऽ^८ विशेषादपरं^९ १० हि । ११ सामानाधिकरण्येन^{१२} देवदत्ततया^{१३} गतेः ॥

[करोतिक्रिया सामान्यं यज्यादिक्रिया विशेषाः तयोः सामान्यविशेषयोः भेदोऽस्ति इति भाट्टेनोच्यमाने बौद्धो
दोषानारोपयति]

द्विजो हि व्यापृतेतरावस्थानुयायी^{१४} १५ स^{१६} एवायमित्येकत्वप्रत्यवमर्षवशान्निश्चितात्मा^{१७}

जावेगा । अर्थात् स्थितिमान् का अभाव मान लेने पर अथवा उसे काल्पनिक मान लेने पर अवस्था का भी सत्त्व, वास्तविकत्व विरुद्ध हो जावेगा । जैसे आकाश पुष्प का अभाव कहने पर अथवा उसे काल्पनिक मान लेने पर उसकी सुगन्धि का सत्त्व और वास्तविकत्व विरुद्ध है मतलब न आकाश पुष्प ही है न सुगन्धि ही है । एवं कृत्रिम फणि के फटाटोप के समान व्यर्थ है । अर्थात् जैसे कागज या मिट्टी का बनाया हुआ सर्प फण को उठाकर डरा नहीं सकता है वैसे ही स्थितिमान् वस्तु को काल्पनिक कहने पर उसके अवयव आदि भी सिद्ध नहीं हो सकेंगे । इसलिए 'यागं करोति' यह व्यपदेश वस्तु स्वभाव का ही आश्रय लेने वाला है क्योंकि सत्य प्रतीति आ रही है अर्थात् यागकृति—यज्ञक्रिया लक्षण पदार्थ अपने स्वरूप के आश्रित ही है, भावना लक्षण जो वस्तु है वह स्वभावाश्रित ही है अर्थ शून्य नहीं है । जैसे "संविदं अनुभवति"—ज्ञान का अनुभव करता है इत्यादि कथन पाये जाते हैं । और दूसरी बात यह है कि—

श्लोकार्थ—द्विज—ब्राह्मण का व्यापार यज्ञ है ऐसा कहा जाता है । और उससे भिन्न बाधा-
रहित "करोति" यह क्रिया स्वीकर की गई है ।

श्लोकार्थ—यदि क्रिया भी द्विज लक्षण भाव (पुरुष) से अभेद रूप होने से भिन्न है अथवा यज्ञ क्रिया भी द्विज—पुरुष से भिन्न होने से भिन्न ही है । ऐसा भी अर्थ टिप्पणी के आधार से होता है क्योंकि देवदत्त के साथ ज्ञान का सामानाधिकरण है, सर्वथा ऐक्यरूप सामानाधिकरण नहीं है ॥

१ खपुष्पस्यासत्त्वे सांवृतत्वे च सौरभस्य सत्त्वमसांवृतत्वं च विरुद्धयते यथा । २ शिलापुत्रकस्य शरीरमित्यादि व्यवहारः कथञ्चिद्भेदमन्तरेण घटते यतः । ३ यागकृतिलक्षणः पदार्थ आत्मस्वरूपाश्रय एव । ४ भावनालक्षणं यद्वस्तु तत्स्वभावाश्रय इत्युक्तेऽर्थशून्यत्वं नेत्यर्थः । ५ कर्तृकर्मरूपमत्रवस्तु । यथा एकस्य संवेदनस्य कर्तृत्वं कर्मत्वं । (व्या० प्र०) ६ किञ्च । ७ भावस्य विशेषात् इति पा० । विशेषात्—भेदात् । (व्या० प्र०) ८ द्विजलक्षणस्य द्रव्यस्य । ९ अभेदात् । १० यजि क्रिया च द्रव्यस्य विशेषादपरा नहीति च पाठः । ११ सर्वथा ऐक्ये सामानाधि-
करण्यं नास्ति यतः । (व्या० प्र०) १२ सहार्थं तृतीया । १३ यो द्विजः पूर्वं यागं कुर्वन् स्थितः स एवायं यागमकृत्वा स्थित इति । (व्या० प्र०) १४ व्यापृतावस्थाव्यापी । (व्या० प्र०) १५ अव्यापृतावस्थाव्यापी । (व्या० प्र०) १६ प्रत्यभिज्ञान ।

परमार्थात्सन्नेकः^१ । यागस्तु तद्द्व्यापारः प्रागभूत्वा भवन् पुनरप^२गच्छन्ननित्यतामात्मसा-
त्कुर्वन् भेदप्रत्ययविषयस्ततोऽपर^३ एव—^४कथञ्चिद्विरुद्ध^५धर्माध्यासात्^६ । ^७तथा ^८यागेतर-
व्यापारव्यापिनी^९ करोतीति ^{१०}क्रियानुस्यूतप्रत्ययवेद्या ^{११}तद्विपरीतात्मनो यागादर्थान्तरभूता
सर्वथाप्यप्रतिक्षेपा^{१२}र्हानुभूयते—^{१३}यजते यागं करोति देवदत्त इति ^{१४}समानाधिकरणतया
देवदत्तेन^{१५}सहावगतेः । ^{१६}सर्वथा तदैक्ये तद्विरोधात् पटतत्स्वात्मवत् । ^{१७}किं करोति देवदत्तः ?

[करोति क्रिया सामान्य रूप है और यजनपचनादि क्रियायें विशेष रूप हैं । इनमें भेद हैं, ऐसा भाट्ट के कहने पर बौद्ध के द्वारा दोष आरोपित किये जाते हैं]

यहाँ द्विज, व्यापार और अव्यापार दोनों ही अवस्था का अनुयायी—“यह वही है” इस प्रकार से एकत्व के प्रत्ययमर्ष-प्रत्यभिज्ञान से निश्चित स्वरूप वाला है और वह द्विज परमार्थ से सत् रूप एक है अर्थात् जो ब्राह्मण पहले यज्ञ को करते हुए स्थित था यह वही यज्ञ को न करते हुए स्थित है ।” किन्तु याग उसका व्यापार है वह प्राग्—पहले नहीं होकर वर्तमान में होता हुआ पुनः नष्ट होता हुआ अनित्यपने को आत्मसात् करता हुआ भेद के ज्ञान का विषय है इसलिए उस द्विजपुरुष से वह याग लक्षण व्यापार भिन्न ही है क्योंकि कथञ्चित्—उत्पाद विनाश की अपेक्षा से विरुद्ध धर्माध्यास देखा जाता है ।

तथा द्विज से याग लक्षण भिन्न है एवं याग और पचन व्यापार में व्याप्त होकर रहने वाली “करोति” यह क्रिया अनुस्यूतप्रत्यय—अन्वय रूप ज्ञान से वेद्य है—यजन पचन आदि में करोति के अर्थ का सद्भाव होने से अनुगत प्रत्यय से जानी जाती है और करोति क्रिया से विपरीत स्वरूप याग से अर्थात्तरभूत-भिन्न सर्वथा भी निराकरण नहीं करने योग्य यह करोति क्रिया अनुभव में आती है । “यजते, यागं करोति देवदत्तः” इस प्रकार से देवदत्त के साथ याग का समानाधिकरण है । यदि सर्वथा इन दोनों में एकत्व मानोगे तो उसमें विरोध आ जावेगा क्योंकि जैसे वस्त्र और उसके स्वरूप में एकता है वैसे यहाँ नहीं है किसी ने कहा—किं करोति देवदत्तः ! इस प्रश्न के होने पर “यजते पचति” इस प्रकार से निश्चित हो जाने पर भी यज्यादिकों में संदेह देखा जाता है । तथाहि—

१ परमार्थः सन्नेकः इति पाठान्तरम् । २ नश्यत् । ३ द्विजात्तद्व्यापारो यागरूपो भिन्न एव । ४ उत्पादविनाशा-
पेक्षया । ५ द्विजात् । ६ अनित्यत्वलक्षण । ७ द्विजाद्यागलक्षणक्रिया भिन्ना यथा । ८ पचन । ९ अव्यापकव्यापक-
भेदाद् कथञ्चिद् भेदः । (व्या० प्र०) १० यजनपचनादी करोत्यर्थसद्भावेनानुगतप्रत्ययवेद्या । ११ करोत्यर्थविप-
रीतात्मकाद्यजनाद् करोतीति क्रियार्थान्तरभूतास्ति । १२ अनिराकरणीया । १३ यागस्तु तद्द्व्यापारस्ततो देवदत्तादपर
एवेति करोतीति क्रिया यागादर्थान्तरभूतेत्यनन्तरोक्तसाध्यद्वये यथाक्रमं यजते यागं करोति देवदत्तः यजतिपचतीत्या-
दिना च साधनद्वयमुपदर्शयन् यजते इत्याह । १४ देवदत्तस्य करोतेश्च समानाधिकरणता । १५ यागस्य । १६ भो
बौद्ध । तयोः करोतीति क्रियायामयोः देवदत्तेन सह सर्वथैकत्वे तत्समानाधिकरण्यं विरुद्धं येन यथा पटपटस्वरूपयोः
सर्वथैक्ये सामानाधिकरण्यं विरुद्धं येन (न तु कथञ्चिदैक्ये) । १७ यागादन्या क्रियेति साधनद्वयेण स्थापयति ।

यजति पचतीति प्रश्नोत्तरदर्शनात् करोतीति निश्चितेपि यज्यादिषु ¹सन्देहाच्च । तथा हि ।—²यस्मिन्निश्चीयमानेपि यन्न निश्चीयते तत्ततः कथञ्चिदन्यत् । यथान्यदेहे निश्चीयमानेप्यनिश्चीयमाना बुद्धिः । करोतीति निश्चीयमानेप्यनिश्चीयमानश्च यज्यादिरिति । ³स्यान्मतम् ।—

करोत्यर्थयज्याद्यथौ⁴ विभिन्नौ यदि तत्त्वतः । अन्यत्सन्दिग्धमन्यस्य ⁵कथने दुर्घटः⁶ क्रमः⁷ ॥

न हि करोतीति क्रियातो विभिन्नायां यज्यादिक्रियायां सन्देहे ⁸ततोन्वयं करोत्यर्थं निश्चिते प्रश्नः श्रेयान्—⁹अनिश्चिते एव प्रश्नस्य साधीयस्त्वात् । ततः करोत्यर्थयज्याद्य-

जिसके निश्चित हो जाने पर भी जो निश्चित नहीं किया जाता है वह उससे कथञ्चित् भिन्न है, जैसे अन्य का शरीर निश्चित हो जाने पर भी उसकी बुद्धि निश्चित नहीं है । “करोति” इस क्रिया के निश्चित हो जाने पर भी यज्यादिक निश्चित नहीं होते हैं इसलिए करोति क्रिया से यजनादिक क्रियायें भिन्न ही हैं ।

बौद्ध—श्लोकार्थ—“करोति” क्रिया का अर्थ और यजनादि क्रिया का अर्थ ये दोनों यदि वास्तव में भिन्न-भिन्न हैं तब तो एक के संदिग्ध होने से दूसरे का कथन करने में क्रम दुर्घट हो जावेगा ॥

करोति इस क्रिया से भिन्न यज्यादि क्रिया से अन्यत्र—करोति अर्थ के निश्चित हो जाने पर प्रश्न श्रेयस्कर नहीं है क्योंकि सामान्य की अपेक्षा से अनिश्चित में ही प्रश्न करना श्रेयस्कर है । इसलिए करोति क्रिया के अर्थ में और यज्यादि क्रिया के अर्थ में तादात्म्य ही मानना चाहिए । वहीं पर प्रश्नोत्तर देखे जाते हैं करोति अर्थ और यज्यादि अर्थ यदि वास्तव में सामान्य-विशेष होने से भिन्न हैं तब तो जब यज्यादि अर्थ संदिग्ध होगा तब करोति क्रिया के अर्थ का कथन करने में यह क्रम नहीं बन सकेगा । एवं किसी ने प्रश्न किया कि गौ कैसी है ? उत्तर मिला कि सफेद है । इस उदाहरण ऐसा समझना कि तादात्म्य में ही प्रश्नोत्तर देखे जाते हैं ।

[जैनमत का आश्रय लेकर भाट्ट उत्तर देता है]

भाट्ट—आपका यह कथन भी सुघटित नहीं है क्योंकि करोति क्रिया का अर्थ सामान्य रूप है और यज्यादि उसके विशेष रूप हैं तथा सामान्य और विशेष में कथञ्चित्—सामान्य की अपेक्षा से अभेद स्वीकार किया गया है ।

- 1 समानाधिकरणताविरोधः । 2 यज्यादिः करोत्यर्थद्विभिन्नः—तस्मिन्निश्चीयमानेपि तस्याऽनिश्चीयमानत्वात्
3 बौद्ध आह । करोत्यर्थयज्याद्यथौ सामान्यविशेषौ तत्त्वस्वरूपेण यदि भिन्नौ तदान्यो यज्याद्यर्थःसन्दिग्धः अन्यस्य करोत्यर्थस्य कथने प्रश्नोत्तरे तदायं क्रमो दुर्घटः । 4 करोत्यर्थयज्यतयथौ इति पा० । (व्या० प्र०) 5 प्रश्ने । (व्या० प्र०)
6 अन्यथा देवदत्ते निश्चिते यज्ञदत्ते संदेहापत्तिः । (व्या० प्र०) 7 प्रश्नोत्तरक्रमः । (व्या० प्र०) 8 यज्यादिक्रियातः ।
9 सामान्यापेक्षयाऽनिश्चितेर्थे ।

र्थयोस्तादात्म्यमेषितव्यम्—¹तत्रैव प्रश्नोत्तरदर्शनादिति । ²तदेतदनुपपन्नम्—करोत्यर्थस्य सामान्यरूपत्वात्—तद्विशेषरूपत्वाच्च यज्यादेः । सामान्यविशेषयोश्च ³कथञ्चिदभेदोपगमात् । ⁴सन्दिग्धस्यैव ⁵कथनात् । प्रश्नोत्तरक्रमस्य दुर्घटत्वाघटनात्⁶ । ⁷तदभेदैकान्ते एव तस्य दुर्घटत्वात् । स्यादाकृतं ते⁸ ।—

⁹न सामान्यं विशेषेण विना ¹⁰किञ्चित्प्रतीयते¹¹ । सामान्याक्षिप्य¹²माणस्य¹³न हि¹⁴नामाऽप्रतीतता ॥

¹⁵केवलसामान्यप्रतीतौ हि विशेषांशे सन्देह¹⁶इत्युक्तम्—¹⁷तस्याऽप्रतीतत्वात् । ¹⁸घटप्रतीतौ हिमवदादिवत्¹⁹ । ²⁰अथ ²¹सामान्येन विशेष²² आक्षिप्यते । तथा ²³सति सोपि

सन्दिग्ध—यज्यादि अर्थ में ही प्रश्न देखे जाते हैं । अतः प्रश्नोत्तर का क्रम दुर्घट नहीं होता है । अर्थात् सामान्य विशेष में कथञ्चित् सामान्य की अपेक्षा से अभेद के स्वीकार करने से एकतर-दो में से एक रूप के सन्दिग्ध का कथन होने से प्रश्नोत्तर का क्रम बन जाता है उन सामान्य विशेष में सर्वथा-एकांत से अभेद स्वीकार करने पर ही वह क्रम दुर्घट है ।

बौद्ध (प्रज्ञाकर)—श्लोकार्थ—“विशेष के विना सामान्य कुछ भी प्रतीति में नहीं आता है विशेष युक्त ही प्रतीति में आता है । एवं जो सामान्य से स्वीकृत की गई है उसकी निश्चय से अप्रतीति नहीं होती है ।” केवल सामान्य की प्रतीति के हो जाने पर विशेषांश में संदेह होता है आप भाट्ट के यहाँ जो ऐसा कथन है वह अयुक्त है क्योंकि वह विशेष प्रतीति नहीं होता है जैसे घट की प्रतीति में हिमवन् आदि प्रतीत नहीं होते हैं ।

भाट्ट—सामान्य (करोति) अर्थ से विशेष (यज्यादि) अर्थ ग्रहण किये जाते हैं । उस सामान्य के प्रतीत होने पर वह विशेष भी प्रतीत होता ही है अतः संशय कैसे हो सकेगा ? क्योंकि प्रतीत को छोड़ कर और अन्य कोई स्वीकृति है ही क्या ?

वह सामान्य—करोति अर्थ से प्रतीत ही है किन्तु विशेष—यज्यादि अर्थ रूप से नहीं है क्योंकि वह विशेष सामान्य रूप से ही जान लिया जाता है ।

बौद्ध—वह सामान्य ही आक्षेपक—ज्ञापक—बतलाने वाला हो और वही आक्षेप्य—ज्ञाप्य—

1 गीः कीदृशीति प्रश्ने ध्रुवलेति उत्तरमुदाहरणं । (व्या० प्र०) 2 आह भट्टः ।—सामान्यविशेषयोर्वस्तुस्वरूपयोः सर्वैक्यमित्येतद्वचो बौद्धस्य प्रमाणविरुद्धम् । 3 सामान्यापेक्षया । (व्या० प्र०) 4 यज्याद्यर्थस्य । 5 प्रश्नात् । 6 सामान्यविशेषयोः कथञ्चित्सामान्यापेक्षया अभेदोपगमादेकतरस्य सन्दिग्धस्य कथनात् प्रश्नोत्तरक्रमो घटते । 7 तयोः सामान्यविशेषयोः सर्वथाऽभेदे सत्येव तस्य प्रश्नोत्तरक्रमस्य दुर्घटत्वं स्यात् । 8 प्रज्ञाकरस्य । 9 भट्टेन यदि सामान्यविशेषयोः कथञ्चिदभेदोभ्युपगम्यते तदा न सामान्यमित्यादि । 10 ततः कथं विशेषे संदेहः । (व्या० प्र०) 11 विशेषयुक्तमेव प्रतीयते इत्यर्थः । 12 सामान्येन स्वीक्रियमाणस्य (ज्ञाप्यमानस्य) । 13 विशेषस्य प्रतीतस्य । (व्या० प्र०) 14 निश्चयेन । 15 कारिकायाः पूर्वाशस्य सुगमत्वादुत्तरार्द्धं व्याचष्टे । 16 भट्टवचनम् । 17 विशेषस्य । 18 सामान्यविशेषयोः सर्वथा भेदविवक्षायां वक्ति । (व्या० प्र०) 19 संदेहः स्यान्न च तथा । (व्या० प्र०) 20 भट्टः । 21 करोत्यर्थेन । 22 यज्याद्यर्थः । 23 (बौद्धः) सामान्ये प्रतीते सति ।

प्रतीत एवेति कथं संशयः ? न हि प्रतीतत्वादपर^१ आक्षेपः । अथ प्रतीत एवासौ^२ सामान्येन न तु^३ विशेषेण—तस्य सामान्यरूपेणाक्षेपात्^४ ।^५ ननु तदेव सामान्यमाक्षेपकं^६ तदेवाक्षेप्यमिति कथमेतत् ? न च सामान्यादपरं सामान्यमाक्षेप्यम् ।^७ तथा सति ततोप्यपरं ततोप्यपरमित्यनवस्था^८ ।^९ ननु सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषा^{१०} प्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च संशयो युक्तः^{११} एव, न^{१२} त्वनुपलम्भादभाव^{१३} एव^{१४} युक्तः^{१५} सामान्येनानुपलम्भप्रमाणवादिनः^{१६} ।^{१७} अथोपलब्धिलक्षणप्राप्तानुपलम्भादभावे^{१८} नानुपलब्धिमात्रात्^{१९} तथा^{२०} नुपलब्धेरेव^{२१} संशयः^{२२} व्यर्थमेतत्सामान्यप्रत्यक्षादिति । यदि सामान्यप्रत्यक्षतायामप्युपलब्धि^{२३} लक्षणप्राप्तानुपलब्धिर्न^{२४} स्यात्^{२५} ।^{२६} स्यात्संशयः^{२७} ।^{२८} अथोपलब्धिलक्षणप्राप्तानुपलब्धिरेव न सम्भवति सामान्यप्रत्यक्षतायाम् ।

बतलाने योग्य हो यह कैसे हो सकेगा ? एवं सामान्य से भिन्न कोई सामान्य आक्षेप्य है नहीं । यदि अपर सामान्य मानोगे तो उससे भी भिन्न अपर सामान्य पुनः उससे भी भिन्न अपर सामान्य इत्यादि रूप से अनवस्था आ जावेगी ।

भाट्ट—सामान्य का प्रत्यक्ष होने से तथा विशेष का प्रत्यक्ष न होने से एवं विशेष की स्मृति के होने से संशय होना युक्त ही है किन्तु अनुपलम्भ होने से अभाव ही है ऐसा कहना युक्त नहीं है क्योंकि हम भाट्ट सामान्य अनुपलम्भ प्रमाणवादी हैं । अर्थात् दृश्यानुपलम्भ और अदृश्यानुपलम्भ के विभाग बिना अनुपलम्भमात्र से अभाव कहना ठीक नहीं है ।

उपलब्धि लक्षण प्राप्त वस्तु का अनुपलब्धि से अभाव होता है अनुपलब्धिमात्र से नहीं ।

प्रज्ञाकर—उस प्रकार से अनुपलब्धि से अभाव होता है इसलिए “सामान्यप्रत्यक्षात्” यह कथन व्यर्थ है । यदि सामान्य की प्रत्यक्षता हो जाने पर उपलब्धि लक्षण प्राप्त अनुपलब्धि नहीं होवे तब तो संशय हो सकता है ।

भाट्ट—सामान्य की प्रत्यक्षता में तो उपलब्धि लक्षण प्राप्त अनुपलब्धि ही संभव नहीं है ।

१ स्वीकारः । २ करोत्यर्थेन । ३ यज्याद्यर्थेन । ४ परिज्ञानात् । ५ बौद्धः । ६ ज्ञापकम् । ७ अपरस्मिन् सामान्ये सति । ८ विशेषं विना सामान्यं न प्रतीयते सामान्ये विशेषस्याक्षेपात् तर्हि विशेषः प्रतीयते एवेत्यादि ग्रंथपरावर्तः । (व्या० प्र०) ९ भाट्टः । १० अदर्शनात् । (व्या० प्र०) ११ दृश्यमानानुपलम्भाद्दृश्यमानानुपलम्भविकल्पद्वयं परिहृत्य सामान्यमेवानुपलम्भप्रमाणं यो वदति तस्यानुपलम्भादभाव एव घटते, न तु संशयः । १२ न्वनुपलम्भात् इति पा० । प्रज्ञाकरः । (व्या० प्र०) १३ विशेषस्य । (व्या० प्र०) १४ न तु संशयः । (व्या० प्र०) १५ दृश्यादृश्यानुपलम्भविभागं विना । (व्या० प्र०) १६ भाट्टस्य । १७ भाट्टः प्राह । १८ अभावो इति पा० । (व्या० प्र०) १९ तथा सत्यप्यनुपलब्धेरेव इति पा० । (व्या० प्र०) २० उत्तरमाह प्रज्ञाकरः । २१ अनुपलब्धिमात्रादेव । २२ यतस्ततः । २३ यज्यादि । २४ किन्त्वनुपलब्धिमात्रं स्यात् । २५ तर्हि । २६ नास्ति च तथा ततश्च भाव एवेति भावः । २७ तथाऽनुपलब्धिलक्षणरूपायाः पिशाचादीनामनुपलब्धेः संशयो युक्तः । २८ भाट्टः ।

एवं^१ तर्हि सैवानुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धिः संशयहेतुरिति प्राप्तं; विशेषस्मृतेरिति च^२ व्यर्थम् । न हि विशेषस्मृतिव्यतिरेकेणापरः संशयः—^३उभयांशावलम्बिस्मृतिरूपत्वात्संशयस्य । दृश्यते च कान्यकुब्जादिषु^४ सामान्यप्रत्यक्षतामन्तरेणापि^५ प्रथमतरमेव स्मरणात् संशयः । ^६तस्मात्करोतीति^७ तदेव ^८यज्यादिकमनियमेन प्रतीयमानं ^९सामान्यतो ^{१०}दृष्टानुमानात्सामान्यम् ।

[बौद्धेनारोपितसंशयदोषो भाट्टेन निराक्रियते]

तदेतदपि प्रज्ञापराधविजृम्भितं प्रज्ञाकरस्य—करोत्यर्थसामान्यस्याध्यवसाये^{११} यज्याद्य-
र्विशेषानवगतावेव ^{१२}तत्संशयोपगमात् । न च सामान्येध्यवसिते ततोऽन्यत्र—विशेषेनध्यवसिते^{१३}

बौद्ध—यदि ऐसा है तो वही अनुपलब्धि लक्षण प्राप्त अनुपलब्धि संशय का हेतु है यह बात सिद्ध हो गई है पुनः “विशेष की स्मृति होने से” यह कथन व्यर्थ ही है ।

विशेष स्मृति को छोड़कर संशय नाम की और कोई चीज ही नहीं है । क्योंकि संशय तो “यजति, पचति” उभय अंश का अवलंबन करने वाली जो स्मृति है उस रूप है । कान्यकुब्जादि ब्राह्मणों में सामान्य प्रत्यक्षता के बिना भी प्रथमतर के स्मरण से ही संशय होता है । इसलिए करोति इस प्रकार का कथन है वही यज्यादि विशेष रूप है और अनियम से—बिना नियम के प्रतीत होता हुआ सामान्य (एक रूप से) दृष्टानुमान से सामान्य है ।

[बौद्ध के द्वारा आरोपित संशय दोष का भाट्ट के द्वारा निराकरण किया जाता है ।]

भाट्ट—यह सब आप प्रज्ञाकर का कथन भी प्रज्ञा के अपराध से विजृम्भित ही है । क्योंकि करोति क्रिया के अर्थ सामान्य का निश्चय हो जाने पर एवं यज्यादि अर्थ विशेष का ज्ञान न होने पर ही विशेष में संशय घटित होता है । सामान्य के निश्चित होने पर और उससे अन्यत्र विशेष का निश्चय न होने पर संशय होता है ऐसा मानने से तो अतिप्रसंग दोष आ जावेगा क्योंकि सामान्य और विशेष में कथंचित् अभेद स्वीकार किया गया है । किन्तु हिमवन पर्वत एवं घटादिकों में तो परस्पर अत्यंत भेद देखा जाता है ।

१ पूर्वोक्तानुपलब्धिमात्ररूपा । (व्या० प्र०) २ तर्हि व्यर्थं भवतु का नो हानिरित्युक्ते आह । ३ यजतिपचति । ४ नागरेषु कान्यकुब्जादिषु इति खपाठः । ५ सामान्ये संशयस्यान्वयतिरेकी न स्तः । अनुपलब्धिमात्रे स्तः । ततश्च सामान्यप्रत्यक्षादिति विशेषणं व्यर्थम् । ६ संशयो न घटते यतः । ७ उल्लेखनम् । ८ विशेषरूपं न तु करोतीति क्रियारूपम् । ९ एकत्वेन । १० दृष्ट इति भावप्रधानोऽर्थो निर्देशः । ततश्च सामान्यतो दृष्टात् सामान्यरूपेण दृश्यमानत्वाल्लिङ्गाज्जातमनुमानं तस्माद्यज्यादिकं सामान्यम्—तथैव दृश्यमानत्वात् । यद्यथा दृश्यते तत्तथैव भवति यथा नीलं नीलतया । इत्यनुमानम् । (भाट्टः) यज्यादिकं सामान्यं न भवति—तद्व्यतिरिक्तकरोतिसामान्यासम्भवात् । सत्त्वसामान्यासम्भवे घटादिवत् । इत्युक्ते सौगतः प्राह ।—यज्यादिकं स्वव्यतिरिक्तकरोतिसामान्यासम्भवेऽपि सामान्यं भवति परापरसामान्येषु सामान्यान्तराऽभावैः सामान्यं सामान्यमिति प्रतीतिलक्षणानुमानसद्भावादिति भावः । ११ निश्चये । १२ विशेषे संशयो घटते । १३ विशेषेऽनवसिते इति वा क्वचित् पाठः । (व्या० प्र०)

संशीतावतिप्रसङ्गः—सामान्यविशेषयोः ¹कथञ्चिदभेदात् ।—हिमवद्घटादीनां तु परस्परम-
त्यन्तभेदात् । ²एकत्र निश्चयेपि ³नानवगततदन्यतमे⁴ संशीतिर्यतोतिप्रसङ्गः स्यात् । नापि
सामान्येनाक्षिप्ते⁵ ⁶तद्विशेषसंशयो⁷पगमोस्ति⁸ ⁹यतस्तदाक्षेपपक्षनिक्षिप्तदोषो¹⁰पक्षेपः¹¹ । न
¹²चैवमनभिमततद्विशेषेष्वविशेषेण संशयानुषङ्गी—स्मरणविषये एव विशेषेनेकत्र¹³ ¹⁴संशय-
प्रतीतेः ।

[संशयलक्षणस्य विचारः]

सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च संशय इति वचनात् । सामान्ये ह्युपलभ्य-
माने ¹⁵तदविनाभाविनो विशेषस्यानुपलम्भेपि नाभावः सिद्धयति—तदभावे तस्याप्यभावप्रस-
ङ्गात्¹⁶ । तदुक्तम् ।—

एकत्र—घट का निश्चय होने पर भी हिमवन् पर्वत आदि के नहीं जानने पर संशय नहीं हो सकता है कि जिससे अति प्रसंग दोष आ सके अर्थात् नहीं आ सकता है । एवं सामान्य से स्वीकृत में उस विशेष का संशय भी नहीं है, कि जिससे उस आक्षेप पक्ष में निक्षिप्त दोषों का प्रसंग हो सके अर्थात् नहीं हो सकता है । मतलब हमारे स्वीकार किये गये पक्ष में दिये गये दोषों का प्रसंग नहीं हो सकता है और इस प्रकार से अनभिमत उन विशेषों में सामान्य रूप से संशय का प्रसंग नहीं है क्योंकि स्मरण के विषयभूत अनेक विशेष में ही संशय होता है । अर्थात् विवक्षित वस्तु में सामान्य के साथ अविनाभावी बहुत से विशेषों के होने पर एक स्मरण के विषयभूत विशेष में संशय घटित होता है अनभिमत अविवक्षित वस्तु के उन विशेषों में संशय नहीं होता है ।

[संशय के लक्षण का विचार]

क्योंकि “सामान्य का प्रत्यक्ष होने से और विशेष का प्रत्यक्ष न होने से एवं विशेष की स्मृति के होने से संशय होता है” ऐसा हमने कहा है । सामान्य के उपलभ्यमान होने पर उस सामान्य से अविनाभावी विशेष की अनुपलब्धि में भी अभाव सिद्ध नहीं होता है क्योंकि उस विशेष के अभाव में तो सामान्य के भी अभाव का प्रसंग आ जावेगा । कहा भी है—

श्लोकार्थ—निविशेष सामान्य खरगोश की सींग के समान है और सामान्य रहित विशेष भी उसी प्रकार से—शश विषाण के समान ही है । इस प्रकार से विशेष में अदृश्यानुपलब्धि के होने ही

1 क्रियान्वयलक्षणसामान्यरूपेण । 2 घटे । 3 हिमवदादी । 4 तदन्यतमसंशीतिः इति पा० । (व्या० प्र०) 5 ज्ञाते । (व्या० प्र०) 6 तद्विशेषे इति पा० । (व्या० प्र०) 7 सामान्यरूप । विशेषमात्रे इत्यर्थः । (व्या० प्र०) 8 कथञ्चिद-
भिन्ने । (व्या० प्र०) 9 भासः विशेषस्य । (व्या० प्र०) 10 अनवस्थादि प्राप्तिः । (व्या० प्र०) 11 अपि तु न ।
12 सामान्येनाक्षिप्ते तद्विशेषे संशयानुपगमप्रकारेण । विवक्षितविशेषप्रकारेण । अविवक्षितं । (व्या० प्र०)
13 विशेषे अनेकत्र । (व्या० प्र०) 14 विवक्षितवस्तुसामान्याविनाभावविशेषेषु बहुषु सत्स्वेकस्मिन् स्मरणगोचरे
विशेषे संशयो घटते । अनभिमतस्याविवक्षितस्य वस्तुनस्तेषु विशेषे संशयो नास्ति । 15 सामान्य । 16 विशेषाभावे
सामान्यस्याप्यभावप्रसङ्गात् ।

निर्विशेषं हि सामान्यं भवेच्छशविषाणवत् । सामान्यरहितत्वाच्च विशेषस्तद्वदेव हि ॥

¹न ²चैवं विशेषेऽदृश्यानुपलब्धेरेव संशयः—स्मृतिनिरपेक्षत्वप्रसङ्गात् । विशेषस्मृतिरेव संशय इति चेन्न—साध्यसाधनव्याप्तिस्मृतेरपि संशयत्वप्रसङ्गात् । सर्वसाधनानां ³संशयित-साध्यव्याप्तिकत्वापत्तेस्तस्मृतेरचलितत्वात् संशयत्वमिति चेत्तर्हि चलिता⁴ ⁵प्रतीतिः संशयः । सा⁶चोभयविशेषस्मृत्युत्तरकालभाविनी—⁷तदन्वयव्यतिरेकानुविधानात् । न ⁸पुनर्विशेषस्मृति-

संशय है ऐसा भी नहीं कहना, अन्यथा—वह स्मृति से निरपेक्ष हो जावेगा ।

विशेषार्थं—यहाँ पर भाट्ट ने संशय का लक्षण किया है कि “सामान्य धर्म का प्रत्यक्ष होने से, और विशेष धर्म के प्रत्यक्ष न होने से एवं विशेष की स्मृति होने से संशय होता है।” एवं जैनाचार्यों के संशय का लक्षण इस प्रकार है “विरुद्धानेककोटिस्पर्शि ज्ञानं संशयः” यथा स्थाणुर्वा पुरुषोवेति । स्थाणु-पुरुषसाधारणोर्ध्वतादिधर्मदंशानात्तद्विशेषस्य वक्रकोटरशिरःपाण्यादेः साधकप्रमाणाभावात्नेककोटिचलन-बित्वं ज्ञानस्य । अर्थात् विरुद्ध “अनेक पक्षों के अवलंबन करने वाले ज्ञान को संशय कहते हैं” । जैसे—यह स्थाणु (ठूठ) है या पुरुष ? यहाँ स्थाणुत्व और स्थाणुत्वाभाव पुरुषत्व और पुरुषत्वाभाव इन चार अथवा स्थाणुत्व और पुरुषत्व इन दो पक्षों का अवगाहन होता है । प्रायः संध्या आदि के समय मंद प्रकाश होने के कारण दूर से मात्र स्थाणु और पुरुष दोनों में सामान्य रूप से रहने वाले ऊंचाई आदि साधारण धर्मों के देखने से और स्थाणुगत टेढ़ापन, कोटरत्व आदि तथा पुरुषगत शिर पैर आदि विशेष धर्मों के साधक प्रमाणों का अभाव होने से नाना कोटियों का अवलंबन करने वाला यह संशय ज्ञान होता है । मतलब चलायमान ज्ञान को संशय कहते हैं, यह ऐसा है या ऐसा ? इत्यादि । यहाँ पर भाट्ट द्वारा मान्य लक्षण भी प्रायः मिलता जुलता है । इस पर बौद्ध की अनेक कल्पनायें हैं “विशेष की अदृश्यानुपलब्धिरूप अभाव से संशय होता है” या विशेष की स्मृति से संशय होता है इत्यादि मान्यतायें ठीक नहीं हैं ।

शंका—विशेष की स्मृति होनी ही संशय है ।

भाट्ट—ऐसा भी नहीं कहना । अन्यथा साध्य साधन की व्याप्ति का स्मरण भी संशय हो जावेगा । पुनः सभी हेतुओं को संशयित साध्य से व्याप्त मानना होगा । यदि आप कहें कि उन हेतुओं की स्मृति अचलित है अतः उनसे संशय नहीं होता है तब तो चलित प्रतीति ही संशय है यह बात सिद्ध हो गई । और वह चलित प्रतीति उभय (यजन और पचन रूप उभय) विशेष स्मृति के उत्तर काल में

1 (भट्टः) विशेषाणामनुपलम्भादभावासिद्धप्रकारेण । 2 एवं विशेषे सामान्याविनाभाविनि सति अदृश्यानुपलब्धेः सकाशात्संशयो न भवति किन्तु दृश्यानुपलब्धेरेव संशयः । अदृश्यानुपलब्धौ स्मृतेरनिरपेक्षत्वं भवति किन्तु दृश्यानुपलब्धौ सापेक्षा स्मृतिः । 3 संशयिता संशयप्राप्ता साध्ये व्याप्तिर्येषां तानि संशयितसाध्यव्याप्तिकानि तेषां भाव इत्यादि । 4 अनिश्चिता । 5 प्रतिपत्तिरिति पाठान्तरम् । 6 यजनपचनयोः । (व्या० प्र०) 7 संशयस्य । 8 तर्हि चलिता प्रपिपत्तिः संशयो न पुनर्विशेषे स्मृतिरेवेति संबंधो दृष्टव्यः । (व्या० प्र०)

रेव^१ सामान्योपलब्धिवत् । तदुभयांशावलम्बिनी स्मृतिः संशीतिरित्यपि ^२फलुप्रायम्—
^३तदविचलनेपि संशीति प्रसङ्गात् । ^४सामान्याप्रत्यक्षतायामपि कन्याकुब्जादिषु प्रमथतरमेव
^५स्मरणात् संशयदर्शनात् सामान्योपलम्भः संशयहेतुरिति चेन्न—असिद्धत्वात् । तत्रापि हि
^६प्रासादादिसन्निवेशविशेषविषयः^७ संशयः कन्याकुब्जनगरसामान्योपलम्भन ^८पुरस्सर एव—
^९सर्वथानुपलम्भे संशयविरोधात् सर्वथोपलम्भवत्^{१०} । योपि ^{११}तद्भावाभावविषयः^{१२}संशयः
सोपि नगरादिसामान्योपलम्भपूर्वक एव । नगरादिकं सामान्यतस्तावत्प्रसिद्धम् । कन्याकुब्जादि
नामकं तु ^{१३}तदस्ति किं वा नास्तीत्युभयांशावलम्बिनः प्रत्ययस्योत्पत्तेर्न च नगरत्वं^{१४} नाम
न किञ्चिदिति वक्तुं शक्यम्—

होती है क्योंकि उसका अन्वय व्यतिरेक माना गया है । किन्तु सामान्य की उपलब्धि के समान विशेष की स्मृति ही संशय नहीं है ।

उन उभय अंशों का अवलंबन लेने वाली स्मृति संशय है यह आप बौद्ध का कथन भी फलुप्रायः है क्योंकि ऐसा मानने पर तो साध्य-साधन रूप उभय अंशावलंबी निश्चल भूत में भी—अविचलन में भी संशय का प्रसंग आ जावेगा ।

बौद्ध—सामान्य की प्रत्यक्षता के न होने पर भी कान्यकुब्जादिकों में प्रथमतर ही स्मरण होने से संशय देखा जाता है अतः सामान्य का प्रत्यक्ष होना संशय में हेतु है यह कथन ठीक नहीं है ।

भाट्ट—नहीं । क्योंकि आपका यह कथन असिद्ध है । वहाँ पर भी प्रासादादि रचना विशेष को विषय करने वाला संशय है और वह कन्याकुब्ज नगर सामान्य की उपलब्धि पूर्वक ही है । क्योंकि सामान्य रूप से भी विशेष की अपुपलब्धि होने पर अर्थात् सर्वथा अनुपलब्धि होने पर संशय का विरोध है सर्वथा उपलब्धि के समान ।

जो भी सामान्य के भाव और विशेष के अभाव रूप—भावाभाव का विषयभूत संशय है वह नगरादि सामान्य की उपलब्धि पूर्वक ही है । सामान्य से नगरादि तो प्रसिद्ध ही है किन्तु कान्यकुब्जादि नाम वाले हैं या नहीं ? इस प्रकार से उभयांशावलंबी ज्ञान उत्पन्न होता है । किन्तु नगर का नाम कुछ नहीं है ऐसा कहना तो शक्य नहीं है । प्रत्यासत्ति विशेष होने से प्रासादादि के समूह को ही नगर कह दिया जाता है । वहाँ “नगरं नगरं” इत्यादि रूप से अनुस्यूत ज्ञान का हेतु होने से नगर सामान्य सिद्ध

- 1 संशय इति शेषः । 2 बौद्धोक्तम् । 3 साध्यसाधनेत्युभयांशाविचलनेपि (निश्चलभूतेषु) । 4 बौद्धः । 5 विशेष । (व्या० प्र०) 6 रचनाविशेष । 7 स्वस्तिक सर्वतोभद्रादि । (व्या० प्र०) 8 पूर्वक एव । 9 सामान्यरूपेणापि विशेषस्यानुपलम्भे । 10 सामान्यविशेषप्रकारेण । (व्या० प्र०) 11 सामान्यस्य भावः विशेषस्याभावस्तयोविषयः । संशय । 12 कन्याकुब्जादिनगरम् । कन्याकुब्जादि नगरम् भवति न वा । (व्या० प्र०) 13 भवति । (व्या० प्र०) 14 नगरं इति पा० । (व्या० प्र०)

प्रत्यासत्तिविशेषस्य¹ प्रासादादिसमूहस्य नगरत्वोपवर्णनात् । ²तत्रानुस्यूतप्रत्ययहेतोर्नगरत्व-
सामान्यस्य सिद्धेस्तदुपलम्भपूर्वकस्तद्विशेषे³ संशयो न विरुध्यत एव । ततः करोत्यर्थसामान्यो-
पलम्भात्तद्विशेष⁴यज्याद्यर्थस्यानुपलब्धेरनेक⁵विशेषस्मरणाच्च⁶ युक्तस्तत्र ⁷सन्देहः । न हि
तदेव यज्यादिकमनियमेन⁸ ⁹करोतीत्युपलब्धुं शक्यम् । ¹⁰करोत्यर्थसामान्यासम्भवे¹¹ सत्त्व-
सामान्यासम्भवे घटादिकमिवास्तीत्यनियमेन¹² ¹³पराऽपरसामान्येषु¹⁴ पुनः सामान्यमित्यनिय-
मेनोपलम्भो गौण एव—सामान्येषु सामान्यान्तरासम्भवात् । तत्सम्भवे वानवस्थाप्रसङ्गात् ।
न चैवं¹⁵ ¹⁶सर्वत्र सामान्यमन्तरेणैवानियतप्रत्ययो¹⁷ गौण इति वक्तुं ¹⁸शक्यम्—¹⁹मुख्या-
भावे गौणास्यानुपपत्तेः । ²⁰विकल्पबुद्धौ प्रतिभासमानः ²¹सामान्याकारो मुख्यः ²²स्वलक्षणेषु

है । उस नगर सामान्य की उपलब्धि पूर्वक उन महालादि विशेष में संशय उत्पन्न होता है यह बात विरुद्ध नहीं है ।

इसलिए करोति क्रिया के अर्थ सामान्य की उपलब्धि होने से यजति पचति रूप विशेष यज्यादि अर्थ की अनुपलब्धि होने से एवं यजते, पचति इत्यादि अनेक विशेषों का स्मरण होने से वहाँ संदेह होना युक्त ही है । क्योंकि वे ही यज्यादिक क्रियायें बिना नियम से करोति इस क्रिया के अर्थ को प्राप्त करने में समर्थ नहीं हैं ।

बौद्ध—करोति क्रिया का अर्थ सामान्य न होने पर सत्त्व सामान्य के असंभव में वह घटादि के समान है । इस प्रकार के अनियम से पर सामान्य—महासत्ता और अपर सामान्य—यजति पचति इत्यादि उस विशेष भाव रूप विशेष सत्ता हैं । पुनः सामान्य है इस प्रकार की उपलब्धि गौण ही है क्योंकि सामान्य में भिन्न सामान्य असंभव है । अथवा यदि सामान्य में भी सामान्यांतर मानो तो अनवस्था का प्रसंग आ जावेगा ।

भाट्ट—इस प्रकार से परापर सामान्यों में सामान्य की उपलब्धि को गौणता से सभी वस्तुओं में सामान्य के बिना ही अनियत—सामान्य प्रत्यय गौण है ऐसा आप सौगत का कहना शक्य नहीं है । क्योंकि मुख्य सामान्य के अभाव में गौण हो ही नहीं सकता है ।

1 बसः । संयुक्तसंयोगात्पीयस्वलक्षण । (व्या० प्र०) 2 नगरं नगरमिति । 3 प्रासादादौ । 4 यजति पचतीत्यादि । 5 यजते पचतीत्यादि । (व्या० प्र०) 6 नगरेऽनुगतज्ञानकारणात् । 7 तस्मादित्युपसंहारग्रन्थं निराकुर्वन्नाह भाट्टः । 8 अभेदेन सामर्थ्येन । 9 करोत्यर्थेन । 10 सौगतः । 11 पूर्वपक्षानुमाने हेतुविरुद्धः प्रतिभावः । हेतुमभितं विशेषणं । (व्या० प्र०) 12 सामान्येन । (व्या० प्र०) 13 ननु परापरेषु सामान्येषु परं सामान्यं महासत्ता अपरं करोति पचति यजतीत्यादि तद्विशेषस्वभाव एव तदभावेपि (सामान्यभावे) इदं सामान्यमिदं सामान्यमिति सामान्यमन्तरेणापि सामान्यमुपलब्धुं शक्यत एवेत्युक्ते आह । 14 बौद्धाभिप्रायमनूद्य दूषयति । (व्या० प्र०) । 15 परापरेसामान्येषु सामान्योपलम्भस्य गौणत्वप्रकारेण । 16 वस्तुषु । 17 सामान्यप्रत्ययः । 18 हे सौगत ! 19 मुख्यसामान्यस्य । 20 सौगतः । 21 अन्धापोहो वहिरर्थः (सत्याकार इति पाठान्तरम्) । 22 अनुक्षणिकेषु ।

पुनरारोप्यमाणो गौण इति ¹चेन्न-विशेषाकारस्यापि ² ³तत्र गौणत्वप्रसङ्गात् । शक्यं हि वक्तुम्-प्रत्यक्षबुद्धौ ⁴ प्रतिभासमानो विशेषाकारो ⁵मुख्यो, बहिः स्वलक्षणेषु स एवाध्यारोप्यमाणो गौण इति । नन्वेवमपि ⁶ ज्ञानविशेषाः ⁷परमार्थतः सन्तः सिद्धाः ? बहिरर्थविशेषास्तु न वास्तवा इति ⁸विज्ञानवादिमतमायातं ⁹तर्हि¹⁰—विज्ञानसामान्यं वस्तुभूतं न बहिरर्थसामान्यमिति ¹¹सामान्यविशेषात्मकं विज्ञानं परमार्थसदायातं ¹²न ¹³क्षणिकविज्ञानस्वलक्षणवादि-

सौगत—विकल्प बुद्धि में प्रतिभास मान सामान्याकार—(अन्यापोह बाह्यार्थ) मुख्य है पुनः अणुक्षणिक रूप स्वलक्षणों में आरोपित किया गया सामान्य गौण है ।

भाट्ट—ऐसा नहीं कहना । अन्यथा—उन अणु क्षणिकों में विशेषाकार—स्वलक्षण गौण हो जावेगा । हम ऐसा भी कह सकते हैं कि प्रत्यक्ष बुद्धि-निविकल्प ज्ञान में प्रतिभास मान विशेषाकार मुख्य है, क्योंकि वह निविकल्प ज्ञान का ही विशेषाकार है बाह्य पदार्थ का नहीं है, बाह्य स्वलक्षणों में “यह वही है” ऐसा अध्यारोपित किया गया आकार गौण है ।

सौत्रान्तिक बौद्ध—इस प्रकार से भी सामान्य और विशेष का बाह्य में सत्त्व न होने से ज्ञान विशेष परमार्थ सत् सिद्ध है किन्तु बाह्य अर्थ विशेष वास्तविक नहीं है ।

इस प्रकार से विज्ञानवादियों का मत आ जाता है जो हमें इष्ट नहीं है ।

भाट्ट—तब तो विज्ञान सामान्य ही वास्तविक है किन्तु बाह्य अर्थ सामान्य वस्तु भूत नहीं है इस प्रकार से सामान्य विशेष ज्ञान ही पारमार्थिक सत् है किन्तु क्षणिकविज्ञान स्वलक्षणवादी सौत्रान्तिक का मत सिद्ध नहीं होता है अर्थात् ज्ञान में पूर्व में सामान्य को स्वतः स्वीकार किया है । विकल्प बुद्धि में प्रतिभास मान सामान्याकार मुख्य है इसलिए परमार्थसत् है यह बात सिद्ध हो जाती है—क्योंकि विकल्प ज्ञान में सामान्य का आकार स्वीकृत किया है निविकल्प में नहीं माना है अतः कोई दोष नहीं है ऐसा भी नहीं मानना, विकल्प ज्ञान के स्वरूप में निविकल्प रूप से बाह्य सामान्याकार भी मुख्यत्व रूप से स्वीकृत किया गया होने से परमार्थ से सामान्य विशेषात्मक ज्ञान सिद्ध हो गया इसलिए अन्तर्बाह्य वस्तु के सिद्ध न होने से सौत्रान्तिक का मत सिद्ध नहीं होता है ।

सौगत—विकल्प ज्ञान में भी होने वाले सामान्याकार—घट पटादि आकार वास्तविक नहीं हैं

1 भाट्टः । 2 स्वलक्षणक्षणस्य । 3 अणुक्षणिकेषु । 4 निविकल्पकज्ञाने । 5 निविकल्पज्ञानस्यैव विशेषाकारो न तु बहिरर्थस्य । 6 (सौत्रान्तिकः) सामान्यविशेषयोर्बहिरसत्त्वप्रकारेण । 7 परमार्थसन्त इति पाठान्तरम् । 8 योगाचारमतम् । 9 भाट्टः । 10 सौत्रान्तिकमतमाशंक्य भट्टेनोच्यते । (व्या० प्र०) 11 ज्ञाने पूर्वं सामान्यस्य स्वयमभ्युपगतत्वात् विकल्पबुद्धौ प्रतिभासमानः सामान्याकारो मुख्य इति परमार्थसदायातम्—विकल्पज्ञाने सामान्याकारस्याभ्युपगमात् निविकल्पके तदनभ्युपगमाददोष इति न मन्तव्यम्—विकल्पज्ञानस्य स्वरूपे निविकल्पकत्वेन बहिः सामान्याकारस्यापि मुख्यत्वाभ्युपगमेन परमार्थतः सामान्यविशेषात्मनो ज्ञानस्य समायातत्वात् । 12 सौत्रान्तिकस्य । 13 स्वलक्षण । (व्या० प्र०)

मतम्^१ । ^२विकल्पविज्ञानेपि न वास्तवः ^३सामान्याकारः—तस्याऽनाद्यविद्योपपादितत्वात् । संवेदनस्वरूपस्यैवासाधारणस्य^४ परमार्थसत्त्वादिति ^५चेन्न—विपर्ययस्यापि कल्पयितुं शक्यत्वात् । संवेदनेपि नासाधारणाकारः पारमार्थिकः—तस्यानाद्यविद्योदयनिबन्धनत्वात् ^६संवेदनसामान्यस्यैव वास्तवत्वादिति ^७वदतोऽन्यस्यापि निवारयितुमशक्यत्वात्^८ । ^९न वस्तुभूतं संवित्सामान्यम्^{१०}—^{११}वृत्तिविकल्पान^{१२}वस्थादिदोषानुषङ्गात् बहिरर्थसामान्यवत्^{१३} इति चेत्तर्हि^{१४} न संविद्विशेषः परमार्थः सन्—^{१५}विचार्यमाणा^{१६}योगाद्बहिरर्थविशेष^{१७}वदित्यप्यन्यो ब्रूयात्^{१८} । तथा च ^{१९}सत्याऽऽश्रयासिद्धो हेतुरित्युभयत्र^{२०} समानं दूषणम् । साध्य ^{२१}साधनविकलं

क्योंकि वे सामान्याकार अनादि अविद्या से उपकल्पित हैं । किन्तु असाधारण संवेदन स्वरूप ही परमार्थ सत् है ।

भाट्ट—ऐसा नहीं कहना । क्योंकि इससे विपरीत कल्पित करना भी शक्य है । संवेदन में भी असाधारणाकार पारमार्थिक नहीं हैं वे अनादि अविद्या के निमित्त से ही हैं, अतः संवेदन सामान्य निविकल्प ज्ञान ही वास्तविक है ऐसा कहने वाले हम भाट्ट का भी आप सौगत निवारण नहीं कर सकते हैं ।

सौगत—संवित् (ज्ञान) सामान्य वस्तुभूत नहीं है । क्योंकि वृत्ति, विकल्प अनवस्था आदि अनेक दोषों का प्रसंग आ जाता है । जैसे कि बाह्यार्थ सामान्य को स्वीकार करने पर अनेक दोष आ जाते हैं ।

भाट्ट—तब तो संवित् विशेष भी परमार्थ सत् सिद्ध नहीं होगा क्योंकि विचार करने पर बाह्य पदार्थ के समान उसका भी अभाव ही सिद्ध होगा । इस प्रकार से संवित्सामान्यवादी भी कह सकते हैं और ऐसा कहने पर तो आपका हेतु आश्रयासिद्ध हो जाता है । इस प्रकार से संवित्सामान्य और संवित्विशेष दोनों में दूषण समान ही हैं । और हमारा जो “बहिरर्थवत्” दृष्टांत है वह साधन शून्य है ऐसा भी आप नहीं कह सकते हैं क्योंकि वह भी समान ही है ।

१ सौत्रान्तिकवादिमतम् । २ सौगतः प्राह । ३ घटपटाद्याकारः । ४ विशेषस्य । (व्या० प्र०) ५ भाट्टः । ६ निविकल्पकज्ञानं । ७ भाट्टस्य । ८ सौगतेनेति शेषः । ९ सौगतः । १० ईप् । (व्या० प्र०) ११ एकस्यानेकवृत्तिर्नेत्यादिकारिकाव्याख्याने चतुर्थपरिच्छेदे निरूपितत्वात् । १२ सामान्यस्य व्यक्तरहितप्रदेशे सत्त्वं । (व्या० प्र०) १३ घटादि । (व्या० प्र०) १४ भाट्टः । १५ ता । (व्या० प्र०) १६ यद्यसत्संबन्धा कार्यमित्यादिकारिकाव्याख्याने तृतीयपरिच्छेदे विचार्यमाणस्यायोगात् । १७ भवन्मते यथा बहिरर्थः परमार्थसन्न भवति । (व्या० प्र०) १८ संवित्सामान्यवादी भाट्टः । १९ संवित्सामान्यं प्रमाणसिद्धमसिद्धं वा ? प्रमाणसिद्धं चेन्न—वृत्तिविकल्पानवस्थादिदोषानुषङ्गात् । अप्रमाणसिद्धं चेत्तर्हि आश्रयासिद्धो हेतुः । एवं संविद्विशेषः प्रमाणसिद्धोऽप्रमाणसिद्धोवेत्यत्रापि योज्यम् । २० संवित्सामान्यसंविद्विशेषयोः । २१ सौगत आह—हे भट्ट बहिरर्थविशेषवदिति त्वयोक्तो दृष्टान्तः साध्यसाधनविकल इति । भट्टो वदति—इत्यपि सौगतेन न चोद्यम्—तत्रापि बहिरर्थसामान्यवदिति दृष्टान्ते तुल्यदूषणत्वात् ।

निदर्शनमित्यपि न चोद्यम्—समानत्वात् । ¹संवित्स्वलक्षणा²द्वैतोपगमात्³ सिद्धसाधनमिति⁴
चेत् ⁵संवित्सामान्याद्वैतोपगमात्परस्यापि⁶ सिद्धसाधनं कुतो न भवेत् ? ⁷संवित्सामान्या-
द्वैतं प्रतीतिविरुद्धम्—विशेषसंविदभावे जातुचिदसंवेदनादिति चेत् ⁸संवित्स्वलक्षणाद्वै-
तमपि तर्हि प्रतीतिविरुद्धमेव—संवित्सामान्यसंवेदनाभावे तद्विशेषसंवेदनस्य ⁹सकृदप्यभावात् ।
सर्वाक्षेपसमाधीनां समानत्वात् । ¹⁰ततो ¹¹निर्बाधप्रतीतिबलाद्भेदव्यवस्थायां सामान्यव्यवस्था-
स्तु¹² सुघटैव¹³ । ¹⁴अन्तःसंवेदनेषु तद्वद्बहिरर्थेषु च सामान्यविशेषव्यवस्थोररीकर्तुं¹⁵ युक्ता-
निर्बाधप्रतीतिसिद्धत्वाविशेषात् । एतेनैतदपि प्रत्याख्यातं यदुक्तं धर्मकीर्तिना—

¹⁶अतद्रूपपरावृत्त¹⁷वस्तुमात्रप्रवेदनात् । सामान्यविषयं प्रोक्तं ¹⁸लिङ्गं ¹⁹भेदाप्रतिष्ठितेः ॥इति॥

सौगत—संवित् स्वलक्षण—विशेष अद्वैत को स्वीकार करने से माध्यमिक के प्रति सिद्ध साधन ही है ।

भाट्ट—यदि ऐसा कहो तो संवित् सामान्य को स्वीकार करने वाले संवित् सामान्यवादी भाट्ट को भी सिद्ध साधन क्यों नहीं हो जावेगा ।

सौगत—संवित् सामान्याद्वैत तो प्रतीति से विरुद्ध है क्योंकि विशेष संवेदन के अभाव में कदाचित् भी संवेदन नहीं होता है ।

भाट्ट—यदि ऐसा कहो तब तो संवित् स्वलक्षणाद्वैत भी तो प्रतीति से विरुद्ध ही है क्योंकि संवित् सामान्य के संवेदन का अभाव होने पर तो संवित् विशेष का संवेदन सर्वथा—एक बार भी संभव नहीं है अर्थात् ज्ञान सामान्य का अनुभव न होने पर ज्ञान विशेष का भी अनुभव नहीं हो सकता है । अतः आप दोनों संवेदन वादी के यहाँ आक्षेप और समाधान तो समान ही हैं । इसलिए सामान्य के अभाव में विशेष का भी अभाव हो जाता है अतः निर्बाध प्रतीति के बल से भेद व्यवस्था-विशेषावस्था के सिद्ध हो जाने पर सामान्य व्यवस्था भी सुघटित ही है अर्थात् जैसे भेद व्यवस्था में विशेष प्रतिभासित होता है वैसे ही अंतः संवेदन में सामान्य आभासित होता है ।

अतः अंतः—संवेदन में और उसी के समान बाह्य पदार्थों में सामान्य विशेष व्यवस्था स्वीकार करना आप सौगत को युक्त ही है क्योंकि निर्बाध प्रतीति से सिद्ध होना दोनों जगह समान है ।

इसी कथन से उसका भी निरसन हो जाता है जो कि धर्म कीर्ति आचार्य ने कहा है कि—

श्लोकार्थ—“अतद्रूप से परावृत्त—अन्य रूप से व्यावृत्त वस्तुमात्र का प्रवेदन होने से सामान्य विषयक ही अनुमान कहा गया है क्योंकि अनुमान से भेद का ग्रहण नहीं होता” ॥

1 सौगतः । (व्या० प्र०) 2 विशेष । (व्या० प्र०) 3 मध्यक्षणैकाभ्युपगमात् (मध्यमक्षणिकाभ्युपगमात्) । (व्या० प्र०)
4 माध्यमिकं प्रति । (व्या० प्र०) 5 भाट्टः । (व्या० प्र०) 6 विधिवादिनो भट्टस्य । (व्या० प्र०) 7 सौगतः । (व्या० प्र०)
8 भाट्टः । (व्या० प्र०) 9 सर्वथा । (व्या० प्र०) 10 भाट्टः (सामान्याभावे विशेषस्याप्यभावो यतः) । (व्या० प्र०)
11 विशेषावस्थायाम् । (व्या० प्र०) 12 सामान्यव्यवस्था तु इति पाठान्तरम् । (व्या० प्र०)
13 प्रतिभासते विशेषो भेदव्यवस्थायां यथा तथान्तःसंवेदनेषु सामान्यमाभासते । (व्या० प्र०) 14 अत इति पाठान्तरम् । (व्या० प्र०) 15 सौगतैः । (व्या० प्र०) 16 अन्यरूपेण । (व्या० प्र०) 17 अन्यापोह । (व्या० प्र०)
18 लिङ्गजनितत्वाल्लिङ्गयनुमानम् । (व्या० प्र०) 19 भेदस्याग्निस्वलक्षणस्यानुमानेनाग्रहणात् । (व्या० प्र०)

¹तद्रूपानुवृत्तस्य² वस्तुमात्रस्य निर्बाधबोधाधिरूढस्य³ ⁴सिद्धेभेदमात्रस्याप्रतिष्ठितत्वात्⁵—सर्वदा बहिरन्तश्च⁶ भेदाभेदात्मनो⁷ वस्तुनः प्रतिभासनात् ।

[भेदाभेदो विवक्षावशवर्तिनो इति बौद्धस्य मान्यताया निराकरणं]

⁸न चैतौ भेदाभेदौ विवक्षामात्रवशवर्तिनौ—⁹सर्वत्र तत्सङ्करप्रसङ्गात्¹⁰ ¹¹येनात्मना¹² भेद-व्यवस्था तेनैवाभेदव्यवस्थितिः स्यात्—तद्विवक्षाया¹³ निरङ्कुशत्वात् । ¹⁴पूर्ववासना¹⁵प्रतिनिय-माद्विवक्षायाः प्रतिनियमसिद्धेर्न तद्वशाद्भेदाभेदव्यवस्थितौ सङ्करप्रसङ्ग इति चेत्¹⁶कुतस्त¹⁷-द्वासनाप्रतिनियमः ? ¹⁸प्रबोधकप्रत्ययप्रतिनियमादिति चेन्न—¹⁹तदनियमे तदनियमप्रसङ्गात् । पूर्वस्ववासनाप्रतिनियमात्प्रकृतवासनाप्रतिनियम इति चेन्न—²⁰तस्याः संविदव्यभिचारे ²¹वस्तु-

अतएव तद्रूप से अनुवृत्त—युक्त वस्तु मात्र निर्बाध ज्ञान से अधिरूढ है—सामान्य-विशेष विषयक ही सिद्ध है किन्तु सामान्य निरपेक्ष विशेष रूप भेद मात्र वस्तु व्यवस्थित नहीं है । क्योंकि सर्वदा बाह्य घटादि और अंतर्ज्ञान रूप बाह्याभ्यंतर वस्तु भेदाभेदात्मक-सामान्य विशेषात्मक ही प्रतिभासित होती हैं ।

[भेद और अभेद को विवक्षा के आश्रित मानने रूप बौद्ध की मान्यता का निराकरण]

ये दोनों भेदाभेद विवक्षा के वशवर्ती भी नहीं हैं । अन्यथा-सर्वत्र संकर दोष का प्रसंग आ जावेगा । अर्थात् जिस स्वरूप से भेद व्यवस्था है उसी स्वरूप से अभेद व्यवस्था भी हो जावेगी क्योंकि वह विवक्षा तो निरङ्कुश है अतः भेदाभेद विवक्षा के वशवर्ती नहीं हैं ।

सौगत—पूर्व की वासना के प्रतिनियम से विवक्षा का प्रतिनियम सिद्ध है अतः उसके निमित्त से भेदाभेद की व्यवस्था में संकर दोष का प्रसंग नहीं आता है ।

भाट्ट—यदि ऐसा कहो तो उस वासना का प्रतिनियम किस प्रकार से है ?

सौगत—प्रबोधक-निर्विकल्प ज्ञान के प्रतिनियम से उस वासना का प्रतिनियम सिद्ध है ।

भाट्ट—ऐसा नहीं कहना । अन्यथा उस प्रबोधक प्रत्यय में पूर्व वासना का प्रतिनियम न करने पर प्रबोधक प्रत्यय का भी प्रतिनियम नहीं बन सकेगा ।

सौगत—पूर्व स्ववासना के प्रतिनियम से प्रकृत वासना का प्रतिनियम बन जाता है ।

1 नन्वभेद एव नास्ति ततो भेदाभेदात्मकं कुत इत्याशङ्कायां स्याद्वादमाश्रित्य भट्टो वदति । 2 युक्तस्य । 3 सामान्य-विशेषरूपस्य विषयस्य । 4 बौद्धाभिप्रायमनुवृत्त दूषयति । (व्या० प्र०) 5 सामान्यनिरपेक्षस्य विशेषस्य । 6 बहि-र्षटादिरन्तर्वस्तुज्ञानम् । 7 सामान्यविशेषात्मकस्य । 8 सौगत आह अभेदवद्भेदोपि विवक्षावशवर्त्येव—सर्व-विकल्पातीतत्वादस्येति । 9 भा (तृतीया) 10 कथं । (व्या० प्र०) 11 स्वरूपेण । (व्या० प्र०) 12 कथ तथाहि । 13 ईदृशबाह्यार्थाभावात् । (व्या० प्र०) 14 सौगतः । 15 संस्कार । (व्या० प्र०) 16 भाट्टः । 17 पूर्व । 18 प्रकट निर्विकल्पकज्ञान । 19 प्रबोधकप्रत्यये पूर्ववासनाया अनियमे प्रबोधकप्रत्ययस्यानियमत्वप्रसङ्गात् । 20 निर्विकल्पकज्ञानेन सह तस्या वासनाया व्यभिचारोऽव्यभिचारो वेति विकल्पद्वयं करोति भाट्टः । 21 वास-नायाः वस्तुत्वं नांगीकरोषि । (व्या० प्र०)

¹स्वभावतापत्तेः । कदाचित्तद्रव्यभिचारे² भेदाभेदव्यवस्थितेरपि³ व्यभिचारप्रसक्तेः कुतो न तत्सङ्करप्रसक्तिः ? सुदूरमपि गत्वा ⁴वस्तुस्वभावावलम्बनादेव तत्परिहारमिच्छता वस्तुस्वभावावेव ⁵भेदाभेदौ ⁶परेणाभ्युपगन्तव्यौ । ⁷ततो यदभिन्नं ⁸साधारणं वस्तुस्वरूपं तदेव सामान्यं सिद्धम् । न पुनरन्यापोहमात्रं⁹ ¹⁰विकल्पबुद्धिपरिनिष्ठितम्—यतः करोति— सामान्यं यज्यादिविशेषव्यापि वास्तवं न भवेत् । तदुपलम्भेपि च विशेषे सन्देहोऽनुपलम्भ्यमानेपि स्मृतिविषये न ¹¹स्यात् ।

[बुद्धिभेदमंतरेण पदार्थस्य भेदव्यवस्था न भवतीति बौद्धमान्यताया निराकरणं]

¹²ननु च स्थाणुपुरुष¹³विविक्तमपरमूर्ध्वतासामान्यं यज्यादिविशेष¹⁴व्यतिरिक्तं च

भाट्ट—नहीं ! हम ऐसा प्रश्न करेंगे कि निर्विकल्प ज्ञान के साथ वह वासना व्यभिचारित है या नहीं ? यदि उस वासना को निर्विकल्प ज्ञान से व्यभिचारित नहीं कहोगे तब तो वह वस्तु का स्वभाव हो जावेगी । अर्थात् जो जिससे अभिन्न है वह उस स्वरूप है इस तरह वासना को वस्तु स्वभाव मान लेने पर बौद्धमत का व्याघात हो जावेगा । यदि कदाचित् ज्ञान के साथ उस वासना को व्यभिचार-भिन्न मानोगे, तब तो भेदाभेद की व्यवस्था से भी व्यभिचार का प्रसंग आ जावेगा पुनः उनमें संकर दोष कैसे नहीं आवेगा ?

बहुत दूर जाकर भी वस्तु स्वभाव का अवलंबन लेकर ही उन दोषों का परिहार करने की इच्छा रखते हुए आप सौगत को भेदाभेद—विशेष सामान्य इन दोनों को वस्तु का स्वभाव ही स्वीकार करना चाहिये । इसलिए जो अभिन्न रूप है, सभी वस्तुओं में साधारण वस्तु का स्वरूप है वही सामान्य है यह बात सिद्ध हो गयी । किन्तु अन्यापोह मात्र अवस्तु विकल्प बुद्धि से परिनिष्ठित नहीं है कि जिससे “करोति” यह सामान्य पद यज्यादि विशेष में व्यापी और वास्तविक न हो सके, अर्थात् वास्तविक ही सिद्ध होता है और जिससे कि उस विशेष के उपलब्ध होने पर भी एवं स्मृति के विषय की उपलब्धि न होने पर भी संदेह न हो सके, अर्थात् संदेह होगा ही होगा ।

[बुद्धि भेद के बिना पदार्थ में भेद की व्यवस्था नहीं हो सकती है इस बौद्ध की मान्यता का निराकरण किया जाता है]

सौगत—स्थाणु और पुरुष के विशेष से रहित अपर ऊर्ध्वता-सामान्य और यज्यादि विशेष से भिन्न करोति सामान्य वास्तविक नहीं है क्योंकि बुद्धि से अभेद होता है अर्थात् सामान्य को ग्रहण

1 यद्यस्मादभिन्नं तत्तदात्मकम् । वस्तुस्वरूपा वासना यदि तर्हि बौद्धमतव्याघातः वस्तुस्वभावतापत्तेर्वासनायाः ।
2 भिन्नत्वे । 3 पञ्चम्येकवचनम् । 4 बाह्य । (व्या० प्र०) 5 विशेषसामान्ये । 6 सौगतेन । 7 बाह्यवस्तुस्वभाव-
लम्बनादेव—सङ्करपरिहारो यतः । 8 सकलपदार्थेषु साधारणम् । 9 अवस्तुमात्रम् । 10 सामान्यं नेति विकल्प-
बुद्धिपरिमृहीतम् । 11 वक्रोक्त्या वाच्यम् । 12 सौगतः । 13 विशेषो । 14 भिन्नम् ।

¹करोतिसामान्यं न वास्तवमस्ति—²बुद्ध्यभेदात् । न हि बुद्धिभेदमन्तरेण पदार्थभेद-
व्यवस्थितिः—³अतिप्रसङ्गात् । तदुक्तम्—

न ⁴भेदाद्भिन्नमस्त्यन्यत्सामान्यं बुद्ध्यभेदतः⁵ । ⁶बुद्ध्याकारस्य भेदेन पदार्थस्य विभिन्नता ॥इति॥

तदेतदसदेव⁷—⁸सामान्यभेदयोर्बुद्धिभेदस्य सिद्धत्वात् । सामान्यबुद्धिर्हि तावदनुगताकारा⁹
विशेषबुद्धिः ¹⁰पुनर्व्यावृत्ताकारानुभूयते ? दूरादूर्ध्वतासामान्यमेव च प्रतिभाति न स्थाणु-
पुरुषविशेषौ—तत्र सन्देहात्¹¹ । तद्विशेषपरिहारेण प्रतिभासनमेव ¹²सामान्यस्य ¹³ततो
व्यतिरेकावभासनम्—एतावन्मात्रलक्षणत्वात्तद्व्यतिरेकस्य यदप्युक्तम्¹⁴—

¹⁵ताभ्यां ¹⁶तद्व्यतिरेकश्चेत् किन्न् ¹⁷दूरेवभासनम् । दूरेवभासमानस्य ¹⁸सन्निधानेति¹⁹भासनम् ।

करने वाली “करोति” क्रिया और विशेष को ग्रहण करने वाली “यज्यादि” क्रिया है, इस प्रकार की बुद्धि का अभाव है । और बुद्धि में भेद के बिना पदार्थ के भेद की व्यवस्था नहीं हो सकती है । अन्यथा—अति प्रसंग दोष आ जावेगा । अर्थात् एक घट ज्ञान से सभी का ज्ञान हो जावेगा अथवा एक घट ज्ञान से सभी घटों की प्रतीति का प्रसंग आ जावेगा । कहा भी है—

श्लोकार्थ—भेद से भिन्न अन्य कोई सामान्य नहीं है क्योंकि बुद्धि से अभेद है । एवं बुद्ध्याकार के भेद से ही पदार्थ का भेद देखा जाता है । अर्थात् यह बुद्धि सामान्य को ग्रहण करने वाली है एवं यह विशेष को ग्रहण करने वाली है इस प्रकार से बुद्धि में भेद का अभाव है ।

भाट्ट—आपका यह सब कथन असत् रूप ही है । क्योंकि सामान्य और विशेष में बुद्धि का भेद सिद्ध ही है । “इदं सत् इदं सत्” इस प्रकार के अनुगताकार को सामान्य ज्ञान कहते हैं । एवं “इदं न इदं न” इस प्रकार से व्यावृत्ताकार को विशेष ज्ञान कहते हैं ये दोनों ज्ञान अनुभव सिद्ध हैं, दूर से ऊर्ध्वता सामान्य ही प्रतिभासित किन्तु स्थाणु और पुरुष विशेष प्रतिभासित नहीं होते हैं क्योंकि वहाँ संदेह देखा जाता है । और विशेष का परिहार करके सामान्य का प्रतिभासन ही उस सामान्य से व्यतिरेक का अवभासन है और इतना मात्र ही उस व्यतिरेक का लक्षण है जो कि आपके यहाँ धर्म-कीर्ति ने कहा है—

श्लोकार्थ—स्थाणु और पुरुष में जो भेद है वही व्यतिरेक है यदि ऐसा कहो तो निकट में अवभासन क्यों नहीं होता है क्योंकि दूर में अवभासित सामान्य का सन्निधान होने पर विशेष रूप

1 करोति सामान्यग्राहिका यज्यादिविशेषग्राहिकेति प्रकारेण बुद्ध्यभावात् । 2 विशेषग्राहिका सामान्यग्राहिकेति अनेन प्रकारेण बुद्धेर्भेदाभावात् । (व्या० प्र०) 3 एकेन घटज्ञानेनान्येषां ज्ञानं स्यात् । अथवा एकेन छटज्ञानेन सर्वेषां घटानां प्रतीतिप्रसङ्गात् । 4 विशेषात् । (व्या० प्र०) 5 इयं सामान्यग्राहिकेयं विशेषग्राहिकेत्यनेन प्रकारेण बुद्धेर्भेदाभावात् । 6 स्वरूपस्य । (व्या० प्र०) 7 भाट्टः । 8 सामान्यविशेषयोः (ईप्) (सप्तमी) । 9 इदं सदितं सदिति । 10 नेदं नेदमिति । 11 दूरादूर्ध्वतासामान्यस्यैव प्रतिभासनं भवतु । एतावता तस्यास्ततो (विशेषात्) व्यतिरेकावभासनं कुत इत्याह । 12 व्यतिरेकस्य । 13 सामान्यात् । 14 धर्मकीर्तिना । 15 स्थाणुपुरुषाभ्याम् । 16 भेदः । 17 किन्नादूरे इति पा० । (व्या० प्र०) 18 सामान्यस्य । 19 विशेषतया प्रतिभासनम् ।

इत्येतदप्ययुक्तं^१—विशेषेपि समानत्वात् । सोपि हि यदि ^२सामान्याद्व्यतिरिक्तस्तदा दूरे वस्तुनः स्वरूपे ^३सामान्ये प्रतिभासमाने किन्न प्रतिभासते ? न हीन्द्रधनुषि नीले^४ रूपे प्रतिचकासति^५ पीतादिरूपं दूरान्न प्रतिचकास्ति । ^६अथ निकटदेशसामग्रीविशेषप्रतिभासस्य जनिका न दूरदेशवर्तिनां प्रतिपत्तृणामिति न विशेषप्रतिभासन^७, ^८र्तहि ^९सामान्यप्रतिभासस्य जनिका दूरदेशसामग्री काच्चिन्निकटदेशवर्तिनां नास्ति । ततो न निकटे तत्प्रतिभासनमिति समः समाधिः । अस्ति^{१०} च निकटे सामान्यस्य^{११} प्रतिभासनं स्पष्टं विशेषप्रतिभासनवत् । यादृशं तु दूरे तस्यास्पष्टं प्रतिभासनं तादृशं न निकटे विशेषप्रतिभासनवदेव विशेषो^{१२} हि यथा दूरादस्पष्टः प्रतिभाति न तथा ^{१३}सन्निधाने—^{१४}स्वसामग्र्यभावात्^{१५} । ^{१६}अत एव च न

से प्रतिभासन होता है । यह आपका कथन भी विशेष में समान ही है अतः अयुक्त है ।

वह भी यदि ऊर्ध्वता लक्षण सामान्य से भिन्न है तब तो दूर में वस्तु का स्वरूप प्रतिभासित होने पर वह (विशेष) प्रतिभासित क्यों नहीं होता है ? इन्द्र धनुष में सामान्य नील रूप के प्रतिभासित होने पर पीतादि रूप दूर से प्रतिभासित नहीं होते हैं ऐसा तो है नहीं ।

सौगत—निकट देशरूप सामग्री विशेष प्रतिभास को उत्पन्न करती है किन्तु दूरदेशवर्ती पुरुषों को विशेष प्रतिभास उत्पन्न नहीं करती है इसलिए विशेष का प्रतिभास नहीं होता है ।

भाट्ट—तब तो ऊर्ध्वता लक्षण सामान्य प्रतिभास को उत्पन्न करने वाली कोई दूरदेशवर्ती सामग्री निकट देशवर्ती जनों को नहीं है । इसलिये निकट में उसका प्रतिभास नहीं होता है । इस प्रकार से समान ही समाधान है । एवं निकट में ऊर्ध्वताकार सामान्य का प्रतिभासन स्पष्ट देखा जाता है जैसे कि विशेष का प्रतिभासन स्पष्ट है ।

किन्तु दूर में जैसा उसका अस्पष्ट प्रतिभासन है वैसा निकट में नहीं है, विशेष प्रतिभासन के समान । और जिस प्रकार से विशेष दूर से अस्पष्ट प्रतिभासित होता है उस प्रकार से निकट में नहीं होता है किन्तु स्पष्ट ही प्रतिभासित होता है क्योंकि अपने अस्पष्ट प्रतिभासन की सामग्री का अभाव है ।

१ भाट्टः । २ ऊर्ध्वतालक्षणात् । ३ ऊर्ध्वताकारे । (व्या० प्र०) ४ सामान्ये । ५ सति । (व्या० प्र०) ६ सौगतः । ७ प्रतिभासः इति पा० । (व्या० प्र०) ८ भाट्टः । ९ ऊर्ध्वतालक्षण । १० कि च । (व्या० प्र०) ११ ऊर्ध्वताकारस्य । १२ अत्र विशेषो हि प्रतिनियतदेशत्वादि ग्राह्यो न तु स्थाणुपुरुषादिरन्यथा संशयोत्पत्तिविरोधात्तथा वक्ष्यमाणत्वाच्च । (व्या० प्र०) १३ किन्तु स्पष्ट एव । १४ स्वस्यास्पष्टप्रतिभासनस्य । १५ सामान्यवद्विशेषेवस्पष्टप्रतिभासनमेव को दोष इत्युक्ते आह । १६ सामान्यविशेषयोर्दूरादस्पष्टतया प्रतिभासनादेव ।

सामान्यस्य प्रतिभासने विशेषेष्वप्रतिभासमानेष्व¹स्पष्टप्रतिभास²व्यवहारः³—प्रतिभासमानरूपे⁴ एव सामान्ये⁵ विशेषे वा अस्पष्टव्यवहारदर्शनात् । न ह्यप्रतिभासितान्य⁶प्रतिभासिता वा ⁷कस्यचिदस्पष्टप्रतिभासिता⁸ । किं तर्हि ?

[स्पष्टास्पष्टव्यवहारो ज्ञानस्य धर्मो स्तः न च पदार्थस्य । स्पष्टज्ञानवच्च अस्पष्टज्ञानमपि सत्यमेव]

कुतश्चि⁹दृष्टा¹⁰दृष्टकारणकलापादस्पष्टज्ञानस्योत्पत्तिरर्थेष्व¹¹स्पष्टता¹²—विषयधर्मस्य विषयेषूपचारात् । संवेदनस्यैव ह्यस्पष्टता धर्मः स्पष्टतावत् । ¹³तस्या विषयधर्मत्वे ¹⁴सर्वदा ¹⁵तथाप्रतिभासप्रसङ्गात् ¹⁶कुतः प्रतिभास¹⁷परावृत्तिः ¹⁸स्यात् ? न ¹⁹चास्पष्टं संवेदनं निविषय-मेव—²⁰संवादकत्वात् ²¹स्पष्टसंवेदनवत् । ²²क्वचिद्विसंवाददर्शनात् सर्वत्र विसंवादे—स्पष्ट-

अतएव सामान्य और विशेष का दूर से अस्पष्ट प्रतिभासन होने से ही सामान्य का प्रतिभास होने पर और विशेषों के प्रतिभासित न होने पर अस्पष्ट प्रतिभास व्यवहार नहीं है, क्योंकि प्रतिभास-मान स्वरूप सामान्य अथवा विशेष ज्ञान में ही अस्पष्ट व्यवहार देखा जाता है । सामान्य और विशेष में से किसी एक की अप्रतिभासिता अथवा अन्य की प्रतिभासिता किसी सामान्य अथवा विशेष की अस्पष्ट प्रतिभासिता नहीं है ।

शंका—तो क्या है ?

[स्पष्टता और अस्पष्टता ज्ञान के धर्म हैं पदार्थ के नहीं । एवं स्पष्ट ज्ञान के समान अस्पष्ट ज्ञान भी प्रमाण है]

समाधान—किसी दृष्ट कारण-देशकालादि और अदृष्ट कारण-मति ज्ञानावरण का क्षयोपशम विशेष रूप कारण कलाप से अर्थ में-पदार्थ में अस्पष्ट ज्ञान की उत्पत्ति होना ही अस्पष्टता है क्योंकि विषयी धर्म का विषयों में उपचार किया जाता है । अतः अस्पष्टता संवेदन-ज्ञान का ही धर्म है जैसे कि स्पष्टता संवेदन का धर्म है ।

और उस अस्पष्टता को विषय का धर्म मानने पर तो सर्वदा अन्धकार अवस्था में भी तथा— उद्योत अवस्था के समान प्रतिभास का प्रसंग आ जावेगा । एवं स्पष्टता ही सर्वथा वस्तु का धर्म है ऐसा स्वीकार करने पर पुनः प्रतिभास की परावृत्ति कैसे हो सकेगी ?

1 सर्वथा । 2 नैयायिकोक्तः । (व्या० प्र०) 3 सर्वदा । 4 प्रतिभासमानस्वरूपे । इति पा० । (व्या० प्र०) 5 सामान्यज्ञाने विशेषज्ञाने वा । 6 सामान्यविशेषयोर्मध्ये एकस्य । 7 सामान्यस्य विशेषस्य वा । 8 अस्पष्टस्पष्ट-प्रतिभासिताभेदेऽपि ज्ञानाश्रिते स्तो न तु वस्त्वाश्रिते । 9 दृष्टाकारणं देशकालादि अदृष्टं कारणं मतिज्ञानावरणक्षयो-पशमविशेषः । 10 दृष्ट—चक्षुरादि । अदृष्ट—पुण्यपापादि । (व्या० प्र०) 11 भवति । 12 ईषत्प्रतिभासनं सूक्ष्म-वस्त्राच्छादितवस्तुवत् । (व्या० प्र०) 13 अस्पष्टतायाः । 14 अन्धकारावस्थायामपि । 15 उद्योतावस्थायामिव । 16 वस्तुनः स्पष्टताधर्मस्य सर्वदा प्रतिभासस्याङ्गीकारे दूषणमाह । 17 निवृत्तिः । (व्या० प्र०) 18 बौद्धाभिप्राय-मनूय वक्ति । 19 (भाट्टः) सविकल्पकम् । 20 सत्यत्वात् । 21 निविकल्पकवत् । 22 अस्पष्टज्ञाने ।

संवेदनेपि तत्प्रसङ्गात् । ¹ततो ²नैतत्साधु---

बुद्धिरेवातदाकारा³ ⁴तत् उत्पद्यते ⁵यदा । तदास्पष्टप्रतीभासव्यवहारो जगन्मतः ॥

इति---⁶चन्द्रद्वयादिप्रतिभासे⁷ तद्व्यवहारप्रसक्तेः । ⁸न च मीमांसकानां सामान्यं विशेषे-
भ्यो⁹ भिन्नमेव वाऽभिन्नमेव¹⁰ वा---तस्य ¹¹कथञ्चित्ततो भिन्नाभिन्नात्मनः प्रतीतेः । प्रमाण-
सिद्धे च सामान्यविशेषात्मनिजात्यन्तरे वस्तुनि तद्ग्राहिणो ज्ञानस्य सामान्यविशेषात्मक-
त्वोपपत्तेर्न काचिद्बुद्धिरविशेषाकारा¹² सर्वथास्ति, नाप्यसामान्याकारा सर्वदोभयाकारा-
यास्तस्याः प्रतीतेः । न चार्थाकारा¹³ बुद्धिः---तस्या निराकारत्वात् तत्र¹⁴ प्रतिभासमानस्या-
कारस्यार्थधर्मत्वात् । न¹⁵ च¹⁶ निराकारत्वे संवेदनस्य ¹⁷प्रतिकर्मव्यवस्था ततो विरुध्यते---

एवं अस्पष्ट संवेदन-सविकल्पज्ञान निर्विषयक ही है ऐसा भी आप नहीं कह सकते, क्योंकि स्पष्ट संवेदन-निर्विकल्प संवेदन के समान वह अस्पष्ट संवेदन भी संवादक है--सत्य है ।

यदि अस्पष्ट प्रतिभास (अविशदज्ञान) में कहीं पर विसंवाद दिख जाने से सर्वत्र विसंवाद स्वीकार करोगे तब तो स्पष्ट संवेदन में भी वही प्रसंग आ जावेगा । अतः अस्पष्ट संवेदन भी विषय को ग्रहण करने वाला है निर्विषयक नहीं है यह बात सिद्ध हो गई । अतएव आपका यह कथन भी सम्यक् नहीं है कि—

इलोकार्थं—अतदाकार (अस्वलक्षणाकार, अविशेषाकार, बहिःस्वलक्षणाकार) बुद्धि ही जब स्वलक्षण अर्थ से उत्पन्न होती है तभी जगत्सामान्य अस्पष्ट प्रतिभास व्यवहार होता है । इस प्रकार से तो तैमिरिक रोग वाले के चन्द्रद्वयादि के प्रतिभास में वह व्यवहार हो जावेगा ।

मीमांसकों के यहाँ स्थाणु पुरुषादि विशेषों से सामान्य सर्वथा भिन्न ही हो अथवा अभिन्न ही हो, ऐसा तो है नहीं क्योंकि वह सामान्य उन विशेषों से कथञ्चित् भिन्नाभिन्नात्मक रूप से ही प्रतीति में आ रहा है ।

इस प्रकार से सामान्य विशेषात्मक, जात्यन्तर वस्तु की प्रमाण से सिद्धि हो जाने पर उसको ग्रहण करने वाला ज्ञान भी सामान्य विशेषात्मक सिद्ध हो जाता है । अतः विशेषाकार से व्यावृत्त अविशेषाकार का अभाव है ।

1 अस्पष्टसंवेदनं सविषयं यतः । 2 वक्ष्यमाणम् । 3 अस्वलक्षणाकारा, अविशेषाकारा, बहिःस्वलक्षणाकारा । 4 स्वलक्षणलक्षणादर्थत् । 5 यदा तु प्रतिभासते तदेत्यादि पाठान्तरम् । 6 एकस्मान्चन्द्रादुत्पन्ना अतदाकारा चंद्र-
द्वयाकाररूपा बुद्धिरस्पष्टप्रतिभासा भवतु । न च तथास्ति । (व्या० प्र०) 7 जाततैमिरिकस्य । 8 तर्हि भवतां मीमांसकानां भेदाभेदे सतीदं दूषणं समानं तत्र किम् ? इति प्रश्ने आह । 9 स्थाणुपुरुषादिभ्यः । 10 अत एवास्पष्टता लक्षणं निर्विषयलक्षणं दूषणं न । 11 अशक्यविवेचनं । (व्या० प्र०) 12 विशेषाकाराद्द्वयावृत्ताविशेषाकारा । 13 सौगताभ्युपगताद्रूप्यसहिता न भवतीत्यर्थः । 14 विषये । बुद्धेर्निराकारत्वं तर्हि आकारः कथं प्रतिभासते इत्युक्ते आह । 15 हे सौगत । 16 बौद्धाभिप्रायमनुष्य दूषयति । (व्या० प्र०) 17 प्रतिनियतविषयः । (व्या० प्र०)

प्रतिनियत¹ सामग्रीवशात्² प्रतिनियतार्थव्यवच्छेदकतया³ तस्योत्पत्तेः⁴ प्रतिकर्मव्यवस्थानसिद्धेः⁵ साकारज्ञानवादिनामपि⁶ तथाभ्यु⁷पगमस्यावश्यम्भावित्वात् ।⁸ अन्यथा सकलसमानाकार-⁹ व्यवस्थापकत्वा¹⁰नापत्तेः¹¹ संवेदनस्य¹² तदसिद्धेः ।¹³ ततोऽसामान्याकारा बुद्धिः सामान्याव-¹⁴ भासिनी¹⁵ कुतश्चिदस्पष्टा¹⁶ कस्मिंश्चिद्वस्तुन्यविशेषाकारा¹⁷ च विशेषावभासिनीति दूरे सामान्यस्य प्रतिभासोऽस्पष्टः स्याद्विशेषस्य च¹⁸ कस्यचित्—¹⁹सकलविशेषरहितस्य सामा-²⁰ न्यस्य प्रतिभासासंभवात् ।²¹ न चोद्धृतासामान्ये विशेषे च²² प्रतिनियतदेशत्वादौ प्रति-

एवं अर्थाकार—सौगताभ्युपगत ताद्रूप्य सहित ज्ञान भी नहीं है क्योंकि ज्ञान को हमने निराकार माना है तथा उस विषय में प्रतिभासमान आकार पदार्थ के धर्म हैं । हम यदि ज्ञान को निराकार मानते हैं तो प्रतिकर्म व्यवस्था विरुद्ध हो जावेगी ऐसा भी आप सौगत नहीं कह सकते हैं क्योंकि प्रतिनियत सामग्री के निमित्त से प्रतिनियत पदार्थ को ग्रहण करने रूप से वह ज्ञान उत्पन्न होता है अतः प्रतिकर्म की व्यवस्था सिद्ध है । साकारज्ञानवादी सौत्रांतिक के यहाँ भी उस प्रकार से ज्ञान को निराकार रूप स्वीकार करना अवश्यभावी है । अर्थात् बौद्ध ज्ञान को पदार्थ से उत्पन्न होने वाला मानते हैं एवं पदार्थ के आकार को धारण करके ही वह ज्ञान पदार्थ को जानता है ऐसा कहते हैं किन्तु भाट्ट इस तदुत्पत्ति और तदाकारता का खण्डन कर देते हैं । अन्यथा प्रतिनियत सामग्री के निमित्त से प्रतिनियत व्यवच्छेदक का अभाव मानने पर सम्पूर्ण नील पीतादिज्ञानों में तुल्याकार प्राप्त हो जाता है । अतः सकल समानाकार की व्यवस्था कर देने की आपत्ति आ जावेगी पुनः संवेदन में वह प्रति कर्म व्यवस्था असिद्ध हो जावेगी ।

इसलिए असामान्याकार ज्ञान सामान्यावभासी किसी दृष्टादृष्ट कारण समूह से अस्पष्ट है और किसी वस्तु में अविशेषाकार—सामान्याकार ज्ञानविशेषावभासी किसी दृष्टादृष्ट कारण कलाप से अस्पष्ट है । इस प्रकार से दूर में सामान्य का प्रतिभास अस्पष्ट है और किसी विशेष का प्रतिभास भी अस्पष्ट है क्योंकि सकल विशेष से रहित सामान्य प्रतिभासित ही नहीं होता है ।

1 अदृष्टादि । (व्या० प्र०) 2 भाट्टः । 3 ग्राहकतया । 4 ता । (व्या० प्र०) 5 सौत्रान्तिकानाम् । 6 प्रतिनियत-सामग्रीवशात्प्रतिनियतार्थव्यवच्छेदकस्य ज्ञानस्याङ्गीकारस्य । 7 प्रतिनियतसामग्रीवशात् प्रतिनियतव्यवच्छेदकत्वाभावे सकलनीलपीतादिनिर्भासानां तुल्याकारत्वमापद्यते संवेदनस्य (विवक्षितनीलाकारवदशेषनीलाकारग्रहणप्रसक्तेः) । 8 ज्ञानस्य समस्वसदृशघटानां । (व्या० प्र०) 9 तथांगीकारे निराकरोति भाट्टः । (व्या० प्र०) 10 व्यवस्थापक-त्वापत्तेरिति पाठान्तरम् । 11 प्रतिकर्मव्यवस्थापनस्य सिद्धिर्न स्यात् । 12 योग्यतावशात्प्रतिनियतार्थव्यवस्था यतः । 13 दृष्टादृष्टकारणकलापात् । 14 सामान्याकारा । 15 पुष्टस्य । (व्या० प्र०) 16 कोपि विशेषो दूरे न प्रति-भासते इत्युक्ते आह । 17 सौगताभिप्रायमनूयाह । 18 स्थाणुपुरुषोचितदेशः । आदिशब्दात्प्रकाशाशब्दकारकलुष-वेलाश्च गृह्यन्ते ।

भासमाने स्थाणुपुरुषविशेषयोः सन्देहानुपत्तिः—तयोरप्रतिभासनात् । ¹तत्प्रतिभासनसामग्यभावादानुस्मरणे² सति सन्देहघटनात् । ³तद्वत्पचति यजतीत्यादिक्रियाविशेषाप्रतिभासने करोतीतिक्रियासामान्यस्य प्रतिनियतदेशादिरूपस्य⁴ प्रतिभासने युक्तः सन्देहः किं करोतीति । ⁵तथा प्रश्ने च पचति यजते इत्यादि प्रतिवचनं न दुर्घटम्—⁶कथञ्चित्पृष्टस्यैव प्रतिपादनात् । एवं यजनादिक्रियाविशेषाणां साधारणरूपा करोतीति क्रिया ⁷कथञ्चित्ततो⁸ ⁹व्यतिरेकेणोपलभ्यमाना ¹⁰कर्तृव्यापाररूपार्थभावना विभाव्यते¹¹ एवशब्दव्यापाररूपशब्दभावनावत्

ऊर्ध्वता सामान्य और विशेष में प्रतिनियत देश आदि के प्रतिभासमान होने पर अर्थात् स्थाणु पुरुषोचित्त देश में प्रकाश और अंधकार से कलुषित समय में उन सामान्य और विशेष दोनों के दिखने पर स्थाणु और पुरुष विशेष में संदेह नहीं होवे, ऐसा नहीं है क्योंकि वे दोनों प्रतिभासित नहीं होते हैं । अतः उस प्रतिभासन की सामग्री-देश की निकटता का अभाव होने से और अनुस्मरण के होने पर संदेह हो जाता है । उसी प्रकार से—“सामान्य के प्रत्यक्ष से तथा विशेष के अप्रत्यक्ष से और विशेष की स्मृति होने से संदेह होना युक्ति युक्त ही है” इस लक्षण के सिद्ध हो जाने से “पचति यजति” इत्यादि क्रिया विशेष के प्रतिभासित न होने पर “करोति” इस प्रकार की प्रतिनियत देशादि रूप क्रिया सामान्य के प्रतिभासित होने पर “किं करोति” ऐसा संदेह होना युक्त ही है । एवं “किं करोति” ऐसे प्रश्न के होने पर “पचति यजते” इत्यादि प्रत्युत्तर दुर्घट नहीं हैं, क्योंकि कथञ्चित् पूछा गया पुरुष ही उत्तर देता है ।

इस प्रकार से यजनादि क्रिया विशेषों में साधारणरूप “करोति” यह क्रिया कथञ्चित्—शक्य विवेचन रूप से उन यजनादि क्रिया विशेषों से भिन्न ही उपलब्ध होती हुई “करोति” अर्थ लक्षण वाली कर्ता के व्यापार रूप है, एवं उस क्रिया को ही अर्थ भावना कहते हैं क्योंकि वह शब्द व्यापार-रूप शब्दभावना के समान सकल बाधाओं से रहित है ऐसा निर्णय सिद्ध है ।

और वही वेदवाक्य का अर्थ है किंतु अन्यापोहादि के समान नियोग वेदवाक्य का अर्थ नहीं है । इसलिए हम भावनावादी भाट्टों का संप्रदाय ही संवादक सिद्ध होता है यह निश्चित हो गया । क्योंकि सत्यरूप कार्य और भावनालक्षण अर्थ में वेदवाक्य प्रमाण है उसी प्रकार से स्वरूप (विधि) में वे प्रमाण नहीं हैं अर्थात् लिङ्, लोट्, तव्य प्रत्यय से युक्त वेदवाक्य भावना अर्थ में ही प्रमाण है विधिवाद अर्थ में प्रमाण नहीं हैं कारण वहाँ बाधा का सद्भाव है । इस प्रकार से सभी वेदांतवाद का निराकरण कर देने से हम भाट्टों के यहाँ कोई भी बाधा उपस्थित नहीं हो सकती है ।

1 देशनैकट्यम् । 2 अथ कथं तयोः अप्रतिभासने संदेह इत्याह । (व्या० प्र०) 3 सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षाद्विशेष-स्मृतेश्च सन्देहो युक्त इत्युक्तवत् । 4 विशेषालिङ्गतस्य । आदिशब्देनातिप्रकाशाशब्दकारः । 5 किं करोतीति । 6 पृष्ट एव पुमानुत्तरं प्रतिपादयतीत्यर्थः । 7 शक्यविवेचनत्वेन । 8 यजनादिक्रियाविशेषेभ्यो भिन्नत्वेन । 9 भेदेन । (व्या० प्र०) 10 करोत्यर्थलक्षणा । 11 निश्चीयते एव । (व्या० प्र०)

सकलबाधकरहितत्वनिर्णयात् । सैव च ¹वाक्यार्थो न पुनर्नियोगोऽन्यापोहादिवत् । इति ²भट्टसम्प्रदाय एव संवादकः सिद्धः । ³कार्ये ⁴चार्थे चोदनायाः ⁵प्रामाण्यं तत एव न ⁶स्वरूपे— तत्र बाधकसद्भावात् । सर्ववेदान्तवाद⁷निराकरणान्न भट्टस्य कश्चिदपि प्रतिघात इति ⁸कश्चित् ।

[अत्रत्यात् जैनाचार्याः भट्टस्य भावनावादमपि निराकुर्वन्ति]

अत्र प्रतिविधीयते⁹ । यत्तावदुक्तं¹⁰, शब्दव्यापारः शब्दभावेनेति । तत्र शब्दात्तद्व्यापारो-
न्यन्तरभूतोर्थान्तरभूतो वा स्यात् ?

[शब्दात् शब्दव्यापारस्याभिन्नपक्षे दोष प्रतिपादनं]

यद्यनर्थान्तरभूतस्तदा कथमभिधेयः? शब्दस्य स्वात्मवत् । न¹¹ ह्येकस्यानंशस्य¹² प्रतिपाद्य-
प्रतिपादकभावो युक्तः? संवेद्यसंवेदकभाववत् । ¹³स्वेष्ट¹⁴ विपर्यसेन तद्भावापत्तेः—¹⁵प्रति¹⁶नि-
यम¹⁷हेत्वभावात् । ¹⁸तद्भेदपरिकल्पनया प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावे ¹⁹तस्य ²⁰सांवृत्तत्वप्रस-

यहाँ तक भावनावादी भट्ट ने अन्य विधिवादी का खण्डन करके अपना पक्ष पुष्ट किया है ।

[अब यहाँ से जैनाचार्य भावनावादी भट्ट का खण्डन करते हैं]

जैन—जो आप भट्टों ने कहा है कि “शब्द व्यापार ही शब्द भावना है” उसमें हम आपसे प्रश्न करते हैं कि शब्द का व्यापार शब्द से अभिन्न है या भिन्न ?

[शब्द से शब्द के व्यापार को अभिन्न मानने में दोष]

यदि अभिन्न है तो वाच्य कैसे होगा ? जैसे कि शब्द का स्वरूप वाच्य नहीं है । क्योंकि एक अनंश-अंश कल्पना रहित में प्रतिपाद्य और प्रतिपादक भाव युक्त नहीं है, जैसे कि एक निरंश ज्ञान में संवेद्य और संवेदक भाव मानना युक्त नहीं है । यदि अनंश में भी प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव मानोगे तब तो आपके इष्ट से विपरीत भी कहा जा सकेगा अर्थात् आपने शब्द को प्रतिपादक और उसके स्वरूप को प्रतिपाद्य माना है, उससे विपरीत शब्द को प्रतिपाद्य भी कह सकेंगे क्योंकि इस विषय में प्रतिनियत हेतु का अभाव है । यदि शब्द में अंश की कल्पना करके प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव मानोगे तो वह शब्द संवृत्ति रूप—कल्पित ही हो जावेगा ।

1 स्फोटादि । 2 अन्वय । (व्या० प्र०) 3 सत्यरूपः । 4 भावनालक्षणे । 5 लिङ्गोद्भवप्रत्यययुक्तस्य चोदनारूपस्य वाक्यस्य । (व्या० प्र०) 6 विधी । 7 विधिरूपे । (व्या० प्र०) 8 भट्टमतानुसारी । 9 जैनेन । 10 हे भट्ट त्वया । 11 व्यापारः शब्दस्यार्थो न भवति—ततोर्थान्तरत्वात् तत्स्वात्मवत् । अत्राशङ्का—ननु शब्दस्य स्वात्मा शब्दाभि-
धेयो भवतु । को दोषः ? तथा सति सन्दिग्धानैकान्तिकत्वं हेतोरित्युक्ते आह नहीति । 12 शब्दस्य ज्ञानापेक्षया निरंशस्य । 13 एकानंशस्य प्रतिपाद्यप्रतिपादकत्वं चेत् । 14 भट्टस्य स्वेष्टं शब्दस्य प्रतिपादकत्वंस्वरूपस्य प्रति-
पाद्यत्वमिति । तद्विपरीत्येनशब्दस्य प्रतिपाद्यत्वेन । 15 कुतः । 16 एकानंशे नियमाभावात् । (व्या० प्र०) 17 शब्दः प्रतिपादकः स्वरूपं प्रतिपाद्यमिति प्रतिनियमहेतोरभावात् । 18 शब्दस्य सांशत्वपरिकल्पनया । 19 शब्दस्य । 20 कल्पितत्व ।

ज्ञात् । ¹स्वरूपमपि शब्दः² श्रोत्रेण गमयति³ ⁴बहिरर्थवत्⁵ स्वव्यापारेण । ⁶ततस्तस्य⁷ प्रतिपादक इति चेन्न⁸—रूपादीनामपि स्वरूपप्रतिपादकत्वप्रसङ्गात्⁹ । ¹⁰तेपि हि स्वं स्वं स्वभावं ¹¹चक्षुरादिभिर्गमयन्ति—¹²चक्षुरादीनां स्वातंत्र्येण ¹³तत्र प्रवर्तनात् ¹⁴तत्प्रयोज्यत्वात् तेषां च रूपादीनां निमित्तभावेन ¹⁵प्रयोजकत्वात् स्वयमधीयानानां¹⁶ कारीषाग्न्यादिवत् । ¹⁷अथ रूपादयः प्रकाश्या एव ततोर्थान्तरभूतानां चक्षुरादीनां प्रकाशकादीनां सद्भावादिति मतम् । तथैव¹⁸ शब्दस्वरूपं प्रकाशयमस्तु—ततोन्वयस्य श्रोत्रस्य प्रकाशकस्य भावात् ।

भाट्ट—शब्द अपने स्वरूप को भी श्रोत्र-कर्षोन्द्रिय से बता देता है जैसे कि वह अपने व्यापार से बाह्य पदार्थों को बताता है । इसलिए वह स्वरूप का प्रतिपादक भी है अर्थात् यह शब्द स्वरूप की अपेक्षा से प्रतिपाद्य बन जाता है और बाह्य अर्थ की अपेक्षा से प्रतिपादक बन जाता है । एवं जैसे शब्द स्वव्यापार से बाह्य पदार्थ का ज्ञान कराता है वैसे ही शब्द श्रोत्रेन्द्रिय से पुरुष के स्वरूप को बतला देता है यह भी कैसे ? ऐसा प्रश्न होने पर बतलाते हैं कि पुरुष शब्द के स्वरूप को प्राप्त करता है । और श्रोत्रेन्द्रिय उस पुरुष को प्रेरित करती है पुनः शब्द उस श्रोत्रेन्द्रिय को प्रेरित करता है । इस प्रकार से गम् धातु से प्रेरणार्थ में णिच् प्रत्यय होकर “गमयति” बनता है । जिसका ऐसा अर्थ समझना चाहिये ।

जैन—ऐसा नहीं कहना । अन्यथा रूपादि भी अपने स्वरूप के प्रतिपादक हो जावेंगे, पुनः वे रूपादि भी भावना बन जावेंगे । वे रूपादि भी अपने-अपने स्वभाव को चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा पुरुष को बतला देते हैं क्योंकि वे चक्षु आदि इन्द्रियां स्वतंत्र रूप से उन रूपादि विषयों में प्रवृत्ति करती हैं । वे रूपादि प्रयोज्य है और चक्षु आदि—निमित्त भाव से प्रयोजक है जैसे कि स्वयं पढ़ने वालों को कारोषादि (कंडे) की अग्नि निमित्त मात्र से प्रयोजक है मुख्य रूप से नहीं ।

भाट्ट—वे रूपादि प्रकाश्य—प्रकाशित होने योग्य ही हैं क्योंकि उनसे भिन्न चक्षु आदि इन्द्रियाँ प्रकाशक रूप से विद्यमान हैं ।

जैन—उसी प्रकार से शब्द का स्वरूप भी प्रकाश्य ही होवे क्योंकि उनसे भिन्न श्रोत्रेन्द्रियाँ प्रकाशक विद्यमान हैं ।

1 भाट्टः । 2 स्वरूपमपेक्ष्य प्रतिपाद्यत्वं बहिरर्थमपेक्ष्य प्रतिपादकत्वं शब्दस्येति भावः । (व्या० प्र०) 3 यथा । तथा शब्दः श्रोत्रेण पुरुषं स्वरूपं गमयति इत्यत्रापि कथमिति चेत् शब्दस्वरूपं गच्छति पुरुषस्तं पुरुषं श्रोत्रं प्रयुंक्ते तच्च श्रोत्रं शब्दः प्रेरयति इति णिच् इत्यनेन प्रकारेण । पुरुषं । (व्या० प्र०) 4 कर्म बहिरर्थं यथा श्रोत्रेण गमयति । (व्या० प्र०) 5 यथा शब्दः स्वव्यापारेण बहिरर्थं गमयति । 6 शब्दः श्रोत्रेण स्वरूपं गमयति यतः । 7 स्वरूपस्य । 8 जैनः । 9 ततो रूपादिभाविना स्यात् । 10 रूपादयः । 11 पुरुषस्य । 12 एतदेव भावयति । 13 रूपाद्यवगमे । 14 ते रूपादयः प्रयोज्याश्चक्षुरादयः प्रयोजकाः निमित्तमात्रकृतं तत्प्रयोज्यत्वं, न तु मुख्यवृत्त्या । 15 स्वस्वरूपवेदनं प्रति । 16 अधीयानादीनां इति पा० । स्वयं अध्ययनं कुर्वतां । (व्या० प्र०) 17 भाट्टः । 18 जैनः ।

'सत्यमेतदिन्द्रिय'^१बुद्धेर्विषयभावमनुभवन् प्रकाश्य एव शब्दो रूपादिवत् । प्रतिपादकस्तु स्वरूपे शाब्दी बुद्धिमुपजनयन्नभिधीयते इति ^३चेन्न—तत्र वाच्यवाचकभावसम्बन्धाभावात्^४ । तस्य द्विष्टत्वेनैकज्ञानवस्थितेः^५ ।

[शब्दात् शब्दव्यापारस्य भिन्ने मन्यमाने दोषानाह]

यदि पुनरर्थान्तरभूत^६ एव शब्दात्तद्व्यापार इति मतं ^७तदा स शब्देन^८ प्रतिपाद्यमानो^९

भाट्ट—आपका कहना सत्य है । श्रोत्रेन्द्रिय ज्ञान में विषय भाव का अनुभव करते हुए रूपादि के समान शब्द प्रकाश्य ही हैं । किन्तु वे शब्द स्वरूप में शाब्दिक ज्ञान को उत्पन्न करते हुए प्रतिपादक भी कहे जाते हैं ।

जैन—ऐसा नहीं कहना । वहाँ पर तो वाच्य-वाचक भाव रूप सम्बन्ध का अभाव है । क्योंकि वाच्य-वाचक भावरूप सम्बन्ध द्विष्ट (दो में स्थित) होने से वह एकत्र-अनंश रूप शब्द में नहीं रह सकता है अर्थात् आपने शब्द को तो अंश रहित माना है पुनः उसमें वाच्य-वाचक रूप दो भाव कैसे बनेंगे ।

भावार्थ—भाट्ट का कहना है कि शब्द अपने स्वरूप को श्रोत्रेन्द्रिय के ज्ञान में अर्पण कर देता है । अतः वह शब्द अपने शब्द भावना के स्वरूप का प्रतिपादक हो जाता है । इस पर आचार्य कहते हैं कि तब तो रूप, रस, गंध और स्पर्श भी अपने-अपने स्वरूपों के प्रतिपादक हो जावेंगे क्योंकि ये रूप रसादि भी अपनी-अपनी चक्षु, रसना, घ्राण और स्पर्शन इन्द्रियों के ज्ञान में अपने स्वरूप का समर्पण करते ही हैं अर्थात् ये रूपरसादि भी चक्षु रसना आदि इन्द्रियों के विषय हैं जैसे कि शब्द श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है । इस पर भाट्ट कहता है कि शब्द अपने वाच्य अर्थ के प्रतिपादक हैं इसलिये ये शब्द अपने स्वरूप के प्रतिपादक हैं । किन्तु रूप रसादि वैसे नहीं हैं वे तो चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा प्रकाशित होने योग्य हैं और वे चक्षु आदि इन्द्रियाँ उन रूपादि से भिन्न प्रकाशक हैं । आचार्य कहते हैं कि आप भाट्टों का यह कहना अयुक्त ही है क्योंकि शब्द अपने वाच्य का प्रतिपादक रूप स्वयं ही प्रसिद्ध नहीं है । अन्यथा पर के द्वारा उपदेश देना, व्याख्यान करना, अर्थ का समझाना आदि व्यर्थ हो जावेंगे । क्योंकि "मेरा यह प्रतिपाद्य अर्थ है" ऐसा वे शब्द श्रोताओं को स्वयं तो कहते नहीं हैं । यदि शब्द स्वयं ही कह देगे तो मूर्ख, बालक आदि भी कठिन-कठिन शास्त्रों के अर्थों को स्वयं ही समझ जावेंगे । विद्यालयों में अध्यापकों की कोई भी आवश्यकता नहीं रहेगी । किन्तु ऐसा तो है नहीं ।

1 भाट्टः । 2 श्रोत्रेन्द्रियस्य । 3 जैनः । 4 निरंशत्वात् । (व्या० प्र०) 5 अनंशरूपे शब्दे । 6 द्वितीयपक्षे । 7 (जैनः) यथा च छेदकस्य कुठारस्य छेदस्य वृक्षस्य तयोर्न्तरालेऽवान्तरव्यापारेणोत्पत्तनपतनेन भाव्यम् । 8 कर्तृ । (व्या० प्र०) 9 यदि शब्दव्यापारः शब्देनोत्पाद्यमानस्तदा शब्देन पुरुषव्यापारो भाव्यते इति वचो विरुद्धघत् । (व्या० प्र०)

१व्यापारान्तरेण प्रतिपाद्यते चेत्तर्हि^२ ३तद्भाव्यः स्यात् । तद् व्यापारान्तरं तु भावनानुष-
ज्यते । ४तदपि यदि शब्दादर्थान्तरं तदा तद्भाव्यं व्यापारान्तरेण स्यात् । तत्तु भावनेत्यपरा-
परभाव्यभावनापरिकल्पनायामनवस्थाप्रसङ्गः ।

[भाट्टः शब्दात्तस्य व्यापारं भिन्नाभिनं मन्यते तत्रापि दोषानुद्भावयति जैनाचार्याः]

५अथ ६वाक्यात्तद्व्यापारः कथञ्चिदन्तरान्तरम् ७विष्वग्भावेनानुपलभ्यमानत्वात् ८कुण्डा-
देर्बंदरादिवत् । कथञ्चिदन्तरं च विरुद्धधर्माध्यासात्—९तदनुत्पादे^{१०}प्युत्पादात्तदविनाशेपि^{११}
च विनाशादाकाशादन्धकारवदिति^{१२} मतम् । १३तदाप्युभय^{१४}दोषानुषङ्गः । १५स्यान्मतम्—

[शब्द से शब्द के व्यापार को भिन्न मानने में दोष]

यदि पुनः द्वितीय पक्ष लेवें कि शब्द से शब्द का व्यापार भिन्न ही है तब तो वह शब्द के द्वारा प्रतिपाद्यमान व्यापार कारणभूत—व्यापारान्तर से यदि प्रतिपादित किया जाता है तब तो उस शब्द व्यापार से पुरुष का व्यापार संभव हो सकता है । किन्तु वह व्यापारान्तर ही भावना कहलायेगा । और यदि उस व्यापारान्तर को भी शब्द से भिन्न मानों तब तो वह भी अन्य व्यापार से ही भाव्य होगा, पुनः वह भी भावना कहलायेगा इस प्रकार अपरा पर भाव्य-भावना की कल्पना करते रहने से अनवस्था दोष आ जावेगा ।

[भाट्ट शब्द से उसके व्यापार को भिन्न और अभिन्न दोनों रूप मानता है उस पर भी जैनाचार्य दोष-
रोषण करते हैं]

भाट्ट—शब्द से उसका व्यापार कथञ्चित् अभिन्न है क्योंकि विष्वग्भाव—पृथक्भाव से उस व्यापार की उपलब्धि नहीं होती है । जैसे कुंडादि से बंदरी फल (बेर) पृथक् रूप से उपलब्ध हो रहे हैं अतः वे कथञ्चित् कुंडादि से अभिन्न नहीं हैं । एवं शब्द से शब्द का व्यापार कथञ्चित् भिन्न है क्योंकि विरुद्ध धर्माध्यास देखा जाता है । उस शब्द के उत्पन्न न होने पर भी उसका पृथक् उत्पाद देखा जाता है एवं उस शब्द के विनष्ट न होने पर भी उस व्यापार का विनाश देखा जाता है । जैसे आकाश के उत्पन्न एवं विनष्ट न होने पर भी अन्धकार उत्पन्न होता हुआ और नष्ट होता हुआ देखा जाता है ।

जैन—आपकी ऐसी मान्यता में भी उभय पक्ष में दिये गये सभी दोष आ जाते हैं । क्योंकि आप स्याद्वादी नहीं हैं, आप अपेक्षाकृत कथञ्चित् का अर्थ नहीं समझते हैं ।

भावार्थ—भाट्ट ने शब्द के व्यापार को शब्द भावना कहा है । इस पर आचार्य ने प्रश्न किया

1 कारण भूतेन । 2 जैनः । 3 शब्दव्यापारेण हि पुरुषव्यापारो भाव्यते इत्युक्तं पूर्वं तथा तद्वदित्यर्थः । 4 व्यापारान्तरम् । 5 भाट्टः । 6 शब्दात् । 7 पृथग्भावेन । 8 व्यतिरेकदृष्टान्तः । यत्र कथञ्चिदन्तरान्तरत्वं न भवति तत्र विष्वग्भावेनोपलभ्यमानत्वं भवति । यथा कुण्डादेर्बंदरादिः । 9 शब्दः । 10 पृथक् । 11 शब्द व्यापारस्य । 12 अन्धकारादिवत् इति पा० । (व्या० प्र०) 13 जैनः । 14 अनर्थान्तरान्तरौक्तदोषः स्यात् । 15 भट्टस्य ।

अग्निष्टोमादिवाक्यमुपलभ्यमान¹ पुरुषव्यापारस्य ²साधकमिदमित्यनुभवाद्वाक्यस्थ³ एव तद्व्यापारो भावना वाक्यस्य विषयतां ⁴समञ्चिति—तथा प्रतीतेः । अन्यथा⁵ ⁶सर्वत्र विषयविषयिभावसंभावनाविरोधात् ।

[भाट्टो वदति यत् जैर्नैर्मान्यं ज्ञानमपि स्वव्यापाराद् भिन्नमभिन्नं भिन्नाभिन्नं वेति त्रिषु पक्षेषु दोषावतारः]

संवेदनमपि⁷ हि ⁸भवतां ⁹स्वव्यापारं विषयी ¹⁰कुर्वन् तदनर्थान्तरभूतमर्थान्तरभूतं

कि शब्द से उस शब्द का व्यापार अभिन्न है या भिन्न ?

शब्द से उसके व्यापार को अभिन्न मानने में आचार्य ने दोष दिया है कि आप भाट्ट के यहाँ शब्द अंश कल्पना से रहित हैं पुनः उनमें वाच्य वाचक सम्बन्ध कैसे बनेगा ? यदि शब्द में अंश की कल्पना करके वाच्य-वाचक भाव मानों तो भी अंश कल्पना के काल्पनिक होने से शब्द और उसका अर्थ भी कल्पित ही रहेगा ।

यदि शब्द से उसके व्यापार को भिन्न मानोगे तो भी वह शब्द के द्वारा प्रतिपादित किया गया शब्द का व्यापार उस शब्द से भिन्न होने से यह उस शब्द का व्यापार है ऐसा कैसे कहा जावेगा । एवं यदि वह शब्द का व्यापार भिन्न व्यापार से प्रतिपादित किया जावेगा तो अनवस्था आ जावेगी । इस पर भाट्ट ने शब्द से उसके व्यापार को भिन्नाभिन्न मान लिया । तब आचार्य ने कहा कि दोनों ही पक्ष में दिए गए दोष पुनः आपके ऊपर एक साथ आ जावेंगे क्योंकि आप अपेक्षा कृत भिन्नाभिन्न की व्यवस्था नहीं समझते हैं और यदि अपेक्षा को समझ लेंगे तब तो स्याद्वादी के पक्ष में सामिल हो जावेंगे फिर एकान्तवादी नहीं रहेंगे ।

भाट्ट—उपलब्ध होते हुए अग्निष्टोमादि वाक्य पुरुष व्यापार के साधक हैं इस प्रकार से अनुभव आता है अतः शब्द में स्थित ही शब्द का व्यापार भावना है और वही शब्द भावना वेदवाक्य के विषयपत्ते को प्राप्त करती हैं क्योंकि वैसे ही अनुभव आ रहा है । अन्यथा—ऐसा न मानों तो सर्वत्र-ज्ञान और अर्थ में विषय-विषयिभाव की संभावना ही विरुद्ध हो जावेगी । एवं जैसे आपने हमारे से प्रश्न किए हैं वैसे ही हम आप जैनियों से भी प्रश्न करेंगे कि—

[भाट्ट कहता है कि आप जैनों के द्वारा मान्य ज्ञान भी अपने व्यापार से भिन्न है या अभिन्न या भिन्नाभिन्न है ? इन तीनों पक्षों में दोषारोपण]

आपके यहाँ ज्ञान भी अपने स्वार्थग्रहण लक्षण व्यापार को विषयभूत करता हुआ उस ज्ञान से भिन्न अपने स्वभाव को जानता है या अभिन्न स्वभाव को अथवा कथञ्चित् उभय स्वभाव को जानता

1 गृह्यमाणम् । 2 भावकमिति पाठान्तरम् । 3 उल्लेखेन । (व्या० प्र०) 4 प्राप्नोति । 5 भावनाया वाक्यविषय-त्वाभावे । 6 ज्ञानार्थयोः । 7 यथास्माकं (भाट्टानां) विकल्पेन पृष्टं तथास्माभिरपि पृच्छ्यते जैनः । 8 जैनानाम् । 9 स्वार्थग्रहणलक्षणम् । 10 स्वीकुर्वन् । (व्या० प्र०)

वा कथञ्चिदुभयस्वभावं वा ¹संवेदयेत्—गत्यन्तराभावात् । प्रथमपक्षे न संवेद्यसंवेदकभावः—
 संवेदनतद्व्यापारयोः सर्वथानर्थान्तरत्वाद्वाक्यतद्व्यापारयोः² प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाववत् ।
 द्वितीयपक्षेपि न तयोस्तद्भावः—³अनवस्थानुषङ्गात्तद्वत् । तृतीयपक्षे तु तदुभयदोषप्रसक्तेस्तद्वदेव
 कुतः संवेद्यसंवेदकभावः सिध्येत् ⁴अथ स्वार्थसंवेदन⁵व्यापारविशिष्टं संवेदनमबाधमनुभूयमानं
 विकल्पशतेनाप्यशक्यनिराकरणं⁶ संवेद्यसंवेदकभावं साधयतीत्यभिधाने⁷ ⁸परस्यापि शब्दः
 स्वव्यापारविशिष्टः पुरुषव्यापारं⁹ ¹⁰भावयतीत्यबाधप्रतीतिसद्भावाद्वाक्यव्यापारो भावना
¹¹वाक्यस्य विषयो व्यवतिष्ठते एवेति ।

है ? एवं इन तीन विकल्पों को छोड़कर और तो कोई गति उस ज्ञान की नहीं है । यदि पहला पक्ष लेवो तो संवेद्य—संवेदक भाव उस ज्ञान में नहीं बनेगा, क्योंकि आपने तो ज्ञान और उसके व्यापार में सर्वथा अभेद मान लिया है जैसे कि हमारे यहाँ शब्द और उसके व्यापार में सर्वथा अभेद मानने पर प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव नहीं हो सकता है ।

दूसरे पक्ष में भी उन दोषों का सद्भाव संभव ही है पूर्ववत् अनवस्था का प्रसंग आ जाता है, अर्थात् यदि ज्ञान से ज्ञान का व्यापार भिन्न ही है तब वह ज्ञान का व्यापार ज्ञान से अनुभव किया जाता हुआ व्यापारांतर से जाना जायेगा तो व्यापारांतर भाव्य होगा और वह व्यापारांतर भी ज्ञान से भिन्न होगा तो वह भी भिन्न-व्यापार से भाव्य होगा ऐसे अनवस्था आ जावेगी ।

तृतीय पक्ष में भी उन दोनों पक्षों में दिये गये दोष आ ही जावेंगे पुनः उसी प्रकार से संवेद्य—संवेदक भाव—ज्ञेय-ज्ञान भाव कैसे सिद्ध हो सकेगा ?

यदि आप जैन ऐसा कहें कि—

“स्वार्थसंवेदन व्यापार से विशिष्ट, अनुभूयमान ज्ञान बाधा रहित है, सैंकड़ों विकल्पों के द्वारा उसका निराकरण करना शक्य नहीं है अतः वह ज्ञान संवेद्य संवेदक भाव को सिद्ध कर देता है ।” ऐसा आपके द्वारा मानने पर तो हम भाट्टों का भी शब्द अपने व्यापार से विशिष्ट होता हुआ यागलक्षण पुरुष व्यापार को भावित करता है । इस प्रकार से बाधा रहित प्रतीति का सद्भाव होने से शब्द का व्यापार ही भावना है वह पुरुष के व्यापार को कराती है अतः वह भावना ही वेदवाक्य का विषय है यह बात व्यवस्थित ही है ।

1 स्वार्थग्रहणलक्षणम् । 2 ज्ञेयवस्तुग्रहणलक्षणो व्यापारः । 3 यदि पुनरर्थान्तरभूत एव संवेदनात्संवेदनव्यापार इति मतं तदा न संवेदनव्यापारः संवेदनेन संवेद्यमानो व्यापारान्तरेण संवेद्यते चेत्तर्हि व्यापारान्तरभाव्यः स्यात् । व्यापारान्तरं तु यदि संवेदनादर्थान्तरं तथा तद्व्यापारान्तरं व्यापारान्तरेण भाव्यमिति सत्यनवस्था । 4 भट्टो वदति । 5 एव । (व्या० प्र०) 6 सत् । (व्या० प्र०) 7 जैनैः । 8 भाट्टस्य । 9 यागलक्षणम् । 10 (प्रेरयति) स्वपर-प्राप्तिकातीन्द्रियशक्तिः करणरूपा । 11 शब्दः पुरुषव्यापारं भावयतीत्यादि वचनम् ।

[भाट्टेनारोपितान् दोषान् जैनाचार्याः निराकुर्वन्ति]

¹तदनुपपन्नम्—²वैषम्यात्³ । संवेदनेन हि⁴ ⁵संवेद्यमानः ⁶स्वात्माऽर्थो⁷ वा ⁸तस्य विषयो न पुनः संवेदकः स्वात्मा ⁹तत्संवेद्यत्वेन्यस्य¹⁰ ¹¹संवेदनस्यात्मनः¹² ¹³संवेदकत्वोपपत्ते-
¹⁴राकाङ्क्षा¹⁵परिक्षयादनवस्थानवतारात्¹⁶ । ¹⁷वाक्येन¹⁸ तु भाव्यमानः¹⁹ पुरुषव्यापारो न तस्य

[भाट्ट के द्वारा दिये गये दोषों का जैनाचार्य निराकरण करते हैं]

जैन—यह आपका कथन ठीक नहीं है क्योंकि दृष्टांत और दाष्टांत में विषमता है । ज्ञान के द्वारा संवेद्यमान—जाना गया स्वपरग्राहक अतीन्द्रियकरण शक्ति रूप स्वात्मा अथवा पदार्थ उस वाक्य के विषय हैं किन्तु संवेदक स्वात्मा उसका विषय नहीं है । यदि स्वात्मा को भी संवेद्य रूप मान लेओगे तो अन्य संवेदन के स्वरूप को संवेदकपना आ जावेगा पुनः अन्तर् व्यापार की आकांक्षा का परिक्षय-अभाव होने से अनवस्था नहीं आवेगी ।

विशेषार्थ—जैनाचार्यों ने “शब्द से उस शब्द का व्यापार भिन्न है या अभिन्न ?” इत्यादि विकल्प उठाकर भाट्टों पर दोषारोपण किया था । तो भाट्ट भी उसी पद्धति से जैनाचार्य के प्रति दोषारोपण करते हुए कहता है कि आप जैनों के यहाँ ज्ञान स्वपर को जानने वाला प्रसिद्ध है पुनः जब ज्ञान अपने स्वरूप को जानता है तब वह ज्ञान अपने से अभिन्न अपने स्वरूप को जानता है या अपने से भिन्न अपने स्वरूप को जानता है या अपने से भिन्नाभिन्न अपने स्वरूप को जानता है ?

इन तीन विकल्पों के सिवा चौथा विकल्प संभव ही नहीं है । यदि ज्ञान अपने से अभिन्न स्वरूप को जानता है तो वह ज्ञान ज्ञेय—जानने योग्य और ज्ञापक—जानने वाला इन दोनों रूप कैसे हो सकेगा क्योंकि ज्ञान और उसका स्वरूप सर्वथा अभिन्न रूप ही है । जब दूसरा भिन्न पक्ष लेवोगे तो अनवस्था आ जावेगी । एवं तृतीय पक्ष में दोनों पक्षों के दोष आ जाते हैं । यदि आप जैन कहें कि

1 जैनः । 2 दृष्टान्तदाष्टान्तिकयोः । 3 वैषम्यं भावयति । 4 कर्तृ । (व्या० प्र०) 5 स्वात्मा तु न संवेदकः किन्तु संवेद्य एव । 6 स्वपरग्राहिकातीन्द्रियशक्तिः करणरूपा स्वात्मा । 7 बाह्यार्थः । (व्या० प्र०) 8 तस्य वाक्यस्य । 9 स्वात्मनः । 10 करणरूपस्य । 11 विषयरूपतया ग्राह्यत्वे । 12 स्वरूपस्य । 13 येन ज्ञानेन करणं संवेद्यं तस्य ज्ञानस्य संवेदकत्वोपपत्तेः । स्वार्थग्रहणलक्षणस्यापरव्यापारस्याकांक्षा परिक्षयादनवस्था नास्ति । वैशद्येऽपि परोक्षं मीमांसकस्य करणं ज्ञानं तथा जैनानामनंगीकारात् । (व्या० प्र०) 14 स्वार्थग्रहणलक्षणपरव्यापारस्य । (व्या० प्र०) 15 अन्तर्व्यापारस्याकाङ्क्षा नास्ति ततो नानवस्था । 16 संवेद्यमानः स्वात्माऽर्थो वा तस्य विषय इति तदेव साध्यं । (व्या० प्र०) 17 अन्यत्संवेदनं ह्यात्मानं स्वरूपं परिच्छिनत्ति । अतोऽन्यत्संवेदनं संवेदकं स्वात्मा तु संवेद्य इत्यायातम् । 18 शब्दव्यापारेण हि पुरुषव्यापारो भाव्यते तदानीमेव पुरुषव्यापार एव शब्दस्य विषयः न तु शब्दव्यापारः तस्य करणत्वात् तथांगीकाराद्वैषम्यं शब्दस्य व्यापारो विषयः न तु पुरुषव्यापार इति कारणात् । (व्या० प्र०) 19 उत्पाद्यमान ।

विषयः । ^१स्वव्यापारस्तु ^२भावकत्वलक्षणो भावनाख्यो ^३विषयोभ्युपगम्यते इति मनागपि न ^४साम्यम्—तथाप्रतीत्यभावाच्च^५ । न हि कश्चिद्वाक्यश्रवणादेव^६ प्रत्येति ^७स्वव्यापारोनेन^८ वाक्येन मम प्रतिपादित^९ इति । किं तर्हि ? ^{१०}जात्यादिविशिष्टोर्थः ^{११}क्रियाख्योनेन^{१२}

हमारे यहाँ ज्ञान स्वपर को जानने वाला अनुभव से सिद्ध है अतः संकड़ों विकल्पों से उसमें दोषारोपण करना शक्य नहीं है । तब तो हम भाट्टों के यहाँ भी शब्द अपने व्यापार से सहित होता हुआ पुरुष के यज्ञ रूप व्यापार को भावित कराता है । इसमें भी बाधा रहित अनुभव आ रहा है अतः शब्द का व्यापार ही शब्द भावना है और वह पुरुष के व्यापार को करा देती है इत्यादि । इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि भाई ! हमारे ज्ञान में भिन्न, अभिन्न आदि रूप से दोष नहीं आते हैं क्योंकि हम अपेक्षा से ज्ञान को उसके जानने रूप व्यापार से भिन्न भी मानते हैं और अभिन्न भी मानते हैं । हमारे यहाँ ज्ञान शब्द व्याकरण से व्युत्पत्ति अर्थ में तीन प्रकार से सिद्ध होता है । यथा—कर्त्तरि प्रयोग में “जानातीति ज्ञानं आत्मा” । जो जानता है वह ज्ञान है इस अर्थ में ज्ञान और आत्मा अभिन्न—एक रूप हो जाते हैं “ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं” । इस कारण साधन में जिसके द्वारा जाना जावे वह ज्ञान है ऐसा अर्थ करने से ज्ञान और आत्मा में करण और कर्त्ता की अपेक्षा से कथंचित् भेद भी हो जाता है । एवं “ज्ञप्तिमात्रं वा ज्ञानं” । कहने से जानना मात्र क्रिया ही ज्ञान है ऐसा सिद्ध हो जाता है । यहाँ पर ज्ञान को करण रूप से विवक्षित कर लेने से आपके द्वारा आरोपित दोषों का उन्मूलन हो जाता है । ज्ञान के द्वारा स्व और पर का ज्ञान होता है । मतलब ‘स्व’ शब्द से यहाँ ज्ञान रूप करण शक्ति से सहित आत्मा, और पर शब्द से सभी जीव-अजीव आदि पदार्थ ग्रहण किये जाते हैं । जब ज्ञान स्वपर को जानने वाला है तब वह ज्ञान संवेद्य—जानने योग्य नहीं है क्योंकि ज्ञान तो जानने वाला सिद्ध है । अतः ज्ञान करण शक्ति रूप से संवेद्य नहीं है किन्तु सवेदक है अतः हमारे यहाँ ज्ञान कथंचित् अपने से अभिन्न स्वभाव वाली आत्मा को जानता है । कथंचित् कर्त्ता करण में भेद की विवक्षा से अपने से भिन्न अपने स्वभाव को जानता है एवं क्रम से भिन्नाभिन्न की विवक्षा करने से सप्तभंगी के तृतीय भंग रूप—कथंचित्—भिन्न,भिन्न रूप अपने आत्म स्वभाव को जानता है ।

वाक्य के द्वारा भाव्यमान—उत्पन्न कराया गया पुरुष का व्यापार उसका विषय नहीं है । किन्तु स्वव्यापार भावक-लक्षण उस शब्द का भावना-नाम का विषय है ऐसा आपने स्वीकार किया है इसलिए किंचित् भी उदाहरण में साम्य नहीं है । कारण उस प्रकार की प्रतीति नहीं आ रही है । कोई भी मनुष्य “अग्निष्टोमेन यजेत” इत्यादि शब्द के सुनने मात्र से ही इस प्रकार से नहीं समझता है कि “इस वाक्य ने मेरा व्यापार प्रतिपादित किया है” इत्यादि ।

१ तर्हि भाट्टाभिहितविषयः क इत्युक्ते आह । २ उत्पादकत्वलक्षणः । ३ तस्य वाक्यस्य । ४ वैषम्यादित्यनेन संबन्धः । (व्या० प्र०) ५ न केवलं वैषम्यात् । (व्या० प्र०) ६ अग्निष्टोमेन यजेतेत्यादि । ७ पुरुषव्यापारः । ८ वाक्यस्य । (व्या० प्र०) ९ प्रकाशित । (व्या० प्र०) १० आदिशब्दाद् गुणद्रव्ये । ११ यजेत आलभेतेत्यादि । १२ अनेन वाक्येन ।

प्रकाशित इति प्रतीतिः—सर्वेण वाक्येन क्रियाया एव कर्मादिविशेषणविशिष्टायाः प्रकाशनात् । देवदत्त गामभ्याज ¹शुक्लां ²दण्डेनेत्यादिवत् । ³सैवाभ्याजनादिव्यवच्छिन्ना⁴ क्रिया भावना अभ्याज अभ्याजनं कुर्वति प्रतीतिरिति चेन्न⁵—तस्याः पुरुषस्थत्वेन सम्प्रत्ययाच्छब्दात्म⁶भावनारूपत्वायोगात् । ⁷तथा च कथमिदमवतिष्ठते—“शब्दात्मभावनामाहुरन्यामेव⁸ लिङादय” इति ।

[अत्रपर्यन्तं शब्दभावनां निराकृत्य इदानीमर्थभावनामपाकुर्वति जैनाचार्याः]

⁹यदप्युक्तम्—अर्थभावना पुरुषव्यापारलक्षणा¹⁰ वाक्यार्थ इति तदप्युक्तम्—नियो-

शंका—तो शब्द क्या प्रतिपादित करता है ?

जैन—जाति आदि से विशिष्ट अर्थ “यजेत” इत्यादि क्रिया नाम से इस वाक्य के द्वारा प्रकाशित किया गया है ऐसा अनुभव आता है क्योंकि सभी वाक्य कर्मादि विशिष्ट से विशेषण क्रिया को ही प्रकाशित करते हैं । जैसे “हे देवदत्त ! इस श्वेत गाय को डंडे के द्वारा भगावो” इत्यादि वाक्य जाति, गुण, द्रव्य से विशिष्ट ही अर्थ का प्रतिपादन करते हैं—तथैव ।

भाट्ट—वही अभ्याजन आदि से अवच्छिन्न क्रिया ही तो भावना है क्योंकि “अभ्याज, अभ्याजनं कुरु”—भगाओ, भगाने की क्रिया करो इस प्रकार से प्रतीति आ रही है ।

जैन—नहीं । वह प्रतीति तो पुरुष में स्थित रूप से जानी जाती है । शब्दभावना और अर्थ-भावना रूप से नहीं जानी जाती है । और उस प्रकार से यह बात भी कैसे व्यवस्थित होगी कि “लिङादि लकार शब्दभावना और आत्मभावना को अर्थभावना से भिन्न ही कहते हैं” अर्थात् यह कथन ठीक नहीं है ।

[शब्दभावना का निराकरण करके अब यहाँ से आचार्य अर्थभावना का निराकरण करते हैं]

जैनाचार्य—और जो आपने कहा है कि “पुरुष व्यापार लक्षण अर्थभावना वेदवाक्य का अर्थ है” यह कथन भी अयुक्त है, अन्यथा नियोग भी वेदवाक्य का अर्थ हो जावेगा क्योंकि “नियुक्तोऽहमनेन वाक्येन यागादौ” मैं इस वेद वाक्य के द्वारा यज्ञादि कर्म में नियुक्त हुआ हूँ । इस प्रकार से ज्ञाता को अनुभव हो रहा है ।

भाट्ट—इस प्रकार से शब्द व्यापार रूप से शब्दभावना ही सिद्ध होती है अतः ऐसा शब्द-भावना रूप नियोग हमें इष्ट है हमने तो शुद्ध कार्यादिरूप ही नियोग का निराकरण किया है ।

1 गुणः । 2 द्रव्यम् । 3 भाट्टः । 4 विशिष्टः । (व्या० प्र०) 5 जैनः । 6 स्वरूप । (व्या० प्र०) 7 लिङादीनां शब्दव्यापारविषयत्वाभावे सति । 8 अर्थभावनातः । 9 इदानीमर्थभावनां निराकर्तुमुपक्रमते । 10 देवदत्तः करोतीत्यादिलक्षणा ।

गस्य वाक्यार्थत्वप्रसङ्गात् । नियुक्तोहमनेन वाक्येन यागादाविति प्रतिपत्तुः प्रतीतेः । ^१इष्टस्ता-
दृशो नियोगो ^२भावनास्वभावः ^३शुद्धकार्यादिरूपस्यैव नियोगस्य निराकरणादिति ^४चेन्न
तस्यापि प्रधानभावापितस्य ^५करोत्यर्थादिविशेषणस्य ^६वाक्यार्थत्वोपपत्तेः । निरपेक्षस्य ^७तु
करोत्यर्थस्यापि वाक्यार्थत्वानुपपत्तेः । न च करोत्यर्थ एव वाक्यार्थ इति युक्तम्—^८यज्या-
द्यर्थस्यापि वाक्यार्थतयानुभवात् ।

[भाट्टाः करोति सामान्यक्रियामेव वाक्यस्यार्थं मन्यन्ते, किंतु जैनाचार्याः भवति क्रियां सामान्यरूपां
सर्वव्यापिनी मत्वा दोषारोपणं कुर्वति]

^९करोतिसामान्यस्य ^{१०}सकलयज्यादिक्रियाविशेषव्यापिनो नित्यत्वाच्छब्दार्थत्वम्-नित्याः ^{११}
शब्दार्थसम्बन्धा इति वचनात् । न पुनर्यज्यादिक्रियाविशेषास्तेषामनित्यत्वाच्छ ^{१२}ब्दा ^{१३}र्थत्वाज्जे-

जैन—ऐसा नहीं कहना । क्योंकि “करोति इस अर्थ आदि विशेषण से विशिष्ट, प्रधान भाव से
विवक्षित वह नियोग भी वेदवाक्य का अर्थ हो जाता है किन्तु निरपेक्ष करोति क्रिया का अर्थ भी वेद-
वाक्य का अर्थ नहीं हो सकता है एवं “करोति” अर्थ ही वेद वाक्य का अर्थ है, यह कहना भी ठीक
नहीं है क्योंकि यज्यादि अर्थ भी वेदवाक्य के अर्थरूप से अनुभव में आते हैं ।

[भाट्ट ने करोति क्रिया को सामान्य मानकर उसे ही वेदवाक्य का अर्थ माना है । उस पर जैनाचार्य “भवति”
क्रिया को सर्वव्यापी मानकर उसे वेद का अर्थ सिद्ध करते हैं]

भाट्ट—सकल यज्यादि क्रिया विशेष में व्यापी “करोति” सामान्य नित्य है अतः वह शब्द
का अर्थ है । क्योंकि “नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः” ऐसा वाक्य पाया जाता है किन्तु यज्यादि क्रिया
विशेष वेद के अर्थ नहीं हैं क्योंकि वे अनित्य हैं वे वेदवाक्य के अर्थ घटित नहीं होते हैं ।

जैन—ऐसा नहीं कहना—क्योंकि सकल यज्यादि क्रिया विशेषों में व्यापी यज्यादिक्रिया-
सामान्य नित्य है वह भी वेदवाक्य का अर्थ हो सकता है इसमें कोई विरोध नहीं है ।

भाट्ट—सभी क्रियाओं में व्यापी होने से “करोति” सामान्य ही शब्द का अर्थ है न कि
यज्यादि विशेष ।

जैन—यदि ऐसा मानते हो तो भवन-क्रिया-रूप “सत्ता-सामान्य” भी शब्द—वेदवाक्य का
अर्थ हो जावे क्या बाधा है ? करोति क्रिया में भी उसका सद्भाव है । क्योंकि महाक्रिया में सामान्य-

१ भाट्ट आह “भो जैन” । २ शब्दव्यापार इत्युक्ते शब्दभावनैवेति भावनास्वभावः । ३ यागमात्र । (व्या० प्र०)
४ जैनः । ५ विवक्षितस्य । ६ वसः । ७ विशेषणे । (व्या० प्र०) ८ पचनादि । (व्या० प्र०) ९ भाट्टो वदति ।
१० सूत्राम्नाता महर्षिभिः सूत्राणां सानुतंत्राणां भाष्याणां च प्रणेतृभिः । तंत्राणां—विषमपदव्याख्यानमनुतंत्रं तेन
सह वर्तन्ते यानि सूत्राणि तानि सानुतंत्राणि तेषां । (व्या० प्र०) ११ “नित्याः शब्दार्थसम्बन्धास्तत्राम्नाता महर्षिभिः ।
सूत्राणां सानुतंत्राणां भाष्याणां च प्रणेतृभिः” । १२ वाक्यार्थता । १३ शब्दार्थत्वाघटनात् इति पा० । (व्या० प्र०)

¹दनात् । इति चेन्न²—³यज्यादिक्रियासामान्यस्य⁴ सकलयज्यादिक्रियाविशेषव्यापिनो नित्यत्वाच्छब्दार्थत्वाविरोधात्, ⁵सर्वक्रियाव्यापित्वात्करोतिसामान्यं शब्दार्थं इति चेत्तर्हि⁶ सत्तासामान्य⁷ ⁸शब्दार्थोस्तु, करोतावपि तस्य सद्भावात् । ⁹महाक्रियासामान्य¹⁰व्यवस्थितरूपत्वात्¹¹ । यथैव हि पचति पाकं करोति, यजते यागं करोतीति प्रतीतिस्तथा पचति पाचको भवति, यजते याजको भवति, करोतीति कारको भवतीत्यपि प्रत्ययोस्ति । ततः करोतीति¹²-रार्थव्यापित्वाद्भव¹³त्यर्थस्यैव शब्दार्थत्व¹⁴ युक्तमुत्पश्यामः¹⁵ ।

[निष्क्रियवस्तुनि अपि भवत्यर्थो विद्यतेऽतः क्रियास्वभावो नास्तीति भाट्टेनोच्यमाने जैनचार्या निराकुर्वति]

स्यान्मतं “निर्व्यापारेपि¹⁶ वस्तुनि भवत्यर्थस्य प्रतीतेन क्रियास्वभावत्वं, ¹⁷निष्क्रियेषु गुणादिषु ¹⁸भवनाऽभावप्रसङ्गात्” इति चेन्न, करोत्यर्थेपि समानत्वात् । ¹⁹परिस्पन्दात्मक-

व्यवस्थितरूप ही है । अर्थात् सत्ता-सामान्य सर्वत्र व्यवस्थित ही रहता है ।

जिस प्रकार से “पचति—पाकं करोति, यजते—यागं करोति” यह प्रतीति आ रही है उसी प्रकार से “पचति, पाचको भवति, यजते, याजको भवति, करोतीति कारको भवति” यह ज्ञान भी हो रहा है । इसलिये “भवति” यह क्रिया इतर पचन आदि अर्थ में भी व्यापी होने से हम जैन “भवति” इस क्रिया के अर्थ को ही वेद-वाक्य का अर्थ युक्त समझते हैं किन्तु ‘करोति’ अर्थ को नहीं ।

[निष्क्रिय वस्तु में भी भवति क्रिया का अर्थ देखा जाता है अतः वह क्रिया स्वभाव नहीं है ऐसी भाट्ट की मान्यता का निराकरण]

भाट्ट—निर्व्यापार—निष्क्रिय—वस्तु में भी भवति क्रिया का अर्थ देखा जाता है इसलिए वह क्रिया स्वभाव नहीं है अन्यथा निष्क्रिय गुणादिकों में सत्त्व के अभाव का प्रसंग आ जावेगा ।

जैन—ऐसा भी नहीं कहना । क्योंकि यह बात तो करोति क्रिया के अर्थ में भी समान ही है । देखिये ! परिस्पन्दात्मक व्यापार से रहित में भी करोति क्रिया का अर्थ विद्यमान है “तिष्ठति, स्थानं करोति,” ठहरता है, स्थान करता है । ऐसी प्रतीति आती है और दूसरी बात यह भी है कि गुणादिकों में करोति अर्थ का अभाव होने पर सर्वथा उनमें कारकपने का भी अभाव हो जावेगा पुनः वे गुणादि अवस्तु हो जावेंगे । इसीलिए वह करोत्यर्थ भी व्यापक है क्योंकि विद्यमान वस्तु में उसका सद्भाव है । अन्यथा वह कारक न होने से अवस्तु ही जावेगा पुनः उसका सत्त्व नहीं रहेगा । एवं महासत्ता रूप भवन क्रिया है इत्यादि रूप से व्यवहार भी देखा

1 अवटनात् । 2 जैनः । 3 यजतिसामान्यपचतिसामान्यादेः । (व्या० प्र०) 4 करोत्यर्थविशेषस्य । 5 भाट्टः । 6 जैनः । 7 भवनक्रिया । 8 वाक्यार्थः । 9 महाक्रिया सत्तालक्षणा सैव सामान्यं तदेव रूपं यस्याः करोतिक्रियायाः । 10 महाक्रिया सामान्यरूपत्वात् । (व्या० प्र०) 11 सत्तासामान्यस्य । 12 इतरः=पचनादिः । 13 न पुनः करोत्यर्थस्य । 14 वाक्यार्थत्वम् । 15 वयं जैनाः । 16 निष्क्रिये । 17 अन्यथा । 18 सत्त्वस्य विनाशाद्गुणादीनामभाव आयातः । 19 [परः प्राह] क्रिया द्विविधा परिस्पन्दात्मिका (चलनात्मिका) भाववती च ।

व्यापाररहितेपि करोत्यर्थस्य भावात्, तिष्ठति स्थानं करोतीति प्रतीतेः, गुणादिषु ^१च करोत्यर्थाभावे सर्वथा ^२कारकत्वायोगादवस्तुत्वप्रसक्तेः । ^३तत एव करोत्यर्थो व्यापकः, ^४सति सर्वत्र भावात् । अन्यथा ^५तस्याकारकत्वेनावस्तुत्वात् सत्त्वविरोधात् । ^६भवनक्रियेत्या^७-दिव्यवहारदर्शनाच्च^८ सत्ता करोत्यर्थविशेषणमेव । करोत्यर्थस्यैव सर्वत्र प्राधान्याद्वाक्यार्थत्वम् । इति चेत्^९, ^{१०}तस्य नित्यस्यैकस्यानंशस्य सर्वगतस्य सर्वथा विचार्यमाणस्यासम्भवात् ।

जाता है । इसलिए 'सत्ता' करोति क्रिया के अर्थ का विशेषण ही है ।

भावार्थ—भाट्ट का कहना है कि "करोति-करता है" इस क्रिया का अर्थ सभी क्रियाओं में व्याप्त है । अतः यह करोति क्रिया का अर्थ ही वेदवाक्य का अर्थ है । जैसे—यजते, याजं करोति, गच्छति गमनं करोति इत्यादि । यज्ञ करता है, यज्ञ को करता है, जाता है गमन को करता है, यह करने रूप क्रिया सर्वत्र व्याप्त होने से ही नित्य है और वही वेदवाक्य का अर्थ है । इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार से तो भू धातु सत्ता अर्थ में है और अस् धातु भी सत्ता अर्थ में है "भवति, अस्ति" क्रियायें तो वास्तव में सर्वत्र व्याप्त हैं । "यजते, याजको भवति, पचति, पाचको भवति" । यज्ञ करता है याजक होता है, पकाता है पाचक होता है । इत्यादि रूप से भू धातु की भवति क्रिया को भी सर्वत्र व्याप्त होने से वेदवाक्य का अर्थ मान लो क्योंकि यह भवति क्रिया तो करोति में भी व्याप्त है जैसे—करोति, कारको भवति । तब भाट्ट ने कहा कि यह 'भवति' निष्क्रिय वस्तु गुण आदि में भी पाई जाती है यथा "आकाशोऽस्ति, रूपादयः संति ।" आकाश है, रूपादि हैं इत्यादि । अतः यह वेदवाक्य का अर्थ नहीं होगी क्योंकि वेदवाक्य का अर्थ तो यज्ञ को करने की क्रिया रूप है । इस पर जैनाचार्य पुनरपि कहते हैं कि इस प्रकार से तो परिष्पदात्मक व्यापार से रहित में भी करोति क्रिया का अर्थ पाया जाता है जैसे—तिष्ठति, स्थानं करोति । ठहरता है स्थान करता है इन अकर्मक धातुओं में भी करोति क्रिया चली गई । इसलिए सर्वव्यापी महा सत्ता रूप भवति क्रिया ही वेदवाक्य का अर्थ हो जावे । तब उसने कहा कि यह "भवति" क्रिया तो "करोति" क्रिया के अर्थ का विशेषण है । अतः करोति क्रिया ही विशेष्य रूप होने से एवं सर्वत्र प्रधान रूप होने से वेदवाक्य का अर्थ है । इस पर और भी आगे ऊहापोह चलता है ।

भाट्ट—करोति क्रिया का अर्थ ही सर्वत्र प्रधान होने से वेदवाक्य का अर्थ है ।

जैन—ऐसा नहीं कहना । क्योंकि आपके द्वारा मान्य वह करोति क्रिया सामान्य, नित्य, एक, अतंश और सर्वगत है इस पर विचार करने से सर्वथा ही वह करोति सामान्य, असंभव ही है अर्थात् भाट्ट करोति क्रिया को सामान्य, नित्य, एक, निरंश और सर्वगत मानते हैं आगे क्रमशः इन मान्यताओं का खण्डन किया गया है ।

१ किञ्च । २ क्रिया कुर्वद्भि कारकं । (व्या० प्र०) ३ पर एव । ४ विद्यमाने वस्तुनि । ५ असति सर्वत्रभावे । ६ महासत्ता । ७ करण । (व्या० प्र०) ८ हेत्वन्तरमिदम् । ९ जैन आह । १० करोतिसामान्यस्य ।

[करोत्यर्थसामान्यं नित्यमस्ति इति भाट्टेन मन्यमाने जैनाचार्यास्तस्य निराकरणं कुर्वति]

¹नित्यं करोत्यर्थसामान्यं प्रत्यभिज्ञायमानत्वाच्छब्दवदिति ²चेन्न, हेतोर्विरुद्धत्वात्, कथञ्चिन्नित्यस्येष्ट³विरुद्धस्य साधनात्, सर्वथा नित्यस्य प्रत्यभिज्ञानायोगात्, तदेवेदमिति पूर्वोत्तरपर्यायव्यापिन्येकत्र⁴ प्रत्ययस्योत्पत्तेः, ⁵पौर्वापर्यरहितस्य⁶ ⁷पूर्वापरप्रत्यय⁸विषयत्वासम्भवात् । ⁹धर्मावेव¹⁰ पूर्वापरभूतौ, न धर्मसामान्यमिति चेत् ¹¹कथं तदेवेद¹²मित्यभेदप्रतीतिः¹³? पूर्वापरस्वरूपयोरतीतवर्तमानयोस्तदित्यतीतपरामर्शना स्मरणेनेदमिति वर्तमानोल्लेखिना प्रत्यक्षेण च विषयीक्रियमाणयोः परस्परं ¹⁴भेदात् । ¹⁵करोतिसामान्यादेकस्मात्तयोः कथञ्चि-

[करोति क्रिया का अर्थ सामान्य और नित्य है ऐसा भाट्ट के द्वारा कहने पर जैनाचार्य उसका निराकरण करते हैं]

भाट्ट—‘करोति’ क्रिया का अर्थ सामान्य और नित्य है क्योंकि उसका प्रत्यभिज्ञान देखा जाता है शब्द के समान ।

जैन—नहीं । आपका हेतु विरुद्ध है यह “प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्” हेतु आपके इष्ट सर्वथा नित्य से विरुद्ध कथञ्चित् नित्य को सिद्ध करता है क्योंकि सर्वथा नित्य का प्रत्यभिज्ञान होना ही असंभव है । “तदेवेद” यह वही है इस प्रकार से पूर्वोत्तर पर्याय में व्यापी एक वस्तु में वह प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न होता है, एवं पौर्वापर्य से रहित वस्तु पूर्वापर ज्ञान-प्रत्यभिज्ञान का विषय नहीं हो सकती है ।

भाट्ट—पूर्व और अपर ये दो धर्म ही हैं, धर्मा सामान्य नहीं हैं ।

जैन—यदि ऐसा कहो तो “तदेवेद” यह अभेद प्रतीति कैसे होती है ? अर्थात् जिस सामान्य को मैंने यजनादि में प्राप्त किया था वही पचनादि में करोति अर्थ का सामान्य है क्योंकि ‘त्’ इस प्रकार से अतीत के परामर्शी स्मरण से और ‘इद’ इस प्रकार से वर्तमानोल्लेखी प्रत्यक्ष से विषय किए गये अतीत और वर्तमान पूर्वापर स्वरूप में परस्पर में भेद है इसलिए इस प्रत्यभिज्ञान में अभेद प्रतीति नहीं है ।

भाट्ट—एक करोति सामान्य से उन पूर्वापर में कथञ्चित् भेदाभेद की प्रतीति आती है । अथवा कथञ्चित् भेद से अभेद की प्रतीति आती है ऐसा भी टिप्पणीकार का कहना है ।

1 (भाट्ट आह) घटादौ व्यभिचारश्चेत्तर्हि “सर्वथा” पदं हातव्यम् । 2 जैनः । 3 भाट्टमते करोत्यर्थस्य सामान्यं सर्वथा नित्यमिति । 4 वस्तुनि । 5 ज्ञानमेव पूर्वापरीभूतं नार्थं इत्याशङ्क्यामाह । 6 अर्थस्य । (व्या० प्र०) 7 स्मरणप्रत्यक्ष । (व्या० प्र०) 8 प्रत्ययो ज्ञानम् । 9 भाट्टः । 10 पूर्वापरप्रत्ययहेतु । (व्या० प्र०) 11 जैनः । 12 तदेव मया यजनादावुपलब्धं तदेव पचनादौ करोत्यर्थस्य सामान्यम् । 13 पूर्वापरभूतधर्मयोः । ईप् द्विः । (व्या० प्र०) 14 ततो नाभेदप्रतीतिः । 15 भाट्टः ।

द्भेदा^१भेदप्रतीतिरिति चेत् ^२सिद्धं तस्यकथञ्चिदनित्यत्वम्, अनित्यस्वधर्माव्यतिरेकात्^३ ।
^४न ह्यनित्यादभिन्नं नित्यमेव युक्तमनित्यस्वात्मवत्^५, सर्वथा नित्यस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थ-
 क्रियाविरोधाच्च । तदनित्यं सामान्यं, ^६विशेषादेशाच्छब्दवत् । तत एवानेकं तद्वत् ।

[करोति क्रिया एकास्तीति भाट्टो वदति तस्य परिहारः]

^७करोतीति ^८स्वप्रत्ययाविशेषादेकं करोतिसामान्यं सदिति स्वप्रत्ययाविशेषादेकसत्तासा-
 मान्यवदिति चेन्न, सर्वथा स्वप्रत्ययाविशेषस्या^९सिद्धत्वात्^{१०} । प्रतिकरोत्यर्थ^{११}व्यक्ति करो-
 तीति = प्रत्ययस्य^{१२} विशेषात्^{१३}प्रतिसद्व्यक्ति सदितिप्रत्ययवत् । तद्व्यक्तिविषयो विशेषप्रत्यय^{१४}

जैन—यदि ऐसा कहो तो उस प्रत्यभिज्ञान को कथञ्चित्—अनित्यत्व सिद्ध ही हो गया । क्योंकि वह अनित्य रूप अपने धर्म से अभिन्न है । और अनित्य से अभिन्न होकर नित्य ही है ऐसा कहना युक्त नहीं है, अनित्य के स्वरूप के समान । क्योंकि सर्वथा नित्य में क्रम अथवा युगपत् से अर्थ क्रिया का विरोध है ।

इसलिए वह सामान्य अनित्य है क्योंकि उसमें विशेषादेश—पर्यायाधिक नय की अपेक्षा से भेद का कथन होता है, शब्द के समान । और उसी प्रकार से शब्द के समान वह सामान्य अनेक भी है ।

[करोति क्रिया एक है ऐसा भाट्ट कहता है उसका परिहार]

भाट्ट—“करोति” इस प्रकार से स्वप्रत्यय-अपने ज्ञान से समान होने के करोति सामान्य एक है जैसे “सत्” इस अपने ज्ञान सामान्य से सत्ता सामान्य एक है ।

जैन—नहीं सर्वथा स्वप्रत्यय से समानता असिद्ध है अर्थात् पर्यायाधिक नय से भेद का कथन भी देखा जाता है । करोति अर्थ के व्यक्ति-व्यक्ति के प्रति को—‘प्रतिकरोति अर्थव्यक्ति’ कहते हैं अर्थात् करोति अर्थ के व्यक्ति व्यक्ति के प्रति करता है । इस प्रकार से ज्ञान विशेष होने से (घटकरण पट करणादि ज्ञान) भेद है जैसे ‘सत्’ ‘सत्’ इस प्रकार से व्यक्ति—व्यक्ति के प्रति सत् ज्ञान में भेद देखा जाता है ।

भाट्ट—उन व्यक्ति को विषय करने वाला तो विशेष ज्ञान है ।

जैन—ऐसा कहो तो यदि वे घटपटादि रूप व्यक्तियाँ—भिन्न-२ वस्तुएं करोति सामान्य से सर्वथा भिन्न प्रतिपादित की गई हैं तब तो आप मीमांसक यौगमत में प्रवेश कर जावेंगे । यदि आप कहो कि वे व्यक्तियाँ करोति सामान्य से कथञ्चित् अभिन्न हैं तब तो सामान्य विशेष ज्ञान को विषय

1 भेदादभेद प्रतीतिः इति पा० । (व्या० प्र०) 2 जैनः । 3 अव्यतिरेकः अभेदः । 4 सन्दिग्धा नैकान्तिकत्वे सत्याह जैनः । 5 स्वस्वरूपवत् । (व्या० प्र०) 6 पर्यायाधिकनयाद्भेदकथनात् । 7 घटं करोति पटं करोतीत्यादी । 8 बभेदात् । (व्या० प्र०) 9 हेतोः । 10 पर्यायाधिकनयेन भेदस्यापि कथनात् । 11 करोत्यर्थस्य व्यक्ति प्रतीति प्रतिकरोत्यर्थव्यक्ति । 12 घटकरणपटकरणादिप्रत्ययस्य । 13 भेदात् । 14 घटकरणं पटकरणमिति ।

इति चेत्तर्हि¹ ता व्यक्तयः² ³सामान्यात्सर्वथा यदि भिन्नाः प्रतिपाद्यन्ते तदा यौगमतप्रवेशो मीमांसकस्य । ⁴अथ कथञ्चिदभिन्नास्तदा⁵ सिद्धं सामान्यस्य विशेषप्रत्ययविषयत्वं विशेष-प्रत्ययविषयेभ्यो विशेषेभ्यः कथञ्चिदभिन्नस्य सामान्यस्य विशेषप्रत्ययविषयत्वोपपत्तेर्विशेष-स्वात्मवत् । ततोऽनेकमेव⁶ करोतिसामान्यं सत्तासामान्यवत् ।

[करोति क्रियानंशेति मन्यमाने दोषानाह]

नाप्यनंश⁷, कथञ्चित्सांशत्वप्रतीतेः सांशेभ्यो⁸ ⁹विशेषेभ्योनर्थान्तरभूतस्य¹⁰ सांशत्वोपपत्ते-स्तत्स्वात्मवत् ।

[तत्सामान्यं सर्वगतमिति मन्यमाने दोषानाहुराचार्याः]

¹¹तथा न सर्वगतं तत्सामान्यं, व्यक्त्यन्तरालेनुपलभ्यमानत्वात् । ¹²तत्रानभिव्यक्तत्वात्तस्या-

करता है यह बात सिद्ध हो गई ।

क्योंकि विशेष ज्ञान के विषय भूत विशेषों से कथञ्चित् अभिन्न सामान्य ही विशेषज्ञान का विषय हो सकता है जैसे कि विशेष का स्वरूप कथञ्चित् अभिन्न होने से विशेषज्ञान का विषय है । इसलिए करोति सामान्य अनेक ही है सत्ता सामान्य के समान । अर्थात् जितने विशेष हैं उतने ही सामान्य हैं न कि एकसामान्य ।

[करोति सामान्य निरंश है ऐसा भाट्ट का कहना है उसका जैनाचार्य परिहार करते हैं]

वह करोति सामान्य अनंश भी नहीं है क्योंकि कथञ्चित् अंशसहित ही प्रतीति में आ रहा है । अंशसहित—अवयवसहित घट पटादि विशेषभेद लक्षणों से अभिन्न सामान्य अंशसहित देखा जाता है जैसे कि उसका स्वरूप ।

[वह सामान्य सर्वगत है ऐसा कहने पर जैनाचार्य दूषण दिखानाते हैं]

उसी प्रकार से वह सामान्य—सर्वगत भी नहीं है क्योंकि व्यक्ति-व्यक्ति के अंतरालों में उपलब्ध नहीं होता है ।

भावार्थ—यह भाट्ट करोति क्रिया सामान्य को महासत्ता रूप मानता है और कहता है कि यह करोति क्रिया नित्य है, एक है, निरंश है और सर्वव्यापी है इन चारों विशेषणों का जैनाचार्य ने क्रम-क्रम से निराकरण किया है । पहले भाट्ट ने करोति क्रिया को नित्य सिद्ध करने के लिए “प्रत्य-भिज्ञान होता है” ऐसा हेतु दिया है । उस पर जैनाचार्य ने कहा कि यह “प्रत्यभिज्ञायमान” हेतु कथं-चित् नित्य को सिद्ध करता है, सर्वथा नित्य को नहीं । क्योंकि ‘तदेवेद’ यह वही है इस प्रकार पूर्व

1 जैनः । 2 घटपटादिरूपाः । 3 करोतिसामान्यात् । 4 भाट्टः । 5 सामान्यात् । 6 यावन्तो विशेषास्तावन्ति सामान्यानि न त्वेकमित्यर्थः । 7 करोतिसामान्यम् । 8 सावयवेष्यो घटपटादिभ्यः । 9 भेदलक्षणेभ्यः । 10 सामान्यस्य । 11 जैनः । 12 भाट्टः ।

नुपलम्भ इति चेतत^१ एव व्यक्तिस्वात्मनोपि^२ तत्रानुपलम्भोस्तु । तस्य तत्र सद्भावावेद-
कप्रमाणाभावादसत्त्वादेवानुपलम्भ इति चेत् सामान्यस्यापि^३ विशेषाभावादसत्त्वादेवानुपल-
म्भोस्तु, व्यक्त्यन्तराले तस्यापि सद्भावावेदकप्रमाणाभावात् प्रत्यक्षतस्तथा^४ ननुभवात् खरविषा-

के स्मरण और वर्तमान के प्रत्यक्ष इन दोनों के जोड़ रूप में यह प्रत्यभिज्ञान पाया जाता है जैसे—
जिस करोति क्रिया सामान्य के अर्थ को मैंने यजन आदि क्रिया में पूर्व में देखा था वही इस समय
पचन आदि क्रिया में करोति अर्थ पाया जा रहा है । यह प्रत्यभिज्ञान कथञ्चित् नित्यानित्य वस्तु में ही
होता है क्योंकि सर्वथा नित्य में क्रम से या युगपद् अर्थ क्रिया का ही अभाव है । पुनः भाट्ट कहता है
कि “करोति” इस प्रकार का ज्ञान सभी जगह समान है अतः यह करोति क्रिया सामान्य एक है जैसे—
सत् अपने सत् रूप सामान्य ज्ञान से सत्ता सामान्य एक ही है । इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि हमारे
यहाँ “सत् सामान्य” भी व्यक्ति-व्यक्ति के प्रति अनन्त भेद रूप है ।

जैन सिद्धांत में सत्ता को अनन्त पर्यायात्मक माना है । उसी प्रकार से करोति क्रिया भी
व्यक्ति-व्यक्ति के प्रति भेद रूप है, जैसे—यागं करोति, पाकं करोति, गमनं करोति । इन सभी करोति
क्रियाओं में भिन्न-भिन्न पुरुष की अपेक्षा से भेद स्पष्ट है जो यज्ञ करता है वह पकाता नहीं है और वह
गमन नहीं कर रहा है इन तीनों क्रियाओं को करने वाले तीन व्यक्ति पृथक्-पृथक् देखे जाते हैं । अतः
करोति सामान्य अनेक रूप ही है । उसी प्रकार से वह करोति सामान्य अंश रहित भी नहीं है क्योंकि
घट पटादि अवयव सहित पदार्थों में वह करोति सामान्य पाया जाता है तथैव करोति सामान्य सर्वगत
भी नहीं है क्योंकि व्यक्ति-व्यक्ति के अंतरालों में दिखता ही नहीं है । इस प्रकार से जैनाचार्य ने
करोति सामान्य को अनित्य, अनेक, अंश सहित और असर्वगत सिद्ध कर दिया है ।

भाट्ट—उस अंतराल में वह करोति सामान्य अभिव्यक्त नहीं है इसलिए उसकी अंतराल में
उपलब्धि नहीं है ।

जैन—उसी हेतु से व्यक्ति का स्वरूप भी वहाँ अंतराल में अनुपलब्ध हो जावे पुनः व्यक्तियों
को भी सर्वगत मान लो क्या बाधा है ? किन्तु आप तो ऐसा मानने को तैयार नहीं हैं ।

भाट्ट—व्यक्ति विशेष के सद्भाव को अंतराल में सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है
अतः उसकी अंतराल में अनुपलब्धि है ।

जैन—यदि ऐसा मानो तो सामान्य के भी सद्भाव का आवेदक कोई प्रमाण न होने से उसका

१ जैनः । २ ततश्च व्यक्तीनामपि सर्वगतत्वं समायातम् । न च तथा स्वीक्रियते । ३ सद्भावावेदकप्रमाणाभावस्य ।
(व्या० प्र०) ४ व्यक्त्यन्तराले सत्त्वरूपेण ।

णादिवत् । ^१व्यक्त्यन्तरालेस्ति सामान्यं, ^२युगपद्भिन्नदेश^३स्वाधारवृत्तित्वे सत्येकत्वाद्वांशादि^४-
वदित्यनुमानात्तत्र तत्सद्भावसिद्धिरिति ^५चेन्न, हेतोः प्रतिवाद्यसिद्धत्वात्^६ । न हि भिन्नदेशासु
व्यक्तिषु सामान्यमेकं यथा स्थूणादिषु ^७वंशादिरिति प्रतीयते, यतो युगपद्भिन्नदेशस्वाधार^८-
वृत्तित्वे सत्येकत्वं^९ तस्य^{१०} सिध्यत् स्वाधारान्तरालेस्तित्वं साधयेत्, प्रतिव्यक्ति सदृशपरिणा-
मलक्षणस्य सामान्यस्य भेदाद्विसदृशपरिणामलक्षणविशेषवत् । ^{११}यथैव हि ^{१२}काचिद्व्यक्ति-
रूपलभ्यमाना ^{१३}व्यक्त्यन्तराद्विशिष्टा^{१४} विसदृशपरिणामदर्शनादवतिष्ठते तथा सदृशपरिणाम-
दर्शनात्किञ्चित्केन^{१५}चित्समानभवसीयते^{१६} इति निर्बाधमेव, तेनायं समानः सोनेन समान इति

भी अंतराल में असत्त्व होने से ही अनुपलब्धि होवे क्या बाधा है ? क्योंकि व्यक्ति के अंतराल में उस सामान्य के भी सद्भाव का आवेदक कोई प्रमाण नहीं है । प्रत्यक्ष से व्यक्ति के अंतराल में सत्त्वरूप का अनुभव नहीं आता है जैसे कि खर विषाणादि का कहीं पर अनुभव नहीं आता है ।

भाट्ट—व्यक्ति विशेष के अंतराल में भी सामान्य रहता है । क्योंकि युगपत् भिन्न देश और स्वाधार में रहने में एक रूप है, बांसादि के समान” । इस अनुमान से वहाँ उस सामान्य का सद्भाव सिद्ध है ।

जैन—नहीं । आपका हेतु प्रतिवादी को असिद्ध है । क्योंकि भिन्न-भिन्न देश के विशेषों में सामान्य एक है जैसे “स्थूणादि में बांसादि” । ऐसा प्रतीति में नहीं आता है कि जिससे युगपत् भिन्न देश एवं स्वाधार वृत्तित्व के होने पर उस सामान्य में एकत्व हेतु सिद्ध होता हुआ अपने आधार के अंतराल में अस्तित्व को सिद्ध कर सके । अर्थात् नहीं कर सकता है । प्रतिव्यक्ति (विशेष-विशेष के प्रति) सदृश परिणाम लक्षण सामान्य भिन्न-भिन्न है जैसे विसदृश परिणाम लक्षण विशेष प्रत्येक भिन्न-भिन्न वस्तु में भिन्न-भिन्न है ।

जिस प्रकार से कोई घट पटादि लक्षण विशेष उपलब्ध होता हुआ व्यक्त्यन्तर-मुकुटलक्षणादि विशेष से भिन्न होता हुआ विसदृश परिणाम के देखने से निश्चित होता है उसी प्रकार से सदृश परिणाम के देखे जाने से कोई वस्तु किसी वस्तु के समान निश्चित की जाती है यह बात बाधा रहित सिद्ध ही है “यह उसके समान है, वह इसके समान है” इस प्रकार से समान ज्ञान देखा जाता है ।

। भाट्टः । २ सामान्यं व्यक्त्यन्तरालेस्ति—एकत्वादित्येवास्तु इत्युक्ते देवदत्तेन व्यभिचारस्तत्परिहारार्थं स्वाधार-
वृत्तित्वविशेषणम् । तथा प्येकत्रिष्टटरोपविष्टेन तेनैव व्यभिचारो मा भूदिति भिन्नदेशविशेषणम् । तथापि क्रमेणाने-
कामनासीनेन तेन व्यभिचारः स्यात् । तत्परिहारार्थं युगपद्विशेषणं कृतमनुमानेस्मिन् । ३ भिन्नदेशश्चासी स्वाधारश्च ।
४ स्थूणादिषु वंशादिवदित्यर्थः । ५ जैनः । ६ सामान्यस्यैकत्वं नाङ्गीक्रियते जैनेः । ७ प्रतीयते यथा । ८ तथापि
क्रमशस्तथा वृत्तिमता देवदत्तेन व्यभिचारस्ततो युगपदिति विशेषणं । (व्या० प्र०) ९ हेतुः । १० सामान्यस्य ।
११ एतदेव भावयति । १२ घटपटादिलक्षणा । १३ मकुटादिलक्षणात् । १४ भिन्नाः । १५ वस्तु । १६ निश्चीयते ।

समानप्रत्ययात् । ¹ननु पूर्वमनभूतव्यवत्तन्त²रस्यैकव्यक्तिदर्शने समानप्रत्ययः कस्मान्न भवति ? तत्र सदृशपरिणामस्य भावादिति चेत्तत्रापि विशिष्टप्रतीतिः³ कस्मान्न भवति ? वैसादृश्यस्य⁴ भावात् । ⁵परापेक्षत्वाद्विशिष्टप्रतीतेरिति चेत्तत्र एव ⁶तत्र समानप्रत्ययोपि⁷ मा भूत् । न हि स परापेक्षो न भवति, परापेक्षामन्तरेण ⁸क्वचित्कदाचिदप्यभावाद् ⁹द्वित्वादिप्रत्ययवद्दूरत्वादिप्रत्ययवद्वा । द्विविधो हि वस्तुधर्मः परापेक्षः परानपेक्षश्च ¹⁰वर्णादिवत् स्थौल्यादिवच्च । ¹¹ननु च ¹²सादृश्ये सामान्ये स एवायं गौरिति प्रत्ययः कथं शबलं¹³ दृष्ट्वा धवलं पश्यतो घटेतेति ¹⁴चेदेकत्वोपचारादिति ब्रूमः¹⁵ ।

भाट्ट—पूर्व में जिसने भिन्न-भिन्न विशेष का अनुभव नहीं किया है उस पुरुष को एक विशेष के देखने के समान प्रत्यय क्यों नहीं होगा ? क्योंकि वहाँ पर सदृश परिणाम देखा जाता है ।

जैन—यदि ऐसा कहो तो आपको भी एक विशेष के देखने में विशेष प्रतीति क्यों नहीं होती है ? क्योंकि भिन्न प्रतीति रूप विशेष में वैसादृश्य परिणाम भी देखे जाते हैं ।

भाट्ट—वह भिन्न प्रतीति पर की अपेक्षा रखती है ।

जैन—उसी प्रकार से वहाँ-एक विशेष के देखने में समान ज्ञान भी मत होवे । अर्थात् यह उसके समान है एवं वह इसके समान है इसमें भी तो पर की अपेक्षा है और वह परापेक्ष नहीं है ऐसा तो आप कह नहीं सकते । पर की अपेक्षा के बिना कहीं पर किसी काल में भी वह सामान्य हो नहीं सकेगा जैसे— द्वित्वादि ज्ञान अथवा दूरत्वादि ज्ञान पर की अपेक्षा के बिना हो नहीं सकते हैं । अर्थात् द्वित्वादि ज्ञान एकत्वादि से निष्ठ है अतः पर की अपेक्षा के बिना नहीं होते हैं एवं दूरत्व आदि ज्ञान भी निकट की अपेक्षा के बिना नहीं होते हैं ।

वस्तु का धर्म दो प्रकार का है पर की अपेक्षा रखने वाला और पर की अपेक्षा नहीं रखने वाला । जैसे वर्णादि-श्वेत पीतादि पर की अपेक्षा नहीं रखते हैं एवं स्थूलता, सूक्ष्मतादि एक दूसरे की अपेक्षा से होते हैं ।

भाट्ट—सादृश्य सामान्य में “यह वही गौ है” इस प्रकार का ज्ञान होता है वह ज्ञान शबल-चित्तकबरी गाय को देख कर श्वेत गाय को देखते हुए मनुष्य को “यह वही गौ है” ऐसा ज्ञान कैसे होगा ?

1 भाट्टः । 2 पुंसः । 3 एकव्यक्तिदर्शने । 4 विशिष्टप्रतीती विशेषे । 5 भाट्टः । 6 एकव्यक्तिदर्शने । 7 अनेन देवदत्तेन समानोयं जिनदत्तो, जिनदत्तेन समानो देवदत्तो वेत्यत्रापि परापेक्षत्वं यतः । 8 व्यक्ती । (व्या० प्र०) 9 द्वित्वादिप्रत्ययः एकत्वादिनिष्ठां परापेक्षां विना नोपपद्यन्ते । 10 श्वेतपीतादिवत् । 11 भाट्टः । 12 सास्नादि-मत्त्वे गोत्वे । 13 शबलं गो दृष्ट्वा धवलं भां पश्यतः पुंसः स एवायं गौरिति प्रत्ययः कथं घटते ? 14 शबलेन सदृशो धवल इत्येकत्वोपचारात् । 15 जैनाः ।

[एकत्वं द्विधा मुख्यमुपचरितं चेति विभज्य स्पष्टीकरणं कुर्वन्ति जैनाचार्याः]

द्विविधं ह्येकत्वं मुख्यमुपचरितं चेति । मुख्यमात्मादिद्रव्ये^१ । सादृश्ये तूपचरितमिति । मुख्ये^२ तु तत्रैकत्वे^३ तेन^४ समानोयमिति प्रत्ययः कथमुपपद्येत^५ ? तयोरेक^६ सामान्ययोगादिति^७ चेन्न—^८सामान्यवन्तावेतावितिप्रत्ययप्रसङ्गात्^{१०} । अभेदोपचारे^{११} तु सामान्यतद्वतोः^{१२} सामान्यमिति^{१३} प्रत्ययः स्यात् । न तेन समानोयमिति । यष्टिसहचरितः पुरुषो यष्टिरिति यथा, यष्टिपुरुषयोरभेदोपचारात्^{१४} ।^{१५} मृन्मये गवि सत्यगवयसदृशे गोसादृश्यस्य सामान्यस्य भावाद्गोत्वजातिप्रसङ्ग इति^{१६} चेन्न, ^{१७}सत्यगवयव्यवहारहेतोः^{१८} सादृश्यस्य ^{१९}तत्राभावात् तद्भावे तस्य सत्यत्वप्रसङ्गात् । ^{२०}भावगवादिभिः^{२१} स्थापनागवादेः^{२२} सादृश्यमात्रं तु

जैन—इसमें भी एकत्व का उपचार होने से “यह वही है” ऐसा ज्ञान होजाता है अर्थात् सबल के सदृश धवल गाय है इस प्रकार से एकत्व का उपचार हो जाता है । एकत्व के दो भेद हैं—मुख्य और उपचरित ।

आत्मा आदि द्रव्यों में तो मुख्य एकत्व होता है जैसे कि जो आत्मा नरक पर्याय में था यह वही आत्मा मनुष्य पर्याय में दिख रहा है । जो आत्मा बचपन में था वही इस जवानी और बुढ़ापे में है इत्यादि में मुख्य एकत्व ज्ञान है । और सादृश्य वस्तु में उपचरित एकत्व होता है जैसे कि काटने के बाद पुनः उत्पन्न हुये नख और केश । किन्तु वहाँ मुख्य गोत्व लक्षण एकत्व में उस गौ के समान यह गौ है ऐसा ज्ञान कैसे हो सकेगा ?

भाट्ट—उस श्वेत और चितकबरे में गोत्व लक्षण एक सामान्य का योग होने से वहाँ वैसा ज्ञान होता है ।

जैन—ऐसा नहीं कहना । अन्यथा ये दोनों सामान्यवान् हैं ऐसा ज्ञान हो जावेगा । पुनः यह उसके समान है ऐसा ज्ञान नहीं हो सकेगा और अभेदोपचार के स्वीकार करने पर तो सामान्य और सामान्यवान् में “यह सामान्य है” ऐसा ज्ञान हो जावेगा । किन्तु यह उसके समान—सदृश है ऐसा नहीं हो सकेगा । जैसे यष्टि से सहचरित पुरुष को यष्टि कह देते हैं क्योंकि वहाँ यष्टि और पुरुष में अभेद का उपचार किया गया है । किन्तु यह पुरुष यष्टि के समान है ऐसा ज्ञान तो नहीं होता है ।

१ यो नारकपर्यायः स एवायं मनुष्यपर्याय आत्मा । (व्या० प्र०) २ मुख्ये गोत्वलक्षणे इत्यर्थः । तत्र = शवलधवलयोः । ३ गवा । ४ यद्युपचरितं न भवेत् । (व्या० प्र०) ५ स एवायं प्रत्ययो धटात् यतः । (व्या० प्र०) ६ परः (शवल-धवलयोः) । ७ एकं गोत्वमित्यर्थः । ८ जैन आह । ९ यथा द्वौ पुरुषौ एकराज्ययोगादेकराज्यवंतौ । (व्या० प्र०) १० न तु तेन समानोयमिति प्रत्ययः स्यात् । ११ (जैनः प्राह) अङ्गीक्रियमाणे । १२ शवलधवलयोः । (व्या० प्र०) १३ स प्रत्ययः इति पा० । (व्या० प्र०) १४ न यष्ट्या समानः पुरुष इति प्रत्ययो भवति । १५ परः । १६ जनः । १७ चैतन्यदोहनादेः । १८ सत्यगोव्यवहारहेतोः इति वा वचिच् पाठः । (व्या० प्र०) १९ मृन्मये । २० भावः सत्यः । २१ तत्कालपर्यायाक्रांतं वस्तु भावोऽभिधीयते । सह । (व्या० प्र०) २२ साकारे वा निराकारे काष्ठादी यन्निवेशनम् । सोयमित्यवधानेन स्थापना सा निगद्यते ॥

¹गवादिमात्रव्यवहारकारणं तदेकजातित्व²निबन्धनमनुसृत्य³ एव सत्त्वादिसादृश्यवत् ।

भाट्ट—वास्तविक गवय के सदृश मिट्टी की गाय में गोत्व सादृश्य—सामान्य मौजूद है वहाँ भी गोत्व जाति का प्रसंग आ जावेगा ।

जैन—ऐसा नहीं कहना । क्योंकि वास्तविक गवय व्यवहार का हेतु सादृश्य सामान्य वहाँ—मिट्टी की गाय में नहीं है यदि वह वहाँ है तो उसे सत्य मानना पड़ेगा । स्थापना रूप गो आदि में भाव—वास्तविक गो आदि के द्वारा जो सादृश्य मात्र सामान्य है वह लांगूल पूछ, ककुद विषाणादि रूप, गवादिमात्र से व्यवहार का कारण है इसलिए उसमें एक जातित्व कारण जैनियों ने माना ही है जैसे सत्त्वादि सामान्य ।

भावार्थ—भाट्ट “करोति सामान्य” को सर्वगत मानता है, किन्तु आचार्य उसकी मान्यता का निराकरण करते हुए कहते हैं कि जो विशेष—व्यक्ति रूप संख्यातों क्रियायें हैं जैसे—भुंक्ते, भुनक्ति, गच्छति, यजते, पचति आदि । खाता है, भोगता है, जाता है, यज्ञ करता है, पकाता है इत्यादि क्रियाओं में करोति, सामान्य व्याप्त है । आप भाट्ट की मान्यता के अनुसार “करता है” यह करोति-सामान्य तो नित्य है और यज्ञ करता है इत्यादि विशेष क्रियायें अनित्य हैं जब अनित्य क्रियायें नष्ट होती हैं या उत्पन्न होती हैं तब यह “करता है” यह सामान्य उनके साथ विनष्ट या उत्पन्न होता है या नहीं ? एवं गच्छति, पचति आदि क्रियाओं के अंतराल में भी करोतिसामान्य दिखता नहीं है जैसे कि आप उसे सर्वगत मानकर अंतराल में भी उसका अस्तित्व मान रहे हैं । इस पर भाट्ट ने कहा कि वह अंतरालों में अप्रगट है । तब जैनाचार्य ने कहा कि वैसे ही भिन्न-भिन्न क्रियाओं का भी अंतरालों में अप्रगट रूप से अस्तित्व मानकर उन विशेषों को भी सर्वगत मान लो क्या बाधा है ? तब भाट्ट ने कहा कि विशेषों को सर्वगत मानकर उन्हें अंतरालों में सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है । इस पर जैनाचार्यों ने पूछा कि करोतिसामान्य को अंतरालों में सिद्ध करने वाला प्रमाण भी कहाँ है ? इस प्रश्न पर तुरन्त ही उस भाट्ट ने अनुमान प्रमाण को उपस्थित कर दिया । यह ‘करोतिसामान्य’ गमन करता है, भोजन करता है, यज्ञ करता है, इत्यादि विशेषों में भी व्याप्त है और इनके अंतरालों में भी व्याप्त है, क्योंकि एक साथ यह करोति सामान्य भिन्न-भिन्न देश में और अपने आधार में ‘करता है’ इस प्रकार से एक रूप ही है, जैसे कि स्थूण आदि में बाँसादि । इस अनुमान से “करोतिसामान्य” सर्वत्र व्याप्त है । इस पर जैनाचार्य बोले कि आपका हेतु हम जैनों को असिद्ध है । क्योंकि भिन्न-भिन्न क्रियाओं के प्रति होता हुआ सदृश परिणाम रूप सामान्य पृथक्-पृथक् है जैसे कि विसदृश परिणाम लक्षण विशेष सभी के भिन्न-भिन्न ही हैं । देखिये ! जैसे “यजते” क्रिया से भिन्न गच्छति क्रिया का विशेष है वैसे ही दोनों क्रियाओं का करोति सामान्य यद्यपि सदृश परिणाम वाला है फिर भी भिन्न-

1 लाङ्गूलककुदविषाणादिरूपेण । 2 तेन भावगवादिर्नैका जातिर्यस्य स्थापनागवादेस्तस्य भावस्तदेकजातित्वम् तस्य निबन्धनम् । 3 (जैनैरनुगृह्यते) भावगव्यपि मृन्मयेन सह सत्त्वसादृश्यं यथास्ति । (व्या० प्र०)

ततो न भीमांसकाभ्युपगतस्वभावं करोतिसामान्यमुपपद्यते^१ यत्सकलयज्यादिक्रियाविशेषव्यापि-
कतृव्यापाररूपभावनाख्यां प्रतिपद्यमानं वाक्येन^३ विषयीक्रियेत^४ । प्रतिनियतक्रियागतस्य^५ तु
करोतिसामान्यस्य शब्दविषयत्वे^६ यज्यादिसामान्यस्य^७ कथं^८ तद्विनिवार्येत; येन^९ तदपि
वाक्यार्थो न स्यात् । तदेवं भावना वाक्यार्थसम्प्रदायो न श्रेयान्, बाधकसद्भावात्^{१०}योगादि-
वाक्यार्थसम्प्रदायवत् ।

भिन्न ही है । इस पर भाट्ट ने कहा कि विसदृश परिणाम तो पर की अपेक्षा रखता है किन्तु सदृश
परिणाम रूप सामान्य पर की अपेक्षा नहीं रखता है । आचार्य कहते हैं कि सदृश परिणाम भी पर की
अपेक्षा के बिना असम्भव है । सदृश शब्द के कहते ही 'यह इसके सदृश है' इस प्रकार से बिना अपेक्षा
के सदृश परिणाम भी कहाँ रहा ?

आगे चलकर जैनाचार्य ने एकत्व के दो भेद कर दिये हैं एक मुख्य दूसरा उपचरित । यह वही
आत्मा है जो नरक पर्याय, देव पर्याय आदि में थी, यह एकत्व मुख्य है । एवं जैसे चितकवरी गाय में
गोत्व सामान्य है वैसे ही श्वेत गाय में भी है यह उपचरित एकत्व है । इस प्रकार से करोतिसामान्य को
सर्वगत मानने में अनेक दोष आ जाते हैं ।

इसलिए भीमांसक के द्वारा स्वीकृत यह 'करोतिसामान्य' नित्य, निरंश, एक और सर्वगत
स्वभाव रूप हो नहीं सकता है, जो कि संपूर्ण यज्यादि क्रिया विशेषों में व्यापी कर्ता के व्यापार रूप
'भावना' इस नाम को प्राप्त करते हुए वेदवाक्य के द्वारा विषय किया जा सके । अर्थात् ऐसी भावना
वेदवाक्य का विषय नहीं हो सकता प्रतिनियत क्रिया में रहने वाले करोतिसामान्य को शब्द का विषय
मानने पर तो यज्यादि सामान्य को भी आप शब्द का विषय क्यों नहीं मानते हैं—उसका निवारण
क्यों करते हैं, जिससे कि वह यजन सामान्य भी वेदवाक्य का अर्थ न हो सके । अर्थात् है ही है । इस-
लिए 'भावना' वेदवाक्य का अर्थ है ऐसा भावनावादी भाट्ट का सम्प्रदाय श्रेयस्कर नहीं है । क्योंकि नियोग,
विधि आदि रूप से वेदवाक्य का अर्थ करने पर जैसे बाधायें आती हैं वैसे ही इस भावनावाद में भी
अनेक बाधायें आ जाती हैं ।

विशेषार्थ -- जगत के संपूर्ण पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक होते हैं । और ऐसे ही पदार्थों को
प्रमाण जानता है । प्रत्येक वस्तु सामान्य विशेषात्मक ही है इस बात को सिद्ध करने के लिए समर्थ हेतु
उपस्थित है ।

"अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात्, पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामेनार्थक्रियो-
पपत्तेश्च । २॥

"यह वही है" ऐसे ज्ञान को अनुवृत्त प्रत्यय कहते हैं "यह वह नहीं है" ऐसे ज्ञान को व्यावृत्त
प्रत्यय कहते हैं ।

1 नित्यनिरंशैकसर्वगतस्वभावम् । 2 यदिति काकुः । 3 वेदवाक्येन । 4 वाक्यार्थः कथं स्यात् । (व्या० प्र०)
5 करोतिक्रियाविशेषगतस्य स्वव्यक्तिसर्वगतस्येत्यर्थः । 6 वाक्यार्थत्वे । (व्या० प्र०) 7 देवयजनगुरुयजनदियजन-
सामान्यस्य । 8 शब्दविषयत्वम् (वाक्यार्थत्वमित्यर्थः) । 9 यजनसामान्यम् । 10 विधि । (व्या० प्र०)

प्रत्येक वस्तु अनुवृत्त ज्ञान और व्यावृत्त ज्ञान के विषयभूत है। एवं पदार्थ के पूर्व आकार का विनाश उत्तर आकार का प्रादुर्भाव इन दोनों अवस्थाओं में ध्रौव्य रूप से स्थिति का रहना, इन तीनों सहित अवस्था विशेष को परिणाम कहते हैं। इस परिणमन स्वभाव से ही वस्तु में अर्थ क्रिया होती है अतः प्रत्येक वस्तु में सत् आदि रूप से समानता के होने से अनुवृत्त ज्ञान एवं विसदृशता के होने से व्यावृत्त ज्ञान पाया जाता है। अनुवृत्त ज्ञान को सामान्य एवं व्यावृत्त ज्ञान को विशेष कहते हैं। उस सामान्य के दो भेद हैं—तिर्यक् सामान्य, ऊर्ध्वता सामान्य। “सदृश परिणामस्तिर्यक्खंडमुण्डादिषु गोत्ववत्।” समान परिणाम को तिर्यक् सामान्य कहते हैं जैसे काली, चितकबरी, खाँडी, मुण्डी आदि सभी गायों में गोत्व सामान्य विद्यमान है। “परापरविवर्तव्यापिद्रव्यमूर्ध्वता मृदिब स्थासादिषु।” पूर्व और उत्तर पर्याय में रहने वाले द्रव्य को ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं जैसे—स्थास, कोश, कुशूल आदि पर्यायों में मिट्टी व्याप्त रहती है, यहाँ मिट्टी रूप द्रव्य ऊर्ध्वता सामान्य है। अथवा महा सत्ता और अवांतर सत्ता के भेद से भी सत् सामान्य के २ भेद हैं।

“सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंतपज्जाया।

भंगुप्पादधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एक्का ॥ पंचास्तिकाय गाथा ॥८८ ॥

अर्थ—सत्ता एक है, वह सब पदार्थों में वर्तमान है, विश्व रूप है, अनन्त पर्याय वाली है, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक है और अपने प्रतिपक्षी से सहित है।

इस प्रकार से समस्त पदार्थों में रहने वाली सत्ता को महा सत्ता कहते हैं और प्रत्येक वस्तु की पृथक्-पृथक् सत्ता अवांतर सत्ता कहलाती है। मतलब यह है कि जब हम सत्सामान्य को व्यापक दृष्टि-कोण से देखते हैं तब सभी पदार्थ सत् रूप ही प्रतीत होते हैं यही महा सत्ता है। जब प्रतिनियत वस्तु के अस्तित्व को देखते हैं तब यह सत्ता अवांतर सत्ता कहलाती है,

विशेष के भी दो भेद हैं—“पर्यायव्यतिरेकभेदात् ॥”

पर्याय और व्यतिरेक।

पर्याय विशेष का लक्षण—

“एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामाः पर्यायाः आत्मनि हर्षविषादादिवत्” ॥८९॥

अर्थ—एक ही द्रव्य में क्रम से होने से परिणामों को पर्याय कहते हैं। जैसे कि आत्मा में हर्ष और विषाद आदि परिणाम। व्यतिरेक का लक्षण—

“अर्थांतरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत्” ॥९०॥

अर्थ—एक पदार्थ की अपेक्षा दूसरे पदार्थ में रहने वाले विसदृश परिणाम को व्यतिरेक कहते हैं जैसे कि गो से महिष में एक विलक्षण—भिन्न ही परिणमन देखा जाता है।

यहाँ तक जैनों की मान्यता रखी गयी है अब इन सामान्य और विशेष में जो अन्य मतावलंबी बौद्ध, नैयायिक और मीमांसक (भाट्ट) विसंवाद करते हैं उन पर विचार किया जा रहा है।

बौद्ध वस्तु में सामान्य धर्म को नहीं मानते हैं उनका कहना है कि सामान्य और विशेष दोनों

एक ही इन्द्रिय से जाने जाते हैं अतः इनमें अभेद है। सामान्य काल्पनिक—संवृत्ति सत्य है, अनुमानका विषय है, आरोपित धर्म मात्र है और विशेष वास्तविक है, निर्विकल्प बुद्धि में झलकता है, वह क्षणवर्ती पर्यायमात्र है।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि यदि एक इन्द्रिय से गम्य होने से सामान्य और विशेष में अभेद मानोगे तब तो वायु और आतप भी एक स्पर्शन इन्द्रिय से गम्य हैं इन्हें भी एक ही मानो। देखो ! दूर से वस्तु का सामान्य धर्म ही झलकता है। किसी पुरुष या स्थाणु विशेष को दूर से देखने पर उसकी ऊँचाई मात्र से सामान्य ही झलकता है। विशेष रूप वक्र कोटर आदि या शिर, हाथ, पैर आदि नहीं झलकते हैं। वैसे ही निकट में भी “यह भी गो है, यह भी गो है”। इस प्रकार से ५० गायों में भी एक गोत्व सामान्य दिख रहा है। सभी गायों में या सभी पुस्तकों में गोत्व या पुस्तकत्व सामान्य रूप से जो अन्वय ज्ञान है वह सामान्य के बिना नहीं हो सकता है। उसी प्रकार से यह राजवार्तिक है, श्लोक-वार्तिक या अष्टसहस्री नहीं है, यह व्यावृत्त ज्ञान भी विशेष धर्म को माने बिना असंभव है। निर्विकल्प प्रत्यक्ष में विशेष मात्र झलकता है यह बात प्रतीति विरुद्ध है। क्योंकि न निर्विकल्प ज्ञान ही सिद्ध है और न एक क्षणवर्ती पर्याय रूप आप बौद्धों का माना हुआ विशेष ही सिद्ध है। किन्तु सामान्य विशेषात्मक वस्तु ही ज्ञान का विषय है।

नैयायिकों के द्वारा मान्य सामान्य नित्य एवं सर्वगत है तथा निरंश है। इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि पहली बात तो यह है कि सर्वथा नित्य सामान्य में अर्थक्रिया असंभव है। दूसरी बात यह है कि यदि सामान्य सर्वगत है तो व्यक्ति-व्यक्ति—विशेष-विशेष में पृथक्-पृथक् कैसे रहेगा? वह सामान्य तो उन अंतरालों में भी दीखना चाहिए। तथा यदि वह सामान्य एक है तो एक गो के मर जाने पर उसका गोत्व सामान्य कहाँ जावेगा, क्या नष्ट हो जावेगा? अनेक आपत्तियाँ आ जावेंगी। यदि सामान्य सर्वगत है तो अकेला ही सर्वत्र अन्वय रूप अपना ज्ञान करायेगा अथवा व्यक्ति कर सहित होकर करावेगा? यदि अकेला ही करायेगा तो व्यक्तियों के अंतराल में भी “गो है, गो है” ऐसा अनुगत ज्ञान होना चाहिए। यदि व्यक्ति सहित सामान्य, अन्वय ज्ञान करायेगा तब तो सभी व्यक्तियों को जान लेने पर उनका ज्ञान करायेगा या बिना जाने ही? यदि जान कर कहो तो असंभव है क्योंकि असर्वज्ञ जनों को संपूर्ण अनंत विशेषों का ज्ञान होना शक्य हो नहीं है। यदि बिना जाने कहो तो एक व्यक्ति को जानते ही उसमें “यह गाय है, यह गाय है” ऐसा अन्वय होना चाहिये किन्तु होता नहीं है। जब गोत्व एक है तब एक गाय में तो ही और बीच में न होकर दूर खड़ी हुई दूसरी गाय में भी हो, इस प्रकार अनेकों गायों में अंतरालों को छोड़कर वह गोत्व सामान्य होवे फिर भी एक ही माना जावे यह बात असंभव है। अतः एक अकेला सामान्य सर्वगत है निष्क्रिय है। पुनः एक को छोड़कर जब दूसरे में जाने लगेगा तो पहली गो सामान्य रहित हो जावेगी तथा वह सामान्य निष्क्रिय न होकर क्रियाशील हो जावेगा। इसलिए नैयायिक का सामान्य एक, सर्वगत, नित्य और निष्क्रिय रूप सिद्ध नहीं होता है।

मीमांसक भाट्ट सामान्य-विशेष में सर्वथा तादात्म्य मानते हैं किन्तु यह मान्यता भी असंभव

है यदि दोनों का सर्वथा तादात्म्य होगा तब तो एक विशेष रूप व्यक्ति के नष्ट होने पर सामान्य भी नष्ट हो जावेगा पुनः वह सामान्य असाधारण नहीं रहेगा। आप भाट्ट भी नैयायिक के समान ही सामान्य को एक, निरंश, नित्य और सर्वगत स्वीकार करते हो तब तो सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि आपका निरंश सामान्य कहीं जा नहीं सकता। पहले के पकड़े हुए विशेष अंश को छोड़ता नहीं, कहीं से आता नहीं, पहले से रहता नहीं, ऐसा विचित्र सामान्य क्या वस्तु है? समझ में नहीं आता है। यहाँ मध्य में ही उद्योतकर नामक आचार्य कहते हैं कि गायों में गोत्व ज्ञान गोपिड से न होकर किसी भिन्न ही नित्य, सर्वगत सामान्य से होता है। यह गोत्वादि सामान्य गायों से भिन्न ही है। इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि यह मान्यता बिल्कुल गलत है देखो! अनेक गायों में गोत्व सामान्य ज्ञान सदृश परिणाम निमित्तक ही है। वह गायों से भिन्न नहीं है क्योंकि सामान्य और विशेष दोनों ही धर्म वस्तु में ही पाये जाते हैं। वृक्षों में वृक्षत्व सामान्य है वह अनंत वृक्षों में व्याप्त है एवं आम, नीम, अशोक आदि विशेष धर्म हैं वे विशेष धर्म एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष को पृथक् करा देते हैं अन्यथा अशोक की छाल लेकर औषधि बनाने वाला व्यक्ति आम की छाल को ले आवेगा, किन्तु ऐसा है नहीं। अतः सामान्य विशेष एक तादात्म्य रूप भी नहीं है। इसका और विशेष स्पष्टीकरण “प्रमेयकमल मार्तंड” से समझ लेना चाहिये। निष्कर्ष यह निकला कि भाट्टों के द्वारा मान्य “करोतिसामान्य” अनित्य, अनेक, असर्वगत और सांश—अवयवों से सहित है। जैसे कि यजन, पचन आदि विशेष उसी भाट्ट के द्वारा मान्य अनित्य, अनेक, असर्वगत, अंश सहित हैं उसी प्रकार से करोति सामान्य भी एक आदि रूप सिद्ध न होने से वेदवाक्य का अर्थ नहीं है। जिसको आप भावनावाद के नाम से स्वीकार करते हैं वह आपका सिद्धांत सिद्ध नहीं होता है।

भावनावाद के खण्डन का सारांश

भावनावादी भाट्ट कहते हैं कि सर्वत्र भावना ही वेदवाक्य का अर्थ प्रतीति में आ रहा है भावना के २ भेद हैं—शब्द भावना और अर्थ भावना। शब्द के व्यापार को शब्द भावना कहते हैं “अग्निष्टोमेन” इत्यादि के द्वारा पुरुष का व्यापार होता है। उस पुरुष के व्यापार से धातु का अर्थ सिद्ध होता है और उससे फल होता है अर्थात् पुरुष के व्यापार में शब्द का व्यापार है तथा धात्वर्थ में पुरुष का व्यापार है वही भावना है, धातु का शुद्ध अर्थ भावना नहीं है अन्यथा विधि ही अर्थ हो जावेगा।

क्योंकि “धात्वर्थः केवलः शुद्धो भावः इत्यभिधीयते” सत्ता को धातु अर्थ कहने पर वह सत्ता ही परब्रह्म स्वरूप है नियोगवादी ने इस विधिवाद का खण्डन कर ही दिया है अतः वह सन्मात्र अर्थ प्रतीति में नहीं आता है। किन्तु सकलव्यापिनी “करोति” क्रिया लक्षण वाली क्रिया सभी धातुओं में संभव है वही सर्वव्यापिनी क्रिया भावना है “पचति, पपाच, पश्यति” इन क्रियाओं में भी ‘पाकं करोति’ इत्यादि अर्थ ही व्याप्त है अतः “करोति” क्रिया का अर्थ ही वेदवाक्य का अर्थ है। वह “करोति” क्रिया का अर्थ सामान्य रूप है और यज्यादि उसके विशेष रूप हैं यह सामान्य क्रिया कर्ता

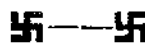
के व्यापार रूप है इसे ही अर्थ भावना कहते हैं, शब्द का व्यापार भावना है वह पुरुष के व्यापार को कराती है अतः वह भावना ही वेदवाक्य का विषय है ।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि—यदि शब्द का व्यापार ही शब्द भावना है तो शब्द से उसका व्यापार भिन्न है या अभिन्न ? यदि अभिन्न है तो वाच्य कैसे होगा ? एक अनंश में वाच्य-वाचक भाव संभव नहीं हैं यदि कहो कि शब्द अपने स्वरूप को भी श्रोत्रेन्द्रिय से बता देता है जैसे कि वह अपने व्यापार से बाह्य पदार्थ को बताता है तब तो रूपादि भी अपने विषय को बताने वाले होने से भावना बन जावेंगे ।

यदि शब्द से उसका व्यापार भिन्न मानों तो शब्द के साथ उसका सम्बन्ध कैसे होगा ? एवं पुरुष व्यापार लक्षण अर्थ भावना भी मानना ठीक नहीं है अन्यथा “नियुक्तोऽहमनेन वाक्येन” इस प्रकार से नियोग वेदवाक्य का अर्थ सिद्ध हो जावेगा वह भी पुरुष के व्यापार रूप है । यदि आप कहो “सकल यज्यादि क्रिया विशेष” में व्यापी “करोति” सामान्य नित्य है वही शब्द का अर्थ है । क्योंकि “नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः” ऐसा वाक्य पाया जाता है किन्तु यज्यादि क्रिया विशेष वेद के अर्थ नहीं हैं क्योंकि वे अनित्य हैं । यदि ऐसा कहो तब तो भवन क्रिया रूप सत्ता सामान्य भी वेदवाक्य का अर्थ हो जावे क्योंकि वह तो करोति क्रिया में भी व्यापक है वह महा क्रिया सामान्य है क्योंकि “पचति, पाचको भवति” इत्यादि से भवति क्रिया ही सर्वव्यापक है ।

भाट्ट—निर्व्यापार, निष्क्रिय वस्तु में भी ‘भवति’ क्रिया का अर्थ देखा जाता है इसलिए वह क्रिया स्वभाव नहीं है, अन्यथा निष्क्रिय गुणादिकों में सत्त्व का अभाव हो जावेगा ।

जैन—यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि परिस्पंदात्मक व्यापार से रहित में भी करोति क्रिया का अर्थ विद्यमान है ‘तिष्ठति, स्थानं करोति’ ऐसी प्रतीति आती है अतः करोति क्रिया सामान्य, नित्य, निरंश, एक और सर्वगत है यह बात असंभव है, आप कहें कि ‘करोतिसामान्य’ नित्य है क्योंकि उसका प्रत्यभिज्ञान देखा जाता है । किन्तु यह प्रत्यभिज्ञान हेतु तो कथंचित् नित्य को ही सिद्ध करता है सर्वथा नित्य को नहीं, एवं करोतिसामान्य एक न होकर अनेक है क्योंकि वह ‘करोति’ अर्थ व्यक्ति-व्यक्ति के प्रति व्याप्त होने से अनेक है । अनंश भी नहीं है क्योंकि अंश सहित रूप प्रतीति है तथा सर्वगत भी नहीं है क्योंकि व्यक्ति-व्यक्ति के अंतरालों में दिखता नहीं है । अतः आप भाट्ट के द्वारा स्वीकृत नित्य, निरंश, एक सर्वगत स्वभाव रूप ‘करोतिसामान्य’ हो नहीं सकता जो कि सम्पूर्ण यज्यादि क्रियाओं में व्यापी कर्ता के व्यापार रूप ‘भावना’ इस नाम को प्राप्त कर सके और वेदवाक्य का अर्थ हो सके अर्थात् नहीं हो सकता है । अतः भावनावादी को मान्यता भी श्रेयस्कर नहीं है ।



विशेष सूचना

पृष्ठ २५ से १७१ तक नियोगवाद, विधिवाद एवं भावनावाद का विषय अतीव क्लिष्ट एवं नीरस होते हुए भी भावार्थ-विशेषार्थ के द्वारा सरल बनाने का पूर्ण प्रयत्न किया गया ।

अब आगे पृष्ठ १७३ से अपौरुषेय वेद खंडन, चार्वाक मत खंडन आदि का सरल एवं मधुर प्रकरण प्रारम्भ हो रहा है ।



[अत्रपर्यंतं जैनाचार्यैर्भावनानावादो निराकृतोऽधुना वेदस्यापौरुषेयत्वं निराक्रियते]

इति ¹श्रुति²सम्प्रदायावलम्बिनां मतेऽत एव³ न कश्चित्सर्वज्ञ ⁴इत्ययुक्तं, श्रुतेर-
विशेषादप्रमा⁵णतापत्तेः । इति सूक्तं “यथैव हि सुगतादयः परस्परविरुद्धक्षणिकनित्याद्ये-
कान्तसमयाभिधायिनः सर्वे न सर्वदर्शिन इति न कश्चित्सर्वज्ञस्तथा श्रुतयोपि ⁷परस्परविरुद्ध-
कार्यार्थ⁸स्वरूपा⁹द्यर्थाभिधायिन्यः सर्वा न प्रमाणभूताः” । ¹⁰इति न काचिदपि श्रुतिः
प्रमाणं स्यात् । न हि कार्यर्थे श्रुतिरपौरुषेयी¹¹, न पुनः ¹²स्वरूपे, येनापौरुषेयत्वात्तदन्यतर-
¹³श्रुतिजनितमेव ज्ञानं प्रमाणं दोषवर्जितैः ¹⁴कारणैर्जनितत्वादुपपद्येत । ¹⁵बाध¹⁶वर्जितत्वं¹⁷ तु
¹⁸नैकत्राप्यस्ति हिंसाद्यभिधायिनः “श्वेतमजमालभेत¹⁹ भूतिकामः²⁰” ²¹इत्यादेः²² “साधनं

[जैनाचार्य वेद को अपौरुषेय एवं प्रमाण मानने का खण्डन करते हैं]

मीमांसक—इस प्रकार से श्रुति—वेद संप्रदाय का अवलंबन लेने वालों के मत—सिद्धांतों में इसीलिए सर्वज्ञ नहीं है अर्थात् तीर्थकरत्व लक्षण हेतु सुगत आदिकों में चला जाने से अनैकांतिक है इस कारण ही कोई सर्वज्ञ नहीं है ।

जैन—यह आप मीमांसक का कथन सर्वथा ही अयुक्त है क्योंकि वेद भी परस्पर विरुद्ध अर्थ को कहने वाले होने से अप्रमाण ही हैं ।* इसलिए बिल्कुल ठीक ही कहा है कि—

“जिस प्रकार से सुगत आदि परस्पर विरुद्ध क्षणिक, नित्यादि एकांत समय—मत को कहने वाले हैं अतः वे सभी सर्वदर्शी—सर्वज्ञ नहीं है इसलिए कोई सर्वज्ञ नहीं है । उसी प्रकार से वेद भी परस्पर विरुद्ध कार्य स्वरूप—नियोग, विधि आदि अर्थ को कहने वाले होने से वे भी सभी प्रमाणभूत नहीं हैं ।”

इसलिए कोई भी वेद प्रमाणीक नहीं है । उसी का और भी स्पष्टीकरण करते हैं ।

‘कार्य अर्थ में श्रुति अपौरुषेय है, किन्तु ब्रह्म स्वरूप में नहीं है’ ऐसा भी आप नहीं कह सकते कि जिससे “अपौरुषेय होने से” इस हेतु से किसी एक वेद से उत्पन्न हुआ ज्ञान ही दोषों से रहित कारणों से अपौरुषेय वेदवाक्यों से उत्पन्न होने से प्रमाण हो सके, अर्थात् नहीं हो सकता है । हिंसादि का कथन करने वाले वेदवाक्यों में से किसी एक वेदवाक्य में भी “बाधा से रहितपना रूप हेतु” नहीं है । “श्वेतमजमालभेत भूतिकामः” विभूति की इच्छा करता हुआ मनुष्य श्वेत बकरे को मारे “इत्यादि

1 इतः कारिकाार्थमाहुराचार्याः । 2 वेद । (व्या० प्र०) 3 तीर्थकरत्वलक्षणस्य साधनस्य सुगतादिभिरनैकांतिकत्वं यतः । (व्या० प्र०) 4 मीमांसकेनोक्तम् । 5 परस्परविरुद्धार्थाभिधायित्वेन । 6 सूक्तं भावयति । 7 परस्परविरुद्ध-कार्यस्वरूपाद्यर्था-इति पा० । (व्या० प्र०) 8 स्वरूपो नियोगः । 9 आदिना विध्यादिग्रहः । 10 हेतोः । 11 अपौरुषेयवाक्यैः । 12 ब्रह्मस्वरूपे । 13 प्रतिपादक । (व्या० प्र०) 14 अपौरुषेयवाक्यैः । (व्या० प्र०) 15 तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितं । अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतं । (व्या० प्र०) 16 तदेव दर्शयति । 17 श्रुतेः । 18 वचसि (कार्यर्थस्वरूपे वा) । 19 हन्यात् । (व्या० प्र०) 20 ऐश्वर्यं । (व्या० प्र०) 21 वाक्यस्य । 22 अपौरुषेयवाक्यस्य । (व्या० प्र०)

हन्यात्^१” इत्यादेरिव^२ धर्मं^३ प्रमाणत्वानुपपत्तेः, ^४पुरुषाद्वैताभिधायिनश्च “सर्वं खल्विदं ब्रह्म”

वेदवाक्य” “सधनं हन्यात्” धन सहित को मारे । इत्यादि वचन के समान ही होने से धर्म में प्रमाण नहीं है । अर्थात् “सधनं हन्यात्” यह खारपटिक जनों का सिद्धांत है वह प्रमाण नहीं है इसका विशेष विवरण श्लोकवार्तिकालंकार में है ।

विशेषार्थ—अन्य लोगों के प्रमाण का लक्षण है कि—“तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं वाधवर्जितं । अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसंमतं ॥”

इस प्रमाण के लक्षण में “बाधा से रहित होना” “अदुष्टकारणों से उत्पन्न होना” आदि जो हेतु दिये गये हैं वे घटित नहीं होते हैं । ऐसा श्लोक वार्तिक ग्रंथ प्रथम खण्ड पेज ११४ में कहा है । यथा “खरपट मत” के शास्त्रों में लिखा है कि स्वर्ग का प्रलोभन देकर जीवित ही धनवान् को मार डालना चाहिए । एतदर्थं काशीकरवट, गंगा प्रवाह, सतीदाह आदि कुरिसत क्रियायें उनके मत में प्रकृष्ट मानी गई हैं । किन्तु हम और आप मीमांसक लोग उक्त खरपट के शास्त्रों को रागी, द्वेषी अज्ञानी वक्ता रूप दुष्टकारणों से जन्य मानते हैं अतः वे अप्रमाण हैं । “नाग्निहोत्रं स्वर्गं साधनं हिंसा हेतुत्वात् सधनवधवत् । सधनवधो वा न स्वर्गसाधनस्तत एव अग्निहोत्रवत् ।” आप मीमांसक के यहाँ अग्नि होत्र-यज्ञ स्वर्ग का साधन नहीं है क्योंकि हिंसा का हेतु है जैसे कि खारपटिक मत में धनवान् का वध कर देना स्वर्ग का हेतु माना गया है । अथवा धनसहित का वध स्वर्ग को देने वाला नहीं है क्योंकि वह हिंसा का हेतु है जैसे कि अग्नि होत्र-यज्ञ । जैनाचार्य के इस कथन पर मीमांसक कहता है कि “विधिपूर्वकस्य पशुवादिबधस्य विहितानुष्ठानत्वेन हिंसाहेतुत्वाभावात् असिद्धो हेतुरिति चेत्, तर्हि विधिपूर्वकस्य सधनवधस्य खारपटिकानां विहितानुष्ठानत्वेन हिंसाहेतुत्वं मा भूदिति सधनवधात् स्वर्गो भवतीति वचनं प्रमाणमस्तु” । अर्थात् क्रियाकाण्ड विधान करने वाले शास्त्रों में लिखी गई वैदिक विधि के अनुसार किया गया पशुओं का वध तो शास्त्रोक्त क्रियाओं का ही अनुष्ठान है वह लौकिक हिंसा का कारण होकर पाप को पैदा करने वाला नहीं है अतः आप जैनों का “हिंसाहेतुत्वात्” हेतु अलिङ्ग है हमारे अग्निहोत्र रूप पक्ष में नहीं जाता है । यदि मीमांसक का ऐसा कहना है तो इस पर पुनः जैन कहते हैं कि खरपट मतानुसारियों ने धनवान् को विधिवत् मार डालने का विधान भी शास्त्रोक्त क्रिया का अनुष्ठान माना है अतः विधिवत् धनी का मार डालना भी हिंसा का हेतु न होवे और पुनः सधनवध के प्रतिपादक शास्त्र भी आप मीमांसकों को प्रमाणीक मानना चाहिए ।

अनेक पुरुषों का ऐसा भी कहना है कि संसार में प्रायः धनवान् पुरुष ही अधिक अनर्थ करते हैं हिंसा झूठ आदि पाप, जुआ, मांस आदि दुर्व्यसन करते हैं, विधवा अनाथ, दीन गरीब आदि को दुःखी करते हैं, धन के मद में अंधे होकर अनेकों कुकृत्य कर डालते हैं अतः उनके मार देने से लोक

1 लौकिकवाक्यस्य । (व्या० प्र०) 2 खारपटिकमित्यस्यायं प्रसंगः श्लोकवार्तिकालंकारे दृष्टव्यः । (व्या० प्र०)

3 कार्थेण दूषण । (व्या० प्र०) 4 [जैनो नैकत्रापि बाधवर्जितत्वं प्रदर्शयितुं हेत्वन्तरमाह] ।

इत्यादेः^१ “सर्वं^२ प्रधानमेव” इत्यादेरिव स्वविषये प्रमाणत्वायोगात् ।^३अपूर्वार्थत्वं^४ पुनः

के अनेक पापाचार दूर हो जावेंगे एवं सज्जनों के बचे रहने से वात्सल्य प्रेम आदि बढ़ेंगे अतः धनिकों का वध भी कर्त्तव्य रूप है जैसे कि होम में पशुओं को हवन करना कर्त्तव्य रूप है इन दोनों में कोई अंतर नहीं है । इस पर पुनः मोमांसक कहता है कि वेद में लिखी हुई हिंसा को करने से या युद्ध में मरने से अवश्य ही स्वर्ग मिलता है, किन्तु खरपट के यहाँ कही गई हिंसा से स्वर्ग नहीं मिलता है । आचार्य कहते हैं इस प्रकार से आपके कहने में कोई प्रमाण नहीं है, दोनों ही समान रूप से हिंसा के कारण हैं अतः या तो दोनों ही प्रमाण होंगे, अथवा दोनों के ही कथन अप्रमाण हो जावेंगे । इस पर पुनः मोमांसक कहता है कि कल्याण की इच्छा करने वालों के द्वारा यज्ञ किये जाते हैं अतः वे यज्ञ श्रयस्कर हैं किन्तु सधनवध उससे विपरीत होने से श्रयस्कर नहीं है । एवं ‘यज्ञ’ धर्म शब्द से कहा जाता है जो यज्ञ करता है वह “धार्मिक” कहलाता है । आचार्य कहते हैं आपका यज्ञ भी सुगत जैन आदिकों के द्वारा अधर्म शब्द से भी कहा जाता है । एवं सधनवध भी खारपटिक और हिंसक जनों के द्वारा धर्म कहा जाता है । एवं लोक गंहितपना दोनों में भी समान है अतः सधनवध और अग्नि होत्र दोनों ही समान हैं । बाध वजित हेतु से रहित हैं, अतः अप्रमाण हैं । ऐसा समझना चाहिए । इसका विशेष स्पष्टीकरण श्लोकवार्तिकालंकार प्रथम पुस्तक में देखिये ।

पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में अमृतचंद्र सूरि ने भी कहा है कि —

“धनलवलपिपासितानां विनेयविश्वासनाय दर्शयितां ।

झटिति घटचटकमोक्षं श्रद्धेयं नैव खारपटिकानां ॥८८॥

अर्थ—थोड़े से धन के प्यासे और शिष्यों को विश्वास करने के लिए दिखलाने वाले शीघ्र ही घड़े के फूटने से चिड़ियों के मोक्ष के समान मोक्ष का श्रद्धान नहीं करना चाहिये । कत्थे के रंग के कपड़े पहनने वाले एक प्रकार के सन्यासी खारपटिक हैं वे लोग घट के फूटने से चिड़ियों के उड़ जाने के समान ही शरीर के छूट जाने को ही मोक्ष कहते हैं । अतएव इन लोगों ने सधनवध आदि कारणों से शरीर के नष्ट हो जाने से सुख की प्राप्ति मान ली है ऐसा भालूम पड़ता है ।

और पुरुषार्थ को कहने वाले “सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म” इत्यादि वाक्य “सर्वं प्रधानमेव” इत्यादि के समान ही अपने विषय को बतलाने में प्रमाण नहीं हैं । अर्थात् जैसे सांख्य कहता है कि सभी जगत प्रधान रूप है वैसे ही वेदवाक्य कहते हैं कि सभी जगत परम ब्रह्म रूप ही है जैसे आप सांख्य के कथन को अप्रमाणिक कहते हो तथैव आपके वेद वचन भी अप्रमाणिक ही हो जाते हैं ।

१ संप्रदायस्थ । (व्या० प्र०) २ साङ्ख्यमते सर्वं प्रधानमेव । ३ अपूर्वार्थग्राहित्वम् । ४ धर्मादौ परब्रह्मादौ प्रत्यक्षादिकं न प्रवर्तते अतएव श्रुतेरनधिगतार्थाधिगन्तृत्वं । भट्टप्रतिपादितं । (व्या० प्र०)

विशेषार्थ—सांख्य ने मूल में दो तत्त्व माने हैं एक प्रकृति दूसरा पुरुष । प्रकृति को वे अचेतन या जड़ मानते हैं और पुरुष को चेतन । प्रकृति से महान् उत्पन्न होता है । (सृष्टि से लेकर प्रलय काल तक स्थिर रहने वाली बुद्धि को महान् कहते हैं) महान् से अहंकार उत्पन्न होता है । अहंकार से सोलह गण पैदा होते हैं (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, वचन, हस्त, पाद पायु—मल द्वार और उपस्थ—मूत्रद्वार ये पांच कर्मेन्द्रियाँ, मन तथा स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द ये पांच तन्मात्रायें ये सोलह गण कहलाते हैं) इन सोलह गण के अन्तर्गत जो पांच तन्मात्रायें हैं उनसे पंचभूत उत्पन्न होते हैं ।

अर्थात् शब्द से आकाश उत्पन्न होता है अतः उसमें एक शब्द गुण पाया जाता है । शब्द सहित स्पर्श से वायु उत्पन्न होती है अतः वायु में शब्द और स्पर्श पाये जाते हैं । शब्द, स्पर्श से सहित रूप से अग्नि उत्पन्न होती है अतः उस अग्नि में शब्द, स्पर्श और रूप ये तीन गुण पाये जाते हैं । शब्द, स्पर्श और रूप से सहित रस से जल बनता है । अतः जल में ये चारों गुण पाये जाते हैं । शब्द, स्पर्श, रूप और रस से सहित गंध से पृथिवी उत्पन्न होती है अतः पृथ्वी में ये पाँचों गुण पाये जाते हैं । प्रकृति से लेकर पंचभूत तक ये २४ तत्त्व अचेतन हैं एवं एक पुरुष तत्त्व चेतन है । प्रकृति इस संपूर्ण सृष्टि को करने वाली है और पुरुष उसका भोक्ता है । इस प्रकृति का दूसरा नाम प्रधान भी है । सृष्टि के प्रारम्भ काल में प्रधान अपने भीतर से ही सारे संसार को उत्पन्न करता है और प्रलय काल में सारे संसार को अपने भीतर ही प्रलय रूप से समाविष्ट कर लेता है । यह प्रधान स्वयं किसी से उत्पन्न नहीं होता है अतः अजन्मा है । इसका मूल स्वरूप किसी के दृष्टिगोचर नहीं है अतः यह अव्यक्त है और इसके कार्य दृष्टिगोचर होते हैं अतः इसे ही व्यक्त भी कहते हैं । पुरुष को छोड़कर शेष समस्त तत्त्वों को (विश्व को) उत्पन्न करने में यह प्रमुख कारण है अतएव यह प्रधान कहलाता है । पुरुष इससे विपरीत स्वभाव वाला है सत्त्व, रज, तम आदि तीन गुणों से रहित है, अन्य-प्रधान को विषय करने वाला चेतन है, प्रधान तो एक है, किन्तु पुरुष अनेक हैं ।

प्रधान अचेतन है, सामान्य है । पुरुष चेतन है, कूटस्थ नित्य है, चेतना गुण का अनुभव करने वाला है, ज्ञान से शून्य है, ज्ञान तो प्रधान का धर्म है । जब तक पुरुष के साथ प्रधान का संसर्ग है तभी तक वह पुरुष ज्ञानी दीखता है ।

कार्यों के एक रूप अन्वय देखे जाने से तथा महत् आदि भेदों का परिणाम पाये जाने से उन कार्यों का एक प्रधान कारण से उत्पन्न होना सिद्ध है जैसे घट, घटी, सराव, उदञ्चन आदि में मिट्टी एक अन्वय रूप से मौजूद है उसी प्रकार से महान् अहंकार आदि कार्यों में—सारे सृष्टि रूप जगत में एक प्रधान का ही अन्वय पाया जाता है अतः यह सारा जगत प्रधानात्मक ही है । सांख्य ने उत्पाद और विनाश को भी नहीं माना है क्योंकि यह कूटस्थ नित्यैकान्तवादी है । उसका कहना है कि वस्तु में जो उत्पाद, विनाश दिखता है वह केवल आविर्भाव, तिरोभाव रूप है न कोई वस्तु नष्ट हुई है,

सर्वस्याः श्रुतेरविशिष्टं, ¹प्रमाणान्तराप्रतिपन्ने धर्मादौ परब्रह्मादौ प्रवृत्तेः ।

न उत्पन्न हुई है, मृत्पिंड से घड़ा नहीं बना है किन्तु मिट्टी में घड़ा सदैव विद्यमान था कुम्हार चाक आदि व्यञ्जक कारणों से मिट्टी में घट प्रकट हो गया है, पहले मिट्टी में तिरोभूत था। अतएव यह सांख्य प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव को भी नहीं मानता है जिसका आगे कारिका १०वीं ११वीं में अच्छा निराकरण किया गया है। अतः यहाँ जैनाचार्यों का यही कथन है कि जैसे आप "सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म" कहते हो वैसे ही सांख्य सारे विश्व को प्रधानात्मक कहते हैं पुनः आप उनके भी सिद्धांत को प्रमाण क्यों नहीं मानते हैं? आप जिन-जिन हेतुओं से उनके प्रधान तत्त्व को दूषित करेंगे हम जैन भी उन्हीं-उन्हीं हेतुओं से आपके ब्रह्मवाद को भी दूषित कर देंगे। यदि आप आगम प्रमाण से अपनी मान्यता सिद्ध करेंगे तो वे सांख्य भी अपने आगम को प्रमाण मानकर अपनी मान्यता पुष्ट करेंगे। अतः या तो आप और सांख्य इन दोनों के वचन भी प्रमाणिक माने जाने चाहियें या तो दोनों के वचनों को अप्रमाणिक कहना चाहिए क्योंकि और तो कोई उपाय है नहीं।

मीमांसक—पुनः सभी वेद अपूर्वार्थ को ही विषय करते हैं अतः समान हैं प्रमाणांतर से नहीं जाने गये धर्मादि और पर-ब्रह्मादि में उनकी प्रवृत्ति है। अर्थात् धर्म अधर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थों को और परम-ब्रह्म को अन्य प्रमाण नहीं बता सकते हैं ये वेदवाक्य ही इनका ज्ञान कराते हैं अतः प्रत्यक्षादि प्रमाणों की धर्मादि में एवं ब्रह्मा आदि में प्रवृत्ति नहीं होती है। इसीलिए ये वेद "अनधिगत"—पूर्व में नहीं जाने गये अर्थ का ज्ञान कराने वाले होने से प्रमाण हैं क्योंकि भाट्ट ने प्रमाण का लक्षण यही माना है।

विशेषार्थ—"अनधिगततथाभूतार्थनिश्चायकं प्रमाणं" (न्यायदीपिका पृ० १२३) इस प्रकार से भाट्टों ने प्रमाण का लक्षण माना है वे कहते हैं कि यह लक्षण मीमांसक के एक भेद रूप हम भाट्टों के यहाँ अपौरुषेय वेद में पाया जाता है क्योंकि धर्मअधर्म और परमब्रह्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थों को प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाण नहीं बता सकते हैं किन्तु ये वेद उनको भी बता देते हैं अतः हमारे वेद पूर्व में नहीं जाने गये अपूर्वार्थ को ही विषय करने वाले हैं और ये वेद अपौरुषेय होने से प्रमाण हैं। ऐसा सर्वज्ञ का अभाव करने वाले मीमांसक स्वीकार करते हैं। इस कथन पर जैनाचार्यों ने इस भाट्ट द्वारा मान्य प्रमाण के लक्षण का न्यायदीपिका में सुन्दर खण्डन किया है आचार्य कहते हैं कि आप भाट्ट—मीमांसकों का यह प्रमाण का लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित है क्योंकि आपके द्वारा ही प्रमाण रूप से मान्य धारावाहिक ज्ञान अपूर्वार्थ ग्राही नहीं है। "यह घट है, यह घट है, यह घट है" इत्यादि रूप से जाने हुए को जानते बैठना धारावाहिक ज्ञान का लक्षण है। भाट्ट कहता है कि धारावाहिकज्ञान भी अगले-अगले क्षण से सहित अर्थ को ही विषय करते हैं अतः अपूर्वार्थ विषयक

[कानिचित् वेदवाक्यानि स्वयं स्वस्यार्थं न प्रतिपादयन्त्यतः वेदस्य प्रामाण्यं न सिद्धयति]

१ न च काचिच्छ्रुतिः^२ स्वयं स्वार्थं प्रतिपादयत्यन्य^३व्यवच्छेदेन कार्ये एवार्थ^४ अहं प्रमाणं न स्वरूपे; स्वरूपे एव वा न कार्येऽर्थे सर्वथेत्यविशेषः सिद्धः^५ । ६ ननु^७ च "पदानि^८

ही हैं। इस पर आचार्य कहते हैं कि क्षण अत्यन्त सूक्ष्म हैं उनको लक्षित करना—जानना संभव नहीं है अतः धारावाहिकज्ञानों में उक्त लक्षण की अव्याप्ति निश्चित है।

[कोई भी वेद वाक्य स्वयं अपने अर्थ का प्रतिपादन नहीं करते हैं। अतः वेद की प्रामाण्यता सिद्ध नहीं होती है]

जैन—कोई वेद चाहे विधि अर्थ ग्राही हों चाहे नियोग या भावना अर्थ ग्राही हों वे वेद स्वयं अन्य का व्यवच्छेद करके अपने अर्थ का प्रतिपादन नहीं कर सकते हैं।

"कार्य-नियोग" अर्थ में ही मैं—वेद प्रमाण है स्वरूप में नहीं, अथवा स्वरूप अर्थ में ही मैं प्रमाण है कार्य अर्थ में सर्वथा नहीं। इस प्रकार से वेद वाक्य स्वयं अपने अर्थ का प्रतिपादन नहीं करते हैं। अतः सभी की मान्यता में वे अविशेष-समान रूप से सिद्ध हैं।

विशेषार्थ—वेद के अपौरुषेयत्व के खण्डन में प्रमेयरत्न माला में भी बहुत ही सरल एवं सुन्दर विवेचन है। "प्रवाहनित्यत्वेन वेदस्यापौरुषेयत्वं" मीमांसकों ने प्रवाह की नित्यता से वेद को अपौरुषेय माना है। इस पर जैनाचार्य प्रश्न करते हैं कि आप मीमांसक सभी शब्दों को अनादि नित्य मानते हो या कुछ वेद विशिष्ट शब्दों को ही अनादि नित्य मानते हो यदि सभी को अनादि नित्य कहो तो जो शब्द लौकिक हैं वे ही वैदिक हैं, पुनः वेद ही अपौरुषेय हैं, लौकिक या कृत्रिम शास्त्रादि के शब्द अपौरुषेय नहीं हैं यह आपने कैसे कहा? आप तो अपनी मान्यतानुसार संसार के सभी सच्चे ब्रूठे जैन, बौद्ध आदि शास्त्रों को अपौरुषेय मानकर सच्चे कहो। यदि आप यह पक्ष न लेकर विशिष्ट आनुपूर्वी से आये हुये विशिष्ट वैदिक शब्दों को ही अनादि नित्य कहो, तब तो हम पुनः प्रश्न करते हैं कि जिन शब्दों का अर्थ जान लिया है उनको अनादिता है या जिनका अर्थ नहीं जाना है उनको? इसमें यदि दूसरा पक्ष लेवो तब तो आपको अज्ञान रूप अप्रामाण्यता ही रही। यदि प्रथम पक्ष लेवो, तब हम पुनः प्रश्न करते हैं कि उन वेदों के व्याख्यान करने वाले अल्पज्ञ हैं या सर्वज्ञ? सर्वज्ञ रूप दूसरा पक्ष तो आपको अनिष्ट ही है एवं अल्पज्ञ को वेद का व्याख्याता मानने से तो अन्यथा विपरीत अर्थ की भी संभावना हो सकती है।

अयमर्थो नायमर्थ इति शब्दा वदन्ति न । कल्प्योऽयमर्थः पुरुषंस्ते च रागादिविप्लुताः ॥

अर्थ—“मेरा यह अर्थ है और यह अर्थ नहीं है” इस प्रकार से शब्द तो स्वयं बोलते नहीं हैं। शब्दों का यह अर्थ तो पुरुषों के द्वारा ही कल्पित किया जाता है। और पुरुष रागादि दोषों से दूषित

1 पराभिप्रायं निराकरोति जैनः । 2 विधिग्राहिणी नियोगग्राहिणी वा । 3 स्वरूप । (व्या० प्र०) 4 श्रुतिः । 5 श्रुतेरविशेषादप्रामाण्यतावत्तेरित्यत्र भाष्येऽविशेषपदं व्याख्यातं । (व्या० प्र०) 6 मीमांसकः । 7 श्रुतेः स्वयमेवान्य-व्यवच्छेदेन स्वार्थप्रतिपादनं युक्तमित्याह परः । यथा घटशब्दः पटस्य व्यवच्छेदेन पृथुबुद्धोदराकारे घटस्वरूपे प्रवर्तते तथा वेदवाक्यमिति शंकामनूद्य वदति । (व्या० प्र०) 8 पचति भवतीत्यादीनि । (व्या० प्र०)

तावल्लोके येष्वर्थेषु प्रसिद्धानि तेष्वेव वेदे, ¹तेषामध्या²हारादिभिर³र्थस्यापरिकल्पनीयत्वादपरिभाषितव्यत्वाच्च⁴ । सति ⁵सम्भवे लौकिकपदार्थज्ञश्च विद्वानश्रुतपूर्व काव्यादिवाक्यार्थमवबुध्य-

होते हैं अतः वे रागद्वेष के वशीभूत होकर अन्यथा भी अर्थ कर सकते हैं ॥

दूसरी बात यह है कि अल्पज्ञ पुरुष के द्वारा व्याख्यान किये गये अर्थ विशेष से “अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः” इत्यस्य खादेच्छवर्मांसम् इत्यपि वाक्यार्थः किं न स्यात् ।

(प्रमेयरत्नमाला पृ० २२०)

टिप्पणी—अग्निं हंतीति अग्निहा श्वा तस्यात्र मांसं जुहुयात्खादेत् । अथवा अगति गच्छति इत्यग्निःस्वा, हूयतेऽद्यते खाद्यते यत्तत् होत्रं मांसं । अग्नेर्होत्रमित्यग्निहोत्रं श्वर्मांसं तज्जुहुयात् खादेत् स्वर्गकामः पुमान् द्विजः ।

अर्थ—‘स्वर्ग की इच्छा करने वाला पुरुष अग्निहोत्र करे—हवन करे’ इस वाक्य का अर्थ “कुत्ते का मांस खावे” ऐसा भी अर्थ क्यों न संभव मान लिया जावे ?

अल्पज्ञ पुरुष रागादि के वशीभूत होकर उक्त वेदवाक्य का ऐसा अर्थ कर सकता है कि अग्नि को जो हने वह ‘अग्निहा’ अर्थात् कुत्ता है, उसका ‘अत्र’ जो मांस उसे ‘जुहुयात्’ अर्थात् खावे । अथवा “अगति गच्छति” इस निरुक्ति के अनुसार जो चले उसे ‘अग्नि’ अर्थात् कुत्ता कहते हैं । “हूयते अद्यते खाद्यते यत्तत् होत्रं” इस निरुक्ति के अनुसार ‘होत्र’ का अर्थ मांस है । अग्नि अर्थात् कुत्ते के मांस को खावे, इस प्रकार भी वही अर्थ निकल आता है । किन्तु ऐसा अर्थ आपको भी मान्य नहीं होगा, अतः अल्पज्ञ व्याख्याता का मानना ठीक नहीं है । थोड़ी देर के लिए आप वेद का अर्थ अनादिकाल से चली आ रही व्याख्यान परंपरा द्वारा आया हुआ मान भी लेवें, तो भी किसी वक्ता के द्वारा गुरु से गृहीत अर्थ का विस्मरण हो जाने से या वचन बोलने की चतुराई न होने से अथवा दुष्ट अभिप्राय से गलत अर्थ का प्रतिपादन भी हो सकता है । आजकल भी ऐसे लोग देखे जाते हैं जो ज्योतिष आदि शास्त्रों के रहस्य को अच्छी तरह जान करके भी दुष्ट अभिप्राय से गलत बता देते हैं या प्रतिपादन की शैली न होने से अथवा कितने ही व्याख्याता वाक्यार्थ का सम्बन्ध भूल जाने से उल्टा सुल्टा अर्थ भी कर देते हैं । अतः वेद अपौरुषेय होने से प्रमाण नहीं हैं ।

1 वेदगतपदानाम् । 2 प्रकरणं—“प्रस्तावादथवौचित्याद्देशकालविभागतः । शब्दरथाः प्रतीयंते न शब्दादेव केवलात् ।” प्रस्तावे—भोजनप्रस्तावे संधवमानीयतामित्युक्ते लवणमेव न तु सिधुदेशीयोश्वः । औचित्ये—मातंगमामिनी गच्छतीत्युक्ते हस्तिनी न तु चांडालः । देशे—अयोध्यायां रामलक्ष्मणी इत्युक्ते दशरथसुती न तु शुक्सारसो । काले—रात्रौ पतंगो भ्रमतीत्युक्ते खद्योत एव न तु सूर्यः । (व्या० प्र०) 3 आदिना प्रकरणादिग्रहः । 4 गण्डकाश्चतुरो गुञ्जा इत्यादि-गणितपरिभाषावद्वचनहारकालात्पूर्वमस्य शब्दस्यायमर्थ इति सङ्कृतस्योत्तरकालं व्यवहारनिमित्तस्य कारणं परिभाषण तस्याविषयत्वाच्चेत्यर्थः । 5 येष्वर्थेषु लौकिकपदानां सम्भवस्तेष्वेवार्थेषु वैदिकपदानां सम्भवे सति ।

मानो दृष्टः । 'तद्वच्छ्रुतिवाक्यार्थमपि कश्चित्स्वयमेवाश्रुतपूर्वमवबोद्धुमर्हतीति युक्तं श्रुतेः स्वयमेवान्यव्यवच्छेदेन स्वार्थप्रतिपादनम्" इति कश्चित्^२ सोपि न परीक्षाचतुरः, सर्वस्याः श्रुतेस्तथा^३भावाविशेषात् । 'न च भावनैव नियोग एव वा लौकिकवाक्यस्यार्थः शक्यः प्रतिष्ठापयितुं, येन वैदिकवाक्यस्यापि स एवार्थः स्यात् । नापि सन्मात्रविधिरेव कस्यचिद् वाक्यस्यार्थः शक्यप्रतिष्ठो, येन श्रुतिवाक्यस्यापि स एवार्थोऽन्ययोगव्यवच्छेदेन स्यात्, 'तत्रानेकबाधकोपन्यासात् । ततः सुगतादिवच्छ्रुतयोपि न प्रमाणमित्यायातम् ।

मीमांसक—लोक में जिन अर्थों में पद प्रसिद्ध हैं उन्हीं अर्थों में ही वे पद वेद में हैं । उन वेदगत पदों का अध्याहारादि-प्रकरण आदि से अर्थ परिकल्पित नहीं किया जा सकता है और न वे परिभाषितव्य ही हैं अर्थात् वेदवाक्य परिभाषण के विषय नहीं हैं । जिन अर्थों में लौकिक पदों का अर्थ संभव है उन्हीं अर्थों में वेदिक पदों के अर्थ भी संभव हैं जिस प्रकार से लौकिक पद के अर्थ को जानने वाला विद्वान् अश्रुतपूर्व काव्यादि वाक्यों के अर्थ को समझता हुआ देखा जाता है । उसी प्रकार से कोई मनुष्य स्वयं ही अश्रुतपूर्व वेदवाक्य के अर्थ को भी समझने में समर्थ हो सकता है । इसलिए वेद स्वयमेव अन्य का व्यवच्छेद करके अपने अर्थ का प्रतिपादन करते हैं यह कथन युक्त ही है ।

जैन—ऐसा कहने वाले आप मीमांसक भी मीमांसा-परीक्षा करने में कुशल नहीं हैं । क्योंकि सभी वेदों में तथाभाव-लौकिक वाक्यार्थ के अनुसार अर्थ का प्रतिपादन करना समान ही है । लौकिक वाक्य का अर्थ भावना ही है अथवा नियोग ही है, ऐसा अर्थ व्यवस्थापित करना शक्य नहीं है कि जिससे वेदिक वाक्य का भी वही अर्थ हो सके अर्थात् नहीं हो सकता है एवं किसी वेदवाक्य का अर्थ सन्मात्र विधि ही है ऐसा भी कहना शक्य नहीं है कि जिससे वेदिक वाक्य का भी अन्य का व्यवच्छेद करके वही अर्थ हो सके अर्थात् नहीं हो सकता क्योंकि उन वेदवाक्यों में तो अनेक बाधायें दी गई हैं । इसलिये सुगत आदि के समान वेद भी प्रमाण नहीं हैं यह बात सिद्ध हो गई ।

विशेषार्थ—श्लोकवार्तिक में इस अपौरुषेय वेद के खण्डन में विशेष रूप से विचार किया गया है । मीमांसक ने अनादिनिघ्नन अपौरुषेय वेदवाक्यों से ही अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान होना माना है वे सर्वज्ञ को तो मानते नहीं हैं । इस पर जैनाचार्य ने प्रश्न किया कि तुम्हारे वेदवाक्यों का व्याख्याता रागी है या वीतरागी ? तब उन्होंने बताया कि हमारे वेद के अर्थ के व्याख्यान करने वाले मनु, याज्ञवल्क्य, व्यास आदि ऋषियों को उस वेद के अर्थ का पूर्ण ज्ञान था अतः उनको वेद के विषय में रागद्वेष का अभाव था । इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि भाई ! यदि आप मूल में सर्वज्ञ मान लें तब तो ठीक

1 लौकिककाव्यादिवाक्यार्थमिव । 2 मीमांसकः । 3 लौकिकवाक्यार्थानुसारेणार्थस्य प्रतिपादकत्वभावाविशेषात् । 4 एतदेव भावयति जैनः । 5 घटशब्दस्य यथा घटार्थो न तथा भावनानियोगावर्थः । (व्या० प्र०) 6 सर्वश्रुतिषु ।

है अन्यथा तो अंधपरंपरा न्याय ही लागू होता है। इस अंध परम्परा से तो वेद के अर्थ का निर्णय होना बनता नहीं है। एक अंधे ने दूसरे अंधे का हाथ पकड़ा, दूसरे ने तीसरे का, तीसरे ने चौथे का इत्यादि रूप से करोड़ों भी अंधों की पंक्ति लगा दी जावे तो क्या सबको दीखने लग जावेगा ? हाँ ! उन पंक्तियों में यदि एक प्रधान चक्षुष्मान्-आंख सहित व्यक्ति को जोड़ दीजिए तो वह सबको भी इच्छित स्थान पर पहुँचा सकता है। तथैव मूल में आप सब एक सर्वज्ञ-सर्वदर्शी मान लीजिए। उसी सर्वज्ञ की मान्यता से उनके वचनों से भी सभी छद्मस्थों को आज तक भी अर्थ का निर्णय हो जावेगा। किन्तु मीमांसक सर्वज्ञ को न मानकर केवल अपने वेद को ही प्रामाणिक सिद्ध करने में लगा हुआ है। उसका कहना है कि व्याकरण, कोष और व्यवहार आदि से शब्दों का वाच्य अर्थ जाना जाता है जो विद्वान् पुरुष व्याकरण, न्याय आदि के अभ्यास से लोक में बोले जाने वाले घट, पट, आत्मा आदि पदों के अर्थ का निश्चय कर लेते हैं। उसी के समान-लौकिक पदों के अर्थ के समान ही वेदों में भी “अग्निमीडे पुरोहितं यजेत” आदि पद पाये जाते हैं। अतः वेद के पदों का अर्थ भी व्युत्पन्न विद्वान् को अपने आप ही हो जावेगा और पदों के अर्थ का निश्चय कर लेने पर वाक्य के अर्थ का निश्चय भी हो जावेगा। जैसे कि कोई विद्वान् चन्द्रप्रभ, गद्यचिंतामणि आदि काव्य ग्रन्थों के पद लेने पर अश्रुतपूर्व-महापुराण, धर्मशास्त्राभ्युदय आदि काव्यों का अर्थ स्वयं कर लेता है या अष्ट-सहस्री, श्लोकवातिक आदि ग्रन्थों को गुरु मुख से पढ़ लेने पर न्यायकुमुदचंद्रोदय, प्रमेयकमलमार्तंड आदि न्यायग्रन्थों का अर्थ भी स्वयमेव समझकर समझा सकता है या गणित के नियमों को जानकर नवीन-नवीन गणित के प्रश्नों का उत्तर झट दे देता है। इसी तरह से व्याकरण आदि के विशेषज्ञान से वेद का अर्थ भी समझ लिया जावेगा, अतः अतीन्द्रिय पदार्थों के ज्ञान के लिए सर्वज्ञ की कोई आवश्यकता भी नहीं है और वेद के अर्थ का निश्चय करने में सर्वथा वीतरागी की भी आवश्यकता नहीं है और हमारे यहाँ अंध परंपरा भी नहीं है।

लोक में आजकल हम लोगों से बोले हुए पद और वेद में लिखे हुए पद यद्यपि एक ही हैं। किन्तु उन पदों के अनेक अर्थ भी व्यवस्थित हो सकते हैं। अतः एक अर्थ को छोड़कर दूसरे इष्ट अर्थ में ही कारण बताकर उसकी व्याख्या करनी चाहिए, अन्य अर्थ में नहीं, इस प्रकार शब्दों के अर्थ का निश्चय करना अशक्य है।

टिप्पणीकार श्री लघुसमंतभद्र स्वामी ने भी कहा है कि प्रकरण आदि से अनेक अर्थ देखे जाते हैं—

“प्रस्तावाद्यथर्वाचित्याद्देश-काल-विभागतः। शब्दैरर्थाः प्रतीयते न शब्दादेव केवलात्” ॥

अर्थ—प्रकरण से अथवा उचितरूप से या देश और काल के निमित्त से शब्दों के द्वारा अर्थ का बोध किया जाता है, किन्तु केवल शब्द मात्र से ही अर्थ का ज्ञान नहीं होता है। उसी का स्पष्टीकरण करते हैं—

प्रकरण से—भोजन के समय किसी ने कहा कि—“संधवमानीयतां” संधव लावो तो संधव शब्द से यहाँ नमक ही लाया जाता है, किन्तु सिन्धु देशीय घोड़ा नहीं लाया जाता है।

औचित्य अर्थ में—“मातंगगामिनी गच्छति” मातंग गामिनी जाती है इतना कहने पर हस्तिनी जा रही है यह अर्थ होता है न कि चांडाल की स्त्री ।

देश के प्रसंग में—“अयोध्यायां रामलक्ष्मणो” ऐसा कहने पर दशरथ के पुत्र ही समझा जाता है न कि शुक और सारस पक्षी । अर्थात् राम लक्ष्मण का अर्थ शुक, सारस भी होता है किन्तु ‘अयोध्या में’ ऐसा देश शब्द का प्रयोग करने पर शुक सारस नहीं समझा जाता है ।

काल अर्थ में—“रात्रौ पतंगो भ्रमति” रात्रि में पतंग भ्रमण करता है । इतना कहने पर रात्रि शब्द काल वाची होने से पतंग का अर्थ खद्योत ही करना चाहिये न कि सूर्य । यद्यपि पतंग का अर्थ सूर्य है फिर भी रात्रि में सूर्य नहीं रहता है । इत्यादि रूप से प्रकरण से भी शब्द से अर्थ का निश्चय किया जाता है ।

इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि कहीं-कहीं प्रकरण से भी अनेक प्रकार के अर्थ उपयोगी दीखते हैं जैसे कोई राजकुमार सज्जीभूत होकर बाहर जाने के लिए तैयार बैठा है और ककड़ी खा रहा है ऐसी दशा में “सैधव लावो” कहने पर सैधव शब्द के उस समय घोड़ा और नमक दोनों ही अर्थ प्रकरण प्राप्त हैं । ‘द्विसंधान’ काव्य में एक साथ ही प्रत्येक शब्द के पांडव और रामचन्द्र के चरित्र पर घटित होने वाले दो दो अर्थ किये गये हैं । अतः अल्पज्ञ, लौकिक विद्वान्, प्रकरण आदि के द्वारा अनेक अर्थों को प्रतिपादन करने वाले वेद के शब्दों की ठीक, ठीक एक ही अर्थ में व्यवस्था नहीं कर सकेंगे और यदि एक ही अर्थ व्यवस्थित होता तो यह प्रभाकर, भाट्ट और ब्रह्माद्वैतवादी जनों का इतना विसंवाद भी क्यों होता ? देखो ! कोई तो कामधेनु के समान उन वेदवाक्यों से कर्मकाण्ड अर्थ निकालते हैं, कोई चार्वाक “अन्नाद्वै पुरुषः” आदि श्रुतियों से अपना जड़वाद पुष्ट करते हैं, कोई भद्वैतवादी उन मंत्रों से ब्रह्मवाद सिद्ध करते हैं । आप मीमांसक भी नियोग और भावना रूप अर्थ में परस्पर में विवाद कर रहे हैं । यदि वेद का अर्थ पहले से ही निर्णीत होता तो इतने हिंसापोषक या हिंसा के निषेधक तथा केवल जड़वाद या केवल आत्मवाद रूप विरुद्ध व्याख्यानियों के द्वारा परस्पर में झगड़े क्यों देखे जाते हैं ? यदि आप कहें कि वेद के अर्थों को जानने वालों का ज्ञान मंद है अतः झगड़े देखे जाते हैं किन्तु प्रतिभाशाली मनु आदि ऋषि एक ही अर्थ करते हैं वे सातिशय प्रज्ञाशाली हैं । वेदों के अर्थों को स्मरण रखने की पूर्ण रूप से विशेषता उनमें है । पुनः जैन प्रश्न करते हैं कि उन मनु, याज्ञवल्क आदि ऋषियों की बुद्धि में विशेषता कैसे आई है ? तब मीमांसक ने कहा कि उन ऋषियों ने पूर्व जन्म में श्रुत का अभ्यास किया है । तब प्रश्न यह होता है कि इन मनु आदिकों ने पूर्व जन्म में श्रुत का अभ्यास स्वयं किया है या गुरु की सहायता से ? यदि स्वतः कहो तो सभी ही पूर्व जन्म में स्वतः वेद का अभ्यास कर सकते हैं । यदि गुरु से कहो तो गुरु कौन है ? चतुर्मुख ब्रह्मा को कहो तो भी ब्रह्मा को भी अनादि कालीन वेदों का ज्ञान कैसे हुआ ? क्योंकि आप ब्रह्मा को भी अनादि कालीन सर्वज्ञ नहीं मानते हैं । फिर भी मीमांसक बोलता ही जाता है कि यद्यपि वेद एक है किन्तु उसकी हजारों शाखाएँ हैं, स्वर्ग में ब्रह्मा बहुत दिनों तक वेद को पढ़ते हैं फिर वहाँ से अवतार लेकर वे मनुष्य लोक

[अत्रत्यात् चार्वाकः सर्वज्ञस्याभावं साधयति तस्य निराकरणं]

¹तथेष्टत्वाददोष ²इत्येकेषामप्रमाणिकंवेष्टिः³* । ⁴न कश्चित्तीर्थकरः प्रमाणं, नापि ⁵समयो वेदोन्यो ⁶वा ⁷तर्कः, ⁸परस्परविरोधात् ।

में मनु आदि ऋषियों के लिए वेद का प्रकाशन करते हैं फिर ब्रह्मा स्वर्ग को चले जाते हैं और वहाँ हजारों वर्ष तक वेद का स्मरण, चिंतन, अभ्यास करते रहते हैं। पुनः स्वर्ग से उतर कर मर्त्य लोक में आकर उन्हीं मनु आदि ऋषियों को वेद के ज्ञान का प्रकाशन करते हैं और वे मनु आदि ऋषीश्वर उस समय में अनेक जीवों को वेद का ज्ञान करा देते हैं। इस प्रकार से ब्रह्मा और मनु आदि की परंपरा भी अनादि काल से चली आ रही है। इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि आपका कथन “वदतो व्याघातः” नाम के दोष से दूषित है। जैसे कोई पुरुष जोर-जोर से कहे कि “मैं मौनव्रती हूँ” यह वचन स्व वचन बाधित है। क्योंकि आप मीमांसकों ने सभी ही पुरुषों को अतीन्द्रिय पदार्थों के ज्ञान से रहित ही माना है। ब्रह्मा, मनु, बृहस्पति, जैमिनी आदि को भी सूक्ष्म परमाणु, आकाश, पुण्य-पाप आदि अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान कहना शक्य नहीं है। पुनः ब्रह्मा ने भी स्वर्ग में क्या पढ़ा, किससे पढ़ा ? इत्यादि प्रश्न उठते ही चले जावेंगे।

एक किंवदंती है कि “ढेकी स्वर्ग में चली जाये तो भी धान ही कूटेगी ?” अतः तुम्हारा कथन सिद्ध नहीं हो पाता है कि वेद “अपौरुषेय” होने से प्रमाण है।

वेद की प्रमाणता के खण्डन का सारांश

सुगत आदि सभी परस्पर में विहृद्ध अर्थ का कथन करने वाले होने से सभी सर्वदर्शी, सर्वज्ञ नहीं हैं अतः कोई भी सर्वज्ञ नहीं है ऐसा भी नहीं कहना क्योंकि आपके अपौरुषेय वेद भी प्रमाण नहीं है जैसे आपने “सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म” कहा है वैसे ही सांख्य ने कहा है कि “प्रधानमेव सर्वं” सभी जगत प्रधान रूप है। तथा कोई भी वेद चाहे विधि अर्थ ग्राही हों चाहे नियोग एवं भावना अर्थ ग्राही हों वे स्वयं अन्य का परिहार करके अपने अर्थ का प्रतिपादन नहीं करते हैं “नियोग अर्थ में ही मैं प्रमाण हूँ, विधि में नहीं या भावना में ही मैं प्रमाण हूँ नियोग में नहीं” इत्यादि एवं कोई भी मनुष्य अश्रुतपूर्व-पहले नहीं सुने हुए वेदवाक्य के अर्थ को समझने में समर्थ नहीं हो सकता है अतः सुगत आदि के समान आपके वेद भी अप्रमाण ही हैं। क्योंकि परस्पर में विरोधी हैं।

[चार्वाक सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध करना चाहता है उसका निराकरण]

चार्वाक—हमें वैसा ही इष्ट है अतः कोई दोष नहीं है। अर्थात् कोई भी सर्वज्ञ नहीं हो सकता है, यही बात हमें इष्ट है इस मान्यता में तो कोई भी दोष नहीं है।

1 इतश्चार्वाकमतप्रसङ्गः । 2 प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमिच्छन्ति एके चार्वाकास्तेषाम् । 3 प्रमाणरहिता । 4 मूलं व्याख्याति । (व्या० प्र०) 5 आगमः । (व्या० प्र०) 6 सुगतादि । (व्या० प्र०) 7 तर्कोनुमानम् । 8 सर्वथा नित्यत्वानित्यत्वादिसमर्थनार्थं सौगतकापिलादिप्रयुक्तानुमानानां परस्परविरोधात्तर्कस्य परस्परविरोधः ।

१“तर्कोप्रतिष्ठः श्रुतयो २विभिन्ना ३नेको ४मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम् ।

५धर्मस्य तत्त्वं ६निहितं गुहायां ७महाजनो ८येन गतः स पन्थाः” ॥ इति वचनात्

कश्चिद्^९ देवतारूपो गुरुर्बृहस्पतिर्भवेत् ^{१०}संवादकः, प्रत्यक्षसिद्धपृथिव्यादितत्त्वो-
पदेशात् । इति^{११} प्रत्यक्षमेकमिच्छन्ति ये तेषां लौकायतिकानामिष्टिरप्रमाणिकैव, प्रत्यक्षतस्तद्^{१२}-
व्यवस्थापनासम्भवात् । न खलु प्रत्यक्षं सर्वज्ञप्रमाणान्त^{१३}राभावविषयम् अतिप्रसङ्गात्* ।
^{१४}सर्वज्ञस्य हि मुनेः प्रमाणान्तरस्य च वेदाद्यागमस्यानुमानस्य च तर्काख्यस्याभावं यदि
^{१५}किञ्चिद्” ^{१६}व्यवस्थापयेत्, ^{१७}तत्राप्रवर्त्तमानत्वात्, तदा^{१८}पुरुषान्तरादिप्रत्यक्षान्तराणामप्यभावं

जैन—यह आपकी मान्यता भी प्रमाण रहित ही है । *

चार्वाक—हमारे यहाँ ऐसा वचन है कि—

कोई तीर्थंकर प्रमाण नहीं है, न कोई आगम है, न वेद हैं, अथवा न कोई तर्क—अनुमान ही प्रमाण है । बस ! हम एक प्रत्यक्ष प्रमाण को ही स्वीकार करते हैं । क्योंकि तीर्थंकर आदि सब में परस्पर में विरोध देखा जाता है क्योंकि कहा भी है—

श्लोकार्थ—तर्क—अनुमान अव्यवस्थित हैं, शास्त्र नाना अर्थों का प्रतिपादन करते हैं, सुगत, कपिल अथवा जिन कोई एक भी भगवान—तीर्थंकर नहीं हैं कि जिनके वचन प्रमाण हो सकें । इसलिए धर्म का स्वरूप गुफा में रखा हुआ है जिस मार्ग से महापुरुष गये हुए हैं वही मार्ग है ॥

अतः कोई देवता रूप बृहस्पति गुरु ही संवादक-प्रमाण भूत हो सकता है क्योंकि वह प्रत्यक्ष से सिद्ध पृथ्वी आदि भूत चतुष्टय का उपदेश देता है । अतः हम चार्वाक एक प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मानते हैं । टिप्पणी में ऐसा भी पाठ है कि कोई अदेवता रूप-असर्वज्ञ रूप बृहस्पति नामक गुरु हैं वही प्रमाण-भूत है इत्यादि ।

जैन—इस प्रकार से आप एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही स्वीकार करते हैं अतः आप “लौकायतिक” इस सार्थक नाम वाले हैं किन्तु आपकी मान्यता भी अप्रामाणिक ही है । क्योंकि प्रत्यक्ष से आपके सिद्धान्त की भी व्यवस्था करना सम्भव नहीं है ।

आपका वह प्रत्यक्ष प्रमाण सर्वज्ञ एवं प्रमाणान्तर के अभाव को विषय करने वाला नहीं है, अन्यथा अति प्रसंग आ जावेगा ।*

- 1 अव्यवस्थितः । 2 नानार्थप्रतिपादकत्वेन । 3 नासौ मुनिः इति पा० । (व्या० प्र०) 4 सुगतः कपिलो जिनो वा ।
- 5 तत्तश्च । 6 अप्रयोजकत्वात् । (व्या० प्र०) 7 गोपालादि । (व्या० प्र०) 8 पथा । 9 कश्चिद्देवतारूपो इति पा० । अदेवतारूपः—असर्वज्ञतारूप इत्यर्थो भवति । (व्या० प्र०) 10 प्रमाणभूतः । 11 इतो जैन आह ।
- 12 सर्वज्ञादिपरोक्षार्थाभावस्य प्रमाणस्य । 13 ताद्विः (सर्वज्ञप्रमाणान्तरयोरभावः) । 14 अतिप्रसङ्गमेव विवृणोति ।
- 15 किञ्चित् प्रत्यक्षं व्यवस्थापयेत् इति पा० । (व्या० प्र०) 16 चार्वाकाभिमतम् । 17 प्रत्यक्षं सर्वज्ञप्रमाणान्तरयोर-
भावं व्यवस्थापयति—तत्राप्रवर्त्तमानत्वात् । यद्यत्राप्रवर्त्तमानं तत्तस्याभावं व्यवस्थापयति खरविषाणादिवत् ।
- 18 देशान्तरकालान्तरवर्त्ती पुरुषोत्र ग्राह्यः ।

तदेव गमयेत् तद्विषयाणां च ^१क्षमादीनाम् । इत्यतिप्रसङ्गः स्वयमिष्टस्य बृहस्पत्यादिप्रत्यक्षस्यापि ^२विषयस्याभावसिद्धेः ।

[चार्वाकः कथयति अस्मदीयबृहस्पतिगुरोः प्रत्यक्षं स्वस्य पृथिव्यादिचतुष्टयस्य ज्ञानं कारयति इति मान्यतायां जैनानां प्रत्युत्तरं वर्तते]

^३अथ प्रत्यक्षान्तरं स्वयमात्मानं^४ व्यवस्थापयति पृथिव्यादिस्वविषयं च, तत्र प्रवर्तमान् । अतो न तदभावप्रसङ्ग इति मतं ^५तर्हि सर्वज्ञोपि स्वसंवेदनादात्मानं स्वर्गापूर्वादिविषयं^६ च व्यवस्थापयतीति कथं तदभावसिद्धिः^७ ? ^८प्रमाणान्तरस्य च तद्वचनस्य ^९हेतुवाद-

सर्वज्ञ-मुनि और प्रमाणांतर अर्थात् वेदादि आगम, अनुमान एवं तर्क इनके अभाव को यदि कोई प्रत्यक्ष व्यवस्थापित करे तो वहाँ उन विषयों में उस प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति नहीं है । अन्यथा पुरुषांतरादि—देशांतर, कालांतरवर्ती पुरुषों के प्रत्यक्षांतर के अभाव को वही प्रत्यक्ष बतला देगा और उनके विषय पृथ्वी आदि विषयों को भी वही प्रत्यक्ष बतला देगा ।

पुनः स्वयं इष्ट बृहस्पति आदि के प्रत्यक्ष के भी स्वविषय का अभाव सिद्ध हो जाने से अति प्रसंग आ जावेगा ।

[चार्वाक कहता है कि हमारे बृहस्पति का प्रत्यक्ष स्व और पृथ्वी आदि चतुष्टय को बतलाता है । अतः सर्वज्ञ कोई नहीं है—इस पर जैनाचार्य का उत्तर]

चार्वाक—प्रत्यक्षांतर—बृहस्पति का प्रत्यक्ष स्वयं अपने स्वरूप को और पृथ्वी आदि स्वविषयों को व्यवस्थापित करता है क्योंकि वह उन विषयों में प्रवृत्ति करता है । इसलिये उस प्रत्यक्ष के अभाव का प्रसंग नहीं आता है ।

जैन—सर्वज्ञ भगवान भी स्वसंवेदन से अपने को एवं स्वर्गादि, अपूर्व—धर्माधर्मादि विषयों को व्यवस्थापित करता है इसलिये उस सर्वज्ञ के अभाव की सिद्धि कैसे हो सकती है ?

एवं वही सर्वज्ञ, प्रमाणांतर—तर्क, उसके वचन हेतुवाद रूप—अनुमान रूप तथा अहेतुवाद रूप—आगम प्रमाण की व्यवस्था कर देता है । इसलिये भिन्न प्रमाणों का अभाव भी कैसे सिद्ध होगा ?

चार्वाक—आपका सर्वज्ञ स्वपर का व्यवस्थापक है इस विषय को सिद्ध करने के लिये कौन सा प्रमाण है ?

जैन—पुनः आप स्वप्रत्यक्ष रूप एक प्रमाण मानने वाले चार्वाक के यहाँ भी प्रत्यक्षांतर-बृहस्पति का प्रत्यक्ष स्वपर को विषय करने वाला है इसमें भी क्या प्रमाण है ?

चार्वाक—उस प्रकार से प्रसिद्धि है अर्थात् बृहस्पति का प्रत्यक्ष स्व पर को ग्रहण करने वाला

१ बृहस्पतिप्रत्यक्षान्तरगोचराणाम् । २ सविषयस्य इति पा० । स्वविषयस्येति वा प्रतिभाति । (व्या० प्र०)
३ चार्वाकः । ४ स्वयं स्वस्वरूपम् । ५ जैनः । ६ अपूर्व धर्माधर्मादि । ७ तस्य सर्वज्ञस्य । ८ तर्करूपस्य । ९ हेतुवादरूपस्यानुमानस्येत्यर्थः । अहेतुवावरूपस्य आगमस्येत्यर्थः ।

रूपस्याहेतुवादरूपस्य^१ च स एव व्यवस्थापकः स्यादिति^२ कुतस्तदभावसिद्धिः ?^३ सर्वज्ञः स्वपरव्यवस्थापकोस्तीत्यत्र किं प्रमाणमिति चेत्^४ स्वप्रत्यक्षैकप्रमाणवादिनः^५ प्रत्यक्षान्तर^६ स्वपरविषयमस्तीत्यत्र किं प्रमाणम् ?^७ तथा प्रसिद्धिरन्यत्रापीति न प्रत्यक्षं तदभावावेदकम्,^८ अतिप्रसङ्गस्य दुष्परिहारत्वात् ।^९ नानुमानम्, असिद्धेः* ।^{१०} प्रत्यक्षमेकमेव^{११} प्रमाणम्^{१२},^{१३} अगौणत्वात्प्रमाणस्य^{१४} अनुमानादर्थनिश्चयो दुर्लभः ।^{१५} सामान्ये सिद्धसाधनाद्^{१६} विशेषेणु-
गमाभावात्^{१७} सर्वत्र विरुद्धाव्यभिचारिणः^{१८} संभवात् । इति स्वयमनुमानं निराकुर्वन्ननुमाना-
देव सर्वज्ञप्रमाणान्तराभावं व्यवस्थापयतीति कथमनुन्मत्तः ? प्रतिपत्तुः^{१९} प्रसिद्धं हि प्रमाणं

है इस प्रकार से हमारे यहाँ गुरु परम्परा से प्रख्याति है ।

जैन—यदि ऐसा कहो तो अन्यत्र-हमारे यहाँ भी सर्वज्ञ के प्रत्यक्ष में भी ऐसी गुरु परम्परा से प्रसिद्धि है । इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाण उस सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध करने वाला नहीं है । अन्यथा-अति-प्रसंग का परिहार करना कठिन हो जावेगा । एवं अनुमान प्रमाण भी सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध नहीं कर सकता है क्योंकि आपके यहाँ असिद्ध है अर्थात् आपने अनुमान प्रमाण को माना ही नहीं है * ।

आपने कहा है कि “प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणं” अतः वही प्रत्यक्ष प्रमाण ही मुख्य है पुनः अनुमान से इस प्रत्यक्ष के विषय भूत अर्थ का निश्चय कैसे होगा ? अर्थात् होना दुर्लभ ही है । हे चार्वाक ! आपने तो अनुमान का निराकरण करने के लिये कहा है कि—“अनुमान सामान्य को सिद्ध करता है या विशेष को ?” यदि सामान्य को कहो तो सिद्ध साधन ही है क्योंकि व्याप्ति के निश्चय के काल में ही सामान्य सिद्ध हो चुका है ।

एवं दूसरा पक्ष लेवो तो विशेष पर्वतादि साध्य में “जहाँ धूम है वहाँ पर्वताग्नि है” ऐसा अनुगम-अन्वय ज्ञान नहीं है अतः सभी जगह अनुमान में विरुद्धादि दोष आते हैं ।

इस प्रकार से आप स्वयं अनुमान का निराकरण करते हुए भी अनुमान से ही सर्वज्ञ और

१ तर्कशास्त्रस्य, परमाणुस्य । (व्या० प्र०) २ प्रमाणान्तराभावसिद्धिः । ३ चार्वाकः । ४ जैनः । ५ चार्वाकस्य । ६ बृहस्पतिप्रत्यक्षम् । ७ चार्वाको वदति—बृहस्पतिप्रत्यक्षं स्वपरप्राहकमित्यस्माकं गुरुपरम्परया प्रख्यातिरस्तीति चेत्तदन्यत्रापि सर्वज्ञप्रत्यक्षेप्येवं भवतु । ८ अन्यथा । ९ चार्वाक आह—अहमनुमानेन सर्वज्ञाभावं साधये । पर आह—भवन्मतेनुमानं नास्ति सिद्धेरघटनात् । १० चार्वाकः । ११ ननु अनुमानाद्यसिद्धावपि सर्वज्ञाद्यभावो भविष्यतीत्या-
शङ्क्य कथमनुन्मत्त इत्याद्यारभ्य योज्यं । (व्या० प्र०) १२ “प्रमाणं तर्हि गौणत्वात्” इत्यादि पाठान्तरम् । १३ अमुख्या (अनुमानतः) न्मुख्यप्रत्यक्षप्रमाणस्यार्थनिश्चयो दुर्लभः । १४ प्रत्यक्षस्य । १५ हे चार्वाक अनुमाननिरा-
करणार्थं त्वमेवं वदसि । एवं किम् ? अनुमानं सामान्यं साधयति विशेषं वा ? सामान्यं चेत्सामान्ये सिद्धसाधना-
दित्यादि । १६ व्याप्तिनिश्चयकाले एव सामान्यस्य सिद्धत्वात् । विशेषेण पर्वतादौ साध्ये यत्र धूमस्तत्र पर्वताग्नि-
रित्यनुगमाभावः । १७ अनुमाने । १८ विरुद्धस्येत्यर्थः हेतोरित्यर्थः । १९ चार्वाकस्य ।

स्वप्रमेयस्य निश्चायेकं, नाप्रसिद्धम्, ¹अतिप्रसङ्गादेव ।

अनुमान, तर्क आदि भिन्न प्रमाणों के अभाव को व्यवस्थापित करते हैं इसलिये आप अनुमत्त कैसे हैं ? अर्थात् आप उन्मत्त सदृश ही हैं ।

क्योंकि जानने वाले प्रतिपत्ता के यहाँ प्रसिद्ध ही प्रमाण अपने प्रमेय का निश्चय कराता है किन्तु अप्रसिद्ध प्रमाण नहीं कराता है अन्यथा अति प्रसंग आ जाता है अर्थात् खरविषाणादि भी प्रमेय की व्यवस्था करने लग जावेंगे ।

भावार्थ— चार्वाक पृथिवी, जल, अग्नि और वायु रूप भूत चतुष्टय को मानता है और इन्हीं के संयोग से चैतन्य स्वरूप आत्मा का प्रादुर्भाव भी मान लेता है और जीव के मरने के बाद उस चैतन्य की भी समाप्ति कहता है । आत्मा नाम के तत्त्व को वह चार्वाक नहीं मानता है अतएव ईश्वर के अस्तित्व को भी वह स्वीकार नहीं करता है । तथा प्रत्यक्ष प्रमाण के सिवाय अनुमान, आगम एवं तर्क नाम के प्रमाण भी उसके सिद्धान्त में नहीं हैं, न सर्वज्ञ का अस्तित्व ही है क्योंकि आत्म तत्त्व को माने बिना सर्वज्ञ को मानना तो कथमपि शक्य नहीं है जैसे बाँस के बिना बांसुरी नहीं बजती है । इन नास्तिक वादी चार्वाक जनों को जो कुछ इन्द्रिय प्रत्यक्ष से दिखता है वही विद्यमान है इन्द्रिय ज्ञान से परे जो वस्तुएँ हैं वे सब अप्रमाण हैं । क्या पता—यदि चार्वाक के घर में बालक जन्मे और उसके पिता या पितामह का बाहर में ही मरण हो जावे तब वह बालक शायद बड़ा होकर अपने पिता और पितामह आदि के अस्तित्व को भी नहीं मानेगा । इतना सब कुछ होने पर भी वह चार्वाक एक बृहस्पति नाम के अपने गुरु को मान रहा है जबकि वे गुरु भी हम और आपको इन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं हो रहे हैं । अतः जैनाचार्यों ने उस चार्वाक से यह प्रश्न किया कि भाई ! तुम किस प्रकार से बृहस्पति गुरु देव का अस्तित्व मानते हो और किस प्रमाण से सर्वज्ञ, अनुमान, तर्क और आगम तथा आत्म तत्त्व का अभाव सिद्ध करते हो ! क्योंकि तुम्हारा मान्य इन्द्रिय प्रत्यक्ष तो न बृहस्पति को देख सकता है और न अनुमानादि के या सर्वज्ञ के अभाव को ही कर सकता है कारण जब वस्तु—घट एक बार प्रत्यक्ष दीखे और पुनः न दीखे तब हम या आप “उस घट का अभाव है” ऐसा कह सकते हैं । अतः तुम चार्वाक तो प्रत्यक्ष प्रमाण से इन बातों को अभाव रूप कैसे कहोगे और अपने गुरु के अस्तित्व को भी कैसे मानोगे ? तब उसने कहा कि हम गुरु के अस्तित्व को तो गुरु परम्परा से ही मान लेते हैं । बस ! आचार्य ने कह दिया कि ऐसे ही परंपरा से हमारे द्वारा मान्य सर्वज्ञ भी आप क्यों नहीं मान लेते हो क्योंकि हमारे यहाँ भी परम्परा अविच्छिन्न रूप से प्रामाणिक मानी गयी है । दूसरी बात यह है कि आप चार्वाक अनुमान, तर्क आदि प्रमाण को माने बिना केवल प्रत्यक्ष प्रमाण से सर्वज्ञ के अभाव को कैसे कहेंगे ? क्योंकि इन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा तो सभी पुरुष न देखे जा सकते हैं न जाने जा सकते हैं पुनः सभी पुरुषों

1 खरविषाणादिकं व्यवस्थापयेदप्रसिद्धानुमानमित्यर्थः ।

[चार्वाकौ ब्रूतेऽहं भवद्भिर्मान्येनानुमानेन स्वप्रत्यक्षप्रमाणमन्तरेण सर्वज्ञस्य भिन्नप्रमाणानां च अभावं साधयामीति मान्यतायां जंताः प्रतिबोधयन्ति]

^१परप्रसिद्धमनुमानं सर्वज्ञप्रमाणान्तराभावग्राहकमिति चेत् तत् ^२परस्य प्रमाणतः सिद्धं प्रमाणमन्तरेण वा ? यदिः प्रमाणतः सिद्धं नाऽनात्मसिद्धं नाम,* परस्येवात्मनोपि^३ वादिनः सिद्धत्वात् ^४प्रमाणसिद्धस्य ^५सर्वेषामविप्रतिपत्तिविषयत्वाद्^६, अन्यथातिप्रसङ्गात्, ^७प्रत्यक्षस्यापि प्रमाणसिद्धस्य विप्रतिपत्तिविषयत्वापत्तेरनात्मसिद्धत्वप्रसङ्गात्^८ । ततो यत्परस्य^९ प्रमाणतः सिद्धं तच्चार्वाकस्यात्मसिद्धम् । यथा प्रत्यक्षम् । प्रमाणसिद्धं च परस्यानुमानम् ।

में “विश्व में कोई भी सर्वज्ञ नहीं है” यह कहना सर्वथा असम्भव है । एवं अनुमान प्रमाण से सर्वज्ञ के अभाव को कहते हुए भी आप चार्वाक अनुमान प्रमाण को मानने को तैयार नहीं हैं तो शायद आप उन्मत्त-पागल ही हो रहे हैं ऐसा मालूम पड़ता है क्योंकि जिस प्रमाण से आप अपने जिस नास्तित्व सिद्धान्त की व्यवस्था करते हैं उस अनुमान को तो आपको पहले मानना पड़ेगा । असत्यभाषी—झूठे व्यक्ति की साक्षी से किसी को अपराधी—झूठा साबित करना अशक्य ही है ।

[चार्वाक कहता है कि हम आप लोगों के द्वारा मान्य अनुमान को लेकर उससे सर्वज्ञ को और प्रत्यक्ष के सिवाय भिन्न सभी प्रमाणों का अभाव सिद्ध कर देते हैं । इस पर जैनाचार्य उसे समझाते हैं ।]

चार्वाक—आप जैनादि के यहाँ जो प्रसिद्ध अनुमान है वही सर्वज्ञ और प्रमाणांतरों के अभाव को ग्रहण करने वाला है ।

जैन—यदि ऐसा है कि वह अनुमान प्रमाण जैनादिकों के यहाँ प्रसिद्ध है तो प्रश्न यह होता है कि अनुमान उनको प्रमाण से सिद्ध है या प्रमाण के बिना सिद्ध है ? “यदि प्रमाण से सिद्ध है तो वह अनात्म सिद्ध नहीं है” पर के समान आप चार्वाक वादी को भी स्वयं सिद्ध है क्योंकि जो प्रमाण से सिद्ध है वह सभी के संवाद का विषय है अर्थात् उस प्रमाण से सिद्ध में किसी को भी विसंवाद नहीं हो सकता है । अन्यथा अति प्रसंग आ जावेगा । यदि प्रमाण से सिद्ध प्रत्यक्ष भी विसंवाद का विषय हो जावे तो वह अनात्म सिद्ध हो जावेगा, अर्थात् आत्म सिद्ध चार्वाक के द्वारा मान्य प्रत्यक्ष भी असिद्ध हो जावेगा ।

इसलिए जो पर—हम जैनादिकों को प्रमाण से सिद्ध है वह चार्वाक को भी आत्म सिद्ध है । जैसे प्रत्यक्ष और पर का अनुमान प्रमाण सिद्ध है इसलिये अनात्म सिद्ध नहीं है । अन्यथा—प्रमाण के बिना हम जैनादि को भी सिद्ध नहीं होगा* । क्योंकि अति प्रसंग ही आता है । तथाहि ।

“जो प्रमाण के बिना सिद्ध है वह पर—हम जैनादिकों को भी सिद्ध नहीं है जैसे उसका

1 चार्वाक आह—जैनादिप्रसिद्धम् । 2 जैनादेः । 3 चार्वाकस्यापि । 4 कुतः ? यतः । 5 वादिप्रतिवादिनां । (व्या० प्र०) 6 यथा प्रत्यक्षम् । 7 अतिप्रसङ्गं विवृणोति । 8 आत्मसिद्धस्य चार्वाकस्वीकृतस्य प्रत्यक्षस्याप्यसिद्धत्वं घटेतेत्यर्थः । 9 जैनादेः ।

तस्मान्नानात्मसिद्धम् । ¹अन्यथा परस्यापि² न सिद्धयेत्,* अतिप्रसङ्गादेव । तथा हि ।—
यत् प्रमाणमन्तरेण सिद्धं तत्परस्यापि न सिद्धम् । यथा तदनभिमततत्त्वम् । प्रमाणमन्त-
रेण सिद्धं च परस्यानुमानम् । ³तन्न सिद्धं ⁴स्वयमनभिमततत्त्वसिद्धिप्रसङ्गात्⁵ ।

[चार्वाकः इन्द्रियप्रत्यक्षेण सर्वत्र सर्वज्ञाभावं कथं साधयेत् ? अस्य विचारः क्रियते ।]

⁶तदिमे स्वयमेकेन प्रमाणेन⁷ सर्वं सर्वज्ञरहितं पुरुषसमूहं संविदन्त एवात्मानं⁸ निरस्यन्तीति
व्याहृतमेतत्,* अतिप्रसङ्गादेव । ¹⁰स्वयमनिष्टं ह्यतीन्द्रियप्रत्यक्षमेवां¹¹स्यात्, ¹²इन्द्रियप्रत्यक्षेण

अनभिमत तत्त्व । और पर का अनुमान, प्रमाण के बिना सिद्ध है इसलिए सिद्ध नहीं हैं अन्यथा स्वयं
को अनभिमत तत्त्व की सिद्धि का प्रसंग आ जावेगा । अर्थात् चार्वाक के लिये अनभिमत तत्त्व अनुमान
और पर लोकादि हैं उनकी भी सिद्धि का प्रसंग आ जावेगा ।

भावार्थ—यहाँ चार्वाक ने कहा कि हम स्वयं अनुमान तो मानते नहीं हैं किन्तु बौद्ध, वैशेषिक
आदिकों ने तो अनुमान प्रमाण माना ही है हम उन्हीं के अनुमान को उनसे लेकर शस्त्र बनाकर उन्हीं
लोगों के मान्य अनुमान, तर्क, आगम आदि प्रमाणों को और सर्वज्ञ, ईश्वर, कपिल, बुद्ध के अस्तित्व
को धराशायी कर देते हैं अतः हमारे ऊपर कोई दोषारोपण नहीं कर सकता है । तब जैनो ने प्रश्न
किया कि भाई ! आप हम लोगों के द्वारा स्वीकृत अनुमान को ही लेकर यदि सर्वज्ञ आदि का अभाव
कर रहे हो तब यह तो बताओ कि वह अनुमान हम और आप लोगों को प्रमाणीक है या नहीं ? यदि
प्रमाणीक है तब तो प्रमाणीक वस्तु जैसे हमें प्रमाणीक है वैसे तुम्हें भी उसे प्रमाणीक ही मानना
पड़ेगा क्योंकि मिश्री को मिश्री अमृत को अमृत जैसे हम कहते हैं वैसे ही आप भी तो कहते हैं और
आपको भी उसका मधुर ही स्वाद आता है । यदि आप कहें कि वह अनुमान प्रमाण के बिना ही सिद्ध
है अर्थात् अप्रमाणीक है तब तो हम लोग भी उसे प्रमाण की कोटि में कैसे रखेंगे और आप हमारे द्वारा
मान्य समझ कर उसे लेकर उसी से सर्वज्ञ का अभाव कैसे करेंगे ? अतः भाई ! यदि आप स्वयं
अनुमान को स्वीकार न करते हुए भी उस अनुमान से सर्वज्ञ का अभाव करते हैं तब तो आपको
परलोक, आत्मतत्त्व, सर्वज्ञ आदि भी यद्यपि इष्ट नहीं है तो भी अनुमान के समान इन्हें भी मान लेना
चाहिए पुनः आप नास्तिकवादी नहीं रहेंगे आस्तिकवादी ही बन जावेंगे ।

[चार्वाक इन्द्रिय प्रत्यक्ष से सभी जगह सर्वज्ञ का अभाव कैसे करेगा ? इस पर विचार किया जाता है]

इस प्रकार से ये चार्वाक स्वयं एक इन्द्रियप्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा सभी पुरुष समूह को सर्वज्ञ
रहित समझते हुए—जानते हुए ही अपना—इन्द्रिय प्रत्यक्ष रूप एक प्रमाणवादी के स्वरूप का ही निरसन

1 प्रमाणमन्तरेण । 2 जैनस्य । 3 तस्मात् । (व्या० प्र०) 4 अन्यथा । 5 चार्वाकैषानभिमतं तत्त्वमनुमानं पर-
लोकादिश्च तस्य सिद्धिप्रसङ्गात् । 6 चार्वाकाः । 7 इन्द्रियप्रत्यक्षेण । 8 इन्द्रियप्रत्यक्षैकप्रमाणवादिस्वरूपम् ।
9 विरुद्धं । (व्या० प्र०) 10 स्वयमस्वीकृतमनभिप्रेतं वा । 11 चार्वाकाणाम् । 12 अन्यथा ।

सर्वज्ञरहितस्य पुरुषसमूहस्य ^१संवेदनानुपपत्तेः ^२प्रमाणान्तराभावस्येव प्रमाणान्तरमन्तरेण ।
इति सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य सर्वज्ञत्वाभावं प्रत्यक्षतः संविदन् स्वयं सर्वज्ञः स्यात् । तथा सति
व्याहृतमेतत् ^३सर्वज्ञप्रमाणान्तराभाववचनं चार्वाकस्य । प्रत्यक्षैकप्रमाणैषणं^४ वा व्याहृत-

कर देते हैं इसलिए यह सिद्धान्त विरुद्ध ही है * एवं अति प्रसंग दोष आ जाता है । क्योंकि स्वयं
अनिष्ट-अस्वीकृत अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान ही पुनः आप चार्वाक लोगों को हो जावेगा ।

अन्यथा—इन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा तो 'सभी पुरुष सर्वज्ञ रहित हैं' यह ज्ञान हो नहीं सकता है,
जैसे प्रमाणांतर-तर्क, अनुमान, आगम आदि के बिना प्रमाणांतर के अभाव का भी ज्ञान अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष
के बिना मात्र इन्द्रिय प्रत्यक्ष से हो नहीं सकता है ।

इस प्रकार से सर्वत्र—सभी जगह, सर्वदा—सभी काल में सभी के सर्वज्ञपने के अभाव को
प्रत्यक्ष से जानते हुए वे चार्वाक स्वयं ही सर्वज्ञ हो जावेंगे । पुनः ऐसा होने पर सर्वज्ञ और भिन्न
प्रमाणों के अभाव को कहने वाले आप चार्वाक के वचन विरुद्ध ही हो जाते हैं ।

भावार्थ—जैनाचार्य चार्वाक से प्रश्न करते हैं कि—आप चार्वाक महोदय ! सारे विश्व के
सभी पुरुषों को इन्द्रिय प्रत्यक्ष से सर्वज्ञ रहित सिद्ध करते हैं या अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से ? अतीन्द्रिय
प्रत्यक्ष तो आप मानते ही नहीं । एवं इन्द्रिय प्रत्यक्ष से कहो तो आप और हम सभी का इन्द्रिय प्रत्यक्ष
विश्व के सभी पुरुषों को देखने में समर्थ ही नहीं है और यदि जबरदस्ती समर्थ मानों तब तो पहले
आप अपने प्रत्यक्ष से सारे विश्व के कोने-कोने को देखकर सारे पुरुषों के ज्ञान को प्रत्यक्ष करके आओ
और निर्णय देवो कि यहाँ विश्व भर में कहीं पर कोई भी सर्वज्ञ नहीं है । और तब सारे विश्व को
देख लेने से एवं जान लेने से आप ही तो सर्वज्ञ बन गये पुनः आप सर्वज्ञ का अभाव कैसे कह रहे हैं ।
अपने आप अपने अस्तित्व को समाप्त करना, अपने आप अपने पैर पर कुल्हाड़ी मारना तो आपको
उचित नहीं है । इसी प्रकार से आपका इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान अनुमान, आगम, तर्क परलोकादि को भी
नहीं जान सकता है पुनः उन सबको जाने बिना उनका अभाव भी कैसे कर सकेगा ? यदि आप कहें
कि जो वस्तु प्रत्यक्ष गम्य नहीं है उसीका हम अभाव करते हैं तब तो आपके दादा, पड़दादा आदि
पुराने पुरुष (पुरुखाजन) दिखते तो हैं नहीं उनका भी अभाव मानना पड़ेगा । और बाप, दादा की
परंपरा माने बिना आप की उत्पत्ति भी कैसे हो सकेगी ? अतः सर्वज्ञ भगवान्, अनुमान, तर्क, आगम
आदि प्रमाण एवं परलोकादि का अस्तित्व आपको प्रेम से मान लेना चाहिये और अपनी एवं सभी की
आत्मा के अस्तित्व को भी मान लेना चाहिये । बस ! आप आस्तिक्यवादी बन जावेंगे झगड़ा समाप्त
हो जावेगा ।

अथवा प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है ऐसी इच्छा भी आपकी विरुद्ध ही है क्योंकि देश, कालवर्ती

१ संवेदनं ज्ञानम् । २ अतीन्द्रियप्रत्यक्षेण विना इन्द्रियप्रत्यक्षेणैव प्रमाणान्तराभावस्य संवेदनानुपपत्तिर्यथा । ३ तद्विः ।

४ वाञ्छनम् ।

मस्य देशकालनरान्तरप्रत्यक्षाणां स्वयं प्रत्यक्षतः प्रामाण्यस्य साधने सर्वसाक्षात्कारित्वप्रसंगात्, संवादकत्वादिलिङ्गजनितानुमानात्तत्साधने अनुमानप्रामाण्यसिद्धिप्रसक्तेः^१, परस्य^२ प्रसिद्धे-नानुमानेन तत्प्रमाणताव्यवस्थापने^३ स्वस्यापि तत्सिद्धेरनिवार्यत्वात् । अन्यथा^४ परस्यापि तदप्रसिद्धेः कुतः प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणं न^५ पुनरन्यदिति व्यवस्था स्यात् ?

नरान्तर-भिन्न देश कालवर्ती मनुष्यों के प्रत्यक्ष को स्वयं प्रत्यक्ष से प्रमाणभूत सिद्ध करने पर सभी को साक्षात्कार करने का प्रसंग आ ही जाता है । संवादक आदि हेतु से उत्पन्न अनुमान से उनको सिद्ध करने पर अनुमान को प्रमाणता की सिद्धि का प्रसंग आ जाता है ।

हम जैनादिकों के यहाँ प्रसिद्ध अनुमान से उनको प्रमाण व्यवस्थापित करने में आप चार्वाक भी अनुमान को प्रमाणता की सिद्धि का निवारण नहीं कर सकते हैं अन्यथा हम जैनादिकों के यहाँ भी उसकी प्रसिद्धि न होने से प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है, किन्तु अन्य कोई प्रमाण नहीं है यह व्यवस्था भी कैसे हो सकेगी ? अर्थात् कुछ भी व्यवस्था नहीं बनेगी ।

चार्वाक मत के खण्डन का सारांश

चार्वाक—हमारे यहाँ ऐसा कथन है कि कोई तीर्थंकर प्रमाण नहीं है, न कोई आगम है, न वेद है अथवा न कोई तर्क, अनुमान आदि ही प्रमाण हैं । बस ! एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है कहा भी है—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना, नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणं ।

धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पंथाः ॥

अतः एक देवता रूप बृहस्पति-गुरु ही प्रमाणभूत हैं क्योंकि वही प्रत्यक्ष से सिद्ध पृथ्वी आदि भूत चतुष्टय का उपदेश देता है ।

जैन—आपका यह कथन भी अप्रामाणिक ही है क्योंकि आपका प्रत्यक्ष सर्वज्ञ के अभाव को तथा अन्य आगम, अनुमान आदि के अभाव को सिद्ध नहीं कर सकता है । तथा आप स्वप्रत्यक्ष रूप एक प्रमाण मानते हैं अतः आपके यहाँ स्वपर को ग्रहण करने वाला बृहस्पति-गुरु का ज्ञान प्रत्यक्ष है इसमें क्या प्रमाण है ? यदि आप कहो कि यह गुरु परंपरा से सिद्ध है तो हमारा भी सिद्धान्त गुरु परंपरा से सिद्ध है क्या बाधा है ? तथा अनुमान को तो आपने माना ही नहीं है जो कि सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध कर सके । आप कहें कि जैनादिकों के प्रसिद्ध अनुमान से हम सर्वज्ञादि का अभाव करेंगे तो यह बताओ कि प्रमाण से सिद्ध है या प्रमाण से असिद्ध ?

यदि प्रथम पक्ष लेवो तो सभी के संवाद का विषय होगा क्योंकि प्रमाण से सिद्ध है अतः आप चार्वाक को भी प्रमाण मानना होगा । हम जैनादिकों को प्रमाण से सिद्ध आप चार्वाक को भी प्रामाणिक मानना होगा । यदि प्रमाण से असिद्ध कहो तो हम जैनादिकों को भी सिद्ध नहीं रहा । तथा इन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा सभी पुरुष सर्वज्ञ रहित हैं यह ज्ञान तो हो नहीं सकता यदि आप चार्वाक "सर्वत्र सभी

१ प्रत्यक्षकप्रमाणवादी व्याहृतः । (व्या० प्र०) २ जैनादेः । ३ चार्वाकस्यापि । ४ (प्रमाणमन्तरेण प्रसिद्धेऽनुमाने सति जैनादेरपि । तत्प्रसिद्धिर्न स्यात् ततः) । ५ अतीन्द्रियप्रत्यक्षानुमानादिकं । (व्या० प्र०)

¹तथेष्टत्वाददोष ²इत्येकेषामप्रमाणिकैवेष्टिः* । एके हि तत्त्वोपप्लववादिनः सर्वं प्रत्यक्षादिप्रमाणतत्त्वं प्रमेयतत्त्वं ³चोपप्लुतमेवेच्छन्ति । तेषां प्रमाणरहितैव तथेष्टिः ⁴सर्वमनुपप्लुतमेवेतीष्टेर्न⁵ विशिष्यते⁶ । न⁷ खलु प्रत्यक्षं ⁸सर्वज्ञप्रमाणान्तराभावविषयम्, अतिप्रसंगात् । नानुमानम्, असिद्धेः । ⁹सर्वं हि ¹⁰प्रत्यक्षमनुमेयमत्यन्तपरोक्ष¹¹ च वस्तु जानन्तीति सर्वज्ञानि प्रमाणान्तराणि प्रत्यक्षानुमानागमप्रमाणविशेषाः । तेषामभावं ¹²स्वयमसिद्धं प्रत्यक्षमनुमानं वा कथं व्यवस्थापयेद्यतस्तद्विषयं स्यात् ? तथा¹³ सति सर्वं प्रमाणं

काल में कोई पुरुष सर्वज्ञ नहीं है” ऐसा कहेंगे तो आप स्वयं ही सभी देश, काल और पुरुष को जानने वाले होने से सर्वज्ञ हो गये क्योंकि “सर्वं जानातीति सर्वज्ञः” अतएव आप चार्वाक सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नहीं कर सकते हैं ।

[तत्त्वोपप्लववादी का खंडन]

जो शून्यवादी ऐसा कहते हैं कि ऐसा ही हमें इष्ट है अर्थात् हम कुछ भी प्रमाणादि नहीं मानते हैं इसीलिये कोई दोष नहीं है यह उनकी मान्यता भी अप्रमाणीक ही है ।*

तत्त्वोपप्लववादी—सभी प्रत्यक्षादी प्रमाणतत्त्व और प्रमेयतत्त्व उपप्लुत—अभाव रूप ही हैं ऐसा हम स्वीकार करते हैं ।

जैन—आपकी यह मान्यता प्रमाण से रहित ही है । “सभी तत्त्व उपप्लुत हैं” इस प्रकार की मान्यता “सभी तत्त्व अनुपप्लुत ही हैं” इस मान्यता से विशिष्ट भिन्न नहीं है । जिस प्रकार से तत्त्वोपप्लववादी का “सभी तत्त्व उपप्लुत ही हैं” यह तत्त्व वचन मात्र से सिद्ध है उसी प्रकार से अन्य अतत्त्वोपप्लववादी जैनादिकों का “सभी तत्त्व अनुपप्लुत ही हैं” यह तत्त्व भी वचन मात्र से सिद्ध ही है क्योंकि प्रमाणता या अप्रमाणता दोनों जगह समान ही है ।

प्रत्यक्ष प्रमाण तो सर्वज्ञ और प्रमाणांतर के अभाव को विषय नहीं करता है, अन्यथा अति प्रसंग आ जावेगा ।

अनुमान भी विषय नहीं करता क्योंकि वह असिद्ध है । ‘सभी—प्रत्यक्ष, अनुमेय और अत्यंतपरोक्ष वस्तु को जो जानते हैं वे सर्वज्ञ अर्थात् भिन्न प्रमाण कहलाते हैं वे प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण विशेष हैं मतलब प्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष प्रमाण विषय करता है, अनुमेय को अनुमान एवं अत्यंत

1 प्रत्यक्षानुमानयोनिराकरणेन । (व्या० प्र०) 2 एकं शून्यमिच्छन्तीत्येकेषस्तेषामेकेषाम् (सांख्याभिप्रायेण ज्ञानो ब्रूते) । 3 बाधितं । (व्या० प्र०) 4 सांख्याभ्युपगतं । (व्या० प्र०) 5 इत्यपि वक्तुं शक्यत्वान्न विशिष्यते । यथा हि तत्त्वोपप्लववादिनां सर्वमुपप्लुतमेवेति वचनामात्रात् सिद्धं तथा न्येषामतत्त्वोपप्लववादिनां सर्वमनुपप्लुतमेवेत्यपि वचनमात्रात् सिद्धं भवतु—अप्रामाण्यस्योभयत्र समानत्वात् । 6 यतः । इत्यपि वक्तुं शक्यत्वात् । (व्या० प्र०) 7 तत्त्वोपप्लववादिनं प्रति वदति तव सर्वं शून्यं केन प्रमाणेन सिद्धं न तावत् प्रत्यक्षात् नाप्यनुमानात्तयोरनधीकारात् । (व्या० प्र०) 8 सर्वज्ञानि च तानि प्रमाणान्तराणि तेषामभावः । 9 प्रत्यक्षानुमानयोरसिद्धावपि किमिति सर्वज्ञप्रमाणांतराभावविषयतेत्याह । देशकालनरांतरं । (व्या० प्र०) 10 प्रत्यक्षविषयम् । 11 स्वर्गादि । (व्या० प्र०) 12 (स्वयमसिद्धं प्रत्यक्षमनुमानं वेति कर्तृपदम्) । 13 (अतिप्रसङ्गादिति) भाष्यपदं व्याख्याति) तदभावविषयत्वे सति ।

सर्वस्य^१ स्वेष्टतत्त्वविषय^२ भवेदिति कुतस्तत्त्वोपप्लवः ?

[परंमन्येन प्रमाणेन सर्वस्य तत्त्वस्याभावं करोति तत्त्वोपप्लववादी तस्य निराकरणं]

^३परस्य सिद्धं प्रमाणं तदभावविषयमिति चेत्^४ तत्^५परस्य प्रमाणतः सिद्धं प्रमाण-

परोक्ष को आगम प्रमाण विषय करता है अतः ये तीनों प्रमाण सर्वज्ञ कहलाते हैं क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण अपने प्रत्यक्षभूत विषय को पूर्णतया जानता है, अनुमान प्रमाण अपने अनुमेय विषय को पूर्णतया विषय करता है एवं आगम प्रमाण अत्यंत परोक्ष श्रुतज्ञान के विषय को पूर्णतया विषय करता है। अपने-अपने विषय में ये पूर्णतया ज्ञान कर लेते हैं अतएव ये तीनों प्रमाण यहाँ सर्वज्ञ कह दिये गये हैं। “सर्वं हि प्रत्यक्षमनुमेयमत्यंतपरोक्षं च वस्तु जानन्तीति सर्वज्ञानी प्रमाणान्तराणि प्रत्यक्षानुमानागमप्रमाण-विशेषाः” ।

आप शून्यवादियों के यहाँ स्वयं ही असिद्ध, प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाण इन तीनों प्रमाणों के अभाव को कैसे व्यवस्थापित करेंगे कि जिससे वे उस अभाव को विषय कर सकें ? अर्थात् नहीं कर सकते हैं। मतलब कोई भी प्रमाण जब अभाव को विषय ही नहीं कर सकता है तब वह प्रमाण तत्त्वों के अभाव को कैसे कर सकेगा ?

इस प्रकार से मानने पर सभी प्रमाण सभी जैनादि के अपने-अपने इष्ट तत्त्व को विषय करने वाले हो जावेंगे पुनः तत्त्व का उपप्लव कैसे हो सकेगा ?

विशेषार्थ—इस अष्टसहस्री ग्रंथ में आचार्य श्री विद्यानन्द महोदय ने तत्त्वोपप्लववादी का खंडन विशेष रूप में किया है। इसी प्रकार इन्होंने श्री श्लोकवार्तिक ग्रन्थ में भी इसका खंडन किया है। स्थूल रूप से तो शून्यवाद और तत्त्वोपप्लववाद समान ही मालूम पड़ते हैं, किन्तु सूक्ष्मता से विचार करने पर दोनों में कुछ अंतर जलकता है। इसी बात को स्वयं विद्यानन्द स्वामी ने श्लोकवार्तिक में प्रकट किया है। यथा—पदार्थों को सर्वथा नहीं मानना, विचार के पीछे-पीछे सबको शून्य कहते जाना शून्यवाद है और विचार से पहले व्यवहार रूप से सत्य मानकर विचार होने पर प्रमाण, प्रमेय आदि सभी पदार्थों को स्वीकार न करना तत्त्वोपप्लववाद है।

यह तत्त्वोपप्लववादी स्वयं स्वसंवेदन को भी प्रमाण स्वरूप से इष्ट होने का निर्णय नहीं करता है, तत्त्वों का समूल चूल अभाव कहने वाला उपप्लववादी एक तत्त्व को भी इष्ट नहीं करता है। केवल दूसरों के माने हुये तत्त्वों में कुप्रश्न उठाकर उनके खंडन करने में ही तत्पर रहता है। स्वयं अपनी गांठ का मत कुछ भी नहीं रखता है।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि अपने प्रमाण का कुछ भी निर्णय किये बिना दूसरे वादियों के तत्त्वों का खंडन करने के लिये केवल प्रश्नों की भरमार या आक्षेप उठाना भी तो नहीं बन सकेगा। जिसके यहाँ स्वयं कोई भी इष्ट तत्त्व निर्णीत नहीं किया गया है उसको कहीं भी संशय करना नहीं बन सकता है। भू भवन में जन्म लेकर वहीं पाला गया मनुष्य तो ठूठ या पुरुष का अथवा चांदी या सीप का संशय नहीं कर पाता है।

१ जैनादेः । (व्या० प्र०) २ स्वकीयस्वकीयमतानुसारितत्त्वप्राहकम् । (व्या० प्र०) ३ आह तत्त्वोपप्लववादी ।

(व्या० प्र०) ४ जैनः । (व्या० प्र०) ५ जैनस्य । (व्या० प्र०)

मन्तरेण वा ? यदि प्रमाणतः सिद्धं नानात्मसिद्धं नाम, प्रमाणसिद्धस्य नानात्मनां वादि-
प्रतिवादिनां सिद्धत्वाविशेषात् । ^१अन्यथा परस्यापि^२ न सिद्धचेत्, प्रमाणमन्तरेण सिद्ध-
स्यासिद्धत्वाविशेषात् । तदिमे तत्त्वोपप्लववादिनः स्वयमेकेन केनचिदपि प्रमाणेन स्वप्रसिद्धेन
परप्रसिद्धेन वा सकलतत्त्वपरिच्छेदकप्रमाणविशेषरहितं^३ सर्वं पुरुषसमूहं संविदन्त एवात्मानं^४
निरस्यन्तीति ^५व्याहृतमेतत्—तथा^६ तत्त्वोपप्लववादित्वव्याघातात् ।

[उपप्लववादी तत्त्ववादिनं दूषयति]

^७ननु चानुपप्लुततत्त्ववादिनोपि^८ ^९प्रमाणतत्त्वं च प्रमेयतत्त्वं प्रमाणतः सिद्धचेत् प्रमाण-

[तत्त्वोपप्लववादी जैनादिकों के द्वारा मान्य प्रमाण को लेकर उन्हीं के तत्त्वों का अभाव सिद्ध कर रहा है,
उसका निराकरण]

तत्त्वोपप्लववादी—पर—जैनादि के यहाँ सिद्ध प्रमाण से हम उन सभी वस्तुओं के अभाव को
विषय कर लेंगे ।

जैन—यदि ऐसा कहो तो वे पर के यहाँ सिद्ध प्रमाण, प्रमाण से सिद्ध हैं या प्रमाण के बिना
ही सिद्ध हैं ?

यदि प्रमाण से सिद्ध है तब तो नाना आत्माओं को सिद्ध है, क्योंकि जो प्रमाण से सिद्ध है वह
नाना आत्माओं को—वादी, प्रतिवादी सभी को ही सिद्ध है, कोई अंतर नहीं है । नानात्म शब्द से 'सभी
जनों को' ऐसा अर्थ कर सकते हैं अथवा "अनात्म सिद्ध नहीं है" मतलब सभी आत्माओं को सिद्ध है ।
अन्यथा यदि कहो प्रमाण बिना प्रमाण के ही सिद्ध है तब तो वह जैन के यहाँ भी सिद्ध नहीं होगा
क्योंकि जो प्रमाण के बिना सिद्ध है वह असिद्ध के समान ही है । उसे जैनादि भी कैसे मानेंगे ?

इस प्रकार से आप तत्त्वोपप्लववादी स्वयं किसी भी एक प्रमाण से अथवा स्व प्रसिद्धि मात्र से
सकल तत्त्वों को बतलाने—जानने वाले प्रमाणों से रहित सभी पुरुषों के समूह को जानते हुए स्वयं
अपने आपका ही खंडन कर देते हैं, इसलिये यह कथन व्याहृत—विरुद्ध ही है । अर्थात् "सभी पुरुषों का
समुदाय सभी तत्त्वों के ग्राहक प्रमाण से रहित है" इस प्रकार से जिसके द्वारा जान लिया गया वही
तो प्रमाण है अतएव उसका भी खण्डन करता हुआ अपना ही विघात कर लेता है ।

और यदि आप प्रमाण को स्वीकार करें तब तो तत्त्वोपप्लववादी ही नहीं रहेंगे, किन्तु प्रमाण
को मान लेने से आस्तिकवादी ही हो जावेंगे ।

[उपप्लववादी तत्त्ववादियों को दोष दे रहे हैं]

तत्त्वोपप्लववादी—अनुपप्लुत तत्त्ववादी आप जैनादिकों का भी प्रमाणतत्त्व और प्रमेयतत्त्व

१ प्रमाणं प्रमाणमन्तरेणसिद्धं चेत् । २ जैनस्य । ३ भेद । (व्या० प्र०) ४ पुरुषसमूहः सकलतत्त्वविरहित इत्येवं
येनावबुद्धं तदेव प्रमाणम् अत एवात्मानं निरस्यन्तीति । ५ विरुद्धं । (व्या० प्र०) ६ प्रमाणाङ्गीकारे । ७ तत्त्वो-
पप्लववादी प्राह । ८ जैनादेः । ९ "प्रमाणत्वं प्रमेयत्वम्" इति पाठान्तरम् ।

मन्तरेण वा ? प्रमाणतश्चेत्तदपि प्रमाणान्तरतः सिद्धयेदित्यनवस्थानात्कुतः प्रमाणतत्त्व-
व्यवस्था ? यदि पुनः प्रथमं प्रमाणं द्वितीयस्य व्यवस्थापकं द्वितीयं तु प्रथमस्येष्यते तदेत-
रेतराश्रयणान्तैकस्यापि व्यवस्था । ¹स्वतः प्रमाणस्य प्रामाण्यव्यवस्थितेरयमदोष इति चेन्न—
सर्वप्रवादिनां तत्र विप्रतिपत्त्यभावप्रसङ्गात् । कुतश्चित्प्रमाणात्तद्विप्रतिपत्तिनिराकरणे
तत्रापि प्रमाणान्तराद् विप्रतिपत्तिनिराकरणेन भाव्यमित्यनवस्थानमप्रतिहतप्रसरमेव ।
²परस्परं विप्रतिपत्तिनिराकरणे चान्योन्यसंश्रयणं दुरुत्तरम् । प्रमाणमन्तरेण तु प्रमाणादि-
तत्त्वं यदि सिद्धयेत्तदा तदुपप्लवव्यवस्थापि तथा दुःशक्या निराकर्तुम् । ³स्यान्मतम्⁴ ।

प्रमाण से सिद्ध है या प्रमाण के बिना सिद्ध है ? यदि कहो कि प्रमाण से सिद्ध है तब तो वह प्रमाण भी प्रमाणांतर से सिद्ध होगा इस प्रकार से अनवस्था के आ जाने से प्रमाणतत्त्व की व्यवस्था कैसे हो सकेगी ?

यदि आप कहें कि प्रथम प्रमाण द्वितीय प्रमाण का व्यवस्थापक होगा और द्वितीय प्रमाण प्रथम की व्यवस्था कर देगा तब तो इतरेतराश्रय दोष आ जाने से एक की भी व्यवस्था नहीं हो सकेगी । अर्थात् प्रमाण ज्ञान सच्चा है इसको बतलाने वाला दूसरा प्रमाण आया और वह दूसरा भी सच्चा है इस बात को बतलाने वाला तीसरा इत्यादि से अनवस्था होती है और यदि दूसरे ने पहले को सच्चा सिद्ध किया एवं दूसरे को पहले ने सच्चा कहा तब तो भाई ! दोनों मित्र एक दूसरे को सच्चा कह रहे हैं, किन्तु ये दोनों सच बोलते हैं यह बात हम कैसे मान लें ? यदि आप कहें कि प्रमाण की प्रामाण्यता स्वतः ही व्यवस्थित है अतः कोई दोष नहीं है, किन्तु आप ऐसा भी नहीं कहना अन्यथा सभी प्रवादियों को भी विसंवाद का अभाव हो जावेगा अर्थात् सभी के सभी इष्ट तत्त्व स्वतः ही सिद्ध हो जावेंगे ।

यदि आप कहें कि किसी एक प्रमाण से उस विसंवाद को दूर करेंगे तो वहाँ भी प्रमाणांतर से विसंवाद को दूर करने के लिये भी प्रमाण चाहिये इस तरह से अनवस्था का प्रसार बिना रोक टोक के ही हो जाता है ।

एवं प्रथम का द्वितीय से और द्वितीय का प्रथम प्रमाण से विसंवाद दूर करना मानने पर तो अन्योन्याश्रय दोष आता है, उसका निवारण भी आप नहीं कर सकते हैं ।

और यदि आप दूसरा पक्ष लेवो कि प्रमाण के बिना प्रमाणादि तत्त्व सिद्ध होते हैं, तब तो तत्त्वोपप्लव की व्यवस्था का निराकरण करना भी शक्य नहीं है वह प्रमाण के बिना सिद्ध है ऐसा हम मानते हैं ।

1 (जैनपक्षमुपपाद्य तत्त्वोपप्लववादी इति चेन्नेत्यनेन खण्डयति) । 2 प्रथमं द्वितीयस्य व्यवस्थापकं द्वितीयं तु प्रथम-
स्येष्यते । 3 परः मीमांसकादीनामभिप्रायमनूय दूषयति । (व्या० प्र०) 4 जैनादेः ।

“विचारोत्तरकालं प्रमाणादितत्त्वव्यवस्थितिः । विचारस्तु ¹यथाकथञ्चित्क्रियमाणो ²नोपालम्भार्हः—सर्वथा³ वचनाभावप्रसङ्गात्” इति । ⁴एवं तर्हि तत्त्वोपप्लववादिनामपि विचारादुत्तरकालं तत्त्वोपप्लवव्यवस्था तथैवास्तु सर्वथा विशेषाभावात् ।

[तत्त्वोपप्लववादी आस्तिक्यवादिनां प्रमाणतत्त्वं दूषयति]

एवं च⁵ तत्र ⁶प्रमाणतत्त्वमेव तावद्विचार्यते⁷ । —कथं प्रमाणस्य प्रामाण्यम् ? ⁸किमदुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वेन, बाधारहितत्वेन⁹, ¹⁰प्रवृत्तिसामर्थ्येनान्यथा¹¹ वा ?

[प्रथमस्य निर्दोषकारणजन्यत्व हेतोर्निराकरणं]

¹²यद्यदुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वेन तदा सैव कारकाणामदुष्टता कुतोवसीयते ? न

यदि आप जैन ऐसा कहें कि “विचार के अनन्तर—उत्तरकाल में प्रमाणादि तत्त्व की व्यवस्था है और यथा कथञ्चित् प्रमाण से अथवा प्रमाण के बिना हम लोगों के द्वारा स्वीकृत तत्त्व व्यवस्था उलाहना के योग्य नहीं है । अन्यथा सर्वथा वचनों के अभाव का ही प्रसंग आ जावेगा ।” ऐसा कहने पर तो हम तत्त्वोपप्लववादी जनों के यहाँ भी विचार से उत्तरकाल में तत्त्वोपप्लव व्यवस्था उसी प्रकार से हो जावे सर्वथा दोनों में कोई अंतर नहीं है । अर्थात् जब हम विचार करते हैं तब प्रमाणादि तत्त्व हमें दिखाई देने लगते हैं ऐसा जैनादिकों की तरफ स्वयं तत्त्वोपप्लववादी ने समाधान किया है और पुनः उसमें दोषारोपण करने लगा कि इस प्रकार से तो हमारे यहाँ भी विचार करने के अनन्तर तत्त्वों का अभाव दिख रहा है उसे ही मान लीजिये क्या बाधा है ?

[अब तत्त्वोपप्लववादी आस्तिक्य वादियों के प्रमाण तत्त्व को दूषित करने की चेष्टा करता है]

तत्त्वोपप्लववादी—इस प्रकार से अब आपके प्रमाण तत्त्व का विचार किया जाता है । हम आप जैन लोगों से प्रश्न करते हैं कि प्रमाण की प्रमाणता कैसे सिद्ध है ? अदुष्टकारक सन्दोह के द्वारा उत्पन्न होने से, बाधा रहित होने से, प्रवृत्ति की सामर्थ्य से अन्यथा और किसी प्रकार से ?

[निर्दोष कारणजन्यत्व हेतु का खण्डन]

यदि निर्दोष चक्षु आदि की निर्मलता आदि कारक समूह के द्वारा प्रमाण में प्रमाणता उत्पन्न होती है, ऐसा आप कहो तब तो आपने उन कारकों की निर्दोषता कैसे जानी है, प्रत्यक्ष से या अनुमान से ?

प्रत्यक्ष से तो आप कह नहीं सकते क्योंकि नेत्रों की निर्मलतादि ज्ञान के कारण अतीन्द्रिय है ।

1 प्रमाणेन प्रमाणमन्तरेण वा । 2 जैनादिकृतः । 3 अन्यथा । 4 तत्त्वोपप्लववादी । 5 च प्रमाणतत्त्वं इति पा० । (व्या० प्र०) 6 न प्रमेयतत्त्वं । (व्या० प्र०) 7 प्रमेयतत्त्वं च तिष्ठतु । 8 अदोषः चक्षुरादिर्नैर्मल्यम् । 9 एतत्पर्यन्तं विकल्पद्वयमिदं भीमांसकापेक्षया । 10 अयं तृतीयविकल्पो नैयायिकमतापेक्षया । 11 अन्यथा—अविसंवादकत्वेनेत्ययं चतुर्थो विकल्पः सौगतमतापेक्षया । 12 तत्त्वोपप्लववादिमतमालम्ब्य जैनः प्राह ।

तावत्प्रत्यक्षान्नयन^१कुशलदेः^२ संवेदनकारणस्यातीन्द्रियस्यादुष्टतायाः प्रत्यक्षीकर्तुं मशक्तेः । नानुमानात्, ^३तदविनाभावलिङ्गाभावात् । विज्ञानं^४ तत्कार्यं लिङ्गमिति चेन्न^५, 'विज्ञान-

वह प्रत्यक्ष ज्ञान उनकी निर्दोषता को प्रत्यक्ष करने में असमर्थ है । अनुमान से भी वह निर्दोषता ग्रहण नहीं की जाती है क्योंकि उसके अविनाभावी लिंग का अभाव है अर्थात् इंद्रियों से जिसे देख नहीं सकते उसका इसके साथ सम्बन्ध है इत्यादि कैसे निर्णय करेंगे और हेतु किसे बनायेंगे ?

विशेषार्थ—तत्त्वोपप्लववादी स्वयं कुछ तो मानता नहीं है फिर भी बैठे-बैठे जैन, मीमांसक आदि तत्त्ववादियों से कुतर्क कर रहा है । इसी बात को श्लोकवातिक ग्रंथ में श्री विद्वानन्द स्वामी ने अच्छी तरह से बतलाया है । यथा—“कथमव्यभिचारित्वं वेदनस्य निश्चीयते ? किमदुष्टकारकसंदो-होत्पाद्यत्वेन बाधारहितत्वेन प्रवृत्तिसामर्थ्येनान्यथा वेत्ति प्रमाणतत्त्वे पर्यनुयोगाः संशयपूर्वकास्तदभावे तदसंभवात्, किमयं स्थाणुः किं वा पुरुष इत्यादेः पर्यनुयोगवत् । संशयश्च तत्र कदाचित् क्वचिन्निर्णय-पूर्वकः स्थाण्वादिसंशयवत् । तत्र यस्य क्वचित् कदाचिददुष्टकारकसंदोहोत्पाद्यत्वादिना प्रमाणत्व-निर्णयो नास्त्येव तस्य कथं तत्पूर्वकः संशयः, तदभावे कुतः पर्यनुयोगाः प्रवर्तेरन्निति न परपर्यनुयोग-पराणि बृहस्पतेः सूत्राणि स्युः ।”

उपप्लववादी जन अंतरंग बहिरंग प्रमाण, प्रमेयतत्त्वों को मानने वाले जैन, मीमांसक, नैयायिक आदि के प्रति उपाय, उपेयतत्त्वों का खंडन करने के लिए इस प्रकार से कुप्रश्न उठाते हैं कि आप जैनादि अव्यभिचारी (मिथ्याज्ञान से भिन्न सच्चे) ज्ञान को प्रमाण मानते हैं । पुनः यह बतलाइये कि इस ज्ञान की सच्चाई का निर्णय आप लोग कैसे करते हैं ? क्या निर्दोष कारणों के समुदाय से ज्ञान बनाया गया है, इस कारण प्रमाण है या बाधाओं से रहित है अतः प्रमाण है ? अथवा जिसको जाने, उसमें प्रवृत्ति करे और उसी ज्ञेय रूप फल को प्राप्त करे या उस ज्ञान का सहायक दूसरा ज्ञान पैदा कर लें, इस प्रवृत्ति की सामर्थ्य से वह ज्ञान प्रमाण है ? अथवा दूसरे प्रकारों से अविश्ववादी आदि रूप से वह प्रमाण है ? आखिर प्रमाण की प्रमाणता का निश्चय आप लोग इन चार कारणों के सिवा तो कर नहीं सकते हैं अतः बतलाइये क्या बात है ?

इन चार प्रश्नों में प्रथम के दो प्रश्न तो मीमांसक के प्रति हैं क्योंकि मीमांसक ही इन दो बातों से प्रमाण की प्रमाणता मानता है अतः इसी मीमांसक और उपप्लववादी के कुछ देर तक प्रश्नोत्तर चलते रहेंगे ।

1 भावेन्द्रियरूप । द्वंद्वः । पुण्यादेः । (व्या० प्र०) 2 कौशल्यं नैर्मल्यम् । 3 अदुष्टकारक । (व्या० प्र०) 4 मीमांसकः । 5 तत्त्वोपप्लववादमतमालम्ब्य जैनः प्राह । 6 श्रुतिकार्या रजतज्ञानं कार्यलिङ्गं कारणदुष्टतां साध्यतीति व्यभिचारः । (व्या० प्र०)

तीसरा प्रश्न नैयायिकों की मान्यता को लक्ष्य में रखकर किया गया है। एवं चौथा प्रश्न बौद्धों पर लागू हो जाता है। क्रमशः इन सभी पर विचार विमर्श करके उत्तर देने वाले वे लोग स्वयं ही उपस्थित हो जाते हैं। उपप्लववादी सभी की बात को समाप्त कर देता है। तब जैनाचार्य इन चारों प्रश्नों को महत्त्व न देकर अपना पक्ष रख देते हैं। खैर ! यहाँ पर तो आचार्य मुख्य रूप से इसी बात को बता रहे हैं कि आप उपप्लववादी के ये सभी प्रश्न उठाना संशय पूर्वक ही हो सकते हैं क्योंकि संशय के बिना ये प्रश्न उठाना ही असंभव है। जैसे कि यह स्थाणु है या पुरुष ? और जहाँ कहीं भी किसी पदार्थ का आश्रय लेकर किसी को संशय होता है उस पदार्थ में पहले कभी न कभी किसी स्थल पर निर्णय अवश्य ही कर लिया गया है। जिस मनुष्य ने कहीं भी स्थाणु और पुरुष का ठीक-ठीक पूर्व में निश्चय कर लिया है वही मनुष्य कदाचित् सायंकाल के समय दूसरे ठूँठ को देखकर उसमें मनुष्य की ऊँचाई आदि के साधारण धर्मों को देखकर और विशेष धर्मों को न देखकर प्रत्युत स्मरण करके संशय कर लेता है। मतलब यह है कि जिसको कहीं भी कभी संशय होगा उसे किसी का पहले निर्णय अवश्य होना चाहिये और आप शून्यवादी या उपप्लववादी तो कुछ भी प्रमाण आदि का निर्णय ही नहीं मान रहे हैं पुनः यह प्रमाण निर्दोष कारणों से उत्पन्न हुआ है या बाधा रहित है इत्यादि रूप से हम लोगों के प्रति आपको संशय उठाने का भी क्या अधिकार है ? मतलब पूर्व में अपने कुछ तत्त्व या निर्णय को माने बिना आप संशय भी नहीं कर सकते हैं। बस ! इतना ही कहते चलिये कि “प्रमाण नहीं है, प्रमाण नहीं है” इत्यादि।

इस प्रकार दूसरे आस्तिकों के इष्ट किये गये प्रमाण, प्रमेय को खंडन करने के लिये बृहस्पति के सूत्र दूसरे मतों के ऊपर कुप्रश्न करने के लिये तत्पर नहीं हो सकते हैं। यहाँ संभवतः बृहस्पति ने चार्वाक दर्शन का पोषण करके पीछे से सर्व तत्त्वों का उपप्लव स्वीकार किया है ऐसा मालूम पड़ता है एवं जब प्रमाण, प्रमेयतत्त्व, प्रश्न करना, संशय करना आदि व्यवस्थायें आपके यहाँ असंभव हैं तब तो यों ही पोल चलती जावेगी, सभी लोग अपने-अपने मतों को पुष्ट करते हुये मनमानी करते रहेंगे। पुनः आप यह भी नहीं कह सकेंगे कि सारा जगत् शून्य रूप है और देखिये !

“शून्योपप्लववादेऽपि नानेकांताद्विना स्थितिः ।

स्वयं क्वचिदशून्यस्य स्वीकृतेरनुपप्लुते ॥१४७॥

शून्यतायां हि शून्यत्वं जातुचिन्तोपगम्यते ।

तथोपप्लवनं तत्त्वोपप्लवेऽपीतरत्र तत् ॥१४८॥

[श्लोकवार्तिक]

अर्थ—शून्यवाद और उपप्लववाद का सिद्ध करना बिना अनेकांत के नहीं हो सकता है क्योंकि स्वयं के शून्यवाद का समर्थन और अशून्यवाद—आस्तिकवाद का खंडन तो आप करेंगे ही करेंगे। बस ! स्वपक्षसाधन और परपक्ष दूषण यही तो अनेकांत है और अनेकांत है क्या ? दूसरी बात और है कि आप अपने शून्य तत्त्व को अशून्य-सच्चा मानेंगे ही नहीं अन्यथा शून्य का शून्य होकर

सामान्यस्य तदव्यभिचारित्वाभावात्^१ । ^२प्रमाणभूतं ^३विज्ञानं तल्लिङ्गमिति चेत् ^४कुतस्तस्य प्रमाणभूततावसायः ? ^५तददुष्टकारणारब्धत्वादिति चेत् सोयमन्योन्याश्रयः । सिद्धे विज्ञानस्य प्रमाणभूतत्वे निर्दोषकारणारब्धत्वसिद्धिस्तत्सिद्धौ च प्रमाणभूतत्वसिद्धिरिति । ^६किञ्च

तो क्या बचेगा ? सोचिये ! भाई ! यदि आप शून्यवाद को अशून्य न कहकर शून्य कह देंगे तब तो सभी तत्त्व व्यवस्था सच्ची हो जावेगी ।

और शून्यवाद को अशून्य कहेंगे तो अनेकांत होकर भी कुछ तत्त्व व्यवस्था बन जाने से सर्वथा शून्यवाद नहीं रहेगा । वैसे ही उपप्लव को उपप्लव रहित मानने से ही आपकी इष्ट सिद्धि होगी अन्यथा उपप्लववाद का प्रलय होकर सभी तत्त्व सच्चे सिद्ध हो जावेंगे ।

देखिये ! यदि झूठ बोलना झूठ सिद्ध हो जावे तो सत्यता का निर्णय हो जाता है । शत्रु का शत्रु अपना मित्र ही सिद्ध होता है । निष्कर्ष यह निकलता है कि इस उपप्लववादी का कर्त्तव्य जैन, मीमांसक आदिकों से प्रश्न करने का नहीं था फिर भी वह कर रहा है क्योंकि “उलटा चौर कोतवाल को डाँटे” इस लोकोक्ति के अनुसार वह धृष्ट है । अच्छा ! अब प्रश्नोत्तर के ढंग को पढ़ते चलिये ।

मीमांसक—विज्ञान उसका कार्य है वही हेतु है । बस ! हेतु से अनुमान बन जावेगा और अनुमान से हम कारणों की निर्दोषता जान लेते हैं ।

तत्त्वोपप्लववादी—नहीं ! विज्ञान सामान्य उससे अव्यभिचारी नहीं है अर्थात् शुक्तिका में रजत—ज्ञान कार्य लिंग है वह कारण के दोष को सिद्ध करता है अतः व्यभिचारी है क्योंकि जो विज्ञान सामान्य है वह दुष्टता—सदोष ज्ञान में भी पाया जाता है ।

मीमांसक—प्रमाणभूत विज्ञान उसका हेतु है सदोष ज्ञान नहीं ।

तत्त्वोपप्लववादी—वह विज्ञान प्रमाणभूत है यह निश्चय किससे होगा ? यदि कही निर्दोष कारणों से उत्पन्न होने से यह विज्ञान प्रमाण है ऐसा निश्चय होता है तब तो अन्योन्याश्रयदोष आ जाता है । विज्ञान के प्रमाणभूत सिद्ध हो जाने पर यह निर्दोष कारणों से उत्पन्न हुआ है यह बात सिद्ध होगी और निर्दोष कारणों से उत्पत्ति की सिद्ध होने पर ज्ञान प्रमाणभूत सिद्धि होगा । मतलब एक दूसरे के आश्रित होने से दोनों ही सिद्ध नहीं हो सकेंगे ।

दूसरी बात यह है कि चक्षु आदि कारणों को गुण और दोषों का आश्रय स्वीकार करने पर

1 शुक्तिकायां रजतज्ञानं कार्यलिङ्गं कारणदुष्टतां साधयतीति व्यभिचारो, यतो विज्ञानसामान्यं दुष्टतायामपि वर्तते ।

2 मीमांसकः । 3 विशेषः । (व्या० प्र०) 4 तत्त्वोपप्लववादी । 5 अदुष्टकारणारब्धत्वात् इति पा० । (व्या० प्र०)

6 दूषणान्तरं तत्त्वोपप्लववादी (शून्यवादी) प्राह ।

चक्षुरादिकारणानां गुणदोषाश्रयत्वे¹ तदुपजनितसंवेदने दोषाशङ्कानिवृत्तिर्न स्यात् गुण-
दोषाश्रयपुरुषवचनजनितवेदनवत् । गुणाश्रयतयैव² तन्निश्चये तदुत्थविज्ञाने³ दोषाशङ्कानिवृत्तौ
पुंसोपि कस्यचिद्गुणाश्रयत्वेनैव निर्णये तद्वचनजनितवेदने दोषाशङ्कानिवृत्तेः⁴ किमपौरुषेय-
शब्दसमर्थनायासेन⁵ ? अथ⁶ पुरुषस्य गुणाधिकरणत्वमेवाशक्यनिश्चयं, परचेतोवृत्तीनां
⁷दुरन्वयत्वात् तद्व्यापारादेः साङ्कर्यदर्शनात्, निर्गुणस्यापि⁸गुणवत् इव⁹ व्यापारादिसंभवादुप-
वर्ण्यते¹⁰ तर्हि चक्षुरादीनामप्यतीन्द्रियत्वात्तत्कार्यसाङ्कर्योपलब्धेः कुतो¹¹ गुणाश्रयत्वनियमनिश्चयः

उससे उत्पन्न होने वाले ज्ञान में दोषों की आशंका निवृत्त नहीं हो सकेगी जैसे गुण और दोष के आश्रित पुरुषों के वचन से उत्पन्न हुये ज्ञान में शंका की निवृत्ति नहीं होती है । अर्थात् किसी पुरुष में गुण और दोष दोनों ही हैं पुनः उसके वचन निर्दोष हैं यह बात कैसे बनेगी ? उसके वचनों में दोषों की शंका बनी ही रहेगी ।

यदि आप चक्षु आदि में गुणों का ही निश्चय मानोगे तो उससे उत्पन्न हुये विज्ञान में दोष की आशंका निकल जावेगी और तब किसी पुरुष के भी गुणों का आश्रय निश्चित होने पर उससे उत्पन्न होने वाले ज्ञान में दोषों की आशंका नहीं रहेगी पुनः आप मीमांसक को अपौरुषेय शब्द—वेद के समर्थन के प्रयास से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ?

मीमांसक—पुरुष को गुणों का आधार निश्चित करना अशक्य है पर के मन की प्रवृत्तियों को जानना बहुत ही कठिन है उनके कार्य तथा व्यापारादि में संकर देखा जाता है । निर्गुणी में भी गुणवानों के समान व्यापारादि संभव हैं ऐसा कहा जाता है । अर्थात् पुरुष गुणों का आधार है उसमें गुण ही पाये जाते हैं यह कहना ठीक नहीं है । किसी निर्दोष पुरुष के व्यवहार सदोष पुरुष के समान दिख जाते हैं और किसी सदोष पुरुष के भी व्यवहार निर्दोष पुरुष के समान दिखते हैं पुनः पुरुष को भी गुणी निश्चित करना असंभव ही है ।

शून्यवादी (तत्त्वोपप्लववादी)—तब तो चक्षु आदि भी अतीन्द्रिय हैं । उनके भी कार्य में संकर दोष उपलब्ध होने से चक्षु आदि इंद्रियों में गुणों के आश्रितत्व नियम का निश्चय करना कैसे शक्य होगा ? किसी अपौरुषेय भी ग्रहोपरागादि को शुक्ल वस्त्रादि में पीत ज्ञान का हेतु मानना उपलक्षण है । अपौरुषेय वेद में भी मिथ्या ज्ञानत्व हेतु की संभावना करने पर आप याज्ञिक—मीमांसकों को उससे उत्पन्न होने वाले ज्ञान में प्रमाणता का निश्चय तिःशंक रूप से कैसे होगा ? इसलिये निर्दोष कारणों से उत्पन्न होने से किसी प्रमाण को प्रमाणता है यह कहना शक्य नहीं है अर्थात् यदि आप ऐसा कहें कि

1 अङ्गीकृते । 2 भो मीमांसक चक्षुरादीनां गुणाश्रयतयैव । 3 अंगीक्रियमाणामां सत्यां । (व्या० प्र०) 4 हेतोः । (व्या० प्र०) 5 मीमांसकस्य । 6 मीमांसकः । 7 दुरधिगमत्वात् । 8 कुतः ? यतः । 9 व्याहारं । (व्या० प्र०) 10 तत्त्वोपप्लववादी । 11 चक्षुरादीनाम् ।

शक्यः कर्तुम् ? 'कस्यचिदपौरुषेयस्यापि च ग्रहोपरागादेः^२ शुक्लवस्त्रादौ पीतज्ञानहेतोरूप-
लक्षणाद्वे^३दस्यापौरुषेयस्यापि मिथ्याज्ञानहेतुत्वसंभावनायां कथमिव^४ निःशङ्कं याज्ञिकानां
तज्जनितवेदने प्रामाण्यनिश्चयः ? ततो नादुष्टकारकजन्यत्वेन कस्यचित्प्रमाणता ।

वेद अपौरुषेय हैं अतः प्रमाण हैं तब तो ग्रहोपरागादि (चंद्रमा के परिवेष आदि) भी बिना पुरुष कृत
अपौरुषेय ही हैं किंतु उन उपरागादि के निमित्त से श्वेतवस्त्रादि में पीत का ज्ञान हो जाता है अतः
अपौरुषेयवेद में भी मिथ्याज्ञान की संभावना हो सकती है ।

विशेषार्थ—मीमांसक ज्ञान की प्रमाणता—सचाई का निर्णय कई कारणों से मानता है ।
निर्दोष कारणों से उत्पन्न होना और बाधा का न होना । यहाँ पर इन दो बातों पर तत्त्वोपप्लववादी
ने बड़ी आपत्ति उठाई है । श्लोकवार्तिकालंकार में भी ग्रंथकार ने इसी विषय में स्पष्टीकरण किया
है । तथाहि—

अदुष्टकारणारब्धमित्येतच्च विशेषणम् ।

प्रमाणस्य न साफल्यं प्रयात्यव्यभिचारतः ॥७७॥

मीमांसक—मीमांसक ने प्रमाण के लक्षण में “निर्दोष कारणों से उत्पन्न होना” यह विशेषण
दिया है, वह विशेषण उसके प्रमाण को निर्दोष सिद्ध करने में सफल नहीं हो सकता है । जो ज्ञान
दुष्ट कारणों से उत्पन्न होता है उसके द्वारा स्व और अर्थ का निर्णय होना ही असंभव है, अतः विद्या-
नंद स्वामी प्रमाण का लक्षण “स्वार्थव्यवसायात्मक” स्व, अर्थ का निश्चायक इतना ही पर्याप्त मानते
हैं, किन्तु मीमांसकों का कथन है कि—

“तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम् ।

अदुष्टकारणारब्ध प्रमाणं लोकसम्मतम् ॥”

अर्थात्—जो अपूर्व अर्थ को ग्रहण करने वाला है, निश्चित है, बाधा से रहित है, निर्दोष कारणों
से जन्य है और लोक सम्मत है वही प्रमाण है ।

इस प्रकार की मान्यता के कहने पर तो श्री विद्यानंद स्वामी स्वयं श्लोकवार्तिक में इन सभी
विशेषणों को सदीष सिद्ध करते हुये अपने सम्यग्ज्ञान के लक्षण को निर्दोष सिद्ध करते हैं ।

“तत्स्वार्थव्यवसायात्म ज्ञानं मानमितीयता ।

लक्षणैर्न गतार्थत्वाद् व्यर्थमन्यद् विशेषणम् ॥७८॥

गृहीतमगृहीतं वा स्वार्थं यदि व्यवस्यति ।

तन्न लोके न शास्त्रेषु विजहाति प्रमाणताम् ॥७९॥”

अर्थ—स्व और अर्थ को निश्चय करने वाला ज्ञान प्रमाण है इस प्रकार से इतने ही लक्षण से

1 अपौरुषेयत्वाददुष्टकारणं वेदवाक्यम् । ततस्तज्जनितवेदने प्रामाण्यनिश्चयो भविष्यतीत्यारेकायामाह । 2 विग्रहो
इति पा० । विग्रहो—युद्धं, उपरागो—ग्रहो राहुग्रस्ते त्विदौ पूष्णि चन्द्रः । (व्या० प्र०) 3 प्रतीतेः । (व्या० प्र०)
4 वाक्यालंकारे । (व्या० प्र०)

सभी प्रयोजन सिद्ध होजाते हैं। अन्य—सर्वथा अपूर्व अर्थ का ग्राहक होना, बाधा से रहित होना, लोक सम्मत होना, निर्दोषकारणों से जन्य होना इत्यादि विशेषण व्यर्थ ही हैं। जो ज्ञान गृहीत अथवा अगृहीत भी अपना और अर्थ का यदि निश्चय करता है तो वह ज्ञान लोक में और शास्त्रों में भी प्रमाणपने को नहीं छोड़ता है।

यहाँ इस बात को विशेष रूप से ध्यान में रखना चाहिये कि आचार्य विद्यानंद महोदय “अपूर्वार्थ” विशेषण को महत्त्व न देकर केवल ‘स्वार्थ’ विशेषण को ही महत्त्व दे रहे हैं, फिर भी स्वयं आचार्य ने इसी ग्रंथ में स्थान-स्थान पर केवलज्ञान को भी अपूर्वार्थग्राही सिद्ध कर दिया है।

किसी ने कहा कि केवलज्ञान गृहीतग्राही होने से अप्रमाण है तब आचार्य ने कहा कि नहीं सभी ज्ञान सुनयों की अपेक्षा से अपूर्वार्थग्राही हैं और भी देखिये—

“तत्रापि केवलज्ञानं नाप्रमाणं प्रसज्यते ।

साद्यपर्यवसानस्य तस्यापूर्वार्थतास्थितेः ॥६०॥

प्रादुर्भूतिक्षणादूर्ध्वं परिणामित्वविच्युतिः ।

केवलस्यैकरूपित्वादिति चोद्यं न युक्तिमत् ॥६१॥

परापरेण कालेन संबन्धात्परिणामि च ।

संबन्धिपरिणामित्वे ज्ञातृत्वे नैकमेव हि ॥

अर्थ—अपूर्वार्थ को जानने वाले उन ज्ञानों में केवलज्ञान अप्रमाण नहीं है क्योंकि ज्ञानावरण के पूर्ण क्षय से विवक्षित काल में उत्पन्न हुये सादि और अनंतकाल तक स्थित रहने वाले उस केवलज्ञान को अपूर्वार्थ का ग्राहक होना सिद्ध है। मतलब विशेषणों की अत्यल्प परावृत्ति हो जाने से उनको जानने वाले ज्ञान अपूर्वार्थ ग्राहक हो जाते हैं। थोड़ा विचार तो करो कि संसार में अपूर्व अर्थ कौन समझ जाते हैं? सभी द्रव्य पूर्वार्थ ही हैं, किंतु फिर भी सौन्दर्य, अधिक धनवत्ता, रूपवत्ता, प्रतिभा, विलक्षण तपश्चर्या, अद्भुत शक्ति, विशेष चमत्कार आदि धर्मों को धारण कर लेने से वे यथार्थ अपूर्वार्थ मान लिये जाते हैं। सूक्ष्म विचार करने पर तो अत्यंत छोटे अंश को भी नवीनता धारण करने पर पदार्थ को अपूर्वार्थता आ जाती है। जितनी जहाँ अपूर्वार्थ संभवती है उस पर संतोष करना चाहिये। अन्यथा, भक्ष्य, अभक्ष्य विचार, पतिव्रतापन, अचौर्य आदिक लोक व्यवहार सभी समाप्त हो जावेगे। कोई कुतर्क कर रहा है कि “केवलज्ञान अपनी उत्पत्ति क्षण के अनन्तर परिणामी नहीं होता है ज्यों का त्यों रहता है क्योंकि त्रिकाल त्रिलोकवर्ती संपूर्ण पदार्थों को एक साथ जानकर पुनः एक रूप ही बना रहता है अतः उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप परिणामित्व लक्षण वहाँ अघटित है पुनः अपूर्वार्थ-ग्राही कैसे रहा? आचार्य कहते हैं कि यह शंका भी ठीक नहीं है क्योंकि उत्तर-उत्तरवर्ती काल के साथ संबंध हो जाने से उत्पाद और व्ययरूप परिणाम घटित हो जाते हैं। केवलज्ञान की पूर्व समय-

[द्वितीयस्य बाधारहितत्वहेतोः खंडनं]

नापि बाधानुत्पत्त्या, ¹मिथ्याज्ञानेपि ²स्वकारणवैकल्या³द्बाधकस्यानुत्पत्तिसंभवात्⁴

वर्ती पर्याय का नाश हो जाता है और उत्तरकाल में नवीन पर्याय की उत्पत्ति हो जाती है। इस प्रकार से संबंध विशिष्ट और परिणाम सहित होने से भी केवलज्ञानी ज्ञाता रूप से एक है यही ध्रुवता है एवं परिणमनशील ज्ञेय द्रव्यों के परिणमन से भी ज्ञान परिणामी होता है अतः अपूर्वार्थग्राही सिद्ध है।

एवं आचार्य श्री माणिक्यनदी ने “परीक्षामुख सूत्र” में कहा है कि ‘अपूर्वार्थ’ विशेषण भी निष्फल नहीं है क्योंकि धारावाहिक ज्ञानों से अज्ञान की निवृत्ति नहीं हो पाती है अतः धारावाहिक ज्ञान की व्यावृत्ति करना ही उसका फल है। यों तो वह विशेषण केवल स्वरूप के निरूपण करने में तत्पर है फिर भी परस्पर विरोध दोष नहीं है।

यहाँ पर “निर्दोष कारणजन्यत्व” का निराकरण करते हैं। यदि ज्ञान के उत्पादक कारणों की निर्दोषता अन्य ज्ञान से जानी जाती है तब तो उस अन्य ज्ञान की निर्दोषता भी अन्य ज्ञान से जानी जावेगी पुनः यही धारा असंख्य ज्ञानों तक चलते-चलते बहुत बड़ी अनवस्था आकाश पर्यंत फैल जावेगी। यदि आप मीमांसक प्रथम ज्ञान के उत्पादक कारणों की निर्दोषता द्वितीय ज्ञान से जानेंगे और द्वितीय ज्ञान की निर्दोषता प्रथम ज्ञान से जानेंगे तब तो अन्योन्याश्रय दोष तैयार खड़ा है। अतः ज्ञान के उत्पादक चक्षु आदि इंद्रियों की निर्दोषता—निर्मलता आदि को न कोई प्रत्यक्ष (इंद्रिय-प्रत्यक्ष) से जान सकते हैं न अनुमान ज्ञान से।

दूसरी बात यह है कि अनेक भ्रांत ज्ञानों को उत्पन्न करने वाले कारणों को भी लोग निर्दोष समझ बैठे हैं। इसीलिये अनुमान से भी इस प्रकार संपूर्ण ज्ञानों की निर्दोषकारणों से उत्पत्ति होना नहीं जान सकते हैं क्योंकि उस अनुमान की भी निर्दोष कारणों से उत्पत्ति हुई है इस बात को भी जानना कठिन है। व्याप्ति ज्ञान की निर्दोषता का ज्ञान तो और भी कठिन है। चक्षु आदिक अतींद्रिय इंद्रियों की निर्दोषता जानना कठिन है। बाहर से किसी की निर्दोष चक्षु भी सदोष सदृश दीखती है और दूषित भी चक्षु निर्दोष सदृश दिख जाती है।

बौद्धादि भिन्न २ दार्शनिक सत्त्व हेतु से पदार्थों को क्षणिक, नित्य आदि सिद्ध करते हैं और जैनाचार्य इसी सत्त्व हेतु से सभी पदार्थों को “नित्यानित्य” सिद्ध कर देते हैं क्योंकि जैनों ने सत् का लक्षण उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य माना है। तथा कामधेनु के समान इच्छित अर्थ को कहने वाले वेदवाक्यों से ब्रह्मवादी अद्वैत को, कर्मकांडी क्रियाकांड को, हिंसा पोषकजन यज्ञ को आदि २ रूप से अनेक विद्वानों ने अपने २ मत पृष्ट कर लिये हैं। ये सभी अपने २ आगम ज्ञान के कारणों को निर्दोष मान बैठे हैं। अतः प्रत्यक्ष अनुमान, आगम ज्ञान के कारणों की निर्दोषता को समझना कठिन समस्या है।

1 मरीचिकायां जलज्ञाने । 2 तद्देशोपसर्पणं स्वकारणं बाधककारणमित्यर्थः । 3 बाधस्य इति पा० । (व्या० प्र०)

4 नेदं जलमिति ।

प्रमाणत्वप्रसक्तेः । अथ¹ यथार्थग्रहणनिबन्धना बाधानुत्पत्तिरप्रमाणाऽसंभविनी प्रमाण-
त्वसाधिनीति मतं, ³कुतस्तस्याः⁴ सत्यार्थग्रहणनिबन्धनत्वनिश्चयः ? ⁵संविदः प्रमाणत्व-
निश्चयादिति चेत् ⁶परस्पराश्रयः सति प्रमाणत्वनिश्चये संवेदनस्य यथार्थग्रहणनिबन्धन-
बाधानुत्पत्तिनिर्णयस्तस्मिंश्च सति प्रमाणत्वनिश्चय इति । ⁷अन्यतः प्रमाणत्वनिश्चये
किमेतया बाधानुत्पत्त्या ? ⁸न च बाधानुत्पत्तेर्यथार्थग्रहणनिबन्धनत्वं स्वत एव निश्चीयते,
⁹सन्देहाभावप्रसङ्गात् । दृश्यते च सन्देहः, किं ¹⁰यथार्थग्रहणान्नोत्र¹¹ बाधानुत्पत्तिराहोस्वि-

पुनः यदि आप प्रश्न करें कि आप जैन प्रमाण की प्रमाणता कैसे मानते हैं तो इस पर ग्रंथकार स्वयं आगे समाधान करेंगे कि प्रमाण की प्रमाणता अभ्यास दशा में स्वतः है और अनभ्यास दशा में पर से होती है ।

[बाधा रहितत्व हेतु का खंडन]

यदि आप दूसरा पक्ष लेवो कि “बाधा की उत्पत्ति न होने से प्रमाण में प्रमाणता आती है तो यह कहना भी ठीक नहीं है । मरीचिका में जल रूप मिथ्याज्ञान में भी अपने बाधक कारणों की विकलता-न्यूनता होने से “यह जल नहीं है” इस प्रकार से बाधक की उत्पत्ति असंभव होने से प्रमाणता का प्रसंग आ जावेगा । अर्थात् जैसे किसी ने दूर चमकती हुई बालू का ढेर देखा और वहाँ जाकर स्नान, पान आदि के लिये पानी का निर्णय नहीं किया अपने काम में लग गया । उसे बाधा की उत्पत्ति तो नहीं हुई कि “यह जल नहीं है” पुनः यह मिथ्याज्ञान प्रमाणीक हो जावेगा किन्तु ऐसी बात तो है नहीं ।

मीमांसक—यथार्थ को ग्रहण करने में कारणभूत अप्रमाण में असंभवि अर्थात् प्रमाण में संभव रूप बाधा का उत्पन्न न होना ही प्रमाणता को सिद्ध करता है ।

शून्यवादी—यदि ऐसा आपका मत है तब तो वह बाधा की अनुत्पत्ति सत्यार्थ को ग्रहण करने में कारणभूत है यह निश्चय भी कैसे होगा ?

मीमांसक—ज्ञान में प्रमाणता का निश्चय होने से हो जावेगा ।

शून्यवादी—ऐसा मानने पर तो परस्पराश्रय दोष आता है प्रमाणता का निश्चय होने पर ज्ञान में यथार्थ ग्रहण निमित्तक बाधा की उत्पत्ति नहीं है ऐसा निर्णय होगा और बाधा की उत्पत्ति नहीं है इस बात का निश्चय हो जाने पर प्रमाणता का निश्चय होगा । इस प्रकार से दोनों की सिद्धि नहीं हो सकेगी । यदि अन्य प्रमाणांतर से प्रमाणता का निश्चय होना कहो तो पुनः इस बाधा की अनुत्पत्ति से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? अर्थात् आपने बाधा की उत्पत्ति न होना इसी से ज्ञान को वास्त-

1 मीमांसकः । 2 ननु स्वकारणवैकल्यनिबन्धना । (व्या० प्र०) 3 तत्त्वोपप्लववादी । 4 तर्हीति शेषः । 5 मीमांसकः । 6 तत्त्वोपप्लववादी । 7 प्रमाणान्तरात् । 8 मीमांसकाभिप्रायं निराकुर्वन्नाह तत्त्वोपप्लववादी । 9 अन्यथा । 10 अन्यथा । न चैवं । (व्या० प्र०) 11 नः अस्माकम् ।

त्व^१कारणवैकल्यादित्युभयसंस्पर्शिप्रत्ययोत्पत्तेः । ^२क्वचिद्दूरे मरीचिकायां जलज्ञाने स्व-
कारणवैकल्याद्बाधकप्रत्ययानुत्पत्तिप्रसिद्धेरभ्यासदेशे^३ तत्कारणसाकल्याद्बाधकज्ञानोत्पादात् ।

[अर्थज्ञानानन्तरमेव बाधानुत्पत्तिः ज्ञानस्य प्रमाणतां ज्ञापयति सर्वदा वा ?]

^४किञ्चार्थसंवेदनानन्तरमेव बाधानुत्पत्तिस्तत्प्रामाण्यं व्यवस्थापयेत् सर्वदा वा ? न तावत्प्रथम-

विक्रमाना है। अब ज्ञान में यथार्थता को ग्रहण करने से बाधा की उत्पत्ति नहीं है इस बात का निर्णय आप अन्य प्रमाण से मान रहे हैं। पुनः ज्ञान वास्तविक है इस बात को आप अन्य प्रमाण से ही क्यों न मान लीजिये, तब तो बाधा की अनुत्पत्ति हेतु से क्या कार्य सिद्ध होगा? अर्थात् इससे कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा क्योंकि बाधा की उत्पत्ति न होने से यथार्थ ग्रहण निबन्धनत्व स्वतः ही निश्चित नहीं होता है। अन्यथा संदेह का ही अभाव हो जावेगा, किन्तु संदेह तो देखा जाता है। उसी का स्पष्टीकरण करते हैं—

हम लोगों को इस विषय में यथार्थ ग्रहण करने से क्या बाधा की उत्पत्ति नहीं है? अथवा अपने बाधक कारणों की विकलता से बाधा की उत्पत्ति नहीं है? इस प्रकार से उभय संस्पर्शि—संशय ज्ञान की उत्पत्ति देखी जाती है। कहीं दूर स्थान पर मरीचिका में जल ज्ञान के होने पर अपने बाधक कारणों की विकलता से बाधक ज्ञान की उत्पत्ति न होना प्रसिद्ध है और समीप देश में अपने बाधक कारणों की सकलता—पूर्णता होने से बाधक ज्ञान उत्पन्न होता हुआ देखा जाता है। जैसे किसी ने दूर से चमकती रेत को देखकर उसे जल समझ लिया किन्तु वहाँ से पानी मंगाने का, स्नान आदि करने का उसे प्रसंग नहीं आया अतः उसमें बाधक कारण न मिलने से उस मिथ्याज्ञान में भी बाधा नहीं आती है और कोई मनुष्य निकट के तालाब के एक तरफ सूखी हुई चमकती रेत देख कर उसमें पानी भरने के लिये चल पड़ा, गया तो लज्जित होकर वापस आया, खिन्न होकर सोचने लगा कि मेरा जल ज्ञान गलत निकल गया। अतः इस व्यक्ति को निकट में बाधा के उत्पन्न हो जाने से जल ज्ञान में सचाई नहीं रही अतः हम लोगों को “बाधा की अनुत्पत्ति” में संशय बना ही रहता है।

[बाधा की अनुत्पत्ति पदार्थ के ज्ञान के अनन्तर ही ज्ञान की प्रमाणता की बतलाती है या हमेशा ही? पुनरपि तत्त्वोपप्लववादी दूसरी तरह से प्रश्न कर रहे हैं]

दूसरी बात यह है कि अर्थ ज्ञान के अनन्तर ही बाधा का न होना उस ज्ञान की प्रमाणता को व्यवस्थापित करता है अथवा सर्वदा ही बाधा की उत्पत्ति का न होना? प्रथम विकल्प तो संभव नहीं है क्योंकि किसी मिथ्याज्ञान में भी अनन्तर ही बाधा की उत्पत्ति नहीं देखी जाती है। किसी ने सीप को चाँदी समझा और तत्काल ही उसे गलाने, जेवर आदि बनाने का प्रसंग नहीं आया तो भी इस मिथ्याज्ञान को सच्चा नहीं माना जाता है।

१ तद्देशोपसर्पणरूपबाधककारणस्य । २ स्वकारणवैकल्यावस्थानं प्रदर्शयति । (व्या० प्र०) ३ समीपे । ४ तत्त्वोपप्लववादी ।

विकल्पः संभवति, मिथ्याज्ञानेपि क्वचिदनंतरं बाधानुत्पत्तिदर्शनात् । सर्वदा बाधानुत्पत्तेः संविदि प्रामाण्यनिश्चयश्चेन्न^१, ^२तस्याः प्रत्येतुमशक्यत्वात्, संवत्सरादि^३ विकल्पेनापि ^४बाधोत्पत्तिदर्शनात् । चिरतरकालं बाधस्थानुत्पत्तावपि स्वकारणवैकल्यात् कालान्तरेप्यसौ^५ नोत्पत्स्यते इति कुतो ^६निश्चयनीयः^७ ? क्वचित्तु मिथ्याज्ञाने ^८तज्जन्मन्यपि बाधा नोपजायते, ^९स्वहेतुवैकल्यात् । न ^{१०}चैतावता ^{११}तत्प्रामाण्यम् ।

यदि दूसरा विकल्प लेवो कि सर्वदा ही बाधा की उत्पत्ति न होने से ज्ञान में प्रमाणता का निश्चय होता है तब तो यह कथन भी ठीक नहीं है । सर्वदा ही बाधा की उत्पत्ति का नहीं होना यह समझना ही अशक्य है । संवत्सर-वर्ष आदिकों के भेद से भी बाधा की उत्पत्ति देखी जाती है । बहुत काल तक बाधा की उत्पत्ति न होने पर भी अपने कारणों की विकलता होने से कालांतर में भी वह “बाधा का न होना” नहीं हो सकेगा—बाधा न होना असंभव है । यह बात भी आप मीमांसक किस प्रमाण से निश्चित करेंगे ? अर्थात् सीप में चाँदी का ज्ञान हो गया और यह कल्पना बहुत दिनों तक बनी रही । यह सीप है इस प्रकार की प्रतीति कराने वाला कारण नहीं मिल सका तो बाधा की उत्पत्ति नहीं भी होती है और बाधक कारण मिलने पर बाधा उत्पन्न हो भी जाती है । कहीं पर मिथ्याज्ञान में तो उस जन्म में भी बाधा उत्पन्न नहीं होती है क्योंकि अपने हेतु की विकलता है । अर्थात् बाधक कारण नहीं भी मिलते हैं । एतावन्मात्र से—हमेशा बाधा की उत्पत्ति न होने मात्र से वह अर्थ ज्ञान प्रमाण हो जावे ऐसी बात भी नहीं है ।

[एक देश में स्थित मनुष्य के ज्ञान में बाधा की अनुत्पत्ति प्रमाणता का हेतु है या सर्वत्र बाधा की उत्पत्ति न होना प्रमाणता का हेतु है ?]

दूसरी तरह से पुनः हम प्रश्न करते हैं कि किसी देश में स्थित ज्ञाता—मनुष्य को बाधा की उत्पत्ति न होना अर्थ ज्ञान में प्रमाणता का कारण है ? या सभी स्थान में रहने वाले पुरुषों की बाधानुत्पत्ति अर्थ ज्ञान में प्रमाणता का कारण है ? प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है अन्यथा किसी मिथ्याज्ञान को भी प्रमाण मानना पड़ेगा ।

दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है कहीं दूर में ठहरे हुए पुरुष को बाधा की उत्पत्ति न होने पर भी समीप में बाधा की उत्पत्ति देखी जाती है । सर्वत्र स्थित सभी देशों में रहने वालों को बाधा की उत्पत्ति नहीं है इसमें संदेह है क्योंकि समीप में बाधा की उत्पत्ति न होने पर भी दूर में बाधा की उत्पत्ति संभव है ।

1 तत्त्वोपप्लववादी । 2 बाधानुत्पत्तेः । 3 भेदेन । 4 स्वकारणसाकल्यात् । श्रुक्तिकायां रजतज्ञाने । (व्या० प्र०) 5 बाधानुत्पत्तिः । 6 तत्त्वोपप्लववादी मीमांसकं प्रत्याह—हे मीमांसक त्वया कुतः प्रमाणान्निश्चयनीयो द्वितीयोपि विकल्पः ? । 7 असर्वविदेदं प्रत्येतुमशक्यमिति भावः । (व्या० प्र०) 8 विवक्षितभवे । (व्या० प्र०) 9 हेतुः बाधक-कारणम् । 10 सर्वदा बाधानुत्पत्त्या । 11 अर्थवेदनस्य ।

[एकस्मिन् देशे स्थितस्य मनुष्यस्य ज्ञाने बाधानुत्पत्तिः प्रामाण्यहेतुः सर्वत्र वा ?]

किञ्च क्वचिद्देशे स्थितस्य बाधानुत्पत्तिः प्रतिपत्तुः 'सर्वत्र वार्थसंविदि प्रामाण्यहेतुः ? न तावत्प्रथमः पक्षः—^२कस्यचिन्मिथ्यावबोधस्यापि ^३प्रमाणत्वापत्तेः । नापि द्वितीयः, कस्यचिद्दूरे स्थितस्य ^४बाधानुत्पत्तावपि समीपे बाधोत्पत्तिप्रतीतेः सर्वत्र स्थितस्य बाधानुत्पत्तिसन्देहात् । समीपे ^५बाधानुत्पत्तावपि दूरे बाधोत्पत्तिसंभावनाच्च ।

[कस्यचित् मनुष्यस्य बाधानुत्पत्तिः सर्वत्र वा ?]

किञ्च ^६कस्यचिद्बाधानुत्पत्तिः सर्वस्य वा ? न तावत्कस्यचिद्बाधानुत्पत्तिः^७ संविदि

दूसरा प्रश्न यह है कि—

[किसी को बाधा का उत्पन्न न होना ज्ञान में प्रमाणता का हेतु है या सभी को बाधा का न होना प्रमाणता का हेतु है ?]

किसी को बाधा की उत्पत्ति नहीं है या सभी को ? किसी को बाधा की उत्पत्ति नहीं है यह बात ज्ञान में प्रमाणता का हेतु नहीं हो सकती है क्योंकि विपर्यय ज्ञान में भी यह बात मौजूद है । मरीचिकादि के जलज्ञान में देशान्तर के गमन आदि से बाधा की उत्पत्ति न होने पर भी प्रमाणता का अभाव है ।

यदि दूसरा विकल्प लेवो कि सभी को बाधा की उत्पत्ति का न होना ही अर्थज्ञान में प्रमाणता का हेतु है यह पक्ष भी ठीक नहीं है "सभी को बाधा की उत्पत्ति नहीं है" इस बात को अल्पज्ञ जनों के द्वारा जानना शक्य नहीं है अथवा शक्य मानों तो जो जानेगा वही मनुष्य सर्वज्ञ हो जावेगा । पुनः सभी के सर्वज्ञ हो जाने से "यह असर्वज्ञ (अल्पज्ञ) है ।" यह व्यवहार ही समाप्त हो जावेगा क्योंकि सभी देश, कालवर्ती पुरुष की अपेक्षा से बाधकाभाव के निर्णय की सर्वज्ञ के साथ अन्यथानुपपत्ति है । इसलिये बाधा से रहित होने से ज्ञान प्रमाण है यह कथन ठीक नहीं है ।

भावार्थ—तत्त्वोपप्लववादी ने मीमांसक से प्रश्न किया कि आप ज्ञान को सच्चा कैसे मानते हैं ? तब मीमांसक ने कहा कि ज्ञान में बाधा की उत्पत्ति नहीं होती है इसलिए उस ज्ञान की प्रमाणता सिद्ध है । तब तत्त्वोपप्लववादी अनेकों प्रश्न उठा रहा है । पहले उसने कहा कि मिथ्याज्ञान में भी कभी-कभी बाधा की उत्पत्ति नहीं होती है तो क्या वह ज्ञान प्रमाण हो जावेगा ? देखिये ! कोई मनुष्य सीप को चाँदी समझकर उसे तिजोरी में रख देता है बहुत दिनों तक उसे चाँदी ही मान रहा है तो क्या यह ज्ञान प्रमाण है ? यदि कहो कि बाधा का न होना—मतलब जैसे को तैसा ग्रहण करना, तब तो यह बात भी आप कैसे समझेंगे ?

यदि कहो ज्ञान में प्रमाणता है इस बात के निश्चय से हम समझ लेंगे कि यह सत्यार्थ को

१ दूरे समीपे च स्थितस्य प्रतिपत्तुर्बाधानुत्पत्तिः । २ पुंसः । ३ बाधककारणवैकल्यात् । ४ मरीचिकायां । (व्या० प्र०) ५ आसन्नतैमिरिकस्य । (व्या० प्र०) ६ संविदि प्रामाण्यहेतुः । (व्या० प्र०) ७ संविदि प्रामाण्यहेतुः । (व्या० प्र०)

प्रामाण्यहेतुः, 'विपर्ययेपि भावात् । मरीचिकादौ तोयज्ञाने २देशान्तरगमनादिना बाधानुत्पत्तावपि प्रमाणत्वाभावात् । सर्वस्य^३ बाधानुत्पत्तिरर्थसंवेदने प्रामाण्यकारणमिति चेन्न, तस्याः किञ्चिज्ज्ञैर्ज्ञातुमशक्तेः, शक्तौ वा तस्य सर्वज्ञत्वापत्तेरसर्वज्ञव्यवहाराभावप्रसङ्गात्^४ ५सर्वदेशकालपुरुषापेक्षया^६ बाधकाभावनिरणयस्यान्यथानुपपत्तेः^७ । इति न बाधारहितत्वेन संवेदनस्य प्रामाण्यम् ।

ग्रहण करने वाला है तो भी ज्ञान की प्रमाणता का निश्चय, बाधा के न होने से है और बाधा का न होना ज्ञान की प्रमाणता से है मतलब अन्योन्याश्रय दोष आ गया । यदि ज्ञान की प्रमाणता बाधा के उत्पन्न होने से है और बाधा का न होना सत्यार्थ ग्रहण से है पुनः सत्यार्थ ग्रहण का निर्णय अन्य प्रमाण से है तब तो अनवस्था, चक्रक दोष आते ही रहेंगे ।

प्रश्न ऐसा भी होता है कि चाँदी को चाँदी और सीप को सीप रूप से ग्रहण करने से बाधा की उत्पत्ति नहीं है अथवा बाधक कारण नहीं मिलने से बाधा नहीं है ?

यह चाँदीको चाँदी ही समझ रहा है यह निर्णय भी कौन देवे ? यदि कहे बाधक कारण नहीं मिले हैं तब तो किसी ने सीप को चाँदी मानकर बहुत दिनों तक पेट्टी में रख रखा, उसका उपयोग करने का अवसर नहीं मिला, बाधक कारण नहीं बने फिर भी वह ज्ञान प्रामाणीक नहीं है ।

ऐसा भी प्रश्न होता है कि किसी पदार्थ को देखते ही जो ज्ञान होता है उसमें उसी क्षण बाधा उत्पन्न नहीं हुई इसलिये प्रामाणीक है या उसमें कभी भी बाधा उत्पन्न होगी ही नहीं इसलिए प्रामाणीक है ?

इस पर समाधान यह है कि किसी ने पुरुष को कुछ अंधेरे में ठूँठ समझा, उसी क्षण वा कुछ क्षण तक उसे उस ज्ञान में बाधा नहीं दिखी तो क्या वह ज्ञान सच्चा माना जावेगा ? अथवा किसी ने अपने शरीर और कुटुम्बियों को जीवन भर अपना मान रखा है तो क्या यह ज्ञान सच्चा है ?

दूसरी बात यह भी है कि कभी भी बाधा उत्पन्न नहीं होगी यह निर्णय कौन देवे ? हो सकता है कुछ दिन बाद उसे पुत्र की स्वार्थपरता देखकर वैराग्य हो जावे अतः मिथ्याज्ञान में कभी बाधा की उत्पत्ति हो भी जाती है और कभी नहीं भी होती है । कभी किसी को मिथ्याज्ञान में जन्म भर बाधा उत्पन्न ही नहीं होती है । सीप को चाँदी ही समझता रहता है, किन्तु इतने मात्र से—बाधा के न होने मात्र से वह ज्ञान प्रामाणीक नहीं है ?

पुनः प्रश्न होता है कि कलकत्ते आदि किसी एक देश में रहने वाले मनुष्य को उस ज्ञान में बाधा नहीं है या सर्वत्र दिल्ली, बम्बई आदि में भी रहने वाले को उस ज्ञान में बाधा नहीं है ? इसका भी बड़ा मजेदार ही उत्तर है । कलकत्ते के मनुष्य ने सीप को चाँदी समझा उसमें उसे बाधा नहीं

1 मिथ्याज्ञाने । (व्या० प्र०) 2 मरीचिकादेशतोऽन्यदेशांतरं । (व्या० प्र०) 3 द्वितीयविकल्पः । 4 सर्वे सर्वज्ञा भवेयुरिति । 5 निराकृतहेतूनां संग्रहो दर्शितः । (व्या० प्र०) 6 पुरुषापेक्षबाधकाः इति पा० । (व्या० प्र०) 7 सर्वज्ञमन्तरेण । (व्या० प्र०)

[तृतीयेन प्रवृत्तिसामर्थ्यहेतुना ज्ञानस्य प्रमाणत्वनिराकरणं]

१नापि प्रवृत्तिसामर्थ्येन, २अनवस्थाप्रसक्तेः । ३प्रवृत्तिसामर्थ्यं हि, ४फलेनाभिसम्बन्धः^५
६सजातीयज्ञानोत्पत्तिर्वा ? ७यदि फलेनाभिसम्बन्धः सोवगतोनवगतो वा संविदः प्रामाण्यं
गमयेत् ? न तावदनवगतः, अतिप्रसङ्गात्^८ । सोवगतश्चेत् ९तत एव प्रमाणादन्यतो वा ?
न तावत्तत एव, परस्पराश्रयानुषङ्गात्^{१०} सति फलेनाभिसम्बन्धस्यावगमे^{११} १२तस्य प्रमाणा-

नहीं दिखी तो क्या वह ज्ञान प्रमाण हो गया ? अथवा सर्वत्र भ्रमणशील मनुष्य ने या बहुत से जनों
ने सीप को चाँदी माना और सच्चानिर्णय नहीं कर सके, कुछ दिन बाधा नहीं आई, तो क्या वह ज्ञान
प्रमाण हो गया ?

पुनरपि प्रश्न होता है कि एक व्यक्ति को किसी ज्ञान में बाधा नहीं आई, तो क्या इतने मात्र
से वह ज्ञान प्रमाण हो गया या सभी को उसमें बाधा नहीं आई ?

यदि एक व्यक्ति के संबंध में बात है तो वही सीप में चाँदी के विपर्यय ज्ञान में उसे बाधा
नहीं दिखी तो क्या वह ज्ञान प्रमाण है ? यदि सभी को बाधा नहीं है ऐसा कहो तब तो आप
मीमांसक पहले सर्वज्ञ बनो, सारे विश्व में सभी को देखो, फिर निर्णय दो । यदि आपको यह बात
स्वीकार नहीं है तब तो आप अल्पज्ञ "सभी को इस ज्ञान में बाधा नहीं है" ऐसा निर्णय कैसे करोगे ?
इस प्रकार से "बाधा की उत्पत्ति न होने से" ज्ञान में प्रमाणता आती है यह बात प्रमाण की कोटि में
नहीं उतरती है इस प्रकार से तत्त्वोपप्लववादी के मुख से जैनाचार्यों ने मीमांसक का खंडन कराया है ।

अब जैनाचार्य इस बात का निश्चय कराते हैं कि जहाँ पर "स्वार्थ निश्चायक ज्ञान" है वहाँ
पर कोई भी बाधा नहीं आती है, वही ज्ञान प्रमाण है और जहाँ स्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान का लक्षण
नहीं है वहाँ पर बाधाएँ नहीं होते हुए भी ज्ञान प्रमाण नहीं है अप्रमाण ही है । इसलिये ज्ञान की
प्रमाणता को बाधानुत्पत्ति से मानना ठीक नहीं है ।

[नैयायिक प्रवृत्ति की सामर्थ्य से ज्ञान की प्रमाणता मानते हैं उनका खंडन]

यदि आप नैयायिक तीसरा पक्ष मान्य करें कि प्रवृत्ति की सामर्थ्य से प्रमाण में प्रमाणता है
सो यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि अनवस्था का प्रसंग आता है । अच्छा आप यह तो बताइये कि
वह प्रवृत्ति की सामर्थ्य है क्या ? फल (स्नानपानादि रूप) से अभिसंबंध होना या पुरुष को सजातीय
ज्ञान की उत्पत्ति का होना ?

यदि फल से अभिसंबंध कहो तो वह अवगत-जानी गई होकर ज्ञान की प्रमाणता को बतलाती

१ प्रवृत्तिसामर्थ्येन प्रमाणस्य प्रामाण्यमिति नैयायिको ब्रूते । तं प्रत्याह तत्त्वोपप्लववादी । २ चक्रकप्रसङ्गदूषणं
तदप्यनवस्था । ३ तत्त्वोपप्लववादी काणादं प्रति पृच्छति । ४ सामर्थ्यं पुनरस्याः फलेनाभिसम्बन्ध इति पक्षिल-
भाष्यात् । ५ स्नानपानादिना । ६ पुंसः । ७ तत्त्वोपप्लववादी । ८ पर्वतादी धूमापरिज्ञानेप्यग्निनिश्चयप्रसङ्गात् ।
९ विवक्षितात् । (व्या० प्र०) १० श्रयणानुषङ्गात् इति पा० । (व्या० प्र०) ११ प्रकृतज्ञाने । (व्या० प्र०)
१२ विज्ञानस्य ।

त्वनिश्चयात् तस्मिंश्च सति तेन तदवगमात् । अन्यतः प्रमाणात्सोवगत इति चेत्तद-
दन्यत्प्रमाणं कुत; प्रामाण्यव्यवस्थामास्तिधनुते^१ ? प्रवृत्तिसामर्थ्यादिति चेत् तदपि प्रवृत्ति-
सामर्थ्यं यदि फलेनाभिसम्बन्धस्तदावगतोऽनवगतो वा संविदः प्रामाण्यं गमयेदित्यादि पुनरा-
वर्त्तत इति चक्रकप्रसङ्गः । एतेन^२ सजातीयज्ञानोत्पत्तिः प्रवृत्तिसामर्थ्यं संवित्प्रामाण्यस्या-
गमकं प्रतिपादितं, सजातीयज्ञानस्य प्रथमज्ञानात्प्रामाण्यनिश्चये परस्पराश्रयस्याविशेषात्,
^३प्रमाणान्तरात्तत्प्रामाण्यनिर्णयेनवस्थानुषङ्गात् ।

है या अनवगत-नहीं जानी गई को ? अनवगत (अज्ञात) तो आप कह नहीं सकते अन्यथा अतिप्रसंग
आ जावेगा अर्थात् पर्वतादि पर धूम को नहीं देखकर भी अग्नि का निश्चय हो जावेगा ।

यदि कहो कि जो फल से अभिसंबंधित-जाना हुआ होकर ज्ञान की प्रमाणता सिद्ध करता है
तो वह उसी प्रमाण से अवगत-ज्ञात है या अन्य प्रमाण से ? उसी से ज्ञात तो आप कह नहीं सकते
अन्यथा परस्पराश्रय दोष आ जावेगा । फल से अभिसंबंध का ज्ञान हो जाने पर उस ज्ञान की
प्रमाणता का निश्चय होगा और उसमें प्रमाणता का निश्चय होने से उस ज्ञान से फल के अभिसंबंध
का निश्चय होगा । दूसरा पक्ष लेवो कि अन्य प्रमाण से वह जाना गया है तो वह अन्य प्रमाण भी
किस प्रमाण से प्रमाणता को प्राप्त करता है ? यदि आप कहें कि प्रवृत्ति की सामर्थ्य से, तो पुनः वह
प्रवृत्ति की सामर्थ्य भी यदि फल से अभिसंबंधित है तो वह अवगत होकर ज्ञान की प्रमाणता को
कराती है या अनवगत-अज्ञात रहकर ? इत्यादि रूप से पुनः-पुनः उन प्रश्नों की आवृत्ति होने से चक्रक
दोष का प्रसंग आता है ।

दो बार की आवृत्ति को परस्पराश्रय दोष एवं तीन बार की आवृत्ति को चक्रक दोष कहते हैं ।

इसी उक्त कथन से “सजातीय ज्ञान की उत्पत्ति रूप प्रवृत्ति की सामर्थ्य ज्ञान की प्रमाणता
को बतलाती है” इस कथन का भी निराकरण कर दिया है क्योंकि सजातीय ज्ञान में प्रथम ज्ञान से
प्रमाणता का निश्चय मानने पर परस्पराश्रयदोष समान ही है । तथा उस सजातीय ज्ञान की
प्रमाणान्तर-अन्य ज्ञान से प्रमाणता का निश्चय करने पर अनवस्था का प्रसंग दुनिवार है ।

१ विज्ञानेन । २ फलेनाभिसम्बन्धस्यावगमात् । ३ चेत्तदा तदन्यत्प्रमाणं इति पा० । (व्या० प्र०) ४ प्राप्नोति ।
५ चेत्तत्प्रवृत्ति इति पा० । (व्या० प्र०) ६ चक्रकं विवृणोति ।—तदपि प्रवृत्तिसामर्थ्यं यदि फलेनाभिसम्बन्धस्तदा
सोवगतोऽनवगतो वा संविदः प्रामाण्यं गमयेत् ? यद्यनवगतस्तदातिप्रसङ्गः । सोवगतश्चेत्तत् एवं प्रमाणादन्यतो वा ?
न तावत्तत् एवं परस्पराश्रयानुषङ्गात् । अन्यतः प्रमाणात्सोवगत इति चेत्तदन्यत्प्रमाणं कुतः प्रामाण्यव्यवस्थामास्ति-
धनुते ? प्रवृत्तिसामर्थ्यादिति चेत्तदपि प्रवृत्तिसामर्थ्यं यदि फलेनाभिसम्बन्धस्तदावगतोऽनवगतो वेत्यादिप्रकारेण वारत्रय-
मावर्त्तने चक्रकं दूषणं भवति । ७ फलाभिसम्बन्धलक्षणप्रवृत्तिसामर्थ्यनिराकरणपरेण ग्रन्थेन । (व्या० प्र०) ८ प्रवृत्तिः
सामर्थ्यस्य फलेनाभिसम्बन्धस्य निराकरणद्वारेण । ९ तत्र सजातीयज्ञाने ।

[प्रवृत्तिशब्दस्य कोऽर्थं इति तत्त्वोपप्लववादी नैयायिकं पृच्छति]

^१प्रवृत्तिश्च प्रतिपत्तुः प्रमेयदेशोपसर्पणं प्रमेयस्य प्रतिपत्तौ स्यादप्रतिपत्तौ वा ? न तावदप्रतिपत्तौ, ^२सर्वत्र सर्वस्य^३ प्रवृत्तिप्रसङ्गात् । ^४तत्प्रतिपत्तौ ^५चेन्निश्चितप्रामाण्यात्^६ संवेदनात्तत्प्रतिपत्तिरनिश्चितप्रामाण्याद्वा ? प्रथमपक्षे परस्पराश्रयणमेव, सति प्रवर्तकस्य^७ संवेदनस्य प्रामाण्यनिश्चये ततः प्रमेयप्रतिपत्तिः, सत्यां च प्रमेयप्रतिपत्तौ प्रवृत्तेः सामर्थ्यात्तत्प्रामाण्यनिश्चयात् । ^८प्रमाणान्तरात्तत्प्रतिपत्तौ प्रथमसंवेदनस्य वैयर्थ्यं, स एव च ^९पर्यनुयोगो नवस्थापत्तिकरः । ^{१०}द्वितीयपक्षे तु प्रामाण्यनिश्चयानर्थक्यं, स्वयमनिश्चितप्रामाण्यादेव संवेदनात्प्रमेयप्रतिपत्तिप्रवृत्तिसिद्धेः । ^{११}संशयात्प्रवृत्तिदर्शनाददोष इति चेत् ^{१२}किमर्थमिदानीं

[प्रवृत्ति शब्द का क्या अर्थ है ? इस प्रकार से तत्त्वोपप्लववादी नैयायिक से प्रश्न करता है ।]

अच्छा ! आप यह तो बतलाइये कि प्रवृत्ति शब्द का अर्थ क्या है ?

नैयायिक—जाता मनुष्य का प्रमेय-जानने योग्य देश को प्राप्त करना प्रवृत्ति है ।

तत्त्वोपप्लववादी—तब तो वह जाता की प्रवृत्ति प्रमेय का ज्ञान होने पर प्रमेय देश को प्राप्त करती है या प्रमेय का ज्ञान नहीं होने पर ?

द्वितीय पक्ष लेवो तो सभी प्रमेयों (जानने योग्य पदार्थों) में सभी की प्रवृत्ति हो जावेगी । यदि प्रथम पक्ष लेवो कि प्रवृत्ति प्रमेय को जानकर उसमें प्रवृत्ति करती है तो प्रमाणभूत संवेदन से-सच्चे ज्ञान से उस प्रमेय का ज्ञान हुआ या अनिश्चित है प्रमाणता जिसकी ऐसे ज्ञान से ?

प्रथम पक्ष में तो परस्पराश्रय ही है । प्रवर्तक ज्ञान की प्रमाणता का निश्चय होने पर उससे प्रमेय का ज्ञान होगा और प्रमेय का ज्ञान हो जाने पर प्रवृत्ति की सामर्थ्य से उसकी प्रमाणता का निश्चय होगा । मतलब दोनों में से एक भी सिद्ध नहीं होंगे ।

यदि आप नैयायिक प्रमाणांतर से उसका ज्ञान मानें तो प्रथम ज्ञान व्यर्थ ही हो जावेगा एवं वे ही पूर्वोक्त प्रश्न उठते रहने से अनवस्था आ जावेगी । द्वितीय पक्ष लेवो कि अनिश्चित है प्रमाणता जिसकी ऐसे ज्ञान से निश्चय होता है तो प्रमाणता का निश्चय करना ही व्यर्थ हो जावेगा क्योंकि आपने स्वयं अनिश्चित प्रमाणता वाले ज्ञान से ही प्रमेय ज्ञान में प्रवृत्ति स्वीकार कर ली है ।

नैयायिक—संशय ज्ञान से भी तो प्रवृत्ति देखी जाती है अतः कोई दोष नहीं है ।

शून्यवादी—पुनः किसलिये यहाँ प्रमाण की परीक्षा करना है, जबकि सच्चे और झूठे-संशयादि

1 तत्त्वोपप्लववादी इतः परं प्रवृत्ति विचारयति । 2 प्रमेये । 3 सर्वत्र स्थितस्य पुंसः । (व्या० प्र०) 4 नैयायिकः । 5 तत्त्वोपप्लववादी । 6 वसः । (व्या० प्र०) 7 प्रवृत्तिहेतुत्वात् । (व्या० प्र०) 8 भो नैयायिक । 9 प्रमाणान्तरस्थापि । प्रामाण्यप्रवृत्तिसामर्थ्येन प्रवृत्तिश्च प्रतिपत्तुरित्यादिप्रस्थावतारः । 10 अनिश्चित प्रामाण्यादिति । 11 नैयायिकः । 12 तत्त्वोपप्लववादी ।

प्रमाणपरीक्षणम् ? ¹लोकवृत्तानुवादाथमिति² चेतत्तहि³ लोकवृत्तं⁴ ⁵कुतो निर्विवादं प्रसिद्धं
यस्यानुवादाथं प्रमाणशास्त्रप्रणयनम् ? न तावत्स्वत⁶ एव, ⁷प्रमाणतोर्थप्रतिपत्तौ⁸ प्रवृत्ति-
सामर्थ्यादर्थवत्प्रमाणमिति⁹ परतः ¹⁰प्रामाण्यानुवादविरोधात् । ¹¹स्वतः प्रसिद्धं हि¹² प्रमाण-
प्रमेयरूपं लोकवृत्तं तथैवानुवदितुं ¹³युक्तं ¹⁴नान्यथा, अतिप्रसङ्गात् । ¹⁵यथानूद्यतेस्माभि-
स्तथैव¹⁶ लोकवृत्तं प्रसिद्धं ¹⁷स्वत इति चेन्न, स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमित्य¹⁸न्यैलोक-
वृत्तस्यानुवादात् ¹⁹तथैव प्रसिद्धिप्रसङ्गात् । ²⁰स मिथ्यानुवाद इति चेत् तवापि²¹ मिथ्या-
नुवादः कुतो न भवेत् ? ²²तथा लोकवृत्तस्य प्रसिद्धत्वादिति चेत् ²³परोप्येवं ब्रूयात् । ²⁴तथैव

सभी ज्ञान प्रवृत्ति करा देते हैं ।

नैयायिक—लोक की प्रवृत्ति को सार्थक करने के लिये ही प्रमाण की परीक्षा है । मतलब प्रवृत्ति तो सच्चे और झूठे-संशयादि सभी ज्ञानों से होती रहती है फिर भी लोक व्यवहार के लिये प्रमाण की परीक्षा की जाती है ।

शून्यवादी—तब तो प्रमाण प्रमेय रूप लोक व्यवहार भी किस प्रकार से निर्विवाद सिद्ध हैं जिसका अनुवाद—जिसको सार्थक करने के लिये प्रमाण शास्त्र की रचना की जावे । यदि आप कहें कि स्वतः है तो यह कथन भी आप कह नहीं सकते, क्योंकि प्रमाण से अर्थ का ज्ञान होने पर प्रवृत्ति की सामर्थ्य से अर्थवान् प्रमाण है इस प्रकार सिद्ध हो जाने से तो आपके सिद्धान्तानुसार ज्ञान में पर से प्रमाणता का मानना विरुद्ध हो जावेगा, क्योंकि स्वरूप से स्वतः ही प्रसिद्ध प्रमाण और प्रमेय के स्वरूप लोक व्यवहार को उसी प्रकार से आपके प्रमाण शास्त्र में कहना युक्त है अन्यथा पर से प्रमाणता कहना युक्त नहीं होगा, क्योंकि अति प्रसंग आ जाता है ।

नैयायिक—जिस प्रकार से (पर से प्रमाणता प्रकार से) हम लोग कहते हैं उसी प्रकार से ही लोक व्यवहार प्रसिद्ध है स्वतः नहीं है ।

शून्यवादी—ऐसा नहीं कहना अन्यथा स्वतः ही सभी प्रमाणों में प्रमाणता आती है । इस प्रकार से अन्य मीमांसक जनों ने जो लोक व्यवहार स्वीकार किया है उसी प्रकार से उसकी भी सिद्धि

1 नैयायिकः । 2 सार्थकम् । 3 तत्त्वोपप्लववादी । 4 प्रमाणप्रमेयरूपो व्यवहारो लोकवृत्तम् । 5 स्वतो वा परतो वा । 6 स्वरूपतः । 7 प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत् प्रमाणमितीदं नैयायिकप्रसिद्धं परतः प्रामाण्या-
पादकं वचनं । (व्या० प्र०) 8 सत्यां । (व्या० प्र०) 9 निश्चितप्रामाण्यं । (व्या० प्र०) 10 नैयायिकस्य ।
(व्या० प्र०) 11 तत्त्वोपप्लववादी । 12 परतः प्रामाण्यानुवादविरोधं विवृणोति तत्त्वोपप्लववादी । 13 भवदीये
प्रमाणशास्त्रे । 14 परतः प्रकारेण । 15 नैयायिकः । 16 परतः प्रकारेण । 17 "नस्वतः" इति भाति ।
18 मीमांसकैः । 19 सर्वप्रमाणानां स्वतः प्रामाण्यमिति प्रसिद्धिप्रसङ्गात् । 20 स्वतोनुवादः । 21 नैयायिकस्य ।
22 नैयायिकः । परतः प्रामाण्यप्रकारेण । 23 मीमांसकः । 24 परपरिकल्पितप्रकारेण । (व्या० प्र०)

लोकवृत्तस्य प्रसिद्धत्वे तथानुवादस्य सत्यत्वं, तत्सत्यत्वाच्च तथैव लोकवृत्तस्य प्रसिद्धत्व-
मितीतरेतराश्रयत्वमप्युभयोः^१ समानम् । ^२तथा ^३लोकवृत्तान्तरात्तस्य^४ प्रसिद्धौ पुनरन-
वस्था दुर्निवारैव । इति न प्रवृत्तिसामर्थ्यात्संविदः प्रामाण्यनिश्चयानुवादो^५ युक्तः । ततो न
प्रवृत्तिसामर्थ्येन प्रामाण्यं व्यवतिष्ठते ।

का प्रसंग आ जावेगा ।

नैयायिक—प्रमाणों की प्रमाणता स्वतः मानना मिथ्या है ।

शून्यवादी—आप नैयायिक की मान्यता (प्रमाणों की प्रमाणता पर से मानना) भी मिथ्या
क्यों नहीं हो जावे ?

नैयायिक—नहीं ! क्योंकि पर से ही प्रमाण में प्रमाणता आती है यह लोक व्यवहार
प्रसिद्ध है ।

शून्यवादी—तब तो मीमांसक भी इसी प्रकार से कह सकता है कि स्वतः ही प्रमाण की
प्रमाणता प्रसिद्ध है । इस प्रकार से आप दोनों—नैयायिक और मीमांसक समान ही हैं । दोनों ही
अपनी-अपनी बात को सत्य कह रहे हैं । पुनः पर से या स्वतः प्रमाण की प्रमाणता रूप से प्रमाण-
प्रमेय रूप लोक व्यवहार के प्रसिद्ध हो जाने पर उसका वैसा ही कथन करना सत्य होगा और उसका
वैसा ही कथन करना सत्य सिद्ध होने से उस प्रकार का प्रमाण-प्रमेय रूप लोक व्यवहार सिद्ध होगा ।
इस प्रकार से इतरेतराश्रय दोष तो नैयायिक और मीमांसक दोनों के यहाँ समान ही है ।

यदि आप दूसरा पक्ष लेवो कि प्रमाण-प्रमेय रूप लोक व्यवहार पर से निर्विवाद प्रसिद्ध है तब
तो यह लोक व्यवहार अन्य लोक व्यवहार से सिद्ध होगा पुनः उसका कथन अन्य लोक व्यवहार से,
इस प्रकार अनवस्था दुर्निवार ही है । इसलिये प्रवृत्ति की सामर्थ्य से ज्ञान में प्रमाणता का निश्चय
सिद्ध नहीं हो सकता अतः प्रवृत्ति सामर्थ्य से प्रमाणता की व्यवस्था कथमपि शक्य नहीं है ।

भावार्थ—नैयायिक और वैशेषिक ज्ञान की प्रमाणता को प्रवृत्ति की सामर्थ्य से मानते हैं ।
उनका कहना है कि “प्रमाणतोऽर्थप्रतीतो प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत्प्रमाणं” अर्थात् ज्ञान से जलादि अर्थ को
जानकर उसमें स्नान, पान, अवगाहन आदि रूप से प्रवृत्ति हो जाने की सामर्थ्य से प्रमाण ज्ञान
अर्थवान्—प्रयोजनभूत प्रमाणीक है, किन्तु यहाँ तत्त्वोपप्लववादी उसकी इस मान्यता में अनेक दोष
दिखाता है । नैयायिक का अभिप्राय है कि ‘तालाब में जल है’ इस प्रकार से ज्ञान हुआ अब यह ज्ञान
सच्चा है या नहीं, इसका निर्णय कौन देवे ? उस तालाब के जल में प्रवृत्ति की सामर्थ्य है या नहीं
अर्थात् स्नान पानादि क्रियायें हो सकती हैं या नहीं ? यदि हो सकती हैं तब तो उस प्रवृत्ति की
सामर्थ्य से ही वह जलज्ञान सच्चा सिद्ध हुआ है अन्यथा नहीं, यदि उस जल में स्नानादि क्रियायें नहीं

१ नैयायिकमीमांसकयोः । (व्या० प्र०) २ परतः प्रामाण्यप्रकारेण (द्वितीयविकल्पः) । (व्या० प्र०) ३ अन्यस्मात्लोक-
वृत्तात्तस्य । प्रकृतलोकवृत्तस्य । (व्या० प्र०) ४ अनुवादस्य । (व्या० प्र०) ५ अनुकथनम् । (व्या० प्र०)

हो सकती हैं मतलब वहाँ जल न होकर चमकता हुआ बालू का ढेर है अतः वह ज्ञान झूठा सिद्ध है । इस प्रकार से यह नैयायिक प्रमाण को प्रमाणता को सर्वथा पर से ही मानता है ।

इस विषय में जैनाचार्यों का तो इतना ही अभिप्राय है कि अभ्यस्त दशा में जलादि पदार्थों के ज्ञान की प्रमाणता स्वतः होती है और अनभ्यस्त दशा में पर से होती है ।

यहाँ पर जैनाचार्यों ने तत्त्वोपप्लववादी के मुख से नैयायिक की मान्यता का खंडन कराया है । पहले प्रश्न यह हुआ है कि यह प्रवृत्ति की सामर्थ्य है क्या ? जल के ज्ञान में स्नान पानादि रूप फल से संबंधित होना या जल ज्ञान में सजातीय ज्ञान का होना ?

यदि स्नानादि रूप फल से संबंध होने को प्रवृत्ति की सामर्थ्य कहो तब तो वह जल ज्ञान से फल का सम्बन्ध जाना गया है या नहीं ? यदि अज्ञात कहो तो प्रवृत्ति होना असंभव है । यदि कहो कि फल से सम्बन्धित प्रवृत्ति की सामर्थ्य ज्ञात रूप होकर ज्ञान की प्रमाणता में हेतु है तब तो वह प्रवृत्ति की सामर्थ्य किस ज्ञान से जानी गई है ? उसी ज्ञान से कहो तो अन्योन्याश्रय आयेगा और अन्य ज्ञान से कहो तो अनवस्था । यदि सजातीय ज्ञान का उत्पन्न होना प्रवृत्ति की सामर्थ्य है अर्थात् जलज्ञान की दृढ़ता को बतलाने के लिये जलज्ञान के समान दूसरे विज्ञान की उत्पत्ति हो जाना सामर्थ्य है तब तो इसमें भी अनवस्था दोष आ जाता है क्योंकि सजातीयज्ञान रूप प्रवृत्ति सामर्थ्य की प्रमाणता अन्य सजातीय ज्ञान से होगी, पुनः उसकी प्रमाणता अन्य से, क्योंकि जब तक प्रवृत्ति सामर्थ्य के विज्ञान में प्रमाणता का निर्णय न होगा तब तक उस प्रवृत्ति की सामर्थ्य से प्रथम ज्ञान की प्रमाणता भी सिद्ध नहीं होगी और अन्य ज्ञानों से प्रवृत्ति सामर्थ्य के ज्ञान में प्रमाणता मानने पर अनवस्था तैयार खड़ी है ।

पुनरपि यह प्रश्न होता है कि प्रवृत्ति शब्द का क्या अर्थ है ? तब नैयायिक ने कहा कि मनुष्य जानने योग्य—जल के स्थान को प्राप्त कर लेवे इसका नाम प्रवृत्ति है, तब यह भी प्रश्न उठता है कि मनुष्य उस प्रमेय (जलाशय स्थानादि) को जानकर वहाँ जाता है या बिना जाने ? यदि बिना जाने कहो तब तो सभी के लिये सभी स्थान को प्राप्त करना प्रवृत्ति हो जावेगी । यदि जानकर कहो तो भी उस मनुष्य ने प्रामाणिक ज्ञान से उस प्रवृत्ति के प्रमेय—जल को जाना है या अप्रामाणिक ज्ञान से ? प्रथम पक्ष में अन्योन्याश्रय है । पहले ज्ञान की प्रमाणता सिद्ध हो तब उससे जल का ज्ञान होगा और जल का ज्ञान हो जाने पर प्रवृत्ति की सामर्थ्य से उस ज्ञान की प्रमाणता होगी और अन्य ज्ञान से प्रवृत्ति के ज्ञान की प्रमाणता मानने पर तो अनवस्था आ ही जाती है और अप्रामाणिक ज्ञान से जलादि प्रमेय ज्ञान में प्रवृत्ति मानने पर तो ज्ञान को प्रामाणिक सिद्ध करना व्यर्थ ही है, तब नैयायिक ने यह बात भी मंजूर कर ली है उसने कहा कि हम संशयज्ञान से भी प्रवृत्ति मानते हैं । केवल प्रमाण प्रमेय रूप लोक व्यवहार बताने के लिये प्रमाणता का विचार करते हैं । इसी बात को श्लोकवार्तिक में भी कहा है यथा—

“अविज्ञातप्रमाणत्वात् प्रवृत्तिश्चेद् वृथा भवेत् ।
 प्रामाण्यवेदनं वृत्ते क्षीरे नक्षत्रपृष्ठिवत् ॥१२०॥
 अर्थसंशयतो वृत्तिरनेनैव निवारिता ।
 अनर्थसंशयाद्वापि निवृत्तिविदुषामिव ॥१२१॥”

[सौगतः अविसंवादित्वेन ज्ञानस्य प्रमाणतां मन्यते तस्य निराकरणं]

¹नाप्यविसंवादित्वेन, ²तदविसंवादस्यार्थक्रियास्थिति³लक्षणास्यानवगतस्य⁴ प्रामाण्यव्यवस्था—हेतुत्वायोगात् । तस्यावगतस्य तद्धेतुत्वे ⁵कृतस्तदवगमस्य प्रामाण्यम् ? संवादान्तरा-

अर्थ—नहीं जानी गई है प्रमाणता जिसकी ऐसे ज्ञान से यदि प्रवृत्ति होना माना जावे तो सर्वत्र प्रमाणता का निश्चय होना व्यर्थ है जैसे कि बालक का मुंडन कराकर फिर नक्षत्र पूछना व्यर्थ है । यदि नैयायिक कहे कि संशय ज्ञानों से भी प्रवृत्ति देखी जाती है तो यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि यदि संशयज्ञान से ही प्रवृत्ति होने लगे तो प्रमाण ज्ञान को कौन खोजेगा ? अतः जैसे अनर्थ के संशय (संभावना) से भी विद्वानों की अनुचित कार्यों से निवृत्ति हो जाती है वैसे ही इष्ट अर्थ के संशय से पदार्थों में प्रवृत्ति हो जानी चाहिए किन्तु ऐसा तो है नहीं । प्रेक्षापूर्वकारी—समझदार पुरुष संशय से प्रवृत्ति नहीं करते हैं । और तो क्या घास खोदने वाला मनुष्य भी विचार कर अपने इष्ट कार्य में प्रवृत्ति करता है । अतः संशय आदि ज्ञान प्रवृत्ति को कराने वाले नहीं हैं, किन्तु नैयायिक की ऐसी विचारधारा है कि परलोकार्थ नित्य नैमित्तिककर्म, दीक्षा, तपश्चर्या आदि क्रियाओं के अनुष्ठान करने में निश्चित प्रमाणता वाले ज्ञान से प्रवृत्ति होती है और महायात्रा, संघ चलाना, विवाह, प्रतिष्ठादि कार्यों में अनिश्चित प्रमाणता वाले संदेह ज्ञान से प्रवृत्ति होती है । यद्यपि लौकिक और पारलौकिक दोनों ही कार्यों में क्लेश की बहुलता और धन का खर्च समान है तो भी प्रामाणिक ज्ञान और अप्रामाणीक ज्ञान की अपेक्षा अन्तर है । नैयायिक की इस मान्यता में भी आचार्यों ने यही समझाया है कि परलोकार्थ निश्चित प्रमाणता वाले ज्ञान से प्रवृत्ति मानने में तो अन्योन्याश्रय दोष आता है और अनिश्चित प्रमाणता वाले ज्ञान से लौकिक कार्यों में प्रवृत्ति हो जाने पर तो ज्ञानों में प्रमाणता का टूटना ही व्यर्थ हो जाता है । संसार में जीव दो प्रकार के होते हैं । विचार कर प्रवृत्ति करने वाले पुरुष प्रेक्षावान्—बुद्धिमान् कहलाते हैं और बिना विचारे प्रवृत्ति करने वाले पुरुष अप्रेक्षावान्—मूर्ख कहलाते हैं । इसलिए प्रामाणीक सच्चे ज्ञान की अपेक्षा, संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय ज्ञानों में अंतर है ये ज्ञान मिथ्या कहलाते हैं इसका विशेष विवरण श्लोकवातिक से देखना चाहिये ।

नैयायिक और मीमांसक के प्रमाणतत्त्व का विचार करके अब तत्त्वोपप्लववादी सौगत के प्रमाण तत्त्व का विचार करता है ।

[सौगत अविसंवादित्व होने से ज्ञान की प्रमाणता मानता है उसका खंडन]

प्रारंभ में प्रमाणतत्त्व की विचारणा में चार प्रश्नों में अंतिम प्रश्न है कि क्या अन्यथा-अवि-

- 1 मीमांसकनैयायिकयोर्मतस्य प्रमाणतत्त्वं विचार्येदानीं सौगतप्रमाणतत्त्वं विचारयन्ति ग्रन्थकृतः । 2 यतः (कर्मधारयः)
3 अर्थक्रियासद्भावलक्षणस्य । 4 प्रमाणस्वरूपेण । (व्या० प्र०) 5 अविसंवादावगमस्य । (व्या० प्र०)

दिति चेन्न, तदवगमस्यापि संवादान्तरप्रात्माप्यनिर्णयेनवस्थाप्रसङ्गात् । ^१अथार्थक्रियास्थिति-
^२लक्षणाविसंवादज्ञानस्याभ्यासदशायां स्वतः प्रामाण्यसिद्धेरदोषः ।

[अभ्यासदशायां अविसंवादज्ञानस्य प्रमाणता स्वतः सिद्धयति इति बौद्धः मन्यते तस्य निराकरणं]

^३कोयमभ्यासो नाम ? भूयः संवेदने^४ संवादानुभवनमिति चेत् ^५तज्जातीयेऽतज्जातीये^६
वा ? तत्रातज्जातीये^७ न तावदेकत्र^८ संवेदने भूयः संवादानुभवनं संभवति ^९क्षणिकवादिनः ।

संवादी रूप से प्रमाण की प्रमाणता मानी जाती है । तो उस पक्ष को बौद्ध के द्वारा स्वीकार कर लेने पर तत्त्वोपप्लववादी कहते हैं कि यह मान्यता भी ठीक नहीं है क्योंकि अर्थक्रिया का सद्भाव लक्षण (अर्थक्रिया को करने में समर्थ) जो अविसंवाद है वह ज्ञान की प्रमाणता को व्यवस्थापित करने में हेतु नहीं हो सकता है क्योंकि प्रश्न उठता है कि वह अर्थक्रिया लक्षण अविसंवाद अज्ञात रूप—नहीं जाना गया रूप है या ज्ञात—जाना गया रूप है ? यदि कहो कि अविसंवाद नहीं जाना गया है तब तो वह ज्ञान की प्रमाणता को सिद्ध नहीं कर सकेगा ।

यदि कहो कि वह अविसंवाद अवगत (ज्ञात) होकर प्रमाणता की व्यवस्था में कारण है तब तो यह बताओ कि उस अवगत अविसंवाद ज्ञान की प्रमाणता किससे है ? यदि कहो भिन्न संवाद से है तब तो उस अवगम (अविसंवादज्ञान) की भी भिन्न संवाद से प्रमाणता निश्चित होने से अनवस्था आ जाती है ।

बौद्ध—अर्थ क्रिया के सद्भाव रूप अविसंवाद ज्ञान की अभ्यास दशा में स्वतः प्रमाणता सिद्ध है अतः कोई दोष नहीं है ।

[अभ्यास दशा में अविसंवाद ज्ञान की प्रमाणता स्वतः सिद्ध है इस प्रकार से बौद्ध मानता है उसका निराकरण]

शून्यवादी—तब तो आप बौद्धों के यहाँ यह अभ्यास क्या बला है ? यदि आप कहें कि ज्ञान में पुनः पुनः संवाद का अनुभव होना अभ्यास है तब तो वह संवाद तज्जातीय सत्यरूप सामान्य ज्ञान में होता है या अतज्जातीय रूप विशेष में ? उसमें अतज्जातीय ज्ञान में पुनः पुनः संवाद का अनुभव मानने पर तो स्वलक्षण रूप एक क्षणवर्ती एक संवेदन में पुनः पुनः संवाद का अनुभव संभव ही नहीं है क्योंकि आप क्षणिक वादियों के यहाँ तो ज्ञान उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है अर्थात् आपके वहाँ एक क्षणवर्ती पर्याय को स्वलक्षण विशेष कहा है उसे जानकर ज्ञान उसी क्षण में समाप्त हो जाता है, क्योंकि वह वस्तु ही क्षणिक है पुनः उसमें बार-बार अनुभव कैसे बनेगा ?

बौद्ध—संतान की अपेक्षा से पुनः-पुनः अनुभव संभव है । अर्थात् बौद्ध वासना-संस्कार को सन्तान कहता है और वासना की अपेक्षा से तो पुनः-पुनः अनुभव शक्य है ।

शून्यवादी—ऐसा भी नहीं कहना, क्योंकि आपने तो स्वयं ही सन्तान को अवस्तु माना है अतः

१ बौद्धः । २ अर्थक्रियास्थितिलक्षणश्चासावविसंवादश्च । (व्या० प्र०) ३ तत्त्वोपप्लववादी । ४ जायमाने । (व्या० प्र०) ५ सत्यरूपे सामान्यरूपे । ६ विशेषरूपे । ७ संवेदने । ८ स्वलक्षणे । ९ उत्पन्नविनष्टत्वात् ।

¹संतानापेक्षया² संभवतीति चेन्न, संतानस्यावस्तुत्वादपेक्षानुपपत्तेः । वस्तुत्वे वा तस्यापि क्षणिकत्वसिद्धेः कुतस्तदपेक्षया सोभ्यासः ? ³सन्तानस्याक्षणिकत्वे वा यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकमिति न सिद्धयेत्⁴ । ⁵तज्जातीये भूयः ⁶संवादानुभवनमिति ⁷चेन्न, ⁸जातिनिराकरणवादिनः⁹ ¹⁰क्वचित्तज्जातीयत्वानुपपत्तेः । ¹¹अन्यापोहलक्षणया जात्या ¹²क्वचित्तज्जातीयत्वमुपपन्नमेवेति ¹³चेन्न, अन्यापोहस्यावस्तुरूपत्वात्, तस्य वस्तुरूपत्वे वा ¹⁴जातित्वविरोधात् स्वलक्षणस्यासाधारणस्य¹⁵ वस्तुत्वोपगमात्¹⁶ । तदेवं¹⁷ सामान्यतः प्रमाणलक्षणानुपपत्तौ विशेषेणापि प्रत्यक्षादिप्रमाणानुपपत्तेर्न प्रमाणतत्त्वं विचार्यमाणं व्यवतिष्ठते । तदव्यवस्थितौ

उसकी (काल्पनिक की) अपेक्षा ठीक नहीं है अथवा उस सन्तान को वास्तविक मान भी लेवें तो वह संतान भी क्षणिक रूप ही सिद्ध हो जावेगी ।

पुनः उस सन्तान की अपेक्षा से यह अभ्यास कैसे हो सकेगा अथवा यदि आप संतान को नित्य मान लेवें तो "यत् सत्तत् सर्वं क्षणिक" यह प्रतिज्ञा वाक्य कैसे सिद्ध होगा ?

बौद्ध—तज्जातीयज्ञान में पुनः पुनः सत्यरूप संवाद का अनुभव होता है ।

शून्यवादी—ऐसा नहीं कहना । आप जातिसामान्य का निराकरण करने वाले हैं अर्थात् अन्वय रूप द्रव्य का निषेध करने वाले हैं अतः आपके यहाँ कहीं पर भी अन्वय रूप से जातीय—सामान्य सिद्ध नहीं हो सकता है ।

बौद्ध—अन्यापोह लक्षण जाति से किसी स्थिर, स्थूल आदि वस्तु में जातीयत्व बन ही जाता है ।

शून्यवादी—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि अन्यापोह तो अवस्तु है अथवा उसको वस्तु रूप मान लेने पर जाति का विरोध हो जावेगा क्योंकि आपने असाधारण—विशेषरूप स्वलक्षण को ही वस्तु रूप माना है ।

भावार्थ—बौद्ध के यहाँ प्रमाण का लक्षण है "अविसंवादिज्ञानं प्रमाणं" उसी प्रकार से बौद्ध ने ज्ञान की प्रमाणता को अविसंवादी होने से सिद्ध किया है और अविसंवाद का अर्थ है अर्थक्रिया का सद्भाव । जैसे जल की अर्थक्रिया स्नानपानादि है । न्यायदीपिका में भी बौद्धों के द्वारा प्रमाण ज्ञान को अविसंवादी मानने में दोषारोपण किया गया है यथा "जो ज्ञान विसंवाद रहित है वह प्रमाण है"

1 बौद्धः । 2 अपरामृष्टभेदानां पूर्वोत्तरक्षणानां मेलनं संतानः । (व्या० प्र०) 3 हे बौद्ध । 4 संतानेनानैकांति-
कत्वमिति भावः । (व्या० प्र०) 5 बौद्धः । संवेदने । 6 सत्यरूपस्य संवादस्य । 7 तत्त्वोपप्लववादी । 8 सामान्यनि-
रःकरणवादिनः । 9 अन्वयरूपद्रव्यनिषेधवादिनस्तव सौगतस्य क्वचिद्वस्तुनि अन्वयरूपता नोपपद्यते । 10 घटत्व-
पटत्वादिरूपेण । 11 बौद्धः । 12 स्थिरस्थूलवस्तुनि । 13 तत्त्वोपप्लववादी । 14 (जातिविरोधादिति
पाठान्तरम्) । 15 विशेषस्य । 16 तत्र सौगतस्य मते । 17 पूर्वोक्तविकल्पचतुष्टयप्रकारेण ।

बौद्ध की इस मान्यता में असंभव दोष आता है क्योंकि बौद्धों ने प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण माने हैं उनके यहाँ न्यायविदु में कहा है “द्विविधं सम्यग्ज्ञानं, प्रत्यक्षमनुमानञ्च” [न्याय विन्दु पृ० १०] उसमें प्रत्यक्ष में तो अविसंवादीपना संभव नहीं है क्योंकि वह निर्विकल्प होने से अपने विषय का निश्चायक नहीं है अतः संशयादि रूप समापरो का निराकरण नहीं कर सकता है और न उनके मान्य अनुमान में अविसंवादीपना संभव है। उनके मतानुसार वह अनुमान भी अवास्तविक सामान्य को विषय करने वाला है इस तरह से बौद्धों के प्रमाण का लक्षण असंभव दोष से दूषित होने से सम्यक् लक्षण नहीं है।

यहाँ तत्त्वोपप्लववादी यह प्रश्न कर सकता है कि जो अर्थक्रिया रूप अविसंवाद ज्ञान की प्रमाणता में कारण है वह अविसंवाद तुम्हें ज्ञात है या नहीं ? यदि वह अविसंवाद अज्ञात रूप है तब तो वह ज्ञान की प्रमाणता को कैसे बतलायेगा ? यदि कहो वह ज्ञात रूप है तो भी उस जाने गये अविसंवाद ज्ञान की प्रमाणता किससे है ? यदि भिन्न संवादक ज्ञान से कहो तब तो अनवस्था आ जाती है। बौद्ध कहता है कि अर्थक्रियारूप जलज्ञान में स्नान, अवगाहन आदि का जो ज्ञान है वह अविसंवाद ज्ञान है और अभ्यास दशा में इसकी प्रमाणता स्वतः सिद्ध है तब तो प्रश्न यह हो जाता है कि अभ्यास का लक्षण आप बौद्ध क्या करते हैं ? यदि कहो कि ज्ञान में पुनः पुनः संवाद का अनुभव होना अभ्यास है तो इस मान्यता में भी अनेकों दोष आ जाते हैं क्योंकि प्रश्न ये होंगे कि वह पुनः पुनः अनुभव ज्ञान सामान्यज्ञान में हो रहा है या स्वलक्षणभूत एक क्षणवर्ती विशेष में ?

प्रथम पक्ष में तो आपके द्वारा मान्य सामान्य अवास्तविक है उसमें पुनः पुनः अनुभव मानना अवास्तविक ही होगा। यदि द्वितीय पक्ष लेवो तो भी एकक्षणवर्ती पर्याय के ज्ञान में बार-बार क्या अनुभव आयेगा ? यदि आवेगा तो वह ज्ञान स्थिर—नित्य हो जावेगा क्षणिक नहीं रहेगा। श्लोक-वार्तिक में भी इसका खंडन किया है। “निश्चय करने की शक्ति को उत्पन्न न करते हुए ही अर्थ का अनुभव प्रमाण है क्योंकि निर्विकल्प ज्ञान में अभ्यास की पटुता है” इस प्रकार से बौद्ध के कहने पर आचार्य कहते हैं कि इस मान्यता से तुम्हारी “यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणता” इस नियम में विरोध आता है। अर्थात् निर्विकल्पज्ञान जिस विषय में इस निश्चय रूप सविकल्प बुद्धि को उत्पन्न करा देगा उस ही विषय में यह निर्विकल्प ज्ञान प्रमाणीक हो जावेगा। जैसे कि घट का प्रत्यक्ष हो जाने पर पीछे से उसके रूप, स्पर्श आदि से निश्चय ज्ञान उत्पन्न हो गया है अतः रूप और स्पर्श को जानने में निर्विकल्पज्ञान प्रमाण माना गया है किन्तु प्रत्यक्ष के द्वारा वस्तुभूत क्षणिकत्व को जान लेने पर भी पीछे से क्षणिकपने का निश्चय नहीं हुआ है अतः क्षणिक को जानने में प्रत्यक्ष की प्रमाणता नहीं है और यदि निश्चय को उत्पन्न नहीं करने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान भी प्रमाण मान लिया जावे तो “यत्रैव जनयेदेनां” इस ग्रंथ से विरोध आ जावेगा। “कश्चायमभ्यासो नाम ? पुनः पुनरनुभवस्य भाव इति चेत् क्षणक्षयादौ तत्प्रमाणत्वापत्तिस्तत्र सर्वदा सर्वार्थेषु दर्शनस्य भावात् परमाभ्याससिद्धेः”। हम बौद्धों से प्रश्न करते हैं कि आपके द्वारा मान्य अभ्यास क्या चीज है ? विद्यार्थी कई बार बोल-बोल कर घोषणा

कृतः प्रमेयतत्त्वव्यवस्थेति विचारात्तत्त्वोपप्लवव्यवस्थितिः ।

[अधुना जैनाचार्याः तत्त्वोपप्लववादं निरस्य स्वमतेन प्रमाणस्य प्रमाणतां साधयंति]

इत्येतदपि 'सर्वमसारं, तत्त्वोपप्लवस्यापि ^२विचार्यमाणस्यैवमध्यवस्थितेरनुपप्लुत^३तत्त्व-
सिद्धिनिराकरणायोगात्^४ । अथ^५ "तत्त्वोपप्लवः^६ सर्वथा न विचार्यः, तस्योपप्लुतत्वादेव^७
^८विचारासहत्वादन्वथानुपप्लुततत्त्वसिद्धिप्रसङ्गात्^९ । केवलं^{१०} तत्त्ववादिभिरभ्युपगतस्य प्रमाण-

करते हुए पाठ याद करते हैं, मल्ल व्यायाम का अभ्यास करते हैं । इसी प्रकार आपके प्रत्यक्षज्ञान का अभ्यास क्या है ? यदि पुनः पुनः प्रत्यक्ष रूप अनुभव की उत्पत्ति हो जाता तो क्षणिकत्व आदि में यह निर्विकल्पज्ञान प्रमाणीक हो जावेगा क्योंकि संपूर्ण अर्थों में तदात्मक हो रहे उस क्षणिक रूप विषय में निर्विकल्पज्ञान सदा होते रहते हैं । स्वलक्षणों से क्षणिकपन अभिन्न है । अतः क्षणिकत्व में तो बहुत बढ़िया अभ्यास सिद्ध हो रहा है किन्तु आप बौद्धों को तो ऐसा इष्ट नहीं है ।

अंत में निष्कर्ष यह निकला है कि बौद्ध के यहाँ प्रमाण की प्रमाणता को अविश्वसनीयता से स्वीकार करना ठीक नहीं है ।

बौद्ध लोग प्रमाण की प्रमाणता स्वतः मानते हैं, नैयायिक प्रमाण की प्रमाणता पर से मानते हैं । मीमांसक उत्पत्ति और निश्चय दोनों ही अवस्थाओं में प्रमाणता स्वतः और अप्रमाणता पर से मानते हैं । सांख्य प्रमाणता को पर से और अप्रमाणता को स्वतः मानते हैं । इन विभिन्न मतावलंबियों का आचार्यों ने अन्यत्र प्रमेयरत्नमाला आदि में विशेषरूप से खंडन किया है और इस बात को सिद्ध कर दिया है कि ज्ञान में प्रमाणता की उत्पत्ति तो पर से ही होती है किन्तु प्रमाण में प्रमाणता का निश्चय तो अभ्यास दशा में स्वतः होता है एवं अनभ्यास दशा में पर से होता है ऐसा समझना चाहिये ।

उपर्युक्त प्रकार से चारों प्रश्नों के उत्तर असिद्ध हो जाने पर तो सामान्य से प्रमाण का लक्षण सिद्ध न होने पर विशेष रूप से भी प्रत्यक्ष आदि प्रमाण सिद्ध नहीं हो सकते हैं अतः विचार करने पर प्रमाण तत्त्व की व्यवस्था करना कथमपि शक्य नहीं है और प्रमाण तत्त्व की व्यवस्था न होने पर प्रमेय तत्त्व की व्यवस्था भी कैसे हो सकेगी क्योंकि प्रमाण के अभाव में प्रमेय कहाँ रहेगा ? इसलिये विचार करने पर तो सभी तत्त्वों का उपप्लव—प्रलय ही हो जाता है इस प्रकार से तत्त्वोपप्लववादी ने अपना पूर्वकपक्ष रखा है अब आचार्य उसका खंडन करते हैं ।

[अब जैनाचार्य तत्त्वोपप्लववाद का खंडन करके अपने मत में मान्य ज्ञान की प्रमाणता को सिद्ध करते हैं]

जैन—आप शून्यवादी का यह सभी कथन असार (शून्यवत्) ही है । आपका तत्त्वोपप्लववाद भी विचार करने पर व्यवस्थित नहीं हो सकता है इसलिये आप अनुपप्लुत अबाधिततत्त्व की सिद्धि का निराकरण नहीं कर सकते हैं ।

१ जैनो वक्ति । २ बक्ष्यमाणप्रकारेण । ३ उपप्लुतो बाधितः । ४ तत्त्वोपप्लववादिनः । ५ परः । ६ शून्यवादः । ७ अभावरूपत्वादेव । ८ तत्त्वोपप्लवलक्षणं । तत्त्वशब्दस्यैव प्रतिपदमिदं न तु अनुपप्लुतशब्दस्य । (व्या० प्र०) ९ भो जैन । १० तत्रापि विचारासहत्वे तत्त्वोपप्लवसिद्धिः कथमिति जैनेनोक्ते स आह ।

प्रमेयतत्त्वस्य विचाराक्षमत्वात्तत्त्वोपप्लवसिद्धिः” इति मतं तदपि¹ फल्गुप्रायं, ²यथातत्त्व-
मविचारितत्वात्³ । न ह्यदुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वेन⁴ संवेदनस्य प्रमाणत्वं स्याद्वादिभिर्व्यव-
स्थाप्यते, ⁵बाधारहितत्वमात्रेण वा । नापि ⁶प्रवृत्तिसामर्थ्येनान्यथा⁷ ⁸वा, प्रतिपादितदोषो-
पनिपातात् । किं तर्हि ? ⁹सुनिश्चितासंभवद्वाधकत्वेन । ¹⁰न चेदं स्वार्थव्यवसायात्मनो
ज्ञानस्य ¹¹दुरवबोधम् ।

[प्रमाणस्य प्रामाण्यमभ्यस्तविषये स्वतोऽनभ्यस्तविषये परतः इति मन्यमानेऽनवस्था परस्परश्रयो वा न संभवति]

¹²सकलदेशकालपुरुषापेक्षया¹³ सुष्ठु निश्चितमसंभवद्वाधकत्वं हि प्रमाणस्याभ्यस्तविषये

शून्यवादी—हमारा तत्त्वोपप्लव सर्वथा विचार करने योग्य नहीं है क्योंकि उपप्लुत—बाधित
—अभावरूप होने से ही परीक्षा को सहन करने में असमर्थ है अन्यथा अनुपप्लुत—सद्भाव रूप तत्त्व
की सिद्धि का प्रसंग आ जावेगा । केवल तत्त्ववादी—आप जैनों के द्वारा स्वीकृत प्रमाण और प्रमेय-
तत्त्व विचार—परीक्षा को सहन नहीं कर सकता है अतः हमारे द्वारा मान्य तत्त्वोपप्लववाद ही सिद्ध
होता है ।

जैन—आप शून्यवादी का यह कथन फल्गुप्राय—व्यर्थ ही है क्योंकि यथातत्त्व—तत्त्व के अनु-
रूप आपने परीक्षा नहीं की है । हम स्याद्वादी जन ज्ञान की प्रमाणता का विचार उपर्युक्त चार विकल्पों
से नहीं मानते हैं । अर्थात् अदुष्ट कारक संदोह से उत्पन्न होने से, बाधा रहित मात्र से, प्रवृत्ति की
सामर्थ्य से अथवा अविश्ववादित्वादि प्रकार से हम जैन ज्ञान की प्रमाणता नहीं मानते हैं । अतः आपके
द्वारा प्रतिपादित दोषों के प्रसंग हमारे यहाँ नहीं आते हैं ।

शून्यवादी—तो फिर आप जैन किस तरह से ज्ञान की प्रमाणता सिद्ध करते हैं ।

जैन—हम जैन सुनिश्चितासंभवद्वाधक रूप से प्रमाण की प्रमाणता व्यवस्थापित करते हैं
क्योंकि स्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान को इस प्रमाण से जानना कठिन नहीं है ।

[प्रमाण की प्रमाणता अभ्यस्त दशा में स्वतः एवं अनभ्यस्त दशा में पर से है ऐसी मान्यता में अनवस्था अथवा
परस्परश्रय दोष नहीं आता है ।]

कारण कि संपूर्ण देश काल के पुरुषों की अपेक्षा से प्रमाण का “सुष्ठु निश्चितमसंभवद्वाध-
कत्व” अभ्यस्त विषय में स्वतः ही निश्चित किया जाता है । जैसे स्वरूप का निश्चय स्वतः ही होता
है और अनभ्यस्त विषय में पर से प्रमाणता आती है इस प्रकार से अनवस्था और इतरेतराश्रय दोष
का प्रसंग नहीं आता है क्योंकि स्वार्थव्यवसायात्मकत्व ही सुनिश्चितासंभवद्वाधकत्व है अर्थात् व्य-

1 आह जैनः । 2 तत्त्वमनतिक्रम्येत्युक्ते किं तत्त्वमुल्लङ्घ्य विचारितमित्यर्थः । 3 अविचारितत्वमग्रे दर्शयति ।

4 मीमांसकाभ्युपगतेन । (व्या० प्र०) 5 न बाधा इति पा० । (व्या० प्र०) 6 नैयायिकाभ्युपगतेन । (व्या० प्र०)

7 अविश्ववादित्वादिना । 8 अविश्ववादित्वेन वा किमिति न प्रतिपादितं प्रमाणनिर्णये प्रतिपादितत्वात् । अन्यथा वा

कथनं । (व्या० प्र०) 9 प्रामाण्यं स्याद्वादिभिर्व्यवस्थाप्यते इति शेषः । 10 जैनः पराभिप्रायं निराकरोति ।

11 किन्तु सुषटमेवेत्यर्थः । 12 ईप् । (व्या० प्र०) 13 वर्तमान । (व्या० प्र०)

स्वत एवावसीयते स्वरूपवत्^१ । अनभ्यस्तविषये तु परत इति नानवस्थेतरैतराश्रयदोषोप-
निपातः । स्वार्थव्यवसा^२यात्मकत्वमेव हि सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्वम् । तच्चाभ्यासदशायां
न परतः प्रमाणात्साध्यते, येनानवस्था स्यात्, परस्पराश्रयो वा, तस्य स्वत एव सिद्धत्वात् ।
तथानभ्यासदशायामपि परतः^३ स्वयंसिद्धप्रामाण्याद्वेदनात् पूर्वस्य^४ तथाभावसिद्धेः कुतो न-
वस्थादिदोषावकाशः ?

[नित्यानित्यात्मन्यात्मनि अभ्यासानभ्यासौ उभौ अपि संभवतः]

^५क्वचिदभ्यासानभ्यासौ^६ तु ^७प्रतिपत्तुरदृष्ट^८ विशेषवशाद्देशकालादिविशेषवशाच्च^९
भवन्तौ ^{१०}सम्प्रतीतावेव, ^{११}यथावरणक्षयोपशममात्मनः सकृदसकृद्वा स्वार्थसंवेदनेऽभ्यासो-

वसायात्मक पद से संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय का व्यवच्छेद हो जाता है और वह अभ्यास दशा में पर प्रमाण से सिद्ध नहीं किया जाता है कि जिससे अनवस्था आ सके अथवा परस्पराश्रय दोष आ सके अर्थात् ये दोनों दोष नहीं आ सकते हैं क्योंकि वह असंभवद्बाधकत्व स्वतः ही सिद्ध है उसी प्रकार से अनभ्यास दशा में भी स्वयं सिद्ध प्रमाणता वाले ज्ञानरूप अन्य प्रमाण से पूर्व को तथाभाव-प्रमाणता सिद्ध है पुनः अनवस्था आदि दोषों को अवकाश कैसे मिल सकता है ? अर्थात् पर से प्रमा-णता में वह पर प्रमाण स्वतः प्रमाणांतर रूप है अतः उसके लिये तृतीय की आवश्यकता न होने से अनवस्था असंभव ही है ।

[कथञ्चित् नित्यानित्यात्मक आत्मा में अभ्यास-अनभ्यास दोनों ही संभव हैं ।]

किसी विषय में अभ्यास और अनभ्यास ज्ञाता—पुरुष के अदृष्ट विशेष—भाग्य विशेष के निमित्त से और देश, कालादि की विशेषता से विद्यमान रूप प्रतीति में आ रहे हैं । अर्थात् ज्ञान में पुनः पुनः संवाद का अनुभव होना अभ्यास है और न होना अनभ्यास है । वे दोनों दृष्ट—देश, कालादि और अदृष्ट—भाग्य के निमित्त की विचित्रता से प्राणियों में देखे जाते हैं ।

[अभ्यास और अनभ्यास का लक्षण]

आत्मा के स्वार्थ संवेदन में अपने-अपने आवरणों का क्षयोपशम एकबार या पुनः-पुनः होना अभ्यास कहलाता है । अथवा स्वार्थ व्यवसायात्मक ज्ञानावरण कर्म के उदय में ज्ञान के नहीं होने पर अथवा एक बार ज्ञान के होने पर या पुनः-पुनः ज्ञान के होने पर भी अनभ्यास देखा जाता है । अर्थात् मतिज्ञान में जो चौथा भेद है उसका नाम धारणा है, उस धारणा से संस्कार बने रहते हैं, शीघ्र विस्मरण नहीं होता है उसी का नाम अभ्यास है । एवं एकेन्द्रिय आदि जीवों के ज्ञानावरण कर्म का

१ प्रमाण । (व्या० प्र०) २ व्यवसायात्मकत्वपदेन संशयविपर्ययानध्यवसायव्यवच्छेदः । ३ अन्यप्रमाणात् ।
४ प्रामाण्यसिद्धेः । ५ विषये । ६ जाने भूयः संवादानुभवनमभ्यासस्तदभावो नभ्यासः । दृष्टादृष्टनिमित्तानां
वैचित्र्यादिह देहिनाम् । जायते क्वचिदभ्यासो नभ्यासो वा कथञ्चन । ७ दृष्टादृष्टनिमित्तानां वैचित्र्यादिह देहिनां ।
जायते क्वचिदभ्यासो नभ्यासो वा कथञ्चन । (व्या० प्र०) ८ अदृष्टः पुण्यादिज्ञानावरणादिश्च । ९ बाह्यात् ।
(व्या० प्र०) १० बहुधा अनुभवविषयत्वं नीतावित्यर्थः । ११ क्रियाविशेषणम् ।

पपत्तेः । ¹स्वार्थव्यवसायावरणोदये² वाऽसंवेदने सकृत्संवेदने वा संवेदनपीनःपुन्येपि वाऽन-
भ्यासघटनात् । ³पूर्वापरं ⁴स्वभावत्यागोपादाना⁵न्वितस्वभावस्थितिलक्षणत्वेनात्मनः⁶ ⁷परि-
णामिनोभ्यासानभ्यासाविरोधात् । सर्वथा क्षणिकस्य नित्यस्य वा ⁸प्रतिपत्तुस्तदनुपपत्तेर-
भीष्टत्वात्⁹ । ¹⁰नन्विदं सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्वं संवेदनस्य कथमसर्वज्ञो ज्ञातुं समर्थ इति
चेत् ¹¹सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य सर्वं संवेदनमसुनिश्चितासम्भवद्बाधकमित्यप्यसकलज्ञः कथं
जानीयात् ?

उदय विशेषरूप से देखा जाता है अतः वे ज्ञान शून्य के सदृश मालूम पड़ते हैं, तथैव किसी को एक बार ज्ञान होना मतलब अवग्रह, ईहा, अवाय तक ज्ञान हो गया, धारणा नहीं बनी या बार-बार ज्ञान होने पर भी धारणा नहीं बनने से संस्कार दृढ़ नहीं हो सकते हैं इसी का नाम अनभ्यास है ।

तथा हम आत्मा को सर्वथा नित्य नहीं मानते हैं अतः एक ही आत्मा में अभ्यास और अन-
भ्यास दोनों ही संभव हैं । पूर्व स्वभाव का त्याग और अपर स्वभाव का उपादान उन दोनों में अन्वित-
स्वभाव की स्थिति इन तीन लक्षणों से नित्यानित्य रूप-परिणमन शील आत्मा में अभ्यास और अन-
भ्यास विरुद्ध नहीं हैं—अविरोध रूप से सिद्ध हैं । सर्वथा नित्य अथवा सर्वथा क्षणिक रूप आत्म में वे
अभ्यास, अनभ्यास दोनों ही असंभव हैं ऐसा हमें अभीष्ट ही है क्योंकि सर्वथा नित्य या क्षणिक में
अनभ्यासात्मक ज्ञान का परिहार करके अभ्यासात्मक ज्ञान को प्राप्त करने में विरोध ही है ।

भावार्थ—तत्त्वोपप्लववादी ने आस्तिक्यवादियों के प्रमाणतत्त्व की परीक्षा करने के लिये
चार प्रश्न रखे थे कि प्रमाण की प्रमाणता कैसे है निर्दोष कारणों से जन्य होने से ? इत्यादि । इन
प्रश्नों को उठाकर उसने स्वयं सभी को दूषित कर दिया तब जैनाचार्य कहते हैं कि यदि हम इन
कारणों से प्रमाण की प्रमाणता मानें तो ये उपर्युक्त दोष आवेंगे किंतु हम तो प्रमाण की प्रमाणता में
अन्य ही कारण मानते हैं । वह अन्य कारण क्या है ? तब आचार्य ने कहा कि “जिसमें बाधा का न
होना सुनिश्चित है ऐसे “सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्व” से हम प्रमाण की प्रमाणता मानते हैं एवं प्रमाण
का लक्षण विद्यानंद स्वामी ने “स्वार्थव्यवसायात्मक” किया है, जिसका अर्थ है स्व और अर्थ को
निश्चय कराने वाला ज्ञान ही प्रमाण है । आचार्य अभ्यस्त-परिचित दशा में ज्ञान की प्रमाणता स्वतः
मानते हैं एवं अनभ्यस्त—अपरिचित दशा में पर से मानते हैं । आत्मा को सर्वथा क्षणिक मानने पर
अभ्यास और अनभ्यास बन नहीं सकते हैं, एवं सर्वथा नित्य मान्यता में भी अभ्यास, अनभ्यास
असंभव है क्योंकि एक अवस्था का त्याग करके दूसरी अवस्था को ग्रहण करना सर्वथा नित्य अथवा

1 पूर्वस्यैव हेत्वन्तरम् । 2 व्यवसायो ज्ञानं, तस्य । 3 ननु भो जैन नित्यस्यात्मनोभ्यासानभ्यासौ कथं स्यातामित्युक्ते
जैनः प्राह । 4 पूर्वापरस्वभाव इति पा. । (व्या० प्र०) 5 ईप् द्विः । (व्या० प्र०) 6 बसः । (व्या० प्र०)
7 नित्यानित्यरूपस्य । 8 आत्मनः । 9 जैनस्य (अनभ्यासात्मकज्ञानपरिहारेणाभ्यासात्मकज्ञानप्राप्तिविरोधात्
क्षणिकस्य नित्यस्य वा) 10 तत्त्वोपप्लववादी । 11 जैनः ।

[तत्त्वोपप्लववादी संशयं कृत्वा प्रमाणस्य प्रलयं कर्तुमिच्छति तस्य निराकरणं]

तत¹ एव संशयोस्त्विति चेत् सोपि² तथाभावेतरविषयः सर्वस्य³ सर्वदा सर्वत्रेति⁴ कथमसर्वज्ञः⁵ शक्तोवबोधुम् ? स्वसंवेदने 'तथावबोधात्सर्वत्र'⁷ तथावबोध इति चेत्⁸ तर्ह्यनुमानभायातं, विवादाध्यासितं संवेदनं सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वेतराभ्यां सन्दिग्धं, संवेदनत्वादस्मत्संवेदनवदिति ।⁹ तच्च¹⁰ यदि सुनिश्चितासंभवद्बाधकं सिद्धं तदा तेनैव साधनस्य व्यभिचारः ।¹¹ अथ न तथा सिद्धं, ¹² कथं साध्यसिद्धिनिबन्धनम् ? अतिप्रसङ्गात् । स्वसंवेदनं च प्रतिपत्तुः¹³ किञ्चित् क्वचित् कदाचित् सुनिश्चितासंभवद्बाधकं ¹⁴ किञ्चित्तद्विपरीतं

सर्वथा क्षणिक में असंभव है ।

शून्यवादी—असर्वज्ञ मनुष्य ज्ञान के इस सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्व को जानने में कैसे समर्थ हो सकते हैं ?

जैन—यदि आप ऐसा कहो तो, सभी जगह सर्वदा सभी जीवों का सभी ज्ञान सुनिश्चितासंभवद्बाधक नहीं है इस बात को भी असर्वज्ञ—अल्पज्ञ कैसे जान सकेंगे ?

[तत्त्वोपप्लववादी संशय को करके प्रमाण का प्रलय करना चाहता है उसका निराकरण]

शून्यवादी—इसीलिये दोनों में संशय होने से दोनों के ही पक्ष असिद्ध हैं ।

जैन—तथाभाव-बाधा से रहित और अतथाभाव-बाधा से सहित को विषय करने वाला संशय सभी जीव को, सर्व काल में सर्वत्र है इस बात को भी अल्पज्ञ कैसे जान सकेगा ?

शून्यवादी—स्वसंवेदन में सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्व और असुनिश्चितासंभवद्बाधकत्व के द्वारा संदिग्ध प्रकार से सर्वत्र वैसा ही ज्ञान होता है ।

जैन—तब तो अनुमान ही आ गया । “विवाद की कोटि में आया हुआ संवेदन सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्व और इतर के द्वारा संदिग्ध है क्योंकि संवेदन है जैसे हम अल्पज्ञ लोगों का संवेदन ।” और वह यदि सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्व सिद्ध है तब तो उसी से ही हेतु व्यभिचरित हो जाता है । यदि वैसा नहीं है अर्थात् सुनिश्चितासंभवद्बाधक सिद्ध नहीं है तब तो साध्य की सिद्धि में कारण ही हो जाता है, अन्यथा अतिप्रसंग आ जाता है ।

और प्रतिपत्ता का कोई स्वसंवेदन ज्ञान क्वचित् कदाचित् सुनिश्चितासंभवद्बाधक रूप से

1 (तत्त्वोपप्लववादी) उभयपक्षासिद्धेः । 2 जैन आह । 3 ज्ञानस्य । (व्या० प्र०) 4 विषये । (व्या० प्र०) 5 तत्त्वोपप्लववादादिः । 6 सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वेतराभ्यां सन्दिग्धत्वप्रकारेण । 7 ज्ञाने । (व्या० प्र०) 8 जैनः प्राह । 9 जैनः । 10 संवेदनसाधनं सिद्धमसिद्धं वा ? यदि सिद्धं तदा तेनैव सन्दिग्धं न साध्यते अतः साधनस्य व्यभिचारः । अथ न सिद्धं तदा स्वयमसिद्धं साधनकारणम् । यद्यसिद्धमपि साधनं साध्यं साध्यति तदातिप्रसङ्ग इति भावः । 11 असुनिश्चितासंभवद्बाधकं चेदित्यर्थः । 12 तर्हीति शेषः । 13 संवेदनम् । 14 असुनिश्चितासंभवद्बाधकम् ।

प्रसिद्धं न वा ? यदि न ^१प्रसिद्धं, कथं सन्देहः^२ ? ^३क्वचिदप्रसिद्धोभय^४विशेषस्य^५ ^६तत्सामान्य^७
दर्शनेनैव तत्परामर्शप्रत्ययस्य सन्देहस्यासम्भवाद्भूभवनसंवर्द्धितोत्थितमात्रस्य तादृशः स्थाणु-
पुरुषविषयसन्देहवत्^८ । ^९यदि ^{१०}पुनस्तदुभयं प्रसिद्धं ^{११}तदा स्वतः परतो वा ? अभ्यासदशायां
स्वतोनभ्यासदशायां परत एवेति चेत् सिद्धमकलङ्कशासनं, ^{१२}सर्वस्य संवेदनस्य ^{१३}स्यात्स्वतः
स्यात्परतः^{१४} प्रामाण्याप्रामाण्ययोर्व्यवस्थानात्, ^{१५}अन्यथा ^{१६}क्वचिद्व्यवस्थातुमशक्तेः ।

प्रसिद्ध है अथवा किंचित् उससे विपरीत-असुनिश्चितासंभवद्वाधक रूप से प्रसिद्ध नहीं है क्या ? यदि प्रसिद्ध नहीं है तो संदेह कैसे होगा ? जिसको किसी वस्तु में उभय-स्थाणु और पुरुष दोनों की विशेषता अप्रसिद्ध है उसे उनके सामान्य को देखने से ही उसको परामर्श करने वाला संदेह ज्ञान असंभव है जैसे भूभवन संवर्द्धित—तलघर में पलकर बड़ा हुआ पुरुष उससे निकलते मात्र ही उस प्रकार के स्थाणु और पुरुष उभय विषय को देखकर संशय नहीं कर सकता है ।

यदि आप शून्यवादी कहें कि स्थाणु और पुरुष दोनों ही प्रसिद्ध हैं । तब तो हम आप से पूछते हैं कि वे दोनों स्वतः प्रसिद्ध हैं या पर से ? यदि आप कहें कि अभ्यास दशा में स्वतः प्रसिद्ध हैं और अनभ्यास दशा में पर से प्रसिद्ध हैं तब तो अकलंकशासन—निर्दोष शासन सिद्ध हो गया अथवा अकलंक देव का न्याय शासन सिद्ध हो गया । सभी ज्ञान में कथंचित् स्वतः और कथंचित् पर से प्रामाण्य और अप्रामाण्य की व्यवस्था मानी गई है । अन्यथा केवल स्वतः अथवा केवल पर से व्यवस्था करना अशक्य है ।

भावार्थ—तत्त्वोपप्लववादी का कहना है कि साधारण अल्पज्ञ मनुष्य यह कैसे समझेंगे कि यह ज्ञान निश्चित रूप से बाधा रहित है । तब जैनाचार्यों ने कहा कि भाई अल्पज्ञजन इस बात को भी कैसे जानेंगे कि सभी का ज्ञान बाधा से रहित है यह बात अनिश्चित है । बस ! उपप्लववादी को मौका मिला उसने कहा इसलिये ज्ञान में सर्वत्र संदेह देखा जाने से ही हम ज्ञान तत्त्व का प्रलय कह रहे हैं । तब आचार्य ने कहा कि सभी को सर्वत्र ज्ञान में संदेह ही है यह बात भी अल्पज्ञ कैसे जान सकते हैं ? फिर दूसरी बात यह है कि जिस विषय में जिसको संदेह होता है उस विषय का पहले कभी उसे निश्चय अवश्य ही होना चाहिए था जैसे पहले जिसने ठूठ और मनुष्य को देखा है वही

1 तर्हि । (व्या० प्र०) 2 संदेहानुपपत्तिं दर्शयति । (व्या० प्र०) 3 जाने । (व्या० प्र०) 4 क्वचिद्वस्तुनि । अज्ञातस्थाणुपुरुषत्वादेः । 5 बसः । (व्या० प्र०) 6 नुः । (व्या० प्र०) 7 तत्सामान्यादशिन इव इति पाठांतरम् । सामान्यादशिनो विशेषोपलम्भे सति सन्देहस्यानुपपत्तिर्यथा तथा प्रकृतेषु । अथात्र दृष्टान्तोऽप्रसिद्ध इति न मन्तव्यं, भूभवनेत्यादिलौकिकोदाहरणप्रदर्शनात् । 8 तादृशो नरस्य यथा तत्र सन्देहो नोदेति । 9 तत्त्वोपप्लववादी । 10 स्थाणुपुरुषत्वे । 11 जैन । 12 अकलंकशासनसिद्धिं प्रदर्शयति । (व्या० प्र०) 13 कथंचित्त्विवक्षितप्रकारेणाभ्यासदशापेक्षेत्यर्थः । 14 अनभ्यासावस्थापेक्षया । (व्या० प्र०) 15 केवलं स्वत एव परत एव वेति स्वीकारे । 16 जाने । (व्या० प्र०)

[उपप्लववादी कञ्चित् तत्त्वनिर्णयमनाश्रित्य परस्य तत्त्वस्य कथमुपप्लवं करोति संदेहो वा कथं विधत्ते ?]

एतेन तत्त्वोपप्लववादिनः किमदुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वेन बाधकानुत्पत्त्या प्रवृत्तिसामर्थ्येनान्यथा ¹वेत्यादिविकल्पसन्दोहहेतुकप्रश्नानुपपत्तिः² प्रकाशिता, ³स्वयमन्यत्रान्यदा ⁴कथञ्चिदप्रतिपन्नतद्विकल्पस्य⁵ पुनः ⁶क्वचित्त्परामर्शिसंशयप्रत्ययायोगात् । ⁷क्वचित्कदाचिददुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वादिविशेषप्रतिपत्तौ तु ⁸कुतस्तत्त्वोपप्लवसिद्धिः ? ⁹पराभ्युपगमात्तत्प्रतिपत्तेरदोष इति चेत् स ¹⁰तर्हि पराभ्युपगमो यदि प्रमाणात्प्रतिपन्नः ¹¹स्वयं तदा कथं ¹²प्रमाणप्रमेयतत्त्वोपप्लवः ? पराभ्युपगमान्तरात्तत्प्रतिपत्तौ तदपि पराभ्युपगमान्तरमन्यस्मात् ¹³पराभ्युपगमान्तरात्प्रतिपत्तव्यमित्यनवस्था ।

अकस्मात् किसी एक चीज को देखकर दूसरे का स्मरण करके संशय कर सकता है सर्वथा अज्ञात वस्तु में या गधे के सींग, आकाश के फूल में क्या संदेह होगा ? अतएव ज्ञान की प्रमाणता अभ्यास दशा में स्वतः एवं अनभ्यास दशा में पर से होती है । तथैव ज्ञान की अप्रमाणता भी अभ्यास दशा में स्वतः अनभ्यासदशा में पर से होती है, यह बात सुनिश्चित सिद्ध है ।

[उपप्लववादी कुछ भी तत्त्व का निर्णय न करके पर के तत्त्वों का उपप्लव या पर के तत्त्व में संदेह कैसे कर सकता है ?]

इस कथन से तत्त्वोपप्लववादी के जो प्रश्न हुए थे “ज्ञान की प्रमाणता अदुष्टकारक समूह से उत्पन्न होती है या बाधक की अनुत्पत्ति से या प्रवृत्ति की सामर्थ्य से अथवा अन्यथा अविस्वादिवादि प्रकार से होती है ? इत्यादि प्रश्न विकल्पों की व्यवस्था कथमपि शक्य नहीं—यह बात प्रकाशित कर दी गई है ।

स्वयं अन्यत्र, अन्यकाल में कथञ्चित् जिसने उन विकल्पों को नहीं जाना है उसको तत्परामर्शिसंशय ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता है । कहीं पर कदाचित् अदुष्ट कारक समूह से उत्पन्न होना आदि विशेष का ज्ञान हो जाता है ऐसा कहो तो आप शून्यवादी के यहाँ तत्त्वोपप्लव की सिद्धि कैसे हो सकेगी ?

शून्यवादी—पर की स्वीकृति मात्र से उसका ज्ञान मानने से हमें कोई दोष नहीं है ।

जैन—यदि वह पर की स्वीकृति प्रमाण से स्वयं जानी गई है तो प्रमाण और प्रमेयतत्त्व का उपप्लव कैसे होगा ? यदि कहो कि वह पर की स्वीकृति अन्य पर की स्वीकृति से जानी जाती है तब

1 वसः । (व्या० प्र०) 2 यसः । (व्या० प्र०) 3 ज्ञाने । (व्या० प्र०) 4 अनधिगतवस्तुविकल्पस्य पुरुषस्य क्वचित्तद्वेषे वस्तुविचारे संशयो न घटते इति । 5 तत्त्वोपप्लववादिनः । 6 ज्ञाने । (व्या० प्र०) 7 ज्ञाने । (व्या० प्र०) 8 विकल्पचतुष्टयं प्रमेयं तद्ग्राहकं च विज्ञानं प्रमाणं । (व्या० प्र०) 9 तत्त्वोपप्लववादी प्राह । 10 जैनः । 11 तत्त्वोपप्लववादिना । 12 पराभ्युपगमस्य ग्राहकं प्रमाणं । (व्या० प्र०) 13 पराभ्युपगमात् इति पा० । (व्या० प्र०)

[अधुनोपप्लववादिनः मतस्योपप्लवं कुर्वन्ति जैनाचार्याः]

पराभ्युपगमं^१ च स्वयं प्रतीयन्नेव न प्रत्येभीति ब्रुवाणः कथं स्वस्थः ?^२ स्वयमप्रती-
यस्तु पराभ्युपगमं^३ ततः^४ किञ्चित्प्रत्येतीति^५ दुरवबोधं—सोयं^६ किञ्चिदपि^७ स्वयं निर्णीत-
मनाश्रयन्^८ क्वचिद्विचारणायां व्याप्रियत इति^९ न^{१०} बुध्यामहे^{११}, किञ्चिन्नर्णीतमाश्रित्य
विचारस्यानिर्णीतेर्थे प्रवृत्तेः । सर्वविप्रतिपत्तौ तु क्वचिद्विचारणानवतारात् । तद्रुक्तं
“किञ्चिन्नर्णीतमाश्रित्य विचारोऽन्यत्र^{१२} वर्तते । सर्वविप्रतिपत्तौ तु क्वचिन्नास्ति विचारणा”

इति ।^{१३} ततः सूक्तं, तत्त्वोपप्लववादिनः स्वयमेकेन प्रमाणेन स्वप्रसिद्धेन परप्रसिद्धेन वा
विचारोत्तरकालमपि प्रमाणतत्त्वं प्रमेयतत्त्वं चोपप्लुतं संविदन्त एवात्मानं निरस्यन्तीति
व्याहृतिः^{१४} ।

तो वह पर की स्वीकृति भी अन्य पर की स्वीकृति की अपेक्षा रखेगी इस प्रकार से अनवस्था ही
आ जावेगी ।

[अब जैनाचार्य उपप्लववादी के मत का ही उपप्लव कर रहे हैं ।]

इस प्रकार से पर की स्वीकृति को स्वयं अनुभव करते हुये ही आप “मैं अनुभव नहीं करता
हूँ” इस प्रकार बोलते हुये स्वस्थ कैसे हैं ? अर्थात् अस्वस्थ ही हैं । तथा यदि आप स्वयं पर की स्वी-
कृति को विषय न करते हुए भी “कोई उस पर स्वीकृति से किञ्चित् वस्तु मात्र का अनुभव करता है”
इस प्रकार से कहते हैं तब तो यह बात अत्यन्त दुष्कर ही है ।

इस प्रकार से आप शून्यवादी कुछ भी स्वयं निश्चित (गाँठ के तत्त्व) का आश्रय न लेते हुये
किसी भी विषय की परीक्षा में प्रवृत्त होते हैं यह बात हमारी समझ में नहीं आती है । अर्थात् आप
शून्यवादी के यहाँ कुछ प्रमाणादि की प्रसिद्धि हुये बिना अन्य हम लोगों के यहाँ परीक्षा और संदेह
करना कदापि शक्य नहीं है क्योंकि किञ्चित् भी निश्चित का आश्रय लेकर अनिर्णीत विषय में परीक्षा
होती है किन्तु सभी जगह विसंवाद हो जाने पर तो कहीं पर परीक्षा भी नहीं हो सकती है अथवा
अक्षर ज्ञान से शून्य मूर्ख क्या शास्त्रीय परीक्षा में बैठे हुये विद्यार्थियों की परीक्षा कर सकता है ?
कहा भी है—

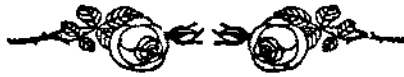
इलोकार्थ—कहीं कुछ निश्चित का आश्रय लेकर अन्यत्र—अनिश्चित अर्थ में विचार—परीक्षा
होती है और यदि सभी जगह विसंवाद हो जावे तो कहीं पर भी परीक्षा नहीं हो सकती है ।

१ किं च । (व्या० प्र०) २ अप्रतिपत्तिविषयीकुर्वन् । ३ पराभ्युपगमात् । ४ विकल्पचतुष्टयविशेषं । (व्या० प्र०)
५ वस्तुमात्रम् । ६ तत्त्वोपप्लववादी । ७ वस्तुमात्रं । (व्या० प्र०) ८ ज्ञानप्रामाण्ये । (व्या० प्र०) ९ च न इति
पा० । (व्या० प्र०) १० तत्स्वरूपं । (व्या० प्र०) ११ शून्यवादिनः स्वप्रसिद्धेन विनान्यत्र विचारः सन्देहश्च न
प्राप्नोतीत्यर्थः । १२ अनिर्णीतेर्थे । १३ शून्यवादिनः स्वप्रसिद्धेन विनान्यत्रविचारः संदेहश्च न प्राप्नोति यतः ।
(व्या० प्र०) १४ व्याहृतमेतदिति इति पा० । (व्या० प्र०)

इसलिये यह ठीक ही कहा है कि ये तत्त्वोपप्लववादी स्वयं स्वप्रसिद्ध एक प्रमाण से अथवा परप्रसिद्ध एक प्रमाण से विचार—परीक्षा के उत्तरकाल में भी प्रमाण तत्त्व और प्रमेयतत्त्व को उपप्लुत—नष्ट—प्रलय—अभाव—शून्यरूप जानते हुये अपनी आत्मा का ही अभाव कर लेते हैं। आपकी इस बात से यह शून्यवाद नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—तत्त्वोपप्लववादी का कहना है कि सभी प्रमाण तत्त्व एवं प्रमेयतत्त्व अभाव रूप ही हैं क्योंकि किंचित् भी तत्त्व न तो प्रमाण से सिद्ध है न अनुमान से। इत्यादि प्रकार से तत्त्वों का अभाव करके वह कहता है कि हम आस्तिकवादी लोगों के द्वारा मान्य प्रमाण तत्त्व पर विचार करते हैं कि आप सभी जन प्रमाण की प्रमाणता को किस प्रकार से सिद्ध करते हैं निर्दोष कारणों से उत्पन्न होने से या बाधा के उत्पन्न न होने से, प्रवृत्ति की सामर्थ्य से अथवा अविसंवादी पने से? इन चारों हेतुओं से ज्ञान में प्रमाणता नहीं आ सकती है। अतः ज्ञान की प्रमाणता की सिद्धि न होने से प्रमेय-तत्त्व-ज्ञेय पदार्थ भी सिद्ध नहीं हो सकते हैं। क्योंकि ज्ञान के बिना ज्ञेय पदार्थ कहाँ से सिद्ध होंगे? पुनः उसने इस बात को भी सिद्ध किया कि हम शून्यवादियों का तत्त्व सर्वथा ही परीक्षा करने योग्य नहीं है क्योंकि वह अभाव—शून्य रूप है, हम तो तत्त्ववादी जैनादिकों के द्वारा स्वीकृत प्रमाण, प्रमेय-तत्त्व की परीक्षा करके उसका अभाव सिद्ध कर देते हैं उसी से ही हमारे शून्यवाद की सिद्धि हो जाती है।

इस पर जैनाचार्यों ने उत्तर दिया है कि हम लोग निर्दोषकारक जन्य आदि हेतुओं से प्रमाण की प्रमाणता नहीं मानते हैं किंतु सुनिश्चितासंभवद्बाधकरूप स्वार्थ व्यवसायात्मक ज्ञान की प्रमाणता अभ्यास दशा में स्वतः एवं अनभ्यासदशा में पर से मानते हैं अतः प्रमाणतत्त्व भी सिद्ध है एवं प्रमेय-तत्त्व भी षड्द्रव्यरूप अखिल जगत्तरूप से सिद्ध ही है क्योंकि “प्रतीतेरपलापः कर्तुं न शक्यते कैश्चित्” इस सूक्तिके अनुसार जो स्पष्ट रूप से अनुभव में आ रहा है उसका लोप करना शक्य नहीं है। एवं जो शून्यवादी किसी वस्तु को मानने को ही तैयार नहीं हैं तो उन्हें किसी भी विषय में परीक्षा करने का भी अधिकार नहीं है क्योंकि जो स्वयं अपने आपके ही अस्तित्व को नहीं मानते हैं वे किसी भी विषय में अस्ति-नास्ति की परीक्षा भी कैसे कर सकेंगे? यदि जबरदस्ती करेंगे तो फिर बन्ध्या का पुत्र भी आकाश के फूलों की सुगंधि या दुर्गंधि की परीक्षा कराते बैठेगा या वह आकाशपुष्प भी किसी के गले का हार बनेगा और किसी के सिर पर चढ़ने का प्रयत्न कर डालेगा किंतु ऐसा तो संभव नहीं है अतः शून्यवादी जन भी अपना शून्यवाद स्थापन करते हैं यह कथन हास्यास्पद ही है।



तत्त्वोपप्लववादी के खंडन का सारांश

तत्त्वोपप्लववादी—हम प्रमाण प्रमेयादि कुछ भी तत्त्व नहीं मानते हैं क्योंकि सभी तत्त्व उपप्लुत-नष्ट-अभाव रूप ही हैं !

जैन—“सभी तत्त्व उपप्लुत हैं” यह कथन प्रमाण के बिना केवल वचनमात्र से ही सिद्ध है तथैव “सभी तत्त्व अनुपप्लुत हैं” यह बात भी वचनमात्र से ही क्यों न सिद्ध हो जावे ? आप शून्यवादी के यहाँ कोई प्रमाण तो है नहीं । प्रत्यक्ष को विषय करने वाला प्रत्यक्ष, अनुमेय को विषय करने वाला अनुमान और अत्यंत परोक्ष को विषय करने वाला आगम ये तीनों प्रमाण—सर्वज्ञ कहलाते हैं । यदि आप कहें कि पर के यहाँ प्रसिद्ध प्रमाण से हम अभाव-शून्यवाद सिद्ध कर देंगे तो वह पर के यहाँ प्रसिद्ध प्रमाण प्रमाण से सिद्ध है या नहीं ? यदि सिद्ध है तो वादी प्रतिवादी सभी को सिद्ध है अन्यथा—असिद्ध है तो सभी को असिद्ध है क्योंकि बिना प्रमाण के सिद्ध हम जनों को कुछ भी मान्य नहीं है । इस प्रकार से आप शून्यवादी सकल तत्त्वों के जानने वाले प्रमाणों से रहित सभी पुरुषों को जानते हुए स्वयं आपका ही खंडन कर लेते हैं क्योंकि “सभी पुरुष तत्त्वों के ग्राहक प्रमाण से रहित हैं” ऐसा जिसने जान लिया वही तो प्रमाण—सर्वज्ञ सिद्ध हो गया और यदि आप प्रमाण को स्वीकार कर लें तब तो तत्त्वोपप्लव ही समाप्त हो जावेगा ।

यदि आप कहें कि प्रमाण की प्रमाणता स्वतः व्यवस्थित है तो सभी के इष्ट तत्त्व सिद्ध हो जावेंगे । अच्छा ! हम शून्यवादी आप जनों से पूछते हैं कि प्रमाण की प्रमाणता कैसे जानी जाती है ? निर्दोषकारक से जन्य होने से, बाधा की उत्पत्ति न होने से, प्रवृत्ति की सामर्थ्य से या अविस्वादी पने से ?

यदि प्रथम पक्ष लेवो तो कारकों की निर्दोषता कैसे जानी ? प्रत्यक्ष से या अनुमान से ? प्रत्यक्ष से तो अतीन्द्रिय निर्दोषता का ग्रहण नहीं है एवं अविनाभावी लिग न होने से अनुमान भी नहीं बता सकता । दूसरा पक्ष लेवो तो मरीचिका में भी “यह जल नहीं है” ऐसा बाधक कारण न होने से प्रमाणता आ जावेगी ।

प्रवृत्ति की सामर्थ्य से ज्ञान में प्रमाणता मानने से भी अनवस्था आती है तथा चतुर्थ पक्ष भी बाधित ही है । यहाँ पूर्व के दो पक्ष मीमांसक की अपेक्षा हैं । तीसरा पक्ष नैयायिक से संबंधित है एवं चौथा पक्ष बौद्धों के खंडन के लिये है ।

मीमांसक प्रमाण की प्रमाणता स्वतः मानता है, नैयायिक पर से मानता है एवं बौद्ध अर्थ-क्रिया सद्भाव लक्षण अविस्वाद ज्ञान को अभ्यास दशा में स्वतः प्रमाण कहता है किन्तु बौद्ध के यहाँ उत्पन्न होते ही ज्ञान उसी क्षण में नष्ट हो जाता है अतः अभ्यास असम्भव है, यदि सन्तान से कही तो वह अवस्तु है ।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि आप शून्यवादी का कथन शून्यरूप व्यर्थ ही है । हम स्याद्वादी ज्ञान की प्रमाणता “अदुष्टकारकसंदोहजन्य” इत्यादि चार कारणों से नहीं मानते हैं । हम तो “मुनि-श्चित्ता संभवद्बाधक प्रमाण” से प्रमाण की प्रमाणता सिद्ध करते हैं क्योंकि “ज्ञान स्वार्थव्यवसायात्मक है” वह उपर्युक्त हेतु से सिद्ध है । तथा हमारे यहाँ अभ्यस्त विषय में स्वतः और अनभ्यस्त विषय में

पर से प्रमाणता आती है तथा “असंभवद्बाधकत्व” स्वतः सिद्ध है इसलिये अनवस्था एवं इतरेतराश्रय दोष संभव नहीं हैं। पर से प्रमाणता मानने में वह पर प्रमाण स्वतः प्रमाण रूप है इसलिये भी अनवस्था नहीं आती है।

आत्मा का स्वार्थ संवेदन में अपने २ आवरणों का क्षयोपशम एक बार या पुनः पुनः होना अभ्यास है इससे विपरीत अनभ्यास है। हम आत्मा को कथंचित् नित्यानित्य मानते हैं अतः अभ्यास-अनभ्यास दोनों ही संभव हैं। पूर्व स्वभाव का त्याग और अपर स्वभाव का उपादान तथा दोनों में अन्वित स्वभाव स्थिति इन तीनों लक्षणों में नित्यानित्य आत्मा में अभ्यास अनभ्यास दोनों ही संभव हैं। अतः आप शून्यवादी कुछ भी स्वयं निश्चित तत्त्व का आश्रय न लेते हुये भी हम जैनों के यहाँ तत्त्व में परीक्षा या संदेह करते हैं या नहीं मानकर शून्य कहते हैं यह कथमपि शक्य नहीं है क्योंकि कहीं अपने यहाँ कुछ निश्चय का आश्रय लेकर ही अन्यत्र अनिश्चित विषय में परीक्षा होती है। इसलिये सभी प्रमाण प्रमेय तत्त्व को उपप्लुत—बाधित या प्रलयरूप कहते हुये आप अपनी आत्मा का ही घात कर लेते हैं। अतः तत्त्वोपप्लववादकांत श्रेयस्कर नहीं है।



[जैनमतमंतरेण सर्वेऽपि मतावलंबिनस्तीर्थच्छेदसंप्रदाया भवंतीति साध्यते जैनाचार्यैः]

१तदेवं कारिकाव्याख्यानमनवद्यमवतिष्ठते । २तीर्थच्छेदसम्प्रदायानां तथा सर्वमवगत-
मिच्छतामाप्तता^३ नास्ति, परस्परविरुद्धाभिधानात्, एकानेकप्रमाणवादिनां ४स्वप्रमाव्या-
वृत्ते^५रिति^६* । ७एकप्रमाणवादिनो हि संवेदनाद्वैतावलम्बिनश्चित्राद्वैताश्रयिणः परब्रह्मशब्दा-
द्वैतभाषिणश्च सुगतादयो यथा तीर्थच्छेदसम्प्रदायास्तथा प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणमिति वद-
न्तोपि चार्वाकाः, परमागमनिराकरणसमयत्वात्^८ । यथा च कपिलादयोनेकप्रमाणवादिन-

[सर्वज्ञ सामान्य की सिद्धि में विसंवाद करने वाले मीमांसक, चार्वाक और तत्त्वोपप्लववादियों के यहाँ आत्मा के सद्भाव को सिद्ध करके इस समय उस सर्वज्ञ विशेष में विसंवाद करने वाले सौगत, सांख्यादि के प्रति सर्वज्ञ के सद्भाव को सिद्ध करते हैं । एवं जैनमत के सिवाय अन्य सभी मतावलंबी जन तीर्थच्छेद संप्रदाय वाले हैं इस बात को जैनाचार्य सिद्ध करते हैं ।]

उपर्युक्त प्रकार से कारिका का व्याख्यान निर्दोष सिद्ध हो जाता है ।

“तीर्थच्छेद संप्रदाय वाले तथा सभी को सर्वज्ञ मानने वालों के आप्तता नहीं है क्योंकि उनके कथन परस्पर में विरुद्ध हैं तथा एक और अनेक प्रमाणवादियों के यहाँ अपने प्रमा-ज्ञान की व्यावृत्ति हो जाती है ।* ”

[एक ही प्रमाण को मानने वाले कौन-कौन हैं ?]

संवेदनाद्वैतवादी, चित्राद्वैतवादी, परमब्रह्माद्वैतवादी और शब्दाद्वैतवादी बौद्ध आदि एक प्रमाणवादी हैं । जैसे ये एक प्रमाण मानने वाले तीर्थच्छेद संप्रदाय वाले हैं वैसे ही प्रत्यक्ष एक ही प्रमाण है ऐसा कहने वाले चार्वाक भी तीर्थच्छेद संप्रदाय वाले हैं क्योंकि वे परमागम के समय-संप्रदाय का निराकरण करने वाले हैं ।

[अनेक प्रमाण को मानने वाले कौन कौन हैं ?]

जैसे कपिल आदि अनेक प्रमाणवादी तीर्थच्छेद संप्रदाय वाले हैं वैसे ही तत्त्वोपप्लववादी भी हैं क्योंकि उन लोगों ने एक भी प्रमाण नहीं माना है । “नैक प्रमाणवादिनोऽनेकप्रमाणवादिनः” ऐसा व्याख्यान है । अर्थात् “न एक प्रमाणं अनेकप्रमाणं” ऐसा नञ् समास करने पर यहाँ प्रसज्यप्रतिषेध अर्थ लेना अर्थात् सर्वथा ही निषेध अर्थ होता है ।

तथा सभी आप्त, आगम और पदार्थ के समूह को स्वीकार करने की इच्छा करते हुए भी अनेक प्रमाणवादी वैयकिकजन तीर्थच्छेदसंप्रदाय वाले हैं । उन सभी में आप्तपना नहीं है क्योंकि वे सभी परस्पर विरुद्ध दो अर्थों का कथन करने वाले हैं ।

1 वक्ष्यमाणप्रकारेण । 2 सर्वज्ञसामान्ये विप्रतिपत्तिमतां मीमांसकचार्वाकतत्त्वोपप्लववादिनामात्मत्वसद्भावं प्रसाध्ये-
दानीं तद्विशेषविप्रतिपत्तिमतां सौगतादीनां निर्वचनं साध्यति तीर्थेत्यादिना । 3 कारिकास्थितस्य सर्वेषामिति पदस्य
विवरणमिदं, सर्वमिच्छतीति सर्वेषस्तेषामिति निर्वचनात् । (व्या० प्र०) 4 स्वेन स्वकीयपरिच्छित्यभावात् ।
(व्या० प्र०) 5 प्रमितिः । (व्या० प्र०) 6 विघटनात् । (व्या० प्र०) 7 एकतत्त्ववादिनः । (व्या० प्र०) 8 समयः
सम्प्रदायः ।

स्तीर्थच्छेदसम्प्रदायास्तथा तत्त्वोपप्लववादिनोपि, तैरेकस्यापि प्रमाणस्यानभिधानात्, ¹नैक-
प्रमाणवादिनो नैकप्रमाणवादिन इति व्याख्यानात् । तथा ²सर्वमाप्तागमपदार्थ³जातमवगत-
मिच्छन्तोप्यनेकप्रमाणवादिनो⁴ वैनयिकास्तीर्थच्छेदसम्प्रदायाः । तेषामशेषाणामाप्तता⁵ नास्ति,
परस्परविरुद्धयोरर्थयोरभिधानात् ।

भावार्थ—विश्व में दो प्रकार के दर्शन प्रचलित हैं । १. आस्तिक २. नास्तिक । आत्मा के अस्तित्व को मानने वाले सभी आस्तिक कहलाते हैं एवं जो आत्मा का अस्तित्व तथा परलोक आदि नहीं मानते हैं वे नास्तिक कहलाते हैं । इस व्याख्या से चार्वाक भूतचतुष्टयवादी होने से आत्मा का अस्तित्व नहीं मानते हैं अतः नास्तिक हैं तथा तत्त्वोपप्लववादी तो आत्मा, परमात्मा, स्वयं की आत्मा एवं जड़ पदार्थ आदि किसी का भी अस्तित्व नहीं मानते हैं अतः ये भी नास्तिक हैं इन दोनों के यहाँ सर्वज्ञ मानने का प्रश्न ही नहीं उठता है किन्तु वैदिक संप्रदाय में एक मीमांसक संप्रदाय वाले हैं जो किसी भी पुरुष को अतीन्द्रिय सर्वज्ञ मानने को तैयार नहीं हैं । ये तीनों सर्वथा ही सर्वज्ञ के अभाव को करने वाले हैं और बौद्ध सांख्य एवं वैशेषिक ये लोग सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तो मानते हैं किन्तु इनकी मान्यतायें सुघटित नहीं हैं, इनके द्वारा मान्य बुद्ध भगवान् महेश्वर आदि सच्चे सर्वज्ञ नहीं हो सकते हैं । इसलिए इन सभी के सिद्धांतधर्मतीर्थ का विनाश करने वाले होने से ये सभी लोग तीर्थच्छेद संप्रदाय वाले कहे गये हैं । ब्रह्माद्वैतवादी आदि सभी अद्वैतवादी एक अद्वैत रूप ही जगत् मानते हैं कोई ब्रह्मरूप, कोई शब्दरूप एवं कोई ज्ञानरूप इत्यादि । इसलिये ये सभी अद्वैतवादी एक प्रमाणवादी कहलाते हैं इसी प्रकार चार्वाक भी एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानता है क्योंकि उसके यहाँ पांच इन्द्रियों के ज्ञान के सिवाय कोई बात प्रमाणिक है ही नहीं अतः यह चार्वाक भी एक प्रमाणवादी है ।

बौद्ध, सांख्य, मीमांसक आदि दो, तीन, चार आदि प्रमाण मानते हैं इसलिए ये सभी अनेक प्रमाणवादी हैं । यहाँ पर तत्त्वोपप्लववादी को अनेक प्रमाणवादी कहने का मतलब यह है कि वह एक भी प्रमाण नहीं मानता है इसलिए व्याकरण के नञ् समास के अनुसार ही यह व्याख्या है जैसे “न उदरं यस्या असौ अनुदरा कन्या” जिसके उदर नहीं है वह अनुदरा है मतलब जिसका पेट छोटा है यहाँ पर नञ् का अर्थ किञ्चित् रूप है और ऊपर अनेक प्रमाणवादी में नञ् का अर्थ सर्वथा निषेध रूप है । अतः “अनेक” शब्द का बहुत वाची अर्थ न “एक भी नहीं” ऐसा अर्थ हो जाता है । यह लक्षण मात्र तत्त्वोपप्लववादी के लिये ही घटित करना है ।

1 तथापि तत्त्वोपप्लववादिनामनेकप्रमाणत्वं कथमित्यत आह नैकेति । प्रसज्यप्रतिषेधोत्र । 2 समूहम् । 3 अभ्यु-
पगतं । सर्वं विद्यते सर्वसमीचीनमस्तीति भावः । (व्या० प्र०) 4 अभ्युपगतम् । स्वीकृतमित्यर्थः । 5 सत्यता
संवादकता ।

[सर्वेषामद्वैतवादिनां निराकरणं]

तत्र संवेदनाद्वैतानुसारिणः^१ स्वपक्षसाधनस्य परपक्षदूषणस्य^२ वा संविदद्वैतविरुद्ध-
स्याभिधानं^३,^४ तथा^५ द्वैतप्रसिद्धेः । संवृत्या^६ तदुपगमे न परमार्थतः संविदद्वैतसिद्धिः,
^७अतिप्रसङ्गात् । एतेन चित्राद्वैतपरब्रह्माद्यवलम्बिनां परस्परविरुद्धाभिधानं प्रतिवर्णितम् ।

एक वैयक्तिक मतवाले हैं जो कि सभी के भगवान् को सभी के गुरु और आगम को मानते हैं तथा सभी के मान्य पदार्थ भी स्वीकार कर लेते हैं और सभी की विनय भक्ति करते हैं किन्तु ये भी तीर्थ का विनाश करने वाले हैं क्योंकि प्रायः सभी के मत परस्पर में एक दूसरे के विपरीत ही हैं अतः सभी को तो सर्वज्ञ माना नहीं जा सकता है ।

[अद्वैतवादियों का खण्डन]

संवेदनातद्द्वैती के यहाँ स्वपक्ष साधन अथवा परपक्षदूषण वचन संवेदनाद्वैत से विरुद्ध ही है क्योंकि उस प्रकार मानने पर तो द्वैत का ही प्रसंग आ जाता है और संवृत्ति से उसे स्वीकार करने पर परमार्थ से संवेदनाद्वैत सिद्ध नहीं होगा अन्यथा अतिप्रसंग आ जावेगा । अर्थात् स्वपक्ष साधन अथवा परपक्ष दूषण के होने पर द्वैत का प्रसंग आता है । इस दोष को दूर करते हुये यदि आप बौद्ध कल्पना से द्वैत को स्वीकार करें तब तो संवेदनाद्वैत की सिद्धि भी कल्पना से ही होगी न कि निश्चय से ।

इसी कथन से चित्राद्वैतवादी, ब्रह्माद्वैतवादी के यहाँ भी परस्पर विरुद्ध कथन पाया जाता है उसका भी निराकरण कर दिया है ।

विशेषार्थ—जो एक रूप ही सारे विश्व को मान लेते हैं वे एक प्रमाणवादी कहलाते हैं । ये सभी अद्वैतवादी हैं, इनमें पाँच भेद हैं—विज्ञानाद्वैतवाद, चित्राद्वैतवाद, शून्याद्वैतवाद, ब्रह्माद्वैतवाद और शब्दाद्वैतवाद । यहाँ संक्षेप से इनका वर्णन करते हैं यथा—

[विज्ञानाद्वैतवाद का खण्डन]

विज्ञानाद्वैतवादी का कहना है कि अविभागी एक बुद्धि मात्र को छोड़कर जगत् में और कोई पदार्थ है ही नहीं, इसलिये एक विज्ञानमात्र तत्त्व ही मानना चाहिये । ऐसे एक विज्ञानमात्र तत्त्व को ग्रहण करने वाला ज्ञान ही प्रमाण है । उसका कहना है कि हम अर्थ का अभाव होने से ज्ञान मात्र तत्त्व मानें ऐसी बात नहीं है, किन्तु अर्थ और ज्ञान एकत्र उपलब्ध होते हैं अतः इनमें अभेद माना है । “जो प्रतिभासित होता है वह ज्ञान है क्योंकि प्रतीति में आ रहा है जैसे सुखादि और नीलादि प्रतीत हो रहे हैं अतः वे भी ज्ञान ही हैं” इस अनुमान के द्वारा समस्त पदार्थ एक ज्ञानरूप सिद्ध हो जाते हैं ।

1 ता । (व्या० प्र०) 2 वा स्थाने च इति पाठांतरं व्यावरपुस्तके । (व्या० प्र०) 3 विद्यते । एकानेकप्रमाणवादिनां स्वप्रमाव्यावृत्तेरिति संबन्धः । (व्या० प्र०) 4 तथा सति । 5 प्रमाणप्रमेयभेदेन । (व्या० प्र०) 6 स्वपक्षसाधने परपक्षदूषणे वा सति द्वैतप्रसङ्गं निराकुर्वन् यदि कल्पनया द्वैतमङ्गीकुर्यात्तदा संविदद्वैतसिद्धिरपि कल्पनयैव सिद्धचेन्न निश्चयेनेत्यर्थः । 7 कल्पितात्कस्थचित् सिद्धा वितरस्यापि तत्त्वस्य कल्पितात्सिद्धिप्रसंगः (व्या० प्र०)

आप द्वैतवादी—जैन आदि लोग “अहं प्रत्यय” से आत्मा को सिद्ध करते हैं, किन्तु वह अहं प्रत्यय क्या है ? गृहीत है या अगृहीत, निर्व्यापार है या व्यापार सहित, निराकार है या साकार ? इत्यादि रूप से अनेक प्रश्न उत्पन्न होते हैं ।

यदि आप जैन कहें कि “अहं प्रत्यय” गृहीत है तो भी प्रश्न उठेगा कि स्वगृहीत है या पर से ? इत्यादि प्रश्नमालाओं का विराम नहीं हो सकेगा ।

विज्ञानाद्वैतवादी के इस सिद्धान्त को सुनकर जैनाचार्य उत्तर देते हैं कि भाई ! आप ज्ञानमात्र ही तत्त्व मानते हो तो केवल वचन मात्र से ही मानते हो या प्रमाण से ? यदि वचन मात्र से कहो तो सभी अपने-अपने वचनों से अपने-अपने तत्त्वों की मान्यता को सच्ची कह रहे हैं, पुनः सारा विश्व एक विज्ञान रूप ही कहाँ रहा ? यदि कहो कि प्रमाण से हम एक विज्ञान तत्त्व को सिद्ध करते हैं तब तो प्रत्यक्ष से या अनुमान से ? प्रत्यक्ष प्रमाण से तो आप सम्पूर्ण पदार्थों का अभाव सिद्ध नहीं कर सकते हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष तो बाह्य पदार्थों के अस्तित्व को ही सिद्ध कर रहा है न कि बाह्य पदार्थों के अभाव को । अनुमान से भी आप अंतरंग, बहिरंग पदार्थों (चेतनाचेतन) को समाप्त नहीं कर सकते हैं क्योंकि जो बात प्रत्यक्ष से बाधित है । यदि अनुमान उसमें प्रवृत्ति करेगा तो बाधित पक्षवाला अनुमानाभास हो जावेगा ।

आपने जो कहा कि पदार्थ और ज्ञान एक साथ उपलब्ध हो रहे हैं अतः एक है यह मान्यता भी गलत है क्योंकि जो पदार्थ एक साथ हों वे एक ही हों यह नियम बन नहीं सकता है । रूप और प्रकाश एक साथ हैं किन्तु एक नहीं हैं । इसके अतिरिक्त ! बाह्य पदार्थ न होते हुये भी अंतरंग में सुखादि का अस्तित्व पाया जाता है । सामने महल भोजन आदि समान होते हुये भी उनका ज्ञान पाया जाता है । तथा सर्वज्ञ का ज्ञान और ज्ञेय एक साथ होने से क्या एकमेक हो जावेंगे ? अर्थात् नहीं । आपने जो “अहं प्रत्यय” का खंडन किया है वह भी गलत है “मैं ज्ञानमात्र तत्त्व को जानता हूँ” इस आपकी मान्यता में तो “अहं—मैं” शब्द आ ही गया है फिर आपने जो प्रश्न उठाये हैं वे भी कुछ विशेष महत्त्व नहीं रखते हैं । देखिये ! आपने जो प्रथमतः प्रश्न किया है कि अहं प्रत्यय गृहीत है या अगृहीत ? सो अहं प्रत्यय स्वयं ही सबको गृहीत है “मैं जानता हूँ, मैं जाता हूँ, मैं खाता हूँ, मैं पढ़ता हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ” इत्यादि से सभी को मैं शब्द का अनुभव स्वयं ही आ रहा है एवं अपने को और पर को जानने वाला होने से यह “अहं प्रत्यय” व्यापार सहित है इत्यादि ।

दूसरी बात यह है कि एक ज्ञानमात्र ही तत्त्व को मानने पर तो सबसे बड़ी आपत्ति यह आती है कि वही ज्ञान ग्राह्य और ग्राहक रूप से दो रूप सिद्ध हो जाता है पुनः अद्वैतवाद सिद्ध न होकर द्वैत सिद्ध हो जाता है । तथा एक यह भी बाधा आती है कि ज्ञान ही जब ग्राह्य और ग्राहक बन गया तब बाह्य पदार्थों में उठाना, रखना, फोड़ना, पकड़ना आदि जो कार्य देखा जाता है वह कैसे संभव होगा ? ज्ञानमात्र में लड्डू के झलकने से किसी को आज तक उसका स्वाद नहीं आया है । जब सभी पदार्थों

के आकार ज्ञानमात्र में ही हैं तब तो पदार्थ के अभाव में अनेकों क्रियायें संभव नहीं हो सकेंगी ।

इस पर बौद्ध ने कहा है कि भाई ! जितने भी कार्य दिख रहे हैं वे सब कल्पना मात्र हैं केवल संवृत्ति से ही दिख रहे हैं । तब तो भाई ! आप का विज्ञान तत्त्व भी कल्पना मात्र ही रहा । यदि एक ज्ञान तत्त्व को वास्तविक कहोगे और सभी को कल्पना मात्र कहोगे तब भाई ! कहने वाले आप और सुनने वाले हम सभी कल्पित ही रहेंगे तो आपका तत्त्व प्रतिपादन एवं उसकी व्यवस्था भी कल्पित ही सिद्ध होगी । इसलिये जगत् को चेतन अचेतन से अंतरंग, बहिरंग तत्त्व रूप मानना ही पड़ेगा और विज्ञानमात्र तत्त्व को कल्पित सिद्ध करके वास्तविक द्वैत की सिद्धि ही निर्बाध सिद्ध हो जावेगी ।

“चित्राद्वैतवाद”

बौद्धों के यहाँ विज्ञानाद्वैतवाद के समान ही चित्राद्वैतवाद भी है । इन दोनों में भेद इतना ही है कि विज्ञानाद्वैतवादी ज्ञान में होने वाले नीलादि, घटपटादि आकारों को भ्रान्त-कल्पित-झूठ मानते हैं और चित्राद्वैतवादी उन आकारों को सत्य मानता है, किंतु दोनों के यहाँ अद्वैत का साम्राज्य है ।

चित्राद्वैतवादी का कहना है कि अनेक नीलादि आकार को धारण करने वाली एक बुद्धि ही एकमात्र तत्त्व है । संसार में और कुछ भी तत्त्व नहीं है ।

इस मान्यता पर जैनाचार्यों का कहना है कि भाई ! चित्र ज्ञान भी कहे और एक ज्ञान भी कहे यह बात तो परस्पर विरुद्ध ही है । जब चित्रज्ञान है तब उसमें अनेकों आकार पाये जाते हैं । पुनः आप उसे अद्वैत नहीं कह सकते हैं । यदि चित्रज्ञान के अनेक आकारों को संवृत्तिरूप कहे तब तो आपका अद्वैत भी संवृत्तिरूप ही सिद्ध होगा । इसलिये क्रम तथा अक्रम से नीलादि अनेक पदार्थ के आकार को ग्रहण करने वाले ज्ञान से युक्त एक आत्मा का ही अस्तित्व मान लो, साथ ही साथ बाह्य पदार्थों को भी वास्तविक मानकर द्वैत सिद्धांत में आ जाओ, क्योंकि चित्राद्वैत की सिद्धि होना कथमपि शक्य नहीं है ।

“शून्याद्वैतवाद”

बौद्ध के चार भेदों में से एक माध्यमिक है, यह सकल जगत् को शून्यरूप ही मानता है इसका कहना है कि जगत् में चेतनाचेतन आदि सभी पदार्थ काल्पनिक हैं, इन्द्रजाल के समान हैं अतएव यह सारा जगत् शून्य रूप ही है शून्यवादी एक ज्ञान में अनेक आकार भी नहीं मानता है ।

इस पर जैनाचार्य ने समझाया है कि भाई ! यदि एक ज्ञान में अनेक आकार नहीं मानोगे तो नील कमल के एक अंश का ग्राहक ज्ञान उसी कमल के दूसरे अंश को ग्रहण नहीं कर सकेगा अन्यथा एक ज्ञान में अंश की अपेक्षा अनेक आकार आ जावेंगे और यदि एक ज्ञान एक समय में कमल के एक ही अंश को ग्रहण करेगा तो अन्य सभी अंशों को ग्रहण न कर सकने से उस कमल का अस्तित्व नहीं सिद्ध होगा और न कमल दीखेगा एवं प्रमाण जिसे ग्रहण नहीं करेगा वह प्रमेय रूप भी कैसे होगा, और जब प्रमेय का अस्तित्व नहीं मानोगे तो ये ग्राम, नगर, बगीचे, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जो दिख रहे हैं उनका लोप आप कैसे करेंगे ? संसार में प्रतीति के बल से सभी वस्तुओं का अस्तित्व प्रायः

सभी वादी प्रतिवादी मान लेते हैं आप दिखते हुये सारे विश्व को शून्य रूप कहते हुये तो पहले आप अपने आपको समाप्त कर लेंगे एवं शून्यवाद का अस्तित्व भी सिद्ध नहीं हो सकेगा। यदि शून्यवाद का अस्तित्व मानोगे तब तो सर्वथा इसका खंडन तो अभावकांत का निरसन करते समय आचार्य स्वयं ही बहुत ही सुन्दर ढंग से करेंगे।

“ब्रह्माद्वैतवाद”

ब्रह्माद्वैतवादी का कहना है कि यह सम्पूर्ण विश्व एक परमब्रह्मस्वरूप ही है। जगत् में जो कुछ भी प्रतिभासित हो रहा है वह सब परमब्रह्म की पर्याय है। सभी वस्तुएँ सत् रूप हैं बस ! इस सत् का जो प्रतिभास है वही परमब्रह्म है। इस ब्रह्मवाद का खंडन आगे चलकर अद्वैतवाद के खंडन में स्वयं आचार्य ने बहुत ही विशेष रूप से किया है यहाँ पर केवल संक्षेप से दिग्दर्शन कराया जा रहा है।

ब्रह्मवादी का कहना है कि “ये सभी चेतन अचेतन पदार्थ प्रतिभासस्वरूप परमब्रह्म में ही अंतः प्रविष्ट हैं क्योंकि प्रतिभासित हो रहे हैं जैसे कि परमब्रह्म का स्वरूप उसी के अंतः प्रविष्ट है। सारे जगत् के पदार्थ प्रतिभासित हो रहे हैं अतः वे परमब्रह्म के ही अंतः प्रविष्ट हैं।”

इस पर जेनाचार्यों का कथन है कि ये जो चेतन अचेतनादि अनेक पदार्थ दिखाई दे रहे हैं वे सर्वथा असत्य—काल्पनिक नहीं हैं क्योंकि जैसे स्वप्न के राज्य से सुख नहीं मिलता है, स्वप्न में भोजन करने से पेट नहीं भरता है वैसे बात तो साक्षात् राज्य का उपभोग करने में या भोजन करने में नहीं है प्रत्युत वास्तविकता दृष्टिगोचर होती है अतएव सर्वथा इन सभी व्यवहारों को अविद्या का विलास कहना उचित नहीं है।

दूसरी बात यह भी है कि आप अपने ब्रह्मवाद को सिद्ध करने के लिये प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि तो मानोगे ही फिर भला सर्वथा अद्वैत कहाँ रहा ? यदि इन प्रमाणों को भी काल्पनिक कहोगे तो काल्पनिक उपायों से परमब्रह्म की सिद्धि भी काल्पनिक होगी न कि वास्तविक, क्योंकि झूठ बोलने वाला व्यक्ति किसी बात को झूठी ही कहेगा न कि सत्य, यदि सत्य भी कहेगा तो वह असत्य-भाषी नहीं कहलायेगा। इसलिये अविद्या से आपका परमब्रह्म भी अविद्या का ही विलास रह जाता है।

“शब्दाद्वैतवाद”

शब्दाद्वैतवादी का कहना है कि यह सारा जगत् शब्दब्रह्म स्वरूप है, यह शब्दब्रह्म तो अनादि-निधन है और अक्षरादि उसके विवर्त हैं। जितने चेतनाचेतन पदार्थ हैं वे सभी इसी शब्दब्रह्म के भेद प्रभेद हैं। ज्ञान शब्द से अनुविद्ध होकर ही पदार्थ का निश्चय कराता है। मतलब जगत् में जितना भी ज्ञान है वह शब्द के द्वारा ही होता है। उनके यहाँ शब्द के चार भेद माने हैं। वैखरीवाक्, मध्यमा-वाक्, पश्यंतीवाक् और सूक्ष्मावाक्। कहा भी है—

“वैखरी शब्दनिष्पत्तिः मध्यमा श्रुतिगोचरी ।
द्योतितायां च पश्यंती सूक्ष्मावागनपायिनी ॥”

अर्थ—वक्ता के कंठ, तालु आदि स्थानों से प्राणवायु के सहारे जो ककारादि वर्ण या स्वर उत्पन्न होते हैं उसे वैखरीवाक् कहते हैं ।

अंतरंग में जो जल्परूप वचन हैं वे मध्यमावाक् हैं । जो ककारादि के क्रम से रहित हैं तथा ज्ञानरूप हैं जिसमें वाच्य, वाचक का विभाग नहीं होता है वे पश्यंतीवाक् हैं ।

परम ज्योतीस्वरूप, अत्यंत दुर्लक्ष्य, काल आदि भेद से रहित ऐसी सूक्ष्मावाक् है । इसी सूक्ष्मावाक् से सारा विश्व व्याप्त है । यदि ज्ञान शब्द ब्रह्म की वचनरूपता का उलंघन करे तब तो कुछ भी ज्ञान का प्रकाश ही नहीं रहेगा ।

इस शब्दाद्वैतवाद का प्रमेयकमलमार्तण्ड में श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने बड़े ही सुन्दर ढंग से खंडन कर दिया है । आचार्य ने कहा है कि यह सारा जगत् शब्दमय है ऐसा अनुभव कहाँ होता है ? सारे ज्ञान शब्द से अनुविद्ध होकर ही होते हैं यह बात भी नहीं दिख रही है । नेत्रादि इंद्रियों से जो ज्ञान होता है उसमें शब्द का संबंध है ही नहीं । एक कर्ण ज्ञान को छोड़कर किसी भी ज्ञान में शब्द का संबंध नहीं है फिर भी यदि जबरदस्ती ही मानो तब तो हम आपसे प्रश्न करते हैं कि ज्ञान से शब्द का संबंध आपको कैसे हो रहा है, प्रत्यक्ष प्रमाण से या अनुमान प्रमाण से ? प्रत्यक्ष से कहो तो इन्द्रिय प्रत्यक्ष से नेत्र के द्वारा जो भी नीलादि पदार्थों का प्रतिभास है वह शब्द से रहित है । स्वसंवेदन प्रत्यक्ष भी शब्द को विषय नहीं करता है ।

उपर्युक्त यह सब दोषारोपण देखकर शब्दाद्वैतवादी कहता है कि शब्द का संबंध पदार्थ से है अर्थात् सभी चेतनाचेतन पदार्थ शब्द से अनुविद्ध हैं । इस पर भी यह प्रश्न होता है कि पदार्थ का स्थान और शब्द का स्थान एक है क्या ? यदि एक कहो तो बहुत बड़ी आपत्ति आ जावेगी । अग्नि, जल आदि पदार्थ और शब्द एकमेक होने से अग्नि शब्द के सुनते कान जल जावेंगे एवं जल शब्द से कान में पानी भर जावेगा तब तो कान से कुछ सुनाई भी नहीं देगा, किन्तु ऐसा तो होता नहीं है अतः शब्द और पदार्थ का तादात्म्य संबंध नहीं है क्योंकि पदार्थ और शब्द भिन्न २ इंद्रियों से ग्रहण किये जाते हैं शब्द केवल कर्णेन्द्रिय गम्य है ।

दूसरी बात यह है कि यदि आप जगत् को शब्द रूप मानते हो तब तो यह भी प्रश्न होता है कि यह शब्दब्रह्म जगत् रूप परिणत होता है तब अपने स्वभाव को छोड़कर होता है या बिना छोड़े ? यदि छोड़ कर कहो तो शब्दब्रह्म अनादि निघन कहाँ रहा ? यदि शब्द अपने स्वभाव को छोड़े बिना भी जगत् रूप होता है तब तो बहिरे को, एकेन्द्रिय आदि को, और तो क्या पत्थर को भी सुनाई देना चाहिये क्योंकि सभी चेतन अचेतन पदार्थ शब्द से तन्मय ही तो हैं, किन्तु ऐसा दिखता तो है नहीं । पुनरपि एक प्रश्न उठता है कि आपके शब्द ब्रह्म से यह जगत् रूप पर्याय भिन्न है या अभिन्न ? प्रथम पक्ष लेवो तो अद्वैतवाद समाप्त हो जाता है । यदि द्वितीय पक्ष लेवो तो ये नानाभेद क्यों दिखाई देते हैं ?

[प्रत्यक्षकप्रमाणवादिचार्वाकस्य निराकरणं क्रियते जैनैः]

प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणमिति वदतां^१ २प्रमाणे^३तरसामान्यव्यवस्थापनस्य^४ ५संवादेतरस्व-
भावलिङ्गजानुमाननिबन्धनस्य^६ परचित्तावबोधस्य च व्यापारादिकार्यलिङ्गोत्थानुमान^७निमित्त-
स्य परलोकादिप्रतिषेधस्य चानुपलब्धिलिङ्गोद्भूतानुमानहेतुकस्य प्रत्यक्षकप्रमाणविरुद्ध-

इस प्रकार से जैनाचार्यों के द्वारा दिये गये इन सभी दोषों से घबराकर उस शब्दाद्वैतवादी ने कहा कि भाई ! हमारे यहाँ ये कुछ भी दोष नहीं आते हैं क्योंकि हमारी मान्यता है कि शब्दब्रह्म से भिन्न जो नाना पदार्थ दिखाई दे रहे हैं यह केवल अविद्या का ही विलास है। हमारे यहाँ योगीजन तो शब्द ब्रह्म को नाना रूप से न देखकर एक रूप ही देखते हैं तब प्रश्न यह होता है कि वह अविद्या शब्दब्रह्म से भिन्न है या अभिन्न ? यदि भिन्न है तो द्वैत हो गया और यदि अभिन्न है तो आपका शब्दब्रह्म अविद्या रूप ही रहा।

और दूसरी आपत्ति यह आती है कि यदि आपकी मान्यता के अनुसार पदार्थ शब्दमय हैं तब तो 'गिरि' शब्द तो इतना छोटा है और 'गिरि' शब्द का वाच्य पहाड़ कितना बड़ा दिख रहा है ऐसा क्यों ? शब्दमय गिरि पदार्थ कहाँ रहा ? किसी भी पदार्थ के वाचक शब्द क्या उस वस्तु के बराबर बड़े हो सकते हैं अणु शब्द और आकाश, मेरु आदि के वाचक शब्द अपने वाच्य के बराबर हो जावें फिर क्या होगा ? तथा यदि शब्दमय पदार्थ हैं तो संकेतादि के बिना भी प्रत्येक बालक, मूर्ख आदि को उसका ज्ञान होना चाहिये, किंतु ऐसा होता नहीं है बाल्यकाल से ही बालकों को हजारों बार पदार्थों में संकेत कराया जाता है। देखो बालक ! "यह पुस्तक है, यह पेंसिल है" इत्यादि प्रत्येक वस्तु में बार-बार संकेत के सुनने से बालक उस नाम से उस पदार्थ को जानने लगता है। इन बातों से यह निश्चित हो जाता है कि आपका शब्दाद्वैतवाद प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित है, इसका दुराग्रह छोड़ देना चाहिये।

[चार्वाक का खण्डन]

प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है ऐसा कहने वाले चार्वाक के यहाँ संवाद और विसंवाद रूप स्वभाव हेतु से उत्पन्न हुये अनुमान के निमित्त से होने वाली प्रमाण और अप्रमाण की व्यवस्था और वचन व्यापारादि कार्य हेतु से उत्पन्न हुए अनुमान के निमित्त से होने वाला पर के चित्त-चैतन्य का ज्ञान तथा अनुपलब्धि हेतु से उत्पन्न हुए अनुमान हेतुक परलोकादि का निषेध है ऐसा कथन प्रत्यक्षक प्रमाण के विरुद्ध है ऐसा समझना चाहिये और इनके मानने पर तो प्रमाणांतर—अनुमान प्रमाण सिद्ध हो जाता है। अर्थात् चार्वाक प्रमाण और अप्रमाण की व्यवस्था को संवाद और विसंवाद से ही मानता है बस ! यही स्वभाव हेतु है। उसी प्रकार से दूसरों की बुद्धि का ज्ञान उसके वचन बोलने आदि कार्य हेतु से होता है तथैव परलोकादि का निषेध अनुपलब्धि हेतु से होता है अतः इन तीन हेतुओं से उत्पन्न हुये अनुमान को मान लेने से यह चार्वाक केवल एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानता है यह बात नहीं बन सकती है।

१ चार्वाकानाम् । २ अप्रमाणमनुमानादिकं । (व्या० प्र०) ३ इतरत् = असत्यम् । ४ समर्थनस्य । (व्या० प्र०) ५ इतरः = विसंवादः । ६ बसः । (व्या० प्र०) ७ बसः । (व्या० प्र०)

स्याभिधानं^१ प्रतिपत्तव्यं, ^२तथा ^३प्रमाणान्तरसिद्धेः^४ । परोपगमात्तत्स्वीकरणे ^५स्वयं प्रमाणे-
तरसामान्यादिव्यवस्थानुपपत्तेः कुतः प्रत्यक्षैकप्रमाणवादः^६, ^७अतिप्रसङ्गात् ।

यदि आप कहें कि पर की स्वीकृति से हम प्रमाणांतर को स्वीकार करके निषेध करते हैं तब तो स्वयं प्रमाण और प्रमाणाभास रूप सामान्य की व्यवस्था नहीं हो सकने से आपके यहाँ प्रत्यक्ष रूप ही एकप्रमाणवाद कैसे सिद्ध होगा ? अन्यथा अतिप्रसंग आ जावेगा । अर्थात् अनुमान के सद्भाव में भी एकप्रमाणवाद को यदि चार्वाक मानें तब तो अनेक प्रमाणवादी वैशेषिकादिकों को भी एकप्रमाण-वादिता का प्रसंग आ जावेगा ।

भावार्थ—चार्वाक केवल एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण मानता है उसके प्रति आचार्य कहते हैं कि—

प्रमाणेतरसामान्य स्थितेरन्यधियो गतेः ।

प्रमाणांतरसद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित् ॥

अर्थ—प्रमाण सामान्य और अप्रमाण सामान्य की स्थिति होने से शिष्यादि की बुद्धि के ज्ञान से और परलोकादि के प्रतिषेध से प्रमाणान्तर अर्थात् अन्य प्रमाणरूप अनुमान का सद्भाव सिद्ध होता है । तात्पर्य यह है कि अनुमान प्रमाण के माने बिना न तो प्रमाण सामान्य ही सिद्ध हो सकता है और न अप्रमाण सामान्य ही, क्योंकि किसी भी ज्ञान सामान्य को प्रमाण सिद्ध करने में उसका अविस्वादी होना आवश्यक है तथैव मिथ्याज्ञान का विस्वादा के साथ अविनाभाव संबंध है । अतः प्रमाण सामान्य और अप्रमाण सामान्य को सिद्ध करने के लिये अनुमान प्रमाण का मानना आवश्यक ही हो जाता है ।

दूसरी बात यह है कि चार्वाक “एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है” इस प्रकार जब दूसरों को समझा-वेगा तब अन्य पुरुष के वचन चातुर्य आदि के द्वारा उसकी बुद्धि रूप कार्य का अनुमान करके ही तो समझावेगा क्योंकि वचन चातुर्य आदि बुद्धि के कार्य हैं तथैव पुण्य, पाप परलोकादि का निषेध करने के लिये उस चार्वाक को अनुपलब्धि रूप हेतु का आश्रय लेना ही पड़ेगा । अर्थात् प्रमाण और अप्रमाण सामान्य की व्यवस्था संवाद और विस्वाद रूप स्वभाव हेतु से उत्पन्न हुए अनुमान से होती है तथा वचन व्यापारादि कार्य हेतु से उत्पन्न हुआ जो अनुमान है उस अनुमान से पर की बुद्धि आत्मा आदि का ज्ञान होता है पुनः उसको समझाया जाता है एवं अनुपलब्धि हेतु अनुमान से परलोक, पुण्य, पापादि का निषेध किया जाता है अतः चार्वाक के यहाँ अनुमान प्रमाण बिना माने ही जबरदस्ती आ जाता है । चार्वाक उसका निषेध नहीं कर सकते हैं और यदि करते हैं तो उनके यहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण भी सिद्ध नहीं हो सकता है ।

१ अस्तीति । (व्या० प्र०) २ तथा सति । ३ अनुमान । (व्या० प्र०) ४ “प्रमाणेतरसामान्यस्थितेरन्यधियो गतेः । प्रमाणान्तरसद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित्” इति वचनात् । ५ स्वस्य । (व्या० प्र०) ६ अन्यथा । ७ अनुमान-सद्भावेऽप्येकप्रमाणवादिता चार्वाकस्य यदि स्यात्तदानेकप्रमाणवादिनां वैशेषिकादीनामप्येकप्रमाणवादिताप्रसङ्गात् ।

[तर्केण विनानेकप्रमाणवादिनां प्रमाणव्यवस्थापि न तत्त्वव्यस्वथां कर्तुं क्षमा]

तथानेकप्रमाणवादिनां ¹कपिल²कणभक्षाक्षपाद³जैमिनिमतानुसारिणां⁴ स्वोपगतप्रमाण-संख्यानियमविरुद्धस्य सामस्त्येन साध्यसाधनसम्बन्धज्ञानस्याभिधानं⁵ बोद्धव्यं, प्रमाणा-न्तरस्योहस्य सिद्धेः । यावान्कश्चिद्धूमः स सर्वोप्यग्निजन्माऽनग्निजन्मा वा न भवतीति प्रतिपत्तौ न प्रत्यक्षस्य सामर्थ्यं, ⁶तस्य सन्निहितविषयप्रतिपत्तिफलत्वात् । नाप्यनुमानस्य⁷, अनवस्थानात्, तद्व्याप्त्येपरानुमानगम्यत्वात् । इति वैशेषिकस्योहः ⁸प्रमाणान्तरमनिच्छ-तोप्यायातम् । ⁹एतेन सौगतस्य प्रमाणान्तरमापादितम्¹⁰ । तथागमस्यापि व्याप्तिग्रहणेऽन-

[तर्क प्रमाण के न मानने से हानि]

तथा अनेक प्रमाणवादी कपिल—सांख्य, कणभक्ष—वैशेषिक, अक्षपाद—नैयायिक, जैमिनि—प्रभाकरभट्ट के मत का अनुसरण करने वालों को अपने द्वारा स्वीकृत प्रमाण की संख्या के नियम से विरुद्ध समस्त रीति से साध्य साधन के सम्बन्ध का ज्ञान रूप तर्क नाम का प्रमाण अवश्य ही स्वीकार करना चाहिये । वह भिन्न प्रमाण रूप ऊह नाम से प्रसिद्ध ही है । अर्थात् इन सभी ने दो, तीन, चार, पाँच, छह आदि रूप से प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव रूप जो प्रमाण मानें हैं उनमें तर्क प्रमाण न होने से साध्य साधन के अविनाभाव को ग्रहण करने वाला कोई भी प्रमाण नहीं है, एक तर्क ही ऐसा प्रमाण है जो व्याप्ति को विषय कर सकता है । इसीलिये आचार्य उस तर्क को पृथक् प्रमाण सिद्ध करते हैं ।

जितना कुछ भी धूम है वह सभी अग्नि से उत्पन्न हुआ है अथवा अनग्नि से उत्पन्न नहीं हुआ है इस प्रकार के ज्ञान को कराने में प्रत्यक्ष की सामर्थ्य नहीं है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष सन्निहित—वर्तमान विषय के ज्ञान का फलस्वरूप है । अनुमान भी उस व्याप्ति को जानने में समर्थ नहीं है, क्योंकि अन-वस्था आ जाती है कारण यह है कि वह व्याप्ति भी अन्य अनुमान से गम्य होगी । इस प्रकार से वैशेषिक के यहाँ तर्क नाम का प्रमाण स्वीकार न करने पर भी आ ही जाता है ।

इसी कथन से सौगत के यहाँ भी तर्क नाम का भिन्न प्रमाण आ ही जाता है ।

तथा आगम भी व्याप्ति को ग्रहण करने का अधिकारी नहीं है अतः कपिल—सांख्य को तर्क प्रमाण मानना ही पड़ेगा एवं व्याप्ति को ग्रहण करने में उपमान प्रमाण भी असमर्थ है अतः आप नैया-यिक को भी इस तर्क को मानना ही होगा । प्रभाकर के यहाँ भी अनुमान के समान अर्थापत्ति से व्याप्ति का ज्ञान न होने से तथा भट्टमतानुसारी को मान्य अभाव प्रमाण भी उसे नहीं जान सकता है

1 कपिलः = सांख्यः । 2 कणभक्षो = वैशेषिकः । 3 अक्षपादो = नैयायिकः । 4 जैमिनिः = प्रभाकरभट्टः ।

5 ऊहस्यस्य । 6 प्रत्यक्षस्य । 7 ऊहपरिज्ञाने सामर्थ्यम् । 8 अनिष्टम् । 9 वैशेषिकस्य प्रमाणान्तरप्रतिपादनेन ।

10 सौगतेनापि प्रत्यक्षानुमानाख्यप्रमाणद्वयस्याभ्युपगमात् ।

धिकारात्कापिलस्योहः प्रमाणं नैयायिकस्य च 'तत्रोपमानस्याप्यसमर्थत्वात्' २ प्राभाकरस्य चार्थापत्तेरप्यनुमानवत्त्राव्यापाराद्भट्टमतानुसारिणश्चाभावस्यापि तत्रानधिकृतत्वात्' ३ । तथैकमपि प्रमाणमनभ्युपगच्छतां तत्त्वोपप्लववलम्बिनामनेकप्रमाणवादिनां तत्त्वोपप्लवोपगमस्य प्रमाणसिद्धयविनाभाविनः सकलतत्त्वोपप्लवविरुद्ध^४स्याभिधानमवगन्तव्यम् ।

[परस्परविरोधदोषस्य स्पष्टीकरणं]

वैनयिकानां तु सर्वमवगतमिच्छतां परस्परविरुद्धाभिधानं विरुद्धसंवेदनं प्रसिद्धमेव, सुगतमतोपगमे 'कपिलादिमतस्य विरोधात्' । ततः सिद्धो हेतुः परस्परविरोधत इति

अतएव इन प्रभाकर और भाट्ट को भी तर्क प्रमाण मानता ही पड़ेगा अर्थात् चार्वाक एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानता है, बौद्ध और वैशेषिक प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण मानते हैं । सांख्य प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इस प्रकार तीन प्रमाण मानते हैं । नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान ये चार प्रमाण मानते हैं । इन्हीं चार प्रमाणों में अर्थापत्ति मिलाकर प्रभाकर पांच प्रमाण मानता है एवं मीमांसक और जैमिनीय इन्हीं पांच प्रमाणों में एक अभाव प्रमाण मिलाकर छह प्रमाण मानते हैं ।

तथा एक भी प्रमाण को न स्वीकार करते हुए तत्त्वोपप्लववादी अनेक प्रमाणवादी हो जाते हैं "न एकः अनेकः" से जहाँ एक नहीं वहाँ अनेक सिद्ध हो जाता है । उनकी तत्त्वोपप्लव-शून्यवाद की स्वीकृति प्रमाणसिद्धि से अविनाभावी है वह संपूर्णतत्त्वोपप्लव से विरुद्ध-तत्त्व के सद्भाव का ही कथन कर देती है ऐसा समझना चाहिये । अर्थात् तत्त्वोपप्लवग्राही प्रमाण सत्यभूत सिद्ध हो जाता है एवं तत्त्वोपप्लव रूप प्रमेय भी सत्यरूप सिद्ध हो जाता है । अतः सम्पूर्ण तत्त्व के अभाव का कथन ही विरुद्ध हो जाता है ।

[परस्पर विरोध दोष का स्पष्टीकरण]

सभी को अवगत रूप-मान्य रूप स्वीकार करते हुये वैनयिकों का परस्पर विरुद्ध कथन करने वाला विरुद्ध ज्ञान प्रसिद्ध ही है क्योंकि सुगत मत की स्वीकृति में सांख्य के द्वारा स्वीकृत मत विरुद्ध हो जाता है । इसलिये "परस्पर विरोधतः" यह हेतु सिद्ध ही है और यह सभी तीर्थकृत संप्रदायों में आप्त के अभाव को सिद्ध कर देता है ।

१ ऊहग्रहणे । २ प्रत्यक्षमनुमानं च शाब्दं चोपमया सह । अर्थापत्तिरभावश्च षट् प्रमाणानि जैमिनेः ॥ जैमिनेः षट् प्रमाणानि चत्वारि न्यायवादिनः साङ्ख्यस्य त्रीणि वाच्यानि द्वे वैशेषिकबौद्धयोः ॥ श्लोकानुक्तमपि प्रभाकरस्य पञ्च प्रमाणानीति ज्ञेयम् । ३ अनधिकरणात् । तत्रोपयोगिश्लोकद्वयमिदं । प्रत्यक्षं चानुमानञ्च शाब्दं चोपमया सह । अर्थापत्तिरभावश्च षट् प्रमाणानि जैमिनेः ॥१॥ जैमिने षट्प्रमाणानि चत्वारि न्यायवेदिनः । सांख्यस्य त्रीणि वाच्यानि द्वे वैशेषिकबौद्धयोः ॥२॥ प्राभाकरस्य पञ्चप्रमाणानीति श्लोकानुक्तमपि ज्ञातव्यं । (व्या० प्र०) ४ यतस्तत्त्वोपप्लवग्राहि प्रमाणं सत्यभूतमायातं तत्त्वोपप्लवरूपः प्रमेयश्च ततः सकलतत्त्वोपप्लवकथनस्य विरोधः । ५ कुतः ? ६ कपिलादिगतोगमस्य इति पा० । (व्या० प्र०)

विशेषार्थ—ब्रह्माद्वैतवादी और चार्वाक ये दोनों परस्पर सर्वथा विपरीत बातों को लिये हुए हैं। ब्रह्माद्वैतवादी तो चेतन अचेतन सभी पदार्थों को ब्रह्म की ही पर्याय मानता है और चार्वाक सम्पूर्ण चेतन अचेतन पदार्थों को भूतचतुष्टय रूप जड़ के ही गुण धर्म मानता है। अद्वैतवादी कहता है कि पदार्थों में जन्म, मरण, उत्पाद, व्यय आदि जो भी परिणमन पाया जाता है वह सब अविद्या का विलास है। सभी पर्यायों अंत में ब्रह्म में ही विलीन हो जाती हैं किन्तु चार्वाक सर्वथा इससे विपरीत जीव के प्रति जन्म मरण के अस्तित्व को न मानकर जड़ से ही चेतन की उत्पत्ति मानता है और मरण के अनन्तर चैतन्य का सर्वथा अभाव मानकर भूतचतुष्टय में ही चैतन्य की परिसमाप्ति मान लेता है। ब्रह्माद्वैतवादी चेतन स्वरूप एक परमब्रह्म से ही चेतन की एवं विजातीय स्वरूप अचेतन की भी उत्पत्ति मान रहा है तथैव चार्वाक अचेतन रूप पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन भूतचतुष्टयों से अचेतन पदार्थों की उत्पत्ति मानकर पुनरपि इन्हीं भूतचतुष्टयों से चेतन स्वरूप विजातीय द्रव्य की उत्पत्ति मान रहा है।

इसी प्रकार से सांख्य और बौद्ध सिद्धांत भी सर्वथा परस्पर विरुद्ध हैं। सांख्य सभी चेतन अचेतन पदार्थों को सर्वथा कूटस्थ नित्य अपरिणामी मानता है, बौद्ध सभी चेतन अचेतन पदार्थों को प्रतिक्षणध्वंसी, सर्वथा क्षणिक मान लेता है, सांख्य पर्यायों को भी नित्य कह रहा है और बौद्ध द्रव्य को भी उत्पाद, व्यय रूप कह रहा है।

सांख्य सत्कार्यवादी है उसका कहना है कि कारण में कार्य सर्वथा विद्यमान है केवल तिरोभूत है, निमित्त कारणों से उस कार्य का प्रादुर्भाव हो जाता है। यथा—मिट्टी में घट विद्यमान है कुंभकार, दंड, चाक आदि कारणों से प्रकट हो जाता है न कि उत्पन्न, किन्तु बौद्ध सर्वथा इससे विपरीत असत्कार्यवादी है। वह कहता है कि कारण तो उसी क्षण जड़ मूल से विनष्ट हो जाता है पुनः कार्य उत्पन्न होता है। जैसे—मृत्पिंड का सर्वथा विनाश होकर ही घट का उत्पाद हुआ है, विनष्ट हुये कारण से कार्य को उत्पन्न हुआ मानने वाला यह बौद्ध तो अपनी बुद्धिमत्ता की ही डींग मार रहा है। सांख्य आविर्भाव और तिरोभाव मानकर के किसी भी वस्तु में उत्पाद-व्यय नहीं मानता है तो बौद्ध द्रव्य में भी स्थिर—ध्रौव्यावस्था को न मान कर के सर्वथा द्रव्य का प्रतिक्षण जड़ मूल से नाश मान रहा है और वासना—संस्कार से सभी वस्तुओं की व्यवस्था स्मृति आदि व्यवहार मानता है।

निरीश्वरवादी सांख्य प्रकृति रूप अचेतन के द्वारा ही सारे संसार का उत्पाद मानता है तो वैशेषिक एक सदाशिव स्वरूप महेश्वर के द्वारा इस सृष्टि का उत्पाद मानते हैं मतलब सांख्य ने जड़ को सृष्टि का कर्ता माना है तो वैशेषिक महेश्वर चेतन भगवान् को सृष्टि का कर्ता मान रहे हैं। इन सभी सिद्धांतों में परस्पर में विरोध वैसे ही पाया जाता है जैसे कि हिंदू—मुस्लिम में देखा जाता है। यदि हिंदू संप्रदाय वाले शिर पर शिखा रूप चोटी रखना धर्म कहते हैं तो मुसलमान चोटी कटाकर धर्म मानते हैं। हिंदू दिन में भोजन करना व्रत समझते हैं तो मुसलमान रात्रि में रोजा खोलते हैं। हिंदू सूर्य को अर्घ्य चढ़ाते हैं तो मुसलमान चन्द्र को मानकर व्रत करते हैं, इत्यादि।

तीर्थकृत्समयानां सर्वेषामाप्तत्वाऽभावं साधयति । २यदि पुनः संविदद्वैतादीनां^३ ४स्वतः प्रमितिसिद्धेः ५प्रमाणान्तरतः स्वपरपक्षसाधनदूषणवचनाभावान्न परस्परविरुद्धाभिधानं स्व-संवेदनैकप्रमाणवादिनां, ६नापीन्द्रियजप्रत्यक्षैकप्रमाणवादिनां, प्रत्यक्षप्रामाण्यस्य प्रत्यक्षत एव सिद्धेः, अनुमानादिप्रामाण्याभावस्यापि तत एव प्रसिद्धेः प्रमाणान्तराप्रसङ्गात्, तथा-नेकप्रमाणवादिनामपि स्वोपगतप्रमाणसंख्यानियमस्य स्वत एव सिद्धेः प्रमाणान्तर-स्योहस्याप्रसङ्गान्न विरुद्धाभिधानं संभवतीति मतं ७तदापि न तेषामाप्ततास्ति, स्वप्रमा-ध्यावृत्ते^८रन्यथा^९नैकान्तिकत्वात्^{१०} ।*

यहाँ पर कहने का मतलब यह है कि यदि वैनयिक संप्रदाय वाले सभी मतों को प्रमाण मानेगे तो क्या होगा ? क्योंकि सभी में परस्पर में विशेष रूप से विरोध दिख रहा है । इसलिये वैनयिक भी तीर्थ विनाश संप्रदाय वाले ही सिद्ध हो जाते हैं ।

संवेदनाद्वैतवादी आदि चारों अद्वैतवादी कहते हैं कि संवेदनाद्वैत आदि का ज्ञान स्वतः सिद्ध है, प्रमाणांतर से स्वपक्ष साधन, परपक्ष दूषण रूप वचनों का अभाव है इसलिये स्वसंवेदन रूप एक प्रमाण मानने वालों का कथन परस्पर विरुद्ध नहीं है । इन्द्रिय से उत्पन्न होने वाला ही एक प्रत्यक्ष प्रमाण है ऐसा मानने वालों का भी कथन परस्पर विरुद्ध नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष की प्रामाण्यता तो प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है । अनुमानादि की प्रामाण्यता का अभाव भी प्रत्यक्ष से ही प्रसिद्ध है क्योंकि प्रमाणांतर का प्रसंग नहीं है ।

तथैव अनेक प्रमाणवादी लोगों की भी स्व स्व स्वीकृतप्रमाण की संख्या का नियम स्वतः ही सिद्ध है । ऊह नाम के भिन्न प्रमाण का प्रसंग नहीं आता है अतः परस्पर विरुद्ध कथन संभव नहीं है ऐसा जिन लोगों का मत है उन लोगों में भी आप्तता नहीं है क्योंकि उनके यहां स्वप्रमा की (अपने ज्ञान की) व्यावृत्ति ही जाती है । “अन्यथा अनैकान्तिक दोष आ जावेगा”* ।

1 नसः । (व्या० प्र०) 2 संवेदनाद्वैतादयो वदन्ति स्याद्वादिनं प्रति ।—हे स्याद्वादिन् यत्स्वयास्माकं परस्परविरुद्धाभिधानं प्रतिपादितं स्वस्वोपगतप्रमाणसंख्यानियमविरोधश्च प्रतिपादितस्तद्द्वयमपि नास्त्यस्माकमिति । अस्त्योत्तरमाह स्याद्वादी ‘तथापि तेषामाप्तता नास्ति, स्वप्रमाणफलज्ञानलक्षणायाः प्रमाया अभावात्’ इति । 3 चतुर्णामद्वैतवादिनाम् । 4 आत्मनः संवेदनात् स्वस्मात्प्रमितिः प्रमाणस्य साध्यं फलं सिद्धयतीत्यर्थः । 5 संविदद्वैतमेव साध्वर्थसंविद इहोपलंभनियमात् । चित्राभासापि एकैव बुद्धिः श्रेयसी तस्याः बाह्यचित्रविलक्षणत्वात् सर्वे भावाः शब्दमया एव एतेषां तदाकारानुस्यूतत्वात् यथा घटसरावादयो मृद्विकारा मृदाकारानुस्यूता मृन्मयत्वेन प्रसिद्धास्तथा सर्वे भावा इत्यादेः प्रमाणांतरतः । (व्या० प्र०) 6 परस्परविरुद्धाभिधानमिति सम्बन्धो योजनीयः । 7 तथापीत्यर्थः । 8 प्रमितिः । (व्या० प्र०) 9 स्वेन स्वकीयरूपपरिच्छित्यभावात् । (व्या० प्र०) 10 अन्यथा प्रमाऽभावाभावे अनैकान्तिकत्वमायाति । 11 अनेकधर्मसहितत्वात् । (व्या० प्र०)

[अन्यसिद्धांतेषु स्वयं स्वस्यैव ज्ञानं न संभवति]

न हि संविदद्वैतेऽन्यत्र^१ वा स्वस्य स्वेनैव प्रमा संभवति, ^२निरंशत्वात्प्रसातुप्रमाणप्रमेय-
स्वभावव्यावृत्तौ प्रमाया ^३व्यावृत्तेस्तद्व्यावृत्तौ प्रमात्रादिस्वभावाव्यावृत्तेरैकान्तिकत्वाभा-
वात्^४ प्रमात्राद्यनेकस्वभावस्यैकसंवेदनस्यानेकान्तात्मनोनुमनत्वात्^५, संवित् स्वयं स्वेन स्वं
संवेदयत इति प्रतीतिः ।

[अन्य सिद्धांतों में स्वयं को स्वयं का ज्ञान संभव नहीं है]

विज्ञानाद्वैत में अथवा अन्य अद्वैतों में स्वयं का स्वयं के द्वारा ही ज्ञान संभव नहीं है क्योंकि
बौद्धों की अपेक्षा तो वह ज्ञान निरंश है—अनेक धर्मों से रहित है और दूसरी बात यह भी है कि
प्रामाता—आत्मा प्रमाण और प्रमेय स्वभाव की व्यावृत्ति मानने पर तो प्रमा—ज्ञप्ति की भी व्यावृत्ति
हो जाती है और उस प्रमा—ज्ञप्ति की व्यावृत्ति न मानने पर प्रमाता आदि स्वभाव की भी व्यावृत्ति
नहीं होने से तो एकांत का अभाव हो जाता है एवं अनेकांत की ही सिद्धि हो जाती है क्योंकि प्रमाता,
प्रमेय, प्रमिति आदि अनेक स्वभाव रूप एक ज्ञान अनेकांतात्मक ही स्वीकार किया गया है। अतएव
हम जैनो के यहाँ ज्ञान स्वयं स्वयं के द्वारा स्वयं का संवेदन करता है ऐसी प्रतीति हो रही है।

भावार्थ—प्रमाण शब्द व्याकरण के अनुसार जैन सिद्धांत में तीन तरह से सिद्ध होता है।
जब कर्तृसाधन में कर्ता—आत्मा प्रधान रहता है उस समय “यः प्रमिमिणोति सः प्रमाणं” जो जानता
है वह प्रमाण है। जब करणसाधन में आत्मा अप्रधान है तब “प्रमीयते अनेन इति प्रमाणं” यहाँ पर
आत्मा जिसके द्वारा जानता है वह प्रमाण है एवं भाव साधन में “प्रमिति मात्रं प्रमाणं” के अनुसार
जानना मात्र प्रमाण है। यहाँ पर चार बातें हैं प्रमाता—आत्मा, प्रमाण—ज्ञान, प्रमेय—ज्ञेयपदार्थ
और प्रमा—जानना मात्र। जैनसिद्धांत में आत्मा को इन चारों रूप से सिद्ध किया है यथा आत्मा ही
प्रमाता—जानने वाला है, आत्मा ही ज्ञान रूप है, आत्मा ही स्वयं ज्ञान के द्वारा जाना जाता है अतः
प्रमेय—ज्ञेय रूप भी है तथैव आत्मा ही भाव साधन में प्रमा मात्र—जानना मात्र रूप से प्रमा रूप भी
है। जो बौद्ध आदि लोग ज्ञान को एक निरंश मानते हैं उनके यहाँ स्वयं का ज्ञान भी सिद्ध नहीं हो
सकता है क्योंकि जब ज्ञप्ति स्वयं ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान से रहित है तब स्वयं की आत्मा (ज्ञाता) का
ज्ञान कैसे करावेगी एवं जब स्वयं को स्वयं का ज्ञान नहीं हो सकेगा तब वह व्यक्ति किसी का ज्ञान भी
कैसे कर सकेगा ? ये सब दूषण ज्ञान को अंश रहित एक रूप मानने से ही आते हैं। हम जैनो के यहाँ
तो एक ज्ञान को ही कर्ता की अपेक्षा ज्ञाता, करण की अपेक्षा से ज्ञानरूप माना है एवं उसी को ज्ञेय
और ज्ञप्ति रूप से भी माना है। अतः कुछ भी बाधा नहीं आती है क्योंकि ज्ञान स्वयं ही स्वयं के द्वारा
स्वयं का वेदन—अनुभव कर रहा है और ऐसा अनुभव से सिद्ध है।

१ अद्वैतान्तरे । (व्या० प्र०) २ अनेकधर्मरहितत्वात् (बौद्धमतापेक्षया) । (व्या० प्र०) ३ तस्याः प्रमाया भावे सति ।
(व्या० प्र०) ४ स्याद्वादसिद्धेरित्यर्थः । (व्या० प्र०) ५ कुतः ? यतः । (व्या० प्र०)

[चार्वाकादिमते ज्ञानं स्वसंविदितं नास्ति अतः प्रमाणस्य व्यवस्था तेषां न घटते]

नापीन्द्रियजप्रत्यक्षे स्वप्रमा घटते, ¹भूतवादिभिस्तस्यास्वसंविदितत्वोपगमात्² । इति सिद्धा ³तत्र स्वप्रमाया व्यावृत्तिः । ततो न प्रत्यक्षत एव प्रमाणेतरसामान्यस्थित्यादिः । तदव्यावृत्तौ वा स्वार्थव्यवसायात्मकत्वसिद्धेः स्याद्वादाश्रयणादैकान्तिकत्वाभावादनैकान्तिकत्वम्⁴ । ⁵एतेनानेकप्रमाणवादिनामनेकस्मिन् प्रमाणे स्वप्रमाव्यावृत्तिव्याख्याता । तदव्यावृत्तौ वानैकान्तिकत्वप्रसक्तिः, ⁶अनेकशक्त्यात्मकस्वार्थव्यवसायात्मकानेकप्रमाणसिद्धेः⁷ । तत्त्वोपप्लववादिनां तु तत्त्वोपप्लवे स्वप्रमाया व्यावृत्तिः सिद्धैव । तदव्यावृत्तौ ⁸तत्त्वोपप्लवैकान्तिकत्वाभावप्रसक्तिश्च⁹ । ततो नैतेषामाप्तता । किञ्च¹⁰ ¹¹सर्वप्रमाणविनिवृत्तेरितरथा¹²

[चार्वाक आदि के मत में ज्ञान स्वसंविदित नहीं है अतः उनके यहाँ प्रमाण की व्यवस्था नहीं बनती है]

इन्द्रियज प्रत्यक्ष में भी अपने को अपना ज्ञान नहीं हो सकता है, क्योंकि भूतचतुष्टयवादी चार्वाकों ने उस ज्ञान को अस्वसंविदित स्वीकार किया है । अतः उस प्रत्यक्ष प्रमाण में अपने ज्ञान की व्यावृत्ति (अभाव) सिद्ध ही है अतएव प्रत्यक्ष प्रमाण से ही प्रमाण और अप्रमाण सामान्य की स्थिति आदि नहीं हो सकती है । अथवा प्रत्यक्ष प्रमाण में ज्ञान की व्यावृत्ति न मानने पर तो ज्ञान स्वार्थ व्यवसायात्मक सिद्ध हो जाता है पुनः स्याद्वाद का आश्रय ले लेने से एकांत का अभाव होकर अनेकांत ही सिद्ध हो जाता है ।

इस कथन से अनेक प्रमाणवादियों के अनेक प्रमाणों में अपने-अपने ज्ञान की व्यावृत्ति सिद्ध ही है ऐसा व्याख्यान किया गया है अथवा यदि ज्ञान की व्यावृत्ति न मानो तो अनेकांत का प्रसंग आ ही जाता है क्योंकि अनेक शक्त्यात्मक रूप से स्वार्थव्यवसायात्मक स्वरूप अनेक प्रमाण सिद्ध हैं । अर्थात् ज्ञान को स्वार्थ निश्चयक माने बिना किसी के यहाँ ज्ञान का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता है ।

तत्त्वोपप्लववादी के यहाँ संपूर्ण तत्त्व का उपप्लव—नाश मान लेने पर तो अपने ज्ञान की व्यावृत्ति (अभाव) सिद्ध ही है । यदि अपने ज्ञान की व्यावृत्ति (अभाव) न मानो तो तत्त्वोपप्लवरूप एकांत का ही अभाव हो जायेगा । अर्थात् अपने ज्ञान का सद्भाव मानने पर पुनः अपना ज्ञान ही तो प्रमाण प्रमेयरूप सिद्ध हो जाता है पुनः शून्यवाद कहां रहा ?

1 चार्वाकैः । 2 कुतो स्वसंविदितत्वं । भूतचतुष्टयोत्पन्नत्वात् । भूतचतुष्टयमस्वसंविदितमचेतनत्वात् कारणगुणा हि कार्यगुणानारभते । (व्या० प्र०) 3 प्रत्यक्षे । 4 स्वार्थव्यवसायरूपसंशतत्वं । (व्या० प्र०) 5 बौद्धापेक्षया निरंशत्वात् प्रमावादिव्यावृत्तौ प्रमाया व्यावृत्तेरित्याद्युक्तप्रकारेण । अन्येषामपेक्षया अस्वसंविदितत्वोपगमादित्याद्युक्तप्रकारेण च । 6 एताः शक्तयः कारणरूपाः । 7 एतत्कार्यरूपम् । 8 तत्त्वमुपप्लुतमेवेतिनियमाभावः । (व्या० प्र०) 9 स्वप्रमायाः सद्भावे स्वप्रमाया एव प्रमाणप्रमेयरूपत्वात् । 10 पूर्वं तु परस्य प्रमाणमभ्युपगम्य दूषणमुक्तमिदानीं तदपि निराकरोति । 11 सूत्रे परस्परविरोधत इत्येतदुपलक्षणम् । तेन सर्वप्रमाणविनिवृत्तेरित्यादेरपि ग्रहणम् । 12 कथञ्चिन्तित्यान्वित्यात्मकत्वेन ।

संप्रतिपत्तेः ।* ये¹ तावदेकं नित्यं² प्रमाणं स्वभावभेदा³भावाद्वदन्ति तेषां सर्वप्रमाणविनिवृत्तिः
 'येष्यनेकमनित्यं प्रतिक्षणं स्वभावभेदादाचक्षते⁴ तेषामपि, प्रत्यक्षादिप्रमाणानां⁵ नित्यै-
 कान्ता⁶चचेत⁷रेणैव⁸ प्रकारेण कथञ्चिन्नित्यानित्यात्मकत्वेन संप्रतिपत्तेः । ततो नैतेषां
 नित्यानित्यैकान्तप्रमाणवादिनां तीर्थकृतसमयानामाप्तता ।

[आवरणरहितज्ञानवतः सर्वज्ञस्य वागादिव्यापारा असाधारणाः संति न तु साधारणाः]

किञ्च¹⁰ वागक्षबुद्धीच्छापुरुषत्वादिकं¹¹ 12 क्वचिदनाविलज्ज्ञानं¹³ निराकरोति न पुनस्त-
 त्प्रतिषेधवादिषु¹⁴ तथेति¹⁵ परमगहनमेतत् ।* तथाहि । 16 तीर्थच्छेदसम्प्रदायास्तथैकान्तवा-

इसलिये इन सभी में आप्तता नहीं है क्योंकि इन सभी के यहाँ सभी प्रमाणों की विनिवृत्ति
 (अभाव) हो जाती है पुनः अन्यथा—कथञ्चित् नित्यानित्यात्मक रूप से ही सिद्धि हो जावेगी ।*

जो नित्यैकांतवादी सांख्य और ब्रह्माद्वैतवादी कहते हैं कि वस्तु में स्वभाव भेद का अभाव होने
 से एक नित्य ही प्रमाण है, उनके यहाँ भी सभी प्रमाणों का अभाव हो जाता है ।

और जो अनित्यवादी सौगत प्रतिक्षण स्वभाव के भेद से एक अनित्य प्रमाण को कहते हैं उनके
 यहाँ भी सभी प्रमाणों का अभाव हो जाता है क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों का ज्ञान नित्यैकांत और अनि-
 त्यैकांत से भिन्न ही कथञ्चित् प्रकार से कथञ्चित्-नित्यानित्यात्मक रूप से देखा जाता है । इसलिये इन
 नित्यानित्यैकांत प्रमाणवादियों के तीर्थकृत—तीर्थविनाश संप्रदायों में आप्तता नहीं है ।

[आवरण रहित ज्ञान वाले सर्वज्ञ के वचन आदि व्यापार असाधारण हैं, साधारण नहीं हैं]

दूसरी बात यह है कि वचन, इन्द्रिय, बुद्धि, इच्छा पुरुषत्वादी किन्हीं—सुगत, कपिलादि एकांत-
 वादियों में ही अनाविल-निरावरण ज्ञान का निराकरण करते हैं, किन्तु उनके प्रतिषेधवादियों—जनों में
 उस प्रकार से निवारण ज्ञान का निषेध नहीं है इस प्रकार से यह समझना बहुत ही गहन है ।*

तथाहि—“तीर्थच्छेदसंप्रदाय वाले उस प्रकार से एकांतवादी ही हैं वे निरावरणज्ञानधारी
 नहीं हैं क्योंकि वे एकांतवादी अविशिष्ट वचन—सामान्य वचन इन्द्रियज्ञान, इच्छादिमान् हैं अथवा
 अविशिष्टसामान्य पुरुष आदि हैं जैसे रथ्या पुरुष” । इसलिये इन लोगों में आप्तता नहीं है ।

1 नित्यवादिनः सांख्याः ब्रह्माद्वैतवादिनश्च । 2 ब्रह्मादेरुपादानकारणस्य नित्यत्वे एकत्वे चोपादेयस्यापि नित्यत्व-
 मेकत्वं चेति भावः । 3 युगपत्क्रमेण वा । 4 अनित्यवादिनः सौगताः । 5 सर्वप्रमाणविनिवृत्तिरिति सम्बन्धः ।
 6 नित्यैकांतादनित्यैकांताचचेतरेणैव इति पा० । (व्या० प्र०) 7 सकाशात् । 8 चकारेणानित्यैकान्तग्रहणम् ।
 9 कथञ्चित्प्रकारेण । 10 मीमांसकेनाभिधीयमानस्य न क्वचिदनाविलज्ज्ञानमिति दूषणस्य परिहारद्वारेणैव परेषां
 सुगतादीनामाप्तता नास्ति परं त्वस्माकं त्वस्तीति वस्तुतुका वागक्षेत्याद्याहुराचार्याः । 11 कर्तृपदम् । 12 सुगतक-
 पिलादावेकान्तवादिषु । 13 निर्दुष्टज्ञानं । (व्या० प्र०) 14 जनेषु । 15 दुरवबोधम् । 16 सुगतादयः ।
 (व्या० प्र०)

दिनो¹ नाऽनाविलज्जाना² अविशिष्टवागक्षबुद्धीच्छादिमत्त्वादविशिष्टपुरुषत्वादेर्वा रथ्यापुरुष-
वत् । इति नैतेषामाप्तता । ³तत्प्रतिषेधवादिनां पुनः स्याद्वादिनां नातः⁴ कश्चिदविशिष्टवा-
गादिमानविशिष्टपुरुषो वा⁵, तस्य युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वेनाभ्युपगतत्वात्⁶, ⁷करणक्रम⁸-
व्यवधाना⁹द्यतिवर्तिबुद्धित्वात् ¹⁰इच्छारहितत्वाद्विशुद्ध¹¹पुरुषातिशयत्वादिति । ¹²यथा वागा-
दिकं निर्दोषज्ञाननिराकरणसमर्थं न तथा स्याद्वादन्यायवेदिभिरभिष्टूयमाने ¹³भगवतीति
परमगहनमेतत्, ¹⁴अयुक्तिशास्त्रविदामगोचरत्वाद¹⁵कलङ्कधिषणाधिगम्यत्वात्¹⁶ । इत्थं सिद्धं

उन अविशिष्ट वचन आदि का प्रतिषेध करने वाले स्याद्वादियों में इस प्रकार से कोई सर्वज्ञ अविशिष्ट—सामान्य वचनादिमान् अथवा अविशिष्ट—सामान्य पुरुष नहीं है क्योंकि वे सर्वज्ञ युक्ति और शास्त्र से अविरोधी वचन वाले हैं ऐसा स्वीकार किया गया है। वे इन्द्रियों के क्रम और व्यवधान से रहित ज्ञान वाले हैं, इच्छा से रहित हैं एवं विशुद्ध अतिशयशाली पुरुष हैं। जिस प्रकार से सुगतादिकों के वचन आदि निर्दोष ज्ञान के निराकरण में समर्थ हैं उस प्रकार के वचन आदि स्याद्वाद-न्यायवेदी हम जैनियों के द्वारा स्तुति किये जाने वाले भगवान् में नहीं हैं यह परम गहन—दुष्कर ही है।

भावार्थ—मीमांसक कहता है कि 'कोई भी मनुष्य सर्वज्ञ नहीं हो सकता है क्योंकि वह वक्ता है, इन्द्रियज्ञान से सहित है, इच्छावान् है, एवं पुरुष है। जैसे कि हम लोग वक्ता हैं, इन्द्रियज्ञान सहित हैं, इच्छावान् हैं एवं पुरुष हैं।

इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि ये वक्तृत्व आदि जैसे हम और आप में पाये जाते हैं वैसे ही साधारण रूप से हम जैनों के द्वारा मान्य सर्वज्ञ में नहीं पाये जाते हैं। हमारे सर्वज्ञ भगवान् के जो वचन आदि व्यापार हैं वे साधारण लोगों में असंभवी—विशेष रूप ही हैं। सर्वज्ञ भगवान् के वचन युक्ति और आगम से अविरोधी हैं, दिव्यध्वनि से उत्पन्न द्वादशांग वाणी रूप हैं। यद्यपि सर्वज्ञ भगवान् की भाषा अनक्षरी है फिर भी श्रोताओं के कान में प्रविष्ट होकर सातसौ अठारह भाषा रूप अथवा संख्यातीं भाषा रूप परिणत हो जाती है। ज्ञानावरण का पूर्णतया नाश हुये बिना साधारण छद्मस्थ जीवों में ऐसे वचन असंभव ही हैं।

सर्वज्ञ भगवान् का ज्ञान इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ क्षयोपशम ज्ञान रूप नहीं है किन्तु अतीन्द्रिय ज्ञान है। अतः इन्द्रियों की अपेक्षा न होने से वह केवलज्ञान क्रम की अपेक्षा नहीं रखता है युगपत् ही

1 नित्यादि । (व्या० प्र०) 2 निरावरणज्ञानाः । 3 अविशिष्टवागादिप्रतिषेधवादिनाम् । 4 नाप्तः इति पा० । (व्या० प्र०) 5 कुतः । (व्या० प्र०) 6 अविशिष्टवाक्त्वं निराकृतमनेन । 7 अक्षबुद्धिनिराकरणमनेन । 8 आदिना देशकालद्रव्यादिव्यवधानग्रहः । 9 व्यवधानातिवर्ति इति पा० । द्वंद्वः । द्रव्यादिना । (व्या० प्र०) 10 इच्छावत्त्वं निराकृतमनेन । 11 अविशिष्टपुरुषत्वमनेन निराकृतम् । 12 सुगतादिषु । 13 वागादिकं निर्दोषज्ञाननिराकरण-समर्थं । (व्या० प्र०) 14 युक्तिर्न्यायः । शास्त्रमागमः । 15 निष्कलङ्कबुद्धिः, पक्षेऽकलङ्कदेवानां बुद्धिः । 16 तीर्थच्छेसंप्रदायानां सर्वेषामाप्तता नास्ति यतः । (व्या० प्र०)

सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वम् । ¹तेन कः परमात्मा चिदेव ²लब्धुपयोगसंस्काराणा-
मावरणनिबन्धनानामत्यये³ भवभूतां⁴ प्रभुः ।* सकलस्याद्वादन्यायविद्विषा⁵भाप्तप्रतिक्षेपप्रका-
रेण⁶ हि स्याद्वादिन एवाप्तस्याप्रतिक्षेपार्हत्वेन सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वं सिद्धयति ।

[अर्हद् भगवानेव सर्वज्ञो न चान्य इति साधनं]

तेनैव⁷ कारिकायास्तुरीयपादो व्याख्यायते । कः परमात्मा, पराऽऽत्यन्तिकी मा लक्ष्मी-

सारे पदार्थों को एक साथ जान लेता है और तो क्या केवली भगवान् के ज्ञानावरण, दर्शनावरण दोनों ही कर्मों का विनाश हो जाने से ज्ञान और दर्शन भी एक साथ ही उत्पन्न हो जाते हैं । इसीलिये इस ज्ञान में किसी भी प्रकार अंतराल भी नहीं पड़ता है । सर्वज्ञ भगवान् के मोहनीय कर्म का सर्वथा नाश हो जाने से मोह की पर्याय स्वरूप इच्छा का भी अभाव हो गया है । अतएव वीतराग भगवान् की वाणी इच्छा रहित है यथा—

अनात्मार्थं विना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितम् ।

ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शात् मुरजः किमपेक्षते ॥

इसी प्रकार से वे भगवान् हम और आप जैसे साधारण पुरुष भी नहीं हैं, परमौदारिक दिव्य शरीर के धारक महान् पुरुष हैं । अतएव हमारे सर्वज्ञ भगवान् में आप आवरण रहित—पूर्ण ज्ञान का निषेध नहीं कर सकते हैं । हां ! इतना जरूर है कि अन्य बुद्ध, कपिल, महेश्वर आदि में वे असाधारण वचन इन्द्रियजन्य ज्ञान (क्षयोपशम ज्ञान) से रहित क्षायिक ज्ञान, इच्छा का अभाव, असाधारण पुरुषत्व आदि बातें नहीं पाई जाती हैं अतः इनमें ही निरावरण ज्ञान का अभाव है ऐसा समझना चाहिये ।

जो युक्ति—तर्क और शास्त्र के ज्ञानी नहीं हैं वे सर्वज्ञ उनके अगोचर हैं वे केवल अकलंक—निर्दोष बुद्धि के ही गम्य हैं अथवा भट्टाकलंकदेव की बुद्धि के ही गम्य हैं । इस प्रकार से सुनिश्चिता-सम्भवद्बाधक प्रमाणत्व हेतु सिद्ध हो गया ।

जिस कारण से सभी तीर्थच्छेद संप्रदायवादियों में आप्तता नहीं है उसी कारण से “कः पर-
मात्मा चित्—चैतन्य पुरुष एव—ही आवरण निमित्तक लब्धि और उपयोग के संस्कारों के नाश हो जाने पर संसारी प्राणियों के गुरु हैं ।* ”

संपूर्ण स्याद्वादन्याय के विद्वेषियों में आप्त का खंडन कर देने से स्याद्वादियों के यहाँ आप्त का निराकरण करना शक्य नहीं है इस प्रकार से सुनिश्चितासम्भवद्बाधक प्रमाण सिद्ध हो जाता है ।

[अर्हत भगवान् ही सर्वज्ञ है अन्य कोई सर्वज्ञ नहीं हो सकता है ।]

इस प्रकार से अब कारिका के चतुर्थ पाद का व्याख्यान करते हैं । “कः—परमात्मा, परा

1 येन कारणेन तीर्थच्छेदसम्प्रदायानां सर्वेषामाप्तता नास्ति तेन कारणेन । 2 इन्द्रियानिन्द्रियान्यतमावरणक्षयोपशमो लब्धिः । अर्थग्रहणव्यापार उपयोगः । तयोः संस्कारास्तेषाम् । 3 आवरणं निबन्धनं येषां ते तेषाम् । 4 भवं यन्तीति क्विपि भवेतो भवभूतस्तेषां गुरुः प्रभुर्भवेद्गुच्छरिति कारिकापदस्य व्युत्पादनम् । 5 सुगतादीनाम् । 6 आप्तत्वप्रति इति पा० । (व्या० प्र०) 7 कारणेन । (व्या० प्र०)

र्यस्येति विग्रहात् । चिदेव^१ ज्ञ^२ एव^३ न पुनः कथञ्चिदप्यज्ञः, चिदिति शब्दस्य मुख्यवृत्त्या-
श्रयणात् कथञ्चिदचित्यपि^४ चिच्छब्दस्य प्रवृत्तौ गौणत्वप्रसङ्गात्^५ ।

[सर्वज्ञः इन्द्रियज्ञानेन सर्वं जानात्यतीन्द्रियज्ञानेन वा ?]

ननु^६ च 'परमात्मा साक्षाद्वस्तु^७ जानन्निन्द्रियसंस्कारानुरोधतः^८ एव जानीयान्नान्यथा
९तद्वेदनस्य १०प्रत्यक्षत्वविरोधात् । न चेन्द्रियसंस्काराः सकृत्सर्वार्थेषु ज्ञानमुपजनयितुमलं,
सम्बद्धवर्तमानार्थविषयत्वात् "सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिभिः" इति वचनात् ।

आत्यंतिकी मा—लक्ष्मीर्यस्येति" । कः अर्थात् परमात्मा, पर अर्थात् आत्यंतिकी, मा—लक्ष्मी है
जिनको; उन्हें परमात्मा कहते हैं ऐसा विग्रह होता है । "चेतयते इति चित्—चित् ही ज्ञ ही सर्वज्ञ है,
किन्तु कथञ्चित् भी अज्ञ सर्वज्ञ नहीं है । चित् यह शब्द मुख्य वृत्ति का आश्रय लेता है कथञ्चित्
अचित्—अचेतन स्वरूप अर्हत, सिद्ध, साधु आदि के प्रतिबिंबादि में भी चित् शब्द की प्रवृत्ति होने
पर गौण का प्रसंग आ जाता है । अर्थात् अचेतन स्वरूप जो जिन प्रतिमा आदि हैं उन्हें गौण रूप से
यहाँ भगवान् परमात्मा कहा गया है ।

भावार्थ—मीमांसक का कहना है कि सब तीर्थ का विनाश करने वाले हैं, सभी के आगम
और आमनाय परस्पर में विरोधी हैं अतः कोई भी सर्वज्ञ परमात्मा हो ही नहीं सकता है ।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है । कारिका के चतुर्थ पाद "कश्चिदेव भवेद्-
गुरुः" के अनुसार कोई न कोई चित् चैतन्य स्वरूप भगवान् परमात्मा हैं जो कि सभी संसारी प्राणियों
के स्वामी हैं । 'चित्' शब्द से चैतन्य स्वरूप आत्मा एवं अर्हत, सिद्ध, साधु आदिकों की प्रतिमायें भी
ग्रहण की जाती हैं, किन्तु यहाँ कारिका के अर्थ में मुख्य रूप से जीवन्मुक्त अर्हत परमात्मा को ही
मुख्यवृत्ति से लेने का उपदेश है और गौण रूप से अचित् स्वरूप से प्रतिमादिकों को भी ले सकते हैं
परन्तु यहाँ प्रधानता साक्षात् अर्हत भगवान् की है ऐसा समझना चाहिये ।

[सर्वज्ञ भगवान् इन्द्रियज्ञान से सभी पदार्थों को जानते हैं या अतीन्द्रिय ज्ञान से ?]

मीमांसक—परमात्मा साक्षात् सभी पदार्थों को जानते हुये इन्द्रिय संस्कार के अनुरोध-अनुग्रह
से ही जानते हैं अन्यथा नहीं जानते हैं क्योंकि अन्यथाज्ञान-अतीन्द्रियज्ञान का होना ही प्रत्यक्ष से
विरुद्ध है और इन्द्रिय संस्कारएक साथ सभी पदार्थों में ज्ञान को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हैं क्योंकि वे
इन्द्रियां संबद्ध वर्तमान पदार्थ को ही विषय करती हैं "सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिभिः" ऐसा
वचन है इसलिये ज्ञ—सर्वज्ञ ही नहीं है क्योंकि भविष्यत् और अतीत से असंबंधित पदार्थ के ज्ञान का

1 चेतयते इति चित् । 2 सर्वज्ञः । 3 अन्ययोगव्यवच्छेदार्थ । (व्या० प्र०) 4 प्रतिबिंबादी । 5 प्रतिबिंबादी ।
(व्या० प्र०) 6 मीमांसकः । 7 ता बहुः । (व्या० प्र०) 8 अर्थग्रहणोन्मुखता । (व्या० प्र०) 9 अन्यथावेदनस्य
10 प्रतिगतमक्षं प्रत्यक्षमित्यभिधानात् । (व्या० प्र०)

ततो न ज्ञ एव, भाव्यतीतासम्बद्धार्थज्ञानाभावादज्ञत्वस्यापि भावात्' इति न 'मन्तव्यं, लब्धयुपयोगसंस्काराणामत्यये इति वचनात् । लब्धयुपयोगौ ^२हीन्द्रियं, "लब्धयुपयोगौ भावेन्द्रियम्" इति वचनात्^३ । "तयोः संस्काराः ^५स्वार्थधारणाः । तेषामत्यये सति ज्ञ एव स्यात् ।

[सर्वज्ञस्य भावेन्द्रियवत् द्रव्येन्द्रियाणां विनाशो कथं न भवति ?]

'कुतः पुनर्भावेन्द्रियसंस्काराणामत्यये सति ज्ञ एव स्यान्न तु ^६द्रव्येन्द्रियाणामत्यये, अतीन्द्रियप्रत्यक्षतोऽशेषार्थसाक्षात्कारित्वोपगमात्' इत्यपि न शङ्कनीयं ^७भावेन्द्रियाणामावरणनिबन्धनत्वात् । कात्स्न्यतो ज्ञानावरणसंक्षये हि^८ भगवानतीन्द्रियप्रत्यक्षभाक् सिद्धः । ^९न च सकलावरणसंक्षये भावेन्द्रियाणामावरणनिबन्धनानां संभवः—^{१०}कारणाभावे ^{११}कार्यानु-

अभाव होने से अल्पज्ञ ही सिद्ध होते हैं ।

जैन—ऐसा नहीं मानना चाहिये क्योंकि "लब्धि और उपयोग के संस्कारों का नाश हो जाने पर" ऐसा हमने वचन दिया है । एवं लब्धि और उपयोग को इन्द्रिय कहते हैं "लब्धयुपयोगौ भावेन्द्रियम्" ऐसा सूत्र है । उन दोनों का संस्कार स्वार्थ धारणा रूप है । अर्थात् लब्धि और उपयोग का प्रकर्ष संस्कार अपने ग्राह्य-ग्रहण करने योग्य का ग्राहक परिमित रूप ही होता है । उन लब्धि और उपयोग के संस्कार-क्षयोपशम ज्ञान का नाश हो जाने पर सर्वज्ञ होता है ।

[सर्वज्ञ भगवान् के भावेन्द्रियों के समान द्रव्येन्द्रियों का विनाश क्यों नहीं हो जाता है ?]

शंका—भावेन्द्रिय संस्कार के नाश होने पर ही सर्वज्ञ होता है किन्तु द्रव्येन्द्रियों के नाश से नहीं—यह बात कैसे सिद्ध होगी ? क्योंकि आपने तो अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से अशेष पदार्थ का साक्षात्कार होना स्वीकार किया है ।

समाधान—ऐसी शंका भी नहीं करना चाहिये क्योंकि भावेन्द्रियाँ तो आवरण के निमित्त से होती हैं किन्तु द्रव्येन्द्रियाँ आवरण निमित्तक नहीं हैं क्योंकि वे अगोपांग नाम कर्म के निमित्त से होती हैं । अतः संपूर्णतया ज्ञानावरण का क्षय हो जाने पर ही भगवान् अतीन्द्रियप्रत्यक्षज्ञानी सिद्ध हैं । अर्थात् सर्वज्ञ में अष्ट कर्म का नाश कारण नहीं है ज्ञानावरण, दर्शनावरण का अभाव ही कारण है । इसलिये संपूर्ण आवरण का नाश हो जाने पर आवरण निमित्तक भावेन्द्रियाँ संभव नहीं हैं क्योंकि कारण के

1 स्याद्वाचाह । 2 ज्ञानावरणसंक्षये भगवानतीन्द्रियप्रत्यक्षभाक् भवेत् एतावता भावेन्द्रियाणामभावः कथमित्याशंकायामाह । (व्या० प्र०) 3 तत्त्वार्थाधिगमवचनात् । 4 लब्धयुपयोगयोः प्रकर्षाः (संस्काराः) स्वग्राह्यार्थग्राहकाः परिमितरूपा भवन्ति । 5 धारणाज्ञानरूपा न तु स्वरूपार्थग्रहणोन्मुखता संस्कारे, उपयोगसंस्कारयोरेकत्वप्रसङ्गात् । 6 द्रव्येन्द्रियाणामप्यपायः कुतो न शक्यते स्याद्वादिभिः सर्वज्ञस्यातीन्द्रियप्रत्यक्षतोपगमादिति पराशंका । (व्या० प्र०) 7 न तु द्रव्येन्द्रियाणामावरणनिबन्धनत्वं तेषामङ्गोपाङ्गनामकर्मनिबन्धनत्वात् । 8 एवार्थे । न तु तत्राष्टकर्मविनाशः कारणम् आवरणापायस्यैव कारणत्वोपगमात् । 9 ज्ञानावरणसंक्षये भगवानतीन्द्रियप्रत्यक्षभाक् भवत्येतावता भावेन्द्रियाणामभावादेवेति कथमित्याशङ्कयामाह । 10 कारणानामावरणाभावरूपाणाम् । 11 कार्यस्य = भावेन्द्रियरूपस्य ।

पपत्तेः । 'ननु चावरणक्षयोपशमनिबन्धनत्वाद्भावेन्द्रियाणां कथमावरणनिबन्धनत्वमिति

अभाव में कार्य हो नहीं सकता है ।

भावाथं—इन्द्रियों के २ भेद हैं—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय । तत्त्वार्थसूत्र महाशास्त्र में “निर्वृत्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्” और “लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्” के अनुसार दोनों ही इन्द्रियों का लक्षण किया गया है । निर्वृत्ति और उपकरण को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं । निर्वृत्ति—नाम कर्म के उदय से होने वाली रचना विशेष को निर्वृत्ति कहते हैं । निर्वृत्ति के २ भेद हैं—आभ्यंतरनिर्वृत्ति और बाह्य-निर्वृत्ति । आत्मा के प्रदेशों का इन्द्रियाकार होना आभ्यंतर निर्वृत्ति कहलाती है । पुद्गल के परमाणुओं का इन्द्रियाकार होना बाह्य निर्वृत्ति कहलाती है । उपकरण—निर्वृत्ति के सहायक-उपकारक को उपकरण कहते हैं । उपकरण के दो भेद हैं आभ्यंतर और बाह्य । जैसे—नेत्रों में जो काला और सफेद मंडल है वह आभ्यंतर उपकरण है और पलकें तथा रोम वगैरह बाह्य उपकरण हैं । इसी प्रकार से शेष इन्द्रियों में भी जानना चाहिये । लब्धि और उपयोग को भावेन्द्रिय कहते हैं । लब्धि—ज्ञानावरण के क्षयोपशम विशेष को लब्धि कहते हैं । उपयोग—लब्धि के निमित्त से आत्मा का जो परिणमन होता है उसे उपयोग कहते हैं । अर्थात् ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से आत्मा में जो जानने की शक्ति प्रकट होती है वह तो लब्धि है और उसके होने पर आत्मा का ज्ञेयपदार्थ की ओर अभिमुख होना उपयोग कहलाता है । लब्धि और उपयोग के मिलने से ही पदार्थ का ज्ञान होता है ।

इसलिये इन द्रव्येन्द्रियों की रचना नाम कर्म के भेद में अंगोपांग नामक नाम कर्म के उदय से होती है और मतिज्ञानावरण कर्म के स्पर्शनेन्द्रियावरण आदि कर्मों के क्षयोपशम विशेष से भावेन्द्रियाँ होती हैं । केवली भगवान् के ज्ञानावरण कर्म का पूर्णतया नाश हो जाने से भावेन्द्रियाँ और भावमन नहीं पाये जाते हैं किंतु परमौदारिक दिव्य शरीर का अस्तित्व आयु नाम कर्म आदि अघातिया कर्म के शेष रहने तक चौदहवें गुणस्थान के अंत तक पाया जाता है अतः अर्हत के द्रव्येन्द्रियां मौजूद हैं । सिद्धों में शरीर और अंगोपांग आदि नाम कर्म के अभाव से यद्यपि शरीर नहीं है फिर भी अंतिम शरीर से किञ्चित् न्यून सिद्धों के आत्म प्रदेशों का आकार—पुष्पाकार तो रहता ही है अतः वहाँ पर भी द्रव्येन्द्रियों का आकार विद्यमान है ।

शंका—भावेन्द्रियाँ तो आवरण के क्षयोपशम के निमित्त से होती हैं पुनः उन्हें आवरण निमित्तक ही कैसे कह दिया ?

जैन—यदि ऐसा कहो तो देशघाति ज्ञानावरण कर्म के स्पर्धकों का उदय होने पर एवं सर्व-घाति ज्ञानावरण के स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय होने पर तथा उन्हीं सर्वघाति स्पर्धकों का सदवस्था रूप उपशम होने से वे भावेन्द्रियां होती हैं अतः उनके आवरण निमित्तकत्व सिद्ध ही है इसलिये यहाँ ऐसा प्रश्न करना ठीक नहीं है । अर्थात् ज्ञानावरण के स्पर्धकों में कुछ का उदय, कुछ का उदयाभावी

1 आह कश्चित्स्वमतवर्ती ।

चेद्^१ देशघातिज्ञानावरणस्पर्द्धकोदये^२ सति^३ सर्वघातिज्ञानावरणस्पर्द्धकाना^४मुदयाभावे^५
^६सदवस्थायां च तेषां भावादावरणनिबन्धनत्वसिद्धेरचोद्यमेतत् ।

[अहंद् भगवान् सर्वसंसारिजीवानां प्रभुरतोऽस्मादृशो नास्तीति प्रतिपादनं]

^७न कश्चिद्भवभृदतीन्द्रियप्रत्यक्षभागुपलब्धो यतो भगवांस्तथा संभाव्यते इत्यपि न
 शङ्का श्रेयसी, तस्य भवभृतां प्रभुत्वात् । न हि^८ भवभृत्साम्ये दृष्टो धर्मः^९ सकलभवभृत्प्रभौ
 सम्भावयितुं शक्यः,^{१०} तस्य संसारिजनप्रकृतिमभ्यतीतत्वात्^{११} ।

[मीमांसको ब्रूते-प्रत्यक्षादि प्रमाणैः सर्वज्ञो न सिद्धचतयतो नास्त्येव ।]

^{१२}ननु च सुनिर्णीतासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात्तथाविधो भवभृतां प्रभुः साध्यते ।^{१३}तच्चा-

क्षय और कुछ का सत्ता की अवस्था में उपशम होने से भावेन्द्रियाँ होती है अतः इन्हें आवरण के
 निमित्त से होने वाली कहने से कोई बाधा नहीं है ।

[आपके सर्वज्ञ में अतीन्द्रिय ज्ञान कैसे है एवं सभी संसारी जीवों के वे प्रभु कैसे हैं ?]

मीमांसक—कोई संसारी प्राणी अतीन्द्रियज्ञान वाला उपलब्ध नहीं है अर्थात् देखा नहीं जाता
 है कि जिससे आपके भगवान् अतीन्द्रिय ज्ञानो हो सकें अर्थात् नहीं हो सकते हैं ।

जैन—यह शंका भी श्रेयस्कर नहीं है क्योंकि वे भगवान् तो संसारी जीवों के प्रभु-स्वामी हैं ।
 संसारी जीव के सदृश में देखा गया धर्म सकल संसारी जीवों के स्वामी में संभावित करना—घटित
 करना शक्य नहीं है क्योंकि सकल संसारी जीवों के स्वामी संसारी जीवों के स्वभाव का उल्लंघन कर
 चुके हैं ।

[मीमांसक कहता है कि प्रत्यक्षादि पांच प्रमाणों से सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है अतः सर्वज्ञ नहीं है]

मीमांसक—सुनिश्चितासंभवद्बाधक प्रमाण से उस प्रकार से अहंत भगवान् को आप संसारी
 जीवों के स्वामी सिद्ध करते हो किन्तु आपका हेतु असिद्ध है क्योंकि उसको बाधित करने वाला

१ णाणावरणचउक्कं तिदंसणं सम्मयं च संजलणं । जवणोकसायविरघं छब्बीसा देसघादीओ ॥ [ज्ञानावरणचतुष्कं
 त्रिदशं नं सम्यक्त्वं चतुःसंज्वलनम् । नवनोकषायाः त्रिघ्नः षड्विंशतिर्देशघातीयाः] । देशं [आत्मगुणस्यैकदेशं]
 घ्नन्तीति देशघातिन इति व्युत्पत्तिः । देशघातिनश्च ते ज्ञानावरणाश्च ते स्पर्द्धकाश्चेति देशघातिज्ञानावरणस्पर्द्ध-
 कास्तेषामुदये । २ वर्गः शक्तिसमूहोणोरणूनां (शक्ति समूहः) वर्गणोदिता । वर्गणानां समूहस्तु स्पर्द्धकः स्पर्द्धकापहैः ॥
 इत्युक्तलक्षणो बहूनां कर्मत्वमापन्नानां षौद्गलिकवर्गणानां समूहः स्पर्द्धको ज्ञेयः । ३ सर्वमात्मगुणं घ्नन्तीति सर्व-
 घातिनः । केवलणाणावरणं केवलदंसं कसायवारसयं । मिच्छं च सब्बघादी सम्मामिच्छं अवंधेहि (अबंधह्मि) ॥
 [केवलज्ञानावरणं केवलदर्शनावरणं कषायद्वादशकम् [अनन्तानुब्रह्मप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानानां प्रत्येकं चतुष्कमिति द्वादश] ।
 मिथ्यात्वं च सर्वं घातिनः सम्भग्मिथ्यात्वमबन्धैः (जिनैः)] । इत्युक्तलक्षणःसर्वघाती, आत्मगुणानां सामस्त्येन घात-
 नात् । ४ वर्तमानकाले उदययोग्यानामित्यर्थः । ५ उदयाभावरूपे क्षये फलमदत्तैव तेषां निर्जरणे इत्यर्थः । ६ सर्व-
 घातिज्ञानावरणस्पर्द्धकानामेवोदेष्यमाणानां सदवस्थायाम् । आत्मनि कर्मत्वरूपेण सम्बन्धे विद्यमाने सतीत्यर्थः ।
 ७ मीमांसकशङ्का । ८ भवभृत्साम्ये इति पा० । (व्या० प्र०) ९ ता बहुः । (व्या० प्र०) १० सकलभवभृत्प्रभोः ।
 ११ अतिक्रान्तत्वात् । (व्या० प्र०) १२ पुनश्च मीमांसकः । १३ हेतुः ।

सिद्धं, सुनिश्चितासंभवत्साधकप्रमाणत्वस्य तद्बाधकस्य सद्भावात् । न हि ¹तत्साधकं प्रत्यक्षम्² । नाप्यनुमानं, तदेकदेशस्य लिङ्गस्यादर्शनात्³ । तदुक्तं—

सर्वज्ञो दृश्यते ⁴तावन्नेदानीमस्मदादिभिः । दृष्टो न चैकदेशोस्ति लिंगं वा ⁵योनुमापयेत् ।

इति । आगमोपि न तावन्नित्यः सर्वज्ञस्य प्रतिपादकोस्ति, तस्य ⁶कार्ये एवार्थे प्रामाण्यात् स्वरूपेपि⁷ प्रामाण्येतिप्रसङ्गात्⁸ । स⁹ सर्ववित् लोकविदित्यादेर्हिरण्यगर्भः सर्वज्ञ इत्यादेश्चागमस्य नित्यस्य ¹⁰कर्माथवाद्प्रधानत्वात्¹¹ । तात्पर्यासंभवा¹²दन्यार्थ¹³प्रधानैर्वचनैरन्यस्यसर्वज्ञस्य विधाना-

“सुनिश्चितासंभवत्साधक प्रमाणत्व” मौजूद है । अर्थात् सुनिश्चित रूप से असंभव है सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाला साधक प्रमाण जिसमें उसे “सुनिश्चितासंभवत्साधक प्रमाण” कहते हैं मतलब सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाला कोई भी साधक प्रमाण संभव नहीं है अतएव सर्वज्ञ नहीं है । तथाहि—सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाला प्रत्यक्ष प्रमाण तो है नहीं एवं अनुमान भी नहीं है क्योंकि उसका एक देश रूप हेतु दिखता नहीं है । कहा भी है—

श्लोकार्थ—“हम लोगों के द्वारा इस समय सर्वज्ञ देखा नहीं जाता है और उस सर्वज्ञ को एकदेश भी देखा नहीं जाता है कि जिसको हेतु बनाकर उस सर्वज्ञ का अनुमान कर लेवें ।” नित्य आगम भी उस सर्वज्ञ का प्रतिपादक नहीं है वह तो कार्य (यज्ञादि) अर्थ में ही प्रमाण है उसकी स्वरूप में भी प्रमाणता मानने पर तो अति प्रसंग आ जाता है । अर्थात् अलाबू डूब रहे हैं, पत्थर तैर रहे हैं इन वाक्यों में भी प्रमाणता आ जावेगी और वेद में “आपः पवित्र” इत्यादि स्वरूप का निरूपण करने वाले वाक्य हैं वे सभी प्रमाण हो जावेंगे ।

जो याग को करता है वह सर्ववित् है, वह लोकवित् है इत्यादि, हिरण्य गर्भः सर्वज्ञः इत्यादि रूप से जो नित्य आगम है वह कर्माथवाद में—क्रियाकांड में प्रधान है । उससे सर्वज्ञ रूप अर्थ में तात्पर्य—अर्थ निकालना असंभव है, अन्यार्थ प्रधान वचनों से स्तुति अर्थ को कहने वाले वचनों से अन्य कोई सर्वज्ञ का विधान करना असंभव ही है । पूर्व में किसी प्रमाण से अप्रसिद्ध स्वरूप सर्वज्ञ का उन आगम के वाक्यों से अनुवाद—कथन नहीं किया जा सकता है एवं अनादि आगम आदिमान् सर्वज्ञ का प्रतिपादन कर सके यह बात विरुद्ध ही है । तथा अनित्य—बनाया हुआ आगम भी सर्वज्ञ का प्रतिपादन नहीं कर सकता है क्योंकि उस सर्वज्ञ के द्वारा प्रणीत ही आगम उस सर्वज्ञ का प्रकाशक होवे यह कथन युक्त नहीं है अन्यथा परस्पराश्रय दोष आ जाता है । एवं नरांतर—भिन्न साधारण मनुष्य

1 सर्वज्ञसाधकम् । 2 प्रत्यक्षं संभवति इति पा० । संबन्धवर्तमानग्राहित्वात् । (व्या० प्र०) 3 गृहीतसंबन्धस्यैकदेशदर्शनादस्मिन्कृष्टेऽर्थे बुद्धिरनुमानमिति वचनादेकदेशदर्शने सत्यवानुमानोदयात् । मीमांसकानुमानलक्षणमिदं । (व्या० प्र०) 4 लिङ्गं भूत्वा य एकदेशः सर्वज्ञमनुमापयेदित्यर्थः । 5 सर्वज्ञं । (व्या० प्र०) 6 योगे । 7 वेदेऽपि सर्वज्ञप्रतिपादकं वाक्यमस्तीति शंका मनुष्यनिराकरोति । (व्या० प्र०) 8 अलावूनि निमज्जन्ति ग्रावाणः प्लवन्त इत्यत्रापि वेदे स्वरूपनिरूपकस्य आपः पवित्रमित्यादेरपि प्रामाण्यप्रसङ्गात् । 9 यो यागं करोति । 10 कर्माथवादः—यागप्रसांसावादः तत्स्तुतिकथनं वा । 11 सर्वज्ञरूपेर्षे । 12 च । (व्या० प्र०) 13 स्तुत्यर्थकथनपरः ।

संभवात् । पूर्व^१ २कृतश्चिदप्रसिद्धस्य तैरनुवादायोगात् । अनादेरागमस्यादिमत्सर्वज्ञप्रतिपादनविरोधाच्च^३ । नाप्यनित्यस्तत्प्रणीत एवागमस्तस्य प्रकाशको युक्तः, परस्पराश्रयप्रसङ्गात् । नरान्तरप्रणीतस्तु न प्रमाणभूतः सिद्धो यतः सर्वज्ञप्रतिपत्तिः स्यात् । असर्वज्ञप्रणीताच्च वचनान्मूल^४वर्जितात् सर्वज्ञप्रतिपत्तौ स्ववचनात्किन्न तत्प्रतिपत्तिरविशेषात् । तदुक्तं—

न चागमविधिः कश्चिन्नित्यः ^५सर्वज्ञबोधनः । न च ^६मन्त्रार्थवादानां^७ तात्पर्यमवकल्प्यते ॥१॥

^८न चान्यार्थप्रधानैस्तैस्तदस्तित्वं विधीयते । न चानुवदितुं शक्यः पूर्वमन्यैर^९बोधितः ॥२॥

अनादेरागमस्यार्थो न च सर्वज्ञ आदिमान् । कृत्रिमेण त्वसत्मेन^{१०} स कथं प्रतिपाद्यते ॥३॥

अथ ^{११}तद्वचनेनैव सर्वज्ञोऽज्ञैः^{१२} प्रतीयते । प्रकल्प्येत कथं सिद्धिरन्योन्याश्रययोस्तयोः ॥४॥

^{१३}सर्वज्ञोक्ततया वाक्यं सत्यं तेन^{१४} तदस्तिता । कथं तदुभयं सिद्ध्येत् ^{१५}सिद्धमूलान्तरादृते ॥५॥

का प्रणीत आगम प्रमाणभूत सिद्ध नहीं है कि जिससे सर्वज्ञ का ज्ञान हो सके । मूल से रहित—प्रमाणात्ता से रहित असर्वज्ञ के द्वारा प्रणीत आगम से सर्वज्ञ का ज्ञान मानने पर तो अपने वचनों से ही उस सर्वज्ञ का ज्ञान क्यों न मान लीजिये क्योंकि दोनों ही मान्यताओं में कोई अंतर नहीं है । कहा भी है—

इलोकार्थ—कोई नित्य आगम सर्वज्ञ का ज्ञान कराने वाला नहीं है और मन्त्रार्थवाद-स्तुति-कथनादिवाद, तात्पर्य—वास्तविक भी नहीं माना जा सकता है ॥१॥

अन्यार्थ प्रधान वचनों से—स्तुति आदि परक अथवा क्रियाकांड प्रधान वचनों से सर्वज्ञ का अस्तित्व नहीं कहा जा सकता है एवं पूर्व में अन्य प्रमाणों से नहीं जाने गये सर्वज्ञ का अनुवाद-कथन करना भी शक्य नहीं है ॥२॥

अनादि आगम भी आदिमान् सर्वज्ञ को नहीं कह सकता है एवं आदिमान्-कृत्रिम आगम असत्य है अतः उस असत्य से सर्वज्ञ कैसे कहा जावेगा ? ॥३॥

यदि आप कहें कि सर्वज्ञ के वचनों से ही अल्पज्ञजन सर्वज्ञ को जान लेते हैं तो यह कथन भी कैसे बनेगा क्योंकि अन्योन्याश्रय दोष आता है ॥४॥

सर्वज्ञ के द्वारा कहा गया होने से वचन (आगम) सत्य सिद्ध होगा और उस आगम से उस

1 आगमेन सर्वज्ञ स्यानुवादो भवतीत्युक्ते आह । 2 प्रमाणात् । 3 आदिमत्सर्वज्ञं प्रतिपादयति यदा तदा सर्वज्ञोऽ-
भूद्भवतिव्यति भवतीति त्रिरूपेणापि प्रतिपादने विरोधः । 4 मूलं प्रामाण्यम् । 5 सर्वज्ञबोधकः इति पा० ।
(व्या० प्र०) 6 अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम इति मन्त्रवाक्यं । स सर्ववित् स लोकविदिति अर्थवादः । (व्या० प्र०)
7 स्तुत्यादि (चोदनादि) वादानां सत्यत्वं नावगम्यते । विशेषेण स्पष्टीकरणं त्वस्य भावनाविवेकनास्ति ग्रन्थे कृतम् ।
8 न वाक्यार्थप्रधानैस्तैस्तदस्तीति वा पाठः । 9 प्रमाणैः । 10 कृत्रिमत्वादेवासत्यत्वम् । 11 सर्वज्ञवचनेन ।
12 सर्वज्ञोऽप्यैः इति पा० । जैनैः । (व्या० प्र०) 13 अन्योन्याश्रयं भावयति । 14 वाक्येन । 15 सिद्धं च तन्मू-
लान्तरं (प्रमाणान्तरं) च तत्तस्मात् ।

असर्वज्ञप्रणीतात् वचनान्मूलवर्जितात् । सर्वज्ञमवगच्छन्तः^१ स्ववाक्यात्किं न जानते ॥६॥”

इति । नोपमानमपि सर्वज्ञस्य साधकं, ^२तत्सदृशस्य जगति कस्यचिदप्यभावात् । तथोक्तं,—

सर्वज्ञ सदृशं कञ्चिद्यदि पश्येम सम्प्रति । उपमानेन सर्वज्ञं जानीयाम ततो^३ वयम्” ॥

इति । नार्थापत्तिरपि सर्वज्ञस्य साधिका, ^४तदुत्थापकस्यार्थस्यान्यथानुपपद्यमानस्या-
भावात् । धर्माद्युपदेशस्य ^५बहुजनपरिगृहीतस्यान्यथाभावात्^६ । तथा चोक्तम्—

“उपदेशो हि बुद्धादेर्धर्माधर्मादिगोचरः । ^७अन्यथाप्युपपद्येत^८ सर्वज्ञो यदि नाभवत् ॥१॥

बुद्धादयो ह्यवेदज्ञास्तेषां ^९वेदादसम्भवः । उपदेशः ^{१०}कृतोतस्तैर्व्यामोहादेव केवलात् ॥२॥

सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध होगा पुनः प्रसिद्ध मूलांतर के बिना—प्रमाणता के बिना वे उभय भी कैसे सिद्ध हो सकेंगे ? ॥५॥

एवं प्रमाण वर्जित—असर्वज्ञ प्रणीत आगम से सर्वज्ञ को स्वीकार करते हुये आपको अपने वाक्यों से ही सर्वज्ञ की सिद्धि क्यों नहीं हो जाती है ॥६॥

तथा उपमान प्रमाण भी सर्वज्ञ की सिद्धि करने वाला नहीं है क्योंकि सर्वज्ञ के सदृश कोई भी जगत में नहीं है जिसकी उपमा सर्वज्ञ को दे सकें । कहा भी है कि—

श्लोकार्थ—यदि सर्वज्ञ के सदृश किसी को इस समय हम देखें तब तो उपमान प्रमाण के द्वारा हम उसको जान सकें ।

अर्थापत्ति भी सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाली नहीं है क्योंकि उस अर्थापत्ति को उत्पन्न करने वाले पदार्थ में अन्यथानुपपद्यमान का अभाव है । बहुजनपरिगृहीत धर्मादि का उपदेश अन्यथा भी हो सकता है अर्थात् सर्वज्ञ के अभाव में भी धर्म अधर्म आदि का उपदेश संभव है क्योंकि वह बहुत जनों के द्वारा परिगृहीत है इसलिये धर्मादि का उपदेश सर्वज्ञ के साथ अविनाभाव रूप नहीं है कि जिससे वह सर्वज्ञ को सिद्ध कर सके ? कहा भी है—

श्लोकार्थ—बुद्ध, कपिल आदि का उपदेश धर्म-अधर्म आदि को विषय करने वाला है क्योंकि यदि सर्वज्ञ न होवे तो अन्यथा-सर्वज्ञ के अभाव में भी वह हो सकता है ॥१॥

बुद्धादि वेद के जानने वाले नहीं हैं अतः उनका उपदेश वेद से असंभव है फिर भी उन लोगों ने जो उपदेश दिया है वह केवल व्यामोह से ही किया है ॥२॥

१ अवगच्छन्तीति पा० । (व्या० प्र०) २ सर्वज्ञसदृशस्य । ३ सादृश्यात् । (व्या० प्र०) ४ अर्थापत्त्युत्थापकस्य । ५ सर्वज्ञाभावेपि धर्माद्युपदेशः संभवति बहुजनपरिगृहीतत्वात् । ततो धर्माद्युपदेशो नान्यथानुपपद्यमानो यतः सर्वज्ञ साधयेत् । ६ अन्यथापि भावात् इति पा० । (व्या० प्र०) ७ सर्वज्ञाभावे । ८ अन्यथा नोपपद्येत इति पाठान्तरम् । यद्येवं पाठस्तदा काकुरूपेण ध्येयः । ९ बसः । (व्या० प्र०) १० वेदादसंभवो यतः । (व्या० प्र०)

ये तु मन्वाद्यः सिद्धाः प्राधान्येन त्रयीविदाम्^१ । ^२त्रयीविदाश्रित^३ ग्रन्थास्ते वेदप्रभवोक्तयः^४ ॥३॥

इति । न^५ च प्रमाणान्तरं^६ सदुपलम्भकं सर्वज्ञस्य साधकमस्ति ।

[अत्र भरतक्षेत्रे, दुःषमकाले सर्वज्ञो नास्तीति; सा भूत् कितु अन्यत्र विदेहादिदेशे चतुर्थकाले वा सर्वज्ञः सिद्धचित्त न वेति विचारः क्रियते]

मा भूदत्रत्येदानीन्तनानामस्मदादिजनानां सर्वज्ञस्य साधकं प्रत्यक्षाद्यन्यतमं देशान्तर-कालान्तरवर्तिनां केषाञ्चिद्भवविष्यतीति चायुक्तं ।

“यज्जातीयैः^७ प्रमाणैस्तु यज्जातीयार्थदर्शनम् । दृष्टं सम्प्रति लोकस्य तथा कालान्तरेप्यभूत्”

इति वचनात् । तथा हि । विवादाध्यासिते देशे काले च प्रत्यक्षादिप्रमाणमत्रत्येदा-

त्रयीविदों में प्रधानता से जो मन्वादि ऋषि सिद्ध हैं उन त्रयीविदों के द्वारा किये गये ग्रंथ उनके आश्रित हैं वे वेद से उत्पन्न हुये हैं । अर्थात् ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद ये तीन वेद हैं इन तीनों वेदों के आश्रित जो कथन है वह त्रयीविदाश्रित है अतः मन्वादि रचित ग्रन्थ त्रयीविदाश्रित कहलाते हैं ॥३॥

इसलिये और कोई भी सदुपलम्भक-सत्ता को ग्रहण करने वाला प्रमाण नहीं है जो कि सर्वज्ञ के सद्भाव को ग्रहण कर सके ।

[इस भरतक्षेत्र में और इस पंचम काल में सर्वज्ञ नहीं है तो न सही किन्तु विदेहादिक्षेत्र में और चतुर्थ आदि काल में सर्वज्ञ सिद्ध है या नहीं ? इस पर विचार किया है ।]

यदि आप कहें कि यहाँ पर इस समय जन्म लेने वाले हम लोगों के पास सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाला प्रत्यक्षादि में से कोई भी एक प्रमाण भले ही न हो किन्तु देशान्तर-कालान्तरवर्ती किसी न किसी मनुष्य को सर्वज्ञ के अस्तित्व को सिद्ध करने वाला प्रत्यक्षादि में से कोई न कोई प्रमाण होगा ही । अर्थात् देशान्तर-विदेह क्षेत्र आदि देश एवं कालान्तर-चतुर्थ काल आदि काल में प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा किसी न किसी पुरुष को सर्वज्ञ का ज्ञान होता ही होगा । आप जैनादि का यह कथन भी अयुक्त है ।

श्लोकार्थ—“जिस जातीय—दूरादि नियत अर्थ को विषय करने वाले प्रमाणों से जिस जातीय पदार्थों को इस समय लोक—सभी जन देखते हैं । उस प्रकार का प्रत्यक्षादि ज्ञान ही देशान्तर और कालान्तर में भी होगा ॥” ऐसा वचन देखा जाता है । तथाहि “विवादाध्यासित देश—विदेहादि

१ मध्ये । २ “स्त्रियामृक् सामयजुषी इति वेदास्त्रयस्त्रयी” इत्यमरः । ३ त्रयीविद्भिराश्रिताः (व्याख्याताः) स्मृति-रूपा ग्रन्था ये स्मृतिग्रन्थास्ते त्रयीविदाश्रितग्रन्थाः । त्रयीवित्प्रधानमन्वादिक्ताः स्मृतिसाधारणास्त्रयीविद आश्रयन्तीति भावः । ४ वसः । (व्या० प्र०) ५ किञ्च । (व्या० प्र०) ६ सत्त्वं सर्वज्ञास्तित्वम् । ७ दूरादिनियतार्थगौरैः । ८ येषां देशान्तरादिस्थानां सजातीयैस्तत्सदुपलम्भकैरित्यर्थः । (व्या० प्र०)

नीन्तनप्रत्यक्षादिग्राह्यसजातीयार्थग्राहकं भवति तद्विजातीयसर्वज्ञाद्यर्थग्राहकं वा न भवति, प्रत्यक्षादिप्रमाणत्वादत्रत्येदानीन्तनप्रत्यक्षादिप्रमाणवत् ।

[अत्र जैनमतमाश्रित्य कश्चित् शंकते]

¹ननु च यथाभूतमिन्द्रियादिजनितं प्रत्यक्षादि सर्वज्ञाद्यर्थासाधकं दृष्टं तथाभूतमेव देशान्तरे कालान्तरे च तादृशं साध्यतेऽन्यथाभूतं वा ? तथाभूतं चेत् सिद्धसाधनम् । अन्यथा²-भूतं चेदप्रयोजको हि हेतुः जगतो बुद्धिमत्कारणकत्वे³ साध्ये सन्निवेशविशिष्टत्ववत्⁴ । इति चेत्तदसत्, तथाभूतस्यैव तथा साधनात् सिद्धसाधनस्याप्यभावात्⁵, 'अन्यादृशप्रत्यक्षाद्य-भावात्⁷ । तथा हि । ⁸विवादापन्नं प्रत्यक्षादिप्रमाणमिन्द्रियादिसामग्रीविशेषानपेक्षं न भवति,

और काल—चतुर्थ कालादि (भिन्न देश, काल) में होने वाले प्रत्यक्षादि प्रमाण भी इस समय में होने वाले प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ग्रहण करने योग्य सजातीय अर्थ को ग्रहण करने वाले के सदृश ही होते हैं अथवा उससे विजातीय सर्वज्ञादि अर्थ के ग्राहक नहीं होते हैं, क्योंकि वे प्रत्यक्षादि प्रमाण हैं यहाँ पर आजकल होने वाले हम और आप जैसे प्रत्यक्षादि प्रमाणों के समान" । अर्थात् विवाद की कोटि में आये हुए विदेहादि क्षेत्र एवं चतुर्थ आदि काल में होने वाले जो प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाण हैं वे वैसे ही हैं जैसे कि आजकल के हम लोगों के प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाण हैं । अतः जैसे आजकल हम लोग प्रत्यक्षादि के द्वारा सर्वज्ञ को जान नहीं सकते हैं वैसे ही अन्यक्षेत्र और अन्यकाल में किसी भी प्रत्यक्षादि के द्वारा सर्वज्ञ का ज्ञान नहीं हो सकता है ।

[यहाँ जैनमत का आश्रय लेकर कोई शंका करता है]

जिस प्रकार इन्द्रियादि से उत्पन्न होने वाले प्रत्यक्षादि प्रमाण सर्वज्ञादि को साधक—सिद्ध करने वाले नहीं देखे जाते हैं । देशांतर और कालांतर में तथाभूत—उसी प्रकार के प्रत्यक्षादि प्रमाण को आप सिद्ध करते हैं या अन्यथाभूत प्रमाण को ?

यदि तथाभूत कहो तो सिद्ध साधन दोष ही है अर्थात् हम जैन भी हम और आप जैसे के प्रत्यक्षादि ज्ञान से सर्वज्ञ का ग्रहण नहीं मानते हैं ।

यदि अन्यथाभूत—अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष कहो तो आपका हेतु अप्रयोजक (अहेतु) है जैसे जगत को

1 सिद्धान्त (जैन) पक्षमादाय वादी शङ्कते । 2 अतीन्द्रियजातं प्रत्यक्षम् । 3 बुद्धिमत्कारणत्वे इति पा० । (व्या० प्र०) 4 यथाहि बुद्धिमत्पूर्वं जगदेतत्प्रसाधयेत्तथा बुद्धिमतो हेतोरनेकत्वं प्रसाधयेत् शरीरित्वात् । (व्या० प्र०) 5 तथाभूत-स्यैव तथा साधनत्वं कुत इत्यारेकायामाह । (व्या० प्र०) 6 अतीन्द्रिय । (व्या० प्र०) 7 प्रत्यक्षस्याप्यभावात् इति पा० । (व्या० प्र०) 8 तथाभूतस्यैव तथासाधनत्वं कुत इत्यारेकायामाह ।

प्रत्यक्षादिप्रमाणत्वात् प्रसिद्धप्रत्यक्षादिप्रमाणवत्¹ । न² गृद्धवराहपिपीलिकादिप्रत्यक्षेण सन्नहितदेशविशेषानपेक्षिणा³ नक्तञ्चरप्रत्यक्षेण वालोकानपेक्षिणानेकान्तः, ⁴कात्यायनाद्यनु-
⁵मानातिशयेन जैमिन्याद्यागमाद्यतिशयेन⁶ वा । तस्यापीन्द्रियादि⁷प्रणिधानसामग्रीविशेष-
मन्तरेणासंभवात् ⁸स्वार्थात्⁹लङ्घनाभावाद¹⁰तीन्द्रिया¹¹ननुमेयाद्यर्थाविषयत्वाच्च ।

बुद्धिमत्कारणक सिद्ध करने में 'सन्निवेशविशिष्ट' हेतु अप्रयोजक है । अर्थात् प्रयोजनीभूत नहीं है ।

मीमांसक—आपका यह कथन असत् है । तथाभूत—इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षादि को ही हम उस प्रकार से (सर्वज्ञ को ग्रहण करने वाला) सिद्ध करते हैं एवं उसमें सिद्ध साधन दोष का भी अभाव है क्योंकि अन्य प्रकार के—अतीन्द्रिय प्रत्यक्षादि प्रमाण हैं ही नहीं । तथाहि—

“विवाद में आये हुए प्रत्यक्षादि प्रमाण इन्द्रियादि सामग्री विशेष से अनपेक्ष—अपेक्षा रहित नहीं होते हैं क्योंकि वे प्रत्यक्षादि प्रमाण हैं जैसे कि हम लोगों के प्रसिद्ध प्रत्यक्षादि प्रमाण ।” एवं सन्नहित देश विशेष की अपेक्षा न करने वाले गृद्ध, बराह, पिपीलिकादि के प्रत्यक्ष से अथवा आलोक की अपेक्षा न रखने वाले नक्तञ्चर—बिल्ली, घूक—उल्लू, मूषक आदि के प्रत्यक्ष से अनेकांत दोष भी नहीं है । अर्थात् गृद्ध पक्षी को सन्नहित—निकट चीज की अपेक्षा न होने पर भी चक्षु का ज्ञान हो जाता है, सूकर को सन्नहित की अपेक्षा बिना श्रोत्रेन्द्रिय का ज्ञान हो जाता है तथा पिपीलिका—चिउंटी को सन्नहित—निकट वस्तु के बिना भी घ्राणेन्द्रिय से सुगंधि आदि का ज्ञान हो जाता है तथा बिल्ली, उल्लू आदि को बिना प्रकाश के भी ज्ञान हो जाता है किंतु इनके प्रत्यक्ष से हमारा “प्रत्यक्षादि-प्रमाणत्वात्” हेतु अनैकांतिक नहीं है ।

और कात्यायन—वररुचि आदि के अनुमानातिशय से—व्याप्ति और स्मरण के बिना उत्पन्न अनुमान से अथवा जैमिनी आदि के आगम के अतिशय से—संकेत स्मरण के बिना होने वाले आगम से भी हेतु अनैकांतिक नहीं है क्योंकि वे भी इन्द्रियादि के प्रणिधान—एकाग्रता रूप सामग्री विशेष के बिना असंभव हैं एवं अपने विषय का उलंघन नहीं कर सकते हैं तथा वे अतीन्द्रिय और अननुमेय—इन्द्रिय और अनुमान के विषय से रहित पदार्थों को विषय नहीं करते हैं ।

भावार्थ—मीमांसक का कहना है कि जैसे हम लोगों का प्रत्यक्ष इन्द्रिय और मन की सहायता से होता है उसी प्रकार से सभी जीवों का प्रत्यक्ष इन्द्रियों की और मन की सहायता रखता ही है बिना

- 1 एतदनुमानस्य खण्डनमत एवाक्षानपेक्षाऽञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषो यथालोकानपेक्षा इति भाष्यव्याख्यानावसरे प्रोक्तं द्रष्टव्यम् ।
- 2 गृद्धस्य चाक्षुषं वराहस्य श्रोत्रं पिपीलिकायास्तु घ्राणजम् ।
- 3 विडालघूकमूषकादयो नक्तञ्चराः ।
- 4 कात्यायनी—वररुचिः ।
- 5 व्याप्तिस्मरणमन्तरेणोत्पन्नत्वलक्षणम् ।
- 6 सङ्घतस्मरणमन्तरेण ।
- 7 एकाग्रता ।
- 8 स्वार्थो नियतविषयः ।
- 9 रूपादि । (व्या० प्र०)
- 10 उक्तं एव भावयति अतीन्द्रियाननुमेयेत्यादिना । (व्या० प्र०)
- 11 अतीन्द्रियं च तदननुमेयं चेति द्वन्द्वः ।

[इन्द्रियाणि स्वविषयानेव गृह्णन्ति न तु परविषयानतः इन्द्रियज्ञानेन कश्चित्सर्वज्ञो भवितुं नाहंति]

तथा चोक्तं—

“यत्राप्यतिशयो^१ दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात् । दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ^२ स्यान्न रूपे श्रोत्रवृत्तिता^३ ॥१॥
 ४येपि ५सातिशया दृष्टाः^६ ७प्रज्ञामेधादिभिर्नराः । स्तोकस्तोकान्तरत्वेन न त्वतीन्द्रियदर्शनात्^८ ॥२॥
 प्राज्ञोपि हि नरः सूक्ष्मानर्थान् द्रष्टुं क्षमोपि सन् । ९स्वजातीरनतिक्राम^{१०}न्ततिशोते^{११} परान्नरान् ॥३॥

इन्द्रिय, मन की सहायता के प्रत्यक्ष ज्ञान असंभव है । जिन-जिन जीवों के इन्द्रिय ज्ञानों में विशेषता पाई जाती है वह विशेषता भी अपने-अपने विषय में ही पाई जाती है । जैसे कि गृध्र पक्षी को निकट की अपेक्षा न करके भी चक्षु इन्द्रिय से रूपी पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, सूकर को अतिदूर से कर्ण-इन्द्रिय से सुनाई दे देता है, चिउंटी को बहुत दूर की भी सुगंधि-दुर्गन्धि आ जाती है । यद्यपि इनके ज्ञानों में विशेषता पाई जाती है फिर भी चक्षु इन्द्रिय से देखने का ही ज्ञान होता है न कि सुनने और चखने का । तथैव नक्तंचर उल्लू आदि को बिना प्रकाश के भी अंधेरे में ज्ञान हो जाता है तो भी चक्षु इन्द्रिय से देखने का ही ज्ञान होता है न कि सूंघने आदि का । अतएव इन्द्रियजन्य ज्ञान में कितनी भी विशेषता क्यों न आ जावे वह ज्ञान अपने विषय में ही होता है । पुनः इन्द्रिय ज्ञान के सिवाय अतीन्द्रिय ज्ञान की कल्पना करना व्यर्थ ही है ।

[इन्द्रियां अपने-अपने विषय को ही ग्रहण करती हैं पर के विषय को नहीं, अतः इन्द्रियज्ञान से कोई भी सर्वज्ञ नहीं हो सकता है]

कहा भी है—

श्लोकार्थ—जिस इन्द्रिय में अतिशय देखा जाता है वह अपने विषय का उलंघन नहीं कर सकती है दूरवर्ती और सूक्ष्मादि रूप देखने में श्रोत्रेन्द्रिय का व्यापार नहीं हो सकता है ॥१॥

जो मनुष्य प्रज्ञा, मेधा आदि से भी अतिशयवान् देखे जाते हैं वे सूक्ष्म और उससे भी सूक्ष्मतर आदि को जानने से ही अतिशयशाली हैं किंतु अतीन्द्रिय पदार्थ को देखने रूप अतिशय वाले नहीं हैं ॥२॥

बुद्धिमान मनुष्य सूक्ष्म पदार्थों को देखने में समर्थ होता हुआ भी तत्तत् विषयक—उस उस विषय में अपनी जाति को उलंघन न करते हुये ही अन्य मनुष्यों का उलंघन करके उनसे विशेष कहा जाता है ॥३॥

1 इन्द्रिये । 2 क्रियमाणायाम् । 3 श्रोत्रवृत्तिः इति पा० । (व्या० प्र०) 4 ननु च प्रज्ञा स्मृत्यादिशक्तीनां प्रति-पुरुषमतिशयदर्शनात्सिद्धं कस्यचित्काष्ठाभापद्यमानं धर्मादिसूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्कारिप्रत्यक्षमित्यारेकायामाह । 5 ननु च प्रज्ञामेधाश्रुतिस्मृतिऋषोहप्रबोधशक्तीनां प्रतिपुरुषमतिशयदर्शनात्कस्यचित्प्रत्यक्षं सातिशयं सिद्धयत्यपरां काष्ठाभापद्यमानं धर्मादिसूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्कारि संभाव्यत एवेत्यारेकायामाह । (व्या० प्र०) 6 ते इति अध्याहाराः । (व्या० प्र०) 7 त्रिकालविषया प्रज्ञा, मेधा धीर्गारणावती, वर्तमानार्थग्राहिणी । (व्या० प्र०) 8 ननु कश्चित् प्रज्ञावान्पुरुषः शास्त्रविषयान् सूक्ष्मान् अर्थान् उपलब्धुं प्रभुरुपलभ्यते तद्वत् प्रत्यक्षतोऽपि धर्मादिसूक्ष्मानर्थान् साक्षात्कर्तुं क्षमः किमिति न संभाव्यते ज्ञानातिशयानां नियमयितुमशक्तैरित्याशंकायामाह । (व्या० प्र०) 9 तत्तद्विषयाणाम् । 10 कर्तुं । (व्या० प्र०) 11 अतिशयेन । (व्या० प्र०)

एकशास्त्र विचारेषु दृश्यतेतिशयो महान् । न तु शास्त्रान्तरज्ञानं¹ तन्मात्रेणैव लभ्यते ॥४॥
 ज्ञात्वा व्याकरणं दूरं बुद्धिः शब्दापशब्दयोः । प्रकृत्यते न नक्षत्रतिथिग्रहणनिर्णये ॥५॥
 ज्योतिर्विच्च प्रकृष्टोपि चन्द्रार्कग्रहणादिषु । न भवत्यादिशब्दानां साधुत्वं² ज्ञातुमर्हति ॥६॥
 तथा वेदेतिहासादिज्ञानातिशयवानपि³ । न स्वर्गदेवता⁴ऽपूर्वप्रत्यक्षीकरणे क्षमः ॥७॥
⁵दशहस्तान्तरं व्योम्नि यो नामोत्प्लुत्य गच्छति । न योजनमसौ गन्तुं शक्नोभ्याशतरपि ॥८॥ इति

[अतीन्द्रियज्ञानमपि असंभाव्यमेव]

न⁶ दृष्टप्रत्यक्षादि⁷विजातीया⁸तीन्द्रियप्रत्यक्षादिसंभावना यतः⁹ संभाव्यव्यभिचारिता¹⁰

जिसका एक शास्त्र के विचार में महान् अतिशयशाली ज्ञान देखा जाता है वह मनुष्य एक शास्त्र के ज्ञान मात्र से ही दूसरे शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता है ॥४॥

व्याकरण शास्त्र को जान करके ज्ञान शब्द और अपशब्द में दूर तक वृद्धिगत हो जाता है अर्थात् यह शब्द व्याकरण से शुद्ध है यह अशुद्ध है इत्यादि जान लेता है किन्तु वही ज्ञान नक्षत्र तिथि आदि के निर्णय में प्रस्फुट नहीं हो सकता है ॥५॥

उसी प्रकार से चंद्रग्रहण, सूर्यग्रहण आदिकों में विशेष प्रकृष्ट भी ज्योतिर्ज्ञानी मनुष्य “भवति गच्छति” आदि शब्दों को व्युत्पत्ति आदि के द्वारा अच्छी तरह से नहीं जान सकता है ॥६॥

उसी प्रकार से वेद इतिहास आदि ज्ञान के अतिशय वाला भी मनुष्य स्वर्ग, देवता, अपूर्व-पुण्य पाप आदि को प्रत्यक्ष देखने में समर्थ नहीं हो सकता है ॥७॥

जो आकाश में दस हस्त प्रमाण उछल कर जा सकता है वह सैकड़ों अभ्यास के द्वारा भी योजन पर्यंत जाने में समर्थ नहीं हो सकता है ॥८॥

[अतीन्द्रिय ज्ञान भी असंभव ही है]

इस प्रकार से कहा गया है, इसलिये देखे गये प्रत्यक्षादि प्रमाण से विजातीय अतीन्द्रिय प्रत्यक्षादि की संभावना करना शक्य नहीं है कि जिससे “प्रत्यक्षादिप्रमाणत्वात्” यह हेतु साध्य के साथ व्यभिचारी हो सके अर्थात् नहीं हो सकता है ।

1 एकशास्त्रज्ञानमात्रेण । 2 सिद्धि निष्पत्तिमिति यावत् । (व्या० प्र०) 3 पुरातननृपादिचरित्रग्रन्थसन्दर्भ इतिहासः । 4 अपूर्व पुण्यपापे । 5 अथश्रुतज्ञानमनुमानज्ञानंवाऽभ्यस्यमानमभ्याससात्मीभावे तदर्थसाक्षात्कारितया परां दशामासादयतीति सौगतमतमपाकर्तुकामः नवचिदभ्याससहस्रेणापि ज्ञानस्य विषयपरिच्छिन्ती विषयांतरपरिच्छित्तेरनुपपत्तिरिति वाष्पतिकं मनसिकृत्य तत्र दृष्टान्तमाह । श्रुतज्ञानं—परार्थानुमानरूपश्रुतमयिभावना । अनुमानं—स्वार्थानुमानरूपचित्तामयिभावना । साक्षात्कारितया—प्रत्यक्षीकरणतया इत्यर्थः । (व्या० प्र०) 6 यसः । (व्या० प्र०) 7 ता । (व्या० प्र०) 8 द्वन्द्वः । 9 अतीन्द्रियप्रत्यक्ष । ता । (व्या० प्र०) 10 संभाव्येनातीन्द्रिय (नेन्द्रिये) प्रत्यक्षादिना व्यभिचारः ।

^१साधनस्य स्यात् । पुरुषविशेषस्य ^२तत्सम्भावनायां ^३संभाव्यव्यभिचारित्वमेवेति चेन्न,
^४तस्यासिद्धत्वात्, साधकाभावात्सर्वपुरुषाणां ^५त्रिविप्रकृष्टार्थसाक्षात्कारित्वानुपपत्तेरिति ।

[अधुना मीमांसकाभिमत सर्वज्ञाभावस्य मीमांसां कुर्वति जैनाचार्याः ।]

^६तदेतत्सर्वमपरीक्षिताभिधानं मीमांसकस्य । न हि सर्वज्ञस्य निराकृतेः^७ प्राक् सुनि-
श्चितासंभवत्साधकप्रमाणत्वं सिद्धं येन परः^८ प्रत्यवतिष्ठेत । नापि बाधकासंभवात्परं^९
प्रत्यक्षादेरपि ^{१०}विश्वासनिबन्धनमस्ति, ^{११}तत्प्र^{१२}कृतेपि^{१३} सिद्धं^{१४} । यदि तत्सत्तां न साधयेत्^{१५}

यदि आप कहें कि पुरुष विशेष में उस अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष की संभावना होने पर वह हेतु संभाव्य से व्यभिचारी ही है, यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि वह पुरुष विशेष असिद्ध ही है । साधक प्रमाण का अभाव होने से सभी पुरुष तीन प्रकार के (देश, काल और स्वभाव से) विप्रकृष्ट-दूरवर्ती अर्थ का साक्षात्कार कर नहीं सकते हैं ।

इस प्रकार मीमांसक ने अपना पूर्वपक्ष रखा है ।

[अब मीमांसकाभिमत सर्वज्ञ के अभाव के विषय में जैनाचार्य मीमांसा करते हैं]

जैन—आप मीमांसक का यह सभी कथन अपरीक्षित—अविचारित ही है क्योंकि सर्वज्ञ के निराकरण के पहले “सुनिश्चितासंभवत्साधकप्रमाण” सिद्ध नहीं है कि जिससे आप मीमांसक हमारे प्रतिकूल कुछ बोल सकें अर्थात् आप हमारी प्रतिकूलता नहीं कर सकते हैं । “बाधक असंभव है” इससे भिन्न—अन्य कोई भी संवादकत्वादि हेतु प्रत्यक्षादि प्रमाण में भी विश्वास निमित्तक नहीं है ।

वह “बाधकासंभवत्व” प्रकृत-सर्वज्ञ में भी सिद्ध होता हुआ यदि उस सर्वज्ञ की सत्ता को सिद्ध न कर सके, तब तो सर्वत्र भी—सत्यदर्शन और असत्यदर्शन में समान होने से उस “सुनिश्चिता-संभवत्साधक प्रमाण” के अभाव में दर्शन—प्रत्यक्ष, अदर्शन—प्रत्यक्षाभास का उलंघन नहीं कर सकता क्योंकि कोई विश्वास नहीं है विभ्रम के समान ।”*

मीमांसक—सर्वज्ञ के निराकरण के पहले “सुनिश्चितासंभवत्साधकप्रमाण” सिद्ध नहीं होवे तो

1 प्रत्यक्षादिप्रमाणत्वादिति साधनस्य । 2 तस्य अतीन्द्रियप्रत्यक्षस्य । 3 भा । (व्या० प्र०) 4 पुरुषविशेषस्य । 5 देशकालस्वभाव । (व्या० प्र०) 6 अत्राह स्याद्वादी । 7 निराकृते सर्वज्ञे अनिराकृते वा सुनिश्चितासंभवत्साधक-प्रमाणत्वं वर्तते इति विकल्पाभिप्रायः । (व्या० प्र०) 8 परो मीमांसकः प्रत्यवतिष्ठेत (प्रतिकूलतामवलम्बेत) अपि तु नेत्यर्थः । 9 अन्यत् संवादकत्वादिकम् । 10 ता । (व्या० प्र०) 11 बाधकासंभवत्वम् । 12 सुनिश्चितासंभव-द्बाधकप्रमाणत्वं । (व्या० प्र०) 13 सर्वज्ञे । 14 सिद्धं सत् । 15 तर्हीति शेषः ।

¹सर्वत्राप्यविशेषात्तदभावे² ³दर्शनं ⁴नादर्शनमतिशेतेऽनाश्वासाद्विभ्रमवत्⁵ ।* ⁶स्यान्मतं
“मा सिद्धत्सर्वज्ञस्य निराकरणात्पूर्वं सुनिश्चितासंभवत्साधकप्रमाणत्व⁷ ⁸स्वप्रत्यक्षस्य सर्व-
ज्ञान्तरप्रत्यक्षस्य च ⁹तत्साधकस्य संभवात्, परोपदेशलिङ्गाक्षानपेक्षा¹⁰ऽवितथाऽशेष¹¹सूक्ष्माद्यर्थ-
प्रतिपादकतद्वचनविशेषात्मकलिङ्गजनितानुमानस्य च ¹²तत्साधकस्य ¹³सद्भावादनादिप्रव-
चनविशेषस्य¹⁴ च तदुद्द्योतितस्य ¹⁵तत्साधकत्वेन सिद्धेः । ¹⁶निराकरणादुत्तरकालं तु सिद्ध-
मेव” इति । ¹⁷तदपि स्वमनोरथमात्रं, सर्वज्ञनिराकृतेरयोगात् सर्वथा बाधकाभावात् ।

न सही किन्तु आपका जो कहना है कि स्वप्रत्यक्ष-स्वयं सर्वज्ञ का प्रत्यक्ष और सर्वज्ञान्तर प्रत्यक्ष-भिन्न सर्वज्ञ का प्रत्यक्ष ज्ञान उस सर्वज्ञ के साधक संभव है । परोपदेश हेतु और इन्द्रियों की अपेक्षा से रहित अवितथसत्य, अशेष सूक्ष्मादि पदार्थ के प्रतिपादक, उनके वचन विशेषात्मक हेतु से उत्पन्न हुये अनुमान उस सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाले मीजूद हैं और उस सर्वज्ञ से उद्योतित अनादि आगम विशेष भी सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाला प्रसिद्ध है । इस प्रकार से सर्वज्ञ की सिद्धि जो आपने की है उस सर्वज्ञ के निराकरण के अनंतर उत्तर काल में वह हमारा “सुनिश्चितासंभवत्साधक प्रमाणत्व” सिद्ध ही है जो कि अभाव प्रमाण रूप है । अर्थात् मीमांसक का कहना है कि आप जैन जो सर्वज्ञ के अस्तित्व को प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम से सिद्ध करते हो एवं कहते हो कि मीमांसक का “सुनिश्चितासंभवत्साधक प्रमाण” उस सर्वज्ञ के अस्तित्व का बाधक नहीं है सो बात सिद्ध नहीं है क्योंकि सर्वज्ञ के निराकरण के पहले हमारा सुनिश्चितासंभवत्साधक प्रमाण भले ही सिद्ध न हो किन्तु सत्ता को ग्रहण करने वाले पाँचों प्रमाणों के द्वारा उस सर्वज्ञ का निराकरण कर देने पर हमारा सुनिश्चितासंभवत्साधक प्रमाण रूप हेतु सिद्ध ही हो जाता है । सुनिश्चित रूप से असंभव है सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाला प्रमाण जिसमें उसे “सुनिश्चितासंभवत्साधकप्रमाण” कहते हैं एवं सुनिश्चित रूप से असंभव है बाधक प्रमाण जिसमें उसे “सुनिश्चितासंभवद् बाधक प्रमाण” कहते हैं और सुनिश्चितासंभवत्साधकप्रमाण-अभाव प्रमाण से हम सर्वज्ञ का अभाव कर देते हैं ।

जैन — यह कथन भी स्वमनोरथ मात्र ही है क्योंकि सर्वथा बाधक का अभाव होने से सर्वज्ञ के निराकरण का अभाव ही है ।

1 दर्शने दर्शनाभावे वा (सर्वज्ञस्य) सत्यदर्शने असत्यदर्शने च वा । 2 अविशेषात्सर्वत्रापि सुनिश्चितासंभवद्बाधक-
प्रमाणस्याभावे इत्यर्थः । 3 प्रत्यक्षम् । 4 प्रत्यक्षाभासं । (व्या० प्र०) 5 भ्रान्तिज्ञानवत् । (व्या० प्र०) 6 मीमांस-
कस्य । 7 कुतः । (व्या० प्र०) 8 सर्वज्ञस्य । (व्या० प्र०) 9 सर्वज्ञसाधकस्य । 10 अन्तरितदूरमिति । क्रिया-
विशेषणमेतत् । 11 अन्तरितदूर । (व्या० प्र०) 12 स सर्वज्ञः । 13 संभवादनादि इति पा० । (व्या० प्र०)
14 अर्थरूपस्य । (व्या० प्र०) 15 स सर्वज्ञः । 16 सर्वस्य । (व्या० प्र०) 17 सिद्धान्ती ।

[मीमांसको ब्रूते—अस्तित्वग्राहकपंचप्रमाणैः सर्वज्ञो न ज्ञायते अतोऽभावप्रमाणेन सर्वज्ञस्याभावोऽस्ति किन्तु जैनाचार्याः अभावप्रमाणस्याभावं कृत्वा सर्वज्ञं साधयन्ति ।]

१सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकनिवृत्तिलक्षणं २ज्ञापकानुपलम्भनं^३ सर्वज्ञस्य बाधकमिति चेन्न, ४तस्य ५स्वसम्बन्धिनः परचेतोवृत्तिविशेषादिना^६ व्यभिचारात्, सर्वसम्बन्धिनोऽसिद्धत्वात् । तदुक्तं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके ।

“स्वसम्बन्धि यदोदं^८ स्याद्व्यभिचारि पयोनिधेः । अम्भःकुम्भादिसंख्यानं^९ सद्भिरज्ञायमानकैः^{१०} ॥१॥ सर्वसम्बन्धि तद्बोद्धुं, किञ्चिद्बोधैर्न^{११} शक्यते । सर्वबोधोऽस्ति चेत्कश्चित्तद्बोद्धा किं निषिध्यते ॥२॥

[मीमांसक कहता है कि अस्तित्व को ग्रहण करने वाले पांचों ही प्रमाणों से सर्वज्ञ नहीं जाना जाता है अतएव अभाव प्रमाण के द्वारा सर्वज्ञ का अभाव करके सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध करते हैं ।]

मीमांसक—सत्ता को ग्रहण करने वाले पांच प्रमाणों का अभाव लक्षण, ज्ञापकानुपलब्धि रूप अभाव प्रमाण सर्वज्ञ को बाधित करने वाला है ।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते हैं क्योंकि हम आपसे ऐसा प्रश्न कर सकते हैं कि वह अभाव स्वसंबन्धी है या सर्व सम्बन्धी ? स्वसंबन्धी मानों तो परिचित के व्यापार विशेष आदि से व्यभिचार आता है और सर्व सम्बन्धी कहो तो असिद्ध है । उसी को तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक में कहा है ।

“यदि अभाव प्रमाण स्वसंबन्धी है तो अल्पज्ञों के द्वारा समुद्र के विद्यमान जलकुम्भादि की संख्या से व्यभिचारी है । अर्थात् समुद्र के पानी का घड़े आदि से मापने की संख्या का परिमाण तो हो सकता है किन्तु आपको तो यह ज्ञान नहीं है कि पूरे समुद्र में कितने घड़े पानी है अतः समुद्रके पानी में घड़ों की संख्या का परिमाण है किन्तु आपके पास उनका ज्ञापक प्रमाण नहीं है इस कारण आपका हेतु व्यभिचारी है ॥१॥

यदि सर्व संबन्धि अभाव कहो तो अल्पज्ञों के द्वारा उसे जानना शक्य नहीं है यदि सभी को जानने वाला कोई ज्ञाता है तो वही सर्वज्ञ है पुनः आप उस सर्वज्ञ का निषेध क्यों करते हैं ? अर्थात् यदि आप कहें कि सभी संसारी जीवों के पास सर्वज्ञ को जानने वाला कोई प्रमाण नहीं है तब तो अल्पज्ञ मनुष्य यह बात कैसे जान सकेगा कि जैन, नैयायिक, वैशेषिक आदि किसी के पास सर्वज्ञ को

1 सदुपलम्भकं सग्राहकम् । 2 अभावप्रमाणं । (व्या० प्र०) 3 विद्यमानदर्शकप्रत्यक्षादिप्रमाणपञ्चकाभावस्वरूपमभावप्रमाणम् । 4 तदुपलम्भनं स्वसंबन्धि—सर्वसंबन्धि वा इति विकल्पद्वयं कृत्वा दूषयति । स्वसंबन्धि—स्वस्याभावप्रमाणवादिनः संबन्धियज्ञापकपंचकं (प्रमाणं) तस्यानुपलम्भनं तस्य । सर्वसम्बन्धि—सर्वजनस्य । (व्या० प्र०) 5 सिद्धान्ती तदनुपलम्भनं स्वसम्बन्धि परसम्बन्धि वेति विकल्प्य क्रमेण दूषयति । स्वस्याभावप्रमाणवादिनः सम्बन्धि स्वसम्बन्धि । 6 परिचितव्यापारविशेषादिना व्यभिचारसम्भवात् । 7 तदा । (व्या० प्र०) 8 तदेति शेषः । 9 विद्यमानैः । 10 किञ्चिज्ज्ञेन । 11 अतीन्द्रियत्वात् ।

सर्वसम्बन्धि सर्वज्ञज्ञापकानुपलम्भनम् । न ^१चक्षुरादिभिर्वैद्यमत्यक्षत्वाददृष्टवत् ॥३॥
 नानुमानादलिङ्गत्वात् ^२व्यार्थापत्त्युपमागतिः^३ । ^४सर्वज्ञस्यान्यथाभावसादृश्यानुपपत्तितः ॥४॥
 सर्वप्रमातृसम्बन्धिप्रत्यक्षादिनिवारणात् । केवलागमगम्यं च कथं मीमांसकस्य तत्^५ ॥५॥
 कार्यैर्चोदनाज्ञानं प्रमाणं यस्य^६ सम्मतम् । तस्य ^७स्वरूपसत्तायां ^८तन्^९वातिप्रसङ्गतः^{१०} ॥६॥

जानने वाला प्रमाण नहीं है और यदि जानेगा तब तो सर्वप्राणियों को जानने से वही तो सर्वज्ञ सिद्ध हो जावेगा पुनः आप सर्वज्ञ का निषेध भी कैसे कर सकेंगे ? ॥२॥

दूसरी बात यह है कि सर्व सम्बन्धि सर्वज्ञ के ज्ञापकानुपलम्भ—अभाव प्रमाण को चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा जानना शक्य नहीं है क्योंकि वह अतीन्द्रिय अदृष्ट के समान है । अर्थात् जैसे पुण्य-पाप आदि इन्द्रिय से नहीं दिखते हैं वैसे ही वह ज्ञापकानुपलम्भ नहीं दिखता है ॥३॥

अनुमान से भी सर्वज्ञ के अभाव का ज्ञान नहीं है क्योंकि सर्वज्ञ अत्यंत परोक्ष है अतः उसके ज्ञापक हेतु का अभाव है एवं उस सर्वज्ञ के अभाव के साथ अन्यथाभाव और सादृश्य का अभाव होने से अर्थापत्ति और उपमान प्रमाण से भी सर्वज्ञ के अभाव का ज्ञान नहीं हो सकता है ॥४॥

सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध करने वाले उस “ज्ञापकानुपलम्भन” हेतु के जानने में सम्पूर्ण प्रमाता-ज्ञाता सम्बन्धी प्रत्यक्ष, अनुमान, अर्थापत्ति और उपमान प्रमाणों का निवारण हो जाने से तो मीमांसकों के यहाँ केवल आगम से उस सर्वज्ञ के अभाव का जानना कैसे सिद्ध हो सकेगा ? ॥५॥

क्योंकि जो मीमांसक वेदवाक्यों के अर्थ को कार्य—कर्मकांड के प्रतिपादक अर्थ में प्रमाण मानते हैं वे ही उन वेदवाक्यों को स्वरूप की सत्तारूप—परमब्रह्म को कहने वाले अर्थ में प्रमाण नहीं मानते हैं और यदि मानेंगे तो अतिप्रसंग दोष आ जावेगा अर्थात् “अन्नाद्वै पुरुषः” अन्न से पुरुष पैदा होता है ऐसे वेदवाक्यों को भी प्रमाण मानना पड़ेगा । तथा च चार्वाक मत का प्रसंग आ जावेगा अतः कर्मकांड के प्रतिपादक वाक्यों को ही मीमांसक प्रमाण मानते हैं किन्तु ज्ञापकानुपलम्भन के सिद्ध करने वाले वेदवाक्यों को वे प्रमाण नहीं मानते हैं अतः आगम से भी ज्ञापकानुपलम्भन की सिद्धि नहीं हुई कि जिससे सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध किया जा सके ॥६॥

1 अतीन्द्रियत्वात् । (व्या० प्र०) 2 अत्यन्तपरोक्षत्वेन सर्वज्ञस्य ज्ञापकलिङ्गाभावः । 3 भा द्विः । (व्या० प्र०) 4 सर्वस्यान्यथाभावसादृश्यानुपपत्तित इति वा पाठः । 5 सर्वज्ञज्ञापकानुपलम्भनम् । 6 मीमांसकस्य । 7 स्वरूप-शब्देन सर्वज्ञः । 8 सर्वज्ञज्ञापकानुपलम्भनम् । 9 अन्यथा—स सर्ववित् स लोकवित् हिरण्यगर्भः सर्वज्ञः इत्यादेरपि स्वरूपे प्रामाण्यं स्यात् । (व्या० प्र०) 10 आपः पवित्रमित्यादेरपि प्रामाण्यप्रसङ्गात् ।

१ तज्ज्ञापकोपलम्भस्याभावोऽभावप्रमाणतः । साध्यते चेन्न तस्यापि २ सर्वत्राप्यप्रवृत्तितः^३ ॥७॥
 गृहीत्वा ४ वस्तुसद्भावं स्मृत्वा तत्प्रतियोगिनम्^५ । मानसं नास्तित्ताज्ञानं येषामक्षानपेक्षया ॥८॥
 तेषामशेषनृज्ञाने^६ स्मृते^७ ८ तज्ज्ञापके क्षणे । जायेत नास्तित्ताज्ञानं मानसं तत्र नान्यथा ॥९॥
 न चाशेषनरज्ञानं ९ सकृत्साक्षादुपेयते^{१०} । न क्रमादन्य^{११} सन्तानप्रत्यक्षत्वानभोषिततः ॥१०॥

सर्वज्ञ को बतलाने वाले प्रमाण की उपलब्धि का अभाव प्रमाण से यदि आप अभाव सिद्ध करते हैं तो यह ठीक नहीं है क्योंकि वह अभाव प्रमाण भी सर्वत्र प्रवृत्ति नहीं कर सकता है । अर्थात् सभी पुरुषसंबन्धि सर्वज्ञ के अभाव को जानने में वह अभाव प्रमाण समर्थ नहीं हो सकता है ॥७॥

आप मीमांसकों के यहाँ ही अभाव प्रमाण का ऐसा लक्षण किया है कि वस्तु के सद्भाव को ग्रहण करके और जिसका अभाव सिद्ध किया है उसके प्रतियोगी का स्मरण करके एवं बहिरंग इन्द्रियों की अपेक्षा न करके केवल मन में 'नहीं है' यह ज्ञान होता है वह अभाव प्रमाण है । अर्थात् जैसे भूतल में घट का अभाव जाना जाता है । इस समय भूतल का चक्षु से या स्पर्शन इन्द्रिय से प्रत्यक्ष है ही और पहले देखे हुये घट का स्मरण है ऐसी दशा में मन इन्द्रिय से घटाभाव का ज्ञान हुआ ॥८॥

पुनः उन मनुष्यों को अशेष मनुष्यों का ज्ञान हो जाने पर तथा सर्वज्ञ ज्ञापक के काल का स्मरण हो जाने पर मन में 'सर्वज्ञ नहीं है' यह ज्ञान उत्पन्न हो सकता है अन्यथा नहीं हो सकता है । अर्थात् हम जैनों के यहाँ और नैयायिकों के यहाँ तो अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणों से हो जाता है किन्तु मीमांसक लोग अभाव के जानने में निषेध करने योग्य पदार्थ का स्मरण और निषेध की आधारभूत वस्तु का प्रत्यक्ष करना या दूसरे प्रमाणों से निर्णीत कर लेना आवश्यक मानते हैं । अतः उन मीमांसकों को सर्वज्ञ ज्ञापक प्रमाणों का अभाव रूप नास्तित्व मन और इन्द्रियों के द्वारा तभी ज्ञात हो सकेगा जब कि वहाँ के आधारभूत संपूर्ण मनुष्यों का ज्ञान किया जावे और उस समय सर्वज्ञ ज्ञापक प्रमाणों का स्मरण किया जावे इसके सिवा अन्य प्रकार से सर्वज्ञ ज्ञापक प्रमाणों की नास्तित्ता का ज्ञान किसी भी प्रकार से नहीं कर सकेंगे ॥९॥

और किसी को भी एक साथ सभी मनुष्यों का ज्ञान हो नहीं सकता है तथा क्रम से भी नहीं हो सकता है क्योंकि अन्य पुरुष के मनोव्यापारादि का प्रत्यक्ष होना किसी को इष्ट नहीं है एवं शक्य भी नहीं है । अर्थात् अभाव प्रमाण की उत्पत्ति में आधारभूत सभी मनुष्यों का ज्ञान होना आवश्यक है ऐसी आपकी मान्यता है किन्तु यह बात शक्य नहीं है ॥१०॥

1 प्रभाकरं निराकृत्य भट्टं निराकुर्वन्नाह तज्ज्ञापकेति । 2 सर्वपुरुषसम्बन्धिनि ज्ञापकानुपलम्भने । 3 सर्वजनसर्वज्ञ-
 ग्राहकप्रमाणाभावे । ता बहुः । (व्या० प्र०) 4 घटव्यतिरिक्तं भूतलं । (व्या० प्र०) 5 घटं । (व्या० प्र०) 6 लक्ष्ये
 योजयति । (व्या० प्र०) 7 सति । 8 सर्वज्ञज्ञापके काले । 9 युगपत् । (व्या० प्र०) 10 घटते । 11 अन्यपुरुष-
 मनोव्यापारादिप्रत्यक्षत्वानिष्टेः ।

यदा च क्वचिदेकत्र^१ भवेत्तन्नास्तित्वागतिः^२ । नैवान्यत्र^३ तदा^४ सास्ति क्वैवं सर्वत्र^५ नास्तिता ॥११॥
^६प्रमाणन्तरतोप्येषां^७ न सर्वपुरुषग्रहः । ^८तल्लिङ्गादेरसिद्धत्वात् ^९सहोदीरितदूषणात्^{१०} ॥१२॥
^{११}तज्ज्ञापकोपलम्भोपि सिद्धः पूर्व न जातुचित् । ^{१२}यस्य स्मृतौ प्रजायेत नास्तिताज्ञानमाञ्जसम्^{१३} ॥१३॥
^{१४}परोपगमतः सिद्धः स^{१५} चेन्नास्तीति साध्यते । ^{१६}व्याघातस्तत्प्रमाणत्वेन्योन्यं^{१७} सिद्धो न सोऽन्यथा ॥१४॥

और जब किसी एक मनुष्य में भी “सर्वज्ञ नहीं है” ऐसा ‘नास्तिता का ज्ञान हो जावेगा तब अन्य मनुष्य में वह नास्तिता का ज्ञान तो है नहीं पुनः सर्वत्र सर्वज्ञ नहीं है ऐसा “नास्तिता का ज्ञान” कैसे हो सकता है ? अर्थात् आप जब क्रम-क्रम से सबको जानेंगे तभी तो सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध करेंगे और क्रम-क्रम से से सभी मनुष्यों को जानना तो तीन काल में भी शक्य नहीं है ॥११॥

आप मीमांसकों के यहाँ सर्वज्ञ के ज्ञापक-बतलाने वाले प्रमाण के अभाव के आधारभूत संपूर्ण पुरुषों का ग्रहण अन्य अनुमान, अर्थापत्ति आदि प्रमाणों से भी नहीं हो सकता है क्योंकि उनके अविनाभाव, सादृश्य आदि गुणों को रखने वाले हेतु आदिक सिद्ध नहीं हैं । अनेक पुरुषों को क्रम से जानने में जो दूषण आते हैं वे ही दोष उन पुरुषों को जानने में जो हेतु या सादृश्य दिये जावेंगे उनमें भी साथ साथ ही आवेंगे अर्थात् अनेक पुरुषों के साथ व्याप्ति को रखने वाला कोई निर्दोष हेतु आपके पास नहीं है और न सादृश्य आदि ही हैं ॥१२॥

उस सर्वज्ञ को बताने वाले की उपलब्धि भी पूर्व में कदाचित् सिद्ध नहीं है । जिस ज्ञापकोपलम्भ की स्मृति होने पर वास्तव में नास्तिता का ज्ञान हो सके । अर्थात् आपके यहाँ अभाव प्रमाण की उत्पत्ति में प्रतियोगी का स्मरण भी कारण है और पूर्व में जाने हुये सर्वज्ञ के ज्ञापक प्रमाण का स्मरण हो सकता है परन्तु आपको तो सर्वज्ञ ज्ञापक प्रमाण का स्मरण नहीं है ॥१३॥

यदि हम जैनादि की स्वीकृति से वह सर्वज्ञ ज्ञापक प्रमाण—सर्वज्ञ को बतलाने वाला प्रमाण सिद्ध है पुनः “नास्ति” इस प्रकार से सिद्ध किया जाता है, तब तो व्याघात-परस्पर विरुद्ध दोष हो जाता है । यदि आप पर की स्वीकृति को प्रमाण मानते हो तो वादी और प्रतिवादी दोनों को ही वह सिद्ध है यदि कहो वह अप्रमाण है तो दोनों के यहाँ सिद्ध नहीं है । अर्थात् आप यदि हम सर्वज्ञवादी मत को प्रमाण मानते हैं तब तो सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाले प्रमाणों का अभाव नहीं कर सकेंगे और यदि सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध करते हो तो हमारी स्वीकृति तुम्हें प्रमाण नहीं रही, मतलब तुम हमारी अप्रमाणिक स्वीकृति से हमारा खंडन कैसे करोगे इसमें तो तुम्हारे यहाँ “वदतोव्याघात” नाम

१ नरे । २ सर्वज्ञनास्तितानिश्चितिः । ३ नरे । ४ नास्तित्वागतिः । ५ नरे । (व्या० प्र०) ६ अनुमानादिना । ७ मीमांसकानाम् । ८ अनुमाने लिङ्गस्य, उपमाने सादृश्यस्य, अर्थापत्ती त्वन्यथाभावस्य चाभावादित्यर्थः । ९ युगपत् । (व्या० प्र०) १० सर्वसम्बन्धि तद्बोद्धुं किञ्चिद्विधीनं शक्यते इत्यादिना पूर्वमेव नास्तित्वासिद्धौ प्रयुक्ते तत्र तत्र प्रत्येकप्रमाणे दूषणस्योक्तत्वात् । ११ मीमांसकानामसिद्ध एव । (व्या० प्र०) १२ तज्ज्ञापकोपलम्भस्य स्मृतौ सत्याम् । १३ पारमार्थिकं । (व्या० प्र०) १४ जैनाद्युपगमतः । १५ सर्वज्ञः । १६ कथं व्याघातस्तथाहि ।—तस्य परोपगमस्य प्रमाणत्वेन्योन्यं परस्परं (वादिप्रतिवादिनोः) स सिद्धः । अन्यथा (तदप्रमाणत्वे) अन्योन्यं परस्परमुभयोरेव न सिद्ध इति । १७ विधिप्रतिषेधयोः । (व्या० प्र०)

का दोष आ जाता है ॥१४॥

विशेषार्थ—मीमांसक का कहना है कि प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति रूप पाँचों ही प्रमाणों से सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है, अतएव अन्तिम छठे अभाव प्रमाण के द्वारा सर्वज्ञ का अभाव ही सिद्ध है इस अभाव प्रमाण का दूसरा नाम है “ज्ञापकानुपलंभन” मतलब बतलाने वाले प्रमाण का उपलब्ध न होना ।

मीमांसक के इस कथन पर जैनाचार्य प्रश्न करते हैं कि सर्वज्ञ के अस्तित्व को बतलाने वाला प्रमाण केवल आपको ही नहीं है या सभी जीवों के पास सर्वज्ञ को बतलाने वाला प्रमाण नहीं है ? यदि प्रथम पक्ष लेवो तब तो समुद्र के पूरे पानी में घड़ों की संख्या का परिमाण तो है किंतु आप के पास उनका ज्ञापक प्रमाण नहीं है अतः आपका हेतु व्यभिचारी हो गया । यदि आप दूसरा पक्ष लेवें कि सभी संसार के जीवों के पास सर्वज्ञ को बताने वाला कोई प्रमाण नहीं है तब तो हम और आप जैसे अल्पज्ञ जनों द्वारा यह बात जानना ही शक्य नहीं है कि सभी जीवों के पास सर्वज्ञ को बताने वाला कोई प्रमाण नहीं है और यदि आप किसी जीव को भी ऐसा सभी को जानने वाला मानते हो कि इन सभी के पास सर्वज्ञ ज्ञापक प्रमाण नहीं है तब तो सब को जानने वाले सर्वज्ञ का आप निषेध भी कैसे कर सकते हो ?

यदि आप मीमांसक यह कहें कि “षड्भिः प्रमाणैः सर्वज्ञो न वार्यत इति चायुक्तं” प्रत्यक्षादि छहों प्रमाणों से सम्पूर्ण पदार्थों को जानने वाले सर्वज्ञ का हम निषेध नहीं करते हैं । अनुमान या अपौरुषेय वेद रूप आगम से अनेक विद्वान्, परोक्ष रूप से सम्पूर्ण पदार्थों को जान लेते हैं यह कोई कठिन बात नहीं है किन्तु “एक अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा युगपत् सम्पूर्ण जगत् को जानने वाला कोई सर्वज्ञ है” इस बात का ही हम निषेध करते हैं । मतलब पुण्य, पाप आदि अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान वेद से ही होता है न कि प्रत्यक्ष ज्ञान से ।

इस कथन पर भी जैनाचार्य कहते हैं कि “अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान से कोई भी मनुष्य अतीन्द्रिय पदार्थों को नहीं जानता है” यह बात भी आप इन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं जान सकते हैं यदि जानेंगे तब तो आप ही सर्वज्ञ बन जावेंगे । इसी प्रकार से सर्वज्ञ के अभाव को कहने वाला यह अभाव प्रमाण अनुमान के द्वारा भी नहीं जाना जा सकता है तथैव उपमान और अर्थापत्ति से भी यह ज्ञापकानुपलंभन हेतु जाना नहीं जा सकता है एवं आप मीमांसक ने कर्मकांड के प्रतिपादक वेदवाक्यों को ही प्रमाण माना है, किंतु सर्वज्ञाभाव के साधने में समर्थ अभाव प्रमाण को सिद्ध करने वाले वेदवाक्यों को प्रमाण नहीं माना है अतः आगम से भी ज्ञापकानुपलंभ हेतु सिद्ध नहीं हो सकता है यदि आप सर्वज्ञ को बतलाने वाले प्रमाणों के अभाव को अभाव प्रमाण से कहो तो भी ठीक नहीं है क्योंकि आपके द्वारा मान्य अभाव प्रमाण की भी सभी जगह प्रवृत्ति नहीं हो सकती है । अर्थात् सर्वज्ञाभाव के आधार-भूत शुद्ध भूतल के सद्भाव को जान करके और जिसका अभाव सिद्ध किया गया है उस सर्वज्ञ का स्मरण करके बहिरंग इन्द्रियों की अपेक्षा से रहित जो मन में “यहाँ सर्वज्ञ नहीं है” यह ज्ञान होता है वह अभाव प्रमाण है जैसे पहले कभी किसी मंदिर में सर्वज्ञ को देखा था पुनः कुछ दिन बाद गये तो

वहाँ मंदिर खाली दिखा तब पूर्व में देखे हुये सर्वज्ञ का स्मरण हुआ और मन में ज्ञान हुआ कि “यहाँ सर्वज्ञ नहीं है” इसे अभाव प्रमाण कहते हैं। आप मीमांसक की अभाव प्रमाण की इस व्याख्या से तो बड़ी आफत आ जाती है क्योंकि पूर्व में देखे गये, जाने गये का ही वर्तमान में स्मरण हो सकता है बिना जाने पदार्थ का स्मरण ही असंभव है।

दूसरी तरह से यह भी प्रश्न होता है कि “सभी जीवों के पास सर्वज्ञ को बतलाने वाले प्रमाणों का अभाव है” इस बात को जानने के लिये आप सभी जीवों को एक साथ ही एक समय में जान लेते हो या क्रम से एक-एक को जानते हो ? क्रम-क्रम से अम्य सभी जीवात्माओं को जान लेना आपको इष्ट नहीं है क्योंकि क्रम-क्रम से जानने में तो अनंत काल निकल जावेगा कारण जीवराशि तो अनंतानंत है।

यदि आप कहें कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष से हम क्रम-क्रम से सभी जीवों को नहीं जानेंगे कि इनके पास सर्वज्ञ ज्ञापक कोई प्रमाण नहीं है किंतु अनुमान आदि से जल्दी से जान लेंगे तो आचार्य कहते हैं कि संपूर्ण जीवों के पास सर्वज्ञ ज्ञापक प्रमाण नहीं है इस बात को बताने के लिये अनुमान, आगम, उपमान आदि प्रवृत्त नहीं हो सकेंगे क्योंकि अविनाभावी हेतु सादृश्य आदि का अभावपूर्ववत् ही है।

यदि दूसरा पक्ष लेवो कि एक साथ ही हम सभी जीवों को जान लेंगे कि “इन सभी के पास सर्वज्ञ का ज्ञापक कोई प्रमाण नहीं है” तब तो आप ही सभी को युगपत् जान लेने से सर्वज्ञ हो जावेंगे। निष्कर्ष यह है कि मीमांसक अभाव प्रमाण से सर्वज्ञ का अभाव करना चाहता था किन्तु जैनाचार्य ने इस अभाव प्रमाण का ही अभाव करके सर्वज्ञ के सद्भाव को सिद्ध कर दिया है। मीमांसक ने पुनः एक बात कही है कि आप जैनादि सर्वज्ञ को बताने वाले प्रमाणों को मानते हैं थोड़ी देर के लिए हम उनको लेकर कल्पना से मान लेंगे पुनः अभाव प्रमाण से ज्ञापक प्रमाणों की उपलब्धि का अभाव सिद्ध कर देंगे।

इस पर जैन कहते हैं कि हम लोगों ने जो सर्वज्ञ के ज्ञापक प्रमाणों को माना है उन्हें लेकर पुनः तुम उनका अभाव करना चाहते हो तो पहले यह बताओ कि आप हमारे द्वारा मान्य सर्वज्ञ ज्ञापक प्रमाणों को सच्चे मानते हो या नहीं ? यदि सच्चे मानते हो तो आप उन प्रमाणों का अभाव नहीं कर सकोगे। अर्थात् सर्वज्ञवादी के मत को प्रमाण मानने पर आप ज्ञापकोपलंभ का अभाव नहीं कर सकते हैं यदि ज्ञापकोपलंभन का अभाव सिद्ध करते हो तो सर्वज्ञवादी के ज्ञापक प्रमाणों को आप प्रमाणीक नहीं मानते हो और यदि आप सर्वज्ञवादी के मन्तव्य को प्रमाण नहीं मानते हो तब तो संपूर्ण आत्माओं का ज्ञान और ज्ञापकोपलंभन रूप सामग्री के न होने से आपके उस अभाव प्रमाण की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। “सैयमुभयतः पाशांरज्जुः” रस्सी में दोनों तरफ फांसे हैं इस न्याय से आप मीमांसक को दोनों ही तरफ से सर्वज्ञ मानना पड़ता है। सर्वज्ञ का अभाव यदि अभाव प्रमाण से करते हैं तो भी मानना पड़ता है और यदि सर्वज्ञ का अभाव न करें तब तो वह स्वयं सिद्ध ही है।

नन्वेवं सर्वथैकान्तः परोपगमतः कथम् । सिद्धो निषिध्यते जैनैरिति चोद्यं न धीमताम् ॥१५॥
 प्रतीतेऽनन्तधर्मात्मन्यर्थे स्वयमबाधिते । को दोषः ^१सुनयैस्तत्रैकान्तोपप्लवसाधने^२ ॥१६॥
^३अनेकान्ते हि विज्ञानमेकान्तानुपलम्भनम् । तद्विधिस्तन्निषेधश्च^४ मतो ^५नैवान्यथा गतिः ॥१७॥
^६नैवं सर्वत्र सर्वज्ञज्ञापकानुपदर्शनम् । सिद्धं ^७तद्दर्शनारोपो^८ येन तत्र निषिध्यते ॥१८॥ इति ।

यदि आप कहें कि इस प्रकार से “सर्वथैकांत” भी पर की स्वीकृति से ही तो सिद्ध है पुनः उसका निषेध भी आप जैनी क्यों करते हैं आपका ऐसा प्रश्न करना ठीक नहीं है । अर्थात् सांख्य, बौद्ध आदि के एकांत मतव्य को आप जैन प्रमाण नहीं मानते हैं पुनः पर की स्वीकृति से ही तो उस एकांत का निषेध कैसे करेंगे ? ॥१५॥

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि हमारे यहाँ अनंत धर्मात्मक, स्वयं अबाधित पदार्थ का अनुभव होने पर सुनयों के द्वारा एकांत का अभाव सिद्ध करने में क्या दोष है ? अर्थात् जीव, पुद्गल आदि सभी पदार्थ अनंतधर्मात्मक अपने आप प्रमाण से सिद्ध हैं पुनः श्रेष्ठ प्रमाण नय की प्रक्रिया एवं सप्त-भंगी से उनको जान लेने से एकांत का अभाव स्वयं सिद्ध हो जाता है । जैसे तीव्र आतप से संतप्त पुरुष को छाया में भी स्फुलिंग दीखते हैं किंतु उनका निषेध कर दिया जाता है क्योंकि शुद्ध छाया का प्रत्यक्ष होना ही दृष्टि दोष से हुए अनेक असत् धर्मों का निषेध करना है । वास्तव में वहाँ निषेध कुछ नहीं केवल शुद्ध छाया का विधान है वैसे ही मिथ्या कल्पित एकांत का निषेध समझना ॥१६॥

अनेकांत में एकांत की उपलब्धि न होना रूप विज्ञान है वही अनेकांत की विधि और एकांत का निषेध है अन्य प्रकार से एकांत के अभाव का ज्ञान नहीं है । अर्थात् अनेक धर्मों का विधान ही एकांत का निषेध है हमारे यहाँ एकांत के अभाव को सर्वथा तुच्छाभाव रूप नहीं माना है प्रत्युत भावांतर रूप अनेकांत का होना ही माना है ॥१७॥

इस प्रकार से सर्वत्र सर्वज्ञ के ज्ञापक प्रमाण का अभाव सिद्ध नहीं है जिससे कि उस सर्वज्ञ के दर्शन की भ्रांति का वहाँ निषेध किया जा सके । अर्थात् जैसे हम सभी लोगों को सभी वस्तुओं में अनेकांत की उपलब्धि रूप एकांतों का नहीं दीखना सिद्ध है । यदि किसी को भ्रम वश एकांत की कल्पना हो भी जाती है तो उसका खण्डन कर दिया जाता है । इसी प्रकार से सभी पुरुषों को सर्वज्ञ ज्ञापक प्रमाणों का नहीं दीखना सिद्ध नहीं है कि जिससे आप उनका निषेध कर सकें अर्थात् आप सर्वज्ञ ज्ञापक प्रमाण का निषेध नहीं कर सकते हैं ॥१८॥

विशेषार्थ—मीमांसक का कहना है कि जैसे अभाव प्रमाण से सर्वज्ञ का अभाव करने में आपने अंतिम दोष दिखाया है वैसे तो आप भी दोषी हैं, देखो ! आप जैन सभी वस्तु को अनेकांत रूप मानते

१ सुयुक्तिभिः । २ एकांतोपप्लवसाधने इति पा० । अभाव । (व्या० प्र०) ३ गृहीत्वा वस्तुसद्भावमित्यादिप्रक्रिया जैनेषु नास्ति ततश्चास्माकं न किञ्चिद्दूषणमित्याहानेकान्ते इति । ४ एव । (व्या० प्र०) ५ गृहीत्वा वस्तुसद्भाव-मित्यादिप्रकारेण । ६ अनेकान्ते हीत्यादिप्रकारेणैव अनुपलम्भनं स्यादित्युक्ते सिद्धान्त्याह नैवमिति । ७ सर्वज्ञदर्शन-सद्भाव । (व्या० प्र०) ८ भ्रान्तिः ।

हो। आपका कहना है कि कोई भी वस्तु सर्वथा नित्य या सर्वथा क्षणिक आदि रूप है ही नहीं जैसा कि बौद्ध सांख्यदि मानते हैं इस प्रकार से जब आप एकांतों का सर्वथा ही अभाव मानते हो पुनः उन एकांतों का खण्डन भी कैसे करते हो ? क्योंकि एकांतों को माने बिना आप उनका निषेध भी नहीं कर सकेंगे। आपके सिद्धांतानुसार तो जिस वस्तु की विधि है—अस्तित्व है उसी का ही निषेध हो सकता है।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि हम स्याद्वादियों ने सर्वथा एकांतों के निषेध से ही अनेकांत की सिद्धि नहीं मानी है कि जिससे सर्वथा नास्तिक रूप और निषेध करने योग्य एकांतों का निषेध न किया जा सके। अर्थात् ऐसी बात नहीं है जो वस्तु सर्वथा है ही नहीं, उसके निषेध करने या विधि करने का किसी प्रमाता के पास अबसर ही नहीं है। हमारे यहाँ सर्वज्ञ भगवान् के द्वारा कथित सभी वस्तुयें अनंत धर्मात्मक ही हैं यह बात अबाधित रूप से सिद्ध है। ऐसी अवस्था में प्रमाण, नवों की प्रक्रिया को जानने वाले विद्वान् जन सर्वथा एकांत को दूषित कर देते हैं इसमें कोई बाधा ही नहीं आती है। किसी ने कहा कि “मैं सदा सत्य बोलता हूँ और झूठ बोलने का मुझे त्याग है” तो इसमें क्या बाधा आई ? हमने कहा कि सभी वस्तु अनेकांत स्वरूप हैं क्योंकि एकांत मान्यता में अनेक दोष आते हैं तो इस बात में कुछ भी बाधा नहीं आती है।

दूसरी बात यह भी है कि मिथ्यात्व कर्म के उदय से होने वाली सर्वथा एकांत रूप गलत धारणाएँ भी कथञ्चित् विद्यमान अवस्था को लिये हुये हैं वे सभी एकांत धारणाएँ अपने-अपने स्वरूप से विद्यमान होने से सत् रूप ही हैं अतः उन मिथ्या धारणाओं का निषेध करना ही तो एकांत का निषेध है क्योंकि जैन सिद्धान्त में नैयायिकों के द्वारा मान्य तुच्छाभाव को तो स्वीकार नहीं किया गया है। अतएव एकांतों के न दीखने से सर्वथा एकांतों का अभाव है ऐसा हम नहीं मानते हैं प्रत्युत वस्तुभूत अनंत धर्मात्मक अनेकांत का ज्ञान हो जाना एकांतों का अभाव है।

हमारे यहाँ अनेक धर्मों का जो विधान है वही एकांतों का निषेध है। नैयायिक या मीमांसकों के समान अन्य प्रकार से अभाव का ज्ञान होना हम नहीं मानते हैं। देखिये ! जैसे सब वस्तुओं में अनेकांत की उपलब्धि होने से एकांतों का नहीं दीखना हमें सिद्ध है। पुनः यदि किसी को हम भ्रमवश एकांत की कल्पना भी हो जाती है तो वह खंडित कर दी जाती है उसी प्रकार से सभी पुरुषों में सर्वज्ञ के बतलाने वाले प्रमाणों का न दीखना आपको सिद्ध नहीं है जिससे कि वहाँ सभी में आप सर्वज्ञ का वस्तुतः निषेध कर सकें। अर्थात् यदि आप इस प्रकार से निषेध करेंगे तो पूर्ववत् सभी दोष पुनः आपके ऊपर लागू हो जावेंगे। इसी विषय पर श्लोकवातिकालंकार में स्वयं श्री विद्यानंद महोदय ने बहूत ही विस्तृत प्रकाश डाला है। जैसे कि—

“आसन् संति भविष्यन्ति बोद्धारो विश्वदृश्वनः ।

मदन्धेऽपीति निर्णीतिर्यथा सर्वज्ञवादिनः ॥३२॥

किञ्चिज्ज्ञस्यापि तद्वन्धे तेनैवेति विनिश्चयः ।

इत्थयुक्तमशेषज्ञ—साधनोपाय—संभवात् ॥३३॥

सर्वज्ञस्य साधकं निर्दोषप्रमाणमस्ति ।]

तदेवमसिद्धं ज्ञापकानुपलम्भनं सर्वज्ञस्य न बाधकमिति सिद्धं सुनिश्चितासंभवद्बाधक-
प्रमाणत्वमेव ¹साधकम् । तथा हि । अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वात्प्रत्य-
क्षादिवत् । प्रत्यक्षादेस्तावद्विश्वास²निबन्धनं बाधकासंभव एव सुनिश्चितः । न ततोऽपरं
संवादकत्वं प्रवृत्तिसामर्थ्यमदुष्टकारणजन्यत्वं वा, ³तस्य ⁴तत्रावश्यं भावादिति । प्रत्यक्षादि-
प्रमाणमुदाहरणं, वादिप्रतिवादिनोः प्रसिद्धत्वात् ⁵साध्यसाधनधर्माविकलत्वात् । सुनिश्चि-

यथाहमनुमानादेः सर्वज्ञं वेद्यं तत्त्वतः ।

तथान्येऽपि नराः सन्तस्तद्बोद्धारो निरंकुशा ॥३४॥”

अर्थ—संपूर्ण पदार्थों को प्रत्यक्ष जानने वाले जो सर्वज्ञ हैं उनको जानने वाले मुझसे अतिरिक्त
दूसरे पुरुष पहले यहाँ हो चुके हैं, इस समय भी अन्य क्षेत्रों में सर्वज्ञ को प्रत्यक्ष देखने वाले पुरुष और
यहाँ पर भी आगम, अनुमान से सर्वज्ञ को जानने वाले पुरुष विद्यमान हैं और भविष्य में भी होते
रहेंगे । इस प्रकार का निर्णय जैसे सर्वज्ञवादी को है उसी प्रकार से मुझ मीमांसक को भी यह निश्चय
है कि भूतकाल में भी सभी जन अल्पज्ञ थे, अभी हैं और भविष्य में भी होते रहेंगे । सर्वज्ञ और सर्वज्ञ
का ज्ञाता कोई भी पुरुष न हुआ है, न है और न होगा । संपूर्ण मनुष्य त्रिकाल में अल्पज्ञ अवस्था में ही
हैं और अल्पज्ञों को ही जानने वाले हैं इस प्रकार से मीमांसक की बात सुनकर जैनाचार्य कहते हैं कि
भाई ! आपका कथन युक्ति संगत नहीं है क्योंकि सर्वज्ञ के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले प्रमाणभूत
उपाय संभव हैं । देखिये ! जैसे कि मैं अनुमान, आगम आदि प्रमाणों से सर्वज्ञ को वास्तविक रूप से
जान लेता हूँ । तथैव दूसरे विचारशील सज्जन पुरुष भी बाधक प्रमाणों से रहित होकर उस सर्वज्ञ को
जान लेते हैं और आज भी प्रेक्षावान्-बुद्धिमान् मनुष्य विद्यमान हैं । इसी प्रकार से आगे स्वयं श्री
विद्यानंद स्वामी “सुनिश्चितासंभवद् बाधक प्रमाण” से सर्वज्ञ के अस्तित्व को सिद्ध कर रहे हैं ।

[सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाला प्रमाण विद्यमान है]

इस प्रकार से यह ज्ञापकानुलम्भन हेतु सर्वज्ञ का बाधक नहीं है इसलिये “सुनिश्चितासंभवद्-
बाधक प्रमाण” हेतु ही सर्वज्ञ का साधक सिद्ध है । तथाहि—“सर्वज्ञ है क्योंकि सुनिश्चितासंभवद्
बाधक प्रमाण है प्रत्यक्षादि के समान ।”

प्रत्यक्षादि प्रमाण में विश्वास निमित्तक बाधक का न होना ही सुनिश्चित है उससे भिन्न
प्रवृत्तिसामर्थ्य अथवा अदुष्ट कारण जन्यत्व हेतु संवादक-विश्वास निमित्तक नहीं हैं क्योंकि वे संवाद-
कत्वादि उस “सुनिश्चितासंभवद्बाधक” में अवश्यभावी हैं एवं इस अनुमान में “प्रत्यक्षादि प्रमाण”
उदाहरण हैं क्योंकि वे वादी और प्रतिवादी दोनों को प्रसिद्ध हैं और साध्य-साधन धर्म से

1 सर्वज्ञस्य । 2 विश्वासस्य प्रतीतेः । 3 संवादकत्वादेः । 4 सुनिश्चितासंभवद्बाधके । 5 अस्तित्व । (व्या० प्र०)

तासंभवद्बाधकप्रमाणश्च¹ स्यादविद्यमानश्चेति सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकमिदं साधनं न मन्तव्यं, ²विपक्षे बाधकसद्भावात् । तथा हि । यदसत्तत्र सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणम् । यथा मरीचिकायां तोयं सम्भवद्बाधकप्रमाणं, मेरुमूर्द्धनि मोदकादिकं च ³सन्दिग्धासंभवद्बाधकम् । सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणश्च सर्वज्ञः । इति प्रकृते सर्वज्ञे सिद्धमपि साधनं यदि सत्तां न ⁴साधयेत्तदा ⁵दर्शनं नादर्शनमतिशयोक्त⁶, अनाश्वासात् स्वप्नादिविभ्रमवत्, ⁷तस्य सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वस्याभावे⁸ सर्वत्र दर्शने दर्शनाभासे च विशेषाभावात् ।

[सर्वज्ञस्य साधकबाधकप्रमाणे स्तोऽतः सर्वज्ञस्य सद्भावे संशयोऽस्तीति मन्यमाने प्रत्युत्तरं]

⁹साधकबाधकप्रमाण¹⁰भावात्सर्वज्ञे संशयोऽस्त्वित्युक्तं, यस्मात्साधक¹¹बाधकप्रमाणयोर्निर्णयात् ¹²भावाभावयोरविप्रतिपत्तिरनिर्णयादारेका¹³ स्यात्* । साधकनिर्णयात्तत्सत्तायामविप्रतिपत्ति-

अविकल हैं—रहित नहीं हैं । अर्थात् अनुमान प्रयोग में दृष्टांत की कोटि में उसे ही रखा जाता है जो वादी और प्रतिवादी दोनों को मान्य हो एवं साध्य के धर्म और साधन के धर्म से भी सहित होवे । यहाँ “प्रत्यक्षादिप्रमाणवत्” यह उदाहरण भी निर्दोष है । “सुनिश्चितासंभवद्बाधक” प्रमाण भी होवे और अविद्यमान भी होवे इस प्रकार से यह हेतु संदिग्ध विपक्षव्यावृत्तिक है ऐसा भी नहीं मानना चाहिये । अर्थात् विपक्ष से व्यावृत्त होने में संदेह है ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि विपक्ष में बाधक का सद्भाव है । तथाहि—‘जो असत् है वह सुनिश्चितासंभवद् बाधक प्रमाण नहीं है, जैसे मरीचिका में जल संभवद् बाधक प्रमाण है, मेरु के शिखर पर लड्डू रखे हुये हैं यह संदिग्धासंभवद् बाधकत्व है । अर्थात् इसमें बाधा न होना संदिग्ध है और सर्वज्ञ सुनिश्चितासंभवद् बाधक प्रमाण स्वरूप है । इस प्रकार से प्रकृत सर्वज्ञ में सिद्ध होता हुआ भी हेतु यदि सर्वज्ञ की सत्ता को सिद्ध न करे तब तो प्रत्यक्ष प्रमाण अप्रत्यक्ष का उलंघन नहीं कर सकेगा क्योंकि उसमें कोई विश्वास नहीं रहेगा स्वप्नादि के भ्रान्तज्ञान के समान ।’ क्योंकि वह प्रत्यक्ष सुनिश्चितासंभवद् बाधक प्रमाण के अभाव में सर्वत्र प्रत्यक्ष और प्रत्यक्षाभास में समान ही है ।

[सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाले और बाधित करने वाले दोनों ही प्रमाण पाये जाते हैं अतः सर्वज्ञ है या नहीं ? यह संशय ही बना रहेगा, ऐसी मान्यता का उत्तर]

मीमांसक—साधक और बाधक दोनों ही प्रमाणों का सद्भाव होने से सर्वज्ञ में संशय हो

1 सर्वज्ञ । (व्या० प्र०) 2 असति । (व्या० प्र०) 3 मेरुमूर्द्धनि मोदकादिसत्ताऽसत्तयोः साध्ययोरुभयत्रापि सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वस्य हेतोः संभवात् । 4 सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वं स्वसाध्यं यदि न साधयेत्तदा विद्यमानमप्यविद्यमान एवेति भावः । (व्या० प्र०) 5 प्रत्यक्षम् । 6 दर्शनादर्शनयोर्विश्वासनिबन्धनत्वात् । (व्या० प्र०) 7 प्रत्यक्षस्य । 8 विश्वासनिबन्धनत्वाभावस्य । (व्या० प्र०) 9 मीमांसकाशङ्का । 10 साधकबाधकाभावात् इति पा० । (व्या० प्र०) 11 साधकप्रमाणस्य निर्णयोऽस्ति अग्न्यादी बाधकप्रमाणस्य निर्णयोऽस्ति मेरुमरीचिकायां जलमिति । (व्या० प्र०) 12 सर्वज्ञस्य । 13 संशोतिर्यस्मात् । * मुद्रित अष्टशती में “साधक से स्यात्” पर्यंत अष्टशती नहीं मानी है किन्तु मुद्रित अष्टशती एवं हस्तलिखित अष्टशती (दि० प्र०) तथा हस्तलिखित अष्टशती व्यावर प्रति में यह पाठ अष्टशती है । (व्या० प्र०)

बाधकनिर्णयात्त्वसत्तायाम्^१ । उभयनिर्णयस्तु न संभवत्येव क्वचित्^२, ^३व्याघातात् साधक-
बाधकाभावनिर्णयवत्^४ । साधकानिर्णयात्पुनः सत्तायामारेका स्याद्बाधकानिर्णयादसत्ताया-
मिति विपश्चितामभिमतो^५ न्यायः । ततो भवभृतां प्रभौ सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वं
सत्तायाः साधकं सिध्यत् सुनिश्चितासंभवत्साधकप्रमाणत्वं व्यावर्तयत्येव, ^६विरोधात् ।
^७नैवमेतत्तत्र^८ सिध्यति येन सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वस्य व्यावर्तकं स्यात् । ^९ततः
सिद्धो भवभृतां प्रभुः सर्वज्ञ एव ।

जावेगा । अर्थात् सर्वज्ञ के अस्तित्व को सिद्ध करने वाला भी प्रमाण मौजूद है एवं सर्वज्ञ के नास्तित्व
को बतलाने वाला—सर्वज्ञ को बाधित करने वाला प्रमाण भी मौजूद है पुनः सर्वज्ञ है या नहीं ? यह
शंका सहज ही बनी रहेगी इसका निवारण कैसे हो सकेगा ?

जैन—यह कथन भी अयुक्त है क्योंकि साधक और बाधक प्रमाण का निर्णय होने से तो सर्वज्ञ
के सद्भाव और अभाव में विसंवाद है नहीं प्रत्युत इस प्रकार का निर्णय न होने से ही शंका हो
सकती थी* । देखो ! सर्वज्ञ के साधक प्रमाण का निर्णय होने से तो सर्वज्ञ के अस्तित्व में विसंवाद
नहीं है एवं सर्वज्ञ के बाधक प्रमाण का निर्णय होने से उस सर्वज्ञ के नास्तित्व में विसंवाद नहीं है किंतु
एक साथ दोनों का निर्णय तो किसी भी वस्तु में संभव ही नहीं है क्योंकि साधक और बाधक दोनों
का एकत्र रहना विरुद्ध है जैसे एक ही पदार्थ एक साधक और बाधक के अभाव का निर्णय होना विरुद्ध
है उसी प्रकार एक ही वस्तु में साधक एवं बाधक का सद्भाव होना भी विरुद्ध है । साधक का निर्णय
न होने से सर्वज्ञ की सत्ता में शंका हो सकती है और बाधक का निर्णय न होने से सर्वज्ञ की असत्ता
में आशंका होती है, इस प्रकार से विद्वानों का न्याय ही सर्वत्र अभिमत—मान्य है । मतलब दोनों में
से कोई एक ही शंका हो सकती है दोनों शंकायें एक साथ असंभव हैं । इसलिये संसारी जीवों के स्वामी
में “सुनिश्चितासंभवद् बाधक प्रमाण” सर्वज्ञ की सत्ता को सिद्ध करता हुआ “सुनिश्चितासंभवद्साधक
प्रमाण रूप हेतु” को व्यावृत्त—निराकृत ही कर देता है क्योंकि दोनों का परस्पर में विरोध है ।
अर्थात् जहाँ “सुनिश्चितासंभवद् बाधक प्रमाण” हेतु है वहाँ “सुनिश्चितासंभवद्साधकत्व हेतु संभव नहीं
है और यह सुनिश्चितासंभवत् साधक” हेतु सर्वज्ञ में सिद्ध भी नहीं है कि जिससे वह सुनिश्चितासंभवद्-
बाधक प्रमाणत्व हेतु का व्यावृत्तक—निवारण करने वाला हो सके । अर्थात् हमारे इस हेतु की व्यावृत्ति
नहीं हो सकती है ।

इस प्रकार निर्दोषत्व हेतु से संसारी जीवों का प्रभु सर्वज्ञ ही है यह बात सिद्ध हो गई ।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि “बाधा का न होना जिसमें सम्यक् प्रकार से निश्चित है” उसे

१ निर्णये त्वसत्तायां इति पा० । (व्या० प्र०) २ वस्तुनि । ३ विरोधात् । ४ यत्र साधकाभावस्तत्र बाधकसद्भावः ।
यत्र च बाधकाभावस्तत्र साधकसद्भावः । न त्वेकत्र साधकबाधकाभावो यथा तथा तदुभयनिर्णयोपि न । ५ सर्वत्र ।
६ सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वं यत्र तत्र सुनिश्चितासंभवत्साधकत्वं न घटते, अन्योन्यविरोधात् । ७ सुनिश्चितासंभव-
त्साधकप्रमाणत्वम् । ८ सर्वज्ञे । ९ निर्दोषत्वाद्देतोः ।

[मीमांसक आत्मानं ज्ञानस्वभावं न मन्यते तस्योत्तरं]

न खलु ज्ञस्वभावस्य कश्चिदगोचरोस्ति यन्न क्रमेत्, ¹ ²तस्वभावान्तरप्रतिषेधात्* । कुतः

मुनिश्चिततासंभवद् बाधक प्रमाण कहते हैं । यदि कोई कहे कि—निर्दोष कारणों से उत्पन्न होने से या प्रवृत्ति की सामर्थ्य से अथवा विसंवाद न होने से इन तीन हेतुओं से या तीनों में से किसी एक हेतु से सर्वज्ञ के सद्भाव को प्रमाणभूत सिद्ध कर सकते हो तो इस पर आचार्यों का कहना है कि हमारे यहाँ “बाधा का न होना जिसमें मुनिश्चित है” ऐसे निर्दोष प्रमाण से ही सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध करते हैं । अदुष्टकारण जन्यत्व, प्रवृत्ति सामर्थ्य और विसंवाद रहितत्व का हमारे यहाँ कोई भी महत्त्व नहीं है और शून्यवाद के खंडन में इनका खंडन भी कर दिया गया है ।

दूसरी बात यह भी है कि जहाँ हमारा हेतु विपक्ष से व्यावृत्ति रूप है यह बात निस्संदेह सिद्ध है इसमें संदेह भी नहीं है वहाँ अपने आप विसंवाद रहित आदि अवस्थायें आ जाती हैं क्योंकि जिसमें बाधा नहीं है उसमें संवादकत्व, निर्दोषकारणजन्यत्व तो स्वयं ही विद्यमान हैं । जैसे कि वर्तमान काल के लौकिक—सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष अथवा अनुमान आदि में बाधा का न होना मुनिश्चित होने से ही प्रमाणता मानी जाती है उसी प्रकार से हमारे यहाँ भी “मुनिश्चिततासंभवद्बाधकत्व” हेतु भी प्रमाणीक ही है क्योंकि सर्वत्र या कहीं भी क्यों न हो, बाधा का न होना जब निश्चित हो जाता है तभी वहाँ उस विषय में विश्वास देखा जाता है किंतु जहाँ बाधा संभव है या बाधा के होने में संदेह है वहाँ पर विश्वास भी नहीं होता है ।

इस पर मीमांसक ने कहा है कि आप जैन तो सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाला प्रमाण प्रस्तुत कर रहे हैं और हम सर्वज्ञ को बाधित करने वाला प्रमाण दे रहे हैं । अब दोनों में किसकी बात सत्य समझी जावे जबकि साधक—बाधक दोनों ही प्रमाण विद्यमान हैं अतः सर्वज्ञ के अस्तित्व को मानने में तो हमेशा ही संशय बना रहेगा ।

जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसी बात भी नहीं है क्योंकि एक सिद्धांतवादी हम अथवा आप दोनों को एक साथ मानते नहीं हैं । देखो ! हम तो साधक प्रमाण से अस्तित्व सिद्ध कर देते हैं और आप बाधक से नास्तित्व । इसलिए आपके यहाँ सर्वज्ञ का अभाव है किन्तु हमारे यहाँ सद्भाव है, पुनः संशय का होना कैसे रहा ? किसी को भी सर्वज्ञ के साधक प्रमाणों का निर्णय होगा तब वह सर्वज्ञ की सत्ता को मान लेगा और जब बाधक प्रमाण का निर्णय होगा तब वह सर्वज्ञ का अभाव कह देगा किन्तु किसी को भी संशय का प्रसंग नहीं रहेगा । हाँ ! जिस वस्तु को कोई एक सत्य कह रहा है और उसी वस्तु को यदि कोई दूसरा असत्य कह रहा है तब तीसरा कोई आवे तो उसे संशय हो सकता है कि इन दोनों में किसकी बात सत्य है और किसकी असत्य, किन्तु सत्य और असत्य को कहने

1 जानीत । (व्या० प्र०) 2 तस्वभावान्तरम् = अज्ञत्वलक्षणम् ।

‘पुनस्तस्याज्ञत्वलक्षणस्वभावान्तरप्रतिषेधः सिद्धो यतोसौ ज्ञस्वभाव एव स्यात् ! सर्वश्चार्थ-
स्तस्य विषयः स्यात् ? ततस्तं ^२क्रमेणैव ? इति चेत् ^३चोदना^४बलाद्भूताद्य^५शेषार्थज्ञाना-
^६न्यथानुपपत्तेः^७ । सोयं^८ चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं विप्रकृष्टमित्येवंजातीयकमर्थ-
मवगमयितुमलं पुरुषविशेषानिति स्वयं प्रतीयन्^९ सकलार्थज्ञानस्वभावतामात्मनो न प्रत्येतीति
^{१०}कथं स्वस्थः ? तच्च न ज्ञानमात्मनो भिन्नमेव मीमांसकस्य कथञ्चिदभेदोपग^{११}मादन्यथा^{१२}
^{१३}मतान्तरप्रसङ्गात् । ततो नाज्ञस्वभावः पुरुषः क्वचिदपि^{१४} विषये, सर्वविषये चोदनाज्ञानो-

वाले दोनों में से किसी को भी संशय नहीं है क्योंकि एक तो अपनी वस्तु को सत्य मान चुका है और दूसरा असत्य मान चुका है । इसलिये सर्वज्ञवादी और सर्वज्ञाभाववादी सभी जनों के यहाँ संशय को स्थान नहीं है । अब जो सर्वज्ञ साधक प्रमाणों से निश्चित सिद्ध हो चुके हैं वे सर्वज्ञ भगवान् संसारी प्राणियों के स्वामी हैं ऐसा समझना चाहिये ।

[मीमांसक आत्मा को ज्ञान स्वभाव नहीं मानता है उसका उत्तर]

ज्ञान स्वभाव आत्मा के कोई वस्तु अगोचर नहीं है जिसे कि वह सर्वज्ञ न जान सके क्योंकि उस सर्वज्ञ के स्वभावांतर—अज्ञत्व लक्षण का प्रतिषेध है* ।

शंका—उस सर्वज्ञ के अज्ञत्व—अज्ञानावस्था लक्षण स्वभावांतर का प्रतिषेध कैसे सिद्ध है कि जिससे वह ज्ञान स्वभाव ही हो सके और सभी पदार्थ उसके विषय हो सकें एवं उन पदार्थों को वह जान लेवे यह बात कैसे सिद्ध है ?

समाधान—यदि ऐसा कही तो वेदवाक्य के बल से भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल के सभी पदार्थों के ज्ञान की अन्यथानुपपत्ति होने से आत्मा ज्ञान स्वभाव ही सिद्ध है । “वेदवाक्य ही भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालवर्ती विप्रकृष्ट—दूरवर्ती इसी प्रकार के पदार्थों को बतलाने में समर्थ है” इस प्रकार से आप मीमांसक पुरुषविशेषों का स्वयं अनुभव करते हुये तथा संपूर्ण पदार्थों को जानने के स्वभाव रूप ज्ञान स्वभाव आत्मा का ही है इस प्रकार श्रद्धा न करते हुये स्वस्थ कैसे हैं ? अर्थात् वेद-वाक्य से ही संपूर्ण त्रैकालिक पदार्थों का ज्ञान किसी जीवात्मा को होता है किन्तु आत्मा ज्ञान स्वभाव वाला नहीं है ऐसा मानते हुये आप स्वस्थ नहीं हैं किन्तु अस्वस्थ ही हैं ।

और वह ज्ञान आत्मा से भिन्न ही हो ऐसा नहीं है मीमांसक के यहाँ उसमें कथञ्चित् अभेद स्वीकार किया गया है अन्यथा यदि आप मीमांसक आत्मा से ज्ञान को सर्वथा भिन्न मानोगे तब तो योग के मत का प्रसंग आ जावेगा क्योंकि नैयायिक तो आत्मा से ज्ञान को सर्वथा भिन्न ही मानते हैं

1 सर्वज्ञस्य । 2 जानीयात् । 3 वेद । (व्या० प्र०) 4 जैनः । 5 भविष्यद्वर्तमानावादिपदेन ज्ञेयौ । 6 ज्ञस्वभाव-
त्वाभावे । 7 आत्मा ज्ञस्वभाव एव साध्यः । 8 मीमांसकः । 9 चोदना सकलं जानाति, आत्मा तु न जानातीति
बदन् । 10 सकलविषयं ज्ञानं भवतु ज्ञानस्वभावता तु कथमात्मनः इत्युक्ते आह । (व्या० प्र०) 11 मीमांसकस्यापि ।
12 सर्वथा भेदे । 13 मतांतरं योगम् । 14 भूताद्यशेषार्थे ।

त्पत्तेर्विकल्पज्ञानोत्पत्तेर्वा¹ सर्वत्र² तदनुपपत्तौ³ विधिप्रतिषेधविचाराघटनात् ।

[यदि आत्मा ज्ञानस्वभावोऽस्ति तर्हि संसारावस्थायामज्ञानादि भावो कथं दृश्यते]

⁴कथमेवं⁵ कस्यचित्क्वचिदज्ञानं स्यादिति⁶ चेदुच्यते । चेतनस्य⁷ सतः सम्बन्ध्यन्तरं⁸ मोहोदयकारणकं मदिरादिवत्* ।¹⁰ तत्कुतः सिद्धम् !¹¹ विवादाध्यासितो जीवस्य मोहोदयः¹² सम्बन्ध्यन्तरकारणको मोहोदयत्वान्मदिराकारणकमोहोदयवदित्यनुमानात् ।¹³ यत्तत्सम्बन्ध्यन्तरं तदात्मनो ज्ञानावरणादि कर्मेति । तदभावे साकल्येन विरतव्यामोहः सर्वमतीतानागतवर्तमानं पश्यति प्रत्यासत्तिविप्रकर्षयोरकिञ्चित्करत्वात्* । कथं पुनर्ज्ञानावरणादिसम्बन्ध्यन्तरस्याभावे साकल्येन विरतव्यामोहः स्याद्यतः सर्वमतीतानागतवर्तमानानन्तार्थ-

एवं समवाय से उसका संबन्ध मानते हैं पुनः आप भीमांसक भी वैसे ही हो जाओगे । इसलिये किसी भी भूत, भविष्यत् आदि विषय में पुरुष—आत्मा अज्ञ स्वभाव वाली नहीं है क्योंकि सभी विषय में वेद से ज्ञान उत्पन्न होने से अथवा विकल्प—व्याप्तिज्ञान से ज्ञान उत्पन्न होने से व्याप्ति ज्ञान की उत्पत्ति न होने पर विधि प्रतिषेध विचार ही घटित नहीं हो सकेगा ।

भीमांसक—इस प्रकार से तो किसी भी मनुष्य को कहीं पर—किसी भी विषय में अज्ञान कैसे हो सकेगा ? अर्थात् इस प्रकार से आत्मा को ज्ञान स्वभाव मान लेने पर तो सभी संसारी प्राणी पूर्ण-ज्ञानी ही दिखने चाहियें पुनः अज्ञानी क्यों दीख रहे हैं ?

[यदि आत्मा ज्ञान स्वभाव वाली है तब संसारावस्था में उसके अज्ञानादि भाव कैसे दिखते हैं ?]

जैन—हम इसका स्पष्टीकरण करते हैं । सत् रूप चेतन के सम्बन्ध्यन्तर (संबन्धी ज्ञानावरणादि के मध्य में अन्यतम—ज्ञानावरण कर्म) मोह के उदय के निमित्त से होता है, मदिरा आदि के समान* । अर्थात् संसार में जीव के साथ ज्ञानावरण कर्म और मोहनीय कर्म विद्यमान है अतएव मदिरा को पीकर उन्मत्त हुये के सदृश इस जीव का ज्ञान अल्प और विपरीत हो रहा है ।

भीमांसक—वह ज्ञानावरण कर्म कैसे सिद्ध है ?

जैन—“विवाद की कोटि में आया हुआ जीव का मोहोदय रूप अज्ञानादि भाव ज्ञानावरण के हेतु से हुआ है क्योंकि वह मोहनीय कर्म का उदय है जैसे मदिरा के कारण से होने वाली मोहनीय कर्म के उदयरूप मोहित अवस्था विशेष ।” इस अनुमान से वह ज्ञानावरण कर्म सिद्ध है और जो वह संबन्ध्यन्तर है वह आत्मा का ज्ञानावरणादि कर्म ही है ऐसा समझना चाहिये ।

1 विकल्पज्ञानं यत्सत्तत्सर्वमनेकान्तात्मकमिति व्याप्तिज्ञानम् । 2 व्याप्तिज्ञानानुपपत्तौ । 3 यावान् कश्चिद्धूमः स सर्वोऽप्यग्निजन्माऽनग्निजन्मा वा न भवतीत्यत्र प्रमाणविषये । (व्या० प्र०) 4 भीमांसकशब्दा । 5 तुः । (व्या० प्र०) 6 जैनैः । 7 विद्यमानस्य । (व्या० प्र०) 8 सम्बन्धिनां ज्ञानावरणादीनां मध्ये अन्तरमन्यतमं = ज्ञानावरणमित्यर्थः । 9 ता । (व्या० प्र०) 10 भीमांसकः पृच्छति ।—तद् ज्ञानावरणं कर्म कुतः सिद्ध्यति । 11 इति चेदाहुराचार्याः विवादेति । 12 अज्ञानाद्युदयः । 13 प्रसिद्धं । (व्या० प्र०)

¹व्यञ्जनपर्यायात्मकं² जीवादितत्त्वं साक्षात्कुर्वीतेति³ चेदिमे⁴ ब्रूमहे । ⁵यद्यस्मिन् सत्येव भवति तत्तदभावे न भवत्येव । यथाग्नेरभावे धूमः । सम्बन्ध्यन्तरे सत्येव भवति चात्मनो⁶ व्यामोहस्तस्मात्तदभावे स न भवतीति निश्चीयते ।

उस ज्ञानावरण कर्म का अभाव हो जाने पर संपूर्ण रूप से मोह रहित पुरुष सभी अतीतानागत वर्तमान पदार्थों को देख लेता है क्योंकि उस ज्ञान में प्रत्यासत्ति और विप्रकर्ष दोनों ही कारण अकिंचित्कर हैं ।*

मीमांसक—ज्ञानावरणादि संबन्ध्यन्तर का अभाव हो जाने पर यह जीवात्मा संपूर्ण रूप से मोहरहित कैसे हो जावेगा कि जिससे यह सभी अतीतानागत वर्तमान स्वरूप अनंत अर्थपर्याय और अनंत व्यंजनपर्याय रूप जीवादि तत्त्व को साक्षात् कर सके अर्थात् यह जीव न ज्ञानावरण कर्म से रहित हो सकता है न मोह कर्म से रहित ही हो सकता है और न सम्पूर्ण पदार्थों को ही जान सकता है । मतलब मीमांसक ने जीव को सर्वथा अशुद्ध ही माना है कभी भी उसे शुद्ध, कर्मरहित सिद्ध होना नहीं मानते हैं ।

जैन—यदि आप ऐसा कहें तो हम आपको बतलाते हैं कि जो जिसके होने पर ही होता है वह उसके अभाव में नहीं होता है । जैसे कि अग्नि के अभाव में धूम नहीं होता है क्योंकि वह धूम अग्नि के होने पर ही होता है उसी प्रकार से संबन्ध्यन्तर—ज्ञानावरण कर्म के होने पर ही आत्मा में व्यामोह—अज्ञानभाव होता है इसलिए उस ज्ञानावरण के अभाव में वह अज्ञान नहीं होता है ऐसा निश्चित हो जाता है । अर्थात् संसार अवस्था में भी जीवों के जैसे-जैसे ज्ञानावरण का क्षयोपशम बढ़ता जाता है वैसे-वैसे ही जीव में ज्ञान भी तरतमता से बढ़ता जाता है । हम देखते हैं कि एकेन्द्रिय की अपेक्षा दो इंद्रिय आदि में ज्ञान वृद्धिगत हो रहा है तथैव मनुष्यों में भी तरतमता देखी जाती है और जब कारण सामग्री से पूर्णतया ज्ञानावरण का नाश हो जाता है तब पूर्ण ज्ञान प्रकट हो जाता है ।

भावार्थ—जैनाचार्य कहते हैं कि यह ज्ञान आत्मा का स्वभाव है इसलिये ज्ञान स्वरूप आत्मा युगपत् संपूर्ण पदार्थों को जान लेता है । इस कथन पर मीमांसक ने घबड़ा कर प्रश्न कर ही दिया कि पुनः हम और आप जैसे सभी संसारी जन अज्ञानी कैसे दिख रहे हैं ? क्योंकि मीमांसक ज्ञान को आत्मा का स्वभाव नहीं मानता है तथा आत्मा को कभी शुद्ध होना, मुक्त होना भी नहीं मानता है यह सदैव आत्मा को संसारी कर्ममल, अज्ञान आदि से सहित ही मानता है एवं इसका यह भी कहना है कि कोई भी आत्मा अपौरुषेय वेदवाक्यों से ही भूत भविष्यत् आदि अतीन्द्रिय पुण्य पाप आदि को

1 पर्यायो द्विधार्थव्यञ्जनभेदात् । व्यञ्जनः=स्थूलपर्यायः । सूक्ष्मः प्रतिक्षणध्वंसी पर्यायश्चार्थपर्यायः । 2 स्थूलो व्यंजनपर्यायो वाग्म्यो नश्वरः स्थिरः । सूक्ष्मः प्रतिक्षणध्वंसी पर्यायश्चार्थसंज्ञकः ॥ (व्या० प्र०) 3 प्रश्नद्वये सति । (व्या० प्र०) 4 प्रत्यक्षीभूता वयं जैनाः । 5 आत्मनो व्यामोहः संबन्ध्यन्तराभावे न भवत्येव तस्मिन् सत्येव भावात् । (व्या० प्र०) 6 अज्ञानम् ।

[मोहरहितोपि आत्मा विप्रकृष्टपदार्थान् ज्ञातुं न शक्नोति]

^१देशकालतः ^२प्रत्यासन्नमेव पश्येद्विरतव्यामोहोपि सर्वात्मना, न ^३पुनर्विप्रकृष्ट-

जान सकता है, अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से नहीं। इस पर जैनाचार्य ने कहा कि भैया ! जब तुम वेदवाक्यों से किसी आत्मा को अतीन्द्रिय पदार्थों का जानने वाला मान लेते हो और पुनः आत्मा को ज्ञान स्वभाव नहीं मानते हो तो क्या जब आत्मा में ज्ञान नहीं हुआ है पुनः अचेतन वेदों का ज्ञान उन अचेतन वेदों को है क्या बात है ? समझ में नहीं आता कि आप वेदवाक्यों से किसी को सभी पदार्थों का ज्ञान होना भी मान रहे हैं और आत्मा के ज्ञान स्वभाव का निषेध भी कर रहे हैं यह बात आपकी स्वस्था-वस्था को नहीं बताती है किंतु आपकी अस्वस्थता को ही बता रही है।

हम जैनों का तो कहना है कि संसार में प्रत्येक आत्मा के साथ ज्ञानावरण आदि कर्म लग चुके हैं जो कि ज्ञान को ढक रहे हैं—ज्ञान पर आवरण डाल रहे हैं एवं मोहनीय कर्म भी ज्ञान को विपरीत या संशयादि रूप से अज्ञान बना रहा है। जैसे कड़वी तूंबड़ी के संसर्ग से दूध दूषित हो जाता है उसी प्रकार से आत्मा का पूर्ण शुद्ध ज्ञान स्वभाव भी मोह कर्म से अज्ञान रूप एवं ज्ञानावरण से अल्पज्ञान रूप हो रहा है। यह आत्मा ज्ञान स्वभाव वाला ही है तभी तो वेद या आगमवाक्यों से यह संपूर्ण त्रैकालिक सूक्ष्मादि पदार्थों को भी जान लेता है। केवलज्ञान होने के पहले आत्मा को आगम से पूर्ण श्रुतज्ञान जब हो जाता है। तब वह श्रुतज्ञान के बल से संपूर्ण पदार्थों को जानते हुये श्रुतकेवली कहलाता है यह बात हमारे यहाँ भी मान्य है। शायद आप श्रुतकेवली तक तो मान रहे हैं किंतु पूर्ण-ज्ञानी (केवली) नहीं मान रहे हैं फिर भी यदि आत्मा ज्ञान स्वभाव वाला न होता तब श्रुत से भी उसे ज्ञान होना असंभव था जैसे कि चौकी आदि को श्रुतशास्त्र का संसर्ग होने से भी ज्ञान नहीं होता है अतः आपको आत्मा का ज्ञान स्वभाव मान ही लेना चाहिये।

हम जैनों के यहाँ तो ज्ञान को आत्मा से अभिन्न ही माना है केवल लक्षण आदि से ही उसमें भेद स्थापित किया जा सकता है क्योंकि ज्ञान को छोड़कर तो आत्मा का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं हो सकेगा। हाँ ! ये कर्म भी अनादि काल से इस जीव के साथ संबंधित हैं अतएव संसार में यह जीव अल्पज्ञानी आदि देखा जाता है। जब पुरुषार्थ से यह ज्ञानावरण आदि घातिया कर्मों का जड़मूल से विनाश कर देता है तब इस आत्मा में पूर्णज्ञान गुण प्रगट हो जाता है। मोहनीय कर्म का पूर्णतया नाश दसवें गुणस्थान में हो जाता है फिर भी ज्ञानावरण आदि कर्म के निमित्त से यह जीव ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थान में छद्मस्थ ही कहलाता है। बारहवें गुणस्थान के अन्त में जब ज्ञानावरण आदि तीनों घातिया कर्मों का नाश हो जाता है तब तेरहवें गुणस्थान में पूर्णज्ञान प्रकट होकर केवली बन जाता है।

[मोह रहित भी आत्मा तीन विप्रकृष्ट पदार्थों को नहीं जान सकता है]

मीमांसक—मोह रहित भी पुरुष देश और काल से प्रत्यासन्न—निकटवर्ती पदार्थों को ही

1 मीमांसकशङ्का । 2 समीपतामापन्नम् । 3 दूरम् ।

मित्युक्त^१, प्रत्यासत्तेर्ज्ञानाकारणत्वाद्धिप्रकर्षस्य चाज्ञानानिबन्धनत्वात्, ^२तद्भावेपि ज्ञाना-
ज्ञानयोरभावात्नयन^३तारकाञ्जनवच्चन्द्रार्कादिवच्च । योग्यतासद्भावेतराभ्यां^४ ज्ञानाज्ञानयोः
क्वचिद्भावे^५ योग्यतैव ज्ञानकारणं, प्रत्यासत्तिविप्रकर्षयोरकिञ्चि^७त्करत्वात् । सा पुनर्योग्यता
देशतः कात्स्न्यतो वा व्यामोहविगमस्तत्प्रतिबन्धि^८कर्मक्षयोपशमक्षयलक्षणः । इति साकल्येन
विरतव्यामोहः सर्वं पश्यत्येव । तदुक्तं—

ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धने^{१०} । दाह्येग्निर्दाहको न^{११} स्यादसति प्रतिबन्धने^{१२} ॥१॥ इति ।

संपूर्णतया देखता है, किन्तु दूरवर्ती पदार्थों को नहीं जान सकता है ।

जैन—यह कथन अयुक्त है क्योंकि प्रत्यासत्ति—निकटता ज्ञान का कारण नहीं है एवं विप्र-
कृष्टता अज्ञान का कारण नहीं है क्योंकि उन प्रत्यासत्ति और विप्रकर्ष के सद्भाव में भी ज्ञान और
अज्ञान का अभाव है जैसे नयन तारका का अंजन और चन्द्र सूर्यादि का ज्ञान । अर्थात् नेत्र में अंजन के
साथ प्रत्यासत्ति—निकट संबंध होने पर भी अंजन का ज्ञान नहीं होता है, किन्तु चन्द्र सूर्यादि विप्रकृष्ट
—दूरवर्ती को भी नेत्र जान लेता है । अतः निकट संबन्धरूप प्रत्यासत्ति से ज्ञान का कोई अविनाभाव
संबंध नहीं है और जहाँ दूरवर्ती पदार्थ हैं वहाँ ज्ञान न होवे ऐसा दूरवर्ती पदार्थ से ज्ञान का व्यतिरेक
भी नहीं है ।

योग्यता के सद्भाव और अभाव से किसी भाव—पदार्थ के ज्ञान और अज्ञान में ज्ञाना-
वरण के विशेष अभाव रूप योग्यता ही ज्ञान का कारण है क्योंकि प्रत्यासत्ति और विप्रकर्ष दोनों
अकिञ्चित्कर ही हैं । अर्थात् प्रत्यासत्ति के अभाव में विप्रकर्ष का सद्भाव होने पर भी ज्ञान उत्पन्न
हो जाता है और निकटवर्ती का ज्ञान नहीं भी होता है अतः ये दोनों बातें अकिञ्चित्कर हैं ।

वह योग्यता एक देश से अथवा संपूर्ण रूप से मोह के अभाव रूप और आत्मा के प्रतिबंधी
ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम और क्षय लक्षण रूप है । इस प्रकार से सम्पूर्ण रूप से मोह रहित पुरुष
सभी को देखते ही हैं । कहा भी है—

श्लोकार्थ—प्रतिबंधक कर्म के न होने पर सर्वज्ञ भगवान् ज्ञेय पदार्थों को जानने में अज्ञानी
कैसे रहेंगे ? मणि मंत्रादि प्रतिबंधक—रुकावट डालने वाले कारणों के न होने पर भी अग्नि दाह्य—
जलने योग्य पदार्थ को जलाती नहीं है क्या ? अपितु जलाती हुई ही देखी जाती है ।

भावार्थ—मीमांसक का कहना है कि किसी आत्मा के मोह और ज्ञानावरण कर्म का भले ही
नाश हो जावे किन्तु वह आत्मा सूक्ष्म, अंतरित और दूरवर्ती सभी पदार्थों को कैसे जानेगा ? क्योंकि

१ जैनः । २ तयोः = प्रत्यासत्तिविप्रकर्षयोः । ३ नयनतारकाया अञ्जनेन सह प्रत्यासत्तावपि न ज्ञानोदयोऽञ्जनस्य ।
चन्द्रार्कादीस्तु विप्रकृष्टानपि जानाति नयनतारका यथा । ४ योग्यता सद्भावे । का द्विः । (व्या० प्र०) ५ वस्तुनि ।
(व्या० प्र०) ६ ज्ञानावरणविशेषाभावरूपा । ७ प्रत्यासत्त्यभावे विप्रकर्षसद्भावेपि ज्ञानोत्पादात् । ८ ता । ९ सर्वज्ञः ।
१० प्रतिबद्धरि इति पा० । (व्या० प्र०) ११ कथं न स्यादपि तु स्यादेव । १२ मणिमन्त्रादौ । 'प्रतिबद्धरि' इत्यपि
पाठः ।

[सर्वज्ञ भगवतो ज्ञानमिन्द्रियानपेक्षमतीन्द्रियमस्त्येव]

अत एवाधानपेक्षाऽञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषो यथालोकाऽनपेक्षाः* । अत एव । कुत एव ?
 २ साकल्येन विरतव्यामोहत्वादेव सर्वदर्शनादेव वा । यो हि देशतो विरतव्यामोहः किञ्चिदेवा-
 स्फुटं पश्यति वा तस्यैवाधापेक्षा लक्ष्यते न पुनस्तद्विलक्षणस्य प्रक्षीणसकलव्यामोहस्य
 सर्वदर्शिनः, ३ सर्वज्ञत्वविरोधात् । न हि सर्वार्थैः सकृदक्षसम्बन्धः संभवति साक्षात्परम्परया वा^४ ।

किसी को ज्ञान निकटवर्ती पदार्थों का ही होता हुआ देखा जाता है । तब आचार्य ने कहा कि भाई !
 निकटवर्ती पदार्थों से ज्ञान का अन्वय एव दूरवर्ती पदार्थों से ज्ञान का व्यतिरेक नहीं है मतलब पदार्थ
 निकटवर्ती हों तभी उनका ज्ञान होवे, वे दूरवर्ती हों तो उनका ज्ञान नहीं होवे ऐसा कोई नियम नहीं
 है । देखो ! निकटवर्ती आंख में लगे हुये अंजन का ही उस आंख को ज्ञान नहीं हुआ है और दूरवर्ती
 सूर्य—चन्द्र दिख गये । इसलिये ज्ञान के होने में मुख्य कारण है ज्ञानावरण का क्षयोपशम अथवा क्षय ।
 इसी का नाम योग्यता है । आप शास्त्र में जो प्रकरण पढ़ रहे हैं यदि उसमें से एक पंक्ति के विषय में
 ज्ञानावरण का क्षयोपशम नहीं है तो आपको उसका अर्थ समझ में नहीं आवेगा । यदि क्षयोपशम हो
 गया है तो अर्थ बिना बताये भी समझ में आ जावेगा और जब पूर्णतया ज्ञानावरण का अभाव ही हो
 जाता है तब यह आत्मा संपूर्ण लोका लोक को युगपत् अवलोकित कर लेता है ।

[सर्वज्ञ भगवान् का ज्ञान इन्द्रियों की सहायता से रहित अतीन्द्रिय है]

अतएव सर्वज्ञ भगवान् को इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं है जैसे अञ्जनादि से संस्कृत चक्षु को
 आलोक-प्रकाश की अपेक्षा नहीं है* । इसी हेतु से वे सर्वज्ञ हैं ।

शंका—किस हेतु से ?

जैन—सम्पूर्णतया मोह से रहित हो जाने से ही अथवा सर्वदर्शी होने से ही वे सर्वज्ञ हैं क्योंकि
 जो एक देश से मोहरहित है अथवा कुछ अस्पष्ट को ही देखता है उसको ही इन्द्रियों की अपेक्षा देखी
 जाती है, किन्तु उससे विलक्षण सम्पूर्ण मोह से रहित सर्वदर्शी को इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं है अन्यथा
 इन्द्रियों की अपेक्षा मानने पर तो सर्वज्ञपने का ही विरोध हो जावेगा क्योंकि सभी पदार्थों के साथ
 युगपत् इन्द्रिय का संबंध साक्षात् अथवा परम्परा से संभव नहीं है ।

भावार्थ—“सर्वज्ञ भगवान् को इन्द्रियों की अपेक्षा से रहित अतीन्द्रियज्ञान है क्योंकि वे संपूर्ण-
 तया मोह से रहित हैं अथवा सर्वदर्शी हैं ।” इस प्रकार से जैनाचार्यों ने सर्वज्ञ भगवान् को अतीन्द्रिय-
 ज्ञानी सिद्ध करने के लिये दो हेतु दिये हैं क्योंकि जिनके एक देश रूप से मोह का अभाव हुआ है और
 जिनका ज्ञान अविशद—अस्पष्ट है उनका ज्ञान इन्द्रियों की सहायता अवश्य रखता है । ये इन्द्रियों की
 सहायता लेने वाले मति और श्रुत रूप दो ज्ञान प्रसिद्ध हैं, जिन्हें सिद्धान्तशास्त्रों में परोक्ष कहा है और

1 अर्हत्प्रत्यक्षस्य । 2 अर्हतः प्रत्यक्षमज्ञानपेक्षं । (व्या० प्र०) 3 अन्यथा (अधापेक्षत्वे) । 4 नयनघटयोः साक्षात्-
 द्गतरूपनयनयोः संबंधः परंपरया संयुक्तमवेतत्वात् । (व्या० प्र०)

१ननु चावधिमनःपर्ययज्ञानिनोदेशतो विरतव्यामोहयोरसर्वदर्शनयोः कथमक्षानपेक्षा संलक्षणीया ? २तदावरणक्षयोपशमातिशयवशात्स्वविषये परिस्फुटत्वादिति ब्रूमः । न ३चैवं ४साकल्येन विरतव्यामोहत्वस्य सर्वदर्शनस्य ५वानैकान्तिकत्वं शङ्कनीयं, विपक्षेक्षापेक्षे मति-श्रुतज्ञाने ६तदसंभवात् । अवधिमनःपर्ययज्ञाने तदसंभवात् ७पक्षाव्यापकत्वादहेतुत्वमिति चेन्न,

यहाँ न्यायशास्त्रों में सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष कह दिया है। इन्द्रियज्ञान से कोई भी सर्वज्ञ इसलिये नहीं बन सकता है कि इन्द्रियाँ वर्तमान कालीन सीमित और रूपी पदार्थों को ही ग्रहण कर सकती हैं। इसी विषय में राजवार्तिक ग्रन्थराज में श्री अकलंक देव ने बहुत ही सुन्दर विवेचन किया है। यथा—

“इन्द्रियनिमित्तं ज्ञानं प्रत्यक्षं, तद्विपरीतं परोक्षं, इत्यविसंवादिलक्षणमिति चेत्, न; आप्तस्य प्रत्यक्षाभाव प्रसंगात्” अर्थात् कोई कहता है कि “इन्द्रियव्यापार जन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष और इन्द्रिय व्यापार की अपेक्षा न रखने वाले ज्ञान को परोक्ष कहना चाहिये। सभी वादी प्रायः इसमें एकमत हैं।” इस आशंका पर जैनाचार्य समाधान करते हैं कि इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष मानने से आप्त—सर्वज्ञ को प्रत्यक्षज्ञान नहीं हो सकेगा, सर्वज्ञता का लोप हो जायेगा क्योंकि सर्वज्ञ को इन्द्रिय जन्य ज्ञान नहीं होता है। आगम से अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान मानकर सर्वज्ञता का समर्थन करना तो युक्ति-युक्त नहीं है, क्योंकि आगम वीतराग, प्रत्यक्षदर्शी पुरुष के द्वारा प्रणीत होता है। जब अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं है तब अतीन्द्रिय पदार्थों में आगम का ज्ञान प्रमाणीक कैसे बन सकेगा? आगम अपौरुषेय है यह बात तो असिद्ध ही है क्योंकि पुरुष प्रयत्न के बिना उत्पन्न हुआ कोई भी विधायक शब्द प्रमाण नहीं है। अतः हिंसादि का विधान करने वाला वेद प्रमाण नहीं हो सकता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सर्वज्ञ का ज्ञान अतीन्द्रिय है, इन्द्रियजन्य नहीं है।

शंका—पुनः एक देश मोहरहित, असर्वदर्शी, अवधिज्ञानी और मनःपर्यय ज्ञानियों को इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं है यह बात कैसे जानी जाती है? अर्थात् सिद्धांत में अवधि-मनःपर्यय ज्ञान को अतीन्द्रिय कहा है यह कैसे बनेगा?

समाधान—उन उन—अवधि ज्ञानावरण और मनःपर्यय ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के अतिशय के निमित्त से ये दोनों ही ज्ञान अपने-अपने विषय में प्रस्फुट—स्पष्ट हैं ऐसा हम मानते हैं। इस प्रकार से संपूर्णतया मोहरहित हेतु अथवा सर्वदर्शी हेतु अनैकान्तिक हो जाता है ऐसी भी आशंका नहीं करना क्योंकि इन्द्रियों की अपेक्षा रखने वाले मति श्रुतज्ञान विपक्ष हैं उन दोनों ज्ञानों में ये दोनों हेतु असंभवी हैं।

1 परः । 2 सिद्धान्ती । 3 साकल्येन विरतव्यामोहत्वसर्वदर्शनाभ्यां बिनापि अवधिमनः—पर्यययोरक्षानपेक्षत्वप्रकारेण । 4 देशतो विरतव्यामोहत्वस्याक्षानपेक्षत्वव्यभिचारीप्रकारेण । (व्या० प्र०) 5 हेतोः । (व्या० प्र०) 6 तस्य = विरतव्यामोहत्वस्य सर्वदर्शनस्य वा हेतोः । 7 अवधिमनःपर्यययोरपि पक्षान्तर्भावं ज्ञात्वा साकल्येन विरतव्यामोहत्वस्य सर्वदर्शनस्य वा हेतोः पक्षाव्यापकत्वं नाम हेत्वाभासत्वं दोषं समर्थयति परः ।

सकलप्रत्यक्षस्यैव पक्षत्ववचनात्, तत्र चास्य हेतोः सद्भावात्, विकलप्रत्यक्षस्यावधिमनःपर्यया-
ख्यस्यापक्षीकरणात् । न चास्मदादिप्रत्यक्षोपलक्षणात्सकलवित्प्रत्यक्षेऽपि सास्त्येवेति

शंका—ये दोनों हेतु अवधि और मनःपर्यय ज्ञान में असंभव हैं अतः ये हेतु पक्ष में अव्यापक होने से अहेतु हैं । अर्थात् अवधि और मनःपर्यय ज्ञान अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष तो हैं परन्तु आपके संपूर्णतया मोह से रहित होना और सर्वदर्शी होना रूप दोनों हेतु इन ज्ञानों में नहीं रहने से ये दोनों हेतु अहेतु हैं ।

समाधान—ऐसा भी नहीं कहना क्योंकि सकल प्रत्यक्ष को ही हमने पक्ष बनाया है और वहाँ पर उन हेतुओं का सद्भाव है । विकल प्रत्यक्षरूप अवधि मनःपर्यय को हमने पक्ष में नहीं लिया है ।

विशेषार्थ—शंकाकार का अभिप्राय यह है कि अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान इंद्रियों की अपेक्षा न रखने से अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष हैं फिर भी इनके धारक अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी सर्वज्ञ क्यों नहीं कहलाते हैं और यदि आप इन्हें सर्वज्ञ, प्रत्यक्षदर्शी नहीं मानते हो तब तो इनके ज्ञान को आप इंद्रियजन्य कहिये । इस पर आचार्य कहते हैं कि ये दोनों ही ज्ञान अवधिज्ञानावरण और मनःपर्यय-ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष की अपेक्षा रख कर आत्मा से ही उत्पन्न होते हैं इनमें इंद्रियों की सहायता नहीं है अतः ये ज्ञान अतीन्द्रिय हैं फिर भी इनके धारक सर्वज्ञ नहीं होते हैं क्योंकि इनमें ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षयोपशम कारण है न कि क्षय ।

दूसरी बात यह भी है कि अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी जीवों के मोह कर्म का पूर्णतया नाश नहीं हुआ है एक देश ही अभाव हुआ है और ये सर्वदर्शी भी नहीं हैं सीमित पदार्थों को ही देखने वाले हैं । इन दोनों ज्ञानों को प्रत्यक्ष इसलिये कहा है कि ये अपने विषय का स्पष्ट ज्ञान करते हैं एवं अतीन्द्रिय इसलिये हैं कि ये इंद्रियों की सहायता के बिना ही उत्पन्न होते हैं । एवं “साकल्येन विरतव्यामोहत्वात्” और “सर्वदर्शनात्” ये दोनों हेतु व्यभिचारी भी नहीं हैं क्योंकि विपक्ष रूप इंद्रिय जन्य परोक्ष मति, श्रुतज्ञान में ये दोनों हेतु नहीं पाये जाते हैं ।

किसी ने कहा कि भले ही आपके हेतु व्यभिचारी न हो सकें किंतु पक्ष में पूर्णतया व्याप्त न होने से अव्यापक रूप से अहेतु अवश्य हैं क्योंकि आप जैनों ने अवधि, मनःपर्ययज्ञान को अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष अवश्य माना है किन्तु उनमें पूर्णतया मोह का अभाव और सर्वदर्शीपना नहीं है । इस आशंका पर जैनाचार्यों ने कहा कि भाई ! हमने पक्ष में सकल प्रत्यक्ष केवलज्ञान को ही लिया है । इन विकल प्रत्यक्ष रूप दोनों ज्ञानों को पक्ष में नहीं लिया है अतः हमारे हेतु अहेतु नहीं हैं । अर्थात् प्रत्यक्ष के दो भेद हैं सकल और विकल । सर्वज्ञ भगवान् के सकल प्रत्यक्ष पाया जाता है अतः उसी को यहाँ पक्ष में लिया गया है । अन्यत्र न्यायदीपिका में दूसरी भी शंका देखी जाती है—

कोई कहता है कि केवलज्ञान को पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहना ठीक है किंतु अवधि और मनःपर्यय को पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहना ठीक नहीं है क्योंकि ये दोनों एक देश प्रत्यक्ष हैं । इस पर आचार्यों का

वक्तुं शक्यम्^१, अञ्जनादिभिरसंस्कृतचक्षुषोऽस्मदादेरालोकापेक्षोपलक्षणात्^२ तत्संस्कृतचक्षुषोपि कस्यचिदालोकापेक्षाप्रसङ्गात्^३ । ^४नक्तञ्चरणामालोकापायेपि स्पष्टरूपावलोकनप्रसिद्धेर्नालोको नियतं कारणं ^५प्रत्यक्षस्येति चेत्तर्हि सत्यस्वप्नज्ञानस्ये^६क्षणिकादिज्ञानस्य च स्पष्टस्य चक्षुराद्यन-पेक्षस्य प्रसिद्धेरक्षमपि नियतं प्रत्यक्षकारणं मा भूत् । ततो यथाञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषामालो-कानपेक्षा स्फुटं रूपेक्षणे तथा साकल्येन विरतव्यामोहस्य सर्वसाक्षात्करणेऽज्ञानपेक्षा । इति-करणक्रमव्यवधानातिवर्तिसकलप्रत्यक्षो ^७भवभृतां^८ गुरुः प्रसिद्धत्येव ।

कहना है कि सकलपता और विकलपता यहाँ विषय की अपेक्षा से है स्वरूप की अपेक्षा से नहीं है क्योंकि केवलज्ञान संपूर्ण द्रव्यों और पर्यायों को विषय करने वाला होने से सकल प्रत्यक्ष कहा जाता है, किंतु अवधि और मनःपर्यय कुछ पदार्थों को विषय करते हैं इसलिये वे विकल प्रत्यक्ष कहे जाते हैं, परन्तु इतने मात्र से इन दोनों ज्ञानों में पारमाथिकता की हानि नहीं होती है, क्योंकि पारमाथिकता का कारण सकल पदार्थों को विषय करना नहीं है अपितु पूर्ण निर्मलता है और वह पूर्ण निर्मलता—स्पष्टता केवल ज्ञान के समान अवधि, मनःपर्यय में भी विद्यमान है अतः ये दोनों ज्ञान पारमाथिक ही हैं ।

निष्कर्ष यह निकला कि ये दोनों ज्ञान अतीन्द्रिय होकर भी सकलप्रत्यक्ष नहीं हैं विकलप्रत्यक्ष हैं इसलिये सर्वज्ञ के ज्ञान की पक्ष बनाने में ये दोनों ज्ञान नहीं आते हैं ।

शंका—हम लोगों के प्रत्यक्ष में इंद्रियों की अपेक्षा देखी जाती है अतः सर्वज्ञ के प्रत्यक्ष में भी वह अपेक्षा होनी ही चाहिये ।

समाधान—आपका ऐसा कहना भी शक्य नहीं है, अन्यथा अञ्जनादि से संस्कृत नहीं हुये हम लोगों के नेत्र प्रकाश की अपेक्षा रखते हैं पुनः किसी के अञ्जनादि से संस्कृत नेत्र भी प्रकाश की अपेक्षा रखने लग जावेंगे तब अञ्जन गुटिका आदि विद्याओं का क्या महत्व रहेगा ?

शंका—नक्तञ्चर—उल्लू, बिल्ली आदि जीवों का प्रकाश के अभाव में भी स्पष्टतया, रूप—पदार्थ का देखना प्रसिद्ध है इसलिए प्रकाश प्रत्यक्ष के लिये निश्चित कारण नहीं है ।

ज्ञान—तब तो सच्चे स्वप्न का ज्ञान और ईक्षणिकादि ज्ञान चक्षु आदि इंद्रियों की अपेक्षा न करके ही स्पष्ट प्रसिद्ध हैं अतः इंद्रियाँ भी प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये निश्चित कारण न होवें क्या बाधा है ? इसलिये जैसे अञ्जनादि से संस्कृत चक्षु को स्पष्टतया रूप को देखने में प्रकाश की अपेक्षा नहीं है उसी प्रकार से सम्पूर्णतया मोह रहित पुरुष को सभी का साक्षात्कार करने में इंद्रियों की अपेक्षा नहीं है ।

इस प्रकार इन्द्रियों से क्रम से और व्यवधान से रहित सकलप्रत्यक्षज्ञानी संसारी जीवों के गुरु प्रसिद्ध ही हैं ।

१ परेण । २ परिज्ञानात् । (व्या० प्र०) ३ तथा लोके नास्ति । (व्या० प्र०) ४ जनेनानिष्ठापादानमकारि तत्परि-हारमिति मीमांसकः नक्तञ्चरेत्यादिना । ५ कित्त्विन्द्रियमेव । (व्या० प्र०) ६ ईक्षणिका = दृचक्षरा शाकिनी ग्राह्या (?) । ७ प्राणिनां—भवभृतां । (व्या० प्र०) ८ भवेतामिति पाठान्तरम् ।

विशेषार्थ—किसी का कहना है कि हम लोगों का ज्ञान इन्द्रियों की अपेक्षा से ही होता है अतः सर्वज्ञ का ज्ञान भी वैसा ही होना चाहिये क्योंकि जैसे हम मनुष्य हैं वैसे ही सर्वज्ञ भी तो मनुष्य ही है। इस पर आचार्य कहते हैं कि भाई ! किसी को अञ्जन गुटिका सिद्ध है उसने उसे आँख में लगा लिया तो उसे अंधेरे में भी दिखने लगता है परन्तु हम और आपको तो अंधेरे में नहीं दीखता है। आपके कथनानुसार अञ्जन गुटिका सिद्धि वाले को भी अंधेरे में नहीं दिखना चाहिये। तब वह झट बोल पड़ा कि अंधेरे में तो उल्हू, बिल्ली आदि को भी दीख जाता है अतः प्रकाश और अंधेरा ज्ञान और अज्ञान में नियम रूप से कारण नहीं हैं। तब आचार्य कहते हैं कि किसी को स्वप्न में सम्पेक्षित्वर का पर्वत ज्यों का त्यों दीख गया, आचार्य शान्तिसागर जी महाराज के दर्शन हो गये। इस सत्य स्वप्न में इन्द्रियों की अपेक्षा तो नहीं है फिर भी स्पष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान है अतः इन्द्रियों से ही प्रत्यक्ष ज्ञान हो, यह नियम नहीं रहा। देखिये ! अञ्जन आदि से संस्कृत आँखें स्पष्टतया अंधेरे में भी सब वस्तुयें देख लेती हैं उसी प्रकार से मोहकर्म, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन घातिया कर्मों का नाश हो जाने से अर्हतभगवान् के केवलज्ञान आदि नवलब्धियाँ प्रगट हो जाती हैं अतः केवलज्ञान में न इन्द्रियों की सहायता है न क्रम-क्रम से होना है क्योंकि केवलज्ञान और दर्शन दोनों ही युगपत् एक समय में सारे पदार्थों को जान लेते हैं। अतः इस ज्ञान में व्यवधान—अंतर भी नहीं पड़ता है। ऐसे इन्द्रिय से, क्रम और अंतर से रहित केवलज्ञानी भगवान् ही संसारी जीवों के गुरु हैं, स्वामी हैं अतएव सभी के नाथ, तीन लोक के नाथ कहलाते हैं।

सर्वज्ञ के अतीन्द्रिय ज्ञान की सिद्धि का सारांश

मीमांसक, चार्वाक और तत्त्वोपप्लववादी सामान्य से भी सर्वज्ञ को नहीं मानते हैं एवं सीगत, सांख्य, वैशेषिक आदि सर्वज्ञ विशेष को नहीं मानते हैं।

संवेदनाद्वैतवादी, चित्राद्वैतवादी, ब्रह्माद्वैतवादी और शब्दाद्वैतवादी ये एक प्रमाणवादी तीर्थ-च्छेद संप्रदाय वाले हैं वैसे ही चार्वाक भी प्रत्यक्ष एक ही प्रमाण मानने वाले तीर्थच्छेद संप्रदाय मानने वाले हैं क्योंकि ये सभी परमागम संप्रदाय का निराकरण करने वाले हैं।

जैसे कपिल, बौद्ध आदि अनेक प्रमाणवादी तीर्थच्छेद संप्रदाय वाले हैं तथैव तत्त्वोपप्लववादी भी “न एकः प्रमाणं—अनेकः प्रमाणं” के अनुसार अनेक प्रमाणवादी हो गए तथा सभी के आप्त, आगम और वस्तु समूह को स्वीकार करने की इच्छा रखते हुए अनेक प्रमाणवादी बैनयिक तीर्थच्छेद संप्रदायवादी हैं क्योंकि ये सभी परस्पर विरुद्ध कथन करने वाले हैं।

अद्वैतवादियों के यहाँ स्वपक्षसाधन परपक्षदूषण वचन भी अद्वैत के विरुद्ध हैं यदि संवृत्ति से या अविद्या से कहो तो अद्वैत भी कल्पित ही सिद्ध होता है। चार्वाक के यहाँ प्रत्यक्ष एक प्रमाण से ही परलोक पुण्य-पापादि का विरोध आ जाता है तथा कपिल, वैशेषिक, नैयायिक, प्रभाकर आदि अनेक प्रमाण मानकर भी तर्क प्रमाण नहीं मानते हैं अतएव तर्क के बिना प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान आदि साध्य साधन की व्याप्ति को ग्रहण नहीं कर सकते हैं। वैनयिक, सुगत, सांख्य आदि इन सबमें परस्पर में विरोध होने से इनमें से कोई भी आप्त नहीं हो सकता है। तथाहि “तीर्थच्छेद संप्रदाय वाले एकांतवादी निरावरण ज्ञानधारी नहीं हैं क्योंकि वे अविशिष्ट वचन, इन्द्रियज्ञान और इच्छादि से सहित हैं अथवा सामान्य पुरुष आदि हैं जैसे—रथ्या पुरुष।”

किंतु हमारे सर्वज्ञ अविशिष्ट वचनादिमान् या अविशिष्ट पुरुष नहीं हैं क्योंकि वे सर्वज्ञ युक्ति और शास्त्र से अविरोधि वचन वाले हैं इन्द्रियों के क्रम व्यवधान से रहित हैं तथा इच्छा से भी रहित हैं अतः कः—परमात्मा चित्-चैतन्य पुरुष ही आवरण का नाश हो जाने से संसारी प्राणियों के गुरु हैं “कः परमात्मा परा आत्यंतिकी, मा—लक्ष्मीर्यस्येति” कः-परमात्मा ही चित् सर्वज्ञ हैं।

मीमांसक—पदार्थों को जानने वाला परमात्मा अतीन्द्रिय ज्ञानी नहीं हो सकता है क्योंकि अतीन्द्रिय ज्ञानी हमें कोई उपलब्ध नहीं होता है तथा इंद्रियों के द्वारा धर्माधर्मादि सभी पदार्थ जाने नहीं जा सकते अतएव कोई भी सर्वज्ञ नहीं है “सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिभिः” इसलिये भूत और भविष्यत् कालीन पदार्थ के ज्ञान का अभाव होने से कोई भी सर्वज्ञ सिद्ध नहीं है। अनुमानादि से भी सर्वज्ञ का ज्ञान नहीं हो सकता है। आगम भी अनादि है अतः आदिमान् सर्वज्ञ को कैसे कहेगा ? यदि अनित्य आगम मानें तो वह अल्पज्ञ प्रणीत होने से अप्रमाण है एवं सर्वज्ञ प्रणीत कहो तो परस्परश्रय दोष दुर्निवार है। सर्वज्ञ के सदृश कोई न होने से उपमान प्रमाण भी सर्वज्ञ ग्राहक नहीं है तथा अर्थ-पत्ति से भी वह ग्रहण नहीं होगा अतएव सत्ता को ग्रहण करने वाले पाँचों प्रमाणों का विषय न होने से वह सर्वज्ञ अभाव प्रमाण का ही विषय है। अतः सर्वज्ञ को ग्रहण करने वाला कोई भी प्रत्यक्षादि प्रमाण नहीं है।

जैन—यह कथन बिना मीमांसा के ही है। लब्धि और उपयोग के संस्कारों का अर्थात् “लब्धपुपयोगी भावेन्द्रियम्” से भावेन्द्रिय संस्कार रूप क्षयोपशम ज्ञान का नाश हो जाने से सर्वज्ञ होता है।

तथा द्रव्येन्द्रियां तो अंगोपांग नाम कर्म की रचना विशेष हैं। वे आवरण निमित्तक नहीं हैं अतः पूर्णतया ज्ञानावरण, दर्शनावरण के क्षय हो जाने से पूर्ण ज्ञानी सर्वज्ञ सिद्ध है वह आगम एवं “सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाण” से सिद्ध है। आप सर्वज्ञ को अभाव प्रमाण से कैसे निषेध करेंगे क्योंकि

“गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनं ।

मानसं नास्तित्ता ज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया ॥”

जब कोई मनुष्य सभी मनुष्यों को जान लेवे पुनः सर्वज्ञ के ज्ञापक काल का स्मरण करके मन में “सर्वत्र सर्वज्ञ नहीं है” ऐसा ज्ञान करे तब उसका अभाव कहेगा पुनः वह सभी को जान लेने से स्वयं ही

[पूर्वोक्तकारिकात्रयकथितहेतुभिर्भगवान् महान् नास्ति, प्रत्युत दोषावरणरहितत्वादेव महान्]

उत्थानिका—

१यतश्चासौ न देवागमादिविभूतिमत्त्वादध्यात्मं बहिरपि दिव्यसत्यविग्रहादिमहोदयाश्र-
यत्वाद्वा महान्, नापि तीर्थकृत्वमात्रात्, २यतश्च तीर्थच्छेदसम्प्रदायोपि वैदिको नियोगभाव-

सर्वज्ञ बन जाता है तब उसका निषेध कैसे करेगा ? तथा आवरण निमित्तक भावेन्द्रियों के नाश हो जाने से अतीन्द्रिय ज्ञान उत्पन्न होता है जो कि भूत, भावी सूक्ष्मादि पदार्थों को ग्रहण करने में युगपत् ही समर्थ है। यदि आप कहो कि अज्ञान का कारण क्या है ? तो ज्ञानावरण कर्म है एवं ज्ञानावरणादि के कारण मोहनीय आदि कर्मों का उदय है। संपूर्णतया मोह से रहित पुरुष पूर्ण ज्ञानी हो सकते हैं अतः सर्वज्ञ भगवान् को इन्द्रियादिकों की अपेक्षा नहीं है क्योंकि वे संपूर्णतया मोह से रहित हैं अथवा सर्वदर्शी हैं। जैसे अंजनादि से संस्कृत चक्षु प्रकाशादि की अपेक्षा नहीं रखते हैं एक देश मोह से रहित, असर्वदर्शी, अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी अपने-अपने आवरण के क्षयोपशान्ति से अपने-अपने विषय को स्पष्ट जानते हैं अतः हमारा हेतु सर्वमोह रहित, सर्वदर्शी उनसे अनैकांतिक नहीं है क्योंकि यहाँ सकल प्रत्यक्ष की विवक्षा है। अतः इन्द्रिय और क्रम के व्यवधान से रहित सकल प्रत्यक्षज्ञानी संसारी जीवों के गुरु प्रसिद्ध ही हैं जो कि सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं ऐसा समझना चाहिये।



[पूर्वोक्त तीन कारिकाओं में कथित तीन हेतुओं से भगवान् महान् नहीं हैं किंतु दोष और आवरण से रहित होने से ही भगवान् महान् हैं]

हे भगवन् ! देवागमादि विभूतिमान् होने से अथवा अध्यात्म और बहिरंग दिव्य, सत्य विग्रहादि महोदय के आश्रयीभूत होने से भी आप महान् नहीं है एवं तीर्थकृत्व मात्र से भी आप महान् नहीं हैं क्योंकि तीर्थ के उच्छेदक—विनाशक संप्रदाय वाले भी वैदिक जन के नियोग, भावना आदि संप्रदाय संवादक (प्रमाणभूत) नहीं हैं। अथवा प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण वाले चार्वाक या तत्त्वोपप्ल-

1 कारणात् । (व्या० प्र०) 2 कारणात् । (व्या० प्र०)

नादिसम्प्रदायो न संवादकः¹ प्रत्यक्षैकप्रमाणवादिसम्प्रदायस्तत्त्वोपप्लववादिसम्प्रदायो वा सर्वाप्तवादो² वा न प्रमाणभूतो व्यवतिष्ठते, ततः सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणो भगवन्³ भवानेव भवभृतां⁴ प्रभुरात्यन्तिकदोषावरणहान्या साक्षात्प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थत्वेन च मुनिभिः⁵ सूत्रकारादिभिरभिष्टूयते । इति समन्तभद्राचार्यैर्निरूपिते सति कुतस्तावदात्यन्तिकी दोषावरणहानिर्मयि⁶ विनिश्चितेति भगवता पर्यनुयुक्ता इवाचार्याः प्राहुः ।—

दोषावरणयोर्हानिर्निश्शेषास्त्यतिशयनात्⁷ ।

⁸क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥४॥

⁹दोषावरण¹⁰सामान्ययोर्हानिः ¹¹प्रसिद्धत्वाद्धर्मित्वं न विरुध्यते । तत्प्रसिद्धिः पुनरस्मदादिषु देशतो निर्दोषत्वस्य ज्ञानादेश्च ¹²कार्यस्य निश्चयाद्भवत्येव, अन्यथा तदनुपपत्तेः । सा

ववादी (शून्यवादी) संप्रदाय वाले या सभी को आप्त मानने वाले वैयक्तिक मतानुयायी जन प्रमाणभूत नहीं हैं । इसीलिये सुनिश्चित रूप से असंभव है बाधक प्रमाण जिसमें ऐसे हे भगवन् ! आप ही संसारी जीवों के स्वामी हैं क्योंकि अत्यन्त रूप से दोष एवं आवरण की हानि होने से तथा साक्षात् अशेष तत्त्वों के ज्ञाता होने से सूत्रकार आदि मुनि पुंगवों द्वारा आपकी ही स्तुति की जाती है । इस प्रकार श्री समन्तभद्र आचार्य के द्वारा निरूपण करने पर आपने मुझमें किस प्रकार से दोषावरण की हानि आत्यंतिक रूप से निश्चित की है । इस प्रकार से भगवान् के द्वारा प्रश्न किये जाने पर ही मानों आचार्य कहते हैं—

कारिकार्थ—किसी जीव में दोष और आवरण की हानि परिपूर्ण रूप से हो सकती है क्योंकि अन्यत्र उसका अतिशयपना पाया जाता है । जिस प्रकार से अपने हेतुओं के द्वारा कनकपाषाणादि में बाह्य एवं अंतरंग मल का पूर्णतया अभाव पाया जाता है ॥४॥

दोष सामान्य एवं आवरण सामान्य की हानि प्रसिद्ध है अतः इस अनुमान में “धर्मि” असिद्ध नहीं है । उसकी प्रसिद्धि हम लोगों में एक देश रूप निर्दोषपना और ज्ञानादि रूप कार्य के निश्चित होने से होती है अन्यथा दोष, आवरण की हानि के अभाव में हम लोगों में कुछ-कुछ अंशों में निर्दोषत एवं क्षयोपशम जन्य कुछ ज्ञान की प्रकटता रूप कार्य नहीं हो सकेगा और वह हानि किसी न किसी

1 प्रमाणभूतः । 2 सर्वे आप्ता इति वादो यस्य स सर्वाप्तवादो वैयक्तिकः । 3 वर्द्धमानः । 4 अन्तमतिक्रान्तः कालोऽत्यन्तः । तस्मै प्रभवतीति आत्यन्तिकी, यस्या हानेः पुनर्नाशो न विद्यते तथेत्यर्थः । 5 उमास्वातिपादैः । (व्या० प्र०) 6 अर्हति । 7 तरतमभावेन हीयमानत्वात् । 8 क्वचिच्छब्दः पूर्वाद्धैपि सम्बन्धनीयः । क्वचिच्छब्देन कनकोपलो दृष्टान्ते अर्हश्च वाष्टान्ते ग्राह्यः । 9 दोषः—भावकर्म । आवरणं—द्रव्यकर्म । (व्या० प्र०) 10 दोष-सामान्यमावरणसामान्यं च तयोः । 11 प्रसिद्धो धर्मि इति वचनात् । 12 दोषावरणयोर्हानिरभावे निर्दोषत्वं ज्ञानादि कार्यं च नोपपद्यते ।

१'क्वचिन्निशेषास्तीति २'साध्यते, वादिप्रतिवादिनोरत्र३ विप्रतिपत्तेः । ४'अतिशयनादिति हेतुः । क्वचित्कनकपाषाणादौ किट्टकालिकादिबहिरन्तर्मलक्षयो यथेति दृष्टान्तः, ५'प्रसिद्धत्वात् । स हि कनकपाषाणादौ ६'प्रकृष्यमाणो दृष्टो निशेषः । तद्वदोषावरणहानिरपि प्रकृष्यमाणाऽऽस्मदादिषु प्रतीता सती क्वचिन्निशेषाऽस्तीति सिद्धयति । ७'कः पुनर्दोषो नामावरणाद्भिन्नस्वभाव इति चेदुच्यते८ । ९'वचनसामर्थ्यादज्ञानादिर्दोषः १०'स्वपर११परिणामहेतुः*१२ । न हि दोष एवावरणमिति प्रतिपादने १३कारिकाया दोषावरणयोरिति द्विवचनं १४समर्थम् । ततस्तत्सामर्थ्यादावरणात्पौद्गलिकज्ञानावरणादिकर्मणो भिन्नस्वभाव एवाज्ञानादिर्दोषोऽभ्युह्यते । तद्धेतुः पुनरावरणं कर्म जीवस्य१५ पूर्वस्वपरिणामश्च ।

जीव विशेष में परिपूर्ण रूप से है यह यहाँ साध्य है । क्योंकि परिपूर्ण हानिरूप साध्य में वादी और प्रतिवादी दोनों को विवाद है अतः यह साध्य की कोटि में रखा गया है । सभी में हानि की अतिशय रूपता (तरतमता) देखी जाती है यह हेतु वाक्य है । किसी कनकपाषाण आदि में किट्टरूप बहिरंग तथा कालिमा रूप अन्तरंग मल का क्षय होता है यह दृष्टान्त है यह भी प्रसिद्ध ही है क्योंकि वह किट्ट और कालिमा आदि मल का क्षय कनकपाषाण आदि में प्रकृष्यमाण अर्थात् वृद्धि को प्राप्त होता हुआ दो तीन आदि ताव से लेकर सोलह ताव पर्यंत निःशेष रूप से क्षय को प्राप्त होता हुआ देखा जाता है ।

उसी प्रकार से दोष और आवरण की हानि भी हम लोगों में प्रकर्षता को प्राप्त होती हुई प्रतीति में आ रही है और वह किसी न किसी पुरुष विशेष में निःशेष रूप से है ही है यह सिद्ध हो जाता है ।

प्रश्न—यह दोष क्या है जो कि आवरण से भिन्न स्वभाव वाला है ?

उत्तर—कारिका गत "दोषावरणयोः" इस द्विवचन की सामर्थ्य से अज्ञानादि स्वरूप दोष आवरण से भिन्न ही हैं और वे स्वपर परिणाम हेतु से होते हैं* । क्योंकि दोष ही आवरण है ऐसा मानने पर कारिका में द्विवचन नहीं बन सकता था अतः द्विवचन की सामर्थ्य से पौद्गलिक ज्ञानावरणादि कर्म रूप आवरण से भिन्न स्वभाव वाले ही अज्ञान, राग-द्वेष आदि दोष कहे जाते हैं ऐसा निर्णय करना चाहिये । उस दोष के कारण पुनः आवरण कर्म हैं और जीव के पूर्व संचित निजी रागादि परिणाम भी हैं ।

1 पुंसि । (व्या० प्र०) 2 इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यमिति वचनात् । 3 निःशेषहानी । 4 तरतम्येन । (व्या० प्र०) 5 प्रसिद्धो दृष्टान्त इति वचनात् । 6 द्वित्रादिबर्णिकामारभ्य षोडशवर्णिकापर्यन्तं हीयमानम् । 7 काकुः । (व्या० प्र०) 8 जर्नैः । 9 दोषावरणयोरिति द्विवचनसामर्थ्यात् । 10 स्वपरो जीवकर्मणी । 11 जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये । स्वयमेव परिणमतेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥ परिणममानस्य चित्तश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः । भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥ (व्या० प्र०) 12 बसः । (व्या० प्र०) 13 कारिकायां इति पा० । (व्या० प्र०) 14 सदर्थम् । 15 रागद्वेषादिः ।

[बौद्धो दोषान् स्वहेतुकान् सांख्यश्च परहेतुकानेव मन्यते किन्तु जैनाचार्या दोषानुभयहेतुकानेव मन्यते]

^१स्वपरिणामहेतुक एवाज्ञानादिरित्ययुक्तं, तस्य ^२कादाचित्कत्वविरोधाज्जीवत्वादिवत्^३ ।
^४परपरिणामहेतुक एवेत्यपि ^५न व्यवतिष्ठते,^६ मुक्तात्मनोपि ^७तत्प्रसङ्गात्, सर्वस्य^८
 कार्यस्योपादानसहकारिसामग्रीजन्यतयोपगमात्तथा प्रतीतेश्च । तथा च दोषो जीवस्य
 स्वपरपरिणामहेतुकः, कार्यत्वान्माषपाकवत् ।

[बौद्ध दोषों को स्वहेतुक एवं सांख्य दोषों को परहेतुक ही मानता है किन्तु जैनाचार्य दोषों को उभय
 हेतुक ही मानते हैं ।]

बौद्ध—अज्ञानादिक दोष स्वपरिणाम हेतुक ही होते हैं ।

जैन—यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि “अज्ञानादि दोषों के कादाचित्कपने का विरोध हो जावेगा जीवत्व आदि परिणाम के समान ।

भावार्थ—स्वपरिणाम नित्य होता है क्योंकि परिणाम गुण रूप होता है और वह परिणाम द्रव्य में संपूर्ण रूप से सदा ही पाया जाता है । “सकलपर्यायानुवर्तित्वं गुणत्वं” जो द्रव्य की संपूर्ण पर्यायों में अन्वय रूप से रहे उसे गुण कहते हैं इस लक्षण के अनुसार गुण नित्य माने गये हैं और अज्ञानादि दोष तो अनित्य हैं क्योंकि वे सदा काल नहीं पाये जाते हैं मुक्त जीवों में उनका अभाव है परन्तु जीवत्व आदि परिणाम स्वपरिणाम होने से नित्य हैं और सर्वकाल अर्थात् मुक्तावस्था में भी पाये जाते हैं । यदि अज्ञानादि को स्वहेतुक ही माना जावेगा तो सदा ही बने रहने से इस जीव को कभी मुक्ति नहीं हो सकेगी ।

सांख्य—अज्ञानादि परपरिणाम प्रधान के निमित्त से ही हुये हैं ।

जैन—यह भी ठीक नहीं है क्योंकि पर निमित्तक होने से मुक्तात्मा में भी अज्ञानादि दोषों का प्रसंग आ जावेगा । हम जैनों के यहाँ तो सभी कार्यों की उत्पत्ति उपादान और सहकारी कारण रूप उभय सामग्री से ही मानी गई है और प्रतीति भी उसी प्रकार से ही होती है । इसलिए “दोष जीव के स्वपरिणाम निमित्तक भी हैं एवं परपरिणाम निमित्तक भी हैं क्योंकि वे कार्य हैं उड़दपाक के समान” जिस प्रकार से उड़द या मूंग में अंतरंग में पकने की योग्यता है और बाहर में अग्नि जलादि के संयोग से पक जाती है किन्तु कोरडू मूंग में पकने की योग्यता न होने से अग्नि जलादिक के संयोग होने से भी नहीं पकती है ।

१ सौगतमतम् । २ स्वपरिणामस्तु नित्यः परिणामस्य गुणरूपस्य यावद्द्रव्यभावित्वे सति सकलपर्यायानुवर्तित्वं गुणत्वमिति लक्षणेन नित्यत्वप्रतिपादनात् । अज्ञानादिस्त्वनित्य इत्यतो विरोधः । ३ जीवत्वादिगुणस्य यथा कादाचित्कत्वविरोधोस्य नित्यत्वात् । ४ साङ्ख्यः । ५ जैनः । ६ अन्यथा । (व्या० प्र०) ७ अज्ञानादिकर्मरेणूनां मुक्तात्मनापि सम्बन्धप्रसङ्गात् । ८ जैनमते एवमभिमतम् ।

[कश्चित् कथयति काचिदेका हानिरेव वक्तव्या, किंतु जैनाचार्या प्रत्युत्तरयति यत् दोषाववणयोमिथः
कार्यकारणभावोऽस्त्यवत उभये अपि वक्तव्ये स्तः ।

^१नन्वेवं निश्शेषावरणहानौ दोषहानेः ^२सामर्थ्यसिद्धत्वाद्दोषहानौ ^३आवरणहानेरन्य-

भावार्थ—जैनाचार्यों ने यहाँ इस कारिका में 'आवरण' शब्द से पौद्गलिक द्रव्य कर्म को ग्रहण किया है एवं 'दोष' शब्द से कर्म के उदय से होने वाले राग, द्वेष, मोह, अज्ञान आदि भावकर्मों को लिया है और इन दोनों को जीव के रागादि रूप स्वपरिणाम एवं कर्मोदय रूप परपरिणाम के निमित्त से उत्पन्न हुये माना है ।

बौद्ध दोषों को स्वपरिणाम निमित्तक मानता है एवं आवरण नाम की चीज को मानता ही नहीं है । इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि आवरण के बिना दोष कैसे उत्पन्न होंगे और यदि आवरण के बिना भी दोष हो सकते हैं तो सिद्धों में तो आवरण है नहीं उनके भी दोषों की उत्पत्ति होने लगेगी । अथवा जैसे जीव के ज्ञान, दर्शन, जीवत्व, आदि भाव स्वपरिणाम हैं तो उनका कभी भी नाश नहीं होता है तथैव अनादि काल से लगे हुये दोषों का भी कभी नाश नहीं होगा पुनः मुक्ति कैसे हो सकेगी ? परन्तु ऐसा तो है नहीं । अतः दोष आवरण निमित्तक होते हैं और आवरण दोष निमित्तक होते हैं ।

सांख्य कहता है कि अज्ञानादि दोष पर अर्थात् प्रधान के निमित्त से ही होते हैं क्योंकि ज्ञान, सुख आदि भी प्रधान के ही धर्म हैं, प्रकृति को ही संसार होता है, प्रकृति को ही जन्म-मरण, सुख-दुःख, बंध-मोक्ष होता है । मतलब सांख्य के यहाँ प्रकृति रूप कर्मबंध प्रकृति के ही होता है पुरुष सर्वथा अकर्ता, निर्गुणी, निष्क्रिय माना गया है । आजकल भी कुछ लोगों का सिद्धांत है कि गाय के गले में रस्सी बांधी तो गाय का गला या गाय नहीं बंधी है किन्तु मात्र रस्सी से ही रस्सी बंधी है । यद्यपि यह दृष्टांत सत्य है फिर भी गाय बंधन में अवश्य है । वह अपने इष्ट स्थान पर जा नहीं सकती है एवं यह गाय का दृष्टांत सर्वथा लागू नहीं होता है । वास्तव में कर्म और आत्मा के प्रदेशों का एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध है एवं आत्मा के रागद्वेष आदि परिणामों से ही पुद्गल वर्गणायें कर्मरूप परिणत होती हैं और कर्म का उदय आने पर ही आत्मा के राग, द्वेष आदि परिणाम होते हैं । अतः इन दोष और आवरणों का परस्पर में कार्यकारण भाव निश्चित है । ये दोनों ही स्व पर के निमित्त से होते हैं । दोषों का स्वनिमित्त आत्मा है परनिमित्त पुद्गल कर्म हैं या विष, सर्प आदि बाह्य सामग्रियाँ हैं और आवरण के लिये स्वनिमित्त पुद्गल वर्गणायें हैं तथा परनिमित्त जीव के रागादि भाव हैं ।

[किसी का कहना है कि दोष या आवरण दोनों में से किसी एक का ही अभाव कहना चाहिये किन्तु
जैनाचार्य दोष-आवरण में कार्यकारण भाव सिद्ध करके दोनों की हानि मान लेते हैं ।]

प्रश्न—इस प्रकार दोष तो आवरण रूप द्रव्य कर्म के कार्य हैं अतः निश्शेष आवरण का अभाव

1 दोषस्यावरणकार्यत्वप्रतिपादनप्रकारेण । 2 कारणनाशे कार्यनाशनियमात् । 3 अत्रापि कारणनाशे कार्यनाशनियमो हेतुः ।

तरहानिरेव निश्शेषतः साध्येति चेन्न, दोषावरणयोर्जीवपुद्गलपरिणामयोरन्योन्यकार्यकारण-
भावज्ञापनार्थत्वादुभयहाने¹निश्शेषत्व²साधनस्य³ । दोषो हि तावदज्ञानं ज्ञानावरणस्योदये
जीवस्य स्याददर्शनं दर्शनावरणस्य, मिथ्यात्वं दर्शनमोहस्य, विविधमचारित्रमनेकप्रकार-
चारित्रमोहस्य, अदानशीलत्वादिदानान्तरायस्येति, ⁴तथा ज्ञानदर्शनावरणे ⁵तत्प्रदोष-
⁶निन्हवमात्स⁷र्यान्त⁸रायाऽऽ⁹सादनोपघातेभ्यो¹⁰ ¹¹जीवमास्रवतः¹², केवलश्रुतसंघर्षधर्मदेवा-
वर्णवादा¹³दर्शनमोहः,¹⁴ कषायोदयात्तीव्रपरिणामाच्चारित्रमोहः, विघ्नकरणादन्तराय इति

हो जाने पर दोष की हानि अर्थापत्ति रूप सामर्थ्य से ही सिद्ध हो जाती है क्योंकि कारण के नाश हो जाने पर कार्य का नाश अवश्यंभावी है । अथवा दोष का पूर्णतया अभाव होने पर आवरण का अभाव स्वयमेव निश्चित है क्योंकि दोष रूप भावकर्म से ही आवरण रूप द्रव्य कर्म बंधते हैं और कारण रूप दोष के नाश होने पर कार्यभूत द्रव्यकर्म रूप आवरण का स्वयमेव ही नाश प्रसिद्ध है । इसलिये दोनों में से किसी एक की हानि ही निःशेषतः सिद्ध करना चाहिये ।

[अनादिकाल से दोष आवरणनिमित्तक हैं एवं आवरण दोषनिमित्तक हैं दोनों का परस्पर में कार्य कारण भाव है]

उत्तर—यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि जीव और पुद्गल के परिणाम स्वरूप दोष और आवरण में परस्पर में कार्य कारण भाव पाया जाता है अतः परस्पर में दोनों के कार्य कारण भाव को सिद्ध करने के लिए ही दोनों की हानि निःशेष रूप से साध्य (सिद्ध) करना इष्ट है क्योंकि दोष अज्ञान को कहते हैं और वह जीव के ज्ञानावरण कर्म के उदय के होने पर होता है तथा जीव के दर्शनावरण कर्म के उदय होने पर अदर्शन, दर्शनमोहनीय कर्म के उदय में मिथ्यात्व, अनेक भेद रूप चारित्रमोहनीय कर्म के उदय होने पर अनेक प्रकार का अचारित्र—अविरति रूप परिणाम एवं दानादि अन्तराय के उदय से अदानशीलत्व—दान नहीं देना आदि रूप दोष पाये जाते हैं ।

दोष के प्रति आवरण कारण हैं ऐसा प्रतिपादन करके अब आचार्य यह बताते हैं कि आवरण के लिए दोष कारण हैं ।

1 हानिनिःशेषत्व इति वा. । (व्या० प्र०) 2 साध्य । सिद्धेः । जीवपुद्गलपरिणामयोरन्योन्यं कार्यकारणभावः सिद्धश्चेत् तज्ज्ञापनार्थमेव तत्साधनस्य युक्तं नान्यथा अतः कथं तत्प्रसिद्धिरित्यारेकायां दोषो हि तावदित्यारभ्य तत्त्वार्थरूपणादिति पर्यंतं ग्रंथमाहुः । (व्या० प्र०) 3 अन्योन्यकार्यकारणभावज्ञापनार्थं ह्युभयहानिनिश्शेषत्वसाधनम् । 4 दोषं प्रत्यावरणस्य कारणत्वं प्रतिपाद्येदानीमावरणं प्रति दोषस्य कारणत्वमावेदयन्ति । 5 तत्प्रदोषो ज्ञानदर्शन-प्रदोषः । 6 निन्हवमाच्छादनम् । 7 मात्सर्यं निन्दा तिरस्कारश्च । 8 विघ्नकरणमन्तरायः । 9 आसादनं शास्त्रादेविराधनम् । 10 अध्येतृणां पीडाकरणमुपघातः । 11 एभ्यः कारणेभ्यो ज्ञानदर्शनावरणद्वयं जीवेन सह बन्धं याति । 12 क्रियापदस्य द्विः । (व्या० प्र०) 13 हेतुतः । 14 आस्रवतीत्यध्याहार्यं पदम् ।

तत्त्वार्थे प्ररूपणात् । समर्थयिष्यते चायं कार्यकारणभावो दोषावरणयोः “कामादिप्रभव-
श्चित्रः कर्मबन्धानुरूपतः” इत्यत्र ।

[बौद्धो दोषानेव संसारस्य कारणं मन्यते किंतु जैनाचार्या उभयो एव कारणे इति कथयन्ति]

¹अथ दोष एवाविद्या²तृष्णा³लक्षणश्चेत्⁴सोनादितद्वासनोद्भूतः संसारहेतुर्नावरणं पौद्ग-

तत्प्रदोष—ज्ञान दर्शन में प्रद्वेष भाव, निन्दहव—ज्ञान दर्शन को ढकना, मात्सर्य—निन्दा और तिरस्कार, अन्तराय—ज्ञान दर्शन में विघ्न करना, आसादना—शास्त्रादि की विराधना करना, उपघात—उपाध्याय आदि को दोष लगाना या पीड़ा देना आदि कारणों से जीव के ज्ञानावरण, दर्शना-
वरण कर्म का आश्रव होता है ।

केवली, शास्त्र, संघ, धर्म एवं देव को झूठा दोष लगाने से दर्शन मोहनीय कर्म का आश्रव होता है । कषायों के उदय की तीव्रता से कलुषित परिणाम के होने से चारित्र्य मोहनीय कर्म का आश्रव होता है और दान लाभ आदि में विघ्न करने से दानादि अन्तराय कर्म का आश्रव होता है । इस प्रकार से “तत्त्वार्थ सूत्र” महाशास्त्र में प्ररूपण किया है और आगे इसी मीमांसा ग्रन्थ में “कामादि प्रभवश्चित्रः कर्मबन्धानुरूपतः” इत्यादि कारिका नं० ६६ के अर्थ में दोष और आवरण में कार्यकारण भाव का समर्थन करेंगे ।

भावार्थ—यहाँ यह प्रश्न सहज ही हो सकता है कि जब बीजांकुर न्याय के समान अनादि काल से दोष-आवरण का परस्पर कार्यकारण भाव निश्चित है तब इनका अभाव भी कैसे हो सकेगा ? इसका समाधान यही है कि जब यह जीव कालादि लब्धि को प्राप्त करके सम्यक्त्व को ग्रहण कर लेता है एवं रागद्वेष को दूर करने के लिए सम्यक् चारित्र्य का आश्रय ले लेता है तब व्यवहार निश्चय रूप रत्नत्रय के बल से आने वाले कर्मों के रुक जाने से संवर हो जाता है और बंधे हुये कर्मों की निर्जरा होती चली जाती है तब धीरे-धीरे मोहनीय कर्म के नाश से राग, द्वेष, मोह का नाश, ज्ञानावरण आदि के नाश से अनादि-कालीन भावों का अभाव हो जाता है । जैसे कि बीज को जला देने से उससे अंकुर परम्परा समाप्त हो जाने से उस बीज का अंत हो जाता है तथैव इन दोष-आवरणों का अभाव भी हो सकता है कोई बाधा नहीं आती है ।

[बौद्ध दोषों को ही संसार का कारण मानता है आवरण को नहीं, किंतु जैनाचार्यों ने दोनों को ही संसार का कारण माना है ।]

बौद्ध—दोष ही अविद्या—मिथ्याज्ञान एवं तृष्णा भोगों की अभिलाषा लक्षण वाले हैं जो कि चित्तक्षणरूप आत्मा में अनादि काल की वासना से उत्पन्न होते हैं वे ही संसार के लिये कारण हैं, न कि आवरण रूप पौद्गलिक कर्म, क्योंकि मूर्तिमान् कर्म के द्वारा अमूर्तिक आत्मा पर आवरण नहीं हो सकता है ।

1 सौगताशङ्का । 2 अविद्या मिथ्याज्ञानम् । 3 भोगाभिलाषस्तृष्णा । 4 चित्तक्षणस्य आत्मन इत्यर्थः ।

लिकं, तेन मूर्तिमता चित्तस्यामूर्तस्यावरणायोगादिति वदतो बौद्धान्निराकर्तुमावरणग्रहणं, मूर्तिमतापि मदिरादिना चित्तस्यामूर्तस्यावरणदर्शनात्,¹ ²तत्सम्बन्धाद्विभ्रम³संवेदनादन्यथा तदनुपपत्तेः । मदिरादिनेन्द्रियाण्येवान्वियन्ते इति चेन्न तेषामचेतनत्वे तदावरणासंभवात्⁴स्थाल्यादिवद्विभ्रमायोगात् । ⁵चेतनत्वे तेषाममूर्तत्वेपि मूर्तिमतावरणभायात्⁶मिति प्रायेणान्यत्र⁷चिन्तितम् । ततो दोषहानिवदावरणहानिरपि निश्शेषा क्वचित्साध्या, ⁸तदावरणस्य दोषादन्यस्य मूर्तिमतः प्रसिद्धेः ।

जैन—इस प्रकार से कहने वाले बौद्ध का खंडन करने के लिए ही “आवरण” शब्द को ग्रहण किया है क्योंकि मूर्तिमान् मदिरा आदि के द्वारा भी अमूर्तिक आत्मा में आवरण देखा जाता है । उस मदिरा के निमित्त से विभ्रम का अनुभव होता ही है यदि ऐसा न मानो तो मदिरा पीने के बाद मनुष्य को उन्मत्त अवस्था नहीं हो सकेगी ।

बौद्ध—मदिरा आदि के द्वारा इन्द्रियों पर ही आवरण देखा जाता है अर्थात् इन्द्रियाँ ही मदिरा से उन्मत्त होती हैं न कि आत्मा ।

जैनाचार्य—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि इन्द्रियों को अचेतन मान लेने पर उन पर मदिरा आदि से आवरण होना संभव नहीं है जैसे कि अचेतन पात्र—शीशी आदि में रखी हुई मदिरा के निमित्त से उनमें उन्मत्तता नहीं आती है वैसे ही यदि इन्द्रियाँ अचेतन हैं तो वे उन्मत्त नहीं हो सकेंगी और यदि आप इन्द्रियों को चेतन रूप स्वीकार कर लेंगे तब तो उन्हें आत्मा के समान अमूर्तिक भी मानना पड़ेगा पुनः मूर्तिमान् कर्मों के द्वारा अमूर्तिक पर आवरण सिद्ध ही हो जावेगा क्योंकि जैन सिद्धान्त में कर्मबंध सहित संसारी आत्मा को कश्चित् मूर्तिक भी माना है ।

अतः संसारी जीवों का चेतनत्व एवं अमूर्तिकत्व स्वभाव होने पर भी मूर्तिमान् कर्मों के द्वारा आवरण सिद्ध हो ही जाता है इस विषय का प्रायः श्लोकवार्तिक में विशेष रूप से विचार किया गया है ।

दोष के अभाव के समान आवरण का अभाव भी किसी जीव विशेष में निश्शेष रूप से सिद्ध करना ही चाहिए क्योंकि दोष से भिन्न मूर्तिमान् आवरण की प्रसिद्धि है ।

भावार्थ—अमूर्तिक आत्मा का मूर्तिमान् कर्मों से पराजित होना स्पष्ट है इस बात को ‘राजवार्तिक ग्रन्थ’ में श्री अकलंक देव ने भी कहा है । “अमूर्तित्वादभिभवानुपपत्तिरिति चेत्; न; तद्विशेषसामर्थ्योपलब्धेश्चैतन्यवत् ।”

प्रश्न—चूँकि आत्मा अमूर्त है अतः उसका कर्म पुद्गलों से अभिभव नहीं होना चाहिये ?

1 कुतः । (व्या० प्र०) 2 तेन मदिरादिना । 3 भ्रान्तिज्ञान । (व्या० प्र०) 4 मदिराभाजनादि । अचेतनत्वात् । (व्या० प्र०) 5 अभ्युपगते । 6 तथा च कर्मणा मूर्तिमता चित्तस्यामूर्तस्यावरणायोगात् इति वचनमयुक्तमिति भावः । (व्या० प्र०) 7 श्लोकवार्तिके । 8 पीद्गलिकस्य । (व्या० प्र०)

[दोषावरणयोर्हीनिः प्रध्वंसाभावरूपोऽस्ति न त्वत्यंताभावरूपा]

१अत एव लोष्टादौ निःशेषदोषावरण^२निवृत्तेः सिद्धसाध्यतेत्यसमीक्ष^३ताभिधानं,^४

उत्तर—अनादि कर्मबंधन के कारण उसमें विशेष शक्ति आ जाती है। अनादि पारिणामिक चैतन्यवान् आत्मा की नारकादि, मतिज्ञानादि पर्यायों भी चेतन ही हैं। यह आत्मा अनादिकाल से कार्मण शरीर के कारण मूर्तिमान् हो रहा है और इसीलिए उस पर्याय संबंधी शक्ति के कारण मूर्तिक कर्मों को ग्रहण करता है। आत्मा कर्मबद्ध होने से कर्थाचित् मूर्तिक है तथा अपने ज्ञानादि स्वभाव को न छोड़ने के कारण अमूर्तिक है। जिस प्रकार मदिरा को पीकर मनुष्य मूर्च्छित हो जाता है, उसकी स्मरण शक्ति नष्ट हो जाती है उसी प्रकार कर्मोदय से आत्मा के स्वाभाविक ज्ञानादि गुण अभिभूत हो जाते हैं। मदिरा के द्वारा इन्द्रियों में विभ्रम या मूर्च्छा आदि मानना ठीक नहीं है क्योंकि जब इन्द्रियाँ अचेतन हैं तो अचेतन में बेहोशी आ नहीं सकती अन्यथा जिस पात्र में मदिरा रखी है उसे ही मूर्च्छित हो जाना चाहिए या उन्मत्त चेष्टा करना चाहिये। यदि इन्द्रियों को चेतन कहेंगे तो यह बात सिद्ध हो जाती है कि बेहोशी चेतन में होती है न कि अचेतन में। इसलिये यह बात स्पष्ट हो जाती है कि संसारी आत्मा मूर्तिक है—

बंधं पडि एयत्तं लक्खणदो होदि तस्स णाणत्तं ।

तम्हा अमुत्तिभावो णेयंतो होदि जीवस्स ॥

अर्थ—बंध की दृष्टि से आत्मा और कर्म में एकत्व होने पर भी लक्षण की अपेक्षा से दोनों में भिन्नता है। अतः आत्मा में एकांत से अमूर्तिकपना नहीं है।

इसी बात को श्री नेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्ती ने भी कहा है कि—

वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्चया जीवे ।

णो संत्ति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्तिबंधादो ॥

अर्थ—पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध और आठ स्पर्श निश्चय नय से ये जीव में नहीं हैं इसलिये यह जीव अमूर्तिक है एवं व्यवहार नय से कर्मबंध से सहित होने से यह जीव मूर्तिक है। इसलिये जीव को संसारावस्था में सर्वथा अमूर्तिक मानना गलत है।

[दोष, आवरण की हानि प्रध्वंसाभाव रूप है अत्यंताभाव रूप नहीं है]

प्रश्न—अतएव इसी “अतिशयनात्” हेतु के द्वारा लोष्टादिक (मिट्टी के ढेले आदि) में भी निःशेष रूप से दोष आवरण की निवृत्ति होने से सिद्धसाध्यता नाम का दोष आता है* अर्थात् सिद्ध को ही सिद्ध करना यह पिष्टपेषण के सदृश दोष युक्त ही है।

1 अतिशयनादेव । 2 कर्म । (व्या० प्र०) 3 मीमांसक निराचष्टे । (व्या० प्र०) 4 बौद्धस्य ।

साध्यापरिज्ञानात्* । प्रध्वंसाभावो हि दोषावरणयोः साध्यो न पुनरत्यन्ताभावः, 'तस्या-
निष्टत्वात्,² ³सदात्मनो मुक्तिप्रसङ्गात् । नापीतरेतराभावः,⁴ तस्य⁵ प्रसिद्धत्वात्, दोषा-
वरणयोरनात्मत्वादात्मनश्चादोषावरणस्वभावत्वात् । 'प्रागभावोपि न साध्यस्तत्⁷ एव,
⁸प्रागविद्यमानस्य दोषावरणस्य स्वकारणादात्मनि प्रादुर्भावाभ्युपगमात् । न च लोष्टादौ
दोषावरणयोः प्रध्वंसाभावः संभवति, तस्य भूत्वा भवनलक्षणत्वात्⁹ तयोस्तत्रात्यन्तमभावात्¹⁰ ।
तत्र सिद्धसाध्यता ।

[शंकाकारो बुद्धेस्तरतमतां दृष्ट्वा अतिशयानहेतुमनैकातिकं मन्यते किंतु जैनाचार्याः क्वचित् लोष्टादौ
बुद्धेरपि अभावं स्वीकृत्य हेतुमनैकातिकं न मन्यन्ते]

¹¹नन्वेवं, दोषावरणयोर्हनैरतिशयनान्निशेषतायां साध्यायां बुद्धेरपि¹² किन्तु परिक्षयः

उत्तर—आप बौद्ध का यह कहना असमोक्षित है—ठीक नहीं है उसने हमारे साध्य को समझा
ही नहीं है* । क्योंकि दोष और आवरण का प्रध्वंसाभाव रूप अभाव (हानि) ही साध्य है न कि
अत्यन्ताभाव रूप अभाव, क्योंकि अत्यन्ताभाव रूप अभाव यहाँ साध्य में हमें इष्ट नहीं है । यदि जीव
में दोष और आवरण का अत्यन्ताभाव मानेंगे तो नित्य ही संसार अवस्था में भी जीव के मुक्ति का
प्रसंग आ जावेगा । तथा जीव में दोष और आवरण का इतरेतराभाव भी इष्ट नहीं है । वह
इतरेतराभाव तो आत्मा में प्रसिद्ध ही है क्योंकि आत्मा और दोष-आवरण एक दूसरे रूप नहीं हो
सकते हैं उनकी परस्पर विभिन्नता प्रसिद्ध है ।

दोष और आवरण आत्मस्वरूप नहीं है और न आत्मा ही दोष, आवरण स्वभाव वाली है ।
तथा प्रागभाव भी यहाँ साध्य नहीं है क्योंकि वह भी प्रसिद्ध ही है । प्राक् (पहले) अविद्यमान रूप
दोष आवरणों की अपने कारणों से आत्मा में उत्पत्ति स्वीकार की गई है यह कथन पर्यायार्थिक नय
की अपेक्षा से है ।

मिट्टी के ढेले आदि में दोष, आवरण का प्रध्वंसाभाव ही नहीं है । प्रध्वंसाभाव तो "भूत्वा-
भवनलक्षणत्वात्" घट होकर कपाल होने रूप है । उस मिट्टी के ढेले आदि में दोष आवरण का
अत्यन्त ही अभाव है अतः प्रध्वंसाभाव रूप हानि को साध्य करने में सिद्ध साध्यता दोष नहीं है ।

- 1 इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यमिति वचनात् । (व्या० प्र०) 2 अनिष्टस्य साध्यत्वाभावात् । 3 कुतः ? यतः ।
4 आत्मा दोषावरणं न तच्चात्मा नेति इतरेतराभावः । 5 इतरेतराभावस्यात्मनि कर्माद्यपेक्षया प्रसिद्धत्वात् ।
6 कारणसंपातात्पूर्वमभावः प्रागभाव इति लक्षणं । (व्या० प्र०) 7 प्रसिद्धत्वादेव । 8 प्रसिद्धत्वे हेतुमाह । 9 घटो
भूत्वा कपालभवनमेव प्रध्वंसाभावः । 10 लोष्टादावत्यन्ताभावेन वर्तनात् । 11 मीमांसकः । (व्या० प्र०)
12 बुद्धेरतिशयोक्तिः । (व्या० प्र०)

स्याद्विशेषा¹भावाद²तोनेकान्तिको हेतुरित्यशिक्षितलक्षितं³, + चेतनादिगुणव्यावृत्तेः⁴ सर्वात्मना पृथिव्या⁵देरभि⁶मतत्वात्⁷* । ननु च पृथिव्यादौ सर्वात्मना⁸ चेतनादिगुणप्रध्वंसाभावस्याभावाद्⁹बुद्धिहान्यानेकान्तिकमेवातिशायनमित्यप्यनवबोधविजृम्भितं¹⁰, पृथिव्यादौ पुद्गले पृथिवीकायिकादिभिरात्मभिः शरीरत्वेन¹¹गृहीते स्वायुषः क्षयात्यवते चेतनादिगुणस्य व्यावृत्तेः सर्वात्मना प्रध्वंसाभावरूपत्वेन स्याद्वादिभिरभिमतत्वात्¹², “न हि स कश्चित्पुद्गलोस्ति यो न जीवैरसकृद्भुक्तोज्जितः¹³” इति वचनात् ।¹⁴प्रसिद्धश्च पृथिव्यादौ चेतनादिगुणस्याभावः,¹⁵अनुपलम्भान्यथानुपपत्तेः ।

[शंकाकार बुद्धि की तरतमता देखकर “अतिशायन हेतु” को व्यचिभारी कहता है किन्तु जैनाचार्य कहीं न कहीं बुद्धि का भी अभाव मान लेते हैं ।]

शंका - आप दोष और आवरण की हानि को निःशेष रूप से साध्य करने में “अतिशायन” हेतु देते हैं पुनः इसी “अतिशायन” हेतु से किसी न किसी जीव में बुद्धि का भी परिपूर्णतया अभाव क्यों न हो जावेगा ? क्योंकि इन दोनों में कोई अंतर नहीं है । इसलिए आपका हेतु अनेकान्तिक है* ।

समाधान—यह आपका कथन अशिक्षित रूप ही है क्योंकि पृथ्वी आदिकों में संपूर्ण रूप से चेतनादि गुणों का प्रध्वंसाभाव रूप व्यावृत्ति होना हमें इष्ट ही है* ।

शंका—पृथ्वी आदि में सम्पूर्ण रूप से चेतना गुणों का प्रध्वंसाभाव रूप अभाव नहीं होता है अतः बुद्धि की हानि के साथ यह “अतिशायन” हेतु व्यभिचारी है । अर्थात् बुद्धि की हानि में “अतिशायन” हेतु पाया जाता है फिर भी संपूर्णतया पृथिवी आदि में चेतना गुणों का प्रध्वंसाभाव नहीं है अतः यह हेतु अनेकान्तिक है ।

समाधान—यह कथन भी अज्ञान के विलास रूप ही है, पृथ्वी आदि रूप से परिणत हुए पुद्गल वर्गणाओं को पृथ्वीकायिक आदि नामकर्म के उदय सहित जीवों ने अपने शरीर रूप से ग्रहण किया पुनः अपनी-अपनी आयु कर्म के क्षय हो जाने पर उन पुद्गलमय पृथ्वी आदि को छोड़ दिया । उन पृथ्वी आदिकों में चेतनादि गुणों का सम्पूर्णतया प्रध्वंसाभाव रूप से अभाव हो जाता है यह बात हम

1 दोषावरणबुद्धीनामतिशायनगुणेन कृत्वा विशेषो यतो नास्ति । 2 यतो न हि बुद्धिपरिक्षयः । 3 भा । (व्या० प्र०) + दिल्ली अष्टशती अ, ब, स प्रति में, मुद्रित अष्टशती में, दिल्ली एवं व्यावर अष्टसहस्री प्रति में “चेतनादि..... मतत्वात् पंक्ति ‘अष्टशती’ मानी गई है । मुद्रित अष्टसहस्री में अष्टशती नहीं मानी है । 4 प्रध्वंसाभावस्य । 5 आदिपदेन शरीरं गृह्यते, उत्तरत्र व्यापारव्याहारव्यावृत्तेरपि वक्ष्यमाणत्वात् । 6-रप्यभिमतत्वादिति पाठान्तरम् । 7 पृथिव्यां चेतनगुणव्यावृत्तिर्वर्तते एवातो नानेकान्तः । 8 सामस्त्येन । 9 चेतनादिगुणस्य तत्रात्यन्ताभावात् । 10 बुद्धिहानेरतिशायित्वेपि सर्वात्मना पृथिव्यादौ चेतनादिगुणप्रध्वंसाभावो नास्ति, अतोनेकान्तः । 11 चेतन्यादुपचारदभिन्नत्वेन । (व्या० प्र०) 12 सपक्षे सत्त्वं तस्य । (व्या० प्र०) 13 पूर्व भुक्तः पश्चादुज्जितः । शरीरत्वेन । (व्या० प्र०) 14 अनुमानतः । (व्या० प्र०) 15 अन्यथा=चेतनादिगुणसद्भावे तदभावोपलम्भाभावप्रसक्तः ।

[अदृश्यपदार्थस्याभावं कथं भविष्यतीति शंकायां लौकिकजना अपि अदृश्यस्याभावं मन्यते एवेत्युत्तरं]

¹अदृश्या²नुपलम्भादभावा³सिद्धिरित्ययुक्तं, परचेतन्यनिवृत्ता⁴वारेकापत्तेः⁵, ⁶संस्क-
र्तृणां पातकित्वप्रसङ्गाद्, बहुलमप्रत्यक्षस्यापि⁷ रोगादेर्विनिवृत्तिनिर्णयात्⁸ । ⁹स्यान्मतं
ते, + व्यापारव्याहाराकारविशेष¹⁰व्यावृत्ति¹¹समयवशात्ता¹²दृशं लोको विवेचयति*—नास्त्यत्र
मृतशरीरे चैतन्यं व्यापारव्याहाराकारविशेषानुपलब्धेः, कार्यविशेषानुपलम्भस्थ ¹³कारणवि-
शेषाभावाविनाभावित्वात्, चान्दनादिधूमानुपलम्भस्थ ¹⁴तत्समर्थचान्दनादिपावकाभावाविना-
भावित्ववत् । तथा नास्त्यस्य रोगो ज्वरादिः, स्पर्शादिविशेषानुपलब्धेभूतग्रहादिर्वा¹⁵ चेष्टा-

स्याद्वादियों के यहाँ स्वीकार की गई है क्योंकि “इस जगत में ऐसा कोई भी पुद्गल नहीं है कि जिसको जीवों ने अनेकों बार भोगकर न छोड़ा हो” इस प्रकार वचन पाये जाते हैं । इसलिये पृथ्वी आदि में चेतन आदि गुणों का अभाव प्रसिद्ध ही है क्योंकि अनुपलब्धि की अन्यथानुपपत्ति है अर्थात् मिट्टी के ढेले आदि में चेतनागुण का सद्भाव नहीं पाया जाता है ।

[जो पदार्थ दिखते नहीं हैं उनका अभाव कैसे होगा ? इस पर जैनाचार्य का कहना है कि अदृश्य का भी अभाव आबाल गोपाल मानते हैं ।]

शंका—आप अदृश्य पदार्थों की अनुपलब्धि से अभाव को सिद्ध नहीं कर सकते हैं । अर्थात् इस मकान में भूत नहीं है ऐसा कोई नहीं कह सकते हैं क्योंकि भूत व्यंतर आदि दिखते नहीं हैं वे अदृश्य हैं उनकी उपलब्धि हमें नहीं हो रही है इसलिए वे नहीं है यह कहना शक्य नहीं है । जो देखने योग्य दृश्य पदार्थ हैं उन्हीं की ही उपलब्धि या अनुपलब्धि देखकर उनका सद्भाव या अभाव सिद्ध किया जा सकता है ।

समाधान—यह कहना भी ठीक नहीं है अन्यथा दूसरे के शरीर से चैतन्य आत्मा के निकल जाने पर भी शंका बनी ही रहेगी । पुनः उसके संस्कार करने वालों को पातकी कहने का प्रसंग आवेगा । प्रायः करके अप्रत्यक्ष (परोक्ष) भी रोगादि के अभाव का निर्णय किया ही जाता है ।*

यदि आप ऐसा कहें कि व्यापार (क्रिया) वचन, आकार आदि जीवित की चेष्टा विशेष की व्यावृत्ति-अभाव के हो जाने से होने वाले चिन्ह विशेषों से यह शरीर मृतक हो चुका है, इसमें से चेतना निकल चुकी है यह शरीर अब निर्जीव है इस प्रकार से व्यवहारीजन निर्णय कर लेते हैं ।*

1 मीमांसकमनूय दूषयति । (व्या० प्र०) 2 अदृश्यचेतनगुणः । 3 चेतनादिगुणस्य । 4 अदृश्यानुपलम्भस्याभावा-
साधकत्वे सति परशरीरगतचैतन्यस्य निवृत्तावप्यारेका स्यात् । 5 चैतन्यसद्भावशंका । (व्या० प्र०) 6 दाहकानां ।
(व्या० प्र०) 7 अदृश्यस्य । (व्या० प्र०) 8 अभाव । (व्या० प्र०) 9 खपुस्तके ते इति पदं नास्ति । + दिल्ली
अष्टशती अ, व, स प्रति में मुद्रित अ. श. में, दिल्ली एवं व्यावर अ. स. प्रति में ‘व्यापार.....विवेचयति’
पंक्ति अष्टशती मानी गई है, मुद्रित अ. स. में नहीं मानी है । 10 व्यापारविशेषश्चलनादिः । व्याहारविशेषो
वचनविशेषः । आकारविशेषश्च । 11 समयः सङ्केतः । 12 चैतन्याभावविशिष्टम् । 13 कारणं = चैतन्यम् ।
14 चंदनादिधूमजनन । (व्या० प्र०) 15 नास्ति ।

विशेषानुपलब्धेः¹ । ²सम्यग्बैद्यशास्त्रभूततन्त्रादिसमयवशादत्यन्ता³भ्यस्तचैतन्यरोगादि⁴कार्य-
विशेषाणां लोकानां तद्विवेकोपपत्तिः' इति ।

[जैनाचार्या भस्मलोष्ठादीनचेतनान् साधयति]

⁵तदेतत्पृथिव्यादौ सर्वात्मना चेतनादिगुणव्यावृत्तावपि समानम् । नास्त्यत्र भस्मादि-
पृथिव्यादौ पृथिवीचेतनादिगुणः, + व्यापार⁶व्याहाराकारविशेषव्यावृत्तेरिति ⁷समयवशात्त-
त्सिद्धान्तविलोको विवेचयति* । स्यादाकृतं स्ते ⁹व्यापारादिविशेषस्यानुपलब्धेस्¹⁰तज्जनन-
समर्थचेतनादि¹¹गुणव्यावृत्तिसिद्धावपि तज्जननासमर्थचेतनादिव्यावृत्त्यसिद्धेर्न सर्वात्मना

यथा—“इस मृतक शरीर में चैतन्य नहीं है क्योंकि व्यापार व्याहार—वचन आकार विशेष की उपलब्धि नहीं हो रही है ।” तथा कार्य विशेष की अनुपलब्धि कारण विशेष के अभाव के साथ अविना-
भाव सम्बन्ध रखती है । जैसे—चन्दन आदि से उत्पन्न हुए सुगन्धित धूम की अनुपलब्धि उसके योग्य समर्थ चन्दन आदि की लकड़ी से होने वाली अग्नि के अभाव के साथ अविनाभाव सम्बन्ध को सिद्ध करती है । अर्थात् सुगन्धितधूम के अभाव में चंदनादि की अग्नि नहीं है ऐसा ज्ञान हो जाता है ।

उसी प्रकार दूसरा अनुमान—

“इस मनुष्य में ज्वरादि रोग नहीं है क्योंकि ऊष्णस्पर्श आदि विशेष की उपलब्धि नहीं हो रही है ।” अथवा “इस व्यक्ति में भूत पिशाच, ग्रह आदि नहीं हैं क्योंकि उनके चेष्टा विशेष की उपलब्धि नहीं है ।”

मीमांसक—सम्यक् प्रकार से वैद्यकशास्त्र एवं भूत तन्त्रादि शास्त्र के अतिशय रूप (विशेष रूप) अभ्यास से चैतन्य विशेष या रोगादि विशेष रूप कार्यों का विद्वान् लोग निर्णय कर लेते हैं ।

[जैनाचार्य भस्म लोष्ठ आदि पृथ्वी को निर्जीव सिद्ध करते हैं]

जैन—तो इसी प्रकार से पृथ्वी आदि में भी चैतन्य आदि गुणों की संपूर्ण रूप से व्यावृत्ति मानना समान ही है । तथाहि—

इस भस्मादि या पृथ्वी आदि में पृथ्वीकायिक आदि चैतन्य गुण नहीं हैं ।

1 इतिविवेचयति । आशंक्य । (व्या० प्र०) 2 इदं चैतन्यकार्यमिदं रोगादिकार्यमिति विवेको नास्तीत्याशंकायामाह । (व्या० प्र०) 3 सम्यग्ज्ञान । (व्या० प्र०) 4 ता । (व्या० प्र०) 5 पूर्वोक्त मतम् । + दिल्ली अष्टशती अ, ब, स प्रति में, मु. अ. श. प्र. में, दिल्ली एवं व्यावर अ. स. प्र. में 'व्यापार व्याहार विवेचयति' पंक्ति अष्टशती मानी गई एवं मु. अ. स. प्र. में नहीं मानी है । 6 व्याहारस्त्रसशरीरे गृह्यते । (व्या० प्र०) 7 संकेत । (व्या० प्र०) 8 भाट्टस्य । (व्या० प्र०) 9 मीमांसकस्य । 10 तत् = व्यापारव्याहारादि । 11 सर्वे कर्मफलं मुख्यभावेन स्थावरा-
स्त्रसाः । स कार्यं चेतयतेऽस्तप्राणत्वात् ज्ञानमेव च । सा चेतना कर्मफलसकार्यज्ञानचेतना भेदात् त्रेधा यद्येवं तर्हि कः
किं प्राधान्येन चेतयते इत्याह । कर्मफलं—अव्यक्तसुखदुःखं । सकार्यं—क्रियते इति कार्यं बुद्धिपूर्वको व्यापारस्तेन सहितं । चेतयते—अनुभवति । अस्तप्राणत्वात्—प्राणत्वं अतिक्रान्ता जीवा व्यहारेण जीवमुक्ताः परमार्थेन परममुक्ताश्च । (व्या० प्र०)

तद्यावृत्तिसिद्धिः' इति, तदसमञ्जसं, व्यापाराद्यशेषकार्यजननासमर्थस्य शरीरिणां¹ चेतनादेर-
सम्भवात्, संभवे वा² शरीरित्वविरोधात्³ । ततः⁴ कार्यविशेषानुपलब्धेः सर्वात्मना चेतनादि-
गुणव्यावृत्तिः पृथिव्यादेः सिध्यत्येव, मृतशरीरादेः⁵ परचैतन्यरोगादिनिवृत्तिवत् । यदि
पुनरर्थ⁶ निर्बन्धः⁷ सर्वत्र विप्रकर्षि⁸ गामभावा⁹ सिद्धे¹⁰ स्तदा कृतकत्वधूमार्देविनाशान-
लाभ्यां¹¹ व्याप्टेरसिद्धेर्न¹² कश्चिद्धेतुः । ततः¹³ शौद्धोदनिशिष्यकाणामनात्मनीनमेतत्¹⁴,

क्योंकि व्यापार, वचन, आकार विशेष का अभाव पाया जाता है । इस प्रकार से आगम के आधार से सिद्धांतवेत्ता दिद्वान् निर्णय कर लेते हैं* ।

मीमांसक—व्यापारादि विशेष की उपलब्धि न होने से व्यापारादि को उत्पन्न करने में समर्थ चेतनादि गुण की व्यावृत्ति सिद्ध हो जाने पर भी व्यापारादि को उत्पन्न करने में असमर्थ चेतनादि गुण की व्यावृत्ति—अभाव असिद्ध है । अतः सम्पूर्ण रूप से चेतनादि का अभाव सिद्ध नहीं हो सकता है ।

जैन—यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि संसारी जीवों में व्यापार आदि अशेष कार्यों को उत्पन्न करने में असमर्थ ऐसे चेतनादि गुण ही असंभव हैं अथवा यदि आप मान लें तो उसमें शरीरी (संसारीपने) का ही विरोध आ जावेगा अर्थात् वह मुक्तात्मा ही हो जावेगा । अतएव कार्य विशेष की उपलब्धि न होने से पृथ्वी आदि में संपूर्ण रूप से चेतनादि गुणों का अभाव सिद्ध ही है । जैसे कि मृतक शरीर एवं नीरोगी आदि में चैतन्य या रोग आदि का अभाव पाया जाता है ।

पुनः यदि आप ऐसा कहें कि अदृश्य की अनुपलब्धि रूप हेतु से संपूर्ण रूप से पृथ्वी आदि में चेतन आदि गुण की व्यावृत्ति सिद्ध नहीं हो सकती है तो फिर सभी जगह विप्रकर्षी—काल से दूरवर्ती और वेद के कर्त्ता आदि परोक्ष पदार्थों के अभाव को भी आप सिद्ध नहीं कर सकेंगे । प्रत्युत आप (मीमांसक) के यहाँ इनका सदभाव ही सिद्ध हो जावेगा । तथा कृतकत्व हेतु की विनाश—अनित्य के साथ और धूम आदि की अग्नि के साथ व्याप्ति भी नहीं हो सकेगी । अर्थात् "जो नश्वर नहीं है वह कृतक भी नहीं है" और "जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ धूम भी नहीं" इस प्रकार व्यतिरेक रूप से व्याप्ति नहीं बन सकेगी । पुनः कोई भी हेतु साध्य को सिद्ध करने में समर्थ सच्चा हेतु नहीं हो सकेगा । अर्थात्

1 ज्ञान । सुखदुःखादि । (व्या० प्र०) 2 मुक्तत्वप्रसंगः । (व्या० प्र०) 3 मुक्तात्मवत् । 4 कार्यं—व्यापारादि । 5 आरोग्यशरीर । (व्या० प्र०) 6 अदृश्यानुपलम्भात्सर्वात्मना चेतनादिगुणव्यावृत्तिर्न सिध्यत्येवेति । 7 आग्रहः । बौद्धमतमाश्रित्य, मीमांसकस्तं निराकरोति । (व्या० प्र०) 8 रामरावणवेदकर्त्तादीनाम् । 9 किन्तु भावसिद्धेरेव मीमांसकस्य स्यात् । 10 जैनः । 11 यद्विनाशि न भवति तत्कृतकं न भवति, यत्रानिनर्ति तत्र धूमोपि नास्तीति च व्यतिरेकव्याप्टेरसिद्धेः । 12 बौद्धमतेऽदृश्यानुपलम्भादभावसिद्धिर्नास्ति ततः परस्परमसंपृष्टानां परमाणूनां विकल्पबुद्धावप्रतिभासनात्तेषामभावासिद्धिः । 13 (जैमिनीयानाम्) मीमांसकानाम् । 14 बौद्धमतेऽदृश्यानुपलम्भादभावस्य सिद्धिर्नास्ति परस्परमसंपृष्टानां विशरारूपां परमाणूनां विकल्पबुद्धौ अप्रतिभासनात्तेषामभावासिद्धेः । अव्यथा । शौद्धोदनिशिष्यकत्वं । (व्या० प्र०)

'अनुमानोच्छेदप्रसंगात्* । न हि जैमिनीयमतानुसारिणो विप्रकर्षिणामर्थानामभावा^२सिद्धि-
मनुमन्यन्ते^३, वेदे कर्त्रऽभावसिद्धिप्रसङ्गात्^४ सर्वज्ञाद्यभावसाधनविरोधाच्च । ते तामनुमन्यमाना
वा शौद्धोदनिशिष्यका एव । न चैषामेतदात्मनीनं^६, अनुमानोच्छेदस्य दुर्निवारत्वात्, साध्य-
साधनयोर्व्याप्तिसिद्धेः^७ । परोपगमाद्व्याप्तिसिद्धेर्नानुमानोच्छेद इति चेन्न, ^८तस्यापि परोपग-
मान्तरात्सिद्धावनवस्थाप्रसङ्गात् तस्यानुमानात्सिद्धौ परस्पराश्रयप्रसङ्गात् । प्रसिद्धेनुमाने ततः
परोपगमस्य सिद्धिस्तत्सिद्धौ च ततो व्याप्तिसिद्धेरनुमानप्रसिद्धिरिति । ततो न श्रेयानयं
निर्बन्धः सर्वात्मना चेतनादिगुणव्यावृत्तिः पृथिव्यादेर्न सिद्धयत्येवेति । तत्रसिद्धौ च न

यदि बौद्ध मत में "अदृश्यानुपलंभ" हेतु से अभाव सिद्धि नहीं है तो फिर परस्पर में असंबद्ध परमाणुओं
का विकल्प बुद्धि में प्रतिभास न होने से उन परमाणुओं के अभाव को भी सिद्ध नहीं कर सकेंगे ।
फिर मीमांसकों के लिए यह सब उनका सिद्धांत स्वयं उनके लिए अहितकर ही हो जावेगा । इस प्रकार
अनुमान के भी उच्छेद का प्रसंग आ जावेगा ।*

जैमिनीय मतानुसारी जन परोक्षवर्ती पदार्थ के अभाव की असिद्धि को नहीं मानते हैं । अर्थात्
दूरवर्ती परोक्ष पदार्थ का अभाव स्वीकार करते हैं ।

तथा च वेद के कर्ता के अभाव की असिद्धि का प्रसंग आ जावेगा । अर्थात् वेद का कर्ता मान
लेने से आप वेद को अपौरुषेय सिद्ध नहीं कर सकेंगे एवं सर्वज्ञादि के अभाव को सिद्ध करने वाले हेतु
में भी विरोध आ जावेगा ।

इस प्रकार मानने वाले जैमिनीय लोग भी बुद्ध के ही शिष्य सिद्ध हो जाते हैं परन्तु आपको
यह अभीष्ट नहीं है । अर्थात् अदृश्यानुपलंभ हेतु से अभाव को नहीं मानने वाले मीमांसक, जैमिनीय
आदि के यहाँ यह सभी उपर्युक्त दोष आ जावेंगे । अतः उन लोगों का यह कथन स्वयं ही उनके लिए
अहितकर है । और आप लोगों के लिये अनुमान का अभाव भी दुर्निवार है क्योंकि साध्य और साधन
में व्याप्ति के सिद्ध न होने से अनुमान कैसे बन सकेगा ?

मीमांसक—दूसरों ने व्याप्ति को स्वीकार किया है अतः उनकी स्वीकारता से ही हम व्याप्ति
की सिद्धि कर लेंगे तो अनुमान का अभाव नहीं होगा ।

जैन—यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि दूसरों को भी दूसरे के द्वारा स्वीकृत प्रमाण से व्याप्ति
की सिद्धि मानने से एवं उस अन्य को भी अन्य के द्वारा स्वीकृत प्रमाण से व्याप्ति को मानने से तो
अनवस्था दोष आ जावेगा । यदि आप कहें कि व्याप्ति की सिद्धि अनुमान से करेंगे तो परस्पराश्रय
दोष का प्रसंग आवेगा ।

1 अन्यथा । 2 भावसिद्धिमित्यर्थः । 3 अन्यथा । (व्या० प्र०) 4 ततो वेदस्य सकर्तृकत्वं स्यात् । 5 प्रति-
पादनम् । 6 स्वकीयम् । 7 अनुमानोच्छेदस्य दुर्निवारत्वम् । 8 विप्रकृष्टत्वे । (व्या० प्र०)

बुद्धिहान्या हेतोर्व्यभिचारः, तस्याः सपक्षत्वात् । तथा हि । यस्य हानिरतिशयवती तस्य कुतश्चित्सर्वात्मना व्यावृत्तिः, यथा बुद्ध्यादिगुणस्याश्मनः² । तथा च दोषादेर्हानिरतिशयवती³ कुतश्चिन्नवर्त्तयितुमर्हति⁴ सकलं⁵ कलंकमिति कथमकलंक⁶ सिद्धिर्न भवेत् ?*

यथा—अनुमान के सिद्ध होने पर उस अनुमान से परोपगमप्रमाण की सिद्धि होगी और उसके सिद्ध होने पर उससे व्याप्ति की सिद्धि होगी पुनः व्याप्ति की सिद्धि होने से अनुमान की सिद्धि होगी ।

इसलिए यह आपका कथन श्रेयस्कर नहीं है कि सम्पूर्ण रूप से पृथ्वी आदि में चेतना आदि गुणों की व्यावृत्ति सिद्ध नहीं है अर्थात् सिद्ध ही है एवं पृथ्वी आदि में चेतना आदि की संपूर्णतया व्यावृत्ति के सिद्ध हो जाने पर बुद्धि की हानि से हेतु में व्यभिचार दोष नहीं आता है क्योंकि बुद्धि को भी यहाँ हमने सपक्ष में ले लिया है । तथाहि—

जिसकी हानि अतिशय रूप से है उसका कहीं न कहीं परिपूर्ण रूप से अभाव पाया ही जाता है । जैसे कि पाषाण में से बुद्धि आदि का सर्वथा अभाव पाया जाता है और उसी प्रकार अतिशयवान् दोष आदि की हानि भी किसी आत्मा से संपूर्ण द्रव्यकर्म भावकर्म को पृथक् करती ही है । इस प्रकार से कर्मकलंक रहित भगवान् की अथवा अकलंक देव के वचनों की सिद्धि कैसे नहीं होगी ? अर्थात् कर्मकलंक रहित सर्वज्ञ देव की भी सिद्धि होती है और अकलंक देव के वचन की भी सिद्धि होती ही है ।*

भावार्थ—शंकाकार को यह कहना है कि आप जैनों ने किसी न किसी जीव विशेष में दोष और आवरण का परिपूर्णतया अभाव सिद्ध करने के लिए “अतिशयान” हेतु दिया है यह व्यभिचारी है क्योंकि जीवों में बुद्धि की भी तरतमता देखी जाती है अतः किसी न किसी जीव विशेष में बुद्धि का भी सर्वथा अभाव मानना पड़ेगा ।

इस पर जैनाचार्यों ने सुंदर ढंग से समाधान कर दिया है । वे कहते हैं कि मिट्टी के ढेले, पत्थर आदि में चैतन्य गुणों का अभाव हो जाने पर अर्थात् जीवात्मा के निकल जाने पर उन मिट्टी आदि में से बुद्धि का भी सर्वथा अभाव हो जाता है क्योंकि बुद्धि—ज्ञान यह आत्मा का ही गुण है । इस पर पुनः शंकाकार कहता है कि चैतन्य आत्मा तो अमूर्तिक होने से अदृश्य है पुनः इसी मिट्टी के ढेले में से यह आत्मा निकल गई है, यह मिट्टी सर्वथा निर्जीव हो गई है इसका निर्णय कैसे होगा ? क्योंकि जो चीज दिखती नहीं है उसके सद्भाव या अभाव का निर्णय करना अशक्य है । आचार्य कहते हैं यह बात सर्वथा एकान्त रूप से धटित नहीं हो सकती है कि अदृश्य का अभाव न माना जा सके । देखिये ! मृतक मनुष्य के शरीर की अदृश्य भी चेतना निकल गई है इस बात का निर्णय कुशल वैद्य सहज ही

1 अतिशयानादित्यस्य । (व्या० प्र०) 2 पाषाणात् 3 आत्मनः । 4 द्रव्यभावरूपम् । 5 सौगतादिमतं वा । (व्या० प्र०) 6 अकलङ्कस्य = परमसर्वज्ञस्याकलङ्कदेववचसो वा ।

कर देता है तभी तो व्यवहारी जन उस मृतक कलेवर को जला देते हैं एवं वैद्य लोग ज्वर आदि रोगों का अभाव भी सिद्ध करते हैं तभी तो अब यह स्वथ हो गया है ऐसा निर्णय होता है ।

यदि कोई कहे कि दो इन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रि तिर्यच मनुष्य आदि के शरीर से आत्मा निकल गई है इस बात का निर्णय करना तो सहज है किन्तु एकेन्द्रिय पृथ्वी जल आदि में से आत्मा निकल गई है इसका निर्णय करना असम्भव है क्योंकि पृथ्वी आदि में चेतना आदि के रहते हुये भी हलन, चलन आदि चेष्टायें, श्वासोच्छ्वास, वचन-प्रयोग आदि बाह्य व्यापार असम्भव हैं अतः इनमें से चेतना निकल चुकी है यह कहना अशक्य है । इस पर भी आचार्य कहते हैं कि एकेन्द्रिय स्थावर में भी चैतन्य के विद्यमान रहने से पृथ्वीकायिक आदि में वृद्धि व वनस्पतिकायिक के हरे-भरे रहने से जीवितपने का अनुमान किया जाता है एवं शुष्क आदि हो जाने पर निर्जीव का अनुमान स्पष्ट है तथा च आगम के के द्वारा भी हम इन स्थावरकायिक जीवों के शरीर को अचेतन समझ सकते हैं ।

राजवार्तिक आदि ग्रन्थों में पाँचों ही स्थावर जीवों के ४-४ भेद माने हैं । यथा पृथ्वी, पृथ्वी-काय, पृथ्वीकायिक एवं पृथ्वी जीव । सामान्य पृथ्वी को 'पृथ्वी' कहते हैं । पृथ्वीकायिक जीव के निकल जाने पर जो पृथ्वी कलेवर रूप से रह जाती है उसे 'पृथ्वीकाय' कहते हैं । पृथ्वीकायिक नाम कर्म के उदय को लेकर जिसमें एकेन्द्रिय जीव विद्यमान है ऐसी खान आदि की पृथ्वी को 'पृथ्वी-कायिक' कहते हैं एवं विग्रहगति अवस्था में विद्यमान जीव को 'पृथ्वीजीव' कहते हैं । इन चारों में से पृथ्वी एवं पृथ्वीकाय ये दो भेद तो निर्जीव हैं एवं पृथ्वीकायिक तथा पृथ्वीजीव ये दो भेद सजीव हैं । इन दोनों में भी विग्रह गति के जीव की विराघना का तो प्रसंग ही नहीं आता है केवल पृथ्वीकायिक जीवों की ही हिंसा का प्रसंग आता है । हाँ ! विग्रह गति के जीवों की भाव हिंसा का प्रसंग आ सकता है । ऐसे ही जल, अग्नि, वायु और वनस्पति इन चारों के भी चार-चार भेद समझने चाहिये ।

आचार्य ने इस बात को अच्छी तरह से सिद्ध कर दिया है कि जिस प्रकार से मृतक शरीर से चैतन्य निकल गया है एवं स्वस्थ शरीर से रोग का अभाव हो गया है वैसे ही मिट्टी के ढेले आदि से संपूर्ण रूप से चैतन्य निकल चुका है वे सर्वथा निर्जीव हैं । जैसे कृतकत्व हेतु पदार्थ को विनाशिक सिद्ध करता है धूम हेतु अप्रत्यक्ष—नहीं दिखती हुई अग्नि को सिद्ध करता है अतः इन कृतकत्व, धूमत्व हेतुओं की विनश्वर और अग्नि के साथ व्याप्ति सिद्ध है । यद्यपि यह व्याप्ति अदृश्य है फिर भी प्रमाणीक है अन्यथा अनुमान ज्ञान का अवतार ही नहीं हो सकेगा । वैसे ही पृथ्वी आदि से चैतन्य आदि गुणों का अभाव भी सिद्ध है अतः पत्थर आदि में भी बुद्धि का भी सर्वथा अभाव हो जाने से हमारा "अतिशायन" हेतु व्यभिचारी नहीं है ।

राग, द्वेष आदि रूप जो भावकर्म हैं वे तो दोष हैं और ज्ञानावरण आदि जो द्रव्यकर्म हैं वे आवरण कहलाते हैं इन दोष और आवरणों का भी किसी न किसी जीव में सर्वथा अभाव हो सकता है

[कर्मद्रव्यस्य प्रध्वंसाभावरूपभावे मन्यमाने सति दोषारोपणं, स्याद्वादिभिस्तदोषनिराकरणं]

१'ननु च यदि २'प्रध्वंसाभावो हानिस्तदा सा पौद्गलिकस्य ज्ञानावरणादेः कर्मद्रव्यस्य न संभवत्येव नित्यत्वात् ३'तत्पर्यायस्य तु ४'हानावपि ५'कुतश्चित् ६'पुनः ७'प्रादुर्भावाच्च निश्शेषा हानिः स्यात् । निश्शेषकर्मपर्यायहानौ वा कर्मद्रव्यस्यापि हानिप्रसङ्गः, तस्य तदविनाभावात् । तथा च निरन्वयविनाशसिद्धेरात्मादि ८'द्रव्याभावप्रसङ्ग इति ९'कश्चित् सोप्यनवबुद्धसिद्धान्त एव । यस्मात्, १०'मणेर्मलादेर्व्यावृत्तिः ११'क्षयः, सतोत्यन्तविनाशानुपपत्तेः । तादृगात्मनोपि १२'कर्मणो निवृत्तौ परिशुद्धिः* । प्रध्वंसाभावो हि क्षयो हानिरिहाभिप्रेता । सा च व्यावृत्तिरेव मणः

क्योंकि सभी संसारी जीवों में इन दोनों की तरतमता देखी जाती है अतः कर्म कलंक रहित—अकलंक-निर्दोष परमात्मा की सिद्धि हो जाती है और अकलंकदेव के निर्दोष वचनों की भी सिद्धि हो जाती है ।

[कर्मद्रव्य का प्रध्वंसाभावरूप अभाव मानने पर दोषारोपण एवं स्याद्वादी द्वारा उन दोषों का निराकरण]

तटस्थ जैन—यदि प्रध्वंसाभाव रूप अभाव (हानि) आपको इष्ट है तो फिर वह हानि पुद्गल रूप ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म में संभव नहीं है क्योंकि द्रव्यरूप से पुद्गल द्रव्यकर्म नित्य हैं ।

यदि पुद्गल द्रव्य के पर्याय की हानि मानों तो भी किसी कारण से पुनः उस पर्याय की उत्पत्ति होने से निःशेष—संपूर्ण हानि नहीं हो सकेगी अथवा निःशेष कर्म पर्याय की हानि होने पर कर्मद्रव्य की भी हानि का प्रसंग आ जावेगा क्योंकि कर्मरूप पर्याय का कर्मद्रव्य (पुद्गल) के साथ अविनाभाव पाया जाता है । उसी प्रकार से निरन्वय विनाश होने से आत्मादि द्रव्य के अभाव का भी प्रसंग हो जावेगा ।

आचार्य—आपने भी सिद्धांत को ठीक से समझा नहीं है क्योंकि मणि से मलादि का पृथक्करण होना ही क्षय माना गया है । अर्थात् एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ का अलग हो जाना ही क्षय है इस बात को सैद्धांतिक लोगों ने स्वीकार किया है क्योंकि सत् (विद्यमान) पदार्थ का अत्यन्त विनाश नहीं हो सकता है । उसी प्रकार सत् स्वरूप आत्मा से भी कर्मों का पृथक्करण हो जाने पर आत्मा में परिपूर्ण शुद्धि हो जाती है ।*

यहाँ पर प्रध्वंसाभाव रूप क्षय को ही हानि शब्द से स्वीकार किया है और मणि से मलादि की अथवा कनक पाषाण से किट्ट कालिमा आदि की व्यावृत्ति ही पाई जाती है न कि अत्यन्त विनाश । क्योंकि अत्यन्त रूप से विनाश माना जाए तो प्रश्न यह उठता है कि अत्यन्त विनाश द्रव्य का होता है या पर्याय का ? द्रव्य का तो हो नहीं सकता क्योंकि द्रव्य नित्य है और न पर्याय का ही हो सकता है

1 तटस्थो जैनः । 2 भूत्वाभवनलक्षणः । 3 द्रव्यत्वेन । 4 द्रव्यत्वेन सद्भावात् निःशेषहानिर्मास्तु । (व्या० प्र०) 5 मिथ्यादर्शनादिकारणात् । (व्या० प्र०) 6 कारणात् । 7 तत्पर्यायस्य । 8 तस्यापि कर्मपर्यायहानौ सत्यां तस्यापि हानिः स्यात् । (व्या० प्र०) 9 योगो बुद्धो वा । (व्या० प्र०) 10 सकाशात् । 11 एकस्माद्वितीयस्य व्यावृत्तिरेव क्षय इष्यते सैद्धान्तिकानाम् । 12 कर्मणो इति पा. । (व्या० प्र०)

कनकपाषाणाद्वा मलस्य ¹किट्टादेर्वा । पुनरत्यन्तविनाशः । स हि द्रव्यस्य वा स्यात्पर्यायस्य वा ? न तावद्द्रव्यस्य, नित्यत्वात् । नापि पर्यायस्य द्रव्यरूपेण ध्रौव्यात् । तथा हि । विवादापन्नं मण्यादौ मलादि ²पर्यायार्थतया नश्वरमपि द्रव्यार्थतया ध्रुवं, ³सत्त्वान्यथानुपपत्तेः⁴ ।

[शब्दविद्युद्दीपादयोऽपि कथंचिन्नित्याः सन्ति]

⁵शब्देन व्यभिचार⁶ इति चेन्न, तस्य द्रव्यतया ध्रौव्याभ्युपगमात् । विद्युत्त्रदीपादिभिरनेकान्त⁷ इत्ययुक्तं, तेषामपि द्रव्यत्वतो⁸ ध्रुवत्वात्, क्षणिकैकान्ते सर्वथार्थक्रियाविरोधस्याभिधानात् । ततो यादृशी मणमलादेर्व्यावृत्तिर्हानिः परिशुद्धिस्तादृशी जीवस्य कर्मणां

क्योंकि पर्याय भी द्रव्य रूप से ध्रौव्य है अर्थात् पर्याय से भिन्न द्रव्य या द्रव्य से भिन्न पर्याय नहीं है । तथाहि “मणि आदि में विवादापन्न मलादि पर्याय रूप से अनित्य होते हुये भी द्रव्य रूप से ध्रुव हैं क्योंकि अस्तित्व की अन्यथानुपपत्ति है ।” अस्तित्व की अन्यथानुपपत्ति है इसका अभिप्राय यह है कि ध्रौव्य के बिना सत् रह नहीं सकता ।

[शब्द, विद्युत्, दीपक आदि भी कथंचित् नित्य हैं ।]

शंका—शब्द के साथ व्यभिचार आता है यथा—“शब्द नश्वर है क्योंकि सत् रूप है ।” यहाँ यह सत्त्वान्यथानुपपत्ति रूप हेतु शब्द को नश्वर ही सिद्ध करता है न कि ध्रौव्य ।

समाधान—यह कहना भी ठीक नहीं है । शब्द भी द्रव्य रूप से ध्रौव्य है ऐसा हमने स्वीकार किया है ।

शंका—विद्युत् दीपक आदि से भी व्यभिचार आता है अर्थात् बिजली, दीपक आदि का अस्तित्व होते हुये भी द्रव्य रूप से ध्रौव्यपने का अभाव है । इसलिए आपका अस्तित्व हेतु व्यभिचारी है क्योंकि बिजली, दीपक आदि सर्वथा नष्ट होते हुए देखे जाते हैं ।

समाधान—यह कहना भी ठीक नहीं है । बिजली दीपक आदि भी पुद्गल द्रव्य होने से द्रव्यरूप से ध्रौव्य ही है क्योंकि क्षणिक एकांत में सर्वथा ही अर्थक्रिया का विरोध है ऐसा कहा गया है । इसलिये जैसे मणि से मलादि की व्यावृत्ति रूप हानि ही परिपूर्ण शुद्धि कहलाती है वैसे ही जीव के कर्मों की निवृत्ति रूप हानि भी परिपूर्ण शुद्धि कहलाती है ।

1 यथा व्यावृत्तिरिति शेषः । 2 पर्यायः अर्थो यस्य सः पर्यायार्थस्तस्य भावस्तत्ता । (व्या० प्र०) 3 ध्रौव्यमन्तरेण । 4 नश्वरानश्वरात्मकत्वाभावे । (व्या० प्र०) 5 शब्दबुद्धिकर्मणां त्रिलक्षणावस्थायित्वं । (व्या० प्र०) 6 शब्दो नश्वरः सत्त्वादित्यपि वक्तुं शक्यत्वात् । किं तात्पर्यम् ? सत्त्वान्यथानुपपत्तिरूपो हेतुः शब्दस्य नश्वरत्वमेव साधयति, न तु ध्रौव्यमित्यर्थः । 7 विद्युदादीनां सत्त्वेपि द्रव्यार्थतया ध्रौव्याभावाद्नेकान्त इत्यर्थः । 8 पुद्गलद्रव्यत्वतः ।

निवृत्तिर्हानिः । तस्यां च सत्यामात्यन्तिकी शुद्धिः सम्भाव्यते, सकलकर्मपर्यायविनाशोपि^१ कर्मद्रव्यस्याविनाशात्^२ स्याकर्म^३ पर्यायाक्रान्ततया परिणमनाद्, मलद्रव्यस्य मलात्मकपर्यायतया निवृत्तावप्यमलात्मक^४ पर्यायाविष्टतया^५ परिणमनवत् । तदेतेन^६ ^७तुच्छः प्रध्वंसाभावः^८ सर्वत्र प्रत्याख्यातः, कार्योत्पादस्यैव पूर्वाकारक्षयरूपत्वप्रतीतेः । समर्थयिष्यते चैतत् “कार्योत्पादः क्षयो हेतोर्नियमात्”^९ इत्यत्र । + तेन मणेःकैवल्यमेव मलादेवैकल्यम् ।

सकल कर्म पर्याय का विनाश होने पर भी कर्मद्रव्य का विनाश नहीं होता है वह कर्मद्रव्य अकर्मपर्याय रूप परिणमन कर जाता है । अर्थात् पुद्गल द्रव्य वर्गणार्थे ही आत्मा के रागादिभाव का आश्रय लेकर कर्मरूप परिणमन कर जाती हैं और आत्मा को परतंत्र बना देती हैं । कदाचित् उस आत्मा से अलग होकर कर्मत्व अवस्था को छोड़कर पुनः पुद्गल रूप ही हो जाती हैं इस प्रकार सिद्धांत वचन है । जैसे कि मणि से मलद्रव्य का मलात्मक पर्याय रूप से विनाश हो जाने पर भी अमलात्मक (अन्यपुद्गल) पर्याय रूप से परिणमन हो जाता है ।

इसी कथन से जो तुच्छाभाव रूप प्रध्वंसाभाव को स्वीकार करते हैं उनका भी खण्डन कर दिया गया है क्योंकि कार्य का उत्पाद ही पूर्वाकार के क्षय रूप से प्रतीति में आता है ।

इसी का आगे “कार्योत्पादः क्षयो हेतोः” इत्यादि कारिका में समर्थन करेंगे ।

भावार्थ—शंकाकार का कहना है कि यदि आप जैन ज्ञानावरण आदि कर्मद्रव्य का प्रध्वंस होना रूप अभाव स्वीकार करोगे तब तो सिद्धान्त से विरोध आ जावेगा क्योंकि पौद्गलिक कर्म द्रव्य रूप कार्माण वर्गणाओं का सर्वथा अभाव हो नहीं सकता है । जैन सिद्धांत में सभी द्रव्यों को नित्य माना गया है अतः कर्मद्रव्य का नाश असंभव है । यदि कर्मपर्याय का नाश मानों तो भी एक पर्याय का नाश दूसरी पर्याय के उत्पाद रूप से होता है अतः एक कर्म पर्याय नष्ट होकर दूसरे कर्मरूप परिणत हो जावेगी । पुनः किसी जीव में सम्पूर्णतया कर्मों का अभाव सिद्ध करना अशक्य ही है । अथवा कर्म पर्याय का सम्पूर्णतया नाश मान भी लोभे तो भी कर्मद्रव्य का अभाव दुर्निवार हो जावेगा क्योंकि कोई भी पर्याय अपने द्रव्य को छोड़कर रह नहीं सकती है अतः सर्वथा पर्याय के अभाव में द्रव्य का अभाव भी मानना पड़ेगा और द्रव्य का अभाव मान लेने पर तो आप निरन्वय विनाशवादी बौद्ध ही बन जावेंगे ।

1 पुद्गलद्रव्यमात्मनि पारतंत्र्यं करोति तदा कर्मत्वपरिणामः पारतंत्र्यं न करोति तदाऽकर्मत्वपरिणामः पुद्गलद्रव्यमेव । (व्या० प्र०) 2 कर्मद्रव्यस्य । 3 पुद्गलद्रव्यस्यात्मनि पारतंत्र्यकरणे कर्मत्व-परिणामस्तदकरणेऽकर्मत्वपरिणाम इति सिद्धान्तः । 4 यथा घटपटादिः । 5 आक्रान्तत्वेन । (व्या० प्र०) 6 मणमंलादिरित्यादिमूलग्रन्थेन । (व्या० प्र०) 7 सर्वथा निरवशेषः । (व्या० प्र०) 8 घटादौ । (व्या० प्र०) 9 कारिकायाम् । + व्यावर अष्टसहस्री प्रति में “तेन..... वैकल्यम्” पंक्ति अष्टशती है अन्यत्र अ. व. स. मु. अष्टशती एवं दिल्ली अष्ट स. प्र. में तथा मु. अष्ट स. में भी नहीं है ।

[बुद्धेर्विनाशः सर्वथा भवति न वा ?]

कर्मणोपि वैकल्यमात्मकैवल्यमस्त्येव ततो 'नातिप्रसज्यते* । द्रव्यार्थतया बुद्धेरात्म-
न्यप्यविनाशात्सर्वात्मना परिक्षयाप्रसङ्गात् पर्यायार्थतया परिक्षयेपि सिद्धान्ताविरोधात् ।
²ननु च यथा कर्मद्रव्यस्य कर्मस्वभावपर्यायनिवृत्तावप्यकर्मत्मकपर्यायरूपतयावस्थानं तथा-
त्मनो बुद्धिपर्यायतया निवृत्तावप्यबुद्धिरूपपर्यायतयावस्थानात् सिद्धान्तविरोध³ एवेत्यतिप्रस-
ज्यते इति ⁴चेन्न, वैषम्यात्⁵ । कर्मद्रव्यं हि पुद्गलद्रव्यम् । तस्यात्मनि पारतन्त्र्यं कुर्वतः

इस पर जैनाचार्यों ने कहा कि जो पौद्गलिक कार्माण वर्गणार्थे हैं वे जीव के रागादि भावों का निमित्त पाकर कर्मरूप पर्याय से परिणत हो जाती हैं उन कर्मवर्गणार्थों का जीव से पृथक् होना ही अभाव है जीव से पृथक् होकर ये कर्मवर्गणार्थे कर्मपर्याय को छोड़कर अकर्म-पुद्गल रूप परिणत हो जाती हैं अतः एक पर्याय का विनाश होने पर भी अकर्म रूप दूसरी पर्याय का उत्पाद हो जाने से पुद्गल द्रव्य के अभाव का प्रसंग नहीं आता है । जैसे पुद्गल की पर्याय रूप प्रकाश का विनाश होकर अंधकार रूप पुद्गल की पर्याय प्रकट हो जाती है । श्री समन्तभद्र स्वामी ने कहा भी है कि "दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽस्ति" इसलिये द्रव्य कर्म रूप पुद्गल द्रव्य का सर्वथा विनाश न होकर कर्म पर्याय का ही विनाश होना सिद्ध हो गया ।

[बुद्धि का सर्वथा विनाश होता है या नहीं ?]

मणि का केवल अपने स्वरूप से रहना ही मलादिक से विकल होना है उसी प्रकार आत्मा से कर्मों को विकलता ही उसकी कैवल्य-स्वस्वरूप की प्राप्ति है इसलिए अतिप्रसंग दोष नहीं आता है ।* अर्थात् जैसे कर्म से विकल होने पर भी आत्मा की कैवल्य अवस्था है उसी प्रकार बुद्धि की विकलता होने पर भी आत्मा की कैवल्य अवस्था बनी रहे यह अतिप्रसंग दोष नहीं होता है ।

द्रव्य रूप से आत्मा में बुद्धि का विनाश नहीं होता है अतः संपूर्ण रूप से नाश का प्रसंग नहीं आता है परन्तु पर्याय रूप से नाश होने पर भी सिद्धांत से विरोध नहीं आता है । अर्थात् द्रव्य रूप से ज्ञान सामान्य आत्मा का गुण है और वह द्रव्य में अन्वय रूप से सतत मौजूद रहता है अतः द्रव्य रूप से ज्ञान का नाश मानने पर आत्मा का ही अभाव हो जावेगा परन्तु ऐसा नहीं होता और पर्याय रूप से अर्थात् मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय रूप क्षयोपशम ज्ञान की अपेक्षा से विनाश मानने पर भी सिद्धांत में विरोध नहीं आता है क्योंकि अर्हंत अवस्था में क्षयोपशमिक ज्ञानों का अभाव स्वीकार किया है ।

1 निःशेषकर्मपर्यायहानी वा कर्मद्रव्यस्यापीत्यादिनोक्तप्रकारेण । यथा कर्मवैकल्येप्यात्मकैवल्यं तथा बुद्धिवैकल्येप्यात्मकै-
वल्यमस्त्विति वाऽतिप्रसङ्गो नेति भावः । 2 सौगतः । 3 ज्ञानादिसहितत्वेनात्मनोऽवस्थानं जैनमते । (व्या० प्र०)
4 जैनः । 5 दृष्टान्तदाष्टान्तिकयोः ।

कर्मत्वपरिणामस्तद^१ कुर्वतोऽकर्मत्वपरिणामेनावस्थानं, ^२रूपादिमत्त्वसामान्यलक्षणत्वात्^३ पुद्गलद्रव्यस्य^४ ^५कर्मत्वलक्षणत्वाभावादविरुद्धमभिधीयते^६ । ^७बुद्धिद्रव्यं तु जीवः । ^८तस्य बुद्धिः पर्यायः । तत् सामान्यं लक्षणम्, “उपयोगो^९ लक्षणम्” इति वचनात् । न च लक्षणाभावे लक्ष्यमवतिष्ठते^{१०}, ^{११}तस्य ^{१२}तदलक्षणत्वप्रसक्तैर्येनाबुद्धिपर्यायात्मकतयावस्थानं जीवस्य निःशेषतो बुद्धिपरिक्षयेप्यविरुद्धं स्यात्^{१३} ।

[अज्ञानादिदोषाणामभावो कथं भविष्यति ?]

^{१४}नन्वेवमज्ञानादेर्दोषस्य पर्यायार्थतया हानिर्निश्चेषा सिध्येदावरणवन्^{१५} पुनर्द्रव्यार्थतया

बौद्ध—जैसे कर्मद्रव्य का कर्म पर्याय रूप से विनाश हो जाने पर भी अकर्मात्मक पर्याय रूप से अवस्थान पाया जाता है । उसी प्रकार आत्मा के भी बुद्धिपर्याय का विनाश हो जाने पर अबुद्धि रूप पर्याय से उसका अवस्थान होने से सिद्धांत में विरोध आ ही जावेगा ।

जैन—दृष्टांत और दाष्टांत में विषमता होने से आपका यह कथन युक्ति संगत नहीं है क्योंकि कर्मद्रव्य पुद्गलद्रव्य है और वह आत्मा को परतन्त्र करते हुए कर्म रूप से परिणमन करता है तथा आत्मा को परतन्त्र न करते हुए अकर्मत्व रूप से परिणमित होकर अवस्थित रहता है । किसी भी द्रव्य का अत्यन्त विनाश नहीं होता है क्योंकि पुद्गल द्रव्य वर्ण, रस, गन्ध स्पर्श रूप सामान्य लक्षण वाला है । कर्म रूप लक्षण का उसमें अभाव होने से विरोध नहीं आता है पर द्रव्य-जीवद्रव्य के निमित्त से ही वह पुद्गल विभाव रूप परिणमन करके कर्म बनता है पुनः कर्मपर्याय का अभाव होने पर अपने स्वभाव में आ जाता है किंतु बुद्धि द्रव्य तो जीव है । बुद्धि उस जीव की पर्याय है और वह जीव का सामान्य लक्षण है ।

“उपयोगो लक्षणम्” यह सूत्रकार का वचन है और लक्षण के अभाव में लक्ष्य भी नहीं रह सकता है । अन्यथा लक्ष्यभूत जीव उपयोग लक्षण से रहित लक्षण शून्य हो जावेगा अतः जीव में निःशेष रूप से बुद्धि का परिक्षय हो जाने पर भी अबुद्धि का पर्यायात्मक रूप से अवस्थान होवे और इसमें विरोध न आवे ऐसा नहीं हो सकता है । अर्थात् यह बात विरुद्ध ही है ।

[अज्ञानादि दोषों की हानि कैसे होगी ?]

मीमांसक—इस प्रकार से सत् पदार्थ का अत्यन्त रूप से विनाश न होने से “अज्ञानादि दोष

१ आत्मनि परतन्त्रत्वं इति दिल्लीप्रती । (व्या० प्र०) २ आदिपदेन रसगन्धवर्णाः । ३ स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः । (व्या० प्र०) ४ पुद्गलद्रव्यं हि द्वेषा अपुस्कंधभेदात् तत्र प्रदेक्षमात्रस्पर्शादिपर्यायप्रसवसामर्थ्येनाप्यंते शब्दायते इति अणव इति निरूपणात् अणवः स्पर्शादिमंतः स्कंधास्तु शब्दादिमंतः स्पर्शादिमंतश्चेति अत्र पुद्गलद्रव्यमिति अणव एव गृह्यंते । (व्या० प्र०) ५ अत्ता कुणादि सहावं तत्थगदा पुग्गला सहावेहि । गच्छंति कम्मभावं अण्णोणवगाढमवगाढं । (व्या० प्र०) ६ सिद्धांते इति दि. प्र. । ७ ता । (व्या० प्र०) ८ जीवस्य इति दि. प्र. । ९ ज्ञानदर्शने । (व्या० प्र०) १० अन्यथा । (व्या० प्र०) ११ लक्षणस्य । १२ तत् = लक्ष्यम् । १३ अपि तु न स्यात् । १४ सत्तोत्यन्तविनाशानुपपत्तिप्रकारेण । १५ ज्ञान । (व्या० प्र०)

बुद्धिवत् । ततो दोषसामान्यस्यात्मन्यवस्थानान्न निर्दोषत्वसिद्धिरित्यपरः¹, सोप्यतत्त्वज्ञ एव, यतः प्रतिपक्ष एवात्मनामागन्तुको² मलः³ परिक्षयी⁴ स्वनिर्ह्रासनिमित्त⁵-⁶विवर्द्धनवशात्* ।

[आत्मनः परिणामो कतिविधः ?]

द्विविधो ह्यात्मनः परिणामः स्वाभाविक आगन्तुकश्च । तत्र स्वाभाविकोऽनन्तज्ञानादिरात्मस्वरूपत्वात् ।⁷ मलः पुनरज्ञानादिरागन्तुकः, ⁸ कर्मोदयनिमित्तकत्वात् । स चात्मनः प्रतिपक्ष एव । ततः परिक्षयी । तथा हि । यो⁹ यत्रागन्तुकः स तत्र स्वनिर्ह्रासनिमित्तविवर्द्धनवशात्परिक्षयी । यथा ¹⁰ जात्यहेम्नि ताम्रादिमिश्रणकृतः ¹¹ कालिकादिः । आगन्तुकश्चात्म-

की पर्याय रूप से ही निःशेष हानि होगी जैसे की आवरण की होती है, न पुनः द्रव्य रूप से बुद्धि के समान ।” इससे आत्मा में दोष सामान्य का अवस्थान रहने से निर्दोषपने की सिद्धि नहीं हो सकेगी ।

जैन—आपने तत्त्व को नहीं समझा है । आत्मा के आगन्तु कमल-अज्ञानादि दोष प्रतिपक्षी ही हैं और वे परिक्षयी हैं क्योंकि उनके विनाश के निमित्त भूतसम्यग्दर्शनादि की वृद्धि पायी जाती है ।*

[आत्मा के परिणाम कितने प्रकार के हैं ?]

आत्मा के परिणाम दो प्रकार के हैं—स्वाभाविक और आगन्तुक । उसमें अनन्तज्ञानादि गुण स्वाभाविक परिणाम हैं क्योंकि वे आत्मा के स्वरूप हैं । अज्ञानादि मल आगन्तुक परिणाम हैं क्योंकि ज्ञानावरणादि कर्मों के उदय के निमित्त से होते हैं । वे आगन्तुक परिणाम आत्मा के प्रतिपक्षी ही हैं इसीलिए परिक्षयी—क्षय होने वाले हैं । तथाहि—

“जो जहाँ पर आगन्तुक है वह वहाँ पर अपने विनाश के निमित्त की वृद्धि के कारण मिल जाने पर क्षय होने वाला है जैसे उत्कृष्ट स्वर्ण में ताँबे आदि के मिश्रण से होने वाली कालिमा आदि । आत्मा में अज्ञानादि मल आगन्तुक हैं इसीलिए वे परिक्षयी हैं” यह स्वभाव हेतु है । हमारा यह ‘स्वनिर्ह्रासनिमित्तविवर्द्धनवशात्’ हेतु असिद्ध भी नहीं है क्योंकि “जो जहाँ पर कादाचित्क है वह वहाँ पर आगन्तुक है जिस प्रकार स्फटिकमणि में लाल आदि आकार ।” तथा आत्मा में दोष कादाचित्क हैं । और हमारा यह कादाचित्क हेतु असिद्ध भी नहीं है क्योंकि सम्यग्ज्ञानादि गुणों के प्रकट होने पर आत्मा में दोषों का उद्भव नहीं देखा जाता है ।

- 1 भीमांसकः । 2 अज्ञानादिर्दोषः । 3 पृथक्करणमेव क्षयः । 4 ता । (व्या० प्र०) 5 निर्ह्रासो विनाशः । 6 मलनिर्ह्रासस्य निमित्तं सम्यग्दर्शनादिगुणस्तस्य विवर्द्धनवशाद्धेतोः । 7 आत्मनि अज्ञानादिर्मलः पक्षः । आगन्तुको भवतीति साध्यो धर्मः । कर्मोदयनिमित्तकत्वान्यथानुपपत्तेः दि. प्र. । 8 कर्म ज्ञानावरणादि । 9 अज्ञानादिर्मल आत्मनि स्वनिर्ह्रासनिमित्तविवर्द्धनवशात्परिक्षयी, आगन्तुकत्वादित्यध्याहार्यम् । 10 षोडशवर्ण । (व्या० प्र०) 11 स्वनिर्ह्रासनिमित्तविवर्द्धनवशात्परिक्षयी प्रसिद्धः ।

न्यज्ञानादिर्मलः । इति स्वभावहेतुः । न तावदयमसिद्धः । कथम् ? यो^१ यत्र कादाचित्कः स तत्रागन्तुकः । यथा स्फटिकाश्मनि लोहिताद्याकारः । कादाचित्कश्चात्मनि^२ दोष इति । न चेदं कादाचित्कत्वमसिद्धं, सम्यग्ज्ञानादिगुणाविर्भावदशायामात्मनि दोषानुपपत्तेः ।

[मीमांसको जीवस्य स्वभावं दोषं मन्यते तस्य निराकरणं]

‘ततः प्राक्तत्सद्भावाद्गुणाविर्भूतिदशायामपि^६ तिरोहितदोषस्य सद्भावान्न कादाचित्कत्वं, सातत्यसिद्धेरिति चेन्न, गुणस्याप्येवं^८ सातत्यप्रसङ्गात् । तथा^९ च हिरण्य-

भावार्थ—शंकाकार मीमांसक का कहना है कि जैसे आवरण रूप द्रव्य कर्म पर्याय रूप से ही नष्ट होते हैं । द्रव्यरूप से नहीं यह बात आपने सिद्ध कर दी है । उसी प्रकार से अज्ञान आदि दोष भी पर्याय रूप से ही नष्ट होंगे न कि द्रव्य रूप से और तब सामान्यतया दोषों का द्रव्य रूप से अस्तित्व बना ही रहेगा पुनः कोई भी आत्मा निर्दोष, सर्वज्ञ कैसे हो सकेगी ?

इस पर जैनाचार्य समाधान करते हैं कि जैन सिद्धान्त में प्रत्येक आत्मा के परिणाम दो प्रकार प्रकार के माने गये हैं एक स्वाभाविक और दूसरा आगंतुक अथवा वैभाविक । अनन्त ज्ञान, दर्शन आदि तो आत्मा के स्वाभाविक परिणाम हैं क्योंकि ये आत्मा के ही स्वरूप हैं जैसे कि अग्नि का स्वरूप उष्ण एवं जल का स्वभाव शीतलता है और अज्ञान आदि जो दोष हैं वे आगंतुक हैं क्योंकि ये कर्म के उदय से ही होते हैं ये आत्मा के स्वभाव को ही विकृत करके रहते हैं अतएव इन्हें विभाव भाव भी कहते हैं । ये कर्म के उदय से ही होते हैं अतः इन्हें औपाधिक भाव भी कहते हैं । जब कर्म को नाश करने की सामग्री मिल जाती है तब ये विभावभाव स्वभाव रूप परिणत हो जाते हैं जैसे मिथ्यात्व के अभाव में जीव में सम्यक्त्व गुण प्रकट हो जाता है ।

ज्ञानावरण के अभाव में केवलज्ञान, अंतराय के अभाव में अनंतवीर्य आदि गुण प्रकट हो जाते हैं । इसलिए ये अज्ञानादि दोष पृथक् कोई द्रव्य नहीं हैं किन्तु जीव के ही विकारी परिणाम हैं विकार के कारणभूत कर्मादय के पृथक् हो जाने से ये अपने स्वभाव में ही रह जाते हैं साता-असाता वेदनीय का अभाव होने से स्वाभाविक स्वात्मा से ही उत्पन्न अतीन्द्रिय सुख रह जाता है और इन्द्रिय जन्य वैभाविक सुख दुःख का काम समाप्त हो जाता है । इसी का नाम है दोषों का अभाव ।

[मीमांसक दोषों को जीव का स्वभाव मानता है उसका निराकरण ।]

मीमांसक—गुणों के प्रकट होने के पहले दोषों का सद्भाव होने से गुणों की आविर्भूत दशा में भी

१ आत्मन्यज्ञानादिर्मल आगन्तुकः कादाचित्कत्वादित्यध्याहार्यम् । २ आत्मनि दोषः पक्षः आगन्तुको भवतीति साद्यो धर्मः कादाचित्कत्वात् तस्मादागन्तुक इति निगमः दि. प्र. । ३ परः आह इदं कादाचित्कत्वमसिद्धं जैन आह एवं न दि. प्र. । ४ दोषस्वभावत्वं जीवानामिच्छन् मीमांसकः प्राह । ५ गुणाविर्भूतेः प्राक् । ६ स दोषः । ७ ब्रह्मादि-ज्ञानस्य । ८ दोषप्रकारेण । ९ गुणसद्भावकालेपि तिरोहितदोषसद्भावेऽङ्गीक्रियमाणे ।

गर्भदेवैदार्थज्ञानकालेपि वेदार्थज्ञानप्रसङ्गः । ज्ञानाज्ञानयोः परस्परविरुद्धत्वादेकत्रैकदा न प्रसङ्ग इति चेत्तत एव सकलगुणदोषयोरेकत्रैकदा प्रसङ्गो मा भूत् । पुनर्दोषस्याविर्भावदर्शनाद्गुणकालेपि सत्तामात्रसिद्धिरिति चेत्तर्हि गुणस्यापि पुनराविर्भूतिदर्शनाद्दोषकालेपि सत्तामात्रसिद्धिः, सर्वथा विशेषाभावात् । तथा चात्मनो दोषस्वभावत्वसिद्धिवद्गुणस्वभावत्वसिद्धिः कुतो निवार्येत ? विरोधादिति चेद्दोषस्वभावत्वसिद्धिरेव निवार्यतां, 'तस्य गुणस्वभावत्वसिद्धेः । कुतः २' सेति चेद्दोषस्वभावत्वसिद्धिः^३ कुतः ? संसारित्वान्यथानुपपत्ते-

तिरोहित (ढके हुए) दोषों का सद्भाव पाया जाता है अतः दोष कादाचित्क नहीं हैं किन्तु उनकी नित्यता ही सिद्ध होती है । अर्थात् मीमांसक कहता है कि दोष जीव का स्वभाव है क्योंकि वह आत्मा में हमेशा ही पाया जाता है गुण तो दोष के अभाव में यानी तिरोहित होने पर होते हैं अतः वे परनिमित्तक हैं ।

जैन—यह ठीक नहीं है क्योंकि दोष के समान गुणों को भी नित्यपने का प्रसंग आवेगा । अर्थात् गुणों के सद्भाव के समय भी तिरोहित रूप से दोषों का सद्भाव मानना पड़ेगा तब गुणों के सद्भाव के काल में भी ढके हुए दोषों का सद्भाव स्वीकार करने पर ब्रह्मा आदि को वेदार्थ के ज्ञान के समय भी वेद के अर्थ के अज्ञान का प्रसंग आ जावेगा ।

मीमांसक—ज्ञान और अज्ञान का परस्पर में विरोध होने से एक जीव में एक समय में दोनों नहीं रह सकते हैं ।

जैन—उसी प्रकार सकल गुण और दोष का भी एक जीव में एक समय में प्रसंग नहीं होना चाहिए ।

मीमांसक—पुनः दोषों का आविर्भाव देखा जाता है अतः गुण के काल में भी दोषों की सत्ता मात्र सिद्ध होती है ।

जैन—तो गुण का भी आविर्भाव देखे जाने से दोष के काल में भी गुणों की सत्ता मात्र सिद्धि क्यों न हो जावे क्योंकि दोनों में कोई अन्तर नहीं है फिर आत्मा के दोष स्वभाव की सिद्धि के समान गुण स्वभावपने की सिद्धि का निवारण भी कैसे हो सकता है ?

मीमांसक—विरोध होने से अर्थात् दोष और गुण परस्पर विरोधी हैं ये दोनों स्वभाव जीव के कैसे हो सकेंगे ? परस्पर विरोधी दो स्वभावों का एक जगह एक काल में रहने में विरोध है ।

जैन—यदि ऐसी बात है तो दोष स्वभाव का ही निवारण कीजिये और जीव का गुणस्वभाव है । ऐसा ही स्वीकार कीजिये ।

मीमांसक—आत्मा का स्वभाव गुण है यह बात हम किस प्रमाण से मानें ?

जैन—आत्मा का स्वभाव दोष है यह बात भी हम किस प्रमाण से मानें ?

१ आत्मनः । २ आत्मनो गुणस्वभावत्वसिद्धिः । ३ आत्मनः । ४ आत्मनो दोषस्वभावत्वमन्तरा संसारित्वं न स्यात्ततो दोषस्वभावत्वसिद्धिरिति मीमांसकः ।

रिति ^१चेत्तत्संसारित्वं सर्वस्यात्मनो यद्यनाद्यनन्तं तदा ^२प्रतिवादिनोऽसिद्धं, प्रमाणतो मुक्तिसिद्धेः ।

[क्वचिदात्मनि संसारस्याभावो भवतीति जैनाचार्याः साधयन्ति]

^३कुत इति चेदिमे ^४प्रवदामः । क्वचिदात्मनि संसारोत्पन्नं निवर्तते ^५तत्कारणात्यन्तनिवृत्त्यन्यथानुपपत्तेः । संसारकारणं हि मिथ्यादर्शनादिकमुभयप्रसिद्धं ^६क्वचिदत्यन्तनिवृत्तिमत्, तद्विरोधिसम्यग्दर्शनादिपरमप्रकर्षसद्भावात् । यत्र यद्विरोधिपरमप्रकर्षसद्भावस्तत्र तदत्यन्तनिवृत्तिमद्भवति । यथा चक्षुषि तिमिरादि^७ । नेदमुदाहरणं साध्यसाधनधर्मविकलं, कस्यचिच्च-

मीमांसक—संसारीपने की अन्यथानुपपत्ति होने से अर्थात् आत्मा के दोषस्वभाव के बिना संसारीपना बन नहीं सकता है इसलिए दोष आत्मा का स्वभाव है यह बात सिद्ध हो जाती है ।

जैन—यदि संसारीपना सभी जीवों के अनादि और अतंत होवे तब तो प्रतिवादी जैन के लिए यह हेतु असिद्ध है क्योंकि प्रमाण से हमारे यहाँ मुक्ति की सिद्धि होती है । अर्थात् सभी के संसारावस्था सदा नहीं रहती किन्तु अनेक जीव संसार का अभाव कर शुद्ध, सिद्ध स्वरूप को प्राप्त करते हैं ऐसा हमारा निश्चित मत है ।

[किसी जीव के संसार का सर्वथा अभाव हो जाता है जैनाचार्य इस बात को सिद्ध करते हैं]

मीमांसक—किस प्रमाण से मुक्ति की सिद्धि है ?

जैन—हम कहते हैं “किसी आत्मा में संसार का अत्यन्त विनाश देखा जाता है क्योंकि संसार के कारण मिथ्यादर्शन आदि के अत्यन्त रूप से विनाश की अन्यथानुपपत्ति है ।” तथा मिथ्यादर्शन आदि संसार के कारण हैं अतः वे कहीं पर अत्यन्त विनाश को प्राप्त होते हैं । यह बात वादी प्रतिवादी दोनों को ही मान्य है क्योंकि मिथ्यादर्शन आदि के विरोधी सम्यग्दर्शन आदि का परम प्रकर्ष देखा जाता है ।

जहाँ पर जिसके विरोधी के परम प्रकर्ष का सद्भाव है वहाँ पर वह अत्यन्त विनाश रूप देखा जाता है जैसे चक्षु में तिमिरआदि रोग । हमारा यह उदाहरण साध्य, साधन धर्म से विकल भी नहीं है क्योंकि किसी के नेत्र में तिमिर (रतौधी, मोतियाबिन्दु) आदि रोगों का अत्यन्त अभाव-विनाश प्रसिद्ध है और उन रोगों के विरोधी विशिष्ट अंजन, औषधि आदि के परम प्रकर्ष का सद्भाव भी सिद्ध ही है । इसमें किसी को भी किसी प्रकार का विसंवाद नहीं है ।

प्रश्न—सम्यग्दर्शन आदि मिथ्यादर्शन आदि के विरोधी हैं यह निश्चय कैसे होता है ?

उत्तर—सम्यग्दर्शन आदि के परम प्रकर्षता को प्राप्त होने पर उन मिथ्यादर्शन आदिकों की

१ जैनः । २ जैनस्य । (ध्या० प्र०) ३ मुक्तिसिद्धिः कुतः । ४ वयं जैनाः । ५ तत्कारणं—मिथ्यादर्शनादि ।

६ मिथ्याज्ञानवशात् सम्यग्ज्ञानाभाव इति प्रतिवादिनोपि सिद्धम् । ७ तिमिरादिर्नेदं इति. पा. दि. प्र. ।

क्षुषि तिमिरादेरत्यन्तनिवृत्तिमत्त्वप्रसिद्धेस्त¹द्विरोधिविशि²ष्टाञ्जनादिपरमप्रकर्षसद्भाव-
सिद्धेश्च निर्विवादकत्वात् । कथं मिथ्यादर्शनादिविरोधि सम्यग्दर्शनादि निश्चीयते इति
चेत्³तत्प्रकर्षे⁴ तदपकर्षदर्शनात् । यद्धि प्रकृष्यमाणं यदपकर्षति तत् तद्विरोधि सिद्धम् ।
यथोष्णस्पर्शः प्रकृष्यमाणः शीतस्पर्शमपकर्षति तद्विरोधी । मिथ्यादर्शनादिकमपकर्षति च प्रकृष्य-
माणं क्वचित्सम्यग्दर्शनादि तत् तद्विरोधि । कथं पुनः सम्यग्दर्शनादेः क्वचित्परमप्रकर्ष-
सद्भावः सिद्ध इति चेत्प्रकृष्यमाणत्वात्⁵ । यद्धि प्रकृष्यमाणं⁶ तत्क्वचित्परमप्रकर्ष-
सद्भावभागदृष्टम् । यथा नभसि परिमाणम् । प्रकृष्यमाणं च सम्यग्दर्शनादि ।
तस्मात्परमप्रकर्षसद्भावभाक् । परत्वापरत्वाभ्यां⁷ ४व्यभिचार इति चेन्न, तयोरपि
⁸सपर्यन्तजगद्वादिनां परमप्रकर्षसद्भावभावयत्वसिद्धेः । न चापर्यन्तं जगदिति वक्तुं शक्यं,

अपकर्षता (हानि) देखी जाती है । जो वृद्धि को प्राप्त होता हुआ जिसकी हानि को करता है, वह उसका विरोधी है यह बात प्रसिद्ध है जैसे कि बढ़ता हुआ उष्णस्पर्श शीतस्पर्श की हानि को करता है अतः वह उसका विरोधी प्रसिद्ध है । तथैव जीव में वृद्धि को प्राप्त होते हुए सम्यग्दर्शन आदि मिथ्यादर्शन आदि की हानि आदि करते ही हैं । इसीलिये वे उनके विरोधी माने गये हैं ।

प्रश्न—किसी जीव में सम्यग्दर्शनादि के परम प्रकर्ष का सद्भाव पुनः किस प्रकार से सिद्ध है ?

उत्तर—तरतम भावों से वृद्धिगत होते हुए कहीं न कहीं परम प्रकर्षपना तो हो ही जावेगा । “जो वृद्धिगत होता हुआ पाया जाता है वह कहीं न कहीं परम प्रकर्ष को प्राप्त होता ही है जैसे आकाश में परिमाण । एवं सम्यग्दर्शन आदि वृद्धिगत रूप हैं इसीलिये वे परम प्रकर्ष को प्राप्त होते ही हैं ।”

प्रश्न—परत्व अपरत्व से हेतु में व्यभिचार आता है अर्थात् प्रकृष्यमाण होते हुए भी परत्व (महत्पना) अपरत्व (लघुपना) परम प्रकर्ष को नहीं प्राप्त कर सकते हैं ।

उत्तर—आपका यह व्यभिचार दोष भी देना युक्त नहीं है । परिमाण कर सहित जगत् को मानने वाले अर्थात् लोकाकाश की अपेक्षा से पुरुषाकार स्वरूप असंख्यात प्रदेशी जगत् को मानने वालों के यहाँ लघु-महत्पने की भी परमप्रकर्षता स्वीकार की गई है और यह जगत् (लोकाकाश) परिमाण सहित नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि रचना विशेष पायी जाती है पर्वत आदि के समान । जो पुनः प्रमाण सहित नहीं है वह विशिष्ट रचनाओं से युक्त भी सिद्ध नहीं है जैसे आकाश (अलोकाकाश-अनंतआकाश) और यह जगत् विशिष्ट सन्निवेश कर सहित है । इसलिए सब तरफ से परिमाण वाला है । इस प्रकार से मैंने (विद्यानंद स्वामी ने) श्लोकवार्तिक आदि ग्रंथों में विस्तार से वर्णन किया है ।

1 ता । (व्या० प्र०) 2 यतः । 3 तस्य सम्यग्दर्शनादेः । 4 तस्य मिथ्यादर्शनस्य । 5 तरतमभावेन वर्द्धमानत्वात् ।

6 तत्क्वचित् इति पा. दि. प्र. । 7 दिक्कृत । (व्या० प्र०) 8 प्रकृष्यमाणेषु परत्वापरत्वे न परमप्रकर्षभाजीत्याभ्यां हेतोर्व्यभिचारः । 9 पर्यन्तेन (परिमाणेन) सह वर्तमानं सपर्यन्तं तच्च जगत् ।

विशिष्टसन्निवेशत्वात्पर्वतवत् । यत्पुनरपर्यन्तं तन्न विशिष्टसन्नित्तं सिद्धं, यथा व्योम । विशिष्टसन्निवेशं च जगत् तस्मात्सर्वतः सपर्यन्तमिति निगदितमन्यत्र^१ ।

[अभव्यजीवेषु मिथ्यादर्शनादेः परमप्रकर्षो लभ्यते]

संसारणानेकान्त^२ इति चेन्न तस्याप्यभव्यजीवेषु परमप्रकर्षसद्भावसिद्धौ प्रकृष्यमाणत्वेन प्रतीतेः ।^३ एतेन मिथ्यादर्शनादिभिव्यभिचारः^४ प्रत्याख्यातः, तेषामप्यभव्येषु परमप्रकर्षसद्भावात् । ततो नानैकान्तिकं प्रकृष्यमाणत्वं परमप्रकर्षसद्भावे साध्ये । नापि विरुद्धं, सर्वथा^५ विपक्षाद्वावृत्तेः । इति क्वचिन्मिथ्यादर्शनादिविरोधि = सम्यग्दर्शनादि = परमप्रकर्षसद्भावं^६ साधयति । स च सिध्यन्मिथ्यादर्शनादेरत्यन्तनिवृत्तिं गमयति । सा च गम्यमाना^७ स्वकार्यसंसारत्यन्तनिवृत्तिं निश्चाययति । यासौ संसारस्यात्यन्तनिवृत्तिः सा मुक्तिरिति ।

[मिथ्यादर्शनं आदि का परमप्रकर्षं अभव्य जीवों में पाया जाता है]

प्रश्न—संसार को परम प्रकर्ष के सद्भाव का अभाव होने पर प्रकृष्यमाण रूप हेतु उसमें देखा जाता है अतः संसार के साथ आपका हेतु अनैकान्तिक है ।

उत्तर—ऐसा नहीं कह सकते उस संसार का भी अभव्य जीवों में परम प्रकर्ष का सद्भाव सिद्ध होने से प्रकृष्यमाणत्व हेतु की प्रतीति देखी जाती है । इसी प्रकार जो कहते हैं कि मिथ्यादर्शन आदि के परमप्रकर्ष का अभाव होने पर भी प्रकृष्यमाण हेतु होने से व्यभिचार आता है ।

इस उपर्युक्त कथन से उनके भी इस व्यभिचार दोष का परिहार हो जाता है क्योंकि उन मिथ्यादर्शन आदिकों का भी अभव्य जीवों में परम प्रकर्ष पाया ही जाता है इसलिये परमप्रकर्ष के सद्भाव को सिद्ध करने में “प्रकृष्यमाणत्व” हेतु अनैकान्तिक नहीं है ।

हमारा यह “प्रकृष्यमाण” हेतु विरुद्ध भी नहीं है क्योंकि परमप्रकर्ष रहित विपक्ष से उसकी सर्वथा व्यावृत्ति है इस प्रकार यह प्रकृष्यमाण हेतु किसी जीव में मिथ्यादर्शन आदि के विरोधी सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि गुणों के परमप्रकर्ष के सद्भाव को सिद्ध ही करता है और वह रत्नत्रय का परमप्रकर्ष सिद्धि को प्राप्त होता हुआ मिथ्यादर्शन आदि के अत्यन्त विनाश को ही प्रकट करता है तथा मिथ्यादर्शन का अत्यन्त विनाश प्रकट होता हुआ अपने कार्यरूप संसार का अत्यन्त विनाश निश्चित कराता है एवं जो यह संसार की अत्यन्त निवृत्ति है वही मुक्ति है ।

१ श्लोकवार्तिकवादी । २ संसारस्य परमप्रकर्षसद्भावाभावेऽपि प्रकृष्यमाणत्वरूपहेतोर्दर्शनात् । ३ संसारस्य प्रकृष्यमाणत्वेन दि. प्र. । (व्या० प्र०) ४ मिथ्यादर्शनादीनां परमप्रकर्षाभावेऽपि प्रकृष्यमाणत्वरूपहेतोर्दर्शनादनेकान्तः प्रत्याख्यातः । ५ तेषामभव्येषु इति पा. । कालत्वेनानंतः । (व्या० प्र०) ६ परमप्रकर्षरहितात् । ७ प्रकृष्यमाणत्वमिति कर्तृपदमध्याहार्यम् । ८ स्वकार्यं संसारस्तस्य ।

[ज्ञानादिगुणः आत्मनः स्वभावोऽस्ति किंतु रागादिदोषो नास्ति]

¹तदन्यथानुपपत्तेरात्मनो ज्ञानादिगुणस्वभावत्वसिद्धेर्न दोषस्वभावत्वसिद्धिः, ²विरोधात् । प्रसिद्धायां क्वचिदात्मनि निःश्रेयसभाजि ³गुणस्वभावतायामभव्यादावपि ⁴तन्निर्णयः, जीवत्वान्यथा⁵नुपपत्तेः ।

[ज्ञानादि गुण आत्मा के स्वभाव हैं किंतु दोष आत्मा के स्वभाव नहीं हैं]

मुक्ति की अन्यथानुपपत्ति होने से आत्मा के ज्ञानादि गुण स्वभाव की सिद्धि हो जाती है किन्तु दोष स्वभाव की सिद्धि नहीं होती है क्योंकि दोनों परस्पर विरोधी हैं ।

भावार्थ—मीमांसक का कहना है कि आत्मा का स्वभाव दोष है न कि गुण क्योंकि गुणों के प्रकट हो जाने पर दोष ढके हुये रहते हैं उनका अस्तित्व समाप्त नहीं होता है । यही कारण है कि मीमांसक किसी भी जीव को शुद्ध, कर्ममलरहित, निर्दोष और सर्वज्ञ भगवान् नहीं मानता है, वह अतीन्द्रिय पदार्थों के देखने जानने का काम वेदों से ही चला लेता है, उसके सिद्धांत में आत्मा हमेशा संसारी, शरीरी, कर्मकलंक से मलिन, दूषित ही रहती है, कभी भी किसी काल में भी आत्मा शुद्ध-निर्दोष नहीं होती है । इससे सर्वथा विरुद्ध सांख्य जीवों को संसार अवस्था में भी कर्मलेप से रहित, निरंजन, निष्क्रिय ही मानता है तथा वह आत्मा को कभी अशुद्ध मानता ही नहीं है, किन्तु जैन इन दोनों से विपरीत आत्मा को कथंचित् अशुद्ध एवं कथंचित् शुद्ध मानते हैं ।

जैनाचार्यों का कहना है कि यह आत्मा अनादि काल से स्वर्ण-पाषाण के समान कर्ममल से सहित है फिर भी संसार के कारण मिथ्यादर्शन आदि माने गये हैं उन संसार के कारणों का विनाश सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र्य आदि के द्वारा किया जा सकता है और संसार के कारणों का पूर्णतया विनाश हो जाने पर जीव पूर्णतः शुद्ध, कर्मकलंक से निर्लेप, निरंजन, सिद्ध हो जाता है । तत्त्वार्थसूत्र महाशास्त्र में भी कहा है कि “बंधहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः” । बंध के हेतु मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग हैं इनका अभाव हो जाना एवं पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा के होने से संपूर्ण कर्मों का अभाव होकर इस जीव को मोक्ष प्राप्त हो जाती है अर्थात् यह जीव कर्म से रहित-मुक्त हो जाता है ।

इसी बात को अच्छी तरह से सिद्ध करने के लिये श्री विद्यानंद स्वामी ने प्रथम तो “स्वनिर्हास-निमित्तविवर्धनवशात्” हेतु दिया है जिसका मतलब है कि अज्ञानादि दोषों के नाश करने वाले सम्यग्दर्शन आदि हैं । उन रत्नत्रयगुणों की वृद्धि के निमित्त से ये दोष समाप्त हो जाते हैं । पुनः इस बात को बतलाया है कि संसार के कारण मिथ्यात्व आदि हैं इनके विरोधी सम्यग्दर्शन आदि की चरमसीमा-पूर्णअवस्था पाई जाती है । यद्यपि आज रत्नत्रय की पूर्णावस्था का दिखना असंभव है अतः कहीं न कहीं किसी न किसी जीव में इनकी पूर्णावस्था हो सकती है इस बात को सिद्ध करने के

1 ज्ञानादिगुणस्वभावत्वाभावे । 2 उभयमेकत्रकदा विरुध्यते यतः । 3 चेतनागुणस्वभावतायाम् । 4 ज्ञानगुण-स्वभावत्वनिर्णयोऽस्ति । 5 गुणस्वभावत्वमन्तरा ।

प्रसिद्धे च सर्वस्मिन्नात्मनि ज्ञानादिगुणस्वभावत्वे दोषस्वभावत्वासिद्धेः सिद्धं दोषस्य
 'कादाचित्कत्वमागन्तुक्त्व'^२ साधयति । ततः^३स एव परिक्षयी स्वनिर्हासनिमित्तवि^४वर्द्धन-
 वशादिति सुस्पष्टमाभाति, दोषनिर्हासनिमित्तस्य सम्यग्दर्शनादेर्विशेषेण वर्द्धनप्रसाधनात् ।

लिये प्रकृष्यमाणत्व आदि गुण किसी न किसी जीव में वृद्धिगत होते हुये दिख रहे हैं । वर्तमान में यहाँ नहीं, किंतु विदेहक्षेत्र में तो देखा ही जाता है । अथवा यहाँ भी चतुर्थकाल में किसी न किसी जीव में इन रत्नत्रय गुणों की पूर्ण अवस्था हो सकती है । इसी से यह निश्चित किया जाता है कि जो जिसका स्वभाव होता है वह कभी भी नष्ट नहीं होता है । अनादिकाल से लेकर अनंतकाल तक पाया जाता है अतएव जीव के भी ज्ञानादि स्वभाव हैं यद्यपि वे अनादिकाल से कर्मोदय के कारण विभाव-अज्ञानादि रूप हो रहे हैं फिर भी सम्यक्त्व आदि गुणों से इनका अभाव होकर अनंतानंत काल तक ये ज्ञानादि स्वभाव जीव के साथ रहते हैं । अतः ये गुण जीव के स्वभाव हैं एवं दोष विभाव रूप हैं यह बात सिद्ध हो जाती है ।

किसी आत्मा में चैतन्य आदि गुण स्वभाव रूप मुक्ति अवस्था की प्रसिद्धि हो जाने पर अभव्य जीव में भी ज्ञानादिगुण स्वभाव का निर्णय हो जाता है क्योंकि जीवत्व स्वभाव की अन्यथानुपपत्ति पाई जाती है । अर्थात् अभव्य जीव का स्वभाव ज्ञानादि गुण हैं न कि दोषादि, किन्तु कर्म के निमित्त से ज्ञानादि गुण विभाव रूप परिणमन कर रहे हैं । अभव्य जीव में शक्ति रूप से गुणों के होने पर भी उनकी व्यक्ति नहीं हो सकती है और भव्यों को सम्यग्दर्शन आदि निमित्त के मिलने पर उनकी व्यक्ति हो सकती है यही अंतर भव्य और अभव्य जीवों में है ।

विशेषार्थ—जैनाचार्यों ने अन्यथानुपपत्ति हेतु से जीव का ज्ञानादि गुण स्वभाव सिद्ध कर दिया है । एवं इस बात को भी बतलाया है कि अभव्य का भी ज्ञानादि गुण ही स्वभाव है न कि दोष । अंतर इतना ही है कि अभव्य में कर्मों का नाश करके गुणस्वभाव को प्रकट करने की शक्ति नहीं है । इसी विषय में श्रीमद्भट्टकलंकदेव ने राजवार्तिक की ८ वीं अध्याय में सिद्ध किया है यथा—

प्रश्न यह होता है कि मतिज्ञानादि पांचों ज्ञान विद्यमान रूप हैं पुनः उन पर आवरण आता है या अविद्यमान रूप हैं उन पर आवरण आता है ? इस पर उत्तर यह है कि—

“न कुटीभूतानि मत्यादीनि कानचित् संति येषामावरणात् मत्याद्यावरणानां आवरणत्वं भवेत् किंतु मत्याद्यावरणसन्निधाने आत्मा मत्यादिज्ञानपर्यायेर्नोत्पद्यते इत्यतो मत्याद्यावरणानां आवरणत्वं ।” अर्थात् कोई भी मति आदि ज्ञान प्रत्यक्षीभूत-पुंज रूप से विद्यमान नहीं हैं कि जिनके आवरण से मति आदि आवरणों में आवरणत्व हो सके किंतु मति आदि आवरण के सन्निकट होने से आत्मा मति श्रुत आदि पर्यायों से उत्पन्न नहीं होता है अतः मति आदि आवरणों में आवरणपना होता है ।

१ साधनम् । २ दोषस्य । (व्या० प्र०) ३ आगन्तुको मलः । ४ परमप्रकर्ष । (व्या० प्र०)

[दोषावरणे पर्वत इव विशाले स्तः]

इत्यावरणस्य^१ द्रव्यकर्मणो दोषस्य च भावकर्मणो^२ भूभूत इव महतोत्यन्तनिवृत्तिसिद्धेः
कर्मभूभूतां भेत्ता मोक्षमार्गस्य^३ प्रणेता स्तोतव्यः समवतिष्ठते विश्वतत्त्वानां ज्ञाता च ।

तथा इस बात को भी सिद्ध किया है कि द्रव्याधिकनय की अपेक्षा से सत् रूप मत्यादि पर आवरण है और पर्यायाधिकनय की अपेक्षा से असत् रूप मति ज्ञानादि पर आवरण है स्याद्वाद रूप से यही कथन श्रेयस्कर है । पुनः प्रश्न होता है कि—

“अभव्यस्योत्तरावरणद्वयानुपपत्तिस्तदभावात्” अर्थात् अभव्य जीव में मनःपर्यय ज्ञानावरण एवं केवलज्ञानावरण सिद्ध नहीं हो सकता है क्योंकि उनमें इन दोनों ज्ञानों का अभाव है और यदि इन दोनों ज्ञानों का सद्भाव मानोगे तो वह जीव अभव्य नहीं रहेगा किन्तु भव्य ही हो जावेगा ।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा नहीं कहना क्योंकि “द्रव्यार्थादिशेन सतोर्मनःपर्ययकेवल-ज्ञानयोरावरणं, पर्यायादिशेनासतोः” अर्थात् द्रव्याधिकनय से अभव्य में सत् रूप-विद्यमान मनःपर्यय केवलज्ञान पर आवरण है एवं पर्यायाधिकनय से असत् रूप दोनों ज्ञानों पर आवरण होता है, इतने मात्र से ही अभव्य जीव में मनःपर्ययज्ञान एवं केवलज्ञान का प्रसंग नहीं आता है क्योंकि जिस जीव में सम्यग्दर्शनादि पर्याय को प्रगट कर लेने की योग्यता है वह भव्य है उससे विपरीत अभव्य है । शक्ति रूप भव्य-अभव्य दोनों में ही मनःपर्यय एवं केवलज्ञान विद्यमान हैं किन्तु उनकी व्यक्ति-प्रगटता भव्यों के ही हो सकती है, अभव्यों के नहीं हो सकती है । इसी को आगे १०० वीं कारिका में कहा है कि—

“शुद्ध्यशुद्धी पुनः शक्ती ते पाक्यापाक्यशक्तिवत् ।

साद्यनादी तयोर्व्यक्ती स्वभावोऽतर्कगोचरः ॥१००॥”

इसी प्रकार से सभी आत्मा में ज्ञानादि गुण स्वभाव की सिद्धि हो जाने पर एवं दोष स्वभाव की सिद्धि न होने पर दोषों को कदाचित्कपना सिद्ध हो जाता है और वह कदाचित्कत्व ही आगंतुकपने को सिद्ध कर देता है इसीलिये वह आगंतुक मल ही परिक्षयी है क्योंकि वह अपने विनाश के कारणों के वृद्धिगत हो जाने से विनाश को प्राप्त होता ही है इस प्रकार से स्पष्टतया प्रतीति में आ रहा है एवं दोष के विनाश के निमित्त सम्यग्दर्शन आदिकों की विशेष रूप से वृद्धि सिद्ध ही है ।

[दोष, आवरण पर्वत के समान विशाल हैं]

इस प्रकार विशाल पर्वत के समान आवरण रूप द्रव्य कर्म का और अज्ञानादि रूप भाव कर्म का अत्यन्त विनाश सिद्ध हो जाने से कोई “कर्मरूपी पर्वतों का भेदन करने वाला एवं मोक्षमार्ग का प्रणयन करने वाला और अखिल तत्त्वों को जानने वाला आप्त स्तवन करने योग्य है यह बात सम्यक-प्रकार से स्थित हो जाती है ।”

1 ज्ञानावरणस्य । 2 अज्ञानादेः । 3 मोक्षमार्गस्य प्रणेता अर्हन् कर्मभूभूतां भेत्ता इति स्तोतव्यः विश्वतत्त्वानां ज्ञातेति च दि. प्र. ।

सर्वज्ञ के दोषावरण के अभाव का सारांश

हे भगवन् ! सभी के आगम में परस्पर विरोध होने से सभी आप्त नहीं हो सकते हैं किन्तु कोई एक ही आप्त महान् हो सकते हैं वे आप ही संसारी जीवों के स्वामी हैं आपके ही अत्यंत रूप से दोष और आवरण की हानि—क्षय होने से तथा अशेष तत्त्वों के ज्ञाता होने से आप ही महान् हैं क्योंकि दोष और आवरण की हानि होने से ही हम लोगों में कुछ-कुछ अंशों में निदोषता एवं क्षयोपशमजन्य कुछ-कुछ ज्ञान देखा जाता है। अतएव वह हानि किसी जीव विशेष में परिपूर्ण रूप से हो सकती है जैसे स्वर्ण पाषाण दो, तीन आदि ताव से १६ ताव पर्यंत निःशेष रूप से शुद्ध होता है और उसमें किट्ट-कालिमा का भी सर्वथा क्षय-नाश देखा जाता है।

ज्ञानावरणादि पौद्गलिक कर्म को आवरण कहते हैं एवं कर्मोदय से होने वाले मोह रागादि परिणाम रूप भावकर्म को दोष कहते हैं।

बौद्ध का कहना है कि अज्ञानादि स्वपरिणाम हेतुक हैं एवं सांख्य का कहना है कि अज्ञानादि प्रधान के होने के कारण पर परिणाम हैं, किंतु सर्वथा यदि अज्ञानादि को स्वपरिणाम ही मानों तो जीवत्व आदि निजी स्वभाव के समान होने से उनका कभी भी अभाव नहीं हो सकेगा पुनः मुक्ति का ही अभाव हो जावेगा तथा सर्वथा परनिमित्तक होने से मुक्तात्मा में भी अज्ञानादि दोष होने लगेंगे। इसलिये दोष जीव के स्वपर परिणाम निमित्तक ही हैं क्योंकि कार्य हैं।

तथा च दोष और आवरण में बीजांकुर न्याय के समान परस्पर में कार्य कारण भाव सिद्ध है जैसे जीव के ज्ञानावरण के उदय से अज्ञान दर्शन मोह के उदय से मिथ्यात्व आदि भाव होते हैं एवं दोष के प्रति आवरण भी कारण हैं। तत्प्रदोष, निन्हव, मात्सर्य आदि से केवली, श्रुत, संघ आदि के अवर्णवाद से ज्ञानावरण, दर्शनमोहनीय आदि कर्मों का आश्रव होता है। अतएव परस्पर में कार्यकारणभाव सिद्ध है।

यहां दोष और आवरण की हानि से प्रध्वंसाभाव को ग्रहण किया है। अत्यंताभाव को नहीं। यदि जीव में दोष/आवरण का अत्यंताभाव मानों तब तो संसार अवस्था में भी जीव के मुक्ति का प्रसंग आ जावेगा। आत्मा दोष और आवरण रूप नहीं है तथा दोष और आवरण आत्मा रूप नहीं है। यह इतरेतराभाव आत्मा का प्रसिद्ध ही है। तथा प्रागभाव भी यहाँ साध्य नहीं है क्योंकि प्राक्-पहले अविद्यमान रूप दोष आवरणों की अपने कारणों से आत्मा में उत्पत्ति स्वीकार की गई है।

यदि कोई कहे कि जैसे जीव में दोष, आवरण की अत्यंत (पूर्णतया) हानि देखी जाती है वैसे ही आप जैन बुद्धि की भी हानि-नाश मान लो । इस पर उत्तर यही है कि किसी जीव ने पृथ्वीकाय आदि को शरीर रूप से ग्रहण करके छोड़ दिया अतः उन पाषाण आदि में चैतन्य—बुद्धि का सर्वथा अभाव हो ही गया, “क्योंकि कोई भी ऐसा पुद्गल जगत में नहीं है जिसे इस जीव ने अनेकों बार भोगकर नहीं छोड़ा है” ऐसा वचन है । तथा मुक्तात्मा में मतिश्रुत आदि क्षयोपशम रूप चार ज्ञान का अभाव देखा भी जाता है उनकी अपेक्षा से बुद्धि का अभाव घटित है । अतः कर्मकलकं रहित अकलक भगवान ही सर्वज्ञ सिद्ध होते हैं ।

तथा सत् स्वरूप आत्मा से कर्मों का पृथक्करण हो जाना ही अभाव है न कि अत्यन्त विनाश रूप अभाव, क्योंकि तुच्छाभाव रूप अभाव को हम नहीं मानते हैं ।



[कर्मरहितोऽपि आत्मात्यंतपरोक्षपदार्थान् कथं जानीयात् ?]

¹ननु निरस्तोपद्रवः² सन्नात्मा कथमकलंकोपि³ विप्रकर्षणमर्थं प्रत्यक्षीकुर्यात्* । न हि नयनं⁴ निरस्तोपद्रवं विगलिततिमिरादिकलङ्कपटलमपि देशकालस्वभावविप्रकर्ष⁵-भाजमर्थं प्रत्यक्षीकुर्यात् प्रतीतं, ⁶स्वयोग्यस्यैवार्थस्य⁷ तेन प्रत्यक्षीकरणदर्शनात् । निरस्त-ग्रहोपरा⁸गाद्युपद्रवोपि⁹ दिवसकरः प्रतिहतघनपटलकलङ्कश्च स्वयोग्यानेव वर्तमानार्थान् प्रकाशयन्नुपलब्धो नातीतानागतानर्थनियोग्यानिति¹⁰ जीवोपि निरस्तरागादिभावकर्मोपद्रवः सन् विगलितज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मत्मिककलङ्कोपि च कथं विप्रकृष्टमर्थमशेषं प्रत्यक्षीकर्तुं प्रभुः ? मुक्तात्मा भवन्नपि न चोदनाप्रामाण्यप्रतिबन्धविधायी, धर्मादौ¹¹ तस्या¹² एव प्रामा-ण्यप्रसिद्धेः मुक्तात्मनस्तत्राप्रमाणत्वात्तस्यानन्दादिस्वभावपरिणामेपि धर्मज्ञत्वाभावादप्रतिषे-

[कर्म से रहित भी आत्मा अत्यंत परोक्ष पदार्थों को कैसे जानेगा ?]

मीमांसक—संपूर्ण कर्मोपद्रव से रहित एवं कलंक से रहित होते हुये भी आत्मा परोक्ष पदार्थों को कैसे प्रत्यक्ष करेगी ? *

किसी भी प्रकार के उपद्रव, रोग-रतौंधी, मोतियाबिंदु, पीलिया आदि दोषों से रहित भी नेत्र देश काल और स्वभाव से परोक्षवर्ती-दूरवर्ती पदार्थों को प्रत्यक्ष करते हुये अनुभव में नहीं आता है । स्वयं अपने योग्य देश काल आदि से सन्निहित पदार्थों को ही वह नेत्र अपने प्रत्यक्ष का विषय बनाता है, ऐसा देखा जाता है । जैसे ग्रह, उपराग आदि उपद्रवों से रहित एवं मेघ पटल के कलंक से भी रहित होता हुआ सूर्य अपने योग्य ही वर्तमान पदार्थों को प्रकाशित करते हुये उपलब्ध हो रहा है, किंतु अपने अयोग्य भूत, भविष्यत् कालीन पदार्थों को प्रकाशित नहीं करता है । उसी प्रकार से जीव भी रागादिभाव कर्मों से रहित एवं ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म कलंक से रहित होता हुआ भी परोक्षवर्ती अशेष पदार्थों को प्रत्यक्ष करने के लिए समर्थ कैसे हो सकता है ? अर्थात् कोई भी जीव कर्ममल से रहित मुक्त होकर भी संपूर्ण पदार्थों को प्रत्यक्ष नहीं जान सकता है । इसीलिये मुक्तात्मा होते हुये भी वेद की प्रामाण्यता का विरोधी नहीं हो सकता है क्योंकि धर्म-अधर्म आदि अदृष्ट (परोक्ष) पदार्थों की व्यवस्था करने में वेदवाक्य ही प्रमाण है ।

उन धर्मादि पदार्थों को जानने में मुक्तात्मा के अप्रामाण्यता है क्योंकि आनंदादि स्वभाव रूप परिणाम के होने पर भी उनमें धर्मज्ञता का अभाव है । अतः आनंदादि स्वभाव का प्रतिषेध नहीं हो सकता है । अर्थात् यदि कहा जावे कि मुक्तात्मा में धर्मज्ञता न होने से आनंदादि स्वभाव भी नहीं होने चाहिये, किंतु ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि उनमें आनंदादि स्वभाव पाया जाता है ।

1 मीमांसकः । 2 अज्ञानादिदोषः । (व्या० प्र०) 3 कलंकं द्रव्यकर्मज्ञानावरणादि । (व्या० प्र०) 4 शूलादि । (व्या० प्र०) 5 विप्रकर्षशब्दो देशकालस्वभावशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । 6 देशकालाद्यविप्रकृष्टस्य । 7 संबद्ध-वर्तमान । (व्या० प्र०) 8 ग्रहण । (व्या० प्र०) 9 च इति अधिको वा । (व्या० प्र०) 10 अरूपिणो वा । (व्या० प्र०) 11 धर्मादिस्थायते । 12 चोदनायाः ।

‘ध्यत्वात्’^२ । तदुक्तं,

“धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते । सर्वमन्यद्विज्ञानंस्तु पुरुषः केन वार्यते ॥१॥”

कहा भी है—

श्लोकार्थ—मुक्त आत्मा में केवल धर्म-अधर्म को जानने का निषेध किया जाता है शेष संपूर्ण पदार्थों को मुक्तजीव जानते हैं इसमें हमारा विरोध नहीं है ।

भाषार्थ—मीमांसकों का कहना है कि मुक्त जीव धर्म-अधर्म को नहीं जानते हैं । इनका ज्ञान तो वेदवाक्यों से ही होता है ये धर्म-अधर्म आगम मात्र से ही गम्य हैं, इनको जानने वाला कोई भी नहीं है । अतः जगत में कोई भी सर्वज्ञ नहीं है ।

इस प्रकरण को श्लोकवार्तिकालंकार ग्रंथ में स्वयं श्री विद्यानंदस्वामी ने प्रथम अध्याय के “सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य” सूत्र का भाष्य करते हुये कहा है कि—

धर्मादन्यत्परिज्ञातं विप्रकृष्टमशेषतः ।

येन तस्य कथं नाम धर्मज्ञत्वं निषेधनं ॥२॥

अर्थ—जिस महात्मा ने धर्म के अतिरिक्त स्वभाव से व्यवहित परमाणु आदिक, देश से व्यवहित सुमेरु आदिक, एवं काल से व्यवहित रामचंद्र आदिक अत्यंत परोक्ष पदार्थों को परिपूर्ण रूप से जान लिया है उस पुरुष को धर्म को जानने का निषेध भला कैसे किया जा सकता है ? क्योंकि जो धर्म के सिवाय अन्य संपूर्ण पदार्थों को जान लेता है वह धर्म को भी अवश्य जान लेगा ।

धर्म से भी सूक्ष्म पदार्थों तक को जानने वाला विद्वान् धर्म को जानने से बच नहीं सकता है । अतः सर्वज्ञ को धर्म के जानने का निषेध करना मीमांसकों को उचित नहीं है ।

मीमांसक का जो यह कहना है कि प्रमाता-आत्मा संपूर्ण अतींद्रिय पदार्थों को प्रत्यक्ष रूप से जानता है, केवल अतींद्रिय पुण्य, पाप रूप धर्म, अधर्म को साक्षात् नहीं जानता है । “धर्मो चोदनेव प्रमाण” धर्म का ज्ञान करने में वेदवाक्य ही प्रमाण है ।

मीमांसक का यह सब कथन केवल न्यायमार्ग का अतिक्रमण कर रहा है क्योंकि न्याय की सामर्थ्य से उत्कृष्ट ज्ञान का स्वभाव संपूर्ण पदार्थों का जानना सिद्ध हो चुका है तो फिर ज्ञान अतींद्रिय पदार्थों में से केवल धर्म को ही क्यों छोड़ देगा ? जल और स्थल सभी स्थानों में मेघ बरसते हैं,

१ नवानन्दादिस्वभावोपि नास्तीत्यत्राह ।—आनन्दादिस्वभावस्याप्रतिषेधादिति । २ अप्रतिषेधत्वात् । यदि मुक्तात्मा चोदनाप्रामाण्यप्रतिबन्धविधायी न भवति तथाप्युक्तन्यायेन प्रमाणासिद्धिः स आनन्दादिस्वभावः कस्मात् प्रतिषिध्यते इत्याशंकायामाह भाट्टः अत्र प्रतिषिध्यादिति । धर्मज्ञत्वाभावात् प्रतिषेध्यात्वात् इति पा. दि. प्र. ।

३ मुक्तात्मनि । ४ धर्मादन्यत् । (न्या० प्र०)

निर्धन-धनपति आदि सबके यहाँ सूर्य प्रकाश करता है। वस्तु का वैसा स्वभाव सिद्ध हो जाने पर पुनः पक्षपात नहीं चल सकता है।

इस प्रकार से कहता हुआ मीमांसक केवल न्यायमार्ग का उल्लंघन कर देता है। उपाय सहित केवल हेय और उपादेय को ही वह सर्वज्ञ जानता है, किंतु फिर संपूर्ण कीड़े, कूड़े और उनकी गिनती नाप, तौल आदि को वह सर्वज्ञ नहीं जानता है।

आचार्य कहते हैं कि यह मीमांसकों का सरासर अन्याय है क्योंकि सभी हेय उपादेय तत्त्वों को भली प्रकार से जान लेने पर संपूर्ण पदार्थों का पूर्णतया जान लेना न्याय से प्राप्त हो जाता है। अतएव पूर्ववत् यहाँ भी मीमांसक न्यायमार्ग का उल्लंघन कर देता है। उसका कहना है कि धर्म के अतिरिक्त अन्य संपूर्ण अतीन्द्रिय पदार्थों को विशेष रूप से जानता हुआ भी वह सर्वज्ञ धर्म को साक्षात् रूप से नहीं जान पाता है क्योंकि धर्म, अधर्म परमाणु आकाश आदि सभी पदार्थ समान जाति के ही हैं।

“ततो नेदं सूक्तं मीमांसकस्य । धर्मज्ञत्वं निषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते । सर्वमन्यद्विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यते ।” इति न त्ववधीरणानादरः । “तत्सर्वमन्यद्विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यते इति । तत्र नो नातितरामादरः” । अतः मीमांसकों का यह कथन समीचीन नहीं है कि सर्वज्ञ का निषेध करते समय केवल धर्म को जानने का ही तो निषेध करना यहाँ उपयोगी हो रहा है। अन्य सभी पदार्थों को भले ही वह सर्वज्ञ जानता रहे ऐसे सर्वज्ञ का निवारण भला कौन विद्वान् कर सकता है ?

दूसरी बात यह है कि मीमांसकों के उक्त कथन से यह भी प्रतीति होता है कि जब सर्वज्ञ को मानने में मीमांसक निंदा या तिरस्कार नहीं समझते हैं और सर्वज्ञ का अनादर भी नहीं करते हैं, तब तो हम जैनों को भी आप मीमांसक के प्रति समझाने में अत्यधिक आदर नहीं है क्योंकि जब आपने यह मान ही लिया कि सर्वज्ञ भगवान् संपूर्ण अतीन्द्रिय पदार्थों को जानते हैं केवल धर्म-अधर्म को नहीं जानते हैं तब तो धर्म, अधर्म को प्रत्यक्ष करने की बात भी आप धीरे-धीरे सुलभता से मान ही लेंगे। इसलिये आप द्रविण प्राणायाम के समान सीधे-सीधे नाक न पकड़कर हाथ को घुमाकर भी नाक पकड़ कर ही प्राणायाम करने वालों के समान जिस तिस किसी प्रकार से सर्वज्ञ को मान ही रहे हैं ऐसी बात सिद्ध हो जाती है।



इनि ¹वदन्तमिव स्तोतुः² ³प्रज्ञातिशयचिकीर्षया⁴ भगवन्तं प्रत्याहुः⁵ ।—

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा ।

अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ॥५॥

सूक्ष्माः स्वभावविप्रकर्षिणोर्थाः परमाण्वादयः, अन्तरिताः कालविप्रकर्षिणो रामादयो, दूरास्तु देशविप्रकर्षिणो हिमवदादयस्ते कस्यचित्प्रत्यक्षा, अनुमेयत्वाद्यथाऽग्न्यादिरित्येवं सर्वज्ञस्य सम्यक् स्थितिः स्यात् । अथ मतमेतत्⁷ ।

[सूक्ष्माद्यर्था येन प्रकारेण कस्यचित् प्रत्यक्षाः दृष्टाः तेनैव साध्यतेऽन्यप्रकारेण वा ?]

“सूक्ष्मादयोर्था ⁸यथाभूताः कस्यचित्प्रत्यक्षा दृष्टास्तथाभूता एव ⁹तथानुमेयत्वेन साध्यन्ते-
ऽन्यथा¹⁰भूता वा ? ¹¹यथाभूताश्चेत्सिद्धसाध्यता, सूक्ष्माणां सहस्रधा भिन्नकेशाग्रादीनामन्तरि-
तानां च प्रपितामहादीनां दूरार्थानां च हिमवदादीनां ¹²कस्यचित्प्रत्यक्षत्वप्रसिद्धेः । अन्यथाभूतानां

उत्थानिका—इस प्रकार से कहते हुये के समान ही स्तवन करने वाले सूत्रकार श्री उमास्वामी आचार्य की बुद्धि के अतिशय को प्रकट करने की इच्छा से ही श्री समन्तभद्र स्वामी कहते हैं—

कारिकार्थ—सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं क्योंकि वे अनुमान ज्ञान के विषय हैं जैसे अग्नि आदि ; इस प्रकार से सर्वज्ञ सिद्धि होती है ।

सूक्ष्म—स्वभाव से परोक्ष परमाणु आदिक, **अन्तरित**—काल से परोक्ष राम, रावण आदिक, **दूरवर्ती**—देश से परोक्ष हिमवन पर्वत, सुमेरु आदिक ; ये किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं क्योंकि अनुमेय हैं जैसे अग्नि आदिक । इस अनुमान वाक्य से सर्वज्ञ की सम्यक् प्रकार से सिद्धि होती है ।

[सूक्ष्मादि पदार्थ जैसे किसी के प्रत्यक्ष हैं वैसे ही अनुमेय हैं या अन्य रूप से ?]

मीमांसक—सूक्ष्मादि पदार्थ जिस प्रकार से किसी के प्रत्यक्ष देखे गये हैं उसी प्रकार से तुम उन्हें अनुमान ज्ञान का विषय सिद्ध करते हो या अन्यथा रूप से ?

यदि जिस प्रकार वे प्रत्यक्षज्ञान के विषय हैं उसी प्रकार ही वे अनुमान ज्ञान के विषय हैं ऐसा मानते हो तब तो सिद्ध साध्यता ही है । सूक्ष्म जो केश का अग्रभाग जिसके हजार टुकड़े कर दिये हैं और अन्तरित प्रपितामह अर्थात् पिता के पिता के पिता पड़दादा आदि एवं दूरवर्ती हिमवान् पर्वत आदि आधुनिक किसी न किसी व्यक्ति के प्रत्यक्ष हैं ।

यदि दूसरा पक्ष लेते हो कि वे पदार्थ अन्य रूप से ही अनुमान ज्ञान के विषय हैं तो “अनु-
मेयत्वात्” यह हेतु अप्रयोजक ही है । जैसे पृथ्वी, पर्वत आदि को बुद्धिमान् कारणत्व सिद्ध करने में

1 मीमांसकमुद्दिश्य यथा । (व्या० प्र०) 2 सूत्रकारस्य । 3 मोक्षमार्गस्य नेतारमित्यादि प्रतिज्ञाप्रकर्षं कर्तुमिच्छया दि. प्र. । 4 प्रतिज्ञातिशयेति पाठान्तरम् । 5 समन्तभद्राचार्याः । 6 अनुमातुं योग्यत्वात् । 7 मीमांसकस्य । 8 नियतदेशाद्याकाराः । 9 कस्यचित्प्रत्यक्षत्वप्रकारेण । 10 अनियतदेशाद्याकाराः । 11 तथाभूता इति पा. । (व्या० प्र०) 12 आधुनिकस्य ।

तु कस्यचित्प्रत्यक्षत्वसाधनेऽनुमेयत्वादित्यप्रयोजको¹ हेतुः क्षमाधरादीनां बुद्धिमत्कारणत्वे साध्ये सन्निवेशविशिष्टत्वादिवत्² । धर्म्यसिद्धिश्च, ³परमाण्वादीनामप्रसिद्धत्वात्⁴” इति तदयुक्तं, विवादाध्यासितानां सूक्ष्माद्यर्थानां कस्यचित्प्रत्यक्षत्वेन साध्यत्वादप्रसिद्धं साध्यमिति वचनात् । धर्मादयो हि कस्यचित्प्रत्यक्षत्वेन वादिप्रतिवादिनोर्विवादापन्नास्ते⁵ एव कस्यचित्प्रत्यक्षा इति साध्यितुं युक्ता न ⁶पुनरन्ये⁷ । न चैवं⁸ धर्म्यसिद्धिः, ⁹धर्म्यादीनामसर्वज्ञवादिनोपि याज्ञिकस्य¹⁰ सिद्धत्वात् । ¹¹नन्वेवं भूधरादीनां धीमद्हेतुकतया विवादापन्नानां तथा साध्यत्वे कथमप्रयोजको हेतुः सन्निवेशविशिष्टत्वादिरिति चेत्स्वभावभेदात्¹² । ¹³यादृशमभि-

“सन्निवेश विशिष्टत्वादि” हेतु अप्रयोजक हैं अर्थात् भुवन, पर्वत आदि बुद्धिमत् निमित्तक हैं क्योंकि उनका सन्निवेश विशेष पाया जाता है । इस प्रकार से यहाँ ‘सन्निवेश विशिष्टत्व’ हेतु अप्रयोजक है क्योंकि बुद्धिमत्निमित्तकत्व के बिना भी रचना विशेष की सिद्धि होती है ।

दूसरी बात यह है कि आपका ‘सूक्ष्मादि’ धर्मो भी असिद्ध है जबकि ‘प्रसिद्धो धर्मो’ सूत्रानुसार ‘धर्मो’ प्रसिद्ध ही होना चाहिये और परमाणु आदि धर्मो अप्रसिद्ध ही हैं ।

जैन—आपका यह कथन भी ठीक नहीं है । “विवाद में आये हुये सूक्ष्मादि पदार्थ धर्मो हैं,” “वे किसी न किसी के प्रत्यक्ष हैं” यह साध्य है “असिद्धं साध्यं” इस नियम के अनुसार साध्य अप्रसिद्ध ही होता है । अर्थात् “इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यं” इस सूत्रानुसार साध्य को असिद्ध ही होना चाहिये अन्यथा सिद्ध को साध्य की कोटि में रखकर सिद्ध करना पिष्टपेषण ही है ।

धर्माधर्मादिक ही किसी न किसी के प्रत्यक्षत्व रूप से हैं इस प्रकार वादी और प्रतिवादी के विवाद में आये हुए हैं “वे धर्मादिक ही किसी के प्रत्यक्ष हैं” इस प्रकार इन्हें ही सिद्ध करना युक्त है न पुनः अन्य स्वर्गादिकों को । इस प्रकार से धर्मो को भी असिद्धि नहीं है । धर्म, अधर्म आदि धर्मो असर्वज्ञवादी मीमांसक, भाट्ट आदि के यहाँ भी सिद्ध ही हैं ।

प्रश्न—इस प्रकार से पर्वत आदि पक्ष जो कि बुद्धिमद् हेतुक रूप साध्य से विवाद में पड़े हुये हैं उन्हें बुद्धिमत् कारणत्व सिद्ध करने में “सन्निवेश विशिष्टत्वादि” हेतु अप्रयोजक क्यों है ?

1 अकिञ्चित्करः । (व्या० प्र०) 2 क्षमाधरादयो बुद्धिमत्कारणकाः, सन्निवेशविशिष्टत्वादित्यत्रायं हेतुप्रयोजको, बुद्धिमत्कारणात्वमन्तरेणपि सन्निवेशविशिष्टत्वसिद्धेः । 3 अस्मदादिप्रत्यक्षाणां । (व्या० प्र०) 4 अनुमानकर्तुः सर्वज्ञवादिनः । (व्या० प्र०) 5 तत एव इति पा. दि. प्र. । 6 अविप्रतिपन्नाः । (व्या० प्र०) 7 स्वर्गादयः । 8 विगदापन्नानां साध्यत्वप्रकारेण । 9 धर्मादीनां इति पा. । स्वर्गदेवता । (व्या० प्र०) 10 भाट्टस्य । 11 अत्राह ईश्वरवादी यौगादिः, दि. प्र. । अनुमेयत्वं साधनं प्रयोजकं यथा व्यवस्थापितं तथैव सन्निवेशविशिष्टत्वं साधनं दृष्टान्तीकृतं प्रयोजकं भवत्विति मीमांसकस्य शंकामनूय निराकरोति । 12 अप्रयोजकं । मीमांसकमतमाश्रित्य स्याद्वादी ईश्वरवादिनं निराकृत्य पुनः स्वमतमाश्रित्य स्वहेतोः स्थापनं करोति हे मीमांसक ! यथा ईश्वरवादिनः सन्निवेशविशिष्टत्वादिति हेतुः अभिनवभवनादिषु जीर्णप्रासादादिषु च धीमद्हेतुकत्वं साध्यति न भूधरादिषु हेतोरिति स्वभावभेदो वर्तते तथास्माकम् अनुमेयत्वादिति हेतोः स्वभावभेदो न, दि. प्र. । 13 स्वभावभेदं दर्शयति ।

नवभवनादिषु सन्निवेशविशिष्टत्वमक्रियादर्शिनोपि कृतबुद्ध्युत्पादकं धीमद्धेतुकत्वेन व्याप्तं प्रतिपन्नं तादृशमेव जीर्णप्रासादादिषूपलभ्यमानं धीमद्धेतुकत्वस्य प्रयोजकं स्यान्तान्यादृशं भूधरादिषु प्रतीयमानमकृतबुद्ध्युत्पादकमिति स्वयं मीमांसकैरभिधानात् । नैवमनुमेयत्वं^१, तस्य स्वभावभेदाभावात् । न हि साध्याविनाभावनियमनिश्चयैकलक्षणलिङ्गजनितज्ञान-^३विषयत्वमनुमेयत्वमग्न्यादौ 'धर्मादौ च लिङ्गिनि भिद्यते येन^५ किञ्चित्प्रयोजकमपरम^७-प्रयोजकमिति विभागोवतरेत् ।

[परोक्षवर्तिपदार्थान् ज्ञापयितुमनुमेयत्वहेतुरसिद्ध इति मान्यतायां प्रत्युत्तरं]

स्वभावकालदेशविप्रकर्षिणामनुमेयत्वमसिद्धमित्यनुमानमुत्सारयति यावान्^९ कश्चिद्-

उत्तर—उसमें स्वभाव भेद होने से वह हेतु अप्रयोजक है । देखिये ! जिस प्रकार नये महल, मकान आदिकों में “रचना विशेष” हेतु है उनका कर्ता हमें प्रत्यक्ष नहीं है तो भी हमें उनमें कृतबुद्धि उत्पन्न होती है जो कि बुद्धिमत् हेतुक से व्याप्त है अर्थात् ऐसा ज्ञान होता है कि इस महल की रचना विशेष होने से इसका बनाने वाला कोई बुद्धिमान ही होना चाहिये और उसी प्रकार से जीर्ण मकान आदिकों में भी ये बुद्धिमान के द्वारा बनाये गये हैं ऐसी बुद्धि होती है परन्तु पर्वत आदिकों में अन्य प्रकार की रचना की प्रतीति होने से कृतबुद्धि उत्पन्न नहीं हो ऐसा नहीं है; इस प्रकार स्वयं आप मीमांसकों ने कहा है । किन्तु हमारा “अनुमेयत्व हेतु” ऐसा नहीं है । उसमें स्वभाव भेद पाया जाता है । साध्य के साथ अविनाभाव रूप नियम का निश्चय है लक्षण जिसमें ऐसे लिंग (साधन) से उत्पन्न हुये अनुमान ज्ञान का विषय रूप ही अनुमेयत्व हेतु है और वह अग्नि आदि साध्य तथा धर्मादिक साध्य में भेद को प्राप्त नहीं होता है जिससे कि वह हेतु अग्नि आदि कतिपय साध्य में तो प्रयोजक हो और धर्मादिक कतिपय साध्य में अप्रयोजक हो, इस प्रकार विभाग बन सके । अर्थात् नहीं बन सकता है ।

[परोक्षवर्ती पदार्थों का ज्ञान कराने के लिए अनुमेयत्व हेतु असिद्ध है इस मान्यता का खण्डन]

स्वभाव से, काल से, देश से परोक्षवर्ती पदार्थ के लिए अनुमेयत्व हेतु असिद्ध है इस प्रकार कहते हुये बौद्ध एवं मीमांसक अपने अनुमान का खण्डन ही कर लेते हैं ।

“जो कुछ भी पदार्थ हैं वे सब क्षणिक हैं” इत्यादि अनुमान में साध्य के साथ हेतु की व्याप्ति की असिद्धि होने से प्रकृत का उपसंहार भी नहीं बन सकता है अर्थात् स्वभाव, काल और देश से परोक्ष पदार्थों में अनुमेयत्व हेतु को असिद्ध स्वीकार करने पर “जितने भी पदार्थ हैं वे क्षणिक हैं” इत्यादि में

1 सन्निवेशविशिष्टत्वप्रकारेण । सूक्ष्मांतरितद्वाराथेषु प्रयुक्तमनुमेयत्वं साधनं । अप्रयोजकं । (व्या० प्र०) 2 स्वभाव-भेदाभावं दर्शयति । 3 ज्ञानम् = अनुमानज्ञानम् । 4 पुण्यपापादौ । 5 अग्न्यादीनामनुमेयत्वम् । 6 प्रयोजकं परम इति पा. दि. प्र. । 7 धर्मादीनामनुमेयत्वम् । 8 इति वदन् मीमांसको बौद्धश्च स्वानुमानमुत्सारयती (निवारयति) त्यर्थः । 9 कर्मादिपथयिः । अदृष्ट । (व्या० प्र०)

भावः स सर्वः क्षणिक इत्यादिव्याप्टेरसिद्धौ प्रकृतोपसंहा¹रायोगादविप्र²कर्षिणा³मनु-
मितेरा⁴नर्थक्यात् । ⁵सत्त्वादेरनित्यत्वादिना⁵ व्याप्तमिच्छतां⁶ सिद्धमनुमेयत्वमनवय⁷-
वेनेति न ⁸किञ्चिद्ब्याहृतं पश्यामः* । ⁹स्यान्मतं “केचिदर्थः प्रत्यक्षा, यथा घटादयः,
केचिदनुमेया ये कदाचित्क्वचित् ¹⁰प्रत्यक्षप्रतिपन्नाविनाभाविलिङ्गाः¹¹; केचिदागममात्रगम्याः
सर्वदा स्वभावादिविप्रकर्षिणो धर्मादयः, तेषां सर्वप्रमातृसम्बन्धिप्रत्यक्षादिगोचरत्वायोगात् ।
तदुक्तं—

“सर्वप्रमातृसम्बन्धिप्रत्यक्षादिनिवारणात् । केवलागमगम्यत्वं ¹²लप्स्यते¹³ पुण्यपापयोः” इति ।

¹⁴ततो धर्मादीनामनुमेयत्वमसिद्धमुद्भावयन्नपि नानुमानमुत्सारयति¹⁵, ¹⁶तस्यानुमेयेर्थ-

व्याप्ति घटित न होने पर “पदार्थ हैं इसलिये क्षणिक हैं” इस प्रकार से बौद्ध जन अपने प्रकृत हेतु का उपसंहार भी नहीं कर सकेंगे ।

पुनः हम लोगों के प्रत्यक्षभूत पदार्थों में अनुमान व्यर्थ ही ठहरेगा । इसलिये “सत्त्वादि” हेतुओं की “अनित्यत्व” आदि साध्य के साथ व्याप्ति को स्वीकार करते हुये बौद्धों के यहाँ अनुमेयत्व हेतु संपूर्ण रूप से सिद्ध हो ही जाता है इसमें हमें कुछ भी विरोध नहीं दिखता है ।*

सौगत, मीमांसक आदि—

कोई पदार्थ प्रत्यक्ष है जैसे घट आदि । कोई पदार्थ अनुमेय है जो किसी काल में कहीं पर प्रत्यक्ष से जाने गये अविनाभावी लिंग से जाने जाते हैं जैसे अग्नि आदि । कोई पदार्थ आगम मात्र से गम्य-जानने योग्य है जैसे—हमेशा ही स्वभाव से अत्यन्त परोक्ष धर्म-अधर्म आदि । इन पदार्थों को सभी ज्ञाता के प्रत्यक्ष आदि के गोचर होने का अभाव है । कहा भी है—

श्लोकार्थ—सभी जानने वाले (प्रमाता) प्रत्यक्षादि रूप से संपूर्ण पदार्थों को विषय नहीं कर सकते हैं क्योंकि पुण्य और पाप केवल आगम के द्वारा ही जाने जाते हैं इसलिये धर्मादिक में “अनुमेयत्व” हेतु असिद्ध है ।

इस प्रकार से कहते हुए भी हम मीमांसक अनुमान को दूर नहीं करते हैं क्योंकि वह अनुमान अनुमेय-अग्नि आदि पदार्थ में व्यवस्थित है ।

1 स्वभावदेशकालविप्रकर्षिणामनुमेयत्वमसिद्धमित्यङ्गीकारे यावान्कश्चिद्भाव इत्यादिव्याप्टेरसिद्धौ भावश्चायं तस्मात् क्षणिक इति प्रकृतोपसंहारायोगः । 2 अस्मदादिप्रत्यक्षगोचराणाम् । 3 सुखादीनां । स्थूलसंनिहितवर्तमानानां घटादीनामनुमानं निरर्थकं प्रत्यक्षेण प्रतीयमानत्वात् । दि. प्र. 4 हेतोः । 5 अणिकत्वादिना सह । 6 बौद्धानाम् । 7 सामस्त्येन । 8 विरुद्धम् । 9 सौभतमीमांसकादीनाम् । 10 प्रत्यक्षेण प्रतिपन्नं ज्ञातमविनाभाविलिङ्गं येषां ते । 11 यथान्यादयः । 12 लभ्यते दि. प्र. । अभिलष्यते । (व्या० प्र०) 13 प्राप्स्यते । 14 त्रिप्रकारा एव अर्था यतः । (व्या० प्र०) 15 मीमांसकः । 16 अन्यादौ ।

व्यवस्थानात्” इति, तदसत्, धर्मादीनामप्यनित्यत्वादि^१स्वभाव^२तयानुमेयत्वोपपत्तेः ।

[धर्माधर्मादिपर्यायाः अनित्याः संति पर्यायत्वात् इति जैनाः कथयन्ति ।]

तथा हि । यावान्कश्चिद्भावः^४पर्यायाख्यः स सर्वोऽनेकक्षणस्थायितया^५क्षणिको यथा घट-
स्तथा च धर्मादिरिति मीमांसकैरपि कुतश्चित्^६पर्यायत्वादेरनित्यत्वेन^८व्याप्तिः साधनीया,
तदसिद्धौ प्रकृतेपि धर्मादौ^९पर्यायश्च धर्मादिरित्युपसंहारायोगात् । कथं चायं^{१०}स्वभावादिवि-
प्रकर्षिणामनुमेयत्वमसिद्धमभिदधानः^{११}सुखादीनामविप्रकर्षिणा^{१२}मनुमितेरानर्थक्यं परिहरेत् ?
^{१४}शश्वदविप्रकर्षिणा^{१५}मनुमितेरनिष्टेरदोष इति चेत् क्व पुनरियमनुमितिः^{१६}स्यात् ? कदाचिद-

जैनाचार्य—यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि धर्मादिक भी पर्याय रूप अनित्य स्वभाव वाले हैं इसलिये अनुमेयपना उनमें घटित हो जाता है ।

[धर्म अधर्म आदि पर्यायें अनित्य हैं क्योंकि वे पर्याय हैं इस प्रकार से जैनाचार्य सिद्ध करते हैं ।]

पर्याय नामक जितने भी पदार्थ हैं वे सब अनेक क्षण स्थायी रूप से क्षणिक हैं जैसे घट । उसी प्रकार से धर्मादिक भी हैं । इस प्रकार मीमांसकों को भी किसी न किसी प्रमाण से पर्यायत्व आदि की अनित्य रूप से व्याप्ति सिद्ध करना चाहिये । ऐसा न मानने से प्रकृत धर्मादि में भी “और धर्मादि पर्याय है” इस प्रकार से उपसंहार नहीं हो सकेगा ।

तथा स्वभावादिविसे दूरवर्ती—परोक्ष में अनुमेयत्व हेतु को असिद्ध कहते हुए आप मीमांसक सुखादि को जो कि; अविप्रकर्षी—मानस प्रत्यक्ष हैं परोक्ष नहीं हैं उसमें भी अनुमान की व्यर्थता का परिहार कैसे करेंगे ? अर्थात् उसमें भी अनुमान का कोई उपयोग नहीं होगा ।

मीमांसक—नित्य ही प्रत्यक्षभूत पदार्थों के सिद्ध करने में हमें अनुमान इष्ट ही नहीं है इस लिये हमारे लिये यह कोई दोष नहीं है ।

जैन—पुनः यह अनुमान ज्ञान कहाँ प्रवृत्त होगा? अर्थात् परोक्ष पदार्थों में अनुमेयत्व का अभाव है और अविप्रकर्षी (प्रत्यक्षभूत) पदार्थों में अनुमेयत्व हेतु अनिष्ट है तो फिर अनुमान का प्रयोग कहाँ किया जावेगा ?

१ नित्यत्वात् । (व्या० प्र०) २ पर्यायापेक्षया । ३ स्वभावताया इति पा. । (व्या० प्र०) ४ कर्म । हेतुगभितं विशेषणं । (व्या० प्र०) ५ पर्यायत्वादिति हेतुरध्येयः । ६ प्रमाणात् । ७ धूमत्वादेः पर्यायोऽनित्यो भवितुमर्हति कृतकत्वात् हेतुमर्थनं । (व्या० प्र०) ८ सह । (व्या० प्र०) ९ उपसंहारप्रक्रियां दर्शयति । (व्या० प्र०) १० मीमांसकः । (व्या० प्र०) ११ मीमांसकः । १२ मानसप्रत्यक्षत्वात् । १३ प्रत्यक्षाणां । (व्या० प्र०) १४ शश्वदित्यादिप्रकारेण परिहराम्यहं मीमांसकः । १५ पूर्व महानसादौ प्रवर्तमानानां पावकदीनां (व्या० प्र०) १६ विप्रकर्षिणा-मनुमेयत्वाभावादविप्रकर्षिणामनुमेयत्वानिष्टेरित्यर्थः ।

विप्रक^१षिणामन्यदा^२ देशादिविप्रकृष्टानां^३ प्रतिपन्नाविनाभाविलिङ्गानामनुमितिरिति चेत्
कथमेवं^४ शश्वदप्रत्यक्षाया बुद्धेरनुमानं यत् इदं शोभेत ? “ज्ञाते ‘त्वर्थेनुमानादवगच्छति’^७
बुद्धिम्” इति । अर्थापत्तेर्बुद्धिप्रतिपत्तेरदोष^८ इति चेद् धर्मादिप्रतिपत्तिरपि तत्^९ एवास्तु ।
यथैव हि बहिरर्थपरिच्छिद्यन्यथानुपपत्तेर्बुद्धिप्रति^{१०}पत्तिस्तथा श्रेयः प्रत्यवायाद्यन्यथानुप-
पत्त्या^{११} धर्माधर्मादिप्रतिपत्तिरपि^{१२} युक्ता भवितुम् । श्रेयःप्रत्यवायादेरन्यथा^{१३}प्युपपत्तेः

मीमांसक—कदाचित् प्रत्यक्षगोचर पदार्थों में एवं कभी-कभी देशादि से परोक्ष पदार्थों
(अग्नि) में अनुमान का प्रयोग होता है, जिनका कि अविनाभावी हेतु पाया जाता है ।

जैन—पुनः हमेशा ही परोक्षभूत बुद्धि को सिद्ध करने में अनुमान का प्रयोग कैसे हो सकेगा
जिससे तुमने जो कहा है कि “पदार्थ का ज्ञान हो जाने पर अनुमान से बुद्धि को जानता है” यह कथन
शोभित हो सके ?

मीमांसक—हमारे यहाँ अर्थापत्ति प्रमाण से बुद्धि का ज्ञान हो जाता है अतः कोई दोष
नहीं है ।

जैन—पुनः धर्मादिकों का ज्ञान भी उसी अर्थापत्ति प्रमाण से हो जावे क्या बाधा है ? जिस
प्रकार “बाह्य पदार्थों के जानने की अन्यथानुपपत्ति होने से बुद्धि का ज्ञान होता है उसी प्रकार से
सुख, दुःख की अन्यथानुपपत्ति होने से धर्म-अधर्म का ज्ञान भी हो सकता है अर्थात् मुझ में बुद्धि है
क्योंकि बाह्य पदार्थों का ज्ञान पाया जाता है तथैव धर्म और अधर्म भी हैं क्योंकि उनका फल सुख
और दुःख देखा जाता है ।

मीमांसक—सुख, दुःख आदि की अन्यथा भी उपपत्ति पायी जाती है । इसलिये धर्म अधर्म में
अर्थापत्ति काम नहीं कर सकती । अर्थात् धर्म करते हुये किसी को दुःखी एवं पाप करते हुये को भी
सुखी देखा जाता है ।

जैन—सुख-दुःखादि की उत्पत्ति में दृष्ट (प्रत्यक्ष) कारणों में व्यभिचार पाया जा सकता
है; अतएव ही अदृष्ट रूप पुण्य-पाप कारणों का ज्ञान होता है । जैसे रूपादिक के ज्ञान में इंद्रियों की
शक्ति का अनुमान लगाया जाता है अर्थात् मुझमें विशेष इन्द्रिय शक्ति विद्यमान है क्योंकि विशिष्ट

1 प्रत्यक्षगोचराणाम् । 2 पावकादीनाम् । 3 पर्वतादौ प्रवर्तमानानां पावकादीनां ; (व्या० प्र०) 4 परोक्षं
जैमिनेर्ज्ञानमितिवचनात् । (व्या० प्र०) 5 वक्ष्यमाणम् । 6 ज्ञाततान्यथानुपपत्तेर्मयि ज्ञानमस्ति (व्या० प्र०) 7 मीमांसकः
8 कथमेवं शश्वदप्रत्यक्षाया बुद्धेरनुमानं यत् इदं शोभेत । ज्ञातेत्वर्थेऽनुमानादवगच्छति बुद्धिमिति अर्थापत्तेर्बुद्धिप्रतिपत्तेः ।
(व्या० प्र०) 9 अर्थापत्तेः सकाशात् । केवलागम्यत्वं लप्स्यते पुण्यपापयोरिति व्याहन्यते प्रकृतमनुमेयत्वसाधनं च
सिद्धं भवति । न चार्थापत्तिरनुमानाद् अन्यैवानुमानस्यैवार्थापत्तिरिति नामकरणादिति वक्ष्यमाणत्वात् । दि. प्र. ।
10 मयि बुद्धिरस्ति, घटादिवहिरर्थज्ञानान्यथानुपपत्तेः । 11 आदिशब्देन स्वर्गो देवता च गृह्यते । तथा
वेदेतिहासादिज्ञानातिशयवानपि । न स्वर्गदेवतापूर्वप्रत्यक्षीकरणे क्षमः ॥ इति मीमांसकेनोक्तत्वात् । दि. प्र. ।
12 धर्माधर्मौ स्तः, श्रेयःप्रत्यवायाद्यन्यथानुपपत्तेः । श्रेयः सुखम् । प्रत्यवायो दुःखम् । 13 धर्माधर्म-योरभावेपि
स्थ्यादिदर्शनात् ।

क्षीणार्थापत्तिरिति² चेन्न, ³तदुत्पत्तौ ⁴दृष्टकारणव्यभि⁵चाराददृष्टकारणप्रतिपत्तः, रूपादिज्ञानादिन्द्रियशक्ति⁶प्रतिपत्तिवत्⁷ । न ⁸चार्थापत्तिरनुमानादन्यैव, अनुमानस्यैवार्थापत्तिरिति नामकरणात् । ततो बुद्ध्यादेः शश्वद्वि⁹प्रकर्षिणोनुमेयत्वसिद्धौ धर्मादेरपि ¹⁰तत्सिद्धिः । ये तु ताथागतादयः¹¹ ¹²सत्त्वकृतकत्वादेरनित्यत्वादिना व्याप्तिसिद्धिं तेषां सिद्धमनुमेयत्वमनवयवेनेति न किञ्चिद्बुद्ध्याहतमसर्वज्ञवादिनां सर्वज्ञवादिनां¹³ च, स्वभावादि-विप्रकृष्टेष्वर्थेष्वनुमेयत्वव्यवस्थितेः । एतेनात्यन्तपरोक्षे¹⁴वर्थेष्वनुमेयत्वाभावाद्भा¹⁵गासिद्ध-मनुमेयत्वमित्येतदपि प्रत्याख्यातं, तेषामपि कथञ्चिदनेकान्तात्मक¹⁶त्वादिस्वभावत¹⁷यानु-मेयत्वसिद्धेः ।

रूपादि ज्ञान की अन्यथानुपपत्ति पाई जाती है ।

दूसरी बात यह है कि अर्थापत्ति अनुमान से पृथक् कोई चीज नहीं है अनुमान का ही आपने अर्थापत्ति यह नामकरण कर दिया है । इसलिये नित्य ही परोक्ष रूप बुद्धि आदि को “अनुमेयपना” सिद्ध हो जाने पर धर्मादि को भी अनुमेयपने की सिद्धि घटित हो जाती है और जो बौद्ध, नैयायिक आदि सत्त्व, कृतकत्व आदि हेतुओं की अनित्यत्व आदि साध्य के साथ व्याप्ति का स्वीकार करते हैं यथा जो सत् है वह क्षणिक है, ऐसा बौद्धों का कथन है, एवं जो कृतक है वह अनित्य है ऐसा नैयायिक मानते हैं । उनके यहाँ संपूर्ण रूप से अनुमेयत्व हेतु सिद्ध ही है । इस प्रकार से असर्वज्ञवादी मीमांसक आदि के यहाँ और सर्वज्ञवादी जैनियों के यहाँ इस विषय में कुछ भी विरोध नहीं है क्योंकि स्वभावादि से परोक्ष पदार्थों में अनुमेयत्व हेतु व्यवस्थित है ।

इस विवेचन से “अत्यन्त परोक्ष पदार्थों में अनुमेयत्व हेतु का अभाव होने से यह हेतु भागा-सिद्ध है ।” ऐसा कहने वालों का भी खंडन हुआ समझना चाहिये क्योंकि अत्यन्त परोक्ष पदार्थ भी कथञ्चित् अनेकान्तात्मक आदि स्वभाव वाले होने से अनुमेय रूप सिद्ध ही हैं । यथा “सभी वस्तुयें अनेकान्तात्मक हैं क्योंकि सत् रूप है” इत्यादि ।

1 साध्यसिद्धि प्रत्युपक्षीणशक्तिका अशक्ता इत्यर्थः । (व्या० प्र०) 2 मीमांसको वदति हे स्याद्वादिन् । अर्थापत्ति-निष्फला जाताकस्माद् हेतोः मांगल्यं विघ्नप्रमुखस्य अन्यथा धर्माधर्मादि विनापि उद्यमादिनापि उत्पत्तिर्घटते । दि. प्र. 3 श्रेयः प्रत्यवायोः सिद्धौ दृष्टकारणस्य उद्यमादेः व्यभिचारो निष्फलत्वं च दृश्यते । अतः अदृष्टस्य धर्माधर्मादिनिश्चितेः । दि. प्र. । 4 कस्यचित् स्वर्गाद्यभावेऽपि श्रेयः प्रत्यवायादेरुत्पत्तिदर्शनादिति भावः । (व्या० प्र०) 5 स्यादिभिः सौख्यमेवेति न, असुखस्यापि ततः सम्भवादिति व्यभिचारः । 6 गोलकलक्षण-दृष्टकारणव्यभिचाराच्छक्तिरूपादृष्टकारण प्रतिपत्तिः । (व्या० प्र०) 7 मयि विशिष्टेन्द्रियशक्तिरस्ति, विशिष्टरूपा-दिज्ञानान्यथानुपपत्तेः । 8 किञ्च । 9 परोक्षस्य । 10 अनुमेयत्वसिद्धिः । 11 आदिशब्देन नैयायिकादयः । 12 यत्सत्त्वं क्षणिकमिति बौद्धाः । यत्कृतकं तदनित्यमिति नैयायिकाः । 13 जैनानाम् । 14 स्वर्गादिलक्षणेषु । (व्या० प्र०) 15 पक्षकदेशे वर्तमानो हेतुर्भागासिद्धः । (व्या० प्र०) 16 सर्वमनेकान्तात्मकं, सत्त्वात् । 17 कृत्वा । (व्या० प्र०)

[अनुमेयत्वं श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वमित्यपि अर्थो भवितुमर्हति]

¹अथवानुमेयत्वं श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वं हेतुः, मतेरनु पश्चान्मीयमानत्वाद्², अनुमेयाः³ सूक्ष्मादयोर्था इति व्याख्यानान्मतिपूर्वज्ञानस्य श्रुतत्वात्, “श्रुतं मतिपूर्वम्” इति वचनात् । न चैतदसिद्धं ⁴प्रतिवादिनोपि ⁵सर्वस्य ⁶श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वोपगमात् । ⁷चोदना हि भूतं

भावार्थ—मीमांसक का कहना है कि अत्यन्त परोक्ष परमाणु आदि अतीन्द्रिय पदार्थों को अनुमान ज्ञान का विषय मानना ठीक नहीं है। इस पर जैनाचार्यों ने कहा कि पुनः आप मीमांसक भी तो यह कहते हैं कि कोई मनुष्य पदार्थों को जान चुका है तब हम अनुमान से यह निर्णय कर लेते हैं कि इसमें बुद्धि अवश्य है अन्यथा यह पदार्थों को कैसे जानता ? इस प्रकार से अत्यन्त परोक्ष बुद्धि का ज्ञान आप अनुमान से मान लेते हैं। कहिये ? क्या आपकी हमारी या किसी की बुद्धि किसीको प्रत्यक्ष हो रही है ? तब मीमांसक ने कहा कि हम अर्थापत्ति से बुद्धि को जानते हैं क्योंकि बुद्धि के बिना बाह्य पदार्थों का ज्ञान होना असंभव है तब आचार्य ने कहा कि भाई ! ऐसे ही पुण्य पाप के बिना सुख-दुःख का होना भी असंभव है। अतः हम सुख दुःख की अन्यथानुपपत्ति से पुण्य, पाप का ज्ञान अर्थापत्ति से ही कर लेंगे क्या बाधा है ? तथा जैनाचार्यों ने अर्थापत्ति को अनुमान में ही सम्मिलित किया है। मतलब मीमांसक का कहना है कि परमाणु आदि अतीन्द्रिय पदार्थ अत्यन्त परोक्ष हैं उनको जानने में अनुमान ज्ञान का प्रयोग नहीं होता है।

इस पर जैनाचार्यों ने यह सिद्ध कर दिया है कि परोक्ष भी बुद्धि को अनुमान से जानने का कथन आपके यहाँ ही मिलता है। यदि आप अत्यन्त परोक्ष परमाणु आदि को अनुमान ज्ञान का विषय न मानो पुनः सुख आदि पर्यायों को मानस प्रत्यक्ष मानकर उनके विषय में भी अनुमान ज्ञान कैसे हो सकेगा ? क्योंकि जो वस्तुएँ प्रत्यक्ष हैं उनमें अनुमान ज्ञान की क्या आवश्यकता है ? फिर तो अनुमान का अभाव ही हो जावेगा ! यदि आप अनुमान ज्ञान का अभाव करना नहीं चाहते हो तब तो सूक्ष्मादि पदार्थों को अनुमेय रूप मान ही लीजिये कोई बाधा नहीं है।

[अनुमेयत्व का “श्रुतज्ञानाधिगम्यत्व” ऐसा अर्थ भी संभव है ।]

अनुमेयत्व हेतु श्रुतज्ञान के द्वारा अधिगम्य (जानने योग्य) है क्योंकि मतिज्ञान के ‘अनु’ = पश्चात् जानने योग्य है। “सूक्ष्मादि पदार्थ अनुमेय अर्थात् श्रुतज्ञान के विषय भूत हैं” इस प्रकार का व्याख्यान भी सुघटित हो जाता है क्योंकि श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है। “श्रुतं मतिपूर्वम्” ऐसा आगम का वचन है। हमारा यह कथन असिद्ध भी नहीं है क्योंकि प्रतिवादी मीमांसक भी संपूर्ण सूक्ष्मादि पदार्थों को श्रुतज्ञान (वेद) का विषय स्वीकार करते हैं।

1 प्रकारान्तरेणनुमेयत्वं व्याख्याति । 2 श्रुतज्ञानं मतिपूर्वकमेव भवति । 3 श्रुतज्ञानविषयाः । 4 मीमांसकस्य । 5 सूक्ष्माद्यर्थस्य । 6 श्रुतं वेदः । 7 वेदशाक्यम् ।

भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं ¹व्यवहितं ²विप्रकृष्टमित्येवंजातीयकमर्थपवगमयितुमलमिति³
स्वयमभिधानात् । तदुक्तं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके ।

“सूक्ष्माद्यर्थोपि चाध्यक्षः ⁴कस्यचित्सकलः स्फुटम्⁵ । ⁶श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वान्नदीद्वीपादिदेशवत्⁷ ॥१॥

न हेतोः ⁸सर्वथै⁹कान्तरनेकान्तः¹⁰ कथञ्चन । ¹¹श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वात्तेषां¹²दृष्टेष्टबाधनात्¹³ ॥२॥

¹⁴स्थानत्रया¹⁵विसंवादि¹⁶ श्रुतज्ञानं हि वक्ष्यते । ¹⁷तेनाधिगम्यमानत्वं¹⁸सिद्धं सर्वत्र वस्तुनि ॥३॥”

इति । ततोनुमेयाः सूक्ष्माद्यर्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षाः सिद्धा एव ।

“भूत, वर्तमान, भविष्यत् सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट (परोक्ष) आदि सभी पदार्थों का ज्ञान कराने में वेदवाक्य ही समर्थ है” इस प्रकार स्वयं मीमांसको ने कथन किया है । उसी को तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक में कहा है—

श्लोकार्थ—“सकल सूक्ष्मादि पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं क्योंकि श्रुतज्ञान के द्वारा जानने योग्य हैं ।” जैसे नदी, द्वीप, देश आदि ॥१॥

श्लोकार्थ—एकांत से सर्वथा नित्य रूप अथवा सर्वथा अनित्य रूप से स्वीकार किये गये पदार्थों के साथ हेतु में अनेकांतिक दोष भी नहीं है क्योंकि सभी पदार्थ कथञ्चित् श्रुतज्ञान के द्वारा जानने योग्य हैं । सर्वथा एकांत रूप से नित्य या अनित्य रूप जो पदार्थ हैं, उन पदार्थों को जानने में प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाण से बाधा पायी जाती है ॥२॥

श्लोकार्थ—स्वभाव से अंतरित (परोक्ष), देश से परोक्ष, काल से परोक्ष रूप ये तीन स्थान हैं । इन तीनों स्थानों में जो अविस्वादी है वही श्रुतज्ञान है । एवं संपूर्ण वस्तुएं उसी श्रुतज्ञान के द्वारा जानने योग्य सिद्ध हैं तथा इन तीनों स्थानों के अविस्वादी होने का यह भी अर्थ किया जा सकता है कि जो जिसको जाने, उसी में प्रवृत्ति करे, और उसी को प्राप्त करे, ऐसे ज्ञान को भी स्थानत्रय अविस्वादी कहते हैं । इसलिये श्रुतज्ञान के विषयभूत अनुमेय रूप सूक्ष्मादि पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष सिद्ध ही हैं ॥३॥

1 अन्तरितं । (व्या० प्र०) 2 देशादिदूरं । (व्या० प्र०) 3 पुरुषान् । (व्या० प्र०) 4 सर्वज्ञस्य । 5 यथा भवति तथा । (व्या० प्र०) 6 श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वात् इति पा । तस्य श्रुतज्ञानाभासः इत्यर्थो जायते । (व्या० प्र०) 7 सूक्ष्माद्यर्थस्य । 8 अर्थः । (व्या० प्र०) 9 नित्यत्वेनानित्यत्वेनैव वा एकान्तरूपेण स्वीकर्तृरर्थः । 10 अनेकांतिकत्वं दोषः । 11 श्रुतं श्रुतज्ञानाभासः 12 सर्वशैकान्तानामर्थानाम् । 13 प्रत्यक्षानुमानबाधनात् । 14 सर्वत्र वस्तुनि श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वाभावाद् भागासिद्धोयमित्याशङ्क्यायामाह स्थानेति । 15 स्वभावान्तरितं, देशान्तरितं, कालान्तरितं चेति स्थानत्रयम् । 16 प्रत्यक्षानुमेयात् परोक्षेषु । (व्या० प्र०) 17 ततश्च । 18 ज्ञायमानत्वं । एतत् श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वं हेतुः मीमांसकस्यापि असिद्धो नास्ति । (व्या० प्र०)

[सर्वव्यर्थाः अनुमेयाः स्युः प्रत्यक्षाश्च न स्युः का हानिः ?]

^१तेऽनुमेया, न कस्यचित्प्रत्यक्षाश्च ^२स्युः, किं व्याहन्यते ? ^३इति समानमग्न्यादीनाम्* ।
^४अग्न्यादयोऽनुमेयाः स्युः कस्यचित्प्रत्यक्षाश्च न स्युरिति । ^५तथा ^६वानुमानोच्छेदः स्यात्*,
सर्वानुमानेषूपालम्भस्य^७ समानत्वात् । शक्यं हि वक्तुं धूमश्च क्वचित्स्यादग्निश्च न
स्यादिति ।

[प्रत्यक्षैकप्रमाणवादिनं चार्वाकमनुमानप्रमाणं स्वीकारयति जैनाचार्याः]

^८तदभ्युपगमेऽस्वसंवेद्यं^९ विज्ञानव्यवित्भिरध्यक्षं किं^{१०} ^{११}लक्षयेत् प्रमाणतया ^{१२}परमप्रमाण-
तयेति^{१३} न ^{१४}किञ्चिदेतत्^{१५} तथा नैतत्तया वा ^{१६}अयमभ्युपगन्तुमर्हति* । प्रत्यक्षं प्रमाणम-
विसंवादित्वादनुमानादिकमप्रमाणं, विसंवादित्वादिति ^{१७}लक्षयतोऽनुमानस्य बलाद्व्यवस्थितेन

[सभी सूक्ष्मादि पदार्थ अनुमेय ही रहें प्रत्यक्षज्ञान के विषय न होवें क्या बाधा है ?]

मीमांसक—श्रुतज्ञान (वेद) से अधिगम्य—जानने योग्य अनुमेय पदार्थ किसी (सर्वज्ञ) के प्रत्यक्ष न होवें, अनुमेय मात्र ही रहें तो क्या बाधा आती है ? *

जैन—इस प्रकार से तो हम अग्नि आदिक अनुमेय पदार्थ के लिए भी ऐसा ही कह सकेंगे* कि “जो अग्नि साध्य है वह धूमत्वादि हेतु से अनुमेय होवे और किसी के प्रत्यक्ष न होवे पुनः इस प्रकार से तो अनुमान का उच्छेद (अभाव) हो जायेगा* । यदि कहा जाय कि अनुमेयों के होने में संदेह रहता है तो यह उपालम्भ सभी अनुमानों में समान है । अर्थात् सभी अनुमानों में इस प्रकार की उलाहना दी जा सकेगी और ऐसा भी कहना शक्य हो जावेगा कि कहीं पर धूम हो जावे पर अग्नि नहीं होवे, किन्तु ऐसी मान्यता ठीक नहीं है ।

[अब अनुमान के अभाव को स्वीकार करने वाले चार्वाक को जैनाचार्य समझाते हैं ।]

इस प्रकार से अनुमान के उच्छेद को स्वीकार करने पर अस्वसंवेदी विज्ञान व्यक्तियों के द्वारा “प्रत्यक्ष प्रमाण है और अनुमान प्रमाण नहीं है” इस प्रकार से आप चार्वाक कुछ भी सिद्ध नहीं कर सकेंगे अर्थात् न तो आप प्रत्यक्ष को प्रमाण ही सिद्ध कर सकेंगे और न अनुमान को अप्रमाण ही सिद्ध कर सकेंगे इसलिये आप चार्वाक को अनुमान प्रमाण मानना योग्य है ।*

१ मीमांसकः शङ्कते ।—अनुमेया अपि ते न कस्यचित्प्रत्यक्षाः संभवन्ति । २ इति । (व्या० प्र०) ३ शङ्कां परिहर-
न्नाहुः स्याद्वादिनः ।—इति (पूर्वोक्तम्), अग्न्यादयो धूमवत्त्वादिदानुमेयाः सन्तु, न च प्रत्यक्षाः कस्यचिदिति समान-
मुभयत्र । न च तथेष्टं मीमांसकस्य ततो नोक्तशङ्कावकाश इत्यर्थः । ४ कथं । (व्या० प्र०) ५ समानत्वे च (व्या० प्र०)
६ किं च । (व्या० प्र०) ७ सन्दिग्धान्तकान्तिकत्वस्य । ७ अनुमानोच्छेदाङ्गीकारे (चार्वाकभाट्टः) । ९ विज्ञानम-
स्वसंवेद्यं भूतपरिणामत्वात् पित्रादिवत् । १० कर्मलापन्नम् । ११ (मीमांसकः) नैव लक्षयेत् । १२ अनु-
मानम् । १३ चार्वाको लोकान् प्रति अध्यक्षं किं दर्शयेत् (कथं प्रतीतिं कारयेत्) ? १४ अप्रमाणतया । १५ अनु-
मानम् । १६ चार्वाको । १७ चार्वाकस्य ।

प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणमिति व्यवतिष्ठते । ततोनुमानमिच्छता याज्ञिकेनेव ¹लौकायतिकेनापि प्रसिद्धाविनाभावनियमनिश्चयलक्षणादनुमेयत्वहेतोः सूक्ष्माद्यर्थानां कस्यचित्प्रत्यक्षत्वसिद्धि-रेषितव्या ।

[मीमांसको ब्रूते न कश्चित् सूक्ष्माद्यर्थान् प्रत्यक्षोक्तुं क्षमः प्रमेयत्वादित्यादिस्तस्य निराकरणं कुर्वन्ति जैनाचार्याः]

²स्यान्मतं, बाधितविषयोयं हेतुरनुमानेन पक्षस्य बाधनात् । तथा हि । न ³कश्चित् सूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्कारी, ⁴प्रमेयत्वात्सत्त्वाद्वस्तुत्वादस्मदादिवत् । न चेदं ⁵साधनमसिद्धं व्यभिचारि वा, प्रत्यक्षाद्यविसंवादित्वात्⁶ । तदुक्तं

“प्रत्यक्षाद्यविसंवादि प्रमेयत्वादि यस्य⁸ तु । सद्भावधारणे शक्तं ⁹को नु तं¹⁰ कल्पयिष्यति ।”

चार्वाक—“प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है क्योंकि वह अविसंवादी है । अनुमानादि अप्रमाण हैं क्योंकि वे विसंवादो हैं ।”

जैन—इस प्रकार से कहते हुए आप चार्वाक के यहाँ अनुमान तो बलपूर्वक आ ही गया है इसलिए “प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है” ऐसा कथन व्यवस्थित नहीं होता है । (अर्थात् “प्रत्यक्ष ही प्रमाण है” यह प्रतिज्ञावाक्य है “क्योंकि अविसंवादी है” यह हेतुवाक्य है एवं अनुमान के ही प्रतिज्ञा और हेतु ये दो अवयव पाये जाते हैं इस प्रकार से प्रत्यक्ष रूप एक प्रमाण को सिद्ध करते हुए अनुमान वाक्य के द्वारा) अनुमान प्रमाण को बेमालूम आप स्वीकार कर ही लेते हैं इसलिये अनुमान को स्वीकार करने वाले याज्ञिक (भाट्ट) के समान चार्वाक को भी “प्रसिद्ध विनाभाव रूप नियम निश्चय लक्षण वाले अनुमेयत्व हेतु से सूक्ष्मादि पदार्थों को किसी के प्रत्यक्षता सिद्ध है” इस प्रकार स्वीकार कर लेना चाहिये ।

[मीमांसक कहता है कि कोई भी व्यक्ति सूक्ष्मादि पदार्थों को साक्षात् करने वाला नहीं है क्योंकि प्रमेय है इत्यादि । जैनाचार्य इस कथन का निराकरण करते हैं ।]

मीमांसक—यह हेतु बाधित विषय वाला है क्योंकि आपके पक्ष में अनुमान से बाधा आती है । तथाहि—“कोई भी सूक्ष्मादि पदार्थों का साक्षात्कार करने वाला नहीं है क्योंकि वह प्रमेयरूप है, अस्तित्व रूप है अथवा वस्तु रूप है जैसे हम और आप लोग सूक्ष्मादि पदार्थों के साक्षात् करने वाले नहीं हैं ।” हमारा यह हेतु प्रत्यक्षादि से अविसंवादी है इसलिए असिद्ध या व्यभिचारी भी नहीं है । अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण से सूक्ष्मादि पदार्थ को साक्षात् करने वालो कोई भी आत्मा सिद्ध नहीं होती है । कहा भी है—

श्लोकार्थ—प्रत्यक्ष आदि से अविसंवादी प्रमेयत्व आदि हेतु जिस सर्वज्ञ के अस्तित्व को निषेध करने में समर्थ पाये जाते हैं फिर कौन ऐसा विचारशील व्यक्ति है जो कि सर्वज्ञ के सद्भाव

1 चार्वाकेन । 2 मीमांसकस्य । 3 मीमांसकः । दि. प्र. 4 पदार्थत्वात् । (व्या० प्र०) 5 प्रागुक्तम् । 6 यतो न साधयति सूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्कारिणां प्रत्यक्षम् । 7 सूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्कारिणं पुरुषं न साधयति प्रत्यक्षयतः । (व्या० प्र०) 8 सर्वज्ञस्य । 9 जैनादिः । (व्या० प्र०) 10 सर्वज्ञसद्भावम् ।

इति । तदप्यसम्यक्, तत¹ एव कस्यचित्सूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्कारित्वसिद्धेः । सूक्ष्माद्यर्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वात्सत्त्वाद्बस्तुत्वाद्वा स्फटिकादिवत् । ²अनुमेयेना³त्यन्तपरोक्षेण⁴ चार्थेन व्यभिचार इति चेन्न, ⁵तस्य पक्षीकरणात्⁶ । ⁷तदेवं प्रमेयत्वसत्त्वादिद्यं⁸ हेतुलक्षणं⁹ पुष्पाति¹⁰तं कथं¹¹चेतनः प्रतिषेद्धुमर्हति संशयितुं वा* ¹²सूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्कारिण¹³स्तस्यैव¹⁴ सुनिश्चिततासंभवद्बाधकत्वादस्तित्वसिद्धेरबाधितविषयत्वस्यापि¹⁵ ¹⁶परोपगतहेतुलक्षणस्य ¹⁷प्रकृत-हेतोः पोषणात्¹⁸ ।

की कल्पना करेगा ? अर्थात् कोई भी नहीं करेगा ।

जैन—यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि इन्हीं प्रमेयत्व, अस्तित्व, वस्तुत्व आदि हेतुओं द्वारा ही किसी न किसी के सूक्ष्मादि पदार्थों का साक्षात्कारित्व सिद्ध हो जाता है । तथाहि “सूक्ष्मादि पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं क्योंकि वे प्रमेय रूप हैं, अस्तित्व रूप हैं अथवा वस्तुत्व रूप हैं । जैसे-स्फटिक आदि पदार्थ ।”

शंका—अनुमान मात्र से जानने योग्य और आगम से जानने योग्य अत्यन्त परोक्ष पदार्थों के साथ व्यभिचारी दोष आता है ।

समाधान—नहीं आता है क्योंकि इन सभी अनुमान गम्य और अत्यन्त परोक्ष आगम गम्य पदार्थों को भी हमने पक्ष में ले लिया है अतः विपक्ष के न होने से व्यभिचार दोष को अवकाश ही नहीं है कारण कि अनुमान गम्य, अनुमेय एवं आगम अत्यन्त परोक्ष पदार्थ भी प्रमेय हैं, अस्तिरूप तथा वस्तुरूप हैं यह बात निश्चित है ।

जब इस प्रकार से प्रमेयत्व सत्त्व आदि हेतु सर्वज्ञ को सिद्ध करने में “सुनिश्चित रूप से असंभव है बाधक प्रमाण जिसमें” ऐसे हेतु के लक्षण को पुष्ट करते हैं तब कोई भी बुद्धिमान चेतन आत्मा इन्हीं हेतुओं द्वारा उस सर्वज्ञ का निषेध करने में या उसके सद्भाव में संशय करने के लिये समर्थ कैसे हो सकता है ? * अर्थात् इन्हीं हेतुओं से तो सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध हो रहा है पुनः

- 1 प्रमेयत्वादितः । 2 अनुमानमात्रगम्येन । 3 मीमांसक आह हे स्याद्वादिन् । प्रमेयत्वादिति हेतोः अनुमेयेनात्यन्त परोक्षेणार्थेन कृत्वा व्यभिचारो दृश्यते इति चेन्न तस्यानुमेयस्यात्यन्तपरोक्षार्थस्य पक्षीकरणात् । सूक्ष्माद्यर्था इति पक्षः कृतस्तत्रैवांतर्भावात् अतोहेतु र्व्यभिचारी न । दि. प्र. । 4 आगमगम्येन । 5 अनुमेयस्यात्यन्तपरोक्षस्य च । 6 कस्यचित्सूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्कारित्वसिद्धिः प्रमेयत्वसत्त्वादिद्यतः । (व्या० प्र०) 7 उक्तप्रकारेण । (व्या० प्र०) 8 सर्वज्ञे साध्ये । 9 सुनिश्चिततासंभवद्बाधकत्वस्य लक्षणं स्वरूपम् । अथवानुमेयत्वस्य लक्षणमबाधितविषयत्वम् । 10 सर्वज्ञम् । 11 मतिमान् । 12 नुः । (व्या० प्र०) 13 प्रमेयत्वादेः साधनस्थाबाधकत्वप्रकारेण । (व्या० प्र०) 14 पुष्पस्य प्रतिषेधकस्य संशयितस्य वा । 15 सूक्ष्माद्यर्थे पक्षे । (व्या० प्र०) 16 परेण मीमांसकेनाभ्युपगतः प्रमेयत्वादिहेतुः सर्वज्ञास्तित्वे अबाधितविषयः सन् सुनिश्चिततासंभवदित्यादिप्रकृतहेतुं पुष्पाति । 17 अनुमेयत्व । (व्या० प्र०) 18 सद्भावसाधनात् । (व्या० प्र०)

[सर्वज्ञास्तित्वे साध्ये हेतुः सर्वज्ञभावधर्मोऽभावधर्म उभयधर्मो वेति प्रश्ने विचारः क्रियते जैनाचार्यैः]

¹ननु च सर्वज्ञस्यास्तित्वे साध्ये सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वं हेतुः ²सर्वज्ञभावधर्मश्चेद-
सिद्धः³ । को हि⁴ नाम सर्वज्ञभावधर्मं हेतुमिच्छन् सर्वज्ञमेव नेच्छेत् । सर्वज्ञभावधर्मश्चेद्विरुद्धः,
⁵ततः सर्वज्ञनास्तित्वस्यैव सिद्धेः । सर्वज्ञभावाभावधर्मश्चेद्व्यभिचारी, सपक्षविपक्षयोर्वृत्तेः ?
तदुक्तम् ।

इन्हीं हेतुओं से कोई भी महानुभाव सर्वज्ञ का निषेध नहीं कर सकते हैं और न सर्वज्ञ के अस्तित्व में संशय ही कर सकते हैं ।

सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्व हेतु से सूक्ष्मादि अर्थों को साक्षात् करने वाले उसी सर्वज्ञ के अस्तित्व की सिद्धि होती है अतः मीमांसक द्वारा स्वीकार किये गये और अबाधित विषय वाले भी प्रमेयत्वादि हेतु का प्रकृत—अनुमेयत्व हेतु से पोषण ही होता है । अर्थात् उसके सर्वज्ञ निषेधक हेतु हमारे सर्वज्ञ के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले “अनुमेयत्व” हेतु का पोषण ही कर देते हैं न कि खंडन । तात्पर्य यह है कि मीमांसक ने सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध करने के लिए प्रमेयत्व आदि हेतु दिये हैं, किन्तु इन हेतुओं में भी “सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्व लक्षण पाया जाता है अतः ये हेतु हमारे मूल कारिका के ‘अनुमेयत्व हेतु’ को ही पुष्ट कर देते हैं जिससे इन प्रमेयत्व आदि हेतुओं से भी सर्व के अस्तित्व की ही सिद्धि हो जाती है ।

भावार्थ—मीमांसक ने ‘प्रमेयत्व, सत्त्व और वस्तुत्व’ ऐसे तीन हेतुओं के द्वारा सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, किन्तु जैनाचार्य ने इन्हीं तीन हेतुओं से सर्वज्ञ के अस्तित्व को सिद्ध कर दिया है । कोई न कोई महापुरुष संपूर्ण सूक्ष्मादि पदार्थों को जानने वाला अवश्य है क्योंकि प्रमाण-ज्ञान का विषय है । भले ही आज ही यहाँ भरत क्षेत्र में सर्वज्ञ उपलब्ध न हों फिर भी विदेह आदि क्षेत्रों में एवं चतुर्थ काल में उनकी उपलब्धि होती है अतः वह सर्वज्ञ अस्तिरूप भी है तथैव वस्तुभूत भी है । इसलिए ये तीनों हेतु सर्वज्ञ के सद्भाव को सिद्ध कर देते हैं ।

[सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध करने में आपका हेतु सर्वज्ञ के सद्भाव का धर्म है या अभाव का अथवा उभय का ऐसे प्रश्न होनेपर जैनाचार्य उत्तर देते हैं ।]

मीमांसक—यदि आप जैन सर्वज्ञ के अस्तित्व को सिद्ध करने में सुनिश्चितासंभवद् रूप से बाधक प्रमाणत्व हेतु को सर्वज्ञ के अस्तित्व का धर्म स्वीकार करते हैं तो आपका यह हेतु असिद्ध है जैसे कि आपका सर्वज्ञ रूप साध्य असिद्ध है क्योंकि ऐसा कौन व्यक्ति है जो सर्वज्ञ के सद्भाव धर्म

1 मीमांसकः । 2 यसः । तासः सौगतमतमाश्रित्य मीमांसकः पृच्छति सर्वज्ञास्तित्वे साध्ये सुनिश्चितासंभवद्बाधक-
प्रमाणत्वात् इति । हेतुः सर्वज्ञभावधर्मः । उत सर्वज्ञाभावधर्मः । उभयधर्मः इति प्रश्नत्रयं । दि. प्र. । 3 सर्वज्ञवत् ।
4 व्यतिरेकेण प्राक्तनं भावयति । (व्या० प्र०) 5 सर्वज्ञाभावधर्मात् ।

“असिद्धो भावधर्मश्चेद्व्यभिचार्युभयाश्रयः¹ । विरुद्धो धर्मोऽभावस्य² स सत्तां³ साध्यते कथम्” इति ।
⁴धर्मिण्यसिद्धसत्ताके भावाभावोभयधर्माणामसिद्धविरुद्धानैकान्तिकत्वात्कथं सकलविदि⁵
 सत्त्वसिद्धिरिति ब्रुवन्नपि⁶ देवानांप्रियस्तद्व्यभिचार्युभयधर्मस्वभाव⁷ न लक्षयति * ।⁸ स हि तावदेवं⁹
 सौगतमतमाश्रित्य ब्रुवाणः प्रष्टव्यः¹⁰ । शब्दानित्यत्वसाधनेपि कृतकत्वादावयं¹¹ विकल्पः
 किं न स्यादिति * । शक्यं हि वक्तुं, ¹²कृतकत्वादिहेतुर्यद्यनित्यशब्दधर्मस्तदाऽसिद्धः¹³ । को
 नामानित्यशब्दधर्म¹⁴ हेतुमिच्छन्ननित्यशब्दमेव नेच्छेत्¹⁵ ? अथ नित्यशब्दधर्मस्तदा विरुद्धः,
¹⁶साध्यविरुद्धसाधनात् । अथोभयधर्मस्तदा व्यभिचारी, सपक्षेतरयोर्वर्तमानत्वात् । इति सर्वा-

को हेतु स्वीकार करते हुए सर्वज्ञ को ही न स्वीकार करे ।

यदि आप ऐसा कहें कि हमारा हेतु सर्वज्ञ के अभाव का धर्म है तब तो वह हेतु विरुद्ध हो गया । सर्वज्ञ के अभाव का धर्म होने से वह हेतु तो सर्वज्ञ के नास्तित्व को ही सिद्ध करेगा न कि अस्तित्व को । पुनः आप कहें कि वह हेतु सर्वज्ञ के भाव और अभाव दोनों का ही धर्म है तब तो आपका यह हेतु व्यभिचारी हो जाता है क्योंकि सपक्ष (सद्भाव) और विपक्ष (नास्तित्व) दोनों में उसकी वृत्ति हो जाती है । कहा भी है—

श्लोकार्थ— यदि हेतु साध्य के भाव का धर्म है तो असिद्ध है क्योंकि साध्य सर्वदा असिद्ध ही होता है यदि साध्य के भाव एवं अभाव दोनों का धर्म है तो व्यभिचारी है तथा यदि साध्य के अभाव का धर्म है तो विरुद्ध है ऐसा हेतु साध्य-सर्वज्ञ की सत्ता को कैसे सिद्ध कर सकेगा ?

“असिद्ध है सत्ता जिसकी ऐसे धर्मों सर्वज्ञ के भाव, अभाव या उभय धर्मों को हेतु बनाने पर असिद्ध, विरुद्ध और अनेकोक्ति दोष आते हैं । अतः सर्वज्ञ के अस्तित्व की सिद्धि किस प्रकार से हो सकती है” ऐसा कहते हुए भी आप ‘देवानां प्रिय’ (सूखं) मीमांसक सर्वज्ञ-लक्षण-धर्मों के स्वभाव को नहीं समझ सके हैं ।*

[अब यहाँ मीमांसक सौगतमत का आश्रय लेकर पक्ष रखता है पुनः जैनाचार्य उसका खंडन करते हैं ।]

सौगतमत का आश्रय लेकर बोलते हुये उस मीमांसक से हम पूछते हैं कि आपके यहाँ भी शब्द को अनित्य सिद्ध करने में कृतकत्व आदि हेतु में भी यह विकल्प क्यों नहीं किया जा सकेगा ? * अर्थात् हम भी ऐसा कह सकते हैं कि “शब्द अनित्य है क्योंकि कृतक है ।” इस अनुमान वाक्य में कृतकत्वादि हेतु यदि अनित्य शब्द के धर्म हैं तब वह हेतु असिद्ध है अतः कौन ऐसा विवेकी है जो कि अनित्य शब्द के धर्म को हेतु स्वीकार करते हुए शब्द को अनित्य स्वीकार न करें ।

1 वसः । (व्या० प्र०) 2 धर्मोऽभावः स्यादिति वा पाठः । दि. प्र. । 3 सर्वज्ञ । सा सत्ता साध्यते इति पा. । (व्या० प्र०) 4 सर्वज्ञे । 5 सकलविदित इति पा. दि. प्र. । 6 मीमांसकः (सूखं) । 7 सर्वज्ञलक्षणम् । 8 मीमांसकः । 9 (पुरस्ताच्छब्दानित्यत्वादिकथनं सौगतापेक्षयेत्यर्थः) । 10 जैनेन । 11 तद्भावधर्मस्तदभावधर्मस्तद्भावाभावधर्मो वेति । 12 कृतकत्वादिति हेतुः पा. । (व्या० प्र०) 13 तदा न सिद्धः इति पा. । (व्या० प्र०) 14 को हि इति पाठाधिकः । (व्या० प्र०) 15 शब्दस्यानित्यत्वं साध्यं तद्धर्मः कृतकत्वं हेतुः । साध्येऽसिद्धे हेतुरप्यसिद्ध, अनित्य-शब्दस्याप्रसिद्धत्वे तद्धर्मरूपकृतकत्वस्याप्यप्रसिद्धेः । 16 अनित्यत्वविरुद्धं नित्यत्वम् ।

नुमानोच्छेदः, ¹क्वचित्पावकादौ साध्ये ²धूमवत्त्वादावरि विकल्पस्यास्य³ समानत्वात् । ⁴विमत्य-
⁵धिकरणभावापन्नविनाश⁶धर्मिधर्मत्वे⁷ कार्यत्वादेरसंभवद्बाधकत्वादेरपि ⁸सन्दिग्ध⁹सद्भाव-
धर्मिधर्मत्वं¹⁰ सिद्ध¹¹ बोद्धव्यम् ।

[मीमांसको ब्रूते जैनानां सर्वज्ञधर्मो प्रसिद्धसत्ताको नास्तीति जैनाचार्याः समादधति ।]

ननु¹² च शब्दादेर्धर्मिणः शब्दत्वादिना प्रसिद्धसत्ताकस्य सन्दिग्धानित्यत्वादिसाध्यधर्म-
कस्य धर्मो¹³ हेतुः कृतकत्वादिरिति युक्तं; सर्वथाप्यसिद्धसत्ताकस्य तु सर्वज्ञस्य कथं विवादा-
पन्नसद्भावधर्मकस्य धर्मो हेतुरसंभवद्बाधकत्वादिर्युज्यते, प्रसिद्धो धर्मो¹⁴ अप्रसिद्धधर्मविशे-

भावार्थ—शब्द का अनित्यपना साध्य है और उसका धर्म कृतकपना हेतु है । साध्य असिद्ध होने से हेतु भी असिद्ध है । अनित्य शब्द की असिद्धि होने से उसका धर्मरूप कृतकत्व हेतु भी असिद्ध है । यदि कहो कि यह हेतु नित्य शब्द का धर्म है तब तो विरुद्ध हो जाता है क्योंकि अनित्य रूप साध्य से विरुद्ध नित्य को सिद्ध कर रहा है । तथा यदि कहो कि उभय का धर्म है तब तो व्यभिचारी हो जाता है क्योंकि सपक्ष और विपक्ष दोनों में रह जाता है और इस प्रकार से तो सभी अनुमानों का उच्छेद हो जावेगा ।

किसी पर्वत पर अग्नि आदि को साध्य (सिद्ध) करने में धूमत्व आदि हेतु में भी ये तीनों विकल्प उठाये जा सकते हैं ।

विवादापन्न विनाश धर्मो शब्द के अनित्यत्व धर्म में असंभवबाधकत्व रूप कार्यत्व आदि हेतु से भी सन्दिग्ध सद्भाव रूप धर्मो का धर्मपना सिद्ध हुआ ही जानना चाहिये ।*

[मीमांसक कहता है कि जैनों का सर्वज्ञ धर्मो प्रसिद्ध सत्तावाला नहीं है इस पर जैनाचार्य समाधान करते हैं]

मीमांसक—शब्दत्व आदि के द्वारा जिसकी सत्ता प्रसिद्ध है और जिसमें अनित्यत्व आदि साध्य धर्म सन्दिग्ध हैं ऐसे शब्दादि धर्मो के कृतकत्व आदि हेतु धर्म हैं यह कथन तो युक्त है किंतु सभी

1 पर्वतादौ । 2 न केवलं कृतकत्वादौ । (व्या० प्र०) 3 अग्निमत्पर्वतधर्मो वानग्निमत्पर्वतधर्मो बोभयधर्मो वेत्यस्य ।

4 विमतिः = विवादः । 5 विमत्यधिकरणभावापन्नः विवादापन्नः विनाशो यस्य स विमत्यधिकरणभावापन्नविनाशः स चासौ धर्मो शब्दश्च तस्य धर्मत्वे सति कृतकत्वस्य हेतोः । दि.प्र. । 6 विनाशधर्मोऽस्यास्तीति विनाशधर्मो शब्दः । 7 सन्दिग्धश्चासौ सद्भावश्चास्तिलक्षणः स एव धर्मो यस्यार्हतः इति विमत्यधिकरणभावापन्नविनाशधर्मो ।

8 यतः । 9 सद्भाव एव धर्मः सोऽस्यास्तीति सद्भावधर्मः तस्य धर्मो यः सः । (व्या० प्र०) 10 अत्रेदं मीमांसकस्य तात्पर्यं, भो जैन शब्दस्तु सिद्ध एव । शब्दस्य यदनित्यत्वं साध्यं सन्दिग्धमस्ति तदेव कृतकत्वादिना साध्यते इति ।

11 असंभवद्बाधकत्वलक्षणम् । 12 मीमांसकः । 13 यथा पर्वतस्य धर्मोऽग्निमत्त्वं धूमत्वं च । (व्या० प्र०)

14 साध्य । एव । (व्या० प्र०)

षणविंशति^१ स्वयं साध्यत्वेनेप्सितः पक्ष इति वचनात्^२, कथञ्चिदप्यप्रसिद्धस्य धर्मित्वा-
योगात् । इति कश्चित्^३, सोपि यदि सकलदेशकालवर्तिनं शब्दं धर्मिणमाचक्षीत तदा कथं
प्रसिद्धो धर्मीति ब्रूयात् ? तस्याप्रसिद्धत्वात् । परोपगमात्सकलः शब्दः प्रसिद्धो धर्मीति चेत्
^४स्वाभ्युपगमात्सर्वज्ञः प्रसिद्धो धर्मी किन्न ^५भवेद्धेतुधर्मवत् । ^६परं प्रति समर्थित एव हेतुधर्मः
साध्यसाधन^७ इति चेद्धर्म्यपि^८ ^९परं प्रति ^{१०}समर्थित^{११} एवास्तु, विशेषाभावात्^{१२} ?

प्रकार से जिसकी सत्ता असिद्ध है एवं जिसका सद्भाव धर्म विवाद को प्राप्त है ऐसे सर्वज्ञ का धर्म
अबाधित हेतु कैसे हो सकता है क्योंकि धर्मी प्रसिद्ध होता है और साध्य तो अप्रसिद्ध धर्म विशेषण
से विंशति होता है । इस प्रकार से स्वयं आप जैनियों ने ही माना है । अतः जो कथञ्चित् भी अप्रसिद्ध
है वह धर्मी नहीं हो सकता है ।

जैन—यदि आप मीमांसक भी सकल देशकालवर्ती शब्द को धर्मी कहते हैं तब तो आपके
यहां भी धर्मी प्रसिद्ध नहीं रहेगा क्योंकि सकल देशकालवर्ती शब्द अप्रसिद्ध है, अर्थात् भूत, भावी
शब्द तो विद्यमान ही नहीं हैं ।

मीमांसक—दूसरों के स्वीकार करने से ही हम भी संपूर्ण शब्दों को प्रसिद्ध मान लेंगे अतः
धर्मी प्रसिद्ध ही हो जावेगा ।

जैन—तो पुनः जैनों के द्वारा स्वीकृत होने से सर्वज्ञ धर्मी प्रसिद्ध क्यों न हो जावे ? जैसे
कि हेतु का धर्म प्रसिद्ध माना जाता है ।

भावार्थ—आप मीमांसक ने दूसरों के द्वारा स्वीकृत सभी शब्दों को प्रसिद्ध धर्मी स्वीकार
किया है तो फिर हम जैनों के द्वारा स्वीकृत होने से सर्वज्ञ भी प्रसिद्ध धर्मी हो जावे यह बात क्यों
नहीं स्वीकार करते हैं ?

मीमांसक—दूसरों के प्रति समर्थित ही हेतु धर्म साध्य को सिद्ध कर सकता है ।

जैन—तब धर्मी (शब्द) भी जैन के प्रति समर्थित होवे; दोनों में कुछ भी अंतर नहीं है ।

१ जनेन । २ जेनस्य । ३ मीमांसकः । ४ परोपगमात्सकलः शब्दः प्रसिद्धो धर्मीति यदि मीमांसकेन भवताभ्यु-
पगम्यते तहि स्वेषां जैतानामभ्युपगमात्सर्वज्ञः प्रसिद्धो धर्मी भवेदिति किं नेष्यते ? परोपगमस्योभयत्राप्यविशेषात् ।
५ हेतुश्चासौ धर्मश्चेति । ६ मीमांसकम् । ७ साध्यस्य साधकः । ८ शब्दोपि । ९ जैनं प्रति । १० समर्थितहेतुः
एवास्तु इति पाठान्तरम् । ११ प्रसिद्धो भवतु । (व्या० प्र०) १२ ननु यदि परं प्रति समर्थितो धर्मी स्यात् तदा
प्रकृतधर्मी समर्थनेनैव साध्यसिद्धेः किमनेन पश्चादनुमानप्रयोगेणेति चेन्न साधनसमर्थनेऽपि समानत्वात् । शक्यं हि
वक्तुं नासिद्धं नानैकांतिकमिति साधनसमर्थनेनैव साध्यसिद्धेः किमनेन पश्चादनुमानप्रयोगेणेति अनुमानप्रयोगानंतरं
साधनसमर्थनाददोष इति चेदन्यत्राप्यनुमानप्रयोगानंतरं धर्मिसमर्थनाददोषोऽस्तु । दि. प्र. ।

[धर्मिणः सत्ता सर्वथा प्रसिद्धास्ति कथञ्चिद्वा ?]

१किञ्च सर्वथा प्रसिद्धसत्ताको धर्मी कथञ्चिद्वा ? सर्वथा चेच्छब्दादिरपि धर्मो न स्यात्, २तस्याप्रसिद्धसाध्यधर्मोपाधिसत्ताकत्वात्^३ । कथञ्चित्प्रसिद्धसत्ताकः शब्दादिधर्मोति चेत् सर्वज्ञः कथं धर्मी न स्यात् ? प्रसिद्धात्मत्वादिविशेषणसत्ताकस्याप्रसिद्धसर्वज्ञत्वोपाधिसत्ताकस्य^४ च ५धर्मिणोभ्युपगमे सर्वथा नाप्रसिद्धसत्ताकत्वं, ६कथञ्चित्प्रसिद्धसत्ताकत्वात् । स्याद्वादिनो हि कश्चिदात्मा सर्वज्ञोस्तीति पक्षप्रयोगमाचक्षते, ७नान्यथा । ८ततोयमु^९पालभमानो^{१०} धर्मिस्वभावं न ११लक्षयत्येव, १२प्रकृतानुमाने सर्वज्ञस्य धर्मित्वावचनाच्च । सूक्ष्माद्यर्था एव ह्यत्र धर्मिणः प्रसिद्धा १३युक्तास्तावत्प्रसिद्धसत्ताका एव, परमाण्वादीनामपि प्रमाण-

[धर्मो की सत्ता सर्वथा प्रसिद्ध है या कथञ्चित् ?]

दूसरी बात यह है कि हम आप से प्रश्न करते हैं—धर्मी सर्वथा प्रसिद्ध सत्ता वाला है या कथञ्चित् ? यदि सर्वथा कहो तो शब्दादि भी धर्मी नहीं होंगे क्योंकि वे शब्दादि अप्रसिद्ध रूप साध्य धर्म से विशिष्ट सत्ता वाले हैं । यदि आप कहें कि कथञ्चित् रूप से प्रसिद्ध है सत्ता जिसकी ऐसे शब्दादि धर्मी हैं, तब तो सर्वज्ञ भी धर्मी क्यों नहीं हो जावेगा ? अतः हमारे यहाँ आत्मत्व आदि विशेषण रूप सत्ता से प्रसिद्ध और सर्वज्ञत्व उपाधि रूप सत्ता से अप्रसिद्ध को धर्मी स्वीकार करने पर सर्वथा अप्रसिद्ध सत्ता वाला धर्मी नहीं है अपितु कथञ्चित् प्रसिद्ध सत्ता वाला है क्योंकि “कोई आत्मा सर्वज्ञ है” स्याद्वादी लोग इस प्रकार से पक्ष प्रयोग करते हैं; अन्य प्रकार से नहीं । इसलिये आप मीमांसक या बौद्ध जैनियों को उलाहना देते हुये वास्तव में धर्मी के स्वभाव को ही नहीं जानते हैं एवं इस प्रकृत अनुमान “सूक्ष्मांतरित दूरार्था” इत्यादि में हमने सर्वज्ञ को धर्मी माना ही नहीं है । इस अनुमान (कारिका) में सूक्ष्मादि पदार्थ ही धर्मी हैं । वे प्रसिद्ध सत्ता वाले हैं ? क्योंकि परमाणु आदि भी प्रमाण से प्रसिद्ध हैं । इस बात को विशेष रूप से आगे “बुद्धिशब्दप्रमाणत्वं” इत्यादि कारिका के व्याख्यान में कहेंगे ।

भावार्थ—मीमांसक ने कहा कि आप जैन “प्रमेयत्व, अस्तित्व, वस्तुत्व” हेतुओं से सर्वज्ञ के अस्तित्व को सिद्ध कर रहे हैं । तो यह तो बताइये कि ये हेतु सर्वज्ञ के भाव के धर्म हैं या अभाव के

- 1 विकल्पान्तरेण जैनो धर्मिणं विचारयति । 2 अप्रसिद्धसाध्यधर्मोपाधिः (विशेषणं) सत्ता यस्य शब्दस्य सः । तत्त्वात् । 3 यथा शब्दानित्यत्वस्य द्रुत्ता अप्रसिद्धा वर्तते । 4 अयं सर्वज्ञ इति विशेषणलक्षणा उपाधिः । 5 सर्वज्ञस्य । (6) शब्दत्वेन । (व्या० प्र०) 7 एवं चेत् न हि सर्वज्ञनिराकृतेः प्रागित्यादिभाष्यविवरणावसरे अस्ति सर्वज्ञः, सुनिश्चितासम्भवद्वाधकप्रमाणत्वादित्युक्तः प्रयोगः शोभेतेति, चेन्न, तत्राप्यभिप्रेतस्यात्मशब्दस्याध्याहार्यमाणत्वात् । अनुमेयत्वहेतोरवाधतः षयत्वसमर्थनप्रसङ्गायाते अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चितेत्याद्यनुमाने परोक्तं दोषं परिहृत्य प्रकृतानुमाने स दोषो न संभवतीति प्रकृतानुमाने इत्याहुः । 8 मीमांसकः सौगतो वा । 9 उपालंभमानो इति पा. । (व्या० प्र०) 10 दोषमुद्भावयन् । 11 जानाति । 12 सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षाः, अनुमेयत्वादित्यनुमाने । 13 प्रयुक्ता इति पा. । (व्या० प्र०)

सिद्धत्वेन वक्ष्यमाणत्वात्^१ ।

धर्म हैं अथवा सर्वज्ञ के भावाभाव के धर्म हैं इन तीनों विकल्पों में मीमांसक ने दोषारोपण कर दिया है ।

जैनाचार्य कहते हैं कि भाई ! बौद्ध ने शब्द को अनित्य माना है और कृतकत्व हेतु दिया है । इस कृतकत्व हेतु में भी ये तीनों विकल्प उठाये जा सकते हैं । आप मीमांसक ने शब्द को नित्य माना है और उसे नित्य सिद्ध करने के लिये 'प्रत्यभिज्ञान हेतु' दिया है । तब इस प्रत्यभिज्ञान हेतु में भी ये तीनों विकल्प उठाये जा सकते हैं तात्पर्य यह है कि किसी भी अनुमान वाक्य में हेतु के प्रति ये तीनों विकल्प संभव हैं और इन दोषों के निमित्त से कोई भी हेतु अपने साध्य को सिद्ध करने में समर्थ नहीं हो सकेगा ।

इस प्रकार से अनुमान का अभाव होते देखकर बौद्ध का पक्ष लेकर मीमांसक कहता है कि शब्द को अनित्य सिद्ध करने में कृतकत्व हेतु को निर्दोष सिद्ध करने की चेष्टा कर रहा है । वह कहता है कि शब्द तो प्रसिद्ध ही है और उस शब्द का जो अनित्य धर्म है वह संदिग्ध है उसी को साध्य की कोटि में रखा गया है और वह अनित्य धर्म ही कृतकत्व हेतु से सिद्ध किया जाता है किन्तु आपका सर्वज्ञ धर्म तो प्रसिद्ध ही नहीं है तो फिर उसी अस्तित्व को संदिग्ध कोटि में रखकर प्रमेयत्वादि हेतु से कैसे सिद्ध किया जा सकेगा ?

जैनाचार्य कहते हैं कि आप के यहाँ भी त्रिकालवर्ती शब्द प्रसिद्ध नहीं है भूतकालीन शब्द नष्ट हो गये, भविष्यत कालीन शब्द अभी उत्पन्न ही नहीं हुये हैं पुनः शब्द भी "प्रसिद्धो धर्मो" इस सूत्र के अनुसार प्रसिद्ध कहाँ रहे ?

दूसरा प्रश्न यह भी हो सकता है कि शब्द की सत्ता सभी प्रकार से प्रसिद्ध है या कथंचित् ? सभी प्रकार से आप कह नहीं सकते क्योंकि शब्द का अनित्य धर्म असिद्ध है तभी उसे साध्य की कोटि में रखा है । कथंचित् सत्ता सिद्ध है यदि ऐसा कहो तो हमारे सर्वज्ञ की भी सत्ता कथंचित् सिद्ध ही है । देखिये ! हम जैनों ने इस कारिका के या अनुमान वाक्य में सर्वज्ञ को धर्मो नहीं बनाया है किन्तु "सूक्ष्मादि पदार्थों" को ही धर्मो बनाया है और सूक्ष्म—परमाणु आदि पदार्थ सभी को मान्य होने से प्रसिद्ध ही हैं । वे सूक्ष्मादि पदार्थ जिसके प्रत्यक्ष हैं वे ही सर्वज्ञ हैं इस प्रकार से सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध किया गया है । अतः उस सर्वज्ञ के अस्तित्व को सिद्ध करने में जो अनुमेयत्व हेतु अथवा प्रमेयत्व आदि हेतु दिए गए हैं । उनमें उपर्युक्त तीन विकल्प नहीं उठाए जा सकते हैं ।

दूसरी बात यह भी है कि श्री विद्यानदि महोदय ने 'अनुमेयत्व' हेतु का अर्थ 'श्रुतज्ञानाधिगम्यत्व' कर दिया है जो कि आज्ञाप्रधानी एवं परीक्षा प्रधानी दोनों को मान्य हो जावेगा तथा मीमांसक भी वेद को प्रमाणीक मानता है अतः उसे भी संतोष हो जावेगा ।

१ बुद्धिशब्दप्रमाणत्वमिति कारिकाव्याख्याने ।

[सूक्ष्मादिपदार्था इन्द्रियप्रत्यक्षेण कस्यचित् प्रत्यक्षाः संति मानसप्रत्यक्षेण वा ?]

ननु सूक्ष्मादयोर्थाः किमिन्द्रियप्रत्यक्षेण कस्यचित्प्रत्यक्षाः साध्या^२ उतातीन्द्रियप्रत्यक्षेण ? प्रथमविकल्पेऽनुमानविरुद्धः^३ पक्षः 'सूक्ष्माद्यर्था^४ न कस्यचिदिन्द्रियज्ञानविषयाः,^५ सर्वथेन्द्रियसम्बन्ध-रहितत्वात्^६ । ये तु कस्यचिदिन्द्रियज्ञानविषयास्ते न सर्वथेन्द्रियसम्बन्धरहिता दृष्टाः । यथा घटादयः । सर्वथेन्द्रियसम्बन्धरहिताश्च सूक्ष्माद्यर्थास्तस्मान्न कस्यचिदिन्द्रियज्ञानविषयाः' इति केवलव्यतिरेकिणानुमानेन बाध्यमानत्वात् । न च सर्वथेन्द्रियसम्बन्ध^८रहितत्वमसिद्धं, साक्षात्-परमाणु^९धर्मादीनामिन्द्रियसम्बन्धाभावात् । तथा हि । न कस्यचिदिन्द्रियं साक्षात्परमाण्वा-दिभिः^{१०} सम्बध्यते, इन्द्रियत्वादस्मदादीन्द्रियवत् ।

[सूक्ष्मादि पदार्थ इन्द्रिय प्रत्यक्ष से किसी के प्रत्यक्ष हैं या नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष से ?]

मीमांसक—अच्छा तो सूक्ष्मादि पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं यह बात तो हम मानने को तैयार हैं किन्तु यह तो बतलाइये कि वे सूक्ष्मादि पदार्थ इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान से किसी के प्रत्यक्ष हैं या अतीन्द्रिय (मानस) प्रत्यक्ष ज्ञान से ?

प्रथम विकल्प स्वीकार करने पर तो पक्ष अनुमान के विरुद्ध है । तथाहि "सूक्ष्मादि पदार्थ किसी भी जीव के इन्द्रिय ज्ञान के विषय नहीं हैं क्योंकि सर्वथा इन्द्रियों के सम्बन्ध से रहित हैं । जो पदार्थ किसी के इन्द्रिय ज्ञान के विषय हैं वे पदार्थ सर्वथा इन्द्रिय के सम्बन्ध से रहित नहीं देखे जाते हैं जैसे घट पट आदि । सर्वथा इन्द्रिय सम्बन्ध से रहित सूक्ष्मादि पदार्थ हैं इसलिये वे किसी के इन्द्रिय ज्ञान के विषय भी नहीं हैं ।" इस प्रकार केवलव्यतिरेकी अनुमान के द्वारा आपका पक्ष बाधित हो जाता है । एवं यह सर्वथा "इन्द्रियसम्बन्ध रहितत्व" हेतु असिद्ध भी नहीं है । साक्षात् परमाणु धर्म, अधर्म आदि के साथ इन्द्रिय सम्बन्ध का अभाव है । तथाहि—

"किसी की भी इन्द्रियाँ साक्षात् परमाणु आदि से सम्बन्धित नहीं होती हैं क्योंकि वे इन्द्रियाँ हैं जैसे कि हम लोगों की इन्द्रियाँ" । इस अनुमान से इन्द्रियों से परमाणु आदि का ज्ञान होना असंभव है ।

[नैयायिक कहता है कि योगज धर्म से अनुग्रहीत इन्द्रियाँ परमाणु आदि को भी देख लेती हैं उसका निराकरण]

नैयायिक—योगज धर्म अनुग्रहीत इन्द्रियाँ उन परमाणु आदि से साक्षात् सम्बन्ध कर लेती हैं । अतः उन सूक्ष्म वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है ।

मीमांसक—इन्द्रियों के योगज धर्म का अनुग्रह होना यह क्या चीज है ?

1 मीमांसको नैयायिकं प्रत्याह । 2 अतीन्द्रियं = मनः । 3 कालात्ययापदिष्टः । प्रमाणबाधिते पक्षे हेतोर्वर्तमानत्वं कालात्ययापदिष्टत्वम् । 4 अनुमानविरुद्धत्वं दर्शयति । 5 साक्षात् परम्परया वा । 6 सूक्ष्माद्यर्थानाम् । 7 व्यतिरेकव्याप्तिः । 8 साधनम् । 9 परमाणवश्च धर्मादयश्चेति तेषाम् । 10 आदिशब्देन स्वभावविप्रकृष्टधर्मादिभिः कालान्तरितरतीनागतपदार्थद्वारार्थैर्हिमवदादिभिः । (व्या० प्र०)

[नैयायिको ब्रूते योगजधर्मानुग्रहीतैर्द्रियाणि परमाण्वादीन् पश्यन्ति तस्य निराकरणं]

¹योगजधर्मानुग्रही²तमिन्द्रियं ⁴योगिनस्तैः साक्षात्सम्बध्यते इति चेत् ⁵कोयमिन्द्रियस्य योगजधर्मानुग्रहो नाम ? ⁶स्वविषये प्रवर्तमान⁷स्यातिशयाधानमिति⁸ चेत्तदसंभव एव, परमाण्वादौ स्वयमिन्द्रियस्य प्रवर्तनाभावात्, प्रवर्तने वा योगजधर्मानुग्रहस्य वैयर्थ्यात्⁹ । तत एवेन्द्रियस्य परमाण्वादिषु प्रवृत्तौ परस्पराश्रयप्रसङ्गः । ¹⁰सतीन्द्रियस्य योगजधर्मानुग्रहे¹¹ परमाण्वादिषु प्रवृत्तिः सत्यां च तस्यां योगजधर्मानुग्रह इति । ¹²परमाण्वादिष्विन्द्रियस्य प्रवृत्तौ सहकारित्वं योगजधर्मानुग्रह इति चेन्न, स्वविषयातिक्रमेण¹³ तस्य तत्र तदनुग्रहायोगात्, ¹⁴अन्यथा कस्यचिदेकस्येन्द्रियस्य¹⁵ सकलरसादिषु प्रवृत्तौ तदनुग्रहप्रसङ्गात्¹⁶ । ¹⁷दृष्टविरोधान्नैवमिति चेत् ¹⁸समानमन्यत्र¹⁹ । यथैव हि चक्षुरादीनि प्रतिनियतरूपादिविष-

नैयायिक—अपने अपने विषय में प्रवर्तमान इन्द्रियों में अतिशय को कर देना यही अनुग्रह है ।

मीमांसक—तब तो वह असंभव ही है । परमाणु आदि में स्वयं इन्द्रियों की प्रवृत्ति नहीं पाई जाती है । यदि आप प्रवृत्ति मानेंगे तो योगज धर्म का अनुग्रह व्यर्थ ही हो जावेगा । पुनः आप कहें कि योगज धर्म के अनुग्रह से ही इन्द्रियों की परमाणु आदि में प्रवृत्ति हो जाती है तो परस्पराश्रय दोष आ जावेगा । इन्द्रियों के योगज धर्म का अनुग्रह होने पर परमाणु आदि में प्रवृत्ति होगी और उस प्रवृत्ति के परमाणु आदि में प्रवृत्ति होने पर योगज धर्म का अनुग्रह होगा ।

नैयायिक—परमाणु आदि को जब इन्द्रियाँ ग्रहण करती हैं तब योगज धर्म का अनुग्रह सहकारी कारण होता है ।

मीमांसक—यह कथन ठीक नहीं है । अपने विषयों का उल्लंघन करके इन्द्रियों की परमाणु आदि में प्रवृत्ति होने में योगजधर्म का अनुग्रह सहकारी नहीं हो सकता है । अन्यथा कोई एक ही इन्द्रिय सम्पूर्ण रूप, रस, गंध आदि विषयों को ग्रहण करने में प्रवृत्त हो जावेगी और उसमें भी योगजधर्मानुग्रह ही सहकारी मानना पड़ेगा ।

नैयायिक—एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय के विषय को ग्रहण करे इसमें तो प्रत्यक्ष से ही विरोध है

1 नैयायिकः । 2 ध्यानोद्भूतधर्मेण । 3 उपकृतं । (व्या० प्र०) 4 ईश्वरस्य । (व्या० प्र०) 5 मीमांसकः पृच्छति । 6 परमाण्वादी । (व्या० प्र०) 7 इन्द्रियस्य । 8 स्पष्टतापादनम् । 9 इन्द्रियस्य परमाण्वादी प्रवृत्त्वर्थं हि योगजधर्मोऽभ्युपगतः । तदिन्द्रियं यदि स्वयमेव तत्र प्रवर्तते किमनेन योगजधर्मानुग्रहणेनेति भावः । दि. प्र. । 10 परस्पराश्रयं दर्शयति । 11 अङ्गीक्रियमाणे । 12 दौगो वदति । (व्या० प्र०) 13 रूपादिविषयोत्प्लङ्घनेन । 14 अन्यथा इन्द्रियं योगजधर्मानुग्रहात् स्वविषयमतिक्रम्य प्रवर्तते कस्यचित् पुंसः एकस्य चक्षुरादीन्द्रियस्य रसादिषु पंचसु विषयेषु प्रवृत्तिः स्यात् । तस्यां सत्यां योगजधर्मोपकारप्रसंगो घटते । दि. प्र. । 15 स्पृशंसादेः 16 योगजधर्मानुग्रह प्रसङ्गात् । 17 नैयायिकः । प्रत्यक्षविरोधात् । 18 मीमांसकः । 19 परमाण्वादी प्रत्यक्षविरोधस्तुल्यः ।

याणि दृष्टानि नाप्रतिनियतसकल^१रूपादि^२विषयाणि ^३तथोपलब्धिलक्षणप्राप्तानि महत्त्वोपेतानि पृथिव्यादिद्रव्याणि तत्समवेतरूपादीनि चक्षुरादीन्द्रियगोचरतया प्रसिद्धानि, न पुनः परमाण्वादीनि । ^४समाधिविशेषोत्थधर्ममाहात्म्याद् दृष्टातिक्रमेण परमाण्वादिषु चक्षुरादीनि प्रवर्तन्ते न पुना रसादिष्वेकमिन्द्रियम्, ^५इति न किञ्चिद्विशेषव्यवस्थानिबन्धनमन्यत्र^६ जाड्यात् । ^७एतेन परम्परया परमाणुरूपादि^८ष्विन्द्रियसम्बन्धः प्रतिध्वस्तः, संयोगाभावे संयुक्तसमवायादीनामसंभवात्^९ श्रोत्रे सकलशब्दसमवायासंभवे शब्दत्वेन समवेतसमवायासंभववत् ।

[मानसप्रत्यक्षेणापि सूक्ष्मादिपदार्थस्य ज्ञानं न भवति]

^{१०}यदि पुनरेकमेवान्तःकरणं योगजधर्मानुगृहीतं युगपत्सकलसूक्ष्माद्यर्थविषयमिष्यते^{११}

इसलिये ऐसा नहीं हो सकता है ।

मीमांसक—तो फिर परमाणु आदि में भी इन्द्रियों की प्रवृत्ति का प्रत्यक्ष से ही विरोध तुल्य है क्योंकि जिस प्रकार से चक्षु आदि इन्द्रियाँ अपने-अपने प्रतिनियत रूपादि पदार्थों को विषय करते हुये देखी जाती हैं, किंतु अप्रतिनियत सकल परमाणु आदि पदार्थ तथा रूप रस आदि विषयों को ग्रहण नहीं कर सकती हैं । उसी प्रकार से उपलब्धि लक्षण प्राप्त जो चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने योग्य हैं; तथा महत्व आदि गुणों से सहित ऐसे जो पृथ्वी आदि द्रव्य हैं एवं उन द्रव्यों में समवेत रूप से रहने वाले जो रूपादि गुण हैं वे सभी पदार्थ चक्षु आदि इन्द्रियों के विषयभूत प्रसिद्ध हैं । फिर भी परमाणु आदि पदार्थ चक्षु आदि इन्द्रियों के गोचर नहीं हैं ऐसा प्रत्यक्ष से सिद्ध है ।

नैयायिक—समाधि विशेष से उत्पन्न होने वाले धर्म के माहात्म्य से प्रत्यक्ष का भी उल्लंघन करके चक्षु आदि इन्द्रियाँ परमाणु आदि विषयों में प्रवृत्ति करती हैं अर्थात् जान लेती हैं परन्तु एक ही इन्द्रिय रस गन्ध आदि सभी विषयों को ग्रहण नहीं कर सकती है ।

मीमांसक—चक्षु इन्द्रिय और परमाणु के संयोग सन्निकर्ष का अभाव होने पर भी आप नैयायिक का जो यह कथन है उस कथन में मूर्खता के अतिरिक्त विशेष व्यवस्था का कारण हमें कुछ भी नहीं दिखता है । इसी कथन से “परम्परा से परमाणु रूप आदि में इन्द्रियों का सम्बन्ध होता है” इत्यादि मान्यता का भी खंडन हो गया समझना चाहिये । क्योंकि संयोग के अभाव में संयुक्त समवाय, संयुक्त समवेत समवाय आदि भी संभव नहीं है । जिस प्रकार से श्रोत्र इन्द्रिय में संपूर्ण शब्दों का समवाय असंभव है तब शब्दत्वं रूप से समवेत समवाय भी असंभव ही है ।

१ सकलपदेन परमाणुरूपं गृह्यते । २ आदिपदेन रसादिग्रहः । ३ ज्ञेयस्वरूप । (व्या० प्र०) ४ योगजधर्मानुग्रहोत्थ-धर्मातिशयात् प्रत्यक्षोत्सङ्घनेन । ५ चक्षुरिन्द्रियपरमाण्वोः संयोगसन्निकर्षाभावे । ६ दूरांतरितसूक्ष्माद्यर्थेष्विन्द्रिय-प्रवृत्तौ । (व्या० प्र०) ७ संयोगलक्षणसाक्षात्सम्बन्धनिराकरणेन । ८ आदिशब्देन रसरसत्वादयो ग्राह्याः । ९ आदिपदेन संयुक्तसमवेतसमवायादिग्राह्यः । १० भो नैयायिक । ११ तव नैयायिकस्य ।

तदापि दृष्टातिक्रम¹ एव, ²मनसो युगपदनेकत्र विषये प्रवृत्त्यदर्शनात्³ । तत्र ⁴दृष्टातिक्रमेष्टौ⁵ वा स्वयमात्मैव समाधिविशेषोत्थधर्मविशेषवशादन्तःकरणनिरपेक्षः साक्षात् सूक्ष्माद्यर्थान् पश्यतु किमिन्द्रियेणान्तःकरणेन ? तथा च नेन्द्रियज्ञानेन⁶ कस्यचित्प्रत्यक्षाः सूक्ष्माद्यर्थाः संभाव्यन्ते । ⁷अतीन्द्रियप्रत्यक्षेण⁸ कस्यचित्प्रत्यक्षाः ⁹साध्यन्ते इति ¹⁰चेदप्रसिद्धविशेषणः¹¹ पक्षः, ¹²क्वचिदतीन्द्रियज्ञानप्रत्यक्षत्वस्याप्रसिद्धेः सांख्यं प्रति ¹³विनाशी शब्द इत्यादिवत्¹⁴ । साध्यशून्यश्च दृष्टान्तः स्यादग्न्यादेरतीन्द्रियप्रत्यक्षविषयत्वाभावात् ।

[मानस प्रत्यक्ष से भी सूक्ष्मादि पदार्थों का ज्ञान नहीं होता है ।]

पुनः यदि आप नैयायिक एक अन्तःकरण (मन) को ही योग्य धर्म से अनुगृहीत-स्वीकार करके उसके द्वारा युगपत् संपूर्ण पदार्थों का विषय करना मानोगे तो भी आपके यहाँ प्रत्यक्ष का उल्लंघन ही जावेगा, क्योंकि मन की एक साथ अनेक विषयों में प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है “युगपत् ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंग” ऐसा आपका ही वचन है ।

नैयायिक—इस विषय में प्रत्यक्ष से विरोध होता है तो हो जावे हमें कोई बाधा नहीं है क्योंकि समाधि विशेष से उत्पन्न धर्म का चमत्कार ही ऐसा है कि जिससे अनुगृहीत मन एक साथ ही संपूर्ण परमाणु आदि पदार्थों को विषय कर लेता है ।

जैन—यदि आप ऐसा मान लेते हैं तो भाई ! स्वयं आत्मा ही समाधि विशेष (शुक्ल-ध्यान) से उत्पन्न हुये धर्म विशेष (केवलज्ञान) के बल से अन्तःकरण से निरक्षेप होता हुआ ही साक्षात् संपूर्ण सूक्ष्मादि पदार्थों को जान लेता है ऐसा भी मान लीजिये क्या बाधा है ? पुनः इन्द्रियों के द्वारा जानता है अथवा मन के द्वारा जानता है इत्यादि कल्पनाओं का क्या प्रयोजन है ? अतः किसी को भी इन्द्रिय ज्ञान के द्वारा सूक्ष्मादि पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं हो सकते हैं । यह बात सिद्ध हो जाती है ।

मीमांसक—आप नैयायिक से हमने पहले यह प्रश्न किया था कि सूक्ष्मादि पदार्थ इन्द्रिय ज्ञान से किसी के प्रत्यक्ष हैं या अतीन्द्रियज्ञान—मानसप्रत्यक्षज्ञान से ? उसमें से यदि आप दूसरा विकल्प स्वीकार करें कि सूक्ष्मादि पदार्थ अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा किसी के प्रत्यक्ष हैं तब तो आपका पक्ष अप्रसिद्ध

- 1 प्रत्यक्षोत्पन्नमेव । 2 युगपत्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लक्षणं (व्या० प्र०) । 3 युगपत्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गमिति वचनात् । 4 प्रत्यक्षविरोधाङ्गीकारे । 5 ता । प्रत्यक्षातिक्रमाभिमनने दृष्टातिक्रमेष्टातिक्रमेष्टौ इति पा. दि. प्र । 6 इन्द्रियांतःकरणात् । (व्या० प्र०) 7 द्वितीयविकल्पः । (व्या० प्र०) 8 सूक्ष्माद्यर्थाः । 9 योगो वदति हे स्याद्वादिन् । ते सूक्ष्माद्यर्था अतीन्द्रियज्ञानेन कस्यचित् पुंसः प्रत्यक्षा मया साध्यन्ते इति किं तवाभिप्रायः । दि. प्र. । 10 मीमांसकः । 11 सूक्ष्माद्यर्था अतीन्द्रियप्रत्यक्षेणेति अप्रसिद्धं विशेषणं यस्य सः । अतीन्द्रियप्रत्यक्षेतीदं विशेषणमप्रसिद्धमित्यर्थः । 12 दृष्टान्ते । 13 आविर्भावतिरोभावमात्रं न तु नाशित्वं तन्मते शब्दत्वे । (व्या० प्र०) 14 सांख्यमते आविर्भावतिरोभावो स्तो न तु किञ्चिद्विनाशि ।

[इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षप्रत्यक्षेण सूक्ष्मादिपदार्थाः ज्ञायन्ते इति स्याद्वादिभिः कथ्यते]

इति^१ केचित्तेपि न सम्यग्वादिनः, सूक्ष्माद्यर्थानामिन्द्रियजप्रत्यक्षेण^२ कस्यचित्प्रत्यक्ष-
त्वासाधनात्तत्पक्षनिक्षिप्तदोषानवतारात्^३ ।^४ तथा^५ साध्यतां स्याद्वादिभिरपि तद्दोषसमर्थ-
नात्^६ ।^७ नाप्यतीन्द्रियप्रत्यक्षेण कस्यचित्प्रत्यक्षत्वं^८ साध्यते येनाप्रसिद्धविशेषणः पक्षः
साध्यशून्यश्च दृष्टान्तः स्यात्, प्रत्यक्षसामान्येन कस्यचित्सूक्ष्माद्यर्थप्रत्यक्षत्वसाधनात् । प्रसिद्धे
च सूक्ष्माद्यर्थानां सामान्यतः कस्यचित्प्रत्यक्षत्वे सर्वज्ञत्वस्य सम्यक्स्थित्युपपत्तेस्तत्प्रत्यक्ष-
स्येन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षत्वं सिध्यत्येव । तथा हि ।^{१०} योगिप्रत्यक्षमिन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षां, सूक्ष्माद्य-

विशेषण वाला हो जाता है क्योंकि दृष्टान्त में "अतीन्द्रिय ज्ञान प्रत्यक्षत्व" असिद्ध ही है । जिस प्रकार से सांख्य को "अनित्य शब्द" असिद्ध है क्योंकि सांख्य के मत में प्रत्येक पदार्थ का आविर्भाव और तिरोभाव ही माना है । उनके यहाँ किसी भी पदार्थ को अनित्य नहीं माना है ।

एवं दृष्टान्त भी साध्य शून्य ही है क्योंकि अग्नि आदि पदार्थ अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के विषय नहीं हैं । यहाँ अतीन्द्रिय शब्द से मानस अर्थ लेना चाहिए ।

[इन्द्रिय और अनिन्द्रिय की अपेक्षा से रहित सामान्य प्रत्यक्ष के द्वारा ही अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान होता है इस प्रकार जैनाचार्य कहते हैं ।]

जैन— इस प्रकार का कथन करने वाले आप मीमांसक भी सम्यग्वादी नहीं हैं । सूक्ष्मादि पदार्थ इन्द्रियज प्रत्यक्ष के द्वारा किसी के प्रत्यक्ष हैं ऐसा हम मानते ही नहीं हैं । इसलिए उस पक्ष में दिये गये दोष हम जैनों के यहाँ सम्भव ही नहीं हैं । उस प्रकार के पक्ष को मानने वाले नैयायिकों के लिए हम स्याद्वादियों ने भी उन दोषों का समर्थन ही किया है और हम लोग अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष (मानस प्रत्यक्ष) के द्वारा भी किसी के सूक्ष्मादि पदार्थों का प्रत्यक्षपना सिद्ध नहीं करते हैं कि जिससे हमारा पक्ष अप्रसिद्ध विशेषण वाला होवे एवं दृष्टान्त साध्य से शून्य होवे । अर्थात् हमारे यहाँ ये दोष नहीं आते हैं ।

मीमांसक— तब आप जैन सूक्ष्मादि पदार्थों का प्रत्यक्ष होना कैसे सिद्ध करते हैं ?

जैन— प्रत्यक्ष सामान्य के द्वारा हम जैन किसी के सूक्ष्मादि पदार्थों का प्रत्यक्ष होना सिद्ध करते हैं ।

सूक्ष्मादि पदार्थ सामान्य से किसी के प्रत्यक्ष हैं इस बात के सिद्ध हो जाने पर सर्वज्ञत्व की सम्यक् प्रकार से व्यवस्था बन जाती है और सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध हो जाने से प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रिय

१ स्याद्वादिनः प्राहुः 'इति केचिन्मीमांसकास्तेपि न सम्यग्वादिनः, इति । २ इन्द्रियप्रत्यक्ष । (व्या० प्र०) ३ जैनानाम् । ४ सूक्ष्माद्यर्था इन्द्रियप्रत्यक्षेण कस्यचित् प्रत्यक्षा भवन्ति । इति (व्या० प्र०) ५ नैयायिकानाम् । ६ साध्यतां योगादीनां स्याद्वादिभिस्तस्य पक्षस्य दोषः समर्थ्यते । दि. प्र. । ७ सिद्धान्ती । ८ योगिन इन्द्रियं योगजघर्मबलात् सूक्ष्माद्यर्थं गृह्णाति । (व्या० प्र०) ९ तर्हि सूक्ष्माद्यर्थानां कथं प्रत्यक्षत्वं स्थाप्यते जैर्नर्भवद्भिरिति मीमांसकाशङ्कामाह प्रत्यक्षसामान्येनेत्यादि । १० योगी = सर्वज्ञः । ११ अस्माभिः स्याद्वादिभिः । (व्या० प्र०)

र्थविषयत्वात् । 'यन्नेन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षं तन्न सूक्ष्माद्यर्थविषयं दृष्टं, यथास्मदादिप्रत्यक्षम् । सूक्ष्माद्यर्थविषयं च योगिनः प्रत्यक्षं सिद्धं, तस्मादिन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षम् । नावधिमनःपर्यय-प्रत्यक्षाभ्यां हेतुर्व्यभिचारी, तयोरपीन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षत्वसिद्धेः ।

और मन की अपेक्षा रहित है यह बात भी सिद्ध ही हो जाती है । तथाहि—

“सर्वज्ञ भगवान का प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रिय और मन की अपेक्षा से रहित है क्योंकि वह सूक्ष्मादि पदार्थों को विषय करने वाला है जो इन्द्रिय और मन की अपेक्षा से रहित नहीं है । वह सूक्ष्मादि पदार्थों को विषय करने वाला भी नहीं है जैसे कि हम लोगों का प्रत्यक्षज्ञान और सूक्ष्मादि पदार्थों को विषय करने वाला भगवान सर्वज्ञ का प्रत्यक्षज्ञान सिद्ध ही है । इसीलिये वह इन्द्रिय और मन की अपेक्षा से रहित है ।

इस प्रकार अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान के द्वारा भी हमारा हेतु व्यभिचारी नहीं है क्योंकि ये दोनों ज्ञान भी इन्द्रिय और मन की अपेक्षा से रहित हैं यह बात सिद्ध है ।

भावार्थ—मीमांसक ने जैसे तैसे करके इस बात को तो स्वीकार कर लिया कि सूक्ष्मादि पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं । अब वह इस बात को समझना चाहता है कि ये सूक्ष्मादि पदार्थ इन्द्रिय ज्ञान से किसी के प्रत्यक्ष हैं या अतीन्द्रिय ज्ञान से ? क्योंकि इन्द्रिय और मन को छोड़कर ज्ञान को उत्पन्न करने के लिये और कोई साधन ही नहीं है ।

पुनः वह स्वयं ही कहता जा रहा है कि इन्द्रिय ज्ञान से सूक्ष्मादि पदार्थों को प्रत्यक्ष करना अशक्य है क्योंकि इन्द्रियाँ वर्तमान-कालीन अपने ग्रहण करने योग्य कतिपय पदार्थों को ही विषय करती हैं । इसी बीच में मीमांसक का पड़ोसी नैयायिक आ जाता है और वह कहने लगता है कि भाई ! योग विशेष से उत्पन्न हुये अनुग्रह से योगियों की इन्द्रियाँ परमाणु आदि को जान लेती हैं ।

इस पर मीमांसक ने कहा कि भाई ! योग विशेष का अनुग्रह क्या चीज है ? जब इन्द्रियाँ अपने विषय में प्रवृत्ति करती हों तब उसमें कुछ विशेषता का हो जाना अनुग्रह है या परमाणु आदि को जानने में इन्द्रियों के लिए सहकारी होना अनुग्रह है ? इन दोनों ही विकल्पों में मीमांसक ने दोष दिखा दिये हैं क्योंकि इन्द्रियों में योगज धर्म या मंत्र, तंत्र, अंजन गुटिका आदि अथवा आधुनिक यंत्र, दुर्बिन, खुर्दबीन आदि कैसे भी साधन मिल जावें । चक्षु इन्द्रिय देखने का ही काम करेगी, खुर्दबीन जैसे यंत्र से भी सुनने का काम नहीं कर सकेगी । कर्णोन्द्रिय रेडियो, टेलीफोन आदि यन्त्रों के द्वारा लाखों मील की बात को सुन ही सकती है, देख नहीं सकती है । सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को ग्रहण कर सकती हैं अन्य इन्द्रियों के विषयों को नहीं ।

1 व्यतिरेकव्याप्तिः ।

नैयायिक सन्निकर्ष को प्रमाण मानते हैं उनका कहना है कि पहले चक्षु इन्द्रिय का घट से सम्बन्ध हुआ उसका नाम है, "संयोग" पुनः उसके रूप से सम्बन्ध हुआ है उसका नाम है "संयुक्त समवाय," इसके बाद इन्द्रिय ने जो उसके रूपत्व को जाना उसका नाम "संयुक्तसमवेतसमवाय" है।

मीमांसक कहता है कि जब इन्द्रियों का परमाणु आदि पदार्थों के साथ सम्बन्ध ही नहीं होता है तब संयोग, संयुक्त समवाय आदि सन्निकर्ष भी कैसे बनेंगे ? पुनरपि मीमांसक उस नैयायिक को समझा रहा है कि भाई ! यदि आप कहें कि मन पर योगज धर्म का अनुग्रह होता है और मन ही संपूर्ण अतीन्द्रिय पदार्थों को जान लेता है तो यह बात भी घटित नहीं है क्योंकि मन एक साथ पंचेन्द्रियों के विषयों को भी नहीं समझ सकता है तब सूक्ष्मादि पदार्थों को जानने की बात बहुत ही दूर है। हां ! जैनो ने अवश्य मानस मतिज्ञान के द्वारा मूर्तिक अमूर्तिक छहों द्रव्यों का ज्ञान और उनकी कतिपय पर्यायों का ज्ञान माना है, किन्तु फिर भी मन से संपूर्ण सूक्ष्मादि पदार्थों का ज्ञान नहीं माना है।

यदि मूल का दूसरा विकल्प लिया जाय कि अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से सर्वज्ञ सम्पूर्ण पदार्थों को जानते हैं तो यह बात भी नहीं बन सकती क्योंकि अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान असिद्ध ही है। पहले उसे ही सिद्ध करने में आपको बहुत शक्ति लगानी पड़ेगी। इस प्रकार से मीमांसक से आमना-सामना करके अपनी शंका का समाधान करने का प्रयत्न करते हुये अपनी ही बात को पुष्ट कर दिया है।

अब जैनाचार्य उत्तर देते हुये कहते हैं कि भाई ! यदि हम इन्द्रिय प्रत्यक्ष से किसी के सूक्ष्मादि पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान होना मानें तो ये सब दोष हमारे ऊपर आ जावेंगे किन्तु हम तो इन्द्रिय प्रत्यक्ष से संपूर्ण पदार्थों का प्रत्यक्षीकरण नहीं मानते हैं और न आपके द्वारा कल्पित अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से ही सूक्ष्मादि पदार्थों का साक्षात्कार मानते हैं। इसलिये आप मीमांसक हमारे ऊपर दोषारोपण नहीं कर सकते हैं प्रत्युत हम जैन सामान्य प्रत्यक्ष के द्वारा ही सम्पूर्ण सूक्ष्मादि पदार्थों को प्रत्यक्ष जानना मानते हैं।

वह सामान्य प्रत्यक्ष इन्द्रिय और मन आदि की अपेक्षा से रहित है अतः परमार्थ प्रत्यक्ष है। आत्मा में केवलज्ञानावरण कर्म के क्षय से उत्पन्न हुआ आत्मा का ही निजी स्वभाव है। उसे ही अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष भी कहते हैं।

"सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमतीन्द्रियमशेषतो मुख्यं" इस सूत्र के अनुसार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की सामग्री विशेष से अखिल आवरण के नष्ट हो जाने पर वह ज्ञान उत्पन्न होता है अतः वह ज्ञान अतीन्द्रिय है और मुख्य प्रत्यक्ष है, शेष, मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्ययज्ञान, क्षायोपशमिक ज्ञान हैं ये मुख्य प्रत्यक्ष नहीं हैं। आदि का मतिज्ञान न्याय की भाषा में, सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष है और सैद्धांतिक गन्थों के आधार से इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होने से परोक्ष कहलाता है। अवधिज्ञान और मनः-पर्ययज्ञान एक देश प्रत्यक्ष हैं और ये क्षायोपशमिक होते हुए भी अतीन्द्रिय हैं। ये दोनों ज्ञान भी इन्द्रिय और मन की सहायता से रहित हैं इसलिये ये दोनों ज्ञान सूक्ष्मादि पदार्थों को विषय करने वाले हैं, परमाणु तक सूक्ष्म वस्तु को जानने की सामर्थ्य रखते हैं, कई भवों की और असंख्यात द्वीप समुद्रों तक की भी बातें स्पष्ट जान लेते हैं। ये भी स्वात्मा से ही उत्पन्न होने से पूर्ण

[सूक्ष्मादिपदार्थान् कः प्रत्यक्षेण जानाति, अर्हद् भगवान्, बुद्धादयो उभयव्यतिरिक्तः कश्चिद् वा ?
इत्यादिप्रश्नानां विचारः]

¹ननु च कस्येदं सूक्ष्माद्यर्थप्रत्यक्षत्वं ²साध्यते ? अर्हतोनर्हतः³ सामान्यात्मनो वा ? यदि विप्रकृष्टार्थप्रत्यक्षत्वमर्हतः साध्यते⁴ पक्षदोषोऽप्रसिद्धविशेषणत्वम् । तत एव ⁵व्याप्तिर्न⁶ सिध्येत् । ⁷अनर्हतश्चेदनिष्टानुषंगोपि⁸ । कः पुनः सामान्यात्मा तदुभयव्यतिरेकेण यस्य विवक्षितार्थप्रत्यक्षत्वम्⁹ ? इत्येत¹⁰द्विकल्पजालं ¹¹शब्दनित्यत्वेपि¹² समानं, न केवलं सूक्ष्मादि-साक्षात्करणस्य ¹³प्रतिषेधने संशीतौ वा । ¹⁴तदयमनुमानपुद्रां¹⁵ ¹⁶भिनत्ति* । न कश्चित्सूक्ष्मा-

विशद हैं, केवलज्ञान से अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान में अन्तर केवल इतना ही है कि ये द्रव्य, क्षेत्र, आदि की मर्यादा को लिये हुए सीमित हैं एवं केवलज्ञान सम्पूर्ण लोकालोक को जानने वाला होने से असीमित-अनंत है । स्पष्टता की अपेक्षा इन तीनों में कोई अन्तर नहीं है । अन्त में निष्कर्ष यह है कि सर्वज्ञ का ज्ञान अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है यह बात यहाँ सिद्ध की गई है ।

[सूक्ष्मादि पदार्थों को प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा जानने वाले कौन हैं ? अर्हत, बुद्धआदि या इनसे भिन्न अन्य कोई जन ?]

मीमांसक—यह सूक्ष्मादि पदार्थों का प्रत्यक्षपना आप किसके सिद्ध करते हैं अर्हत (केवली जिन) के या अनर्हत (बुद्धादिक) के अथवा सामान्य आत्मा के ?

यदि विप्रकृष्ट अर्थों—दूरवर्ती पदार्थों का प्रत्यक्षपना अर्हत में सिद्ध करते हो तब तो पक्ष में अप्रसिद्ध विशेषणत्व दोष आता है इसी से व्याप्ति की सिद्धि भी नहीं होगी । अर्थात् जहाँ-जहाँ अनुभेयत्व हेतु है वहाँ-वहाँ किसी अर्हत के प्रत्यक्षपना है यह व्याप्ति नहीं बन सकेगी और यदि आप ऐसा कहें कि अनर्हत (बुद्धआदिक) के परोक्ष पदार्थों का प्रत्यक्षत्व सिद्ध करते हैं तब तो आपके यहाँ अनिष्ट का प्रसंग भी आता है क्योंकि आप जनों के यहाँ अर्हत के अतिरिक्त किसी बुद्ध, कपिल आदि में सूक्ष्मादि पदार्थों का प्रत्यक्षत्व सिद्ध करना इष्ट नहीं है । पुनः अर्हत और अनर्हत के अतिरिक्त सामान्यात्मा और कौन है कि जिसके आप सूक्ष्मादि परोक्ष पदार्थों का प्रत्यक्षत्व सिद्ध कर सकें ?

जैन—इस प्रकार के ये विकल्प जाल आपके यहाँ शब्द को नित्य मानने रूप अनुमान में

1 मीमांसकः । 2 सूक्ष्मांतरितदूरार्थाः कस्यचिदर्हतः प्रत्यक्षाः । (व्या० प्र०) । 3 बुद्धादेः । 4 तर्हीत्यध्याहार्यम् । 5 सूक्ष्मांतरितदूरार्थाः अर्हतः प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वात् । यत्प्रमेयं तदर्हतः प्रत्यक्षमिति व्याप्येतरभावात् । (व्या० प्र०) 6 यत्र यत्रानुभेयत्वं तत्र तत्र कस्यचिदर्हतः प्रत्यक्षत्वमिति व्याप्तिर्नास्त्यतः पक्षदोषः । 7 बुद्धादेः । (व्या० प्र०) 8 अपि-शब्दात्पक्षदोषोपि । 9 सूक्ष्माद्यर्थानाम् । 10 जैन आह । 11 मीमांसकस्येष्टे । 12 समुच्चये । (व्या० प्र०) 13 सर्वज्ञस्य निषेधे संशये वा । (व्या० प्र०) 14 तत्समादयं मीमांसकः । 15 तस्मात् । (व्या० प्र०) 16 मीमांसकः सूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्करणप्रतिषेधसंशययोः क्रमेणानुमाने द्वे रचयति (वक्ष्यमाणप्रकारेण) ।

दिसाक्षात्कारी, पुरुषत्वादेः^१, रथ्यापुरुषवत् । विवादापन्नः पुरुषः सूक्ष्मादिसाक्षात्कारित्वेन संशयित एव^२ विप्रकृष्टस्वभावत्वात्^३ पिशाचादिवत् । इति सूक्ष्मादिसाक्षात्करणस्य प्रतिषेधने संशीतौ वा^४ तावदिदं विकल्पजालं समानं सिद्धमेव ।^५ स हि तत्र प्रतिषेधं संशयं वा साधयन् किमर्हतः साधयेदनर्हतः सामान्यात्मनो वा ? अर्हतश्चेदप्रसिद्धविशेषणः पक्षो^६ व्याप्तिश्च न सिध्येद्, ^७दृष्टान्तस्य^८ साध्यशून्यतानुषङ्गात् । अनर्हतश्चेत्स एव दोषो बुद्धादेः परस्या^९ सिद्धेर-निष्ठानुषङ्गश्च^{१०}, अर्हतस्तत्प्रत्यक्ष^{११}त्वविधाननिश्चयात् । कः पुनः सामान्यात्मा तदुभयव्यतिरेकेण यस्य विवक्षितार्थ^{१२}प्रत्यक्षत्वप्रतिषेधसंशयौ साध्येते ? इति ।

भी समान हैं न कि केवल सूक्ष्मादि पदार्थों का साक्षात् करने वाले सर्वज्ञ का प्रतिषेध करने में अथवा उनमें संशय करने में । इसलिए आप मीमांसक अनुमान मुद्रा का भेदन कर देते हैं ।*

कोई भी सूक्ष्मादि पदार्थों का साक्षात्कारी नहीं है क्योंकि पुरुष है उन्मत्त पुरुष के समान । “विवाद में आया हुआ पुरुष सूक्ष्मादि पदार्थों को साक्षात् करने में संदिग्ध ही है क्योंकि परोक्ष स्वभाव वाला है जैसे कि पिशाचादि ।” इस प्रकार सूक्ष्मादि को साक्षात् करने वाले सर्वज्ञ का निषेध करने में अथवा संदेह करने में आप मीमांसक के यहाँ ये विकल्प जाल समान ही सिद्ध होंगे । तथाहि—

आप मीमांसक-सर्वज्ञ का निषेध करते हुये अथवा सर्वज्ञ में संशय करते हुये इन दोनों बातों को अर्हत में सिद्ध करते हैं या अनर्हत में अथवा सामान्यात्मा में ? यदि आप पहला विकल्प मानें कि हम अर्हत में सर्वज्ञत्व का प्रतिषेध करते हैं तब तो आपका पक्ष असिद्ध विशेषण वाला है एवं उसकी व्याप्ति भी सिद्ध नहीं होती तथा दृष्टान्त भी साध्यविकल है । यदि अर्हत से रहित बुद्ध आदि में सर्वज्ञत्व का निषेध करते हैं तब तो आप मीमांसकों के यहाँ कपिल बुद्ध आदि की असिद्धि ही नहीं मानी गई है अतः अनिष्ट का प्रसंग आ जाता है ।

एवं अर्हत में तो सूक्ष्मादि के प्रत्यक्ष का विधान ही निश्चित किया है और पुनः इन दोनों को छोड़कर सामान्यात्मा है कौन कि जिसके विवक्षित सूक्ष्मादि पदार्थों के प्रत्यक्षत्व का आप निषेध सिद्ध करें या संदेह सिद्ध करें ?

[मीमांसक जिन प्रश्नोत्तरों के द्वारा सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध करना चाहते हैं जैनाचार्य उन्हीं प्रश्नोत्तरों से उसी के द्वारा मान्य नित्य शब्द का खंडन कर देते हैं ।]

१ पुरुषत्वात् रथ्या इति पा. । दि. प्र. । २ विवादापन्नस्य सर्वं ज्ञस्य । ३ पूर्वोक्तप्रकारेण । ४ तत्र मीमांसकस्य । ५ मीमांसकः । ६ अर्हन् प्रसिद्धो न वर्तते । (व्या० प्र०) ७ स्वव्याप्तिकं दृष्टान्तवचनमुदाहरणमीदृग् विधलक्षणाभावात् विशेषरूपेऽर्हत्यभावे सूक्ष्मादिसाक्षात्कारित्वस्य रथ्यापुरुषे सद्भावो भविष्यति । (व्या० प्र०) ८ रथ्यापुरुषस्य । ९ मीमांसकस्य । १० मीमांसकस्य । (व्या० प्र०) ११ परिशेषन्यायेन । (व्या० प्र०) १२ सूक्ष्माद्यर्थानाम् ।

[मीमांसको यथा प्रश्नोत्तरमालिकया सर्वज्ञाभावं करोति जैनाचार्या अति तैः प्रश्नैरेव तस्याभीष्टशब्दान् दूषयति]

¹तद्वच्छब्दनित्यत्वसाधनेपि समानमेतद्विकल्पजालम् । तथा हि । ²अयं शब्दानां नित्यत्वं साधयन् सर्वगतानां साधयेदसर्वगतानां वा सामान्यात्मनां वा ? वर्णानां नित्यत्वमकृतकत्वादिना³ सर्वगतानां यदि साधयति ⁴स्यादप्रसिद्धविशेषणः⁵ पक्षः⁶ ⁷इतरथानिष्ठानुषङ्गः । ⁸कीदृक् पुनः सामान्यं नाम ⁹यदुभयदोषप्रसंगपरिहाराय कल्प्येत ? सर्वगतत्वसाधनेपि ¹⁰समानम् * । ¹¹तद्वि वर्णानाममूर्तानां साधयेन्मूर्तानां तदुभयसामान्यात्मनां वा ? यद्यमूर्तानां ¹²सर्वगतत्वं साधयेत्तदाऽप्रसिद्धविशेषणता¹³ पक्षस्य । अथ मूर्तानामनिष्ठानुषङ्गः¹⁴ । कीदृक् पुनः सामान्यं नाम ¹⁵यदुभयदोषप्रसङ्गपरिहाराय कल्प्येत ? सर्वगतेतरसामान्यात्मन इव भूर्त्तेतर-

इसी प्रकार से आपके मतानुसार शब्द को नित्य सिद्ध करने में भी ये सभी विकल्प समान ही हैं । तथाहि—आप शब्दों को नित्य सिद्ध करते हुये सर्वगत शब्दों को नित्य सिद्ध करते हो या असर्वगत शब्दों को अथवा सामान्य शब्दों को ?

अकृतकत्व आदि हेतु के द्वारा वर्णों को नित्य सिद्ध करते हुये यदि सर्वगत शब्दों को नित्य सिद्ध करते हो तब तो पक्ष अप्रसिद्ध विशेषण वाला हो जावेगा और यदि असर्वगत शब्दों को नित्य सिद्ध करते हो तब तो अनिष्ट का प्रसंग आ जावेगा । पुनः इन दोनों से रहित सामान्य किस प्रकार का है कि जिसको इन दोनों में दिये गये दोषों का परिहार करने के लिये आप कल्पित कर सकें अर्थात् नहीं कर सकते हैं एवं सर्वगतत्व को सिद्ध करने में भी ये ही दोष समान रूप से आ जाते हैं । * उस सर्वगतत्व को अमूर्तिक वर्णों में सिद्ध करते हो या मूर्तिक में अथवा सामान्यात्मक में ?

यदि आप कहें “अमूर्तिक शब्द सर्वगत हैं क्योंकि वे अकृतक हैं तब तो पक्ष अप्रसिद्धविशेषण वाला है । यदि मूर्तिक शब्दों को सर्वगत सिद्ध करें तब तो आपके लिये अनिष्ट है । आप मीमांसक शब्दों को अमूर्त ही मानते हो । पुनः सामान्य किस प्रकार का है कि जिसको दोनों ही दोषों के प्रसंग को दूर करने के लिये आप कल्पित कर सकते हैं ? सर्वगतेतर सामान्यात्मा के समान भूर्त्तेतर

1 मीमांसकाभीष्टे शब्दनित्यत्वे एतद्विकल्पजालं समानं सूक्ष्मादिसाक्षात्करणस्य प्रतिषेधने संशये चापीति । अयं मीमांसको वक्ष्यमाणरीत्यानुमानद्वयं करोति यत्तन्न सम्यगित्यर्थः । 2 मीमांसकः । 3 अकृतकत्वात् अनुत्पत्तिमत्त्वादित्यादि हेतुना । (व्या० प्र०) 4 अप्रसिद्धं सर्वगतत्वविशेषणं यस्य सः । 5 नित्यसर्वगतशब्दस्य क्वचिदप्रसिद्धेः अथवा एकांतवाद्यभिमतसर्वथा सर्वगतत्वस्य स्याद्वादिनां क्वचिदप्यप्रसिद्धेः । दि. प्र. 6 शब्दः । 7 असर्वगतानां नित्यत्वं साधयति चेत् । 8 सामान्यात्मनां वा । (व्या० प्र०) 9 अनिष्ठानुषङ्गरूपोऽप्रसिद्धविशेषणत्वरूपश्चेत्युभयदोषौ । 10 एकान्तवाद्यभिमतसर्वथासर्वगतत्वस्य स्याद्वादिनां क्वचिदप्यप्रसिद्धेः । 11 सर्वगतत्वम् । 12 अमूर्तः शब्दः सर्वगतः, अकृतकत्वादिति । 13 अमूर्तशब्दाः सर्वगताः सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वात् अथवा एकांतवाद्यभिमतसर्वथासर्वगतत्वस्य स्याद्वादिनां क्वचिदप्यप्रसिद्धेः । दि. प्र. । 14 मीमांसकमते शब्दानाममूर्तत्वात् । 15 पक्षदोषोनिष्ठानुषङ्गश्चेति ।

सामान्यात्मनोऽसम्भवाद्दर्शेषु¹ । ²तदयमनुमानमुद्रां ³सर्वत्र भिन्नतीति नानुमानविचारणा-
यामधिकृतः⁴ स्यात् । ⁵अविवक्षितविशेषस्य⁶ पक्षीकरणे समः ⁷समाधिरित्यलमप्रति⁸ष्ठित-
मिथ्याविकल्पौघैः⁹ * । यथैव हि शब्दस्याविवक्षितसर्वगतत्वासर्वगतत्वविशेषस्याकृतकत्वादि-
हेतुना नित्यत्वे साध्ये न कश्चिद्दोषः स्यात्, नाप्यविवक्षितामूर्तत्वेतरविशेषस्य ¹⁰सर्वत्रोपलभ्य-
मानगुणत्वादिना¹¹ सर्वगतत्वे, तथैवाविवक्षितार्हदनर्हद्विशेषस्य कस्यचित्पुरुषस्य विप्रकृष्टार्थ-
साक्षात्करणेपि साध्येनुमेयत्वादिहेतुना न ¹²कश्चिद्दोषं ¹³पश्यामोन्यत्राप्रतिष्ठितमिथ्याविकल्पौ-
घभ्यः ¹⁴प्रकृतसाधनाप्रतिबन्धिभ्यः, ¹⁵तेषामप्रतिष्ठितत्वात्¹⁶, ¹⁷साधनाभासे इव सम्यक्साधनेपि
¹⁸स्वाविषयेवतारात् । ततो निरवद्यमिदं साधनं कस्यचित्सूक्ष्मादिसाक्षात्कारित्वं साधयति ।

सामान्यात्मा भी वर्णों में असंभव ही है । इसलिये आप मीमांसक के यहाँ अपने पक्ष में भी समान ही दोषों का प्रसंग आने से आप मीमांसक अनुमान मुद्रा का भेदन कर देते हैं । अतः अनुमान के विचार करने में आपको अधिकार ही नहीं है । तथा यदि आप कहें कि—

अविवक्षित है विशेषता जिसकी अर्थात् सर्वगतत्व, असर्वगतत्व आदि विशेषताओं से रहित सामान्य मात्र को ही हम पक्ष बनाते हैं तो समान ही समाधान है । इसलिये अप्रतिष्ठित मिथ्या विकल्पों के समूह से बस होंगे । * क्योंकि जिस प्रकार से सर्वगतत्व, असर्वगतत्व की विशेषता जिसमें विवक्षित नहीं है ऐसे शब्दों को अकृतत्व आदि हेतु के द्वारा नित्य सिद्ध करने में कोई दोष नहीं है । एवं मूर्त, अमूर्त का भेद विवक्षित नहीं है जिनमें ऐसे शब्दों को सर्वत्र उपलब्धि को प्राप्त गुणत्व आदि के द्वारा सर्वगत रूप सिद्ध करने में कोई दोष नहीं है । अर्थात् “नित्य शब्द सर्वगत होता है क्योंकि द्रव्य रूप होने से अमूर्तिक है जैसे आकाश” इत्यादि ।

उसी प्रकार से जिसमें अर्हत एवं अनर्हत की विशेषता विवक्षित नहीं है, ऐसा कोई पुरुष अनुमेयत्व आदि हेतु के द्वारा विप्रकृष्ट पदार्थों का साक्षात्करण करने वाला है इस विषय में केवल प्रकृत साधन (अनुमेयत्व) के अविरोधी अप्रतिष्ठित मिथ्या विकल्पों के समूह के अतिरिक्त हमें कोई दोष नहीं दिखता है क्योंकि ये विकल्प (भेद) अप्रतिष्ठित हैं । साधनाभास में अपने अविषय के समान सम्यक् साधन में भी अपने विषय का अवतार नहीं होता है । अतः हमारा यह अनुमेयत्व हेतु निर्दोष है और किसी व्यक्ति विशेष को सूक्ष्मादि पदार्थों का साक्षात्कारी होना सिद्ध करता है ।

1 सामान्यात्मनोरसंभवादिति वा पा० । दि. प्र. । 2 यतो मीमांसकस्य स्वपक्षेपि समानं तत्तस्मादयं मीमांसकः । 3 स्वपक्षेपि परपक्षवत् । 4 योग्यः । (व्या० प्र०) 5 अविवक्षितः सर्वगतत्वासर्वगतत्वादिर्विशेषो यस्य स तस्य । 6 शब्दस्य । (व्या० प्र०) 7 हे मीमांसक । 8 अव्यवस्थित । (व्या० प्र०) 9 अर्हतोऽनर्हतो वेत्यादिरूपः । 10 सर्वत्रोपलभ्यमानमाकाशम् । 11 नित्यः शब्दः सर्वगतो भवति, द्रव्यत्वे सत्यमूर्तः आकाशवदित्यादिना च । 12 न केनापि कश्चिद्दोषं इति पा. दि. प्र. । 13 विना । 14 प्रकृतं साधनमनुमेयत्वम् । 15 विकल्पौघानाम् । 16 अप्रतिष्ठितत्वं कुतः ? (व्या० प्र०) 17 अप्रतिष्ठितत्वे हेतुरयम् । 18 मिथ्याविकल्पौघाविषये

भावार्थ—मीमांसक ने जैसे-तैसे यहाँ तक तो मंजूर कर लिया कि सूक्ष्मादि पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं और वह प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है। इस बात को स्वीकार कर लेने के बाद भी उसे चैन नहीं पड़ी और वह प्रश्न करने में पुनः आगे बढ़कर कहता है कि अच्छा आप जैन ! यह तो बताओ कि यह अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष आप अर्हंत के मानते हैं या बुद्ध कपिल आदि के या इन दोनों से रहित किसी सामान्य आत्मा के ?

यदि प्रथम पक्ष लेवो तो बनता नहीं क्योंकि कोई भी आत्मा अर्हंत रूप से सिद्ध ही नहीं है और अप्रसिद्ध को पक्ष बनाया ही नहीं जा सकेगा। द्वितीय पक्ष में बुद्ध, कपिल आदि को अतीन्द्रिय-दर्शी मानना आपको इष्ट नहीं है।

तृतीय पक्ष में इन दोनों को छोड़कर और आत्मा है कौन जिसे आप सर्वज्ञ सिद्ध कर सकें ? अतः आप अपने अर्हंत को ही सर्वज्ञ सिद्ध नहीं कर सकते हैं।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि ये तीन प्रकार के दूषण तो सर्वत्र ही दिये जा सकते हैं। आप मीमांसकों ने शब्द को नित्य सिद्ध किया है। हम प्रश्न कर सकते हैं कि आप सर्वगत शब्दों को नित्य सिद्ध करते हैं या असर्वगत शब्दों को या इन दोनों से रहित सामान्य शब्दों को ? एवं शब्दों को सर्वगत सिद्ध करते हुए आप अमूर्तिक शब्दों को सर्वगत सिद्ध करते हैं या मूर्तिक शब्दों को या इन दोनों से रहित किन्हीं शब्दों को ?

इसी प्रकार से आपकी सभी मान्यताओं में हम इन्हीं विकल्पों को उठाकर दूषण देते जावेंगे। तब मीमांसक घबड़ाकर बोल पड़ा कि भाई ! हम विशेष की विवक्षा न करके सामान्य मात्र शब्दों को ही नित्य, सर्वगत और अमूर्तिक सिद्ध करते हैं अतः हमारे यहाँ ये कोई दोष नहीं आते हैं।

जैनाचार्य ने कहा कि भाई ! फिर मुझ पर ही आपको इतना क्या द्वेष है कि जिससे आप इस प्रकार से कुप्रश्नों की भरमार करते ही जा रहे हैं। हम भी तो विशेष रूप से अर्हंत अनर्हंत की विवक्षा न करके सामान्य मात्र से ही किसी भी पुरुष को सर्वज्ञ सिद्ध कर रहे हैं। हमें किसी से भी द्वेष नहीं है जो कर्म पर्वत को भेदन करने वाला दोष-आवरण से रहित निर्दोष महापुरुष है वह कोई भी क्यों न हो बस ! हम उसे ही सर्वज्ञ मान लेते हैं। इसलिये 'अनुमेयत्व' हेतु के द्वारा किसी न किसी आत्मा के सम्पूर्ण सूक्ष्मादि पदार्थों का साक्षात्कार होना सिद्ध ही हो जाता है। अब अधिक कथन से तो केवल पिष्टपेषण ही होगा ऐसा समझना चाहिये।

उत्थानिका—इस प्रकार किसी के कर्मभूभृत् भेदित्व के समान विश्व-तत्त्वों का साक्षात्कारित्व भी हो जावे क्योंकि सुनिश्चित रूप से असम्भव है बाधक प्रमाण जिसमें ऐसे प्रमाण का सद्भाव

नन्वस्तु नामैवं कस्यचित्कर्मभूभृद्भेदित्वमिव विश्वतत्त्वसाक्षात्कारित्वं, ¹प्रमाणसद्भावात् । स तु परमात्माहंन्नेवेति कथं निश्चयो यतोहमेव महानभिवन्द्यो भवतामिति ²व्यवसिता³भ्यनु-ज्ञानपुरस्सर⁴ भगवतो ⁵विशेषसर्वज्ञत्वपर्यनुयोगे⁶ सतीवाचार्याः प्राहुः ।—

स त्वमेवासि ⁷निर्दोषो ⁸युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्⁹ ।

अविरोधो ¹⁰यदिष्टं ते¹¹ प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥६॥

दोषास्तावदज्ञानरागद्वेषादय उक्ताः । निष्क्रान्तो दोषेभ्यो¹³ निर्दोषः । ¹⁴प्रमाणबला-त्सिद्धः सर्वज्ञो वीतरागश्च सामान्यतो यः स त्वमेवाहंन्, युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वात् । यो ¹⁵यत्र¹⁶ युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् स तत्र निर्दोषो दृष्टो, यथा क्वचिद्द्वयाध्युपशमे

पाया जाता है । पुनरपि वह परमात्मा अर्हत ही हैं यह निश्चय कैसे हो सकता है कि जिससे मैं ही आपके लिये महान् नमस्कार करने योग्य होऊँ । इस प्रकार निश्चित स्वीकृति पूर्वक भगवान् के विशेष सर्वज्ञत्व के प्रश्न करने पर ही मानो आचार्य समंतभद्र स्वामी कहते हैं—

कारिकार्थ—हे भगवन् ! दोष और आवरण से रहित निर्दोष सूक्ष्मादि पदार्थों को प्रत्यक्ष जानने वाले एवं युक्ति-शास्त्र (तर्क व आगम) से अविरोधी वचन को बोलने वाले वह अर्हत परमात्मा आप ही हैं क्योंकि आपका इष्ट (मत) विरोध रहित है उसमें प्रत्यक्ष, अनुमान आदि किसी भी प्रमाण से बाधा नहीं आती है ॥६॥

अज्ञान, राग, द्वेष आदि तो दोष कहे गये हैं और जो दोषों से रहित है वे निर्दोष हैं । पूर्वोक्त चौथी एवं पांचवीं कारिका में कहे गये अनुमान प्रमाण के बल से सामान्यतया जो सर्वज्ञ और वीतराग सिद्ध हुए हैं । हे भगवन् ! वे आप ही हैं क्योंकि आपके वचन, युक्ति (तर्क) और शास्त्र (आगम) से अविरोधी हैं, जो जहाँ पर युक्ति-शास्त्र से अविरोधी वचन वाले हैं वे वहाँ पर निर्दोष देखे गये हैं जैसे किसी व्याधि को दूर करने में उत्तम वैद्य । युक्ति और संसार तथा इन दोनों कारणों में भगवान् युक्ति शास्त्र से अविरोधी वचन वाले हैं इसीलिये वे निर्दोष हैं । इस प्रकार से हमारा निश्चय है । मेरे वचन

1 प्रमाणं मुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वलक्षणम् । 2 व्यवस्थितेति पाठान्तरम् । 3 व्यवसितं निश्चितमभ्यनुज्ञानमभ्यु-पगमस्तत्पुरस्सरमिति क्रियाविशेषणम् । 4 निश्चित । ता अभ्युपगम । (व्या० प्र०) 5 अहंन्नेव सर्वज्ञ इति विशेषस्य । (व्या० प्र०) 6 प्रश्ने । 7 दोषेभ्योऽज्ञानरागद्वेषादिभ्यो निष्क्रान्तः । दि. प्र. । 8 युक्तिस्तर्कः । शास्त्र-मागमः । हेतुर्माभितं विशेषणमिदम् । 9 यत् । (व्या० प्र०) 10 यस्मात् । (व्या० प्र०) 11 तत्त्वं । (व्या० प्र०) 13 भगवान् पक्षो निर्दोषो भवतीति साध्यो धर्मो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वात् । इत्याद्यनुमानमेकं । भगवान् पक्षः युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् भवतीति साध्यो धर्मः भगवतोऽभिमततत्त्वस्य प्रमाणेनावध्यमानत्वात् इति द्वितीयं । दि. प्र. । 14 अतन्तरोक्तकारिकाद्वयोक्तानुमानद्वयबलात् । 15 तत्त्वे । 16 यः सामान्यतः सिद्धः स त्वमेव मोक्षसंसार-तत्कारणेषु निर्दोषो भवितुमर्हति तत्र युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वात् इति प्रतिज्ञाहेतुप्रयोगो दृष्टव्यः । दि. प्र. ।

भिषग्वरः^१ । युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् च भगवान् मुक्तिसंसारतत्कारणेषु^२, तस्मान्निर्दोष इति निश्चयः । युक्तिशास्त्राभ्यामविरोधः कुतो^३मद्वाचः^४सिद्धोऽनवयवेनेति चेद्यस्मादिष्टं मोक्षादिकं ते प्रसिद्धेन प्रमाणेन न बाध्यते । तथा हि । यत्र^५यस्याभिमतं^६ तत्त्वं प्रमाणेन न बाध्यते स तत्र युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् । यथा^७रोगस्वास्थ्यतत्कारणतत्त्वे^८ भिषग्वरः । न बाध्यते च प्रमाणेन भगवतोभिमतं मोक्षसंसारतत्कारणतत्त्वम् । तस्मात्तत्र त्वं^९युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् । इति विषयस्य युक्तिशास्त्राविरोधित्वसिद्धेर्विषयिण्या भगवद्वाचो युक्ति-

सम्पूर्णतया युक्ति आगम से अविरोधी किस प्रकार से सिद्ध है ? इस प्रकार से भगवान् के प्रश्न करने पर ही मानों समंतभद्र आचार्य कहते हैं कि—

हे भगवन् ! आपके मोक्षादिक तत्त्व प्रसिद्ध प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित नहीं होते हैं । तथाहि—“जहाँ पर जिस पुरुष का अभीष्ट तत्त्व प्रमाण से बाधित नहीं होता है वह वहाँ पर युक्ति और आगम से अविरोधी वचन वाला है जैसे रोग और स्वास्थ्य तथा उनके कारणों में उत्तम वैद्य । भगवान् के द्वारा अभिमत मोक्ष, संसार और उन-उनके कारण कारणभूत तत्त्वप्रमाण से बाधित नहीं होते हैं । इसीलिये उस-उस विषय में भगवान् आप ही युक्ति और आगम से अविरोधी वचन वाले हैं ।”

इस प्रकार मोक्ष, संसार एवं इन दोनों के कारणभूत इस विषय को युक्ति-शास्त्र से अविरोधी पना सिद्ध होने से विषयी भगवान् के वचनों को भी युक्ति और शास्त्र से अविरोधीपना सिद्ध हो जाता है ।

भावार्थ—श्री स्वामी समंतभद्राचार्य वर्य ने देवागम स्तोत्र में “देवागमनभोयान्” इत्यादि कारिका के द्वारा बहिरंग विभूतिमान् हेतु से भगवान् को महान् नहीं माना है । ‘अध्यात्मं बहिरप्येष’ इत्यादि द्वितीय कारिका के द्वारा अंतरंग महोदय से भी भगवान् को नमस्कार नहीं किया है तथा ‘तीर्थकृतसमयानां’ इत्यादि तृतीय कारिका से सभी के आम्नाय में परस्पर विरोध दिखाकर पुनः धीरे से ऐसा कह दिया है कि ‘कश्चिदेव भवेद्गुरुः’ कोई न कोई एक भगवान् अवश्य ही होना चाहिये ।

इसके पश्चात् चतुर्थ कारिका में इस बात को बताया है कि दोष और आवरण से ही प्राणी संसारी कहलाते हैं इनका किसी न किसी में पूर्णतया अभाव हो सकता है क्योंकि संसारी प्राणियों में दोष और आवरण के हानि की तरतमता देखी जाती है । पुनः आगे पांचवीं कारिका में यह स्पष्ट कर देते हैं कि ‘सूक्ष्मादि पदार्थ’ किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं और जिसके प्रत्यक्ष हैं वही सर्वज्ञ है ।

- १ वैद्यशास्त्रयुक्त्यविरोधिवाक् निर्दोषः । २ मुक्तिश्च संसारश्च तत्कारणे च तेषु । ३ मम बर्द्धमानस्य । ४ सामस्त्येन । ५ यस्य पुरुषस्य स इति सम्बन्धः । ६ मोक्षसंसारतत्कारणेषु त्वं युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् भवितुमर्हसि तत्र त्वदभिमतस्य तत्त्वस्य स्वरूपस्य प्रमाणेनावध्यमानत्वात् इति प्रतिज्ञाहेतू दृष्टव्यी । दि. प्र. ७ रोगश्च स्वास्थ्यं च तत्कारणानि च तान्येव तत्त्वं तस्मिन् ।

शास्त्राविरोधित्वसाधनम्¹ । ²कथमत्र कारिकायामनुपात्तो भिषग्वरो दृष्टान्तः कथ्यते इति चेत् स्वयं ³ग्रन्थकारेणान्यत्राभिधानात् ।

“त्वं संभवः ⁴संभवतर्षरोगैः, सन्तप्यमानस्य जनस्य लोके ।
आसीरिहाकस्मिक⁵ एव वैद्यो, वैद्यो यथा नाथ रुजां प्रशान्त्यै ॥”

इति स्तोत्रप्रसिद्धेः । ⁶इह दृष्टान्तावचनं तु संक्षेपोपन्यासान्न विह्व्यते, ⁷अन्यथानुपपन्नत्व-
नियमैकलक्षणप्राधान्यप्रदर्शनार्थं⁸ वा ।

अब 'स त्वमेवासि निर्दोषो' इस कारिका में यह स्पष्टतया कह रहे हैं कि वह सर्वज्ञ और निर्दोष भगवान् आप ही हैं । पुनः प्रश्न यह होता है कि आप ही निर्दोष क्यों है ? क्योंकि यहाँ परीक्षा प्रधानी शिष्यगण केवल आगम मात्र से ही भगवान् को निर्दोष मानने को तैयार नहीं हैं । उनको अचार्य समझाते हैं कि सर्वज्ञ भगवान् निर्दोष इसलिये हैं कि उनके वचन तर्क और आगम से अविरोधी हैं क्योंकि आपका शासन प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से बाधित नहीं है । लोक व्यवहार में उत्तम वैद्य रोगी के रोग का कारण बता देता है और स्वस्थता के कारण भी बता देता है, अब यह स्वस्थ हो चुका है इसके ज्वर आदि विकार निकल चुके हैं । वैद्य के ऐसे निर्णय पर आबाल गोपाल जन विश्वास कर लेते हैं ऐसा देखा जाता है । अब आगे इस बात को सिद्ध कर रहे हैं कि भगवान् के शासन में मान्य मोक्ष और संसार एवं इन दोनों के कारण भी विरोध रहित तर्क, आगम आदि से सिद्ध हैं ।

प्रश्न—इस कारिका में दृष्टान्त न होते हुये भी भिषग्वर का दृष्टान्त आपने क्यों लिया ?

उत्तर—स्वयं ग्रन्थकार श्री समन्तभद्राचार्य स्वामी ने अन्यत्र “स्वयंभूस्तोत्र” में भिषग्वर का दृष्टान्त ग्रहण किया है यथा—

“त्वं संभवः संभवतर्षरोगैः, संतप्यमानस्य जनस्य लोके ।
आसीरिहाकस्मिक एव वैद्यो, वैद्यो यथा नाथ रुजां प्रशान्त्यै ॥”

अर्थ—हे संभवनाथ भगवान् ! संसार में तृष्णा रूपी रोग से पीड़ित हुये जीवों के लिये आप ही अकारण वैद्य हैं । जिस प्रकार से लोक में रोगों की शांति के लिये वैद्य होते हैं ।

अतः यहाँ कारिका में संक्षेप से कथन होने से दृष्टान्त को नहीं कहने पर भी विरोध नहीं आता है अथवा हेतु में “अन्यथानुपपत्ति” ही निश्चित एक लक्षण प्रधान है ऐसा बतलाने के लिये भी दृष्टान्त नहीं दिया है ।

1 सिद्धमस्ति, विषयविषयिणोरभेदोपचारात् । 2 तटस्थः शंकते । 3 समन्तभद्राचार्येण । 4 संभवः संसारः । तर्षस्तृष्णा । 5 प्रत्युपकारनिरपेक्षः । 6 कारिकायाम् । 7 यथा हेतोरन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं पक्षधर्मत्वाभावेऽपि समर्थं । (व्या० प्र०) 8 पक्षधर्मत्वादिपञ्चरूपं विनापि अन्यथानुपपन्नत्वनियमलक्षणाद्धेतोः साध्यसिद्धेः कारिकायामदृष्टान्तवचनम् ।

भावार्थः—नैयायिकों ने हेतु के पाँच अवयव माने हैं । १ पक्षधर्मत्व, २ सपक्ष सत्त्व, ३ विपक्ष व्यावृत्ति, ४ अबाधित विषयत्व, ५ असत्प्रतिपक्षत्व । इसी प्रकार बौद्धों ने उपरोक्त पाँच अवयवों में से आदि के तीन अवयव माने हैं किन्तु जैनाचार्यों ने “अन्यथानुपपत्तिः” एक लक्षण हेतु का माना है । इस अन्यथानुपपत्ति लक्षण वाले हेतु में पाँचों अवयव नहीं है । तो भी हेतु साध्य को सिद्ध करने वाला सच्चा हेतु है और यदि हेतु में पाँचों या चारों आदि अवयव होकर भी अन्यथानुपपत्ति लक्षण अविनाभाव हेतु नहीं है तो हेतु अहेतु है साध्य का गमक नहीं है ।

सर्वज्ञसिद्धि का सारांश

मीमांसक यह कहता है कि—संपूर्ण कर्मों से रहित भी आत्मा परमाणु धर्म, अधर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थों को कैसे जानेगा ? इन अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान तो वेद वाक्यों से ही होता है । अतएव जगत में कोई सर्वज्ञ नहीं है । इस पर आचार्य समाधान करते हैं कि—

सूक्ष्म परमाणु आदि एवं अंतरित राम-रावाणदि तथा दूरवर्ती-सुमेरू पर्वत आदि परोक्ष पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं क्योंकि वे अनुमान ज्ञान के विषय हैं—अग्नि आदि के समान एवं हे भगवन् ! वे पदार्थ जिनके प्रत्यक्ष हैं वह आप ही निर्दोष सर्वज्ञ हैं क्योंकि आप के वचन युक्ति शास्त्र से अविरोधी हैं तथा आपका मत, संसार, मोक्ष एवं उनके उपाय प्रत्यक्षादि से बाधित नहीं होते हैं ।

यदि कोई कहे कि अत्यन्त परोक्ष पदार्थ अनुमेय नहीं हो सकते अतः अनुमेयत्व हेतु भागासिद्ध है । यह कथन ठीक नहीं है । कारण कि सूक्ष्मादि पदार्थ अनुमेय हैं क्योंकि श्रुत-ज्ञान के विषय हैं एवं श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक ही होता है । अतएव श्रुतज्ञान के विषयभूत अनुमेय सूक्ष्मादि पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष सिद्ध ही हैं । मीमांसक कहता है कि “कोई भी सूक्ष्मादि पदार्थों का साक्षात्कार करने वाला नहीं है क्योंकि वह प्रमेय है, या अस्ति रूप है, या वस्तु रूप है । जैसे हम लोग ।” इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि ये हेतु तो हमारे सर्वज्ञ को ही सिद्ध करते हैं । तथाहि ।

“सूक्ष्मादि पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं क्योंकि प्रमेयरूप हैं, अस्तित्व रूप हैं या वस्तु रूप हैं—स्फटिक आदि की तरह ।”

तथा सर्वज्ञ भगवान् अतीन्द्रिय ज्ञान से सूक्ष्मादि पदार्थों को जानते हैं इन्द्रिय ज्ञान से नहीं, क्योंकि इन्द्रियाँ तो वर्तमान के प्रतिनियत पदार्थ को ही विषय करती हैं सभी को नहीं । अतः इन्द्रिय ज्ञान से कोई सर्वज्ञ नहीं बन सकता है । इस बात का स्पष्टीकरण सन्निकर्ष खंडन में विशेष रूप से है । एवं आप सर्वज्ञ अर्हत ही निर्दोष हैं । बुद्ध, कपिल आदि नहीं हैं क्योंकि उनके वचन युक्ति एवं शास्त्र से अवरोधी नहीं हैं इस प्रकार से आप ही सर्वज्ञ वीतराग हैं यह बात सिद्ध हो गयी ।

अतः मोक्ष और संसार तथा मोक्ष और संसार के कारण इन चारों में भगवान् के द्वारा प्रतिपादित जो मोक्षतत्त्व है वह प्रमाण से बाधित नहीं होता है क्योंकि प्रत्यक्ष से मोक्षादि तत्त्व में बाधा नहीं है ।

[मोक्षतत्कारणतत्त्वस्य सिद्धिः]

¹तत्र भगवतोभिमतं मोक्षतत्त्वं तावन्न प्रमाणेन बाध्यते, प्रत्यक्षस्य ²तद्बाधकत्वा-
योगात्³ । ⁴नास्ति ⁵कस्यचिन्मोक्षः, । सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकाविषयत्वात् कूर्मरोमादिवदित्य-
नुमानेन बाध्यते इति चेन्न, मोक्षस्यानुमानादागमाच्च ⁶प्रसिद्धप्रामाण्यादस्तित्वव्यवस्थाप-
नात्⁷, ⁸क्वचिद्दोषावरणक्षयस्यैवानन्तज्ञानादिस्वरूपलाभफलस्यानुमानागमप्रसिद्धस्य⁹ मोक्षत्वात्,
“बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः” इति वचनात्¹⁰ । तत¹¹ एव ¹²नागमे-
नापि मोक्षतत्त्वं बाध्यते, ¹³तस्य तत्सद्भावावेदकत्वव्यवस्थितेः । तथा ¹⁴मोक्षकारणतत्त्व-
मपि¹⁵ न प्रमाणेन विरुध्यते प्रत्यक्षतोऽकारणकमोक्षप्रतिपत्तेरभावात्तेन¹⁶ तद्बाधनायोगात् । नानु-
मानेनापि तद्बाधनं, ¹⁷ततो मोक्षस्य¹⁸कारणवत्त्वसिद्धेः । ¹⁹सकारणको मोक्षः, प्रतिनियत-

अब स्वमत में अनुमान का अभाव होने पर भी चार्वाक परमत की अपेक्षा से अनुमान को ग्रहण करके मोक्ष तत्त्व का नास्तित्व सिद्ध करता है—

[चार्वाक के द्वारा मोक्ष एवं उसके कारण का खण्डन एवं जैन के द्वारा समाधान]

चार्वाक—“किसी को भी मोक्ष नहीं है क्योंकि वह मोक्ष सत्ता को ग्रहण करने वाले पाँचों प्रमाणों का विषय नहीं है, कछुये के रोम के समान” इस प्रकार अनुमान से बाधा आती है । अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान आगम उपमान और अर्थापत्ति ये पाँचों ही प्रमाण सत् रूप वस्तु को ग्रहण करने वाले हैं और यह मोक्ष पाँचों ही प्रमाणों का विषय नहीं है अतः मोक्ष है ही नहीं, ऐसा हमारा पक्ष है ।

जैन—आपका यह कथन ठीक नहीं है । प्रसिद्ध प्रमाणता वाले अनुमान से एवं आगम से मोक्ष के अस्तित्व की व्यवस्था की जाती है । किसी जीव में अनंत ज्ञानादि स्वरूप की प्राप्ति रूप फल तथा अनुमान एवं आगम से प्रसिद्ध दोष और आवरण का क्षय पाया जाता है उसी का नाम मोक्ष है । कहा

1 मोक्षसंसारतत्कारणेषु चतुर्षु मध्ये । 2 तेषां = मोक्षतत्त्वादीनाम् । 3 तस्य तदविषयत्वात् । (व्या० प्र०)
4 स्वमतेनुमानस्याभावेपि चार्वाकः परमतापेक्षयानुमानं दर्शयति । 5 नरस्य । (व्या० प्र०) 6 प्रसिद्धप्रामाण्यादित्ये-
तदुत्तरं सर्वत्र यथावसरमागमशब्देन सह संबंधनीयं । (व्या० प्र०) 7 अग्रे । 8 आत्मनि । (व्या० प्र०) 9 दोषावरण-
योर्हानिरित्याद्युक्तानुमानादिना । 10 एवं मोक्षे सदुपलम्भकानुमानागमप्रमाणद्वयं संभवापादनेन परोक्तं सदुप-
लम्भकप्रमाणपञ्चकनिवृत्तिरूपं साधनमसिद्धमिति प्रतिपादितं बोद्धव्यं । दि. प्र. 11 एवं मोक्षस्य युक्त्यविरोधं प्रतिपाद्य
शास्त्रा विरोधं प्रतिपादयति तत एवेति । 12 प्रसिद्धप्रामाण्येन । (व्या० प्र०) 13 आगमस्य । 14 सम्यग्दर्शनादि ।
15 स्वरूपं । (व्या० प्र०) 16 प्रत्यक्षेण । 17 अनुमानात् । 18 कारणतत्त्वसिद्धेः इति पा. (व्या० प्र०)
19 सम्यग्दर्शनादिकारणकः ।

^१कालादित्वात् पटादिवत् । तस्याकारणकत्वे सर्वदा सर्वत्र सर्वस्य सद्भावानुषंगः, परापेक्षारहितत्वादिति । ^२नागमेनापि मोक्षकारणतत्त्वं बाध्यते, तस्य तत्साधकत्वात् “सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणि ^३मोक्षमार्गः” इति वचनात् ।

भी है—‘बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम् कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः’ अर्थात् बंध के हेतु का अभाव एवं निर्जरा के द्वारा संपूर्ण कर्मों का नाश हो जाना इसी का नाम मोक्ष है ।” इस प्रकार तत्त्वार्थ सूत्र महाशास्त्र में कहा है । उसी प्रकार आगम प्रमाण से भी मोक्षतत्त्व बाधित नहीं होता है क्योंकि मोक्ष तत्त्व के सद्भाव का प्रतिपादक आगम उपलब्ध है ।

भावार्थ—यद्यपि मोक्ष इन्द्रिय प्रत्यक्ष से नहीं दिखता है तो भी अनुमान एवं आगम से सिद्ध है । राजवार्तिक में भी श्री भट्टकलंक देव ने इसी बात को स्पष्ट किया है । “कार्यविशेषोपलंभात् कारणान्वेषण प्रवृत्तिरिति चेन्न अनुमानतस्तत्सिद्धेर्धृतीयन्त्र भ्रांतिनिवृत्तिवत्” ॥६॥ अर्थात्

प्रश्न—मोक्ष जब प्रत्यक्ष से दिखायी नहीं देता तब उसके मार्ग का ढूँढना व्यर्थ है ? उत्तर—यद्यपि मोक्ष प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं है फिर भी उसका अनुमान किया जा सकता है । जैसे घटीयंत्र-रेंहट का घूमना उसके धुरे के घूमने से होता है । और धुरे का घूमना उसमें जुते हुए बेल के घूमने पर । यदि बेल का घूमना बन्द हो जाय तो धुरे का घूमना रुक जाता है और धुरे के रुक जाने पर घटीयंत्र का घूमना बन्द हो जाता है । उसी तरह कर्मोदय रूपी बेल के चलने पर ही चार गति रूपी धुरे का चक्र चलता है और चतुर्गति रूपी धुरा ही अनेक प्रकार की शारीरिक मानसिक आदि वेदनायें रूपी घटीयंत्र घुमाता रहता है । कर्मोदय की निवृत्ति होने पर चतुर्गति का चक्र रुक जाता है । और उसके रुकने से संसार रूपी घटीयंत्र का परिचलन समाप्त हो जाता है इसी का नाम मोक्ष है इस तरह साधारण अनुमान से मोक्ष की सिद्धि हो जाती है ।

समस्त शिष्टवादी अप्रत्यक्ष होने पर भी मोक्ष का सद्भाव स्वीकार करते हैं और उसके मार्ग का अन्वेषण करते हैं । जिस प्रकार भावी सूर्य ग्रहण और चन्द्र ग्रहण आदि प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं है फिर भी आगम से उनका यथार्थ बोध कर लिया जाता है उसी प्रकार मोक्ष भी आगम से सिद्ध हो जाता है । यदि प्रत्यक्ष न होने के कारण मोक्ष का निषेध किया जाता है तो सभी को स्वसिद्धान्त विरोध होगा, क्योंकि सभी वादी कोई न कोई अप्रत्यक्ष पदार्थ मानते ही हैं । “आगमात्प्रतिपत्तेः” । प्रत्यक्षोऽनुपलभ्यं मानोऽपि मोक्षः आगमादस्तीति निश्चीयते । प्रत्यक्ष से उपलब्ध न होते हुए भी ‘मोक्ष’ हैं—ऐसा आगम से निश्चय किया जाता है ।

तथैव मोक्ष के कारण सम्यग्दर्शनादि एवं संवर निर्जरा तत्त्व भी प्रमाण से विरुद्ध नहीं है प्रत्यक्ष से कारण के बिना मोक्ष की प्रतिपत्ति-ज्ञान का अभाव है क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण से मोक्ष के

1 द्रव्यक्षेत्रकालतीर्थादिसामग्रीं विना मोक्षो न भवतीत्यतः सकारणको मोक्षः । 2 प्रसिद्धप्रामाण्येन । (व्या० प्र०)

3 मोक्षकारणमित्यर्थः ।

[चार्वाकः संसारतत्त्वं न मन्यते तस्य विचारः]

तथा संसारतत्त्वमपि न प्रसिद्धेन बाध्यते, प्रत्यक्षतः संसाराभावासिद्धेस्तस्य¹ तद्बाधकत्वा-
घटनात् । स्वोपात्तकर्मवशादात्मनो भवान्तरावाप्तिः संसारः ।² स न³ प्रत्यक्षविषयो येन प्रत्यक्षं
तं बाधेत ।

[चार्वाकः संसारतत्त्वं निराकरोति तस्य समाधानं]

⁴अनुमानं तद्बाधकमिति चेन्न, ⁵तदभावप्रतिबद्धलिङ्गाभावाद्⁶ । ⁷गर्भादिमरणपर्यन्त-
चैतन्यविशिष्ट⁸कायात्मनः पुरुषस्य जन्मनः⁹ पूर्वं मरणाच्चोत्तरं नास्ति भवान्तरम्, ¹⁰अनुपलब्धेः

कारणभूत तत्त्वों में बाधा का अभाव है एवं अनुमान से भी बाधा नहीं आती है इसलिए अनुमान से भी मोक्ष कारण सहित सिद्ध है । “मोक्ष सकारणक है अर्थात् सम्यग्दर्शनादि कारण से होता है क्योंकि प्रतिनियत कालादि की अपेक्षा पायी जाती है अर्थात्—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव एवं तीर्थादि सामग्री के बिना मोक्ष नहीं होता है इसीलिए कारण सहित है जैसे पट आदिक ।” यदि मोक्ष को अकारणक मानोगे तो सर्वदा, सर्वत्र सभी जीवों के मोक्ष का प्रसंग आ जावेगा क्योंकि अकारणक होने से मोक्ष पर की अपेक्षा से रहित ही रहेगा । और आगम से भी मोक्ष के कारणभूत तत्त्वों में बाधा नहीं है, क्योंकि मोक्ष के कारण को सिद्ध करने वाला आगम पाया जाता है । “सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणि मोक्षमार्गः” इस प्रकार सूत्र वचन है ।

[संसार तत्त्व पर विचार]

संसार तत्त्व भी प्रसिद्ध प्रमाण से बाधित नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष से संसार के अभाव की असिद्धि है । वह प्रत्यक्ष संसार को बाधित नहीं करता है अपने द्वारा उपाजित कर्म के निमित्त से आत्मा के भवान्तर की प्राप्ति का होना इसीका नाम संसार है । वह संसार प्रत्यक्ष का विषय नहीं है कि जिससे वह प्रत्यक्ष उस संसार को बाधित कर सके ।

अर्थात् कर्म के निमित्त से कार्माण तेजस शरीर के साथ आत्मा का जो परलोक में गमन है वह किसी को प्रत्यक्ष से दिखता नहीं है; और जो चीज प्रत्यक्ष से दिखती नहीं है यह प्रत्यक्ष प्रमाण उसका निषेध भी कैसे कर सकेगा ।

[चार्वाक के द्वारा संसार तत्त्व का खण्डन एवं जैनाचार्य द्वारा उसका समाधान]

चार्वाकः—अनुमान प्रमाण संसार का बाधक है ।

जैनाचार्यः—यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि संसार के अभाव के साथ प्रतिबद्ध (अविनाभावी) लिंग का अभाव है अतः अनुमान प्रमाण से बाधा नहीं आ सकती ।

1 प्रत्यक्षस्य । 2 संसारः । (व्या० प्र०) 3 प्रत्यक्षाविषयत्वादेवाभाव इति न व्यक्तं देशान्तरकालान्तरवतिवृहस्पत्या-
देरप्यभावप्रसंगात् । दि. प्र. । 4 चार्वाकः । 5 संसाराभावेन सह प्रतिबद्धस्य लिङ्गस्याभावात् । 6 संसाराभावा-
विनाभाविर्लिंगाभावात् दि. प्र. । 7 चार्वाकः । 8 सहित । (व्या० प्र०) 9 का । (व्या० प्र०) 10 चैतन्यविशिष्टः काय
एवात्मा, तस्य ।

खपुष्पवदित्यनुपलम्भः संसाराभावग्राहकः संसारतत्त्वबाधक इति चेन्न, तस्यासिद्धेः । प्राणिनामाद्यं^१ ^२चैतन्यं ^३चैतन्योपादानकारणकं, ^४चिद्विवर्तत्वान्मध्यचैतन्यविवर्तवत्^५ । तथाऽन्त्यचैतन्यपरिणा^६मश्चैतन्य^७कार्यः^८, तत एव तद्वत् । इत्यनुमानेन पूर्वोत्तरभावोपलम्भा^९द्यथोक्तसंसारतत्त्वसिद्धेः । गोमयादेरचेतनाच्चेतनस्य वृश्चिकादेरुत्पत्तिदर्शनात्तेन ^{१०}व्यभिचारी ^{११}हेतुरिति चेन्न, ^{१२}तस्यापि पक्षीकरणात् । वृश्चिकादिशरीरस्याचेतनस्यैव गोमयादेः ^{१३}सम्मूर्च्छनं, न पुनर्वृश्चिकादिचैतन्यविवर्तस्य, तस्य पूर्वचैतन्यविवर्तदिवोत्पत्तिप्रतिज्ञानात् ।

चार्वाक—“गर्भ से लेकर मरण पर्यंत चतन्य से विशिष्ट शरीरधारी पुरुष के जन्म से पहले और मरण के पश्चात् भवांतर नाम की कोई चीज नहीं है क्योंकि उसकी उपलब्धि नहीं हो रही है आकाश पुष्प के समान ।” इस प्रकार संसार के अभाव का ग्राहक “अनुपलम्भ” हेतु संसार तत्त्व का बाधक है ।

जैन—आपका यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि आपका अनुमान असिद्ध है “प्राणियों में आदि का चैतन्य पूर्व के चैतन्य रूप उपादान कारण से ही उत्पन्न होता है क्योंकि वह चैतन्य की पर्याय है जैसेकि मध्यवर्ती युवा आदि की चैतन्य पर्याय के लिए आदि की गर्भाविस्था को प्राप्त चैतन्य पर्याय उपादान रूप है । तथा अन्त्य चैतन्य का परिणाम जो कि मरणावस्था लक्षण है वह चैतन्य का कार्य रूप है क्योंकि चैतन्य की पर्याय है जैसे कि मध्य चैतन्य पर्याय । अर्थात्—मरण अवस्था वाला चैतन्य आगे के चैतन्य का उपादान कारण होने से आगे भी चैतन्य को जन्म रूप से उत्पन्न कराने वाला है । अन्यथा चैतन्य का निरन्वय विनाश हो जावेगा, परन्तु निरन्वय विनाश सम्भव नहीं है यदि मानोगे तो सर्वलोप का प्रसंग आ जावेगा । इस अनुमान से पूर्व और उत्तर पर्यायों में चैतन्य स्वभाव की उपलब्धि होने से यथोक्त संसार तत्त्व की सिद्धि होती है ।

चार्वाक—गोबर आदि अचेतन से चेतन स्वरूप बिच्छू आदि की उत्पत्ति देखी जाती है इसलिए आपका हेतु व्यभिचारी है अर्थात्—चैतन्य रूप उपादान कारण के अभाव में भी गोबर आदि अचेतन पदार्थों से बिच्छू आदि उत्पन्न हो जाते हैं ।

अतः “चैतन्य की पर्याय होने से” यह हेतु विपक्ष में चला जाने से व्यभिचारी है ।

1 गर्भाविस्थाप्राप्तम् । 2 चार्वाकाभिमतभूतचतुष्टयजन्यं आद्यचैतन्यं पक्षः पूर्वभवावसानचैतन्योपादानकारणकं भवतीति साध्यो धर्मः चिद्विवर्तत्वात् मध्यचैतन्यविवर्तवत् । दि. प्र. । 3 आद्युत्पन्नचैतन्यात्पूर्वं चैतन्यमुपादानं यस्य तत् । 4 पर्याय । (व्या० प्र०) 5 मध्यो युवादेः । 6 मरणावस्थालक्षणः 7 उत्पत्त्यमान चैतन्यं कार्यं यस्य सः । एतन्मरणावस्थालक्षणं चैतन्यमुपादानकारणत्वाद्येपि चैतन्यमुत्पादयिष्यत्येव अन्यथा निरन्वयविनाशः स्याद् । न च निरन्वयविनाशः सम्भवति, सर्वलोपप्रसङ्गात् । 8 वसः । (व्या० प्र०) 9 अनुमानस्य प्रामाण्यासिद्धेरनुपलम्भ एवेति चेन्न तदप्रामाण्ये भवांतरप्रतिषेधाघटनात् । अनुपलब्धिर्लिंगोत्थानुमादि भवांतरं प्रसिद्धं चार्वाकेण तन्न घटत इति भावः । दि. प्र. । 10 वृश्चिकादेशचैतन्योपादान कारणभावेपि चिद्विवर्तत्वहेतोर्दर्शनात् । 11 जन्मनः पूर्वं चैतन्यास्तित्वसाधकं । (व्या० प्र०) 12 वृश्चिकादिचैतन्यस्यापि आद्यचैतन्येन पक्षीकरणात् । 13 गर्भोपपादरूपद्विप्रकारक जन्मवर्जितं जन्म (शरीरपरिकल्पनम्) सम्मूर्च्छनम् ।

खड्गचरम^२चित्तेन^३ चित्तान्तरानुपादानेन^४ व्यभिचारः^५ साधनस्येत्यपि^६ मनोरथमात्रं,^७ तस्य प्रमाणतोऽसिद्धत्वात्, निरन्वयक्षणक्षयस्य^८ प्रतिक्षेपात् ।

जैनाचार्य—नहीं। उन बिच्छू आदिकों को भी हमने पक्ष में ही लिया है। बिच्छू आदि का जो शरीर है वह अचेतन रूप गोबर आदि से सम्मूच्छन जन्म के द्वारा बना है न कि बिच्छू आदि की चैतन्य पर्याय है। वह तो पूर्व की चैतन्य पर्याय से ही उत्पन्न होती है ऐसा हम जैनों ने स्वीकार किया है। गर्भजन्म और उपपाद जन्म से रहित जन्म को सम्मूच्छन जन्म कहते हैं।

चार्वाक—आप जैनों का “चिद् विवर्तत्व” हेतु बौद्धों के द्वारा माने गये खड्गी के चरम चित्त से व्यभिचारी है। क्योंकि खड्गी का चरमचित्त आगे-आगे के चित्तक्षण-ज्ञानक्षण के लिए उपादान कारण नहीं है।

जैन—यह आपका कथन भी मनोरथ मात्र ही है क्योंकि वह खड्गी का चरम चित्त उत्तर चैतन्य के लिए उपादान भूत नहीं है यह बात प्रमाण से सिद्ध नहीं होती क्योंकि निरन्वय क्षण क्षय का हमने आगे चल कर खण्डन किया है।

भावार्थ—चार्वाक कहता है कि आप जैन बिच्छू आदि के चैतन्य को उसके पूर्व चैतन्य की पर्याय से ही उत्पन्न होना मानते हो और कहते हो कि पूर्व-पूर्व की चैतन्य पर्याय उत्तर-उत्तर की चैतन्य पर्याय को उत्पन्न करने में कारण है सो आपका यह हेतु खड्गी के चरमचित्त से व्यभिचारी है क्योंकि खड्गी का चरमचित्त आगे-आगे के चित्तक्षण (ज्ञानक्षण) के लिए उपादान नहीं है।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि खड्गी का चरमचित्त उत्तरचैतन्य के लिए उपादान भूत नहीं है यह बात प्रमाण से सिद्ध नहीं होती है। इस खड्गी चरमचित्त का विशेष स्पष्टीकरण श्लोकवार्तिक ग्रन्थ में पाया जाता है। तथाहि—

जैन मत में जिस प्रकार अन्तकृत केवली होते हैं उसी प्रकार बौद्धों के यहाँ तलवार आदि से घात को प्राप्त हुए कतिपय मुक्तात्मा माने गये हैं वे बिना उपदेश दिये ही शान्ति रहित निर्वाण को प्राप्त हो जाते हैं। उनकी संसार में स्थिति नहीं मानी गई है किन्तु उनका निरन्वय मोक्ष माना गया है अर्थात् दीपक के बुझने के समान सर्वथा अन्वय रहित होकर जिनकी मोक्ष हो जाती है उन्हें खड्गी

१ खड्ग इव खड्गी ध्यानम् । सोऽस्यास्तीति खड्गी । खड्गचरमचित्तस्य पूर्वचिद्विवर्तत्वेऽपि उत्तरचैतन्योपादानकारणत्वाभावात्, उत्तरचित्तकार्यकत्वाभावेऽपि चिद्विवर्तदर्शनाद्वा हेतोः । २ अत्यचैतन्यक्षणेन । खड्ग इव खड्गी ध्यानं सोऽस्यास्तीति योगी बुद्धः इति यावत् तस्यान्त्यचित्तं बौद्धमतापेक्षया चित्तांतरस्य नोपादानं तेन । (व्या० प्र०) ३ अनालवसौमत्तचित्तमन्यच्चित्तं नोत्पादयति । अन्यच्चित्तोपादानरहितेन सौमतान्त्यचित्तेन । चैतन्योपादानकारणकं इत्येतस्य साध्यस्य व्यभिचारः इति वदतिः चार्वाकः । दि. प्र. । ४ चित्तसंततिक्षयो मोक्ष इति वीद्वाः । ५ ता । मरणादुत्तरं चैतन्यास्तित्वसाध्यस्य । (व्या० प्र०) ६ स्वमनोरथ इति पा. (व्या० प्र०) ७ खड्गचर- मचित्त-स्योत्तरचैतन्योपादानत्वाभावरूपहेतोः । ८ अग्रे ।

[वने प्रथमाग्निः स्वयमेवोत्पद्यते पश्चादग्निपूर्वक एवेति मान्यतायां विचारः]

ननु च यथाद्यः ^१पथिकाग्निररणिनिर्मथनोत्थोऽग्निपूर्वको दृष्टः ^२परस्त्वग्निपूर्वक एव तथाद्यं चैतन्यं कायाकारादिपरिणत भूतेभ्यो भविष्यति, ^३परं तु चैतन्यपूर्वकं, विरोधाभा-

कहते हैं। बौद्धों का ऐसा कहना है कि खड्गी के अपने ज्ञान रूप आत्मा का सदा के लिए शमन हो जाता है, सर्वथा अन्वय टूट जाता है इस कारण उत्तरकाल—भविष्य में खड्गी की संतान नहीं चलती है अतः दीपकलिका के समान निरन्वय होकर ज्ञान संतान का नाश हो जाना रूप मोक्ष खड्गी के माना गया है। अतः उस खड्गी का चरमचित्त आगे-आगे के ज्ञानक्षण के लिए उपादान नहीं है किन्तु इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि जैसे बुद्ध ने पूर्वजन्म में या इस जन्म में यह भावना भायी थी कि “मैं जगत् का हित करने के लिए सर्वज्ञ बुद्ध हो जाऊँ” इस भावना की शक्ति से अविद्या और तृष्णा के सर्वथा क्षय होने पर भी सुगत की स्थिति संसार में उपदेश देने के लिए हो जाती है ऐसी बौद्धों की मान्यता है। उसी प्रकार से खड्गी के चित्त का शमन नहीं हुआ है अतः “मैं आत्मा को शान्ति लाभ कराऊँगा” इस प्रकार की भावना का अभ्यास खड्गी बराबर कर रहा है। इस प्रकार से सुगत के समान खड्गी की भी ज्ञानधारा अनन्तकाल तक चलती रहे और वह संसार में ठहर जावे क्या बाधा है? पुनः उसका भी अन्तिम ज्ञानक्षण उत्तरोत्तर ज्ञानक्षण के लिए उपादान हो जावे क्या बाधा है? इत्यादि रूप से आचार्यों ने खड्गी के चरमचित्त का निरन्वय विनाश नहीं माना है प्रत्युत आगे-आगे के ज्ञानक्षणों के लिए उपादानभूत माना है अतः उससे व्यभिचार दोष नहीं आ सकता है।

[वन में अग्नि स्वयमेव उत्पन्न होती है पश्चात् अग्नि पूर्वक ही अग्नि उत्पन्न होती है इस मान्यता पर विचार ।]

चार्वाक—जिस प्रकार प्रथमतः वन को पथिक अग्नि जो अरणि (बांस आदि) के निर्मथन से उत्पन्न होती है। वह पहले किसी भी अग्नि से नहीं हुई है अतः अनग्नि पूर्वक देखी जाती है। फिर आगे की दूसरी अग्नि अग्निपूर्वक ही होती है उसी प्रकार से आदि का चैतन्य शरीर के आकार आदि से परिणत भूत चतुष्टय से होगा ओर युवा, वृद्धावस्था आदि में होने वाला दूसरा चैतन्य उस चैतन्य पूर्वक ही होगा इसमें कोई विरोध नहीं है। अर्थात् जैसे जंगल में चलने वाला पथिक अग्नि के अभाव में अरणि मथन या चकमक से जो अग्नि उत्पन्न करता है उसे पथिकाग्नि कहते हैं।

जैन—इस प्रकार से जो आप समाधान करते हैं वह स्वपक्ष का घात करने वाला जाति उत्तर रूप अर्थात् (मिथ्या उत्तर) ही है। क्योंकि “चिद्विवर्तत्व रूप—चैतन्य की पर्याय होना” हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति का खण्डन नहीं होता है अर्थात् चैतन्य रूप उपादान कारण से उत्पन्न होने

1 अरणिः काष्ठविशेषः । 2 मठाद्यग्निः । (व्या० प्र०) 3 युववृद्धादिचैतन्यम् ।

वात् । इति ¹कस्यचित्प्रत्यवस्थितिः स्वपक्षघातिनी ²जातिरेव, चिद्विवर्तत्वस्य³ हेतोः ⁴साध्येन व्याप्तेरखण्डनात् । ⁵प्रथमपथिकाग्नेरनग्न्युपादानत्वे जलादीनामप्यजलाद्यु⁶पादान-त्वोपपत्तेः पृथिव्यादिभूतचतुष्टयस्य तत्त्वान्तरभावविरोधः⁷ । तथा हि । येषां परस्परमुपादानोपादेयभावस्तेषां न तत्त्वान्तरत्वम्⁸ । यथा ⁹क्षितिविवर्त्तानाम् । परस्परमुपादानोपादेय-भावश्च¹⁰ पृथिव्यादीनाम्¹¹ । इत्येकमेव पुद्गलतत्त्वं ¹²पृथिव्यादिविवर्त्तमवतिष्ठेत¹³ । अथ¹⁴ क्षित्यादीनां न परस्परमुपादानोपादेयभावः, सहकारिभावोपगमात्¹⁵ । ¹⁶कथमपावकोपादानः

रूप साध्य की चैतन्य पर्याय होने से" इस हेतु के साथ व्याप्ति सुघटित ही है ।

प्रथमपथिकाग्नि (वन की अग्नि) को अग्नि के बिना उपादानपना (उत्पन्न होना) स्वीकार करोगे तो जलादिकों को भी जलादि उपादान के बिना हो जाने का प्रसंग आ जावेगा । पुनः पृथ्वी आदि भूतचतुष्टय के भिन्न-भिन्न तत्त्व होने का विरोध हो जावेगा । अर्थात् जिस प्रकार प्रथम बांसों के घर्षण से उत्पन्न हुई अग्नि का उपादान कारण अग्नि जीव नहीं है तो जल के लिए भी प्रथम उपादान कारण जल नहीं होगा इत्यादि रूप से भूतचतुष्टय के कारण पृथक्-पृथक् रूप से चार सिद्ध न होने से चारों तत्त्व एक हो जायेंगे क्योंकि एक कारण से उत्पन्न हुए हैं । जो-जो एक कारण से उत्पन्न होते हैं वे-वे भिन्न नहीं है जैसे मिट्टी से उत्पन्न हुए घट, शराव उदंचन आदि मिट्टी रूप एक कारण जन्य होने से भिन्न-भिन्न तत्त्व नहीं है तथाहि—“जिनमें परस्पर में उपादान उपादेय भाव हैं उनमें परस्पर में भिन्न पना नहीं है जैसे—मिट्टी की पर्यायें, स्थास, कोश, कुशूल, शिवक आदि । और परस्पर में पृथ्वी, जल, अग्नि वायु में उपादान उपादेय भाव मौजूद है ।” इस प्रकार से पृथ्वी आदि पर्यायें एक ही पुद्गल तत्त्व रूप ठहरती हैं ।

चार्वाक—पृथ्वी आदि भूतचतुष्टय में परस्पर में उपादान उपादेय भाव नहीं है क्योंकि हमने उनमें सहकारी भाव माना है ।

जैन—पहली पथिक अग्नि अग्निरूप उपादान के बिना कैसे सिद्ध हो सकेगी जिससे उसी प्रकार अचेतन पूर्वक प्रथम चैतन्य की उत्पत्ति का प्रसंग होवे ? इसलिए जिस प्रकार प्रथम ही अरणि

1 दूषणं । (व्या० प्र०) 2 मिथ्योत्तरं जातिः । 3 आद्यं चैतन्योपादानकारणकं चिद्विवर्तत्वान्मध्यचैतन्यविवर्तवत् । (व्या० प्र०) 4 चैतन्योपादानकारणकरत्वरूपेण साध्येन सह । 5 प्रथमपथिकाग्नेर्यथा नाग्न्युपादानत्वं ततश्च कथं व्याप्यखंडनमित्याह । (व्या० प्र०) 6 पृथिव्यादेः । (व्या० प्र०) 7 एककारणजन्यत्वात् । यदेककारणजन्म तन्न तत्त्वान्तरम् । यथा मृदुत्पन्नो घटो न मृदोतिरिच्यते । 8 पृथिव्यपृतेजोवायुरूपम् । 9 स्थासकोशकुशूलशिवकादीनाम् । 10 परस्परमुपादेयभावश्च इति पा । (व्या० प्र०) 11 पृथिव्यादिभूतचतुष्टयं विवर्त्तः पर्यायाः यस्य तत् । दि. प्र. । 12 पृथिव्यादीनां पक्षः तत्त्वान्तरत्वं न भवतीति साध्यो धर्मः, परस्परमुपादानोपादेयभावत्वात् । येषां परस्परमुपादानोपादेयभावस्तेषां न तत्त्वान्तरत्वं, यथा क्षितिविवर्त्तानां घटादीनां । दि. प्र. । 13 असः । (व्या० प्र०) 14 चार्वाकः । (व्या० प्र०) 15 अरणिनिर्मथादेव । (व्या० प्र०) 16 जैनः ।

प्रथमः पथिकपावकः प्रसिद्धयेद्यतस्तद्वदचैतनपूर्वकं प्रथमचैतन्यं प्रसज्येत ? यथैव हि ¹प्रथमा-
विभूतपावकादेस्तिरोहितपावकान्तरादिपूर्वकत्व² तथा गर्भचैतन्यस्याविभूतस्वभावस्य तिरो-
हितचैतन्यपूर्वकत्वमिति किन्न व्यवस्था स्यात् ? ³स्यान्मतं, ⁴सहकारिमात्रादेव प्रथमपथिकाने-
रुपजननोपगमात्तिरोहि⁵ताग्न्यन्तरोपादानत्वमसिद्धमिति ⁶तदसत्, अनुपादानस्य कस्यचिदुप-
जननादर्शनात् ।

(बांस आदि) के संघर्षण से उत्पन्न हुई अग्नि तिरोहित भिन्न अग्नि पूर्वक होती है। उसी प्रकार से गर्भ में चैतन्य का आविर्भाव होने में तिरोहित चैतन्य ही निमित्त है अर्थात् चैतन्य रूप उपादान कारण से ही गर्भादि में चैतन्य की उत्पत्ति होती है ऐसी ही व्यवस्था क्यों न मानी जावे ?

भावार्थ—कोई भी जीव किसी भी पर्याय से मर करके अग्निकायिक नाम कर्म के उदय से अग्नि में जन्म लेता है। इसलिए आबाल गोपाल में जो अग्नि वन में अग्नि आदि के संघर्षण से उत्पन्न होती है उसमें अग्नि से उत्पन्न होना नहीं दिखने पर भी पूर्व पर्याय से च्युत होकर ही जीव अग्नि-
कायिक नाम कर्म के उदय से उसमें जन्म लेता है अतः प्रत्येक अग्नि की उत्पत्ति अग्नि रूप उपादान से ही सुघटित है। तथैव कोई भी जीव किसी देव आदि पर्याय से मरण को प्राप्त करके मनुष्य तिर्यच आदि पर्याय में गर्भ अवस्था में आता है इसलिए चैतन्य उपादान पूर्वक ही चैतन्य की उत्पत्ति माननी चाहिए।

चार्वाक—बांसों के संघर्षण आदि सहकारी कारण मात्र से ही वन की प्रथम अग्नि होती है ऐसा हमने माना है इसलिए तिरोहित हुई भिन्न अग्नि रूप उपादान से अग्नि की उत्पत्ति मानना असिद्ध है।

जैन—यह कहना असत् है। बिना उपादान कारण के सहकारी कारण मात्र से किसी की भी उत्पत्ति नहीं देखी जाती है।

[शब्द और बिजली आदि उपादान के बिना ही उत्पन्न होते हैं चार्वाक की इस मान्यता पर प्रत्युत्तर]

चार्वाक—शब्द बिजली आदि की उत्पत्ति उपादान कारण के बिना ही देखी जाती है अतः कोई भी दोष नहीं है।

जैन—ऐसा नहीं है। “शब्दादि भी उपादान कारण सहित ही हैं क्योंकि कार्यरूप हैं घटादि के समान” इस अनुमान से उन शब्दादि के अदृश्य पुद्गल द्रव्य रूप उपादान कारण हैं ही हैं अतः इन सभी को उपादान कारणता सिद्ध ही है।

1 अरणिमथनकाले । 2 निदर्शनमिदं पराभ्युपगमानुपारेणाभिहितं प्रतिपत्तव्यं । स्याद्वादिना तु पयःपावकादीनां पुद्गलविवर्तत्वेनैकत्वांगीकरणात् परस्परमुपादानोपादेयतावश्यं भावात् । दि. प्र. । 3 चार्वाकस्य । 4 अरणि-
मथनमात्रादेव । 5 प्रच्छन्नरूपारणिस्थिताग्न्यन्तरकारणकत्वम् । 6 जैनः ।

[शब्दविद्युदादय उपादानमंतरेणोत्पद्यन्ते इति चार्वाकमान्यतायां प्रत्युत्तरं]

शब्दविद्युदादेरुपादानादर्शनाददोष इति चेन्न, शब्दादिः सोपादान एव, कार्यत्वाद्^१ घटा-
दिवदित्यनुमानात्तस्यादृश्योपादानस्यापि^२ ^३सोपादानत्वस्य साधनात् ।

[भूतचतुष्टयचेतनयोर्भिन्नलक्षणत्वेन पृथक्-पृथक् तत्त्वमेवेति कथयति जैनाचार्याः]

^४नन्वस्तु सर्वोत्तमरग्न्यन्तरोपादान एव ^५सर्वस्य सजातीयोपादानत्वव्यवस्थितेः । चेतनस्य
तु चेतनान्तरोपादानत्वनियमो न युक्तः, तस्य भूतोपादानत्वघटनात्, भूतचेतनयोः ^६सजातीय-
त्वात्तत्त्वान्तरत्वासिद्धेरिति चेन्न, ^७तयोर्भिन्नलक्षणत्वात्तत्त्वान्तरत्वोपपत्तेः, ^८तोयपावकयोरपि तत्^९
एव ^{१०}परैस्तत्त्वान्तरत्वसाधनात् । तथा हि । तत्त्वान्तरं भूताच्चैतन्यं, तद्भिन्नलक्षणत्वान्यथानु-
पपत्तेः । न तावदसिद्धो हेतुः क्षित्यादिभूतेभ्यो ^{११}रूपादिसामान्यलक्षणेभ्यः स्वसंवेदनलक्षणस्य

[भूतचतुष्टय एवं चेतन का लक्षण भिन्न-भिन्न होने से ये भिन्न तत्त्व हैं इस पर विचार]

चार्वाक—तो ठीक है सभी अग्नि भिन्न अग्निरूप उपादान कारण से ही होती है अतः उन सभी का उपादान सजातीय ही है ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए, किन्तु चेतन द्रव्य भिन्न चैतन्य रूप उपादान से होता है यह नियम ठीक नहीं है । वह चैतन्य तो भूतचतुष्टय के उपादान से उत्पन्न होता है । भूत से चैतन्य की उत्पत्ति होने से भूत और चैतन्य में सजातीयपना सिद्ध होता है अतः भूत और चैतन्य में भिन्न तत्त्व की सिद्धि नहीं होती है ।

जैन—यह ठीक नहीं है भूत और चैतन्य इन दोनों का भिन्न-भिन्न लक्षण पाया जाता है इसलिए भिन्न तत्त्व की सिद्धि होती है । आप चार्वाक ने भी जल और अग्नि का भिन्न-भिन्न लक्षण होने से उन्हें भिन्न-भिन्न तत्त्व माना है । तथाहि—

“चैतन्य तत्त्व भूत तत्त्व से भिन्न है क्योंकि उनके भिन्न-भिन्न लक्षणों की अन्यथानुपपत्ति पायी जाती है” यह ‘भिन्न लक्षणत्व’ हेतु असिद्ध भी नहीं है । रूप, रस, गंध स्पर्श रूप सामान्य लक्षण वाले पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु रूप चार भूतों से स्वसंवेदन रूप चैतन्य का भिन्न लक्षण सिद्ध ही है भूतचतुष्टय स्वसंवेदन लक्षण वाले नहीं हैं । क्योंकि हम और आप सभी अनेक ज्ञाता जनों के प्रत्यक्ष

१ प्रतिपक्षवाधितविषयोऽयं हेतुरिति चेन्न । विशादापन्नः परः बुद्धियुक्तः व्याहारादिकार्यदर्शनादित्यत्रापि तत्प्रसंगात् । अत्र बुद्धेरदृश्यत्वाददोष इति चेत्त्रापि तत् एव सोऽस्तु विशेषाभावात् । यथाज्ञानं चार्वाकेण ज्ञानस्यास्वसंवेदनतत्त्वोप-
गमात् । साध्यव्यावृत्तौ व्यतिरेको दृश्यत इति न मंतव्यं । समन्तरमेव ज्ञानस्य स्वसंवेदनस्य समर्थविषयमाणत्वात्
दि. प्र. । २ अदृश्यमुपादानं पुद्गलरूपं यस्य तस्य । ३ सोपादानत्वसाधनात् इति पा.—दि. प्र. । ४ चार्वाकः ।
५ कार्यस्य । ६ भूताच्चैतन्योत्पत्तिर्यतस्ततो भूतचैतन्ययोः सजातीयत्वम् । ७ भूतचैतन्ययोः—दि. प्र. । ८ भवतु
भिन्नलक्षणत्वं तथापि तत्त्वान्तरत्वं कुत इत्याह । (व्या० प्र०) ९ भिन्नलक्षणत्वात् । १० चार्वाकैः । ११ रूपरसगन्ध-
स्पर्शान्तः पुद्गलाः ।

चैतन्यस्य तद्भिन्नलक्षणत्वसिद्धेः । न हि भूतानि स्वसंवेदनलक्षणानि, अस्मदाद्यनेक^१प्रति-
पत्प्रत्यक्षत्वात्^२ । ^३यत्पुनः स्वसंवेदनलक्षणं तत्र ^४तथा प्रतीतं, यथा ज्ञानम्^५ । ^६तथा ^७च
भूतानि, तस्मान्न स्वसंवेदनलक्षणानि । अनेकयोगिप्रत्यक्षेण^८ सुखादिसंवेदनेन^९ व्यभिचारी हेतु-
रिति न शङ्कनीयम्, अस्मदादिग्रहणात्^{१०} ।

होते हैं और जो स्वसंवेदन लक्षण वाला है वह उस प्रकार हम लोगों के प्रत्यक्ष में नहीं आता है जैसे हम लोगों का अप्रत्यक्ष ज्ञान और उसी प्रकार भूतचतुष्टय प्रत्यक्ष है इसीलिए स्वसंवेदन लक्षण वाले नहीं हैं ।”

शंका—सुखादिसंवेदन अस्वसंवेदन लक्षण वाले होने पर भी अनेक योगी जनों के प्रत्यक्ष हैं इसलिए सुखादिसंवेदन से यह हेतु व्यभिचारी है ।

समाधान—ऐसी शंका आपको नहीं करनी चाहिए क्योंकि सुखादि संवेदन-सुखादि का ज्ञान हम लोगों के प्रत्यक्ष है ।

भावार्थ—चार्वाक का कहना है कि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन भूतचतुष्टयों से शरीर का निर्माण होता है उसी में आत्मा बन जाती है शरीर, मन, इन्द्रिय, ज्ञान और आत्मा सब भूत-चतुष्टय से निर्मित है । चैतन्य नाम का कोई भिन्न तत्त्व या द्रव्य नहीं है जो कि अनादि अनन्त काल तक स्थिर रहता हो । मतलब शरीर के जन्म के पहले और मरने के बाद आत्मा नाम की कोई चीज नहीं है ।

इस बात को सिद्ध करने के लिए चार्वाक ने बहुत ही युक्ति प्रत्युक्तियों के द्वारा अपना पक्ष पुष्ट किया है । उसका कहना है कि गोमय आदि से बिच्छू, कीचड़ आदि से कौड़े मकोड़े, केंचुयें आदि उत्पन्न होते देखे जाते हैं । वन में बाँसों के वर्षण से अग्नि उत्पन्न होती है उसमें जीवात्मा कहाँ से आया ? मेघों की गड़गड़ाहट, बिजली आदि का उपादान कारण क्या है ? इत्यादि में आत्मा रूप उपादान के बिना ही आत्मा उत्पन्न हो रही है अतः आत्मा भूतों से बनती है एवं भूतचतुष्टय और आत्मा एक तत्त्व है किन्तु भूतचतुष्टय परस्पर में भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं ।

इन सभी बातों को सुनकर जैनाचार्यों ने बहुत ही अच्छा और वास्तविक समाधान किया है । उन्होंने बतलाया है कि बिच्छू, कीट, मेंढक, केंचुयें आदि प्राणियों का शरीर यद्यपि गोमय, कीचड़ आदि भूतचतुष्टय से बना हुआ है फिर भी उनकी आत्मा अन्यत्र कहीं से तिर्यच गति और तिर्यच आयु

१ अस्मदादिप्रत्यक्षत्वात् । इति वा पाठः । एकप्रतिपत्प्रत्यक्षेण स्वसंवेदनेन व्यभिचारनिवृत्त्यर्थमनेकशब्दोपादानं । (व्या० प्र०) २ घटादिवत् इति अधिकः पाठः दि. प्र. । ३ अस्मदादिप्रत्यक्षाणि च तानि भूतानि तस्मान्न स्वसंवेदन-लक्षणानि इति वा पाठः—दि. प्र. । ४ अस्मदाद्यनेकप्रतिपत्प्रत्यक्षं न प्रतीतम् । ५ अस्मदाद्यप्रत्यक्षम् । ६ अस्मदा-द्यनेकप्रतिपत्प्रत्यक्षाणि सन्ति । ७ तथा च भूतानि च तानीति वा पाठः दि. प्र. । ८ बसः । (व्या० प्र०) ९ सुखादिसंवेदनस्यास्वसंवेदनलक्षणत्वेऽप्यनेकयोगिप्रत्यक्षत्वात् । १० अस्मदादिभिरपि प्रत्यक्षत्वादित्यर्थः ।

आदि कर्मों को बाँधकर उपादान रूप से यहाँ उत्पन्न हुई है। आत्मा और पुद्गल द्रव्य रूप भूत-चतुष्टय सर्वथा भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं। वन में जो अग्नि स्वयं लगती है उसमें भी बाँसों का परस्पर घर्षण आदि निमित्त है, किन्तु उपादानभूत आत्मा एकेन्द्रियजाति अग्निकायिक स्थावर आदि नाम कर्म को लेकर अग्निकाय में जन्मी है। माता-पिता के रजोवीर्य के सम्मिश्रण से जो जन्म होता है उसे गर्भ जन्म कहते हैं। उपपादशय्या से जो जन्म होता है उसे औषपादिक जन्म कहते हैं। तथा यत्र-तत्र से अपने योग्य पुद्गल परमाणुओं के एकत्रित हो जाने पर शरीर की रचना बनकर जो जन्म होता है उसे सम्मूर्छन जन्म कहते हैं।

एकेन्द्रिय से असंज्ञीपंचेन्द्रिय तक सभी प्राणियों का जन्म सम्मूर्छन जन्म ही है पंचेन्द्रिय तिर्यचों में कुछ प्राणी सम्मूर्छन जन्म वाले हैं जैसे मेंढक मत्स्य आदि। शेष सभी गर्भज हैं जैसे गाय, भैंस, हाथी, घोड़ा आदि। मनुष्यों में सभी मनुष्य गर्भज होते हैं एवं जो सम्मूर्छन मनुष्य होते हैं वे लब्ध-पर्याप्तक होते हैं तथा वे हमको और आपको देखते नहीं हैं। देव और नारकियों का जन्म उपपाद जन्म कहलाता है। इन तीनों प्रकार के जन्म को धारण करने वाली आत्मा एक स्वतन्त्र द्रव्य है कर्मों के निमित्त से जन्म मरण रूप संसार में संसरण करना पड़ता है। कर्मों से मुक्त होने के बाद इस आत्मा में पूर्ण आनंद, पूर्णज्ञान, अनंतशक्ति आदि अनंत गुण प्रगट होते हैं।

जब तक इस जीव को सम्यग्दर्शन प्रकट नहीं होता है तभी तक यह जीव द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव रूप पंचपरिवर्तन में परिभ्रमण करता रहता है। सम्यग्दर्शन के प्रगट होने के बाद ज्ञान और चारित्र्य की वृद्धि एवं पूर्णता से यह जीव पूर्ण शुद्ध हो जाता है अतः आत्मा और भूतचतुष्टय भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं ऐसा समझना चाहिये और पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायु ये भूतचतुष्टय पुद्गल की पर्याय होने से कथंचित् द्रव्यदृष्टि से एक ही तत्त्व हैं भिन्न-भिन्न नहीं हैं। इसलिये विपरीतमान्यता को छोड़कर आस्तिकवादी बनना ही उचित है।

चार्वाक मत के खंडन का सारांश

चार्वाक कहता है कि—

पुरुष के जन्मांतर से पहले आर मरण के पश्चात् भवांतर नाम की कोई वस्तु नहीं है क्योंकि गर्भ से लेकर मरण पर्यंत ही चैतन्य पाया जाता है अतः आकाशपुष्प के समान संसार तत्त्व सिद्ध नहीं है तथैव मोक्ष तत्त्व भी सिद्ध नहीं है।

भूतचतुष्टय से ही चैतन्य उपन्न होता है। अचेतन गोमय आदि से बिच्छू आदि उत्पन्न होते देखे जाते हैं। चैतन्य उपादान के बिना भी चैतन्य का होना सिद्ध ही है जैसे वन की अग्नि अरणि आदि के निर्मथन से उत्पन्न हो जाती है पुनः आगे-आगे की अग्नि पूर्व अग्नि के उपादान पूर्वक होती

है। तथा शब्द, बिजली आदि भी बिना उपादान के देखे जाते हैं। चैतन्य और भूत को भिन्न लक्षण मानकर भी आप भिन्नतत्त्व सिद्ध नहीं कर सकते क्योंकि कारणभूत महुआ, गुड़, आटा आदि में मद जनन शक्ति नहीं है तथा मदिरा परिणाम में मौजूद है अतः इन दोनों का लक्षण भिन्न है फिर भी एक तत्त्व हैं।

इस कथन पर जैनाचार्य उत्तर देते हैं कि “प्राणियों में आदि का चैतन्य पूर्व के उपादान कारण से ही उत्पन्न होता है क्योंकि चैतन्य की पर्याय है मध्य-युवावस्था की चैतन्य पर्याय के समान”। इस अनुमान से पूर्वोत्तर पर्यायों में चैतन्य स्वभाव की उपलब्धि होने से संसार तत्त्व सिद्ध ही है। अपने द्वारा उपार्जित कर्म के निमित्त से आत्मा को भवांतर की प्राप्ति होना इसीका नाम संसार है।

गोमय आदि अचेतन से बिच्छू का चैतन्य उत्पन्न नहीं हुआ है किन्तु उनसे शरीर बना है। तिर्यच गति विशेष नाम कर्म के उदय से आने वाला चैतन्य जीव ही बिच्छू का उपादान माना गया है। अतः भूतचतुष्टय से चैतन्य की उत्पत्ति मानना सर्वथा विरुद्ध है क्योंकि इन दोनों का लक्षण भिन्न-भिन्न ही है। रूप, रस, गंध, स्पर्श स्वरूप सामान्य लक्षण वाले पृथ्वी, जल, अग्नि वायु रूप भूत-चतुष्टय हैं। एवं चैतन्य का स्वसंवेदन रूप ज्ञान दर्शन लक्षण है, किन्तु आपने जो मदिरा की उत्पादक सामग्री से मदिरा में भिन्नपना कहा है सो भी ठीक नहीं है क्योंकि महुआ, गुड़ आदि कारणों में भी मद को उत्पन्न करने वाली मदिरा रूप परिणाम शक्ति विद्यमान है यदि सर्वथा उनमें मद को उत्पन्न करने की शक्ति न मानें तो मदिरा बनने पर भी मद जनन शक्ति नहीं आ सकेगी।

वन की प्रथम अग्नि को आपने अनग्नि पूर्वक कहा है वह भी सर्वथा असत्य है। कोई भी जीव किसी भी पर्याय से मरण कर अग्निकायिक नाम कर्म के उदय से अग्नि में जन्म लेता है इसलिये वांसादि के घर्षण से उत्पन्न हुई अग्नि भी अग्नि के उपादान पूर्वक ही है। तथैव शब्द, बिजली आदि के भी अदृश्य पुद्गल परमाणु उपादान कारण माने गये हैं अतः उनमें अपने सजातीय से ही उपादान उपादेय भाव देखा जाता है।



[ज्ञानमस्वसंविदितमस्तीति मान्यतायां जैनाचार्याः समादधते ।]

ज्ञानस्य स्वसंवेदनलक्षणत्वमसिद्धमिति चेन्न, बहिरर्थपरिच्छेदकत्वान्यथानुपपत्त्या¹ तस्य स्वसंवेदनलक्षणत्वसिद्धेः । यो ह्यस्वसंवेदनलक्षणः स न बहिरर्थस्य² परिच्छेदको दृष्टो, यथा घटादिरिति विपक्षे बाधकप्रमाणसद्भावात्सिद्धा हेतोरन्यथानुपपत्तिः । प्रदीपादिनानेकान्त³ इति चेन्न, तस्य⁴ जडत्वेन बहिरर्थपरिच्छेदकत्वासम्भवात्, ⁵बहिरर्थपरिच्छेदकज्ञानोत्पत्ति-कारणत्वात् प्रदीपादेर्बाह्यश्चक्षुरादेरिव⁶ परिच्छेदकत्वोपचारात् । न चोपचरितेनार्थपरिच्छेदकेन प्रदीपादिना मुख्यस्यार्थपरिच्छेदकत्वस्य हेतोर्व्यभिचारचोदनं विचारचतुरचेतसां कर्तुं मुचितम्, ⁷अतिप्रसङ्गात्⁸ ।

[ज्ञान अस्वसंविदित है इस मान्यता पर जैनाचार्य समाधान करते हैं]

शंका—ज्ञान का स्वसंवेदन लक्षण असिद्ध है ।

समाधान—नहीं । बाह्यपदार्थों को जानने की अन्यथानुपपत्ति होने से ज्ञान स्वसंवेदन लक्षण वाला सिद्ध है क्योंकि “जो अस्वसंवेदन लक्षण वाला है वह बाह्यपदार्थों का परिच्छेदक (जानने वाला) नहीं है । जैसे घटादि ।” इस प्रकार विपक्ष में बाधक प्रमाण का सद्भाव होने से हेतु की अन्यथानुपपत्ति सिद्ध ही है ।

शंका—प्रदीप आदि बाह्य पदार्थों के प्रकाशक भी हैं और अस्वसंविदित भी हैं । इसलिये प्रदीपादि से आपका हेतु अनैकांतिक है ।

समाधान—नहीं । प्रदीपादि के जड़पना (अचेतनपना) होने से बाह्य पदार्थों का जानना असंभव है, किन्तु बाह्यपदार्थों का परिच्छेदक जो ज्ञान है उस ज्ञान की उत्पत्ति में कारण होने से प्रदीपादि को बाह्य चक्षु आदि इन्द्रियों के समान ज्ञान कराने वाले हैं यह उपचार से ही माना है और “उपचरित रूप से अर्थ का ज्ञान कराने वाले प्रदीपादि से मुख्य रूप से पदार्थों का परिच्छेदकत्व हेतु व्यभिचारी है ।” विचारशील व्यक्तियों को ऐसा व्यभिचार दोष देना उचित नहीं है अन्यथा अतिप्रसंग हो जावेगा । अर्थात् अग्नि दहन शक्ति से युक्त है क्योंकि वह अग्नि रूप है । जो दहन शक्ति से युक्त नहीं होता है वह अग्नि नहीं होता है जैसे जलादि । बालक में किये गये अग्नि के उपचार से इस

1 ज्ञानं स्वसंवेदनलक्षणं, बहिरर्थपरिच्छेदकत्वान्यथानुपपत्तेः । 2 र्थपरिच्छेदको इति पा. (व्या० प्र०) 3 स हि बहिरर्थप्रकाशकश्चास्वसंविदितश्च । 4 अज्ञानरूपत्वेन । 5 तर्हि बहिरर्थपरिच्छेदकः प्रदीपादेरिति व्यवहारः कथमित्युक्ते आह । (व्या० प्र०) 6 यथा बहिश्चक्षुरादीन्द्रियस्योपचारात् प्रकाशकत्वं तथाप्रदीपादेरिव—दि. प्र. । 7 हेतोर्व्यभिचारोत्पादनं क्रियते यदि तदातिप्रसंगो भवति, मुख्यमुपचरितं । उपचरितं मुख्यं भवति—दि. प्र. । अग्निर्दहनशक्तियुक्तोऽग्नित्वात् व्यतिरेके जलवत् इत्यत्रोपचरितेन माणवकाग्निनाव्यभिचारप्रसंगात् । माणवके उपचरितस्याग्नेः दाहादिकार्याकारित्वे मुख्यस्याग्नेः कार्याकारित्वप्रसंगः । (व्या० प्र.) 8 अग्निर्दहनशक्तियुक्तो, अग्नित्वात् । व्यतिरेके जलादि । अत्रोपचरितेन माणवकाग्निनाव्यभिचारप्रसङ्गात् ।

[सुखं सुखस्य ज्ञानमपि कथञ्चित् पृथक्-पृथक् एव]

स्वरूपमात्रपरिच्छेदनव्यापृते^१ सुखादिज्ञाने बहिरर्थपरिच्छेदकत्वाभावात्पक्षाव्यापको^२ हेतुरिति चेन्न, ^३तस्यापि ^४स्वतो ^५बहिर्भूतसुखादिपरिच्छेदकत्वाद्बहिरर्थपरिच्छेदकत्व-
सिद्धेः ^६कुम्भादिवेदनस्यापि सर्वथा ^७स्वबहिर्भूतार्थपरिच्छेदकत्वानुपपत्तेः ^८सदाद्यात्मना
कुम्भादेः संवेदनादभेदप्रतीतेः^९, ^{१०}अन्यथा ^{११}तदसत्त्वप्रसङ्गात् । कथञ्चित्स्वबहिर्भूतत्वं ^{१२}तु
सुखादिसंवेदनात्सुखादेरपि प्रतीयत एव, सुखादितत्संवेदनयोः ^{१३}कारणादिभेदाद्भेदव्यव-
स्थितेः^{१४} । तर्हि घटादिज्ञानवत् सुखादिज्ञानस्यापि स्वबहिर्भूतार्थपरिच्छेदकत्वात्ततोऽन्यस्य^{१५}

अग्नित्व हेतु में व्यभिचार रूप अतिप्रसंग आता है मतलब बालक को भी अग्निरूप जलाने का कार्य करना चाहिये ।

[सुख और सुख का ज्ञान भी कथञ्चित् पृथक्-पृथक् ही है इस पर विचार]

शंका —स्वरूप मात्र के ज्ञान में व्यापार करने वाले सुखादि ज्ञान में बाह्य अर्थ को जानने का अभाव है अतः आपका हेतु पक्ष में अव्यापक है ।

समाधान—नहीं । वे सुखादि ज्ञान भी अपने से बहिर्भूत सुखादिक के परिच्छेदक (जानने वाले) हैं अतः वे बाह्य पदार्थ के परिच्छेदक हैं यह बात सिद्ध है अर्थात् यदि कोई कहे कि जिस प्रकार कुम्भादि ज्ञान बाह्य पदार्थों का परिच्छेदक है । उस प्रकार सुखादि ज्ञान बाह्य पदार्थों का परिच्छेदक नहीं है । यह भी ठीक नहीं है कुम्भादि ज्ञान भी सर्वथा अपने से बहिर्भूत पदार्थों के परिच्छेदक नहीं हैं । सत् (अस्तित्व) आदि के स्वरूप के साथ कुम्भादि पदार्थ का संवेदन (ज्ञान) से अभेद प्रतीत होता है । अर्थात् जैसे कुम्भादि पदार्थ सत् रूप हैं वैसे ही ज्ञान भी सत् रूप है अतः सत् की अपेक्षा पदार्थ से ज्ञान

१ ईप् । (व्या० प्र०) २ योग आह । हे स्याद्वादिन् । बहिरर्थपरिच्छेदकत्वान्यथानुपपत्तेरिति हेतुस्तव पक्षाव्यापकः कुतः ? यतः सुखादिज्ञानं स्वरूपं जानाति न तु बहिरर्थ इति चेन्न तस्यापि सुखादिज्ञानस्यापि स्वतः ज्ञानस्वरूपात् बहिरंगभूत सुखदुःखादिपरिज्ञानाद्बहिरर्थपरिच्छेदकत्वं सिद्धयति—दि. प्र. । ३ सुखादिज्ञानस्यापि स्वस्माद् ज्ञानाद्बहिर्भूतं सुखादि तस्य संवेदकत्वमिति बहिरर्थपरिच्छेदकत्वं सिद्धम् । ४ सकाशात् । (व्या० प्र०) ५ पृथग्भूत । (व्या० प्र०) ६ यथा कुम्भादिवेदनं बहिरर्थपरिच्छेदकं न तथा सुखादिसंवेदनमित्याशंकायामाह जैनः कुम्भादीति । ७ स्वस्मात् । (व्या० प्र०) ८ घटः सन् ज्ञानं सदिति सदात्मना । ९ कुम्भादिर्यथा सन् तथा ज्ञानमपि सत् । अतो न संवेदनाज्ज्ञानं सर्वथा भिन्नम् । १० ज्ञानाद् घटादिपदार्थस्य सत्त्वप्रमेयत्ववस्तुत्वस्वरूपेण भेदो नास्ति । अन्यथा भेदो भवति चेत्तदा तत्तयोः ज्ञानघटयोः असत्त्वमायाति—दि. प्र. । ११ तस्य कुम्भादेः । १२ 'तु' नास्ति । दि. प्र. । १३ सद्बोधोदयो हि सुखकारणं ज्ञानस्य तु ज्ञानावरणापगमादि इति कारणभेदः । १४ आदि-शब्देन स्वरूपभेदः । तथा चोक्तं—सुखमालहादनाकारं विज्ञानं मेयबोधनं । शक्तिः क्रियानुमेया स्याच्चूनः कांतासमागमे ॥ इति । सुखादेः कारणं वेदनीयकर्मोदयः तत्संवेदनस्य कारणं ज्ञानावरणक्षयोपशमादेः । अतः सुखादिज्ञानयोः कारणभेदाद्भेदोऽस्ति सत्तादिस्वरूपेणाभेदः । एवं सति कथञ्चिद् भेदाभेदात्मकं जातं स्याद्वादिनां । दि. प्र. । १५ स्वस्य विज्ञानस्यासम्भवात् ।

विज्ञानस्यासम्भवार्त्तिक स्वस्य संवेदकं ज्ञानं स्यादिति चेन्न, तस्यैव घटादिसुखादिज्ञानस्य स्वरूपसंवेदकस्य 'सतः परसंवेदकत्वोपगमात् स्वसंवेदनसिद्धेः, स्वपरव्यवसायात्मकत्वात् सर्व-वेदनस्य ।

सर्वथा भिन्न नहीं है । यदि ऐसा नहीं मानों तो कुंभादि सर्वथा असत् रूप हो जावेंगे परन्तु ऐसा है नहीं अतः सुखादि ज्ञान से सुखादि भी कथंचित् अपने से भिन्न ही प्रतीति में आते हैं क्योंकि सुख आदि और उनका संवेदन इन दोनों में कारण आदि के भेद से भेद पाया ही जाता है अर्थात् सुख का कारण सातावेदनीय का उदय है और उस सुख के ज्ञान का कारण ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम आदि हैं अतएव कारण के भेद से सुख और सुख के वेदन (ज्ञान) में भेद सिद्ध ही है ।

शंका—तो फिर घटादि के ज्ञान के समान सुखादि का ज्ञान भी अपने से बहिर्भूत पदार्थों का परिच्छेदक हो जाता है । पुनः बाह्य पदार्थ से भिन्न-जो स्वयं है उसका स्वयं का ज्ञान न होने से ज्ञान अपने आपका संवेदक (जानने वाला) कैसे होगा ?

समाधान—ऐसा नहीं है । वे ही घटादि के ज्ञान और सुखादि के ज्ञान अपने स्वरूप को जानने वाले होते हुये ही पर को जानने वाले होते हैं ऐसा स्वीकार किया गया है इसीलिये उन ज्ञानों में स्वसं-वेदनपना सिद्ध है क्योंकि सभी ज्ञान स्वपर व्यवसायात्मक ही माने गये हैं ।

भावार्थ—चार्वाक, मीमांसक और नैयायिक ये ज्ञान को आत्मा का गुण एवं स्वपर प्रकाशी नहीं मानते हैं । चार्वाक कहता है कि ज्ञान भूतचतुष्टय का गुण है ।

मीमांसक कहता है कि ज्ञान परोक्ष है पर पदार्थों को ही जानता है आत्मा को नहीं जानता अतः अस्वसंविदित है । नैयायिक कहता है कि ज्ञान स्वयं-स्वयं को नहीं जानता है अन्य ज्ञान के द्वारा ही स्वयं को जानता है किन्तु जैनाचार्य इन सभी का निराकरण करके ज्ञान को स्वपर प्रकाशी सिद्ध करते हैं क्योंकि जो स्वयं में जड़ है वह दूसरे को क्या जानेगा ?

इन लोगों का कहना है कि प्रदीप आदि कुछ ऐसे साधन हैं जो कि स्वयं को नहीं जानते हैं जड़ हैं फिर भी दूसरे पदार्थों का ज्ञान करा देते हैं । तब आचार्य ने इनको समझाया कि भाई ! ये अचेतन पदार्थ ज्ञान के साधन हैं यदि आत्मा का ज्ञान गुण जानने वाला न हो तो ये विचारे किकर्त्तव्यविमूढ़ सदृश पड़े रहेंगे, पत्थर को पदार्थों का प्रकाशन नहीं करा सकते हैं चेतन आत्मा ही अपने ज्ञान गुण से बाह्य दीपक आदि साधनों के द्वारा पदार्थों को जानती है । यह ज्ञान गुण जब तक आवरण कर्म से सहित है तभी तक इन्द्रिय, मन, प्रदीप, प्रकाश आदि बाह्य पदार्थों की अपेक्षा रखता है । जब आवरण से रहित केवलज्ञान बन जाता है तब स्वयं सारे लोकालोक को प्रकाशित कर देता है अतः ज्ञान स्व-पर प्रकाशी है यह बात सिद्ध है ।

[स्वात्मनि क्रियाविरोधात् ज्ञानं स्वं न जानाति अस्य विचारः क्रियते ।]

¹स्वात्मनि क्रियाविरोधान्न स्वरूपसंवेदकं ज्ञानमिति चेत् का² पुनः क्रिया स्वात्मनि विरुध्यते ? न तावद्धात्वर्थलक्षणा³, ⁴भवनादिक्रियायाः ⁵क्षित्यादिष्वभावप्रसङ्गात्⁶ । ⁷परिस्पन्दात्मिका क्रिया स्वात्मनि विरुद्धेति चेत्, कः पुनः क्रियायाः स्वात्मा ? क्रियात्मैवेति चेत् कथं तस्यास्तत्र विरोधः ? स्वरूपस्य विरोधकत्वायोगात् । ⁸अन्यथा सर्वभावानां⁹ स्वरूपविरोधान्निस्स्वरूपतानुषङ्गात् ।

[स्वात्मा में क्रिया का विरोध होने से ज्ञान स्वयं को नहीं जानता है इस पर विचार]

शंका—अपने में ही क्रिया का विरोध होने से ज्ञान स्वरूप संवेदक अर्थात् अपने को जानने वाला नहीं है ।

समाधान—यदि आप ऐसा कहते हैं तो यह बताइये कि कौन सी क्रिया अपने में विरुद्ध होती है धात्वर्थ लक्षण क्रिया या परिस्पन्दात्मक क्रिया ? धात्वर्थ लक्षण क्रिया तो अपने में विरुद्ध नहीं है अन्यथा भू—अस् आदि धातु की “होना” आदि क्रिया का पृथ्वी आदि में विरोध होने से उनके अभाव का प्रसंग आ जावेगा । अर्थात् “पृथ्वी अस्ति” पृथ्वी है इस वाक्य में अस्ति क्रिया का अपने रूप कर्ता में यदि विरोध होगा तो पृथ्वी का अभाव ही हो जावेगा । यदि आप कहें कि परिस्पन्दात्मक क्रिया का स्वात्मा में विरोध है तो पुनः क्रिया का स्वात्मा कौन है ? यदि कहें कि क्रिया की आत्मा (स्वरूप) ही स्वात्मा है तो उस क्रिया का उसमें कैसे विरोध होगा ? क्योंकि स्वरूप अपना विरोधी नहीं होता है । यदि स्वरूप भी अपना विरोधी होगा तो पुनः सम्पूर्ण पदार्थों का अपने-अपने स्वरूप से विरोध हो जाने से सभी पदार्थ निःस्वरूप—स्वरूप रहित हो जावेंगे एवं निःस्वरूप हो जाने से कोई भी पदार्थ सिद्ध नहीं होगा पुनः सर्वशून्य का प्रसंग आ जावेगा ।

दूसरी बात यह है कि विरोध के द्विष्टपना है अर्थात् विरोध दो वस्तुओं में ही होता है एक में नहीं इसलिए भी स्वात्मा में क्रिया का विरोध नहीं हो सकता । यदि आप कहें कि क्रिया जिसमें पाई जावे ऐसा क्रियावान् आत्मा क्रिया का स्वात्मा है तो फिर क्रियावान् में क्रिया का विरोध कैसे होगा ? क्रियावान् द्रव्य में ही तो सभी क्रियाओं की प्रतीति होती है अतः अविरोध सिद्ध ही है । यदि आप कहें कि क्रिया का अर्थ है करना, बनाना । इन अर्थवाली क्रियाओं का ही स्वात्मा में विरोध होता है तब तो ज्ञान स्वरूप को निष्पन्न करता है ऐसा हम जैनी तो मानते भी नहीं हैं जिससे कि विरोध हो सके अर्थात् विरोध नहीं है ।

भावार्थ—शंकाकार ज्ञान को स्वसंवेदक न मानते हुये ऐसा कहता है कि “स्वात्मनि क्रिया

- 1 खड्गे स्वात्मछेदनवत् । (व्या० प्र०) 2 धात्वर्थलक्षणा परिस्पन्दात्मिका वा उत्पत्तिलक्षणा वा इति विकल्पः—दि. प्र. ।
3 उत्पत्तिलक्षणा ज्ञप्तिलक्षणा परिस्पन्दात्मिकाऽपरिस्पन्दात्मिका वा—दि. प्र. । 4 अन्यथा । स्थान । (व्या० प्र०)
5 ज्ञानस्य क्षित्यादिबिबर्तत्वात् । (व्या० प्र०) 6 क्षितिर्भवति तिष्ठतीत्यादि । (व्या० प्र०) 7 उत्क्षेपणावक्षेपणादिरूपा । 8 स्वरूपस्यापि विरोधकत्वे । 9 भा । (व्या० प्र०)

विरोधस्य द्विष्टत्वाच्च¹ न क्रियायाः स्वात्मनि विरोधः² । ³क्रियावदात्मा⁴ क्रियायाः स्वात्मेति चेत्कथं तत्र विरोधः ? ⁵क्रियावत्येव सर्वस्याः क्रियायाः प्रतीतेरविरोधसिद्धेः । अथ क्रिया, करणं निष्पादनं⁶ स्वात्मनि विरुद्धमित्यभिमतं⁷ तर्हि न ज्ञानं स्वरूपं निष्पादयतीत्युच्यते⁸ येन ⁹विरोधः स्यात् । इत्यसिद्धः स्वात्मनि ¹⁰क्रियाविरोधः ¹¹स्वकारणविशेषा¹² त्रिष्वप्यमानस्य ज्ञानस्य स्वपर-प्रकाशनरूपत्वात् ¹³प्रदीपस्य स्वपरोद्द्योतनरूपत्ववत्¹⁴ । यथैव हि रूपज्ञानोत्पत्तौ प्रदीपः सहकारित्वाच्चक्षुषो रूपस्योद्द्योतकः कथ्यते¹⁵ तथा स्वरूपज्ञानोत्पत्तौ ¹⁶तस्य सहकारित्वात्स्वरूपोद्द्योतकोपि । ततो ज्ञानं स्वपररूपयोः परिच्छेदकं ¹⁷तत्राज्ञाननिवृत्तिहेतुत्वान्यथानुपपत्तेः¹⁸ ।

विरोधात्' स्वात्मा में क्रिया का विरोध है । जनाचार्यों ने तब प्रश्न किया कि धात्वर्थलक्षण क्रिया का विरोध है या परिस्पंदात्मक क्रिया का ?

प्रथम पक्ष लेने से पृथ्वी आदि पदार्थों में अस्तित्व आदि क्रियाओं का विरोध हो जाने से उनका अभाव हो जावेगा । यदि दूसरा पक्ष लेवें तो प्रश्न यह होता है कि क्रिया का स्वात्मा कौन है ? उत्तर में तीन विकल्प हो सकते हैं—क्रिया की आत्मा (स्वरूप) स्वात्मा, क्रियावान् आत्मा स्वात्मा या करना, बनाना आदि अर्थ रूप क्रिया स्वात्मा हैं ? पहले विकल्प में क्रिया का स्वरूप स्वात्मा मानने से स्वात्मा में विरोध नहीं हो सकता है क्योंकि किसी भी पदार्थ का अपने स्वरूप से विरोध नहीं होता है । दूसरे पक्ष में क्रियावान् द्रव्य में ही क्रिया पायी जाती है । द्रव्य को छोड़कर क्रिया नहीं रह सकती अतः विरोध नहीं है । तीसरे पक्ष में करने, बनाने रूप क्रिया को स्वात्मा में कोई भी नहीं मानते हैं तब विरोध की बात ही नहीं है । सारांश यह निकला कि ज्ञान रूप आत्मा में जानने रूप क्रिया का विरोध न होने से सभी ज्ञान स्वसंवेदी—अपने को जानने वाले हैं और पर को भी जानने वाले हैं ।

अतः स्वात्मा में क्रिया का विरोध असिद्ध है । ज्ञानावरण के क्षयोपशमरूप अपने-अपने कारण विशेष से उत्पन्न होता हुआ ज्ञान स्वपर प्रकाशक है जैसे दीपक स्वपर को उद्योतित करता है । जिस प्रकार रूपज्ञान की उत्पत्ति में दीपक सहकारी होने से चक्षु इन्द्रिय के रूप का प्रकाशक कहा जाता है उसी प्रकार दीपक अपने स्वरूप के ज्ञान को उत्पत्ति में भी सहकारी होने से अपने स्वरूप दीपक को भी प्रकाशित करता है इसलिये ज्ञान स्वपर का परिच्छेदक है अन्यथा अज्ञान को निवृत्ति हो नहीं

1 शीतोष्णश्रोत्रिव । (व्या० प्र०) 2 एकस्थत्वात् । (व्या० प्र०) 3 क्रियावतः पदार्थस्य स्वरूपं स्वशब्दस्य स्वकीयार्थत्वात् । (व्या० प्र०) 4 क्रियास्यास्तीति क्रियावान् । स चासौ आत्मा च क्रियावदात्मा । 5 द्रव्ये । 6 स्वस्य ज्ञानस्य स्वरूपे । (व्या० प्र०) 7 काकुः । (व्या० प्र०) 8 जैनैः । 9 अपि तु न । 10 ज्ञानं स्वरूपं निष्पादयतीति नोच्यते कुतः । (व्या० प्र०) 11 क्षयोपशमलक्षण । (व्या० प्र०) 12 आवरणक्षयोपशमादिविशेषात् । 13 तैलादि-स्वकारणनिष्पाद्यमानस्य । (व्या० प्र०) 14 प्रदीपस्य परप्रकाशनत्वमेव न स्वरूपप्रकाशकत्वं येन दृष्टांतः स्यादित्याशंकायामाह । (व्या० प्र०) 15 तथा प्रदीपः घट विशिष्टज्ञानोत्पत्तौ तस्य ज्ञानस्य सहकारित्वात् स्वरूपस्य घटविशिष्टज्ञानम्योद्योतको भवति—दि. प्र. । 16 तस्य ज्ञानस्य सहकारित्वात् । 17 स्वपररूपयोः । 18 स्वपर-रूपपरिच्छेदकत्वाभावे ।

[भूतचैतन्ययोर्लक्षणं पृथक् पृथमेव]

इत्यविरुद्धं पश्यामः स्वसंवेदनमन्तस्तत्त्वस्य^१ लक्षणं ^२भूतासम्भवीति भिन्नलक्षणत्वं ^३तयोः सिद्धयत्येव । तच्च सिध्यत्तत्त्वान्तरत्वं साधयति, ^४तच्चाऽसजातीयत्वम्^५ । ^६तदप्युपादानोपादेयभावाभाव^७, ^८तयोस्त^९प्रयोजकत्वात्^{१०} । तदेवं ^{११}भूतचैतन्ययोर्नास्त्युपादानोपादेयभावो^{१२}, विभिन्नलक्षणत्वात् । ^{१३}इति ^{१४}व्यापकविरुद्ध^{१५}व्याप्तोपलब्धिः^{१६}, ^{१७}उपादानोपादेयभावव्यापकस्य सजातीयत्वविशेषस्य विरुद्धेन तत्त्वान्तरभावेन ^{१८}व्याप्ताद्भिन्न-

सकती है क्योंकि स्वपर के ज्ञान करने में अज्ञान निवृत्ति रूप हेतु की अन्यथानुपपत्ति है ।

[भूत और चैतन्य का लक्षण पृथक्-पृथक् ही है ।]

इस प्रकार से स्वसंवेदन अंतस्तत्त्व (चैतन्य) का लक्षण है जो कि पृथ्वी आदि भूतों में असंभवी है । अतः भूतचतुष्टय और चैतन्य का भिन्न २ लक्षण सिद्ध ही होता है । इसमें हमें किसी भी प्रकार का विरोध नहीं दीखता है और वह भिन्न लक्षण सिद्ध होता हुआ दोनों को भिन्न-भिन्न तत्त्व ही सिद्ध करता है । वह भिन्न तत्त्व ही भूत और चैतन्य में असजातीयपने को सिद्ध कर देता है । असजातीयत्व हेतु भी उन दोनों में उपादान-उपादेय भाव के अभाव को सिद्ध करता है अतः उन दोनों भूत चैतन्य में अथवा उपादान-उपादेय भाव में वह सजातीयत्व ही प्रयोजक है । इस प्रकार “भूत और चैतन्य में उपादान-उपादेय भाव नहीं है क्योंकि वे विभिन्न लक्षण वाले हैं ।” इसलिये व्यापक से विरुद्ध व्याप्त की उपलब्धि हो रही है अर्थात् उपादान उपादेयभाव व्याप्य हैं, सजातीयपना व्यापक है, उस सजातीय से विरुद्ध जो भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं उससे “विभिन्न लक्षणत्व” हेतु व्याप्त है ऐसे हेतु की उपलब्धि हो रही है अतः विभिन्न लक्षणत्व हेतु व्यापक विरुद्ध व्याप्तोपलब्धि नाम से कहा जाता है । उसी को स्वयं आगे कहते हैं—

१ चैतनस्य । २ पृथिव्यादिषु । (व्या० प्र०) ३ भूतचैतन्ययोः । ४ तत् भूतचैतनयोर्भिन्नलक्षणत्वं सिद्धयतिः पाद्यमानं तत्त्वान्तरत्वं साधयति । तत् तत्त्वान्तरत्वं विजातीयत्वं साधयति । तत् विजातीयत्वं उपादानोपादेयभावं साधयति । तयोर्भूतचैतनयोः तस्योपादानोपादेयत्वाभावस्य साधकत्वात्—दि. प्र. । ५ तत्त्वान्तरत्वं च भूतचैतन्ययोर्सजातीयत्वं साधयति । ६ असजातीयत्वमपि । ७ साधयतीति संबन्धः । ८ भूतचैतन्ययोर्उपादानोपादेययोर्वा । ९ तत्सजातीयत्वं प्रयोजकं तयोरुपादानोपादेययोस्ते तथोक्ते तयोर्भावस्तस्मात् । (व्या० प्र०) १० तत् सजातीयत्वं प्रयोजकं ययोरिति वसः । ११ चैतनयोः इति पा.—दि. प्र. । भूतचैतनौ पक्षः उपादानोपादेयभावो भवत इति साध्यो धर्मः भिन्नलक्षणत्वात्—दि. प्र. । १२ भावोऽतिभिन्न—इति पा. । (व्या० प्र०) १३ निवर्तमानं सजातीयत्वं उपादानोपादेयत्वनिवर्तकमिति वचो भिन्नलक्षणत्वं तन्निवर्तयतीत्यनेन विरुद्धयते इत्याशङ्क्य विरोधं परिहरति । (व्या० प्र०) १४ साध्यस्य व्यापक । व्यापकविरुद्धेन तत्त्वान्तर भावेन व्याप्तात् भिन्नलक्षणत्वात् भूतचैतन्ययोर्उपादानोपादेयभावाभाव उपलभ्यते—दि. प्र. । १५ उपादानोपादेयभावस्य व्याप्यस्य व्यापकं यत्सजातीयत्वं ततो विरुद्धं तत्त्वान्तरत्वं तेन व्याप्तं विभिन्नलक्षणत्वं तस्योपलब्धिः । १६ विभिन्नलक्षणत्वादित्ययं हेतुर्व्यापकविरुद्ध-व्याप्तोपलब्धिः कथ्यते । तदेवाग्नेदर्शयति । १७ व्याप्य । हा । (व्या० प्र०) १८ व्याप्ता इति पाठान्तरम् ।

लक्षणत्वात्प्रतिषेध्याभावसाधनात्¹ । ²नह्यत्र सजातीयत्वविशेष³स्योपादानोपादेयभाव-⁴
व्यापकत्वमसिद्धं ⁵विजातीयत्वाभिमतयोः पयःपावकयोः सत्त्वादिना सजातीययोरपि ⁶तदनुपग-
मात् ⁷कथञ्चिद्विजातीययोरपि ⁸मृत्पिण्डघटाकारयोः⁹ पार्थिवत्वादिना विशिष्टसामान्येन
सजातीययोरुपादानोपादेयभावसिद्धेः ¹⁰कथं¹¹तर्हि¹²सजातीयत्वविशेषस्य तत्त्वान्तरभावेन विरोध
इति ¹³चेत्तत्त्वान्तरभूतयोस्तदनुपलम्भात्, ¹⁴पूर्वाकारपरित्यागा¹⁵ऽजहद्वृत्तो¹⁶तराकारान्वय¹⁷-
प्रत्यय¹⁸विषयस्योपादानत्वप्रतीतेः¹⁹, परित्यक्तपूर्वाकारेण द्रव्येणात्मसात्क्रियमाणोत्तराकारस्यो-
पादेयत्व²⁰निर्ज्ञानादन्यथा²¹ति²²प्रसङ्गात्²³ ।

उपादान उपादेय भाव व्यापक है, वह सजातीय विशेष है । उसके विरुद्ध भिन्न-भिन्न तत्त्व रूप से व्याप्त होने से यह “विभिन्न लक्षणत्व” हेतु प्रतिषेध्य (चैतन्य) के अभाव को सिद्ध करता है । यहाँ सजातीयत्व विशेष में उपादान-उपादेय भाव का व्यापकपना असिद्ध भी नहीं है क्योंकि विजातीय रूप से स्वीकृत जल और अग्नि में सत्त्वादि सामान्य धर्मों से सजातीयपना होने पर भी उपादान-उपादेय रूप व्यापकपना आपने नहीं माना है और जो कथञ्चित् विजातीय भी हैं ऐसे मृत्पिण्ड और घट के आकार में अर्थात् मृत्पिण्ड द्रव्य है और घट का आकार पर्याय है इस प्रकार द्रव्य और पर्याय की अपेक्षा से विजातीय होने पर भी पार्थिव आदि से विशिष्ट सामान्य धर्म की अपेक्षा से सजातीय भी हैं इस मृत्पिण्ड और घट आकार में उपादान-उपादेय भाव सिद्ध है ।

चार्वाक—पुनः सजातीय विशेष में तत्त्वान्तर भाव से विरोध क्यों है ?

जैन—विरोध इसलिए है क्योंकि भिन्न-भिन्न तत्त्व में वह उपादान उपादेय भाव नहीं पाया जाता है ।

[उपादान का लक्षण]

पूर्वाकार का परित्याग रूप व्यय और उत्तराकार का उत्पाद इन दोनों में अजहद्वृत्त (अपने

1 प्रतिषेधस्य चेतनस्याभावसाधनात् । 2 नन्वेवं तन्वादर्षटाद्याकारस्य चोपादानोपादेयभावः स्यात्, पार्थिवत्वादि-
विशिष्टसामान्यसद्भावाविशेषादिति न शङ्कनीयं, व्यापकस्य सजातीयत्वस्योपादानोपादेयाख्यव्याप्याभावेपि व्यवस्थाना-
विरोधात् “व्यापकं तदतन्निष्ठं व्याप्यं तन्निष्ठमेव च” इत्यादिवचनादित्याशयगर्भमाह नहीति । ‘भिन्नलक्षणत्व’ हेतौ ।
3 सजातीयमात्रं व्यापकं (व्या० प्र०) 4 उपादानोपादेयभावसाधनं प्रति । ता । (व्या० प्र०) 5 सत्त्वेन, प्रमेयत्वेन, वस्तुत्वेन
इत्यादिना लक्षणेन सजातीययोरपि तथापि विजातीयत्वेन अंगीकृतयोः जलानलयोः उपादानोपादेयभावश्चार्वाकैर्नाभी-
क्रियते । तथाऽऽमाभिभूतचेतनयोरुपादानोपादेयभावो नाभीक्रियते । दि. प्र. । 6 सजातीयत्वस्य उपादानोपादेयभाव-
व्यापकत्वानुपगमात् । 7 मृत्घटत्वप्रकारेण । 8 मृदघटाकारयोः इति पा. । (व्या० प्र०) 9 द्रव्यपर्याययोः ।
10 चार्वाकः । 11 पयःपावकयोः सत्त्वादिना सजातीयत्वमापादितं तर्हि विरोधः कथं स्यादित्याशंकायाभागे प्रत्युत्तर-
यति । (व्या० प्र०) 12 तर्हि कुत्र सजातीयत्वं वर्तते इत्याशङ्क्यअन्तर्गूढसजातीयत्वनिमित्तकमुपादानोपादेयभावमाह
आचार्यः । 13 जैनः 14 परित्यागो व्ययः पूर्वाकारपरि—इति पाठान्तरम् । 15 बसः । (व्या० प्र०) 16 द्रव्यस्य ।
(व्या० प्र०) 17 उत्पादरूपेण । 18 अन्वयः अनुवर्तनम् । 19 प्रत्ययो ज्ञानम् । 20 द्रव्यस्य । (व्या० प्र०)
20 पयःपावकयोरप्युपादानोपादेयभावो मास्तु ततः । 21 उक्तप्रकारस्योपादानोपादेयत्वप्रतीत्यभावे । 22 पयःपाव-
कयोरप्युपादानोपादेयत्वप्रसङ्गात् । (व्या० प्र०) 23 (मेचकादिषु चित्रज्ञानाभावप्रसङ्गात्) ।

[भिन्नलक्षणत्वहेतुभिन्नभिन्नतत्त्वेन कथं व्याप्तमिति प्रश्ने सति समाधानं]

कथं तत्त्वान्तरभावेन भिन्नलक्षणत्वं व्याप्तमिति चेत् ¹तदभावेनुपपद्यमानत्वात्² ।
³किण्वादिमदिरादिपरिणामयोरतत्त्वान्तरभावेऽपि भिन्नलक्षणत्वस्य⁴ दर्शनात्स्य⁵ तेना-
 व्याप्तिरिति चेन्न, ⁶तयोर्भिन्नलक्षणत्वासिद्धेः, किण्वादेरपि मदजननशक्तिसद्भावान्मदिरा-
 दिपरिणामवत् । सर्वथा मदजननशक्तिविकलत्वे हि किण्वादेर्मदिरादिपरिणामदशायामपि
 तद्वैकल्यप्रसङ्गः । ⁷नन्वेवं ⁸भूतान्तस्तत्त्वयोरपि भिन्नलक्षणत्वं मा भूत्, कायाकारपरिणत-
 भूतविशेषावस्थातः प्रागपि क्षित्यादिभूतानां चैतन्यशक्तिसद्भावादन्वयात् ⁹तदवस्थायामपि
 चैतन्योद्भूतिविरोधादिति न ¹⁰प्रत्यवस्थेयं, चेतनस्यानाद्यनन्तत्वप्रसिद्धेरात्म¹¹वादिनामिष्टप्रति-

मूल स्वभाव को न छोड़कर) होता हुआ अन्वयरूप से ज्ञान का विषयभूत पदार्थ है वही उपादान है ।
 क्योंकि पूर्वाकार को जिसने छोड़ दिया है ऐसे द्रव्य के द्वारा आत्मसात् (ग्रहण) किया गया जो
 उत्तराकार है उसे ही उपादेय स्वीकार किया गया है । यदि ऐसा न मानें तो अतिप्रसंग दोष
 आ जावेगा ।

[भिन्न लक्षणत्व हेतु भिन्न-भिन्न तत्त्व से व्याप्त है यह बात कैसे बनेगी ? इसका समाधान ।]

शंका—भिन्न तत्त्व के साथ भिन्न लक्षण की व्याप्ति कैसे है ?

समाधान—भिन्न तत्त्व के अभाव में भिन्न लक्षण भी नहीं पाया जाता है ।

चार्वाक—किण्वादि (मदिरा के लिए कारण भूत गुड़, आटा, महुआ आदि) और मदिरा परि-
 णाम इन दोनों में भिन्न तत्त्व का अभाव होने पर भी भिन्न लक्षणपना देखा जाता है अर्थात् कारणभूत
 गुड़ महुआ आदि में स्वतन्त्र रूप से मद को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है और मदिरा परिणाम में
 मदजनक शक्ति विद्यमान है अतः दोनों का लक्षण भिन्न-भिन्न पाया जाता है । इसलिये भिन्न
 लक्षणत्व हेतु की भिन्न तत्त्व के साथ अव्याप्ति है ।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते । किण्वादि और मदिरा में भिन्न लक्षण की असिद्धि है ।
 किण्वादिक (गुड़, महुआ, आटा) में भी मद को उत्पन्न करने की शक्ति का सद्भाव है, मदिरा आदि
 रूप से परिणत द्रव्य के समान । क्योंकि सर्वथा मद को उत्पन्न करने की शक्ति से रहित होने पर
 आटा, गुड़, महुआ आदि पदार्थ मदिरा रूप से परिणत अवस्था में भी मद को उत्पन्न करने की शक्ति
 से रहित हो जावेंगे ।

चार्वाक—पुनः इस प्रकार से भूत और अन्तस्तत्त्व (चैतन्य) में भी भिन्न लक्षण न होवे

1 तत्त्वान्तरभावाभावे । 2 भिन्नलक्षणत्वस्य । 3 चार्वाकः । किण्वादि, कारणरूपमिष्टगुडघातश्यादि । 4 मदशक्त्य-
 जनकत्वस्य मदशक्तिजनकत्वस्य च । 5 (भिन्नलक्षणत्वस्य तत्त्वान्तरभावेन सह) 6 किण्वादिमदिरादिपरिणामयोः ।
 7 (किण्वादेर्मदजननशक्तिसद्भावप्रकारेण । 8 (अन्तस्तत्त्वं हि चित्त) । 9 अन्यथा चैतन्यशक्त्यसद्भावे कायाकार-
 परिणत भूतविशेषावस्थामपि चैतन्योत्पत्तिविरुद्धते इत्युक्तवत्तं चार्वाकं प्रत्याह जैनः । इयं प्रतिकूलता न कितु
 अस्मदभीष्टसिद्धिः कस्मादात्मवादिनामभीष्टस्थापनात् । दि. प्र. । 10 न पूर्वपक्षीकरणीयं । (व्या० प्र०) 11 ता ।
 (व्या० प्र०)

ष्ठानात् । न चैवं चैतन्यं भूतविवर्तः, ¹क्षित्यादितत्त्वस्यापि ²तद्विवर्तन्वप्रसङ्गात्, अनाद्य³नन्त-
त्वाविशेषात् । ततो भिन्नलक्षणत्वं तत्त्वान्तरत्वेन व्याप्तं भूतचैतन्ययोस्तत्त्वान्तरत्वं साध्य-
त्येव । इति ⁴चैतन्यपरिणामोपादानं ⁵ एवाद्यचैतन्यपरिणामः ⁶प्राणिनामन्त्यचैतन्योपादेयश्च⁷
जन्मान्तराद्यचैतन्यपरिणामः सिद्धः⁸ ।

क्योंकि शरीराकार से परिणत भूत विशेषावस्था से पहले भी पृथ्वी, जल आदि भूतों में चैतन्य शक्ति का सद्भाव है । अन्यथा शरीराकार परिणत अवस्था में भी चैतन्य की उत्पत्ति का विरोध हो जावेगा ।

जैन—इस प्रकार नहीं कहना चाहिये क्योंकि चैतन्य के अनादि अनंतपना सिद्ध है और सभी आत्मवादियों को यह बात इष्ट है और इस प्रकार चैतन्यतत्त्व, भूतचतुष्टय की पर्याय नहीं है अन्यथा पृथ्वी आदि तत्त्व को भी चैतन्य की पर्याय का प्रसंग आ जावेगा क्योंकि दोनों में ही अनादि अनंतपना समान है । इसीलिये “भिन्न लक्षण” हेतु भिन्न तत्त्व से व्याप्त है और वह भूतचतुष्टय और चैतन्य को भिन्न-भिन्न तत्त्व सिद्ध ही करता है । इस प्रकार प्राणियों का आद्य चैतन्य परिणाम ही पूर्वं चैतन्य परिणाम (जन्म) के उपादान पूर्वक है और अन्त्य चैतन्य उपादेय है तथा अगले जन्म में जन्म के लिये मरण के बाद का चैतन्य ही उपादान रूप है उसे ही आद्य चैतन्य परिणाम कहते हैं यह बात सिद्ध हुई ।

भावार्थ—चार्वाक चैतन्य और भूतचतुष्टय को एक तत्त्व सिद्ध करने में लगा हुआ है । उसका कहना है कि भले ही जीव और भूत का लक्षण भिन्न-भिन्न हो फिर भी दोनों एक तत्त्व हैं । जैसे गुड़, महुआ, आटा आदि मदिरा के लिये साधनभूत पदार्थ हैं । इनमें मादक शक्ति नहीं है और सभी के सम्मिश्रण से इन्हीं का मदिरा रूप परिणमन होकर इनमें मादकता आ जाती है और पीने वालों को वह उन्मत्त बना देती है । पृथक्-पृथक् गुड़, महुआ या आटे की रोटी खाने वालों में ऐसा विकार या नशा नहीं होता है । अतः ये महुआ आदि पदार्थों का लक्षण भिन्न है और मदिरा का लक्षण भिन्न है फिर भी दोनों एक तत्त्व हैं वैसे ही यद्यपि आत्मा का लक्षण जानना देखना है और भूतचतुष्टय का लक्षण स्पर्श, रस, गंध, वर्ण रूप है फिर भी लक्षण भेद से ये दोनों पृथक् न होकर एक ही हैं ।

1 अन्यथा । (व्या० प्र०) 2 नन्वनादित्वाविशेषेऽपि चैतन्यं भूतविवर्तः शक्तित्वात् ननु क्षित्यादिस्तद्विवर्तः शक्तिमत्त्वात् । मदजननविवर्तो न तु मदिरादिस्तद्विवर्तः ततः क्षित्यादितत्त्वस्य तत्प्रसंगो न स्यादिति नाशंकनीयं । अभिप्राय-विशेषात् । अयं ह्यभिप्रायविशेषः प्राक्प्रपञ्चेन निरासकं समर्थितेन स्वसंवेदनाद्यभिन्नलक्षणत्वेन तत्त्वान्तरत्वं चैतन्यस्य व्यवस्थापितं । तथापि तस्य क्षित्यादिविवर्तत्वे क्षित्यादेरपि चैतन्यविवर्तत्वप्रसंगः स्यात् । न चैवं मदजनन-शक्तेर्मदिरादिविवर्तत्वे मदिरादिस्तद्विवर्तत्वप्रसंगः स्यात्तस्याभिन्नलक्षणत्वेन तत्त्वान्तरत्वासिद्धेरिति—दि. प्र. । 3 उभयत्रापि । 4 पूर्वचैतन्यमुपादानम् । 5 वसः । (व्या० प्र०) 6 ता । कार्यभूतः । (व्या० प्र०) 7 अन्त्यचैतन्य-स्योपादेयो भविष्यज्जन्माद्यचैतन्यपरिणामः । 8 एवं प्राक्तनचैतन्यस्योत्तरचैतन्यं प्रत्युपादानभावेऽपि कथं संसारः इत्याह । (व्या० प्र०)

इस पर आचार्य ने अच्छी तरह समझाया है कि भाई ! गुड़, महुआ, आटा आदि जड़ रूप अचेतन पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं और इनमें मदिरा बनने के पहले भी शक्ति रूप से मादकता विद्यमान है तभी सम्मिश्रण होने से मादकता आ जाती है अन्यथा यदि इनमें शक्ति ही नहीं होती तो मिलने पर भी वह कहाँ से प्रकट होती ।

जैनाचार्य तो दूध में घी को शक्ति रूप से एवं आत्मा में परमात्मा को शक्ति रूप से मानते हैं । देखो ! जन्म लेते ही बालक में बैरिस्टर, डाक्टर, इंजीनियर, मास्टर आदि की शक्ति विद्यमान है इसीलिये बड़ा होने पर निमित्त मिलने से बैसा बन जाता है । अतः आटा, महुआ आदि मदिरा से भिन्न तत्त्व नहीं हैं वे सभी अचेतन रूप ही हैं, किन्तु आत्मा सर्वथा ही इन भूत चतुष्टयों से विलक्षण ज्ञान दर्शन स्वरूप चेतन है । आश्चर्य इस बात का है कि यह चार्वाक भूत चतुष्टय में चारों को परस्पर में भिन्न-भिन्न मानता है और आत्मा एवं भूत चतुष्टय को एक सजातीय द्रव्य मानता है जबकि ये चारों ही भूतचतुष्टय पुद्गल की अपेक्षा सजातीय एक द्रव्य है एवं आत्मा इनसे भिन्न विलक्षण द्रव्य है । यह आत्मा अनादि अनंत है और मरण के बाद आगे गर्भावस्था में आने के लिए उपादान भूत है । जैसे कि जवानी अवस्था के चैतन्य में बाल्यावस्था का चैतन्य उपादान रूप है ऐसा समझना चाहिये ।



चार्वाक, मीमांसक और नैयायिक ज्ञान को स्वसंविदित नहीं मानते हैं उनके खंडन का सारांश

अस्वसंविदित ज्ञानवादी कहता है कि "ज्ञान स्वसंविदित नहीं है फिर भी बाह्य पदार्थों का प्रकाशक है जैसे कि दीपक आदि अस्वसंविदित होकर भी बाह्य पदार्थ के प्रकाशक देखे जाते हैं ।

जैनाचार्य कहते हैं कि प्रदीप आदि तो अचेतन हैं अतः बाह्य पदार्थ को जानने वाले नहीं हैं मात्र ज्ञान की उत्पत्ति में कारण हैं, किन्तु ज्ञान तो बाह्य पदार्थों को जानने वाला भी है और स्वसंवेदन लक्षण वाला है । सुखादि ज्ञान भी अपने से बहिर्भूत सुखादि के जानने वाले हैं कथंचित् वे भी बाह्य ही हैं ।

सुखादि सातावेदनीय के उदय से हुए हैं एवं ज्ञान ज्ञानावरण के क्षयोपशम से हुआ है अतः सुख और सुख का ज्ञान कथंचित् भिन्न ही हैं । एवं सभी ज्ञान स्वपर परिच्छेदक माने गये हैं ।

कोई कहे कि "स्वात्मनि क्रियाविरोधात्" नियम से ज्ञान स्व को कैसे जानेगा ? इस पर आचार्य प्रश्न करते हैं कि स्वात्मा में धात्वर्थ लक्षण क्रिया का विरोध है या परिस्पंदात्मक क्रिया का ? प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है कारण कि "पृथ्वी अस्ति" इत्यादि रूप से अस्तित्व आदि क्रिया का विरोध हो जाने से सभी का अस्तित्व ही समाप्त हो जावेगा ।

यदि दूसरा पक्ष लेवें तो क्रिया का स्वात्मा कौन है ? क्रिया का स्वरूप या क्रियावान् आत्मा अर्थात् करना, बनाना आदि अर्थ रूप क्रिया ? यदि क्रिया का स्वरूप कहें तो अपने स्वरूप का कोई विरोधी नहीं है । दूसरे पक्ष में भी क्रियावान् द्रव्य में ही क्रिया पाई जाती है । तीसरे पक्ष में करने, बनाने रूप क्रिया स्वात्मा में कोई भी मानते ही नहीं हैं । अतः ज्ञान रूप क्रिया का स्वात्मा में विरोध न होने से सभी ज्ञान स्वसंवेदी हैं यह बात सिद्ध हो जाती है ।

ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष से ज्ञान स्वपर प्रकाशक है प्रदीपादि के समान । तथा इस ज्ञान लक्षण से ही आत्म तत्त्व की सिद्धि हो जाने से संसार और मोक्ष एवं उनके कारण भी सिद्ध ही हो जाते हैं ।



^१पूर्वभवपरित्यागेन भवान्तरपरिग्रह एव च संसारः । इति प्रसिद्धेन^२ प्रमाणेन संसारतत्त्वं न ^३बाध्यते, ^४नानुमानेन, ^५नाप्यागमेन, तस्य तत्प्रतिपादकतया ^६श्रुतेः “संसारिणस्त्रसस्थावराः” इति वचनात् ।

[संसारस्य कारणभूततत्त्वानां का विचारः]

तथा संसारोपायतत्त्वमपि^७ न प्रसिद्धेन बाध्यते, प्रत्यक्षस्य तदबाधकत्वात् । निर्हेतुकः संसारोऽनाद्यनन्तत्वादाकाशवदित्यनुमानेन^८ तद्बाध्यते इति चेन्न, पर्यायाथदिशा^९संसारस्यानाद्यनन्तत्वासिद्धेः, दृष्टान्तस्यापि^{१०}साध्यसाधनविकलत्वाद्, ^{११}द्रव्याथदिशात्तु ^{१२}तस्य ^{१३}तथासाधने सिद्धसाध्यतानुषक्तेः । ^{१४}सुखदुःखादि^{१५}भावविवर्तन^{१६}लक्षणस्य^{१७} संसारस्य ^{१८}द्रव्यक्षेत्र

पूर्वभव का परित्याग करके भवांतर को ग्रहण करना ही संसार है । इस प्रकार प्रसिद्ध प्रत्यक्ष प्रमाण से संसार तत्त्व बाधित नहीं होता है तथा उपर्युक्त कथन की सिद्धि से अनुमान के द्वारा भी संसार तत्त्व बाधित नहीं है और न आगम से ही बाधित है क्योंकि आगम तो “संसारिणस्त्रसस्थावराः” इस प्रतिपादक रूप सूत्र से प्रसिद्ध ही है ।

[संसार के कारणभूत तत्त्वों का विचार]

तथा संसार के कारणभूत तत्त्व भी प्रसिद्ध प्रमाण से बाधित नहीं हैं क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण उन कारणों को सिद्ध करने में अबाधित रूप से पाया जाता है ।

शंका—“संसार निर्हेतुक है क्योंकि वह अनादि अनंत है जैसे आकाश ।” इस अनुमान से संसार के कारण बाधित हैं ।

समाधान—ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि पर्यायाधिक नय की अपेक्षा से संसार की अनादि अनन्तता असिद्ध है । और “आकाशवत्” यह दृष्टांत भी साध्य साधन विकल है । यदि आप द्रव्याधिक नय की अपेक्षा से कहें तो संसार अनादि अनंत ही है । अतः सिद्ध साध्यता का प्रसंग आता है और सुख दुःखादि भाव रूप परिणमन लक्षण वाला संसार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव रूप पाँच भेद विशेषों से सहेतुक ही प्रतीति में आ रहा है । अतः संसार को अहेतुक सिद्ध करने वाला आपका अनुमान निर्दोष नहीं है इसलिये संसार के कारण तत्त्वों का बाधक कोई भी अनुमान नहीं है तथा आगम भी उसका बाधक नहीं है क्योंकि आगम तो संसार के कारणों का साधक ही है । “मिथ्या-

१ स्वोपात्तकर्मवशात् । (व्या० प्र०) २ प्रत्यक्षेण । ३ पूर्व चार्वाकोपन्यस्तेनानुपलब्धिर्लिगजनितेन । (व्या० प्र०) ४ अनुपलब्धेरिति पूर्वोक्तचार्वाकानुमानेन । ५ प्रसिद्धप्रमाणेन । (व्या० प्र०) ६ श्रवणात् । (व्या० प्र०) ७ उपायः, कारणम् । ८ काल । (व्या० प्र०) ९ तरनारकादिकथनात् । (व्या० प्र०) १० पर्यायाधिकनयापेक्षया । ११ आत्म । (व्या० प्र०) १२ संसारस्य । १३ नित्यत्वेन । १४ यतः । ता बहुः । (व्या० प्र०) १५ भावः परिणामः । १६ भावपरिवर्तन इति पा० । (व्या० प्र०) १७ सुखदुःखादय एव भावाः परिणामास्तेषां विवर्तनं तदेव लक्षणं यस्य । १८ आत्म । (व्या० प्र०)

कालभावभव^१विशेषहेतुकत्वप्रतीतिश्च नाहेतुकसंसारसाधनानुमानमनवद्यम् । इति न किञ्चिदनुमानं संसारोपायतत्त्वस्य बाधकम् ।^२नाप्यागमः, तस्य तत्साधकत्वात् “मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः” इति वचनात्, बन्धहेतूनामेव संसारहेतुत्वात् । तदेवं मोक्षसंसारतत्कारणतत्त्वं भगवतोभिमतं प्रसिद्धेन प्रमाणेन युक्तिशास्त्राख्येनाबाध्यं सिध्यत्तद्वाचो युक्तिशास्त्राविरोधित्वं साधयति, ^३तच्च ^४निर्दोषत्वम् । इति त्वमेव स ^५सर्वज्ञो

दर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः” इस प्रकार सूत्र है, क्योंकि बन्ध के कारण ही संसार के कारण हैं ।

भावार्थ—यहाँ जनाचार्य संसार को सहेतुक सिद्ध करते हैं तब यह प्रश्न स्वाभाविक ही है कि जब संसार अनादि है तब कारणों से उत्पन्न हुआ कैसे होगा ? और कारणों से उत्पन्न नहीं होगा तब उस संसार का अन्त भी कैसे हो सकेगा ।

इस प्रकार प्रश्न होने पर आचार्य उत्तर देते हैं कि हम संसार को सर्वथा अनादि अनन्त नहीं मानते हैं क्योंकि हम स्याद्वादी हैं । कथञ्चित् द्रव्यदृष्टि से संसार अनादि अनन्त है एवं पर्यायाधिक नय की अपेक्षा से सादि सांत है । यद्यपि आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध अनादिकाल से ही है फिर भी उस कर्म बन्ध के कारण आत्मा के रागादि परिणाम हैं और रागादि परिणामों के लिये कारणभूत वह कर्म का उदय है अतः यह पंच परिवर्तन रूप संसार सहेतुक ही है और जब सहेतुक है तब इसके हेतुओं का नाश करने से संसार का भी नाश हो जाता है । संसार के हेतु मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग अथवा मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र हैं ।

संसार का यह नाश कतिपय भव्य जीवों की अपेक्षा ही कहा गया है क्योंकि संसार में इतनी जीव राशि है कि जिसमें से अनन्तान्त काल से अनन्तान्त जीव मोक्ष को प्राप्त कर चुके हैं और भविष्य में भी अनन्तान्त जीव मोक्ष जाते रहेंगे फिर भी आगामी अनन्तान्त काल तक भी जीवराशि कम नहीं होगी, न सिद्धों में वृद्धि की ही समस्या आवेगी क्योंकि यदि अनन्त का भी अन्त हो जावे फिर वह अनन्त कैसे कहा जावेगा । अतः यह संसार अहेतुक नहीं है और न केवल स्वयं की भूल से ही है यह तो कर्मोदय निमित्तक भी है और मिथ्या, अविरति आदि निमित्तक भी है ।

प्रत्येक कार्यों के लिये अनेक कारण होते हैं । द्रव्य कर्मों का उदय और मिथ्या, अविरति आदि रूप परिणाम ये दोनों ही कारण संसार के कारण हैं । यहाँ जो दिखता है उसे ही संसार नहीं समझना, प्रत्युत जो भवांतर की प्राप्ति है वह संसार है इसीलिये “संसरणं संसारः” यह व्युत्पत्ति अर्थ सार्थक है ।

इस प्रकार भगवान् के द्वारा प्रतिपादित मोक्ष, संसार एवं उन दोनों के कारणभूत तत्त्व

१ द्रव्यश्रेत्रकालभावभवभेदात्पञ्चधा संसारः । २ प्रसिद्धप्रामाण्यः । (व्या० प्र०) ३ युक्तिशास्त्राविरोधित्वम् । ४ साधयतीत्यध्याहार्य पदम् । ५ साधितः सत् । (व्या० प्र०)

वीतरागश्च स्तोतुं युक्तो नान्य¹ इत्युच्यते ।

[दूरवर्तिपदार्था यस्य प्रत्यक्षाः संति सोर्हन् भवानेव]

विप्रकर्ष्यपि भिन्नलक्षणसम्बन्धित्वादिना³ कस्यचित्प्रत्यक्षं सोत्र भवानर्हन्नेव⁴* ।
 दृश्यलक्षणाद्भिन्न⁶लक्षणमदृश्यस्वभावस्तत्सम्बन्धित्वेन विप्रकर्षि परमाण्वादिकम्⁷ । तथा
 वर्तमानात्कालाद्भिन्नः कालोतीतोनागतश्च, तत्सम्बन्धित्वेन रावणशङ्खादि⁸ । तथा
 दर्शनयोग्याद्देशाद्भिन्नदेशो⁹ऽनुपलब्धियोग्यस्तत्सम्बन्धित्वेन¹⁰मकराकरादि । तद्भिन्न-
 लक्षणसम्बन्धित्वादिना¹¹ स्वभावकालदेशविप्रकर्ष्यपि¹² कस्यचित्प्रत्यक्षं साधितम् । सोत्र¹³
 भवानर्हन्नेव, न पुनः कपिलादय इति । एतत्कुतो निश्चितमिति चेत्, ¹⁴अन्येषां न्यायागम-
 विरुद्धभाषित्वात् * । ये न्यायागमविरुद्धभाषिणस्ते न निर्दोषा यथा ¹⁵दुर्वेद्यादयः, तथा चान्ये

भगवान् के इष्ट तत्त्व हैं जो की प्रसिद्ध प्रमाण से एवं युक्ति और शास्त्र से अबाधित रूप सिद्ध होते हुए भगवान् के वचनों की युक्ति शास्त्र से अविरोधी ही सिद्ध करते हैं एवं युक्ति-शास्त्र से अविरोधी-पना ही भगवान् के निर्दोषत्व को सिद्ध करता है । इसलिये हे भगवन् ! वे निर्दोष सर्वज्ञ वीतराग आप ही स्तवन करने योग्य हैं अन्य बुद्ध कपिल आदि नहीं है इस प्रकार कहा जाता है ।

[दूरवर्ती पदार्थ जिसके प्रत्यक्ष हैं वे अर्हत आप ही हैं]

भिन्न लक्षण सम्बन्धी आदि रूप से विप्रकर्षी भी पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष हैं यहाँ वे अर्हत भगवान् आप ही हैं ।

दृश्य लक्षण (घटादि) से जिनका लक्षण भिन्न है ऐसे अदृश्य स्वभाव वाले पदार्थ अर्थात् अदृश्य स्वभाव सम्बन्धी विप्रकर्षी (परोक्ष-दूरवर्ती) पदार्थ परमाणु आदिक हैं एवं पिशाचादिक स्वभाव विप्रकृष्ट हैं । तथा वर्तमान काल से भिन्न अतीत और अनागत काल हैं उन सम्बन्धी रावण, शंख, चक्रवर्ती आदिक काल विप्रकृष्ट हैं तथैव देखने योग्य देश से भिन्न देश, अनुपलब्धि योग्य हैं तत्सम्बन्धी अर्थात् उन दूर देश सम्बन्धी लवण समुद्र आदि देश विप्रकृष्ट हैं । उस दृश्य से भिन्न लक्षण सम्बन्धी आदि रूप स्वभाव से, काल से एवं देश से विप्रकर्षी—दूरवर्ती भी पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष हैं यह सिद्ध किया है इस विषय में वे अर्हत आप ही हैं, न कि बुद्ध कपिलादिक ।

यह निश्चय आपने कैसे किया ? ऐसा प्रश्न होने पर अन्य सभी न्याय और आगम से विरुद्ध बोलने वाले हैं । "जो न्याय और आगम से विरुद्ध बोलने वाले हैं वे निर्दोष नहीं हैं जैसे दुर्वेद्य आदि ।

1 बुद्धादिः । 2 मया । भट्टकलंकदेवैः—दि. प्र. । 3 काल देश । (व्या० प्र०) 4 भगवानिति पाठान्तरम् ।
 5 घटादेः । 6 घटादेः । (व्या० प्र०) 7 आदिशब्देन पिशाचादि । 8 शङ्खः, शङ्खचक्रवर्ती । 9 देशांतरं ।
 (व्या० प्र०) 10 विप्रकर्षि । 11 च इति पाठोधिकः । दि. प्र. । 12 दूरतामापन्नमपि । 13 जगति । (व्या० प्र०)
 14 कपिलादीनां—दि. प्र. । 15 कपिलादयः पक्षः न भवतीति साध्यो धर्मः, न्यायागमविरुद्धभाषित्वात् । ये
 न्यायागमविरुद्धभाषिणस्ते न निर्दोषाः दुर्वेद्यदुर्नमित्तिकादयः न्यायागमविरुद्धभाषिणश्चैते तस्मान्न निर्दोषाः—दि. प्र. ।

कपिलादय इत्यनुमानान्न्यायागमाविरुद्धभाषिण एव भगवतोर्हतो निर्दोषत्वमवसीयते । न चात्र न्यायागमविरुद्धभाषित्वं^१ कपिलादीनामसिद्धं, तदभिमतस्य मोक्षसंसारतत्कारणतत्त्वस्य प्रसिद्धेन प्रमाणेन बाधनात् ।

[सांख्याभिमतमोक्षस्य निराकरणं]

तत्र कपिलस्य ^२तावत्स्वरूपे चैतन्यमात्रेवस्थानमात्मनो मोक्ष इत्यभिमतं^३ तत्प्रमाणेन बाध्यते, चैतन्यविशेषेनन्तज्ञानादौ स्वरूपेवस्थानस्य मोक्षत्वसाधनात्^४ । न ह्यनन्तज्ञानादिकमात्मनोऽस्वरूपं, ^५सर्वज्ञत्वादिविरोधात् । ^६प्रधानस्य सर्वज्ञत्वादि स्वरूपं, नात्मन इति चेन्न, तस्या^७चेतनत्वादाकाशवत् । ^८ज्ञानादेरप्य^९चेतनत्वादचेतनप्रधानस्वभावत्वं युक्तमेवेति

उसी प्रकार से न्याय-आगम से विरुद्ध बोलने वाले अन्य कपिल आदि हैं ।” इस अनुमान से न्यायागम-युक्ति और आगम से अविरुद्ध भाषी होने से ही भगवान् अर्हत निर्दोष हैं यह निश्चित होता है ।

यहाँ कपिलादि न्याय-आगम से विरुद्ध भाषी हैं यह बात असिद्ध भी नहीं है क्योंकि उनके द्वारा अभिमत मोक्ष, संसार और उन-उनके कारण तत्त्वों में प्रसिद्ध प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधा आती है ।

[सांख्य द्वारा मान्य मोक्ष का खण्डन]

सांख्य—अपने चैतन्य मात्र स्वरूप में आत्मा का अवस्थान हो जाना ही मोक्ष है अर्थात् प्रकृति और पुरुष का भेद विज्ञान होने से प्रकृति की निवृत्ति हो जाने पर पुरुष का सुषुप्त पुरुषवत् अव्यक्त चैतन्य उपयोग रूप से स्वरूप में अवस्थान हो जाना ही मोक्ष है ।

जैन—आपका यह अभिमत भी प्रमाण से बाधित है क्योंकि हम जैनों के यहाँ चैतन्य विशेष अनन्तज्ञान आदि रूप स्वरूप में अवस्थान होने को मोक्ष सिद्ध किया है । एवं अनन्तज्ञान आदि आत्मा के स्वरूप नहीं हैं ऐसा नहीं कह सकते, अन्यथा सर्वज्ञत्व आदि का विरोध हो जावेगा ।

सांख्य—सर्वज्ञत्व आदि प्रधान का स्वरूप है आत्मा का नहीं है ।

जैन—ऐसा नहीं कहना क्योंकि प्रधान अचेतन है आकाश के समान ।

सांख्य—ज्ञानादि भी अचेतन हैं अतः उन्हें अचेतन रूप प्रधान का स्वभाव मानना युक्त ही है ।

जैन—यदि ऐसा आपका कथन है तो यह बताइये कि आप किस प्रमाण से ज्ञानादि को

१ विरुद्धत्वं इति पा.—दि. प्र. । २ भावस्वरूपे इति पा.—दि. प्र. । ३ प्रकृतिपुरुषयोर्भेदविज्ञानात् प्रकृतिनिवृत्तौ पुरुषस्य सुषुप्तपुरुषवदध्यक्तचैतन्योपयोगेन स्वरूपमात्रावस्थानलक्षणो मोक्ष इति सांख्याभिमतम् । ४ जैनैः । ५ अन्यथा । (व्या० प्र०) ६ अकर्त्ता निर्गुणो शुद्धो नित्यः सर्वगतोऽक्रियः । अमूर्त्तश्चेतको भोक्ता ह्यात्मा कपिल-शासने ॥ (व्या० प्र०) ७ तेषां ज्ञानादीनां अचेतनत्वं कस्मादिति स्याद्वादी पृच्छति । पर आह । ज्ञानादयः पक्षः अचेतना भवंतीति साध्यो धर्मः उत्पत्तिमत्त्वात् । ये उत्पत्तिमन्तस्ते अचेतना यथा घटादयः । उत्पत्तिमन्तश्चेमे तस्माद-चेतना भवंति । आह जैनः उत्पत्तिमत्त्वादिति हेतोरनुभवेन कृत्वा व्यभिचारो घटते । कस्मात् ? यतः अनुभवस्य चेतनत्वेऽप्युत्पत्तिमत्त्वं दृश्यते—दि. प्र. । ८ सांख्यः । ९ दर्शनादि । (व्या० प्र०)

चेत् 'कृतस्तदचेतनत्वसिद्धिः ? अचेतना ज्ञानादय उत्पत्तिमत्त्वाद् घटादिवदित्यनुमानादिति चेन्न हेतोरनुभवेन^२ व्यभिचारात्, तस्य चेतनत्वेऽप्युत्पत्तिमत्त्वात् । कथमुत्पत्तिमाननुभव इति^३चेत्परापेक्षत्वाद् बुद्ध्यादिवत् । परापेक्षोसौ^४ बुद्ध्यध्यवसायापेक्षत्वात् "बुद्ध्यध्यवसितमर्थ^५ 'पुरुषश्चेतयते" इति^७वचनात् । बुद्ध्यध्यवसितार्थानपेक्षत्वेनुभवस्य सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य पुंसोनुभवप्रसङ्गात् सर्वस्य सर्वदर्शित्वापत्ते^८स्तदुपायानुष्ठानवैयर्थ्यमेव स्यात् । यदि पुनरनुभवसामान्यमात्मनो नित्यमनुत्पत्तिमदेवेति^९मतं तदा ज्ञानादिसामान्यमपि नित्यत्वादनुत्पत्तिमद्भवेदित्यसिद्धो^{१०} हेतुः^{११} । ज्ञानादिविशेषाणामुत्पत्तिमत्त्वान्नासिद्ध इति चेत्तर्ह्यनुभववि-

अचेतन सिद्ध करते हैं ?

सांख्य—“ज्ञानादि अचेतन हैं क्योंकि वे उत्पत्तिमान् हैं घटादि के समान ।” इस अनुमान से ज्ञान आदि अचेतन सिद्ध हैं ।

जैन—यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि आपका हेतु अनुभव के साथ व्यभिचारी है । वह अनुभव चेतन होने पर भी उत्पत्तिमान् है ।

सांख्य—अनुभव उत्पन्न होने वाला कैसे है ?

जैन—यह अनुभव पर की अपेक्षा रखता है इसलिये उत्पत्तिमान् है जैसे बुद्धि पर की अपेक्षा रखती है अतः उत्पत्तिमान् है । यह साक्षात्कार लक्षण वाला अनुभव पर की अपेक्षा वाला है क्योंकि बुद्धि के अध्यवसाय (निश्चय) की अपेक्षा रखता है । “बुद्धि के द्वारा निश्चित हुये पदार्थ को पुरुष जानता है”—इस वचन से जाना जाता है । यदि अनुभव बुद्धि से निश्चित पदार्थ की अपेक्षा न रखे तो सभी जगह सभी काल में सभी पुरुष के अनुभव का प्रसंग आ जावेगा । पुनः सभी सर्वदर्शी (सर्वज्ञ) हो जावेंगे और फिर सर्वज्ञ बनने के लिये उपायों के अनुष्ठान व्यर्थ ही हो जावेंगे ।

सांख्य—आत्मा का जो अनुभव सामान्य है वह नित्य है उत्पत्तिमान् नहीं है ।

जैन—यदि आपका यह मत है तब तो ज्ञानादि सामान्य भी नित्य होने से उत्पत्तिमान् न होंगे । अतः आपका “उत्पत्तिमान्” हेतु असिद्ध हो जाता है ।

सांख्य—आप जैन के यहाँ ज्ञानादि सामान्य भले ही उत्पत्तिमान् न हों किन्तु ज्ञानादि विशेष तो उत्पत्तिमान् ही हैं । अतः हमारा हेतु असिद्ध नहीं है ।

1 सिद्धान्ती । पृच्छति । 2 पुरुषस्य बुद्धिप्रतिबिम्बतार्थदर्शनमनुभवः । 3 जैनः । 4 साक्षात्करणलक्षणोनुभवः । 5 प्रतिबिम्बितं निश्चितं वार्थम् । 6 जानाति । 7 इंद्रियाध्यर्थमालोचयति तदालोचितं मनः संकल्पयति तत्संकल्पितमहंकारोऽभिमन्यते तदभिमतं बुद्धिरध्यवस्यति तदध्यवसितं च पुरुषश्चेतयते इति सांख्यमतक्रमः । (व्या० प्र०) 8 तस्य सर्वदर्शित्वस्योपायानां कारणानां ध्यानमौनादीनामनुष्ठानस्य वैयर्थ्यम् । 9 सांख्यस्य । 10 भवत्यसिद्धो इति वा.—दि. प्र. । 11 उत्पत्तिमत्त्वादिति ।

शेषाणामप्युत्पत्तिमत्त्वादनै^१कान्तिकोसौ कथं न स्यात् ? नानुभवस्य विशेषोः सन्तीति^२चायुक्तं,
^३वस्तुत्वविरोधात् । तथा हि । नानुभवो वस्तु, सकलविशेषरहितत्वात् खरविषाणवत्^४ ।
^५नात्मनानेकान्तः, तस्यापि सामान्यविशेषात्मकत्वादन्यथा तद्वदवस्तुत्वापत्तेः । कालात्ययाप-
 दिष्टश्चायं^६ हेतुः, ज्ञानादीनां स्वसंवेदनप्रत्यक्ष^७त्वाच्चेतनत्वप्रसिद्धेरध्यक्षबाधितपक्षानन्तरं
 प्रयुक्तत्वात् ।

जैन—तो अनुभव विशेष भी तो उत्पत्तिमान् ही हैं अतः आपका हेतु अनैकांतिक क्यों नहीं हो जावेगा ? अर्थात् अनुभव उत्पत्तिमान् होते हुये भी चेतन है इसलिये आपका 'उत्पत्तिमान्' हेतु अनुभव में चले जाने से अनैकांतिक हो जाता है ।

सांख्य—अनुभव में विशेष है ही नहीं ।

जैन—यह कथन ठीक नहीं है अन्यथा वस्तुत्व का विरोध हो जावेगा । तथाहि "अनुभव कोई वस्तु नहीं है क्योंकि वह सम्पूर्ण विशेषों से रहित है गधे के सींग के समान ।" अर्थात् विशेष रहित सामान्य खर विषाण के समान असत् ही है ।

सांख्य—आत्मा सकल विशेष से रहित होने पर भी वस्तु है । इसीलिये यह हेतु आत्मा के साथ व्यभिचारी है ।

जैन—नहीं, आत्मा के साथ भी यह हेतु अनैकांतिक नहीं है । आत्मा भी सामान्य विशेषात्मक वस्तु है अन्यथा अनुभव के समान वह अवस्तु हो जावेगी । आपका "उत्पत्तिमत्त्वात्" यह हेतु कालात्य-यापदिष्ट भी है क्योंकि ज्ञानादिक स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष होने से चेतन रूप प्रसिद्ध है और आपका यह हेतु प्रत्यक्ष से पक्ष के बाधित हो जाने पर प्रयुक्त किया गया है अतः कालात्ययाप-दिष्ट है ।

भावार्थ—जिस प्रकार से यहाँ सांख्य के द्वारा मान्य मोक्ष का लक्षण बताया है वैसे ही

१ (अनुभवस्योत्पत्तिमत्त्वेपि चेतनत्वादनैकान्तिकत्वं हेतोः, विपक्षेपि हेतुदर्शनात्) । २ वायुवत् इति पा. । लोके अनुभवस्य विशेषो न संति हे सांख्य ! इति त्वदीयवचः अयुक्तं कस्मात् वस्तुत्वविरोधात् । अनुभवस्य विशेषाभावे वस्तुत्वं न घटते । तर्हि अनुमानत्वेन यः अनुभवः पक्षः वस्तु न भवतीति साध्यो धर्मः सकलविशेषरहितत्वात् खरविषाणवत् अत्राह परः । सकलविशेषरहितत्वात् अयं हेतुः आत्मना कृत्वा व्यभिचारी कोऽर्थः विशेषरहितोऽप्यात्मा वस्तिवति । इति सांख्यमतं । अत्राहार्हतः । हे सांख्य ! मम हेतोः आत्मना व्यभिचारो न । तस्यात्मनः सामान्य-विशेषात्मकत्वात् अन्यथा सामान्यविशेषात्मकत्वाभावे आत्मनः अवस्तुत्वं संभवति—दि. प्र. । ३ निविशेषं हि सामान्यं भवेत् खरविषाणवदिति वचनात् । ४ निविशेषं हि सामान्यं भवेत् खरविषाणवत् । सामान्यरहितत्वाच्च विशेषसतद्भवे हि ॥*इत्युक्तत्वात् । (व्या० प्र०) ५ (आत्मनः सकलविशेषरहितत्वेपि वस्तुत्वादनैकान्त इति चेन्न) । ६ उत्पत्तिमत्त्वादिति । ७ प्रत्यक्षाच्चेतनेति वा पाठः । (व्या० प्र०)

[चेतनसंसर्गादचेतना अपि ज्ञानादयः चेतनत्वेन प्रतीयन्ते इति सांख्यमान्यतायाः निराकरणं]

अथ¹ ²चेतनसंसर्गादचेतनस्यापि ज्ञानादेश्चेतनत्वप्रतीतिः ³प्रत्यक्षतो भ्रान्तैव⁴ । ⁵तदुक्तं

भट्टाकलंकदेव ने तत्त्वार्थराजवार्तिक ग्रन्थ में भी बताया है । यथा—

“गुणपुरुषांतरोपलब्धौ प्रतिस्वप्नलुप्तविवेकज्ञानवत् अनभिव्यक्तचेतन्यस्वरूपावस्था मोक्षः”
गुण—प्रकृति और पुरुष—आत्मा इन दोनों का भेद विज्ञान हो जाने पर सुप्तावस्था में लुप्त हुये विवेक ज्ञान के समान चैतन्य स्वरूप की प्रकटता के न होने रूप अवस्था का हो जाना ही मोक्ष है अर्थात् सामान्य चैतन्य मात्र में अवस्थान हो जाना मोक्ष है ऐसी उसकी कल्पना है ।

सांख्य का कहना है कि ज्ञान तो प्रकृति का धर्म है, प्रकृति से भेद हो जाने के जाने के बाद आत्मा से ज्ञान का अस्तित्व समाप्त हो जाता है, आत्मा ज्ञान शून्य हो जाती है । आत्मा का स्वरूप अचेतन है जैसे कि आकाशादि अचेतन प्रसिद्ध है ।

इस बात पर जैनाचार्यों ने ज्ञानादि को चेतन एवं आत्मा के गुण सिद्ध करने का प्रयत्न किया है । इस पर पुनः सांख्य का कहना है कि ज्ञान, सुख आदि उत्पन्न होते हैं, अनित्य हैं, अतएव अचेतन हैं क्योंकि आत्मा तो कूटस्थ नित्य अपरिणामी है उसके गुण अनित्य कैसे हो सकेंगे ?

इस पर जैनाचार्य आत्मा को सर्वथा नित्य नहीं मानते हैं एवं गुणों को सर्वथा अनित्य नहीं मानते हैं । वे आत्मा को कथंचित् अनित्य सिद्ध करते हैं एवं कथंचित् गुणों को भी नित्य सिद्ध कर देते हैं । सामान्यतया आत्मा द्रव्य है, नित्य है, ज्ञान गुण भी नित्य है क्योंकि ज्ञान गुण से ही आत्मा का अस्तित्व जाना जाता है एवं कथंचित् मति, श्रुत आदि ज्ञानों की अपेक्षा ज्ञान उत्पत्तिमान् भी है और आत्मा भी नर नारकादि पर्यायों की अपेक्षा उत्पत्तिमान् है । सांख्य अनुभव को आत्मा का स्वभाव मानता है किन्तु वास्तव में देखा जावे तो ज्ञान के बिना अनुभव नाम की चीज भला और क्या होगी ? अतः ज्ञान स्वसंवेदन सिद्ध आत्मा का स्वभाव है । वह प्रकृति का धर्म नहीं है और ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य स्वरूप अनन्त गुणों को प्रकट कर लेना ही मोक्ष है न कि ज्ञान से शून्य हो जाना । क्योंकि ज्ञान से रहित मोक्ष का अनुभव भी भला किसको हो सकेगा और कौन उसे प्राप्त करना चाहेगा ? यदि कोई किसी को कहे कि भैया ! तुम हमारा सब राज्य पाट ले लो किन्तु अपने प्राण हमें दे दो तब वह तो यही कहेगा कि भाई ! मरने के बाद आपके राज्य सुख का उपभोग कौन करेगा ? ऐसे ही ज्ञान के बिना आत्मिक सुखों का उपभोग भी कौन कर सकेगा ? अतः ज्ञान को आत्मा का ही स्वभाव मान लेना चाहिए ।

[चेतन के संसर्ग से अचेतन भी ज्ञानादि चेतन रूप से प्रतीत होते हैं

सांख्य की ऐसी मान्यता का निराकरण]

सांख्य—चेतन-आत्मा के संसर्ग से अचेतन ज्ञानादि भी प्रत्यक्ष में चेतन रूप से प्रतीति में

1 सांख्यः । 2 आत्मसंसर्गात् । 3 प्रत्यक्षतो जायमाना प्रतीतिः । (व्या० प्र०) 4 ननु भो जैन ! चेतनत्वप्रतीति-ज्ञानादीनां परमाधिकी न भवति किंतु भ्रान्तैव चेतनसंसर्गाच्चेतनत्वप्रतीतेरुपचारात् । (व्या० प्र०) 5 साङ्ख्यग्रन्थे ।

“तस्मात्तत्संसर्गादचेतनं^३ चेतनवदिह^५ लिङ्गम्” इति । ^७तदप्यर्चिताभिधानं^८, शरीरादेरपि चेतनत्वप्रतीतिप्रसङ्गाच्चेतनसंसर्गविशेषात्^९ । शरीराद्यसंभवी बुद्ध्यादेरात्मना संसर्गविशेषोस्तीति चेत्स कोन्योन्यत्र कथञ्चित्तादात्म्यात्, ^{१०}तददृष्टकृतकत्वादिविशेषस्य^{११} शरीरादावपि भावात् । ततो नाचेतना ज्ञानादयः, स्वसंविदितत्वादनुभववत् । ^{१२}स्वसंविदितास्ते, ^{१३}परसंवेदनान्यथानुपपत्तेरिति ^{१४}प्रतिपादितप्रायम् । तथा^{१५} चात्मस्वभावा^{१६} ज्ञानादयः, चेतनत्वादनुभववदेव । इति न चैतन्यमात्रेवस्थानं मोक्षः, अनन्तज्ञानादिचैतन्यविशेषेवस्थानस्य मोक्षत्वप्रतीतेः ।

आते हैं परन्तु वह प्रतीति भ्रान्त ही है । कहा भी है—

“तस्मात्तत्संसर्गादचेतनं चेतनवदिह लिङ्गं” अर्थात् उस चेतन आत्मा के संसर्ग से अचेतन ज्ञानादि चेतनवत् दीखते हैं ऐसा जानना चाहिये ।

जैन—आपका यह कथन भी विचारशून्य है । इस प्रकार से तो शरीरादि में भी चेतनत्व की प्रतीति का प्रसंग आ जावेगा क्योंकि चेतन का संसर्ग तो शरीर में भी है ।

सांख्य—शरीरादिकों में नहीं पाया जाने वाला ऐसा आत्मा का संसर्ग विशेष बुद्धि आदि के साथ में है । अतः ये बुद्धि आदि चेतन रूप प्रतिभासित होते हैं, किन्तु शरीर चेतन रूप प्रतिभासित नहीं हो सकता है ।

जैन—तो भाई ! कथञ्चित् तादात्म्य को छोड़कर वह कौनसा संसर्ग विशेष है ? कहिये तो सही ।

सांख्य—उस आत्मा के अदृष्ट (पुण्य-पापादि) कृतकत्व आदि विशेष हैं वे शरीरादि में असंभवी हैं—नहीं पाये जाते हैं ।

जैन—नहीं, ये सब शरीरादि में भी पाये जाते हैं । इसीलिये “ज्ञानादिक अचेतन नहीं है क्योंकि वे स्वसंविदित हैं अनुभव के समान । एवं वे स्वसंविदित हैं क्योंकि परसंवेदन की अन्यथानुपपत्ति है ।” इस प्रकार प्रायः प्रतिपादन कर चुके हैं । उसी प्रकार ये ज्ञानादिक आत्मा के स्वभाव हैं क्योंकि वे अनुभव के समान चैतन्य रूप हैं अतः ज्ञानादि शून्य चैतन्य मात्र सामान्य आत्मा में अवस्थान होना मोक्ष नहीं है प्रत्युत अनन्त ज्ञानादि स्वरूप चैतन्य विशेष में ही अवस्थान होना मोक्ष है ऐसी प्रतीति सिद्ध है ।

- 1 आत्मनश्चेतनत्वं सिद्धं यस्मात्तस्मात् । 2 आत्मसंसर्गात् । बुद्धिसंसर्गादिति टिप्पणान्तरम् । 3 बुद्धिः । (व्या० प्र०) 4 चेतनावदिह इति पा. । (व्या० प्र०) 5 सांख्यमते । (व्या० प्र०) 6 लिङ्गघते ज्ञायते इति लिङ्गं ज्ञेयमित्यर्थः । 7 स्याद्वादी । 8 अविचारित । (व्या० प्र०) 9 शरीरे ज्ञाने वा । 10 तस्यात्मनोऽदृष्टपुण्यादि तेन कृतकत्वादिविशेषः (आदिशब्दाद्भोग्यभोक्तृत्वादिः) तस्य शरीरादौ सम्बन्धो नास्तीत्युच्यते साङ्ख्येन चैतन्येन, तस्यापि शरीरादौ भावात् । 11 तददृष्टकृतकत्वादि इति पा.—दि. प्र. । भोग्यभोक्तृत्वादि । (व्या० प्र०) 12 साधनस्यास्वसंविदितत्वं परिहरति । 13 घटादि । (व्या० प्र०) 14 प्रागनन्तरत्वात्किवादे । (व्या० प्र०) 15 ज्ञानस्याचेतनत्वाभावे । (व्या० प्र०) 16 स्वसंविदितत्वेपि ज्ञानादीनां प्रधानजत्वमित्युक्ते सत्याह ।

[वैशेषिकाभिमतमोक्षस्य निराकरणं]

¹एतेन बुद्ध्यादिविशेषगुणोच्छेदादात्मत्वमात्रेवस्थानं मुक्तिरिति कणभक्षाक्षयाद-
मतं² प्रमाणेन बाधितमुपदर्शितं, पुंसोऽनन्तज्ञानादिस्वरूपत्वसाधनात्, स्वरूपोपलब्धेरेव मुक्त-
त्वसिद्धेः । स्यान्मतं³ “न बुद्ध्यादयः पुंसः स्वरूपं, ततो भिन्नत्वादर्थान्तरवत् । ततो⁴
⁵भिन्नास्ते ⁶तद्विरुद्धधर्माधिकरणत्वाद्दृष्टादिवत् । तद्विरुद्धधर्माधिकरणत्वं⁷ पुनस्तेषामुत्पाद-

भावार्थ—सांख्य कहता है कि चेतन के साथ अचेतन रूप ज्ञान सुख आदि का सम्पर्क हो रहा है अतः ये ज्ञान और सुख चेतन दिखते हैं वास्तव में ये अचेतन हैं ।

इस मान्यता पर ऐसा भी कहा जा सकता है कि आत्मा स्वयं अचेतन है और ज्ञानचेतना के संसर्ग से चेतनवत् दिख रही है फिर तो नैयायिक का ही मत आ जावेगा जो कि आपको इष्ट नहीं है अथवा चेतन आत्मा के संसर्ग से शरीर को भी चेतन कहना पड़ेगा किन्तु यह भी बात नहीं है । अतः निष्कर्ष यही निकलता है कि ज्ञानादि गुण चेतन हैं और आत्मा के स्वभाव हैं । उन अनन्तज्ञान आदि चैतन्य गुणों को प्राप्त कर लेना ही मोक्ष है ।

श्री पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश में कहा भी है कि—

यस्य स्वयं स्वभावाप्तिरभावे कृत्स्नकर्मणः ।

तस्मै संज्ञानरूपाय, नमोऽस्तु परमात्मने ॥१॥

सम्पूर्ण कर्मों का अभाव हो जाने पर जिनको स्वयं अपने स्वभाव की प्राप्ति हो गई है ऐसे ज्ञान स्वरूप परमात्मा को मेरा नमस्कार हो ।

[वैशेषिक द्वारा मान्य मोक्ष का खण्डन]

बुद्धि आदि विशेष गुणों का उच्छेद (नाश) हो करके सामान्य आत्मा मात्र में अवस्था न होना इसी का नाम मोक्ष है । इस प्रकार से कणाद, अक्षपाद (वैशेषिक, नैयायिक) ने मुक्ति का लक्षण माना है, किन्तु उपर्युक्त खण्डन से इनका भी खण्डन हो जाता है अतः यह कथन भी प्रमाण से बाधित है क्योंकि पुरुष आत्मा का स्वरूप अनन्त ज्ञानादि रूप सिद्ध किया गया है और स्वरूप की उपलब्धि-प्राप्ति होना ही मोक्ष है । यह बात सिद्ध हो जाती है ।

वैशेषिक, नैयायिक—बुद्धि आदि गुण आत्मा के स्वरूप नहीं है क्योंकि आत्मा से भिन्न हैं जैसे अन्य अचेतन पदार्थ । वे बुद्धि आदि पुरुष से भिन्न ही हैं क्योंकि वे पुरुष से विरुद्ध धर्म के आधार

1 प्रमाणेन सांख्याभिमतमोक्षस्वनिराकरणद्वारेण । (व्या० प्र०) 2 वैशेषिकनैयायिकमतम् । 3 वैशेषिकनैयायिकयोः । 4 पुंसः । 5 अत्राह कश्चित् हे योग ! ततो भिन्नत्वादिति हेतुः असिद्ध इति न ते बुद्ध्यादयः ततो भिन्ना भवन्ति इति साध्यो धर्मः इत्यादि । दि. प्र. । 6 ततः पुंसः । 7 स्याद्वादी सांख्यं प्रति पृच्छति बुद्ध्यादीनां तद्विरुद्धधर्माधिकरणत्वं कुत इति प्रश्ने आह । दि. प्र. ।

विनाशधर्मकत्वादात्मनोत्पादा¹विनाशधर्मकत्वात्प्रसिद्धम्” इति तदयुक्तं², विरुद्धधर्माधिकरण-
त्वेपि सर्वथा³भेदासिद्धेमेचकज्ञान⁴तदाकारवत्⁵ ।

[चित्रज्ञानमेकरूपमनेकरूपं वेति विचारः]

एकं हि मेचकज्ञानमनेकश्च तदाकारो ‘नीलादिप्रतिभासविशेष इत्येकत्वानेकत्वविरुद्ध-
धर्माधिकरणत्वेपि मेचकज्ञानतत्प्रतिभासविशेषयोर्न⁷ भेदोभ्युपगम्यते, ⁸मेचकज्ञानत्व-
विरोधात् । यदि पुनर्युगपदनेकार्थग्राहि मेचकज्ञानमेकमेव⁹, न ¹⁰तत्रानेकप्रतिभासविशेष-
सम्भवो यतो विरुद्धधर्माधिकरणत्व¹¹मभेदेपि स्यादिति ¹²मतं तदापि तत्किमनेकया शक्त्यानेक-
मर्थं युगपद्गृह्णाति किं वैकया ? यद्यनेकया तदैकमनेकशक्त्यात्मकमिति स एव विरुद्धधर्मा-

हैं जैसे घट आदि । उनका विरुद्ध धर्माधिकरणपना सिद्ध ही है क्योंकि उनमें उत्पाद, विनाश धर्म पाया जाता है और आत्मा उत्पाद, विनाश धर्म से रहित है यह बात प्रसिद्ध है ।

स्याद्वादी—आपका यह कथन अयुक्त है । विरुद्ध धर्मों का आधार होने पर भी सर्वथा भेद सिद्ध नहीं है जैसे मेचक—चित्रज्ञान और चित्र आकार वर्ण ।

चित्रज्ञान एक रूप है या अनेक रूप ? इस पर विचार]

चित्रज्ञान एक है और नीलादि प्रतिभास विशेष उसके आकार अनेक हैं । इस प्रकार एकत्व, अनेकत्व रूप विरुद्ध धर्मों का आधार होने पर भी चित्रज्ञान और उसके प्रतिभास विशेष मेचक वर्णों में भेद नहीं माना गया है अन्यथा चित्रज्ञानत्व का विरोध हो जायेगा ।

योग—युगपत् अनेक पदार्थों को ग्रहण करने वाला चित्रज्ञान एक ही है । उस चित्रज्ञान में अनेक प्रतिभास विशेष सम्भव नहीं हैं जिससे कि अभेद में भी विरुद्ध धर्मों का आधार होवे ।

जैन—यदि आप ऐसा कहते हैं तब तो हम आपसे प्रश्न करते हैं कि वह चित्रज्ञान अनेक शक्ति से युगपत् अनेक पदार्थों को ग्रहण करता है या एक शक्ति के द्वारा युगपत् अनेक पदार्थों को ? यदि आप प्रथम पक्ष स्वीकार करते हो तब तो एक चित्रज्ञान अनेक शक्त्यात्मक हो गया, वह एक चित्रज्ञान ही विरुद्ध धर्मों का आधार रूप हो गया अर्थात् ज्ञान स्वयं एक है और शक्तियाँ अनेक हैं यही विरुद्धधर्मपना है ।

1 उत्पादविनाश इति वा. (व्या० प्र०) 2 स्याद्वादी । 3 आत्मनो बुद्ध्यादीनां च विरुद्धधर्माधिकरणत्वं भवतु तस्मिन् सत्यपि सर्वथा भेदो न सिद्ध्यति दि. प्र. । 4 यथा मेचकज्ञानमेचकज्ञानाकारयोर्विरुद्धधर्माधिकरणत्वेऽपि सर्वथा भेदो न सिद्ध्यति । तथा आत्मबुद्ध्यादिविशेषगुणानां विरुद्धधर्माधिकरणत्वेऽपि सर्वथा भेदाभावः । दि. प्र. । 5 मेचकज्ञानतदाकारयोरिव । 6 आदिशब्देन पीतादि प्रतिभास विशेषाश्चत्वारो गृह्यन्ते मेचकस्य पंचवर्णं रत्नस्य ज्ञाने नीलादिप्रतिभास विशेषाणां संभवात्पंचवर्णभवेद्रत्नं मेचकार्थ्यं । (व्या० प्र०) 7 ते मेचकवर्णाः । 8 अन्यथा । 9 युगपदनेकार्थप्रकाशकैकप्रदीपवत् दि. प्र. । 10 चित्रज्ञाने दि. प्र. । 11 आत्मबुद्ध्यादीनाम् । 12 तव योगस्य ।

ध्यासः¹ । ततोनेकशक्तेरनेकत्वधर्माधारभूतायाः पृथक्त्वात् तस्य त्वेकत्वधर्माधारत्वान्नैकत्र विरुद्धधर्माध्यास इति चेत्कथमनेका शक्तिस्तस्येति व्यपदिश्यते ? ततो² भेदादर्थान्तरवत् । सम्बन्धादिति³ ⁴चेत्तहि तदनेकया ⁵शक्त्या संबध्यमानमनेकेन रूपेण कथमनेक⁶रूपं न स्यात् ? ⁷तस्याप्यनेकरूपस्य ⁸ततो न्यत्वात्तदेकमे⁹वेति¹⁰ चेत्कथं ¹¹तत्तस्येति व्यपदेष्टव्यम् ? सम्बन्धादिति चेत्स एव दोषोऽनिवृत्तश्च ¹²पर्यनुयोगोऽनवस्थानात्¹³ । यदि पुनरेकेनैव¹⁴ रूपेणा-नेकया शक्त्या संबध्यते ¹⁵तदानेकविशेषणत्वविरोधः¹⁶ । पीतग्रहणशक्त्या¹⁷ हि येन स्वभावेन संबध्यते¹⁸ तेनैव नीलादिग्रहणशक्त्या चेत् पीतग्राहित्वविशेषणमेव मेचकज्ञानं¹⁹स्यान्न नीला-

यौग—अनेक धर्मों की आधार भूत अनेक शक्तियाँ उस चित्रज्ञान से पृथक्भूत हैं । वह ज्ञान तो एक धर्म का आधार है इसलिए एक ज्ञान में विरुद्ध धर्माधार नहीं है ।

जैन—पुनः अनेक शक्तियाँ उस ज्ञान की हैं यह कथन कैसे बनेगा ? क्योंकि वे शक्तियाँ ज्ञान से भिन्न हैं जैसे दूसरे भिन्न पदार्थ । अर्थात् चित्रज्ञान से घट-पट आदि पदार्थ जिस प्रकार भिन्न हैं उसी प्रकार से अनेक शक्तियाँ भी भिन्न हो गईं पुनः ये शक्तियाँ एक चित्रज्ञान की हैं यह कैसे कहोगे ?

यौग—शक्ति के साथ चित्रज्ञान का समवाय सम्बन्ध होने से ये शक्तियाँ ज्ञान की हैं ऐसा कहते हैं ।

जैन—तब तो वह ज्ञान अनेक शक्तियों से सम्बन्धित होने से अनेक रूप हो गया फिर अनेक रूप क्यों नहीं कहलावेगा ?

यौग—वे चित्रज्ञान से सम्बन्धी अनेक रूप भी उस चित्रज्ञान से भिन्न ही हैं इसलिये वह चित्रज्ञान एक ही है ।

जैन—पुनः उस चित्रज्ञान के अनेकरूप हैं यह आप कैसे कहोगे ?

यौग—उस 'अनेकरूप' को भी समवाय सम्बन्ध से ही उस ज्ञान का कहेंगे ।

1 यद्यनेकया शक्त्यानेकार्थं युगपद्गृह्णाति तदा एकमेव चित्रज्ञानमनेकशक्त्यात्मकं सिद्धमिति स एव विरुद्धधर्माध्यासः ।
2 मेचकज्ञाना (चित्रज्ञानात्) द्वाटाद्यर्थान्तरवदनेकशक्तेर्भेदे सति तस्य चित्रज्ञानस्यानेकशक्तिरिति कथं व्यपदिश्यते ?
3 शक्त्या सह मेचकज्ञानस्य समवायसम्बन्धात्तस्येत्युच्यते इति चेत् । 4 जैन आह तर्हीति । 5 सार्द्धं । (व्या० प्र०)
6 (मेचकज्ञानम् । 7 चित्रज्ञानसम्बन्धितोनेकरूपस्य । 8 चित्रज्ञानात् । 9 चित्रज्ञानम्) । 10 यौगो वदति तत् तत् चित्रज्ञानं एकमेव । कस्मात् । तत्तच्चित्रज्ञानात् अनेकस्य रूपस्य भिन्नत्वादिति चेत् स्याद्वादी वदति । तस्य चित्रज्ञानस्य तदनेकं स्वरूपमिति कथं कथनीयं—दि. प्र. । 11 अनेकरूपं चित्रज्ञानस्येति । 12 परिहारश्च । (व्या० प्र०)
13 दोषपरिहारयोरवस्था भावात् । (व्या० प्र०) 14 तदनेकया शक्त्या सम्बन्ध्यमानमनेकेन रूपेणैकेन रूपेण वेति विकल्पद्वयं कृत्वा आपृच्छ्य अनेकेन रूपेणेत्यत्र तु दूषणमुक्तमधुना एकेन रूपेणानेकया शक्त्या संबध्यमित्यत्र द्वितीयपक्षे दोषमाह । 15 तदा चानेक इति पा.—दि. प्र. । 16 अनेकाः शक्तय इति विशेषणत्वविरोधः । 17 सह । (व्या० प्र०) 18 मेचकज्ञानम् । 19 ज्ञानस्य न इति पा. दि. प्र. ।

दिग्राहित्वविशेषणमिति पीतज्ञानमेव स्यान्न तु मेचकज्ञानम् । अथैकया शक्त्यानेकमर्थं^१ तद्गृह्णातीति द्वितीयविकल्पः समाश्रीयते तदापि^२ सर्वार्थग्रहणप्रसङ्गः ।^३ पीतग्रहणशक्त्या ह्येकया यथा नीलादिग्रहणं तथातीतानागतवर्त्तमानाशेषपदार्थग्रहणमपि केन निवार्येत ?^४ अथ न पीतग्रहणशक्त्या नीलग्रहणशक्त्या वा पीतनीलाद्यनेकार्थग्राहि मेचकज्ञानमिष्यते^५ । किं तर्हि ? नीलपीतादिप्रतिनियतानेकार्थग्रहणशक्त्यैकयेति^६ मतं तदा^७ न^८ कार्यभेदः^९ कारणशक्तिभेदव्यवस्थाहेतुः^{१०} स्यादित्येकहेतुकं^{११} विश्वस्य वैश्वरूप्यं^{१२} प्रसज्येत । तथा^{१३} चाने-

जैन—तब तो उपर्युक्त प्रश्नों से जो दोष दिये हैं वे ही दोष विद्यमान रहेंगे । पुनः प्रश्नों की अनवस्था ही चली जावेगी, कहीं दूर जाकर भी अवस्थान नहीं होगा ।

योग--वह ज्ञान एक रूप से ही अनेक शक्तियों से सम्बन्धित होता है ।

जैन—तब तो “शक्तियाँ अनेक हैं” यह विशेषण विरुद्ध हो जावेगा ।

योग—ज्ञान जिस स्वभाव से पीत ग्रहण शक्ति से सम्बन्धित होता है उसी एक ही स्वभाव से नील आदि को ग्रहण करने की शक्ति से सम्बन्धित होता है ।

जैन—तब तो पीतग्राही विशेषण रूप ही चित्रज्ञान होगा न कि नीलादिग्राही विशेषण रूप । इस प्रकार वह ज्ञान पीतज्ञान ही रहेगा न कि चित्रज्ञान ।

भावार्थ—जैनों ने योग के प्रति दो विकल्प उठाये थे कि वह चित्रज्ञान अनेक शक्ति से युगपत् अनेक पदार्थों को ग्रहण करता है या एक शक्ति से ? प्रथमपक्ष में वह चित्रज्ञान अनेक शक्ति से सम्बन्धित होता है । पुनः दो विकल्प उठाये हैं कि वह चित्रज्ञान अनेकरूप से अनेक शक्ति से सम्बन्धित होता है या एक रूप से ?

यदि अनेक रूप से सम्बन्धित है तो वह ज्ञान अनेक रूप स्वयं क्यों नहीं होगा ? यदि कहें कि एक रूप से सम्बन्धित होता है तो एक रूप से अनेक शक्ति से सम्बन्धित अनेक विशेषण रूप नहीं होगा । तथा च एक पीतज्ञान रूप या एक नीलज्ञान रूप ही रहेगा न कि चित्रज्ञान रूप । अब मूल का दूसरा पक्ष लेवें तो—

योग—यह चित्रज्ञान एक शक्ति से ही युगपत् अनेक पदार्थों को ग्रहण करता है यह दूसरा पक्ष हमें इष्ट है ।

जैन—तब तो फिर सम्पूर्ण पदार्थों को ग्रहण करने का प्रसंग प्राप्त हो जावेगा क्योंकि जिस प्रकार एक ज्ञान पीतग्रहण शक्ति से नीलादि पदार्थों को ग्रहण करेगा उसी प्रकार से भूत भविष्यत् वर्तमान रूप सम्पूर्ण पदार्थों को भी ग्रहण कर लेगा उसका निवारण कौन कर सकेगा ?

1 मेचकज्ञानम् । 2 मेचकज्ञानं नीलपीताद्येव केवलं न गृह्णाति किन्तु सर्वार्थग्राहकं स्यात् । 3 सर्वार्थग्रहणप्रसङ्गवि-
वृणोति । 4 योगः । 5 योनेन । 6 एवम्भूतया एकया शक्त्या नीलपीताद्यनेकार्थग्राहि मेचकज्ञानमिष्यते इति मतम् ।
7 जैनः प्राह । 8 घटपटादिकार्यभेदः । 9 प्रतिभासः । (व्या० प्र०) 10 कार्यभेदात्कारणशक्तिभेदो न स्यात् ।
11 ब्रह्म । (व्या० प्र०) 12 नानात्वं । (व्या० प्र०) 13 सति—दि. प्र. ।

ककारणप्रतिवर्णनं सर्वकार्योत्पत्तौ^१ विरुध्यते ।^२ तदभ्युपगच्छता मेचकज्ञानमनेकार्थग्राहि नाना-
शक्त्यात्मकमुररीकर्तव्यम्^३ । तेन^४ च विरुद्धधर्माधिकरणेनैकेन^५ प्रकृतहेतोरनैकान्तिकत्वात्^६
ज्ञानादीनामात्मनो भेदैकान्तसिद्धिर्येनात्मानन्तज्ञानादिरूपो न भवेत् । निराकरिष्यमाणत्वाच्चा-
ग्रतो^७ गुणगुणिनोरन्यतैकान्तस्य^९, न ज्ञानादयो गुणाः सर्वथात्मनो भिन्नाः शक्याः प्रतिपादयितुं
यतोऽशेषविशेषगुणनिवृत्तिर्मुक्तिर्व्यवतिष्ठेत् ।

[मुक्तौ श्रयोपशमिकादिज्ञानसुखादीनामभावो न चान्तसुखादीनां]

ननु^{१०} च धर्माधर्मयोस्तावन्निवृत्तिरात्यन्तिकी मुक्तौ प्रतिपत्तव्या^{११}, अन्यथा^{१२} ^{१३} तदनु-

योग—पीतग्रहण शक्ति से या नीलग्रहण शक्ति से अर्थात् किसी भी एक शक्ति से पीत नीलादि रूप अनेक पदार्थों को ग्रहण करने वाला चित्रज्ञान है हम ऐसा नहीं मानते हैं ।

जैन—तो आप क्या मानते हैं ?

योग—नील, पीतादि, प्रतिनियत अनेक पदार्थों को ग्रहण करने वाली जो शक्ति है उस एक शक्ति से नील पीतादि अनेक पदार्थों को ग्रहण करने वाला चित्रज्ञान है इस प्रकार मानते हैं ।

जैन—तब तो कार्य में होने वाला भेद कारण शक्ति के भेद की व्यवस्था का हेतु नहीं होगा इस प्रकार से तो यह विश्व एक हेतु से ही नाना रूप हो जावेगा । फिर सभी कार्यों की उत्पत्ति में अनेक कारणों का वर्णन करना विरुद्ध हो जावेगा । अर्थात् योगमत में जितने कार्य हैं उतने ही उनके कारण हैं इस प्रकार की मान्यता है उसमें विरोध आ जावेगा । अतः इस विरोध का परिहार करने के लिये चित्रज्ञान अनेक पदार्थों को ग्रहण करने वाला है एवं वह अनेक शक्त्यात्मक है ऐसा स्वीकार करना ही चाहिये ।

इसलिये अनेक विरुद्ध धर्मों के आधारभूत उस एक चित्रज्ञान से “विरुद्ध धर्माधिकरणत्वात्” हेतु व्यभिचरित हो जाता है अतः ज्ञानादिक आत्मा से भिन्न हैं । इस प्रकार से भेद एकांत की सिद्धि नहीं होती है जिससे कि आत्मा अनंत ज्ञानादि रूप न होवे अर्थात् आत्मा अनंतज्ञानादि रूप सिद्ध हो जाता है और गुण-गुणी में एकांत से भिन्नपना है इस पक्ष का आगे चतुर्थ परिच्छेद में निराकरण करेंगे ।

आत्मा से ज्ञानादि गुण सर्वथा भिन्न हैं ऐसा प्रतिपादन करना शक्य नहीं है जिससे कि अशेष

१ यावन्ति कार्याणि तावन्ति कारणानीति योगमतं विरुध्यते । २ तद्विरुद्धधर्मगीकुर्वता । तत्सर्वकार्यमनेककारणकमंगी-
कुर्वता । दि. प्र. । ३ शक्तेरेवानभ्युपगमान्न कश्चिद्दोष इत्याशंकायां शक्तिरहितेन ज्ञानेन यथा नीलादिग्रहणं तथा-
तीतानागतवर्तमानाशेषपदार्थग्रहणमपि केन निवार्यते इति वक्तव्यं । अथवा तच्छक्ति समर्थनं प्रमेयकमलमार्तडे
द्वितीयपरिच्छेदे प्रत्यक्षेतर भेदादिति सूत्रव्याख्यानावसरे प्रपंचतः प्रोक्तमत्रावगतव्यं । दि. प्र. । ४ मेचकज्ञानेन ।
५ विरुद्धधर्माधिकरणत्वादित्यस्य । ६ मेचकज्ञानस्य तदाकारादभेदेपि विरुद्धधर्माधिकरणत्वसिद्धेः । ७ एकस्यानेक-
वृत्तिर्नैत्यादिकारिकाव्याख्यानावसरे चतुर्थपरिच्छेदे । ८ गुणगुण्यन्यतै इति पा. । (व्या० प्र०) ९ भेदैकान्तस्य ।
१० योगः । ११ जैनैः । (व्या० प्र०) १२ धर्माधर्मयोस्तावन्तिकी निवृत्तिर्नास्ति चेत् तदा तस्या मुक्तेरुत्पत्तिर्नास्ति
दि. प्र. । १३ तस्याः, मुक्तेः ।

पपत्तेः । ¹तन्नित्वतौ च तत्फलबुद्ध्यादिनिवृत्तिरवश्यंभावितो निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यनुपपत्तेः । मुक्तस्यात्मनोऽन्तःकरणसंयोगाभावे वा न ²तत्कार्यस्य बुद्ध्यादेरुत्पत्तिः । इत्य-
शेषविशेषगुणनिवृत्तिर्मुक्तौ सिद्धयत्येवेति केचित् ⁴तेष्वदृष्टहेतुकानां बुद्ध्यादीनामात्मान्तः
करणसंयोगजानां च मुक्तौ निवृत्तिर्ब्रुवाणा न निवार्यन्ते ⁵। ⁶कर्मक्षयहेतुकयोस्तु ⁷प्रणम-
मुखानन्तज्ञानयोर्निवृत्तिमाचक्षाणास्ते न स्वस्थाः प्रमाणविरोधात् ⁸। ततः ⁹कथञ्चिद्बुद्ध्या-
दिविशेषगुणानां निवृत्तिः ¹⁰कथञ्चिदनिवृत्तिर्मुक्तौ व्यवतिष्ठते । न ¹¹चैवं सिद्धान्तविरोधः ¹²,
“बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः” इत्यनुवर्तमाने ¹³ “औपशमिकादिभ्य-

गुणों का अभाव हो जाना मुक्ति है वह कथन व्यवस्थित हो सके अर्थात् मुक्ति का यह लक्षण सिद्ध नहीं होता है ।

[मुक्ति में क्षयोपशमिक ज्ञान, सुख आदि का अभाव है न कि अनन्त सुखादिकों का अभाव]

यौग—मुक्ति में धर्म अधर्म का तो आत्यंतिक अभाव स्वीकार करना ही चाहिये । अन्यथा मुक्ति नहीं हो सकेगी और धर्म, अधर्म की निवृत्ति हो जाने से उसके फल रूप बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न और संस्कार आदि विशेष गुणों का अभाव की अवश्यंभावी है क्योंकि निमित्त के अभाव में नैमित्तिक (कार्य) भी नहीं हो सकता है अथवा मुक्त जीव के अन्तःकरण (मन) के संयोग का अभाव हो जाने पर उस मन के संयोग से उत्पन्न होने काले कार्य स्वरूप बुद्धि आदि की भी उत्पत्ति नहीं हो सकती है इसलिये मुक्त अवस्था में अशेष विशेष गुणों का अभाव सिद्ध ही हो जाता है ।

जैन—जो अदृष्ट-भाग्य रूप, धर्म, अधर्म के निमित्त से होने वाले हैं और आत्मा तथा मन के संयोग से उत्पन्न हुये हैं ऐसे बुद्धि आदिकों का मुक्ति में जो अभाव मानते हैं उनका हम खण्डन नहीं करते हैं ।

भावार्थ—आत्मा के मतिज्ञानावरण आदि कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाली क्षयो-पशमिक बुद्धि एवं सातावेदनीय जन्य सुखादि गुणों का अभाव तो हम जैन भी मुक्तावस्था में स्वीकार करते हैं ।

जो कर्म के क्षय से उत्पन्न हुये अव्याबाध सुख और अनन्तज्ञानादि का मुक्ति में अभाव सिद्ध करते हैं वे स्वस्थ नहीं हैं क्योंकि वैसी मुक्ति मानने में प्रमाण से विरोध आता है । इसलिये मुक्त जीवों में कथञ्चित् क्षयोपशम की अपेक्षा से बुद्धि आदि विशेष गुणों का अभाव है और कथञ्चित् क्षायिक गुणों

1 धर्माधर्मयोरभावे सति तत्फलबुद्ध्यादेरपि अश्वयमेवाभावः । यतो लोके कारणापाये कार्यस्योत्पत्तिर्न घटते । दि. प्र. । 2 धर्माधर्मकारणकं बुद्ध्यादि । 3 अन्तःकरणसंयोगकार्यस्य । 4 यौगः । 5 आत्मभिर्जनैः । 6 ज्ञाना-
वरणादि । (व्या० प्र०) 7 मोक्षसुख । (व्या० प्र०) 8 मुक्तात्मा गुणवानात्मत्वादमुक्तात्मवदित्यनुमानेन विरोधात् ।
9 अदृष्टजानाम् (कर्मप्रभवानाम्) । 10 कर्मक्षयहेतुजानाम् । 11 ज्ञानादीनां निवृत्त्यनिवृत्तिप्रकारेण । (व्या० प्र०)
12 सिद्धान्तसूत्रे केषाञ्चित् गुणानां कथञ्चित् निवृत्त्यनिवृत्तिप्रतिपादनाभावाद् विरोध इति चेत् । (व्या० प्र०)-13 अस्य
प्रकरणे इत्यर्थः ।

त्वानां^१ चान्यत्र^२ केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः” इति सूत्रसद्भावात् । तत्रौपशमिक-
 क्षायोपशमिकौदयिकपारिणामिकभावानां^३ “दर्शनज्ञान^४गत्यादीनां^५ भव्यत्वस्य च विप्रमोक्षो
 मोक्ष इत्यभिसम्बन्धान्मुक्तौ^६ विशेषगुणनिवृत्तिरिष्टा, “अन्यत्र^७ केवलज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः” इति
 वचनादनन्तज्ञानदर्शनसिद्धत्वसम्यक्त्वानामनिवृत्तिश्चेति युक्तं तथा वचनम् ।

की अपेक्षा से अनंत ज्ञानादि रूप बुद्धि आदि का अभाव नहीं है यह बात व्यवस्थित हो जाती है ।

इस प्रकार से हमारे सिद्धांत में कोई विरोध नहीं आता है । “बंधहेत्वभाव निर्जराभ्यां कृत्स्न-
 कर्म विप्रमोक्षोमोक्षः” इस सूत्र के प्रकरण में ही “औपशमिकादि भव्यत्वानां च” “अन्यत्र केवलसम्य-
 क्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः” ये सूत्र पाये जाते हैं अर्थात् बंध के हेतु का अभाव और निर्जरा के द्वारा संपूर्ण
 कर्मों का नाश हो जाना मोक्ष है और औपशमिकादि भव्यत्वादि भावों का भी छूट जाना मोक्ष में माना
 है । तथा केवल सम्यक्त्व ज्ञान दर्शन, सिद्धत्व को छोड़कर ये औपशमिकादि भाव नष्ट हो जाते हैं
 अर्थात् ये भाव मुक्ति में नहीं पाये जाते हैं ।

उनमें औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदयिक एवं पारिणामिक भाव रूप दर्शन, ज्ञान, गति आदि
 तथा भव्यत्व भाव का विप्रमोक्ष—अभाव हो जाना ही मोक्ष है । उपर्युक्त सूत्रों के साथ संबंध करने से
 मुक्ति में क्षायोपशमिक ज्ञानादि रूप विशेष गुणों की निवृत्ति इष्ट ही है एवं “अन्यत्र केवलज्ञानदर्शन-
 सिद्धत्वेभ्यः” इस सूत्र के कथन से मुक्ति में अनंत ज्ञान, दर्शन, सिद्धत्व एवं सम्यक्त्व रूप क्षायिक
 विशेष गुणों की निवृत्ति नहीं है अतः ये स्याद्वाद वचन युक्त ही हैं ।

उन औपशमिकादि भावों में औपशमिक के सम्यक्त्व, चारित्र्य ये २ तथा क्षायोपशमिक के
 मति, श्रुतादि ४ ज्ञान, कुमति आदि ३ अज्ञान, चक्षु आदि ३ दर्शन, क्षायोपशमिक रूप ५ लब्धियाँ,
 क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, चारित्र्य और संयमासंयम ये ३ सब १८ भेद, औदयिक के ४ गति, ४ कषाय,
 ३ लिंग, मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयत, असिद्धत्व, ६ लेश्या ये २१ भाव तथा पारिणामिक के भव्यत्व,
 अभव्यत्व एवं क्षायिक के दान, लाभ, भोग, उपभोग और चारित्र्य ये ५, इस प्रकार से इन ४८ विशेष
 गुणों-भावों का मुक्तावस्था में अभाव इष्ट ही है । एवं “अन्यत्र” इत्यादि सूत्र से अनंतज्ञान, दर्शन,

१ विप्रमोक्षो मोक्ष इत्यर्थः । २ विना । ३ औपशमिकादिषु । ४ सम्यक्त्व । औपशमिकक्षायोपशमिकरूपयोर्दर्शन-
 ज्ञानयोर्ग्रहणं । (व्या० प्र०) ५ (क्रमशः—औपशमिकं सम्यग्दर्शनं, क्षायोपशमिको ज्ञानोपयोगः, औदयिकी गतिर्भवान्त-
 रगमनरूपा) आदिपदं प्रत्येकमभिसंबन्धयते । तेन सम्यक्त्वचारित्र्ये इत्यादिसूत्रोक्तानां सर्वेषां ग्रहणम् । भव्यत्वं
 पारिणामिकम् । अनाविर्भूतरत्नत्रयाविर्भावयोग्यताफलकं भव्यत्वम् । (रत्नत्रयाविर्भावे तद्भव्यत्वं क्षीयते = विपच्यते
 इत्यर्थः, न तु नश्यतीति, तस्य शक्तिरूपत्वेनाविनाशात्) । ६ चतुर्गति । आदिशब्दः प्रत्येकमभिसंबन्धयते तेन
 ‘सम्यक्त्वचारित्र्ये’ इत्यादि सूत्रे (तत्त्वार्थसूत्रे) अभिहितस्य चारित्र्यज्ञानादेः कषायादेः परिग्रहो यथाक्रमं सेत्स्यति ।
 (व्या० प्र०) ७ भूते भव्यत्वाभावात् यथा मृत्पिण्डे घटस्य भव्यत्वं वर्तते पश्चाद् भूते संजाते घटे घटभव्यत्वाभावः
 भवितुं योग्यः भव्य । तथा रत्नत्रयाविर्भावे योग्यत्वं भव्यत्वं तदाविर्भावे भव्यत्वनिवृत्तिः । (व्या० प्र०) ८ विशेषाः
 अदृष्टजबुध्नादयः । ९ केवलसम्यक्त्वदर्शन इति पा. (व्या० प्र०)

¹कथमेवमनन्तसुखसद्भावो मुक्तौ सिद्धयेदिति चेत् ²सिद्धत्ववचनात्³ सकलदुःखनिवृत्ति-
रात्यन्तिकी हि ⁴भगवतः सिद्धत्वम् । सैव चानन्तप्रशमसुखम् । इति सांसारिकसुखनिवृत्तिरपि
मुक्तौ न विरुध्यते ।

सिद्धत्व, सम्यक्त्व अर्थात् अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतवीर्यं, क्षायिकसम्यक्त्व, ये क्षायिक भाव के ४ भेद और पारिणामिक का १ जीवत्व भाव इस प्रकार इन ५ विशेष गुणों का मुक्ति में अभाव नहीं है ।

इसी प्रकार से श्री भट्टाकलंक देव ने राजवार्तिक में क्षायिक भावों का वर्णन करते हुये प्रश्नो-
त्तर रूप में वर्णन किया है । “यच्चनन्तदानलब्ध्यादय उक्ता अभयदानादिहेतवो दानान्तरायादिसंक्षयाद्
भवन्ति सिद्धेष्वपि तत्प्रसंगः, नैषदोषः शरीरनामतीर्थकरनामकर्मोदयाद्यपेक्षत्वात्तेषां तदभावे तदप्रसंगः
परमानंदाव्याबाधरूपेणैव तेषां तत्र वृत्तिः केवलज्ञानरूपेण अनंतवीर्यवृत्तिवत् ।”

अर्थ—प्रश्न यह होता है कि दानादि रूप अन्तराय कर्म के क्षय से प्रगट होने वाली दानादि
क्षायिक लब्धियाँ हैं उनके कार्य विशेष अनंत प्राणियों को अभयदान रूप अहिंसा का उपदेश लाभां-
तराय के क्षय से केवली को कवलाहार के अभाव में भी शरीर की स्थिति में कारणभूत परम, शुभ,
सूक्ष्म, दिव्य अनन्त पुद्गलों का प्रतिसमय शरीर में सम्बन्धित होना, भोगांतराय आदि के क्षय से
गंधोदक, पुष्पवृष्टि, पदकमल रचना, सिंहासन, छत्र, चमर अशोक वृक्षादि विभूतियों का होना यह
सब वैभव, चार घातिया कर्मों के नाश से प्रगट होने वाली नव केवल-लब्धि रूप है अतः ये क्षायिक-
भाव कर्मों के क्षय से होने के कारण सिद्धों में भी इनके कार्य होने चाहिये ।

इस पर आचार्य कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है क्योंकि दानादि लब्धियों के कार्य के लिये
शरीर नाम और तीर्थकर नाम कर्म के उदय की भी अपेक्षा है अतः सिद्धों में ये लब्धियाँ अव्याबाध
अनंतसुख रूप से रहती हैं जैसे कि केवलज्ञानरूप में अनंतवीर्य रहता है । एवं किसी का यह
प्रश्न भी हो जाता है कि इन उपर्युक्त तत्त्वार्थसूत्र के सूत्रों से सिद्धत्वभाव का ग्रहण कहाँ किया
गया है ?

इस पर आचार्य कहते हैं कि जैसे पौरों के पृथक् निर्देश से अंगुली का सामान्य कथन हो
जाता है उसी प्रकार से सभी क्षायिक भावों में व्यापक सिद्धत्व का भी कथन उन विशेष क्षायिक
भावों के कथन से ही हो गया है । अर्थात् कर्मों के सद्भाव तक-चौदहवें गुणस्थान के अन्त तक औदयिक
भावों का असिद्धत्व भाव पाया जाता है, किन्तु सर्वथा सम्पूर्ण कर्मों के अभाव से सिद्धत्व भाव प्रगट
हो जाता है । उसी प्रकार से क्षायिक दान, लाभ, क्षायिकचारित्र आदि गुणों का सद्भाव भी सिद्धों में
सिद्ध ही हो जाता है ।

योग—इस प्रकार सूत्र के आधार से मुक्ति में अनन्त सुख का सद्भाव कैसे सिद्ध होगा ?

जैन—सूत्र में “सिद्धत्व” वचन है उससे ही अनन्त सुख की सिद्धि होती है क्योंकि भगवान् के

1 योगः । 2 जैनः । 3 सिद्धत्वशब्देनानंतवीर्यसुखे च ग्राह्यं । (व्या० प्र०) 4 भावतः इति पा. । परमार्थतः ।
(व्या० प्र०)

[वेदांतिभिर्मंतस्य मोक्षस्य निराकरणं]

¹अनन्तसुखमेव मुक्तस्य, न ज्ञानादिकमित्यानन्दैकस्वभावाभिव्यक्तिर्मोक्ष ²इत्यपरः ³सोपि युक्त्यागमाभ्यां बाध्यते । ⁴तदनन्तं सुखं मुक्तौ पुंसः संवेद्यस्वभावमसंवेद्यस्वभाव⁵ वा ? संवेद्यं चेत्तत्संवेदनस्यानन्तस्य ⁶सिद्धिः, अन्यथानन्तस्य सुखस्य ⁷स्वयं ⁸संवेद्यत्वविरोधात् । यदि पुनरसंवेद्यमेव तत्तदा कथं सुखं नाम ? ⁹सातसंवेदनस्य सुखत्वप्रतीतेः । स्यान्मतं ते¹⁰, अभ्युपगम्यते एवानन्तसुखसंवेदनं परमात्मनः । केवल बाह्यार्थानां ज्ञानं नोपेयते¹¹ ¹²तस्येति, तदप्येवं ¹³सम्प्रधार्यम्—किं बाह्यार्थाभावाद्बाह्यार्थसंवेदनाभावो मुक्तस्येन्द्रियापायाद्वा ? प्रथमपक्षे सुखस्यापि संवेदनं मुक्तस्य न स्यात्, तस्यापि बाह्यार्थवदभावात्¹⁴ । पुरुषाद्वैतवादे

सम्पूर्ण दुःखों का आत्यंतिक अभाव ही गया है वही 'सिद्धत्व' गुण है और वह सम्पूर्णतया दुःखों का अभाव ही अनन्त प्रथम सुख है । इसलिये मुक्ति में सांसारिक सुखों का अभाव है इस कथन में विरोध नहीं आता है ।

[वेदांती के द्वारा मान्य मुक्ति का खण्डन]

वेदांती—मुक्त जीव के अनन्तसुख ही है ज्ञानादिक नहीं हैं इसलिये आनन्द रूप एक स्वभाव की अभिव्यक्ति हो जाना ही मोक्ष है ।

जैन—आपका यह कथन भी युक्ति और आगम से बाधित है । मुक्त जीव के अनन्तसुख है वह संवेद्य (अनुभव करने योग्य) स्वभाव वाला है या असंवेद्य स्वभाव वाला है ? अर्थात् ज्ञान के द्वारा जानने योग्य ज्ञेय स्वभाव वाला है या अज्ञेय स्वभाव वाला है ? यदि आप कहें कि वह सुख ज्ञेय स्वभाव वाला है तो अनन्तज्ञान की सिद्धि हो जाती है अन्यथा स्वयं आत्मा के द्वारा अनन्त सुख ज्ञेय रूप नहीं हो सकेगा । अर्थात् ज्ञान का विषयभूत सुख अनन्त है और ज्ञान उस अनन्त सुख को वेदन करे—जाने इसलिये वह भी अनन्त सिद्ध हो जाता है अन्यथा अनन्त सुखों का संवेदन—ज्ञान नहीं बनेगा ।

यदि पुनः वह सुख असंवेद्य (अज्ञेय) स्वभाव वाला है तब तो उसे 'सुख' यह नाम भी कैसे बनेगा ? क्योंकि साता के संवेदन को ही सुख कहते हैं ।

वेदांती—परमात्मा के अनन्तसुख का संवेदन रूपज्ञान तो हम स्वीकार करते हैं, किन्तु उसके केवल बाह्य पदार्थों का ज्ञान नहीं मानते हैं ।

1 अतः परं वेदान्तवादी प्राह । 2 वेदांतवादी भास्करवादी । (व्या० प्र०) 3 अत्राह जैनः । सोपि मोक्षेऽनन्तसुखवादी विचार्यमाणः युक्त्यागमेन च विरुद्धयते दि. प्र. । 4 तद्वचनं इति पा. । (व्या० प्र०) 5 ज्ञेय स्वभावम् । स्वसंवेद्य-स्वभावमिति पाठान्तरम् । 6 (विषयरूपस्य सुखस्यानन्त्ये विषयिणस्तद्वेदनस्याप्यानन्तम्—अन्यथा तत्संवेदनानुपपत्तेः) । 7 आत्मना । 8 सुखस्य संवेद्यत्वेति पा. । स्वसंवेद्य इति पा. । अन्यथा ज्ञानस्यानन्तस्य सिद्धेरभावे अनन्तस्य सुखस्य संवेद्यत्वं विरुद्धयते । (व्या० प्र०) 9 रूप । यसः । (व्या० प्र०) 10 वेदान्तवादिनः । 11 अभ्युपगम्यते । 12 परमात्मनः । 13 (जैनः) विचार्यम् (वक्ष्यमाणप्रकारेण) । 14 यदि सुखं तदेव परमब्रह्मैव तदा संवेद्यसंवेदक-भावो न स्यादेकस्यानन्तस्य संवेद्यसंवेदकत्वानुपपत्तेरित्यभिप्रायः । (व्या० प्र०)

हि बाह्यार्थभावो यथाभ्युपगन्तव्यस्तथा सुखाभावोपि, अन्यथा द्वैतप्रसङ्गात् । अथ द्वैत-
वादावलम्बिना¹ सतोपि ²बाह्यार्थस्येन्द्रियापायादसंवेदनं मुक्तस्येति मतं तदप्यसंगतं, ³तत
एव सुखसंवेदनाभावप्रसङ्गात् । ⁴अथान्तःकरणाभावेपि मुक्तस्यातीन्द्रियसंवेदनेन सुखसंवेदन-
मिष्यते तर्हि बाह्यार्थसंवेदनमस्तु तस्यातीन्द्रियज्ञानेनैवेति मन्यतां, सर्वथा ⁵विशेषाभावात् ।

[बौद्धाभिमतमोक्षस्य निराकरणं]

⁶येऽपि ⁷निरास्रवचित्तसन्तानोत्पत्तिर्भोक्ष⁸ इत्याचक्षते तेषामपि मोक्षतत्त्वं ⁹युक्त्या-

जैन—तब आपको यह विचार करना होगा कि बाह्य पदार्थों का अभाव होने से मुक्त जीव के बाह्य पदार्थ के ज्ञान का अभाव है या मुक्त जीव के इन्द्रियों के न होने से बाह्य पदार्थ के ज्ञान का अभाव है ? यदि आप प्रथम पक्ष स्वीकार करें तो मुक्त जीव के सुख का भी ज्ञान नहीं होगा क्योंकि बाह्य पदार्थ के समान उसका भी अभाव है । पुरुषाद्वैतवादियों के यहाँ जैसे बाह्य पदार्थों का अभाव माना है वैसे ही सुख का भी अभाव माना है अन्यथा द्वैत का प्रसंग आता है अर्थात् पुरुष और सुख दो वस्तु होने से अद्वैत नहीं बन सकेगा ।

द्वैतवादी भाट्ट—बाह्य पदार्थ के होते हुये भी मुक्त जीव के इन्द्रियों का अभाव है अतः मुक्त जीव के ज्ञान नहीं होता है ।

जैन—यह कथन भी संगत नहीं है क्योंकि इन्द्रिय के अभाव से ही सुख संवेदन—सुख के ज्ञान का भी अभाव हो जावेगा । यदि कोई कहे कि मुक्त जीव के अंतःकरण का अभाव होने पर भी अतीन्द्रिय ज्ञान के द्वारा सुख का संवेदन हम स्वीकार करते हैं तब तो पुनः मुक्त जीव के अतीन्द्रिय ज्ञान के द्वारा ही बाह्य पदार्थों का ज्ञान क्यों नहीं मान लेते क्योंकि दोनों में सर्वथा कोई अंतर नहीं है ।

भावार्थ—वेदांती लोग अपनी आत्मा को, भगवान् को और सारे जगत् को एक परमब्रह्म रूप मानते हैं उनका कहना है कि जो कुछ चर-अचर, चेतन-अचेतन पदार्थ दृष्टिगोचर हो रहे हैं वे सब उस परमब्रह्म की ही पर्यायें हैं अतः इनके सिद्धांत में मोक्ष की कल्पना तो अघटित हो है फिर भी वे लोग कहते हैं कि एक ब्रह्म स्वरूप आत्मा में लीन हो जाना ही मोक्ष है और उस मोक्ष में केवल आनंद ही आनंद रह जाता है । ये लोग मोक्ष में ज्ञान को भी नहीं मानते हैं ।

इस पर जैनाचार्यों ने समझाया है कि भाई ! यदि आप मोक्ष में ज्ञान को नहीं मानोगे तो अनंत सुख का अनुभव भी कैसे हो सकेगा ? अतः जैसे आप मोक्ष में अनंतसुख का अस्तित्व मानते हैं वैसे ही अनंतज्ञान का भी अस्तित्व मान लीजिये कोई बाधा नहीं है ।

1 भाट्टानाम् । 2 मनः । (ब्या० प्र०) 3 इन्द्रियापायादेव । 4 परः । 5 सुखसंवेदनबाह्यार्थसंवेदनयोः । 6 सौगताः ।

7 वीतरागद्वेषात्मसन्तानोत्पत्तिः । 8 जीवन्मुक्तः । (ब्या० प्र०) 9 चित्तानां तत्त्वतोऽन्वितसाधनं संतानोच्छिदानुपपत्तिकथनं च युक्त्या बाधनं क्षणक्षयैकांताभ्युपगमे मोक्षाभ्युपगमे न घटत एवेति त्समर्थनमभ्युपायेन बाधनं—दि. प्र. ।

भ्युपायेन^१ च बाध्यते^२ प्रदीपनिर्वाणोपमशान्तनिर्वाणवत्^३ चित्तानां^४ तत्त्वतोऽन्वितत्व^५साधनात्^६ सन्तानोच्छेदानुपपत्तेश्च^७ निरन्वयक्षणक्षयैकान्ताभ्युपायेन^८ च मोक्षाभ्युपगमबाधनस्य वक्ष्यमाणत्वात् ।

[सांख्यादिमान्यमोक्षकारणतत्त्वमपि निराक्रियते जैनाचार्यैः]

१ तथा मोक्षकारणतत्त्वमपि कपिलादिभिर्भाषितं न्यायागमविरुद्धम् ।

[सौगत द्वारा अभिमत मोक्ष का खंडन]

सौगत—आस्रव रहित चित्तसंतान की उत्पत्ति का नाम ही मोक्ष है ।

जैन—आपका भी यह मोक्ष तत्त्व युक्ति और आगम से बाधित है प्रदीप-निर्वाणोपम शांत निर्वाण के समान है क्योंकि वास्तव में चित्त ज्ञान क्षणों में अन्वय पाया जाता है । एवं संतानों का सर्वथा उच्छेद भी नहीं हो सकता है तथा च निरन्वय क्षण क्षय की एकांत से स्वीकार करने पर मोक्ष की सिद्धि भी बाधित ही है । इस मत का खंडन आगे हम विशेष रूप से करेंगे । अर्थात् जैसे दीपक बुझ जाने पर उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है वैसे ही निर्वाण के बाद जीव के ज्ञान का अस्तित्व कुछ भी नहीं रहता है । इस मान्यता में अनेकों बाधाएँ आती हैं ।

अब जिस प्रकार से अन्य के द्वारा मान्य मोक्ष तत्त्व में बाधाएँ आती हैं उसी प्रकार से मोक्ष के कारणभूत तत्त्वों में भी बाधाएँ आती हैं इसका स्पष्टीकरण करते हैं ।

[सांख्यादि अन्य मतावलंबियों के द्वारा मान्य मोक्ष के कारण तत्त्व भी बाधित ही हैं]

कपिल आदि के द्वारा कहे गये मोक्ष के कारण तत्त्व भी न्याय-युक्ति और आगम से विरुद्ध ही हैं । अर्थात् यहाँ तक अन्य लोगों के द्वारा मान्य मोक्ष तत्त्व में दूषण दिखाया है अब मोक्ष के उपायभूत तत्त्वों में जो अन्य लोगों की भिन्न-भिन्न मान्यताएँ हैं उन पर विचार किया जा रहा है ।

१ आगमेन । २ प्रदीपस्य निर्वाणोपमं तच्च तच्छान्तनिर्वाणं च । यथा प्रदीपनिर्वाणं युक्त्यागमेन च बाध्यते । ३ सकलचित्तसंतानोच्छित्तिवत् । परममुक्तवत् । (व्या० प्र०) ४ ज्ञानानां सान्वयत्वेन साधनात् । ५ द्रव्यसमन्वितः । (व्या० प्र०) ६ द्वितीयपरिच्छेदे सन्तानः समुदायश्चेति कारिकायां वक्ष्यमाणत्वात् । ७ मानसानां परमार्थतोनुगतत्वं साध्यते मानसानां सन्तानोच्छेदश्च न संभवतीति हेतुद्रव्यात् । ८ यसः । (व्या० प्र०) ९ यथा मोक्षतत्त्वम् ।

सांख्यादि के द्वारा मान्य संसार मोक्ष के खंडन का सारांश

सांख्य कहता है कि प्रकृति और पुरुष का भेद ज्ञान हो जाने पर चैतन्य मात्र स्वरूप में आत्मा का अवस्थान हो जाना मोक्ष है। सर्वज्ञपना प्रधान का स्वरूप है आत्मा का नहीं क्योंकि ज्ञानादि अचेतन हैं वे प्रधान के ही स्वरूप हैं, उत्पत्तिमान् होने से घट के समान। एवं आत्मा सकल विशेषों से रहित होने पर भी वस्तु है तथा चेतन आत्मा के संसर्ग से ही वे ज्ञानादि चेतन के समान दीखते हैं।

जैनाचार्य कहते हैं कि सांख्य का यह कथन असंभव है हमारे यहाँ तो अनंत ज्ञानादि स्वरूप चैतन्य विशेष में अवस्थान को ही मोक्ष कहा है क्योंकि ज्ञानादि आत्मा के स्वभाव हैं जैसे चैतन्य। ज्ञान को अचेतन एवं प्रधान का धर्म आप किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं कर सकते। यदि “उत्पत्ति-मत्वात्” हेतु से प्रधान का कहो तो भी ठीक नहीं है। यद्यपि ज्ञान सामान्य की अपेक्षा उत्पत्तिमान् नहीं है फिर भी विशेष श्रुत एवं केवलज्ञान आदि की अपेक्षा उत्पत्तिमान् है। ज्ञानादि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से भी चेतन रूप प्रसिद्ध है। तथा आत्मा सामान्य विशेषात्मक होने से ही वस्तु है न कि विशेषों से रहित होने से। विशेष रहित सामान्य खपुष्पवत् असत् ही हैं अतः आत्मा ही सर्वज्ञ होता है अचेतन प्रधान नहीं होता है।

वैशेषिक कहता है कि बुद्धि, सुख, दुःखादि आत्मा के विशेष गुणों का उच्छेद होकर के सामान्य आत्मा में अवस्थान हो जाना ही मोक्ष है क्योंकि बुद्धि आदि गुण आत्मा के स्वभाव नहीं हैं आत्मा से भिन्न हैं कारण उनमें उत्पाद, व्यय पाया जाता है। एवं मुक्ति में धर्म, अधर्म का तो आत्यंतिक अभाव है अन्यथा मुक्ति ही नहीं होगी तथा उनके फलस्वरूप सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, ज्ञान आदि गुणों का अभाव ही हो जाता है।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि ज्ञानादि को सर्वथा आत्मा से भिन्न मानना ठीक नहीं है क्योंकि वे आत्मा के ही स्वभाव हैं। पुण्य पापादि के निमित्त से होने वाले सांसारिक सुख एवं क्षयोपशम ज्ञान का अभाव मानना तो मुक्ति में युक्ति युक्त है, किंतु वेदनीय एवं ज्ञानावरणादि कर्मों के सर्वथा अभाव से आत्मा में प्रगट होने वाले अव्याबाध सुख एवं अनंतज्ञानादि विशेष गुणों का अभाव मानना कथमपि शक्य नहीं है। यदि ऐसा मानो तो ऐसा कौन बुद्धिमान होगा जो अपने ही सुखादि का नाश करने के लिये मुक्ति के लिये अनुष्ठान आदि करे अर्थात् कोई नहीं करेगा। अतएव जीव के औपशमिकादि पाँच भावों के अन्तर्गत औपशमिक के २ भाव, क्षायोपशमिक के १८ भाव, औदयिक के २१ भाव, पारिणामिक के भव्यत्व, अभव्यत्व ये दो भाव तथा क्षायिक के दान, लाभ, भोग, उपभोग और क्षायिकचारित्र्य ये पाँच भाव मिलकर ४८ भाव रूप विशेष गुणों का मुक्ति में सर्वथा उच्छेद है किंतु ४ क्षायिक

भाव १ जीवत्व रूप पारिणामिक भाव ये ५ भाव मुक्ति में पाये ही जाते हैं । कहा भी है—

“अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः” इत्यादि । इस प्रकार संसार एवं मोक्ष की सिद्धि हो गई ।

वेदांती तो मुक्त जीव के अनंत सुख संवेदन रूप ज्ञान मानते हैं एवं बाह्य पदार्थों का ज्ञान नहीं मानते हैं । इस पर प्रश्न होता है कि मुक्त जीव के इन्द्रियों का अभाव है इसलिये बाह्य पदार्थ का ज्ञान नहीं है या बाह्य पदार्थ का अभाव कहो तो सुख का भी अभाव हो जावेगा कारण कि आप पुरुषाद्वैत-वादियों के यहाँ सुख भी बाह्य पदार्थ के समान वदित नहीं होता है यदि मानों तो पुरुष और सुख से द्वैत हो जावेगा । यदि इन्द्रियों का अभाव कहो तो बिना इन्द्रिय के सुख का वेदन कैसे होगा ? यदि अतीन्द्रिय से मानों तो बाह्य पदार्थों का ज्ञान मानना होगा ।

तथैव बौद्ध ने आस्रव रहित चित्तसंतति को उत्पत्ति को ही मोक्ष माना है सो भी ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञान क्षणों में अन्वय पाया जाता है तथा निरन्वय क्षण क्षय को एकांत से स्वीकार करने पर मोक्ष की सिद्धि वाधित ही है ।



[सांख्याभिमतमोक्षकारणतत्त्वस्य खण्डनं]

¹तद्विज्ञानमात्रं न परनिःश्रेयसकारणं, ²प्रकर्षपर्यन्तावस्थायामप्यात्माने शरीरेण सहावस्थानान्मिथ्याज्ञानवत्³ । न तावदिहासिद्धो हेतुः, सर्वज्ञानामपि कपिलादीनां स्वयं प्रकर्षपर्यन्तावस्थाप्राप्तस्यापि ज्ञानस्य शरीरेण सहावस्थानोपगमात्⁴ । साक्षात्सकलार्थ-ज्ञानोत्पत्त्यनन्तर⁵ शरीराभावे कुतोयमाप्तस्योपदेशः ⁶प्रवर्तते ? अशरीरस्याप्तस्योपदेश-करणविरोधादाकाशवत् । ⁷तस्यानुत्पन्ननिखिलार्थज्ञानस्योपदेश इति चेत्⁸, तस्याप्रमाणत्व-शङ्काऽनिवृत्तेरन्या⁹ज्ञानपुरुषोपदेशवत् । यदि पुनः शरीरान्तरानुत्पत्तिर्निःश्रेयसं न गृहीतशरीर-निवृत्तिः । ¹⁰तस्य साक्षात्सकलतत्त्वज्ञानं कारणं, न तु¹¹ गृहीतशरीरनिवृत्तेः¹², फलोपभोगात्तदुप-गमात्¹³ ।

[सांख्य के द्वारा मान्य मोक्ष के कारण का खंडन]

सांख्य—विज्ञान मात्र ही मोक्ष का कारण है अर्थात् प्रकृति और पुरुष का भेद विज्ञान मात्र ही परनिःश्रेयस का कारण है । ऐसा सांख्यों का कहना है । ये लोग चारित्र्य को बिल्कुल ही मानने को तैयार नहीं हैं ।

जैन—विज्ञान मात्र ही परनिःश्रेयस (मोक्ष) का कारण नहीं है क्योंकि आत्मा में सम्पूर्ण पदार्थों को साक्षात् करने वाले ज्ञान का प्रकर्ष पर्यंत अवस्था—चरम सीमा के हो जाने पर भी आत्मा का शरीर के साथ अवस्थान पाया जाता है । जैसे मिथ्याज्ञान के रहने पर भी शरीर के साथ अवस्थान पाया जाता है अर्थात् सर्वज्ञ भगवान् के क्षायिक अनंतज्ञान की पूर्णता हो चुकी है फिर भी अघातिया कर्मों के शेष रहने से परमौदारिक शरीर पाया जाता है । यह हमारा हेतु असिद्ध भी नहीं है । आपके यहाँ भी ज्ञान के प्रकर्ष पर्यंत अवस्था को प्राप्त हो जाने पर भी कपिल आदि सर्वज्ञों का शरीर के साथ अवस्थान माना है । यदि सम्पूर्ण पदार्थों को जानने में समर्थ ऐसे ज्ञान की उत्पत्ति के अनन्तर ही शरीर का अभाव हो जावे तो पुनः आप्त का यहाँ उपदेश देना कैसे बनेगा ? क्योंकि अशरीरी आप्त को उपदेश करने का विरोध है जैसे कि अशरीरी आकाश उपदेश नहीं दे सकता है ।

सांख्य—जिनके निखिल पदार्थ का ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ है ऐसे आप्त का उपदेश देना बन जावेगा ।

जैन—नहीं, जिसके सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ है उसके उपदेश में अप्रमाणत्व की शंका दूर नहीं हो सकेगी अज्ञानी पुरुष के उपदेश के समान ।

- 1 मात्रशब्देन दर्शनचारित्र्ययोर्निराशः । 2 सकलार्थसाक्षात्कारितावस्थायाम् । 3 विज्ञानमात्रस्य प्रवर्तमानत्वात् । 4 कपिलादिभिः । 5 ज्ञानोत्पन्नानंतरमिति पा.दि.प्र. । 6 प्रवर्तते इति पा. । (व्या० प्र०) 7 सांख्यः प्राह । आप्तस्य 8 जैन आह ।—अनुत्पन्ननिखिलार्थज्ञानस्य पुंस उपदेशस्यासत्यत्वसंभवात् । 9 कपिलादेरन्यपुरुष । (व्या० प्र०) 10 शरीरान्तरानुत्पत्तिकक्षणस्य । निःश्रेयसस्य । 11 न च इति पा. । (व्या० प्र०) 12 (गृहीतशरीरनिवृत्तौ न सकलतत्त्वज्ञानं कारणं, गृहीतशरीरनिवृत्तौ फलोपभोगस्य कारणत्वात्) । 13 (गृहीतशरीरनिवृत्तिः फलोपगमादेव भवतीत्युपगमात्सांख्यैः ।

ततः पूर्वोपात्तशरीरेण सहावतिष्ठमानात्तत्त्व¹ज्ञानादाप्तस्योपदेशो युक्त इति मतं² तदा हेतुः सिद्धोभ्युपगतस्तावत्³ । स च परनिःश्रेयसाऽकारणत्वं तत्त्वज्ञानस्य साध्यत्येव, भाविशरीरस्येवोपात्तशरीरस्यापि निवृत्तेः परनिःश्रेयसत्वात्⁴, ⁵तस्य च ⁶तद्भावेऽप्यभावात् । ⁷फलोपभोगकृतोपात्तकर्मक्षयापेक्षं⁸ तत्त्वज्ञानं परनिःश्रेयसकारणमित्यप्यनालोचिताभिधानं⁹ फलोपभोगस्यौपक्रमिकानौ¹⁰पक्रमिकविकल्पानतिक्रमात्¹¹ । तस्यौ ¹²पक्रमिकत्वे कुतस्तदु¹³पक्रमोन्यत्र¹⁴तपोतिशयात्¹⁵ । इति तत्त्वज्ञानतपोतिशयहेतुकं परनिःश्रेयसमायातम्¹⁶ । ¹⁷समाधिविशेषादुपात्ता-

सांख्य—नये शरीर की उत्पत्ति का न होना ही मोक्ष है न कि ग्रहण किये हुये शरीर का भी छूट जाना । क्योंकि मोक्ष साक्षात् सकल पदार्थों के ज्ञान रूप कारण से है न कि गृहीत शरीर की निवृत्ति (अभाव) होने से । अर्थात् गृहीत शरीर का अभाव होने में सकल पदार्थों का तत्त्वज्ञान कारण नहीं है, प्रत्युत गृहीत शरीर का अभाव फल के उपभोग से होता है । इसलिये पूर्वोपात्त शरीर के साथ अवस्थान होने से तत्त्वज्ञान से आप्त का उपदेश युक्त ही है ।

जैन—तब तो हमारा हेतु सिद्ध ही है क्योंकि ज्ञान की प्रकर्ष पर्यंत अवस्था (केवलज्ञान) के हो जाने पर भी आत्मा का शरीर के साथ अवस्थान पाया जाता है । इसलिये परनिःश्रेयस (मोक्ष) के लिये तत्त्वज्ञान साक्षात् कारण नहीं है यह बात सिद्ध हो जाती है क्योंकि भावीशरीर के समान उपात्त गृहीत शरीर का भी अभाव होने से ही “पर निःश्रेयस” होता है अतः तत्त्वज्ञान पूर्ण हो जाने पर भी मोक्ष का अभाव देखा जाता है ।

सांख्य—शुभ अशुभ रूप कर्म फल का उपभोग (अनुभव) कर लेने के बाद उपात्त कर्मों का क्षय हो जाने से जो तत्त्वज्ञान होता है वह मोक्ष का कारण है ।

जैन—आपका यह कथन भी विचार शून्य ही है । फलोपभोग के दो भेद हैं—१. औपक्रमिक २. अनौपक्रमिक और फलोपभोग इन दोनों भेदों का उल्लंघन नहीं करता है । यदि फल का अनुभवन औपक्रमिक-अविपाक निर्जरा से होता है तो तपोतिशय को छोड़कर वह उपक्रम रूप अविपाक निर्जरा

1 मानस्य तत्त्व इति पा. दि. प्र. । 2 सांख्यस्य । 3 अस्माभिः स्याद्वादिभिरङ्गीकृतः प्रकर्षपर्यन्तावस्थायामप्यात्मनि ज्ञानस्य शरीरेण सहावस्थानादित्ययं हेतुः । 4 यथा भाविशरीरस्याभावः परनिःश्रेयसत्वं घटते । तथा गृहीतशरीर-स्याप्यभावः । कस्मात्तस्य परनिःश्रेयसस्य तद्भावे तत्त्वज्ञानसद्भावेऽपि सति असंभवात् । दि. प्र. । 5 परनिःश्रेय-सत्वस्य । 6 तत्त्वज्ञानभावेऽपि । 7 (सांख्यः) फलानां शुभाशुभानामुपभोगोऽनुभवनं तेन कृतो योसावुपात्तकर्मणां क्षयस्तस्य अपेक्षा यस्य तत्तथोक्तम् । 8 फलानां शुभाशुभानामुपभोगोऽनुभवनं तेन क्षयो योऽसावुपात्तकर्मणां क्षयस्तस्यापेक्षा यस्य तत्तथोक्तम् । (व्या० प्र०) 9 जैनः प्राह । 10 अविपाक निर्जरा । सविपाकनिर्जरा । (व्या० प्र०) 11 अनौपक्रमिकफलोपभोगस्य परनिःश्रेयसकारणत्वेन परैरनभ्युपगमादेवात्र तस्य परिहारो नीच्यते—दि. प्र. । 12 फलोपभोगस्य । 13 तस्य फलोपभोगस्याधिकतपसः सकाशात् अन्यत्रोपक्रमः कुतः न कुतोऽपि । एतावता तपसा यो विपाकः स सकाम इत्यायातं—दि. प्र. । 14 विना । 15 (तपोतिशयस्याकामनिर्जराकारणत्वमुक्तम्) । 16 न तु तत्त्वज्ञानमात्रहेतुकम् । 17 तत्त्वज्ञानतपोतिशयहेतुकत्वाभावेऽपि मोक्षस्य स्थिरीभूततत्त्वज्ञानमेव हेतुरित्यदोष इति सांख्यः ।

शेषकर्मफलोपभोगोपगमाददोष¹ इति चेत् कः² पुनरसौ समाधिविशेषः ? स्थिरीभूतं ज्ञान-
मेव स इति चेत्³ तदुत्पत्तौ परनिःश्रेयसस्य भावे स⁴ एवाप्तस्योपदेशाभावः⁵ । ⁶सकलतत्त्व-
ज्ञानस्यास्थैर्यावस्था⁷यामसमाधिरूपस्योपजनने युक्तोयं योगिनस्तत्त्वोपदेश इति⁸ चेन्न,
सकलतत्त्वज्ञानस्यास्थैर्यविरोधात्तस्य⁹ कदाचिच्चलनानुपपत्तेः, ¹⁰अक्रमत्वाद्विष¹¹यान्तरसंच-
रणाभावात्, अन्यथा¹² सकलतत्त्वज्ञानत्वासंभवादस्मदादिज्ञानवत् । अथ¹³ तत्त्वोपदेशद-
शायां योगिनोपि ज्ञानं विनेयजनप्रतिबोधाय व्याप्रियमाणमस्थिरमसमाधिरूपं पश्चान्निवृत्त-
सकलव्यापारं स्थिरं समाधिव्यपदेशमास्कन्द¹⁴तीत्युच्यते तर्हि¹⁵ समाधिश्चारित्रमिति नाममात्रं
भिद्यते, नार्थः¹⁶ ।

और अन्य किस कारण से हो सकती है अर्थात् तपश्चर्या आदि ही औपक्रमिक निर्जरा में कारण है इसलिये तपश्चर्या के अतिशय विशेष से होने वाला तत्त्वज्ञान ही मोक्ष के लिये कारण है यह बात सिद्ध हो गई ।

सांख्य—उपात्त-उपाजित किये गये पूर्व के अशेष कर्मों के फल का उपभोग समाधि विशेष से हो जाता है ऐसा हमने माना है इसमें कोई दोष नहीं आता है ।

जैन—यह समाधि विशेष क्या है ?

सांख्य—स्थिरीभूत ज्ञान का ही नाम समाधि विशेष है ।

जैन—तब तो स्थिरीभूत ज्ञान के उत्पन्न होते ही मोक्ष हो जावेगा । पुनः आप्त के उपदेश का अभाव ही हो जावेगा ।

सांख्य—अस्थैर्य अवस्था में सकल पदार्थों का तत्त्वज्ञान असमाधि रूप है अतः योगी का तत्त्वोपदेश करना युक्त ही है । अर्थात् जब संपूर्ण तत्त्वज्ञान अस्थिर रहता है तब असमाधि रूप अवस्था है उस समय योगी उपदेश देते हैं ।

जैन—सकल तत्त्वज्ञान में अस्थिर अवस्था का विरोध है अर्थात् पूर्णज्ञान में चलायमान अवस्था कदाचित् भी नहीं हो सकती है क्योंकि सकलज्ञान युगपत् संपूर्ण पदार्थों को जान लेता है अतः क्रम से पृथक्-पृथक् विषय में संचरण करने का अभाव है अन्यथा सकल तत्त्वों का ज्ञान होना असंभव हो जावेगा हम लोगों के ज्ञान के समान ।

1 समाधिविशेषस्य स्थिरीभूतज्ञानत्वेन तत्त्वज्ञानतपोतिशयद्वयहेतुकत्वाभावाददोष इति भावः । दि. प्र. । 2 स्याद्वादी ।

3 स्थिरीभूतज्ञानोत्पत्तौ सत्यां स परनिःश्रेयससंभवः तस्मिन् सति स एव पूर्वोक्तः आप्तस्योपदेशाभावः संभवति—दि. प्र. ।

4 परनिःश्रेयसे शरीराभावादशरीरस्याप्तस्योपदेशकरणविरोधादाकाशावत् भाविशरीरस्येवोपात्तशरीरस्यापि निवृत्तिः परनिःश्रेयसमिति वचनात् । (व्या० प्र०) 5 सकलतत्त्वज्ञानस्य विषयांतरसंचरणाभावेनास्थैर्याभावात्तद्वै परनिःश्रेयसप्राप्तिस्तत्त्वोपदेशाभाव इति भावः—दि. प्र. । 6 सांख्यः । 7 चलावस्थायाम् । 8 जैनः । 9 अस्थैर्यविरोधं दर्शयति । 10 चलनानुपपत्तिः कुतः ? 11 अक्रमः कुतः ? 12 विषयान्तरसंचरणे सति । 13 सांख्यः ।

14 स्वीकरोति । (व्या० प्र०) 15 जैनः । 16 अर्थोऽभिप्रायस्तु न भिद्यते ।

तत्त्वज्ञानादशेषाज्ञाननिवृत्ति¹ फलादन्यस्य² परमोपेक्षालक्षणस्वभावस्य³ समुच्छिन्नक्रिया-
⁴प्रतिपातिपरमशुक्लध्यानस्य तपोतिशयस्य समाधिव्यपदेशकरणात् । तथा चारित्रसहितं
 तत्त्वज्ञानमन्तर्भूततत्त्वार्थश्रद्धानं⁵ परनिःश्रेयसमनिच्छतामपि कपिलादीनामग्रे⁶ व्यवस्थितम् ।
 ततो न्यायविरुद्धं सर्वथैकान्तवादिनां ज्ञानमेव मोक्षकारणतत्त्वम् । स्वागमविरुद्धं च, सर्वेषा-
 मागमे⁷ प्रव्रज्याद्यनुष्ठानस्य⁸ सकलदोषोपरमस्य⁹ च बाह्यस्याभ्यन्तरस्य च चारित्रस्य मोक्षका-
 रणत्वश्रवणात् ।

सांख्य—योगियों का ज्ञान तत्त्वोपदेश के समय शिष्य जनों को प्रतिबोधन करने के लिये प्रवृत्त होता हुआ अस्थिर और असमाधि रूप है । पश्चात् वही ज्ञान सकल व्यापार से निवृत्त (रहित) होकर स्थिर समाधि नाम को प्राप्त कर लेता है ।

जैन—तब तो इस कथन से समाधि और चारित्र इनमें नाम मात्र का ही भेद रह जाता है अर्थ से भेद कुछ भी नहीं दीखता है । अशेष अज्ञान की निवृत्ति है फल जिसका ऐसे तत्त्वज्ञान से भिन्न परमोपेक्षा लक्षण स्वभाव वाला समुच्छिन्न क्रिया प्रतिपाति नामक परम शुक्लध्यान जो कि तपश्चर्या का अतिशय रूप है उसी को तुमने समाधि नाम दिया है । तथा जो चारित्र सहित है और तत्त्वार्थ श्रद्धान जिसमें अंतर्गमित है ऐसा तत्त्वज्ञान ही परनिःश्रेयस (मोक्ष) का कारण है इस प्रकार को कपिल आदि स्वीकार नहीं करते हैं फिर भी उनके सम्मुख सम्यग्दर्शन और चारित्र व्यवस्थित हो ही जाते हैं ।

इसलिये ज्ञान ही मोक्ष के लिये कारणभूत तत्त्व है इस प्रकार सर्वथा एकांतवादियों का कथन न्याय से विरुद्ध है और उनके आगम से भी विरुद्ध है क्योंकि सभी के आगम में दीक्षा आदि बाह्य चारित्र के अनुष्ठान और सकल दोषों की उपरति रूपा अभ्यन्तर चारित्र मोक्ष के कारण हैं ऐसा सुना जाता है ।

विशेषार्थ—जैन सिद्धांत में तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान पूर्ण रूप से प्रकट हो जाता है, जिसे अनंतज्ञान अथवा क्षायिकज्ञान भी कहते हैं । यह ज्ञान की पूर्णावस्था है । यहाँ नव केवललब्धि के प्रकट हो जाने से 'परमात्मा' यह संज्ञा आ जाती है । यहाँ पर शील के १८ हजार भेद पूर्ण हो जाते हैं, किन्तु ८४ लाख उत्तरगुणों की पूर्णता १४ वें गुणस्थान के अंत में होती है और रत्नत्रय की पूर्णता भी वहीं पर होती है ऐसा श्लोकवातिक में स्पष्ट किया है ।

समयसार ग्रन्थ में ज्ञान मात्र से बंध का निरोध माना है वहाँ पर भी श्री जयसेन स्वामी ने टीका में स्पष्ट किया है यथा—

णादूण आसवाणं असुचित्तं च विवरीयभावं च ।

दुःखस्स कारणंति य तदो नियत्ति कुणदि जीवो ॥७७॥

1 बसः । (व्या० प्र०) 2 भिन्नस्य । 3 तद्व्यापाराऽविनाशीति स्वरूपं तत्शुक्लध्यानस्य । 4 व्यापार । अत्रिनाशि । (व्या० प्र०) 5 निःश्रेयसकारणम् इति पा. । (व्या० प्र०) 6 कपिलादीनां सम्मुखम् । 7 अनज्ञानादितपः । (व्या० प्र०) 8 बाह्यचारित्ररूपस्य । 9 अभ्यन्तरचारित्ररूपस्य ।

[अन्यैः कल्पितं संसारतत्त्वमपि सर्वथा विरुद्धमेव]

तथा संसारतत्त्वं चान्येषां न्यायागमविद्वद्धम् । तथा हि । नास्ति नित्यत्वाद्येकान्ते ^१कस्य-चित्संसारः, ^२विक्रियानुपलब्धेः । इति न्यायविरोधः । समर्थयिष्यते^३ तदागमविरोधश्च, ^४स्वयं पुरुषस्य संसाराभाववचनाद्, ^५गुणानां संसारोपपत्तेः ^६परेषां संवृत्त्या^७ संसारव्यवस्थितेः ।

तात्पर्यवृत्ति—क्रोधाद्यास्रवाणां संबंधि कालुष्यरूपमशुचित्वं जडत्वरूपं विपरीतभावं व्याकुलत्व-लक्षणं दुःखकारणत्वं च ज्ञात्वा तथैव निजात्मनः संबंधि निर्मलात्मानुभूतिरूपशुचित्वं सहजशुद्धाखण्डके-वलज्ञानरूपं ज्ञातृत्वमनाकुलत्वलक्षणानंतसुखत्वं च ज्ञात्वा ततश्च स्वसंवेदनज्ञानांतरं सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्र्यकाग्रचपरिणतिरूपे परमसामायिके स्थित्वा क्रोधाद्यास्रवाणां निवृत्तिं करोति जीवः । इति ज्ञान-मात्रादेव बंधनिरोधो भवति नास्ति सांख्यादिमत प्रवेशः । किं च यच्चात्मास्रवयोः सम्बन्धि भेदज्ञानं तद्रागाद्यास्रवेभ्यो निवृत्तं न वेति, निवृत्तं चेत्तर्हि तस्य भेदज्ञानस्य मध्ये पानकवदभेदनयेन वीतराग-चारित्र्यं वीतरागसम्यक्त्वं च लभ्यत इति सम्यग्ज्ञानादेव बंधनिषेधसिद्धिः । यदि रागादिभ्यो निवृत्तं न भवति तदा तत्सम्यग्भेदज्ञानमेव न भवतीति भावार्थः ।

अर्थ—क्रोधादि आस्रवों के कलुषता रूप अशुचिपने को, जड़ता रूप विपरीतपने को, और व्याकुलता लक्षण दुःख के कारणपने को जानकर एवं अपने आत्मा के निर्मल आत्मानुभूति रूप शुचिपने को सहज शुद्ध अखण्ड केवलज्ञान रूप ज्ञातापन को और अनाकुलता लक्षण अनंतसुख रूप स्वभाव को जानकर उसके द्वारा स्वसंवेदन ज्ञान को प्राप्त होने के अनन्तर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य में एकाग्रता रूप परमसामायिक में स्थित होकर यह जीव क्रोधादिक आस्रवों की निवृत्ति करता है इस प्रकार ज्ञानमात्र से ही बंध का निरोध सिद्ध हो जाता है । यहाँ सांख्य मत जैसा ज्ञानमात्र से बंध का निरोध नहीं माना गया है । (किन्तु वैराग्यपूर्ण ज्ञान को ज्ञान कहा गया है और उससे बंध का निरोध होता है ।) किं च हम तुमसे पूछते हैं कि आत्मा और आस्रव संबंधी जो भेद ज्ञान है वह रागादि आस्रवों से निवृत्त है या नहीं ? यदि कहो कि निवृत्त है तब तो उस भेदज्ञान में पानक (पीने की वस्तु ठंडाई इत्यादि) के समान अभेदनय से वीतराग चारित्र्य भी और वीतराग सम्यक्त्व भी है, इस प्रकार सम्यग्ज्ञान से ही बंध का निरोध सिद्ध हो जाता है, और यदि वह भेद ज्ञान रागादि से निवृत्त नहीं है तो वह सम्यग्भेदज्ञान ही नहीं है ।

[अन्यो के द्वारा मान्य संसार तत्त्व सर्वथा विरुद्ध ही हैं]

उसी प्रकार अन्यमतावलंबियों का संसारतत्त्व भी न्यायागम से विरुद्ध है । तथाहि “नित्य

१ आत्मनः । (श्या० प्र०) २ (येषां मते नित्य एवात्मा तेषां मते आत्मनो भवान्तरावाप्तिरूपः संसारो न संभवति आत्मनो नित्यत्वेन विकारानुपपत्तेः) । ३ (अग्नेःस्माभिः) । ४ न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः, एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म इत्यादि च वदद्भिः । ५ सत्त्वरजस्तमसाम् । प्रकृतिविकृत्यहङ्कारादीनाम् । ६ सांख्यानाम् । सीगतानामिति टिप्पणान्तरम् । ७ कल्पनया ।

[सांख्यदिमान्य संसारकारणतत्त्वमपि प्रत्यक्षादि प्रमाणैर्वाध्यते]

तथा संसारकारणतत्त्वं चान्येषां न्यायागमविरुद्धम् ।

[सांख्यभिमतसंसारकारणनिराकरणं]

¹तद्धि मिथ्याज्ञानमात्रं तैरुररीकृतम् । न च तत्कारणः संसारः, ²तन्नित्यवृत्तावपि ³संसारानिवृत्तेः । यन्नित्यवृत्तावपि यन्न निवर्त्तते न तत्तन्मात्रकारणम् । यथा ⁴तक्षादि-

क्षणिक आदि एकांत में किसी भी जीव को संसार नहीं है क्योंकि विक्रिया—नर नारकादि पर्याय विशेष रूप क्रिया की उपलब्धि होना संभव नहीं है । अर्थात् जिनके मत में आत्मा सर्वथा नित्य ही है उनके मत में आत्मा के भवांतर की प्राप्ति रूप संसार संभव नहीं है । आत्मा को नित्य रूप मानने से विकार (परिणमन) हो नहीं सकता है । इस प्रकार यहाँ न्याय से विरोध आता है और आगम से विरोध का वर्णन आगे करेंगे ।

किन्हीं ने (सांख्यों ने) स्वयं ही पुरुष के संसार का अभाव माना है पुनः उनके यहाँ गुणों (सत्त्व, रज, तम) को ही संसार सिद्ध हो जाता है तथा बौद्धों ने तो संवृत्ति (कल्पना मात्र) से ही संसार को माना है । इन सबका माना हुआ संसार तत्त्व भी ठीक तरह से सिद्ध नहीं होता है अतः जैनों के द्वारा मान्य पंचपरावर्तन रूप या भवांतर रूप संसार तत्त्व ही ठीक सिद्ध होता है ।

[अन्यो के द्वारा मान्य संसार कारण भी विरुद्ध है]

इस प्रकार अन्य जनों के द्वारा मान्य संसार कारण तत्त्व भी न्याय-आगम से विरुद्ध हैं । अर्थात् अद्वैतवादी संसार को काल्पनिक ही मानते हैं तो उनके यहाँ संसार के कारण भी काल्पनिक-असत्य ही रहेंगे । सांख्य ने मिथ्याज्ञान मात्र से ही संसार को माना है इसका खंडन भी आगे विद्यानंद आचार्य स्वयं कर रहे हैं । तात्पर्य यही है कि सभी अन्य मतावलंबियों के द्वारा कल्पित जितने भी संसार और मोक्ष के कारण हैं वे सभी संसार के ही कारण हैं ऐसा समझना चाहिये । हमारे यहाँ मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पांच कारण माने गये हैं । अन्य सभी के सभी कारण इन्हीं में शामिल हो जाते हैं ।

[सांख्य के द्वारा मान्य संसार के कारण का खण्डन]

सांख्यों ने मिथ्याज्ञान मात्र को ही संसार का कारण माना है, किन्तु उतने मात्र कारण वाला संसार नहीं है क्योंकि मिथ्याज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर भी संसार का अभाव नहीं होता है । "जिसकी निवृत्ति हो जाने पर भी जो निवृत्त नहीं होता है वह उस मात्र कारण वाला नहीं है जैसे तक्षादि (बढ़ईसुतार) के निवृत्त हो जाने पर भी देवगृहादिक का अभाव नहीं होता है इसलिये वे उस मात्र कारणक नहीं है । तथैव मिथ्याज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर भी संसार का अभाव नहीं होता है अतः संसार मिथ्याज्ञान मात्र कारण वाला नहीं है ।" यहाँ यह हेतु असिद्ध भी नहीं है ।

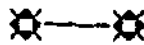
1 संसारकारणतत्त्वम् । 2 मिथ्याज्ञाननिवृत्तौ । 3 कस्यचिन्मिथ्याज्ञानं नास्ति तथापि संसारोऽस्ति । (व्या० प्र०)

4 सूत्रधारादि । (व्या० प्र०)

निवृत्तावप्यनिवर्तमानं देवगृहादि न तन्मात्रकारणम् । मिथ्याज्ञाननिवृत्तावप्यनिवर्तमानश्च संसारः । तस्मान्न मिथ्याज्ञानमात्रकारणक इति । अत्र न हेतुरसिद्धः, सम्यग्ज्ञानोत्पत्तौ मिथ्याज्ञाननिवृत्तावपि 'दोषानिवृत्तौ संसारानिवृत्तेः' स्वयमभिधानात्^१ । दोषाणां संसारकारणत्वावेदकागमस्वीकरणाच्च तन्मात्रं संसारकारणतत्त्वं न्यायागमविरुद्धं सिद्धम् । तदेवमन्येषां न्यायागमविरुद्धभाषित्वादहर्हन्नेव युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् सर्वज्ञो वीतरागश्च निश्चीयते । ततः स एव 'सकलशास्त्रादौ प्रेक्षावतां' संस्तुत्यः ।

सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति के हो जाने पर तथा मिथ्याज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर भी दोष (राग, द्वेषादि) की निवृत्ति न होने से संसार का अभाव नहीं होता है ऐसा सांख्यों ने स्वयं माना है । अर्थात् जैन सिद्धांत में भी सम्यक्त्व प्रगट होते ही चौथे गुणस्थान में मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान का अभाव हो गया है फिर भी संसार का अभाव नहीं हुआ है । सम्यक्त्व छूटने के बाद यह जीव अर्द्धपुद्गल परावर्तन तक संसार में भ्रमण कर सकता है और सम्यक्त्व सहित भी ६६ सागरोपम से कुछ अधिक काल तक संसार में रह सकता है । अतएव मिथ्याज्ञान मात्र ही संसार का कारण नहीं है ।

पुनः अन्य लोगों ने भी दोषों को संसार का कारण माना है इस बात को आगम भी स्वीकार करता है । इसलिये मिथ्याज्ञान मात्र से ही संसार होता है यह कथन न्याय एवं आगम से विरुद्ध है यह बात सिद्ध हो जाती है और इस प्रकार से अन्य सभी के आप्त भगवान् न्यायागम से विरुद्ध भाषी हैं अतः अर्हत ही युक्ति शास्त्र से अविरोधी वचन वाले हैं एवं सर्वज्ञ और वीतराग हैं ऐसा निश्चित हो जाता है । अतः वे ही सकल शास्त्र तत्त्वार्थ सूत्र की आदि-प्रारम्भ में बुद्धिमानों के द्वारा स्तवन करने योग्य हैं यह बात सिद्ध हो जाती है ।



१ तन्निवृत्तावपि संसारानिवृत्तेरिति । २ दोषाः रागद्वेषाः । ३ सांख्यैः । ४ सौमतेः । (व्या० प्र०) ५ सकलं तत्त्वार्थादि । ६ शृद्धपिच्छाचार्यादीनां । उमास्वामिप्रसिद्धापरनाम । (व्या० प्र०)

सांख्याभिमत संसार-मोक्ष कारण के खंडन का सारांश

सांख्य ज्ञान मात्र को ही मोक्ष का कारण मानते हैं सो ठीक नहीं है। कारण कि सर्वज्ञ भगवान के क्षायिक अनंतज्ञान की पूर्णता हो जाने पर भी अधातिया कर्मों के शेष रहने से उनका परमौदारिक शरीर पाया जाता है। यदि ज्ञान उत्पन्न होते ही मोक्ष हो जावे तो यहाँ पर अवस्थान एवं उपदेश आदि नहीं घटेगा। तथा यदि ज्ञान ही एकांत से मोक्ष का कारण होवे तो सभी के आगम में दीक्षा आदि बाह्य चारित्र का अनुष्ठान एवं सकल दोषों की उपरति रूप आभ्यंतर चारित्र स्वीकार किया गया है सो व्यर्थ हो जावेगा।

हम जैनों ने “सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः” इस आगम सूत्र से मार्ग को अर्थात् मोक्ष के कारण को माना है। यदि मोक्ष को अकारणक कहेंगे तो सर्वदा सर्वत्र सभी जीव के मोक्ष का प्रसंग आ जावेगा। तथैव अन्य जनों का संसार कारण तत्त्व न्याय आगम से विरुद्ध है।

सांख्यों ने “मिथ्याज्ञान मात्र को ही संसार का कारण माना है” सो ठीक नहीं है। मिथ्या-ज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर भी रागादि दोषों की निवृत्ति न होने से संसार का अभाव नहीं होता है। यह बात स्वयं सांख्यों ने मानी है। अतएव हम जैनों को मान्य संसार के कारण आगम में प्रसिद्ध हैं।

“मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाः बंधहेतवः” ये बंध के कारण ही संसार के कारण हैं क्योंकि संसार के कारण अनादि होते हुये भी निर्हेतुक नहीं हैं। ये कारण भव्य जीवों की अपेक्षा अंत सहित हैं एवं अभव्यों की अपेक्षा अनादि अनंत हैं। अतएव अर्हत भगवान् के शासन में मोक्ष, संसार एवं दोषों के कारण सिद्ध ही है।



[बौद्धः शकते यत् बीतरागोऽपि सरागवत् चेष्टां कर्तुं शक्नोति शरीरित्वात् जैनाचार्या, अस्य समाधानं कुर्वते]

ये¹ ²त्वाहुः—‘सतोपि यथार्थदर्शिनो बीतरागस्येदन्तया³ निश्चेतुमशक्तेस्तत्कार्यस्य व्यापारा-
देस्तद्व्यभिचारादवीतरागेपि⁴ दर्शनात्, सरागाणामपि बीतरागवच्चेष्टमानानामनिवारणान्
कस्यचित् स त्वमेवाप्त इति निर्णयः संभवति’ इति तेषामपि, ⁵‘विचित्राभिसंबन्ध⁶तया⁷ व्या-
पारव्याहारादिसाङ्कर्येण⁸ क्वचिदप्यतिशयानिर्णये⁹ ¹⁰कैमर्थवयाद्विशेषेष्टिः¹¹, ¹²ज्ञानवतोपि विसं-
वादात्, ¹³क्व पुनराश्वास¹⁴ ¹⁵लभेमहि ? * न हि ज्ञानवतो बीतरागात्पुरुषाद्विसंवादः ¹⁶क्व-

[बौद्ध शंका करता है कि बीतराग भी सरागवत् चेष्टा कर सकते हैं क्योंकि वे शरीर धारी हैं
इस पर जैनाचार्यों का समाधान]

बौद्ध—यथार्थदर्शी बीतराग के होते हुये भी “ये ही बीतराग हैं” इस प्रकार से निश्चय करना
अशक्य है क्योंकि बीतराग के कार्य व्यापारादि अवीतराग में भी देखे जाते हैं अतः व्यभिचार दोष
आता है। सराग भी बीतरागवत् चेष्टा कर सकते हैं उनका निवारण कोई भी नहीं कर सकता है अतः
किसी भी जीव में ‘वे आप ही आप्त हैं’ इस प्रकार से निर्णय नहीं हो सकता है। अर्थात् सराग जीवों
में भी बीतराग के समान चष्टायें होने पर भी बीतराग जीवों में वचन आदि का अतिशय विशेष
देखा जाता है वह सर्वज्ञ आप्त आप ही हैं ऐसा जैनाचार्यों के कहने पर बौद्ध कहता है कि मानसिक
अभिप्रायों की विचित्रता से शारीरिक और वाचनिक क्रियाओं में संकर हो जाता है अतः किसी भी
पुरुष में वचनादिकों के अतिशय का निर्णय करना असंभव है। इसी बात को आगे स्पष्ट कर रहे हैं।

जैन—विचित्र अभिप्राय के होने से एवं व्यापार व्यवहारादि की संकरता से कहीं पर
कपिलादि के समान सुगत में भी अतिशय का निर्णय न होने पर किस प्रकार से अर्थात् किस अर्थ का
आश्रय लेकर के विशेष आप्तपने की इष्ट सिद्धि होगी क्योंकि केवल बीतरागों में ही नहीं बल्कि
ज्ञानवान में भी विसंवाद पाया जाता है पुनः हम लोग कहाँ पर विश्वास करेंगे ? * अर्थात् अर्हत
भगवान् आप्त हैं क्योंकि वे संवादक हैं इस पक्ष में हम लोगों को कहीं भी विश्वास नहीं हो सकेगा।
ज्ञानवान बीतराग पुरुष से कहीं पर किसी विषय में विसंवाद संभव नहीं है अन्यथा सुगतादि

1 सौगताः । 2 युक्तिशास्त्राविरोधित्वात् कस्य साधनस्यान्यथानुपपत्तिनिश्चायकं विचित्रेत्यादिभाष्यवाक्यमवतारयति ।
(व्या० प्र०) 3 अयमेवेति प्रकारेण । 4 अवीतरागेपि दर्शनादेव व्यभिचारः । 5 सरागाणामपि बीतरागवच्चेष्टा-
सद्भावेऽपि व्याहारादिकार्यातिशयदर्शनात् स त्वमेवाप्त इति निर्णयः संभवत्येवेति वदंतं जैनं प्रति सौगतेन कथ्यमानस्य
विचित्राभिसंघतया व्यापारव्याहारादिसांकर्येण क्वचिदप्यतिशयानिर्णय इति वचनोद्धाटनपुरस्सरं तत्र दूषणमाहुः
विचित्रेति । दि. प्र. । 6 विचित्राभिसंघतया इति पाठान्तरम् । 7 अभिप्रायतया । हेतुरयं, तृतीयान्तस्यापि
हेतुत्वात् । 8 कपिलादाविव सुगतेपि । 9 सरागाणां बीतरागवच्चेष्टमानानां मायाविनामपि नानापरिणामत्वेन
गमनवचनादिसाङ्करत्वेन क्वचिदपि पुरुषे माहात्म्यानिश्चये सति विशेषाभिमत (सुगत) स्थानर्थक्यं घटते । एवं सति
ज्ञानिनोपि असत्यत्वं घटते । 10 किमर्थमाश्रित्येति किं शब्दः आक्षेपे । (व्या० प्र०) 11 सुगतस्य । 12 न केवलं
बीतरागात् । (व्या० प्र०) 13 अर्हन् आप्तः संवादकत्वादित्यस्मिन् पक्षे । (व्या० प्र०) 14 विश्वासम् । 15 न
क्वापि । (व्या० प्र०) 16 विषये ।

चित्संभवति ¹सुगतादावप्यनाश्वासप्रसङ्गात् ²तस्य कपिलादिभ्यो विशेषेष्टेरानर्थक्यप्रसङ्गात् ।
न च व्यापारव्याहाराकारविशेषाणां ⁴तत्र ⁵साङ्ख्यं सिध्यति, विचित्राभिसन्धितानुपपत्तेः ⁶
⁷तस्याः पृथग्जने रागादिमत्यज्ञे प्रसिद्धेः प्रक्षीणदोषे भगवति ⁸निवृत्तेः, अस्य यथार्थ-
प्रतिपादनाभिप्रायतानिश्चयात् । ⁹कुतश्चायं ¹⁰सर्वस्य विचित्राभिप्रायतामदृश्यां व्यापारादि-
साङ्ख्यहेतुं निश्चिनुयात् ? ¹¹शरीरित्वादेर्हेतोः ¹²स्वात्मनीवेति चेत् ¹³तत एव सुगतस्यासर्वज्ञत्व-
निश्चयोस्तु । ¹⁴तत्रास्य ¹⁵ ¹⁶हेतोः सन्दिग्धविपक्ष ¹⁷व्यावृत्तिकत्वात् ¹⁸तन्निश्चयः । ¹⁹शरीरी च

में भी अविश्वास का प्रसंग आ जावेगा और सुगत को कपिल आदि से विशेष मानने में अनर्थकता का प्रसंग भी आ जावेगा, किन्तु व्यापार, व्याहार, आकारादि विशेषों का भगवान् में सांकर्य सिद्ध नहीं होता है। अर्थात् सराग वीतरागवत् चेष्टा करें और वीतराग सरागवत् चेष्टा करें इसे संकर कहते हैं। यह संकर दोष भगवान् में संभव नहीं है क्योंकि उनके विचित्र अभिप्राय नहीं पाया जाता है। अर्थात् सराग यथार्थ अभिप्राय वाले हैं और वीतराग अयथार्थ विचार वाले हैं यह बात गलत है। विचित्र अभिप्रायपना तो रागादिमान् अज्ञानी पृथग्जन-साधारण मनुष्य में ही प्रसिद्ध है। सर्वदोष रहित वीतराग भगवान् में उसका अभाव है क्योंकि सर्वज्ञ भगवान् यथार्थ प्रतिपादन के अभिप्राय वाले हैं ऐसा निश्चय पाया जाता है। तथा आप सौगत सभी के अदृश्य-रूप न दिखने वाले विचित्र अभिप्रायों को व्यापारादि सांकर्य हेतुक कैसे निश्चित करेंगे ? अर्थात् अभिप्राय तो आंतरिक हैं अतः उनका बाह्य व्यापारादि कार्यों से निर्णय नहीं किया जा सकता है ?

सौगत—‘शरीरित्वादि’ हेतु से स्वात्मा के समान हो विचित्राभिप्रायता निश्चित है अर्थात् सर्वज्ञ वीतराग में विचित्राभिप्राय है क्योंकि वे शरीर धारी हैं हम लोगों के समान ।

जैन—इसी ‘शरीरित्व’ हेतु से ही बुद्ध देव के असर्वज्ञपने का निश्चय हो जावे क्या बाधा है ? अर्थात् आपके बुद्ध भी शरीरवान् हैं अतः वे भी असर्वज्ञ हैं ऐसा हम कह सकते हैं ?

1 अन्यथा (ज्ञानवतोपि विसंवादः संभवति चेत्) । 2 अविश्वास (व्या० प्र०) 3 सुगतस्य । 4 ज्ञानवति । 5 सरागो वीतरागवद्वीतरागश्च सरागवच्चेष्टते इति साङ्ख्यम् । 6 सरागवीतरागाभिप्रायः यथार्थायथार्थप्रतिपादनाभिप्रायः । (व्या० प्र०) 7 (विचित्राभिसन्धितायाः) । 8 (विचित्राभिसन्धितायाः) । 9 सौगतः । 10 सर्वज्ञस्यासर्वज्ञस्य वा । 11 सौगतः प्राह ।—सर्वज्ञे वीतरागे विचित्राभिप्रायोस्ति, शरीरित्वादस्मदादिवत् । 12 सौगतोऽनुमान रचयति । भगवान् पक्षः विचित्राभिप्रायवान् भवतीति साध्यो धर्मः । शरीरित्वादेः । यः शरीरी स विचित्राभिप्रायवान् यथा-स्मदादिः । दि. प्र. । 13 स्याद्वादी । 14 तत्र सुगते शरीरित्वादिर्हेतोरस्य विपक्षात् । व्यावृत्तिकत्वं सन्दिग्धं व्यावर्तते न व्यावर्तते न चेति संदेहः । यः विचित्राभिप्रायवान् नास्ति स शरीरी नास्ति । इति विपक्षलक्षणं । तत्र संदेहः कथं । कश्चिद्विचित्राभिप्रायरहितोऽपि शरीरीति सौगतो वदति अतस्तस्य असर्वज्ञत्वस्य निश्चयो न । शरीरी च भवति सर्वज्ञश्च भवति । अत्र विरोधो नास्ति कस्मात् ? विज्ञानोत्कृष्टत्वे पुरुषे वचनादिविनाशानुपलभात् । दि. प्र. । 15 सुगते । 16 शरीरित्वादेरित्यस्य । 17 विचित्राभिप्रायरहितत्व । (व्या० प्र०) 18 शरीरी चास्तु सर्वज्ञश्चेति सन्दिग्धा विपक्षाद्व्यावृत्तिस्य हेतोः सः । तत्त्वात् । 19 सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वं कथमित्याशंकाया-माह । (व्या० प्र०)

स्यात्सर्वज्ञश्च, विरोधाभावात्¹, ²विज्ञानप्रकर्षे ³शरीराद्यपकर्षादर्शनादिति चेत्तत्⁴ एव ⁵सर्वज्ञस्य विचित्राभिप्रायतानिश्चयोपि मा भूत्, तत्रापि प्रोक्तहेतोः सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वाविशेषात्⁶ । ⁷सौयं विचित्रव्यापारादिकार्यदर्शनात्सर्वस्य विचित्राभिसन्धितां निश्चिनोति, न पुनः कस्यचिद्वचनादिकार्यातिशयनिश्चयात् सर्वज्ञत्वाद्यतिशयमिति⁸ ⁹कथमनुन्मतः ? ¹⁰कर्मथक्याच्चा¹¹स्य¹² सन्तानान्तरस्वसन्तानक्षण¹³क्षयस्वर्गप्रापणशक्त्या¹⁴देविशेषस्येष्टिः ? विप्रकृष्टस्वभावत्वाविशेषात्¹⁵, ¹⁶वेद्यवेदकाकाररहितस्य ¹⁷वेदनाद्वैतस्य वा विशेषस्य¹⁸

बौद्ध—हमारे बुद्ध में इस हेतु से असर्वज्ञता की सिद्धि नहीं है क्योंकि यह हेतु बुद्ध में संदिग्ध विपक्ष व्यावृत्तिक है । शरीरी भी होवे और सर्वज्ञ भी होवे इस प्रकार से इसमें विरोध का अभाव है क्योंकि विज्ञान का प्रकर्ष होने पर शरीरादिक का अपकर्ष नहीं देखा जाता है ।

जैन—इसी हेतु से सर्वज्ञ के विचित्राभिप्रायता का निश्चय भी मत होवे क्योंकि सर्वज्ञ में भी यह हेतु संदिग्धविपक्षव्यावृत्ति वाला है ।

आप बौद्ध विचित्र व्यापारादि कार्यों के देखने से सभी के विचित्र अभिप्रायपने का निश्चय तो कर लेते हैं, किन्तु किसी जीव में वचनादि कार्यों के अतिशय का निश्चय देखकर भी सर्वज्ञत्व आदि अतिशय को नहीं मानते हुये आप उन्मत कैसे नहीं हो सकते हैं अर्थात् आप बुद्धिमान् कैसे कहे जा सकते हैं ? 'शारीरिक और वाचनिक कार्यों में संवादकत्व आदि संकरता के देखने से आप्त निश्चित नहीं है ऐसा हम नहीं कह सकते हैं किन्तु आपके सर्वज्ञ का स्वभाव विप्रकृष्ट है, प्रत्यक्ष गम्य नहीं है । इसलिए अर्हन्त सर्वज्ञ नहीं हैं ऐसा हम कह सकते हैं।' इस प्रकार बौद्ध के कहे जाने पर जैनाचार्य कहते हैं कि—

आप सौगत संतानान्तर (भिन्न-२ यज्ञदत्त, देवदत्त की संतान) और अपने संतान में क्षणक्षयी शक्ति का और स्वर्ग को प्राप्त कराने वाली शक्ति आदि की विशेषता का निश्चय भी किस हेतु से करेंगे ? क्योंकि दोनों में विप्रकृष्ट-दूरवर्ती स्वभाव समान ही है एवं वेद्य (ज्ञेय) वेदकाकार (ज्ञानाकार) से रहित संवेदनाद्वैत में विशेषता का निश्चय भी किस प्रकार से होगा ? अथवा जो विशेष प्रमाणभूत, जगद्विषयी, शास्ता, रक्षक है और शोभन अवस्था को प्राप्त हो चुके हैं अथवा संपूर्ण अवस्था को प्राप्त हैं या पुनरावृत्ति (पुनर्जन्म) के न होने से सुष्ठु-सुगति को प्राप्त हैं ऐसे सुगत है । इस प्रकार इन

1 असर्वज्ञनिश्चयो न शरीरी भूत्वापि सर्वज्ञोऽस्ति । (व्या० प्र०) 2 विरोधाभावे हेतुमाह । 3 इन्द्रिय । (व्या० प्र०) 4 जैनः । 5 सर्वस्य इति पा । (व्या० प्र०) 6 शरीरित्वादिहेतोर्विचित्राभिप्रायतां न निश्चिन्मः किन्तु विचित्रव्यापारादिदर्शनादित्यत आह । (व्या० प्र०) 7 सौगतः । 8 न निश्चिनोति । (व्या० प्र०) 9 बुद्धिमान् । 10 व्यापारव्याहारादिकार्यसंवादकत्वादिसांकर्य दर्शनादाप्तत्वं न निश्चीयते इति नाच्यते किंतु विप्रकृष्टस्वभावत्वादि-त्युक्ते । (व्या० प्र०) 11 किं लिङ्गमाभित्येत्यर्थः । 12 सौगतस्य । 13 सर्वं क्षणिकं सत्त्वात् । (व्या० प्र०) 14 सन्तानान्तरो देवदत्तयज्ञदत्तसन्तानः । स्वस्य आत्मनः सन्तानश्च । तयोः क्षणक्षयिणी या शक्तिः स्वर्गप्रापणस्य च या शक्तिस्तदादेविशेषस्येष्टिनिश्चिनिरधिका भवति । कुतः ? दूरतरस्वभावत्वात्, उभयत्र सर्वज्ञत्वाद्यतिशये उक्तविशेषस्येष्टौ च विशेषाभावात् । 15 द्वैतवादिनं बौद्धं प्रति । (व्या० प्र०) 16 ज्ञानाद्वैतवादिनं प्रति जैनस्योक्तिः । 17 संवेदनाद्वैतस्य इति पा । (व्या० प्र०) 18 कर्मथक्यादिष्टिरिति पूर्वणान्वयः ।

प्रमाणभूतस्य¹ जगद्धितैषिणः शास्तुस्तायिनः² शोभन³ गतस्य⁴ सम्पूर्णं वा गतस्य पुनर-
नावृत्या⁵ सुष्ठु वा गतस्य⁶ विशेषस्येष्टिः ? ⁷सर्वत्रानाश्वासाविशेषात् । ⁸न चैवं ⁹वादिनः
किञ्चिदनुमानं नाम, ¹⁰निर¹¹भिसन्धीनामपि बहुलं ¹²कार्यस्वभावानियमोपलम्भात्, ¹³सति
काष्ठादिसामग्रीविशेषे ¹⁴क्वचिदुपलब्धस्य¹⁵ तदभावे प्रायशोनुपलब्धस्य ¹⁶मण्यादिकारण-
कलापेपि संभवात् । ¹⁷यज्जातीयो ¹⁸यतः संप्रेक्षितस्तज्जातीयात्तादृगिति दुर्लभनियमतायां
धूमधूमकेत्वादीनामपि व्याप्यव्यापकभावः कथमिव निर्णयित ? वृक्षः, शिशपात्वादिति¹⁹

विशेष नाम वाले सुगत की विशेषता का निर्णय भी कैसे होगा ? पुनः कपिल, सुगत, अर्हत आदि सभी में अविश्वास समान ही रहेगा क्योंकि सर्वज्ञत्वादि के अतिशय में संवेदनाद्वैत गुण में और सुगत के गुण में निर्णय न होने से समानता ही है ।

इस प्रकार से कहने वाले बौद्धों के यहाँ अनुमान नाम की कोई वस्तु ही सिद्ध नहीं होगी क्योंकि अभिप्रायरहित (अचेतन अग्नि आदि) में भी बहुधा कार्य हेतु और स्वभाव हेतु का नियम नहीं देखा जाता है । काष्ठादि सामग्री विशेष कारण के होने पर कहीं अग्नि की उपलब्धि होती है और कारण विशेष सामग्री के अभाव में प्रायः अनुपलब्धि है फिर भी मणि-सूर्यकांतमणि आदि कारण कलाप के होने पर अग्नि भी संभव है । जो जिस जाति वाला जिससे उत्पन्न हुआ देखा जाता है उस जाति वाले से ही वह वंसा होता है । इस प्रकार का नियम दुर्लभ होने पर धूमकेतु-अग्नि आदि में भी व्याप्य-व्यापक भाव का निर्णय कैसे होगा ? यह वृक्ष है क्योंकि शिशपा है, इसी प्रकार “यह वृक्ष है क्योंकि इसमें आम्रत्व है” उसी प्रकार आम्रलता में भी कहीं-कहीं आम देखे जाते हैं । पुनः बुद्धिमान् का मन किस प्रकार से निःशंक (संदेहरहित) हो सकेगा ? अतः विदग्ध-चतुर मर्कट जैसे अपनी ही पूँछ का भक्षण कर लेते हैं उसी प्रकार से आप अदृष्ट संशय एकांतवादी भी अपने पक्ष का स्वयं आप ही खण्डन कर लेते हैं ।*

सौगत—काष्ठादि सामग्री से उत्पन्न अग्नि जिस प्रकार की देखी जाती है मणि आदि सामग्री

- 1 प्रमाणभूताय जगद्धितैषिणे प्रणम्य शास्ते सुगताये तायिने । (इत्युक्ते बौद्धैः) । 2 रक्षकस्य । (व्या० प्र०)
3 शोभनमविद्यातृष्णाशून्यं ज्ञानसन्तानं संप्राप्तस्य सुशब्दस्य शोभनार्थत्वात् सुरूपकन्यावत् । (व्या० प्र०) 4 संपूर्ण
साक्षाच्चतुरार्यसत्यज्ञानं मंप्राप्तस्य सुशब्दस्य संपूर्णवाचित्वात् सुपूर्णकलशवत् । (व्या० प्र०) 5 सुष्ठु पुनरनावृत्या
पुनरविद्यातृष्णाक्रांतचित्तसंतानावृत्तेरभावेन गतस्य सुशब्दस्य पुनरनावृत्यर्थत्वात् सुनष्टाक्षरवत् । (व्या० प्र०)
6 सुगतकपिलाहंतां मध्ये । 7 सर्वज्ञत्वाद्यतिशये संवेदनाद्वैतगुणे सुगतगुणे चानिर्णयतया विशेषाभावात् । 8 अनु-
मानात्तद्विशेषेष्टिः स्यादित्युक्ते आह—न चैवमिति । 9 एवं वादिनः सौगतस्य किञ्चिदनुमानं न सम्भवति,
निरभिप्रायाणामनुमानानुमेयानां बाहुल्येन कार्यस्वभावरूपयोर्हृत्वोरनिश्चयदर्शनात् । 10 प्रायशः प्रतिपन्नाग्निधूमादी-
नामपि । (व्या० प्र०) 11 अभिप्रायरहितानामचेतनादीनामग्न्यादीनामित्यर्थः । 12 कार्यानुमानस्वभावानुमान ।
(व्या० प्र०) 13 दुर्लभनियमता कुत इत्युक्ते तत्र समर्थनं । (व्या० प्र०) 14 कारणभूते । 15 अग्नेः । 16 मणिः
सूर्यकान्तः । 17 यत्प्रकारः । (व्या० प्र०) 18 अग्नेः । (व्या० प्र०) 19 इत्यनुमानं च न भवेद्यतः ।

¹लताचूता²देरपि³ ⁴वृक्षदेव दर्शनात् प्रेक्षावतां किमिव⁵ निःशंकं चेतः स्यात् ? ⁶तदेतद-
दृष्ट⁷संशयैकान्तवादिनां विदग्धमर्कटानामिव स्वलांगूलभक्षणम्⁸ * । ⁹ननु च 'काष्ठादि-
सामग्रीजन्योऽग्निर्यादृशो दृष्टो न तादृशो मण्यादिसामग्रीप्रभव इति यज्जातीयो यतो दृष्टः
स तादृशादेव न पुनरन्यादृशादपि, यतो धूमपावकयोर्व्याप्यव्यापकभावो न निर्णयिते, ¹⁰तथा
यादृशं चूतत्वं वृक्षत्वेन व्याप्तं तादृशं न लतात्वेन, यतः शिशपात्ववृक्षत्वयोरपि व्याप्यव्या-
पकभावनियमो दुर्लभः ¹¹स्यात्' इति ¹²कण्चित्सोपि ¹³प्रतीतेरपलापकः, ¹⁴कार्यस्य ¹⁵तादृशतया
प्रतीयमानस्यापि ¹⁶कारणविशेषातिवृत्ति¹⁷दर्शनात्¹⁸ ।

से उद्भूत अग्नि वैसी नहीं होती है 'इसीलिये जिस जाति वाला जिससे होता देखा जाता है वह उस जाति वाले से ही होता है न कि अन्य जाति वाले से, जिससे कि धूम और अग्नि में व्याप्य व्यापक भाव का निर्णय न हो सके अर्थात् धूम और अग्नि में व्याप्य व्यापक भाव का निर्णय होता ही है तथा जिस प्रकार का आम्रत्व वृक्षपने से व्याप्त है उस प्रकार का आम्रत्व लता के साथ व्याप्त नहीं है जिससे कि शिशपात्व और वृक्षत्व में भी व्याप्य-व्यापक भाव का नियम दुर्लभ होवे अर्थात् दुर्लभ नहीं है ।

जैन—इस प्रकार से कहने वाले आप सौगत भी प्रत्यक्ष प्रतीति का अपलाप करने वाले हैं क्योंकि कार्य रूप अग्नि उस प्रकार (सामग्रीजन्य रूप) से प्रतीत होने पर भी कारण विशेष (काष्ठादि) का कहीं पर उल्लंघन करती है ऐसा देखा जाता है जैसे कि मणि आदि से अग्नि की उत्पत्ति सिद्ध है ।

भावाथ—बौद्ध कहता है कि व्यवहार में हम देखते हैं कि कोई सरागी है परन्तु वचन और काय की क्रियाओं को वीतरागो के समान करता है एवं कोई वातरागी है वह सरागी के समान प्रवृत्ति कर सकता है अतः "ये ही अर्हत हैं" यह निर्णय भी किसमें हो सकेगा ? और निर्णय न हो सकने से ही आपके अर्हत सर्वज्ञ हैं यह कहना असंभव है ।

इस पर आचार्यों ने कहा कि सभी के मनोभिप्राय हम और आपको दिखते नहीं हैं तो फिर बाह्य क्रियाओं से उनका निर्णय कैसे होगा ? तब बौद्ध कहता है कि आपके वीतराग भगवान् के शरीर पाया जाता है अतः वे कुटिल-विचित्र मानसिक विचारधाराओं के हो सकते हैं अतएव वे सर्वज्ञ नहीं हो सकते तब आचार्य ने कहा कि बुद्ध भगवान् को भी शरीर सहित ही आपने माना है अतः यह दोष उनमें भी सम्भव है ।

बौद्ध कहता है कि आपके सर्वज्ञ का स्वभाव प्रत्यक्ष गम्य नहीं है अतः अर्हत सर्वज्ञ नहीं हो

1 चूतत्वादित्यर्थः । । (व्या० प्र०) 2 न केवलं वृक्षचूतादेः । 3 वृक्षो भविनुमर्हति, आम्रत्वात्तथा लतारूपचूतत्वात् (उभयथापि वक्तुं शक्यते) । 4 देशे । (व्या० प्र०) 5 न किञ्चिदनुमानं नाम दुर्लभनियमतायां वृक्षः शिशपात्वादिनि किमिव निःशंकं चेतः स्याद्यतः दुर्लभनियमतापि कुत इत्युक्ते स्वभावेत्यादि हेतुः सोपिः कुत इत्युक्ते लताचूतादिरित्यादिसाधनं । (व्या० प्र०) 6 अनुमानं न भवेत् यतः । चोद्य । (व्या० प्र०) 7 ईप् । अनुपलब्धवस्तुनि । (व्या० प्र०) 8 स्वपक्षक्षतिस्याद्यतः । (व्या० प्र०) 9 परः । 10 स्वभावहेतुं मण्डयति सौगतः । 11 अपि तु न स्यादेव । 12 सौगतः । 13 प्रत्यक्षस्थ । 14 वन्हेः । 15 काष्ठादिसामग्रीजन्यतया । 16 कारणविशेषः काष्ठादिस्तस्यातिवृत्तिरुल्लङ्घनं तस्या दर्शनात् । 17 उल्लंघन । (व्या० प्र०) 18 मण्यादेर्वन्निहदर्शनात् ।

[यत्नेन परीक्षितकार्याणि कारणान्यनुवर्तते]

यत्नतः परीक्षितं कार्यं कारणं नातिवर्तते इति चेत्^२ स्तुतं^३ * ।^४ प्रस्तुतं, व्यापारादिविशेषस्यापि किञ्चिज्जरागादिमसंभवनो यत्नतः परीक्षितस्य भगवति ज्ञानाद्य-
तिशयानतिवृत्तिसिद्धेः^६ । एतेन यत्नतः परीक्षितं व्याप्यं^७ व्यापकं नातिवर्तते इति^८ ब्रुव-
तापि स्तुतं प्रस्तुतमित्युक्तं वेदितव्यं, पुरुषविशेषत्वादेः स्वभावस्य व्याप्यस्य सर्वज्ञत्वव्यापक-
स्वभावानतिक्रमसिद्धेस्तद्वदविशेषात्^९ ।^{१०} ततोयं^{११} प्रतिपत्तुरपराधो नानुमानस्येत्यनुकूलमा-
चरति^{१२} * ।^{१३} मन्दतरधियां धूमादिकमपि परीक्षितमक्षमाणां^{१४} ततो धूमध्वजादिवुद्धे-

सकते यह बात कही जा सकती है ।

जंनाचार्य कहते हैं कि भाई ! आपके यहाँ भी प्रत्येक वस्तु की क्षण में क्षय होने वाली शक्ति दिखती है क्या ? मतलब जो चीज दिखती नहीं उनके विषय में भी कुछ न कुछ मान्यता आप रखते ही हैं । उसी प्रकार से यद्यपि सर्वज्ञ का स्वभाव दिखता नहीं है फिर भी अर्हत ही सर्वज्ञ हैं इसका निर्णय करना ही चाहिये ।

[यत्न से परीक्षित कार्य कारण के अनुयायी होते हैं]

बौद्ध—यत्न से परीक्षित कार्य कारण का उल्लंघन नहीं करते हैं ।

जैन—उक्त बात से तो आपने हमारे इष्ट का ही समर्थन कर दिया है । * व्यापार व्याहार आदि विशेष भी जो कि किञ्चिज्ज रागादिमान् जीवों में असंभवी हैं और यत्न से परीक्षित हैं वे भगवान में सिद्ध ही हैं क्योंकि ज्ञानादि अतिशयों की भगवान् में अबाधित रूप से सिद्धि है । इस प्रकार यत्न से परीक्षित व्याप्य हेतु व्यापक का उल्लंघन नहीं करता है ऐसा कहते हुए आपने भी हमारे प्रकृत का ही समर्थन कर दिया है ऐसा समझना चाहिये । पुरुष विशेषत्व आदि स्वभाव व्याप्य हैं उसका सर्वज्ञत्व व्यापक स्वभाव से अनतिक्रम (अबाधितपना) सिद्ध है जैसे कि यत्न से परीक्षित कार्य कारण का उल्लंघन नहीं करते हैं उसी प्रकार पुरुष विशेषत्व आदि व्याप्य सर्वज्ञत्व आदि रूप व्यापक स्वभाव का अतिक्रमण नहीं करते हैं । दोनों जगह व्याप्य-व्यापक भाव में कोई अन्तर नहीं है अर्थात् समानता ही है ।

इसलिये यह साध्य का व्यभिचार लक्षण दोष प्रतिपत्ता का अपराध है अनुमान का नहीं,

1 सौमत् । 2 जैनः प्राह—त्वया सौमतेन अस्माकमिष्टं कथितम् (समर्थितम्) । 3 समर्थितं । स्याद्वादी वदति हे सौमत् ! त्वया अस्माकं प्रस्तुतं प्रारब्धं इष्टं बोधितं । कस्मात् ? क्षयोपशमज्ञानिनि रागादिमति पुरुषे असंभवी यत्नतः परीक्षितो व्यापारादिविशेषः भगवति ज्ञानाद्यतिशयं, नातिवर्तते यतः । दि. प्र. । 4 प्रकृतम् । 5 (व्याहारादीति पाठान्तरम्) । 6 अनुल्लङ्घनात् । 7 शिशपात्वं । वृक्षत्वं । (व्या० प्र०) 8 सौमतेन । 9 यथा यत्नतः परीक्षितं कार्यं कारणं नातिवर्तते तथा पुरुषविशेषत्वादिस्वभावो व्याप्यः सर्वज्ञत्वादिरूपव्यापकस्वभावं नातिवर्तते, उभयत्र व्याप्यव्यापकभावयोर्विशेषाभावात् । 10 तेन युक्तिशास्त्राविरोधाद्यनेकप्रकारेण । (व्या० प्र०) 11 साध्यव्यभिचार-लक्षणः । 12 बौद्धः । 13 तराणां । (व्या० प्र०) 14 धूमादिकात् ।

रपि व्यभिचारदर्शनात् । प्रज्ञातिशयवतां तु सर्वत्र परीक्षाक्षमाणां यथा धूमादि पावकादिकं न व्यभिचरति तथा व्यापारव्याहाराकारविशेषः क्वचिद्विज्ञाना¹द्यतिशयमपीत्यनुकूलाचरणम् । एवं युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वं, भगवतोर्हत एव ²सर्वज्ञत्वं साधयतीत्यभिधाय ।

[सर्वे सत्यहेतवोऽर्हन्ति भगवन्ति एव सर्वज्ञत्वं साधयन्ति नान्येषु]

³तदेवं तत्⁴ सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वमर्हत्येव सकलज्ञत्व साधयति ⁵नान्यत्रेत्य-
विरोध ⁶इत्यादिना स्पष्टयति⁷*, ⁸स्वामीति शेषः यद्यस्मादविरोधः सुनिश्चितासम्भवद्बा-
धकप्रमाणत्वं त्वय्येव तस्माच्च⁹त्वमेव स इत्यभिधानसंबन्धात्¹⁰ । स ¹¹एवाविरोधः कुतः सिद्ध
इत्यारेकायां यदिष्टं¹² ते प्रसिद्धेन न बाध्यते इत्यभिधानात् ।

अतः आप बौद्ध हमारे अनुकूल ही आचरण करते हैं ।*

मंदतर बुद्धि वाले पुरुष धूमादि की परीक्षा में भी असमर्थ पाये जाते हैं अतः धूमादिक हेतु से धूमध्वजादि-अग्नि आदि के ज्ञान में उन्हें व्यभिचार दोष दिखाई दे सकता है, किन्तु प्रज्ञातिशय वाले तो सर्वत्र परीक्षा में कुशल होते हैं अतः जैसे उनके धूमादि हेतु पावक के ज्ञानादि में व्यभिचार को नहीं प्राप्त होते हैं । तथैव व्यापार, व्याहार, आकार विशेष किसी जीव में विज्ञानादि अतिशय को सिद्ध ही करते हैं इस प्रकार आपने हमारे अनुकूल ही कथन किया है । अतः युक्ति-शास्त्र से अविरोधी वचन भगवान् अर्हत में ही सर्वज्ञत्व को सिद्ध करते हैं यह अभिप्राय हुआ ।

[सभी हेतु अर्हत भगवान् को ही सर्वज्ञ सिद्ध करते हैं अन्य बुद्ध आदि को नहीं]

इस प्रकार वे पूर्वोक्त सभी हेतु सुनिश्चितासम्भवद् बाधक प्रमाण रूप होने से अर्हत में ही सकलज्ञत्व को सिद्ध करते हैं अन्यत्र नहीं । ऐसा 'अविरोधी' इत्यादि पद से स्वामी समंतभद्राचार्य स्पष्ट करते हैं* जिससे कि जो अविरोध रूप "सुनिश्चितासम्भवद्बाधक प्रमाणत्व" है वह आप में ही है इसलिये आप ही वे आप्त हैं इस प्रकार से शब्दों का सम्बन्ध है । वे ही अविरोधी-विरोध रहित आप किस प्रमाण से सिद्ध हैं ऐसी आशंका होने पर जो आपका इष्ट (मत) है वह प्रसिद्ध प्रमाण से बाधित नहीं होता है इस प्रकार का अर्थ समझना ।

1 न व्यभिचरतीति योज्यं । (व्या० प्र०) 2 एतेन अर्हन्नेव सर्वज्ञ इति निश्चयाभावे बाधक इत्येतदपि निरस्तं । एवं पूर्वोक्तानां सर्वेषां तीर्थच्छेदसंप्रदायानां बाधकत्वाभावप्रतिपादनप्रकारेण निःशेषदोषावरणहानिः कस्यचिन्निश्चेतुं न शक्यते । अतः कथं संभाव्यत इति प्रत्यवस्थानस्य बाधकत्वाभावप्रतिपादनप्रकारेण सामान्येन सर्वज्ञसिद्धावपि अर्हन्नेव सर्वज्ञ इति कथं निश्चय इत्येवंविधप्रत्यवस्थानस्यापि बाधकत्वाभावप्रतिपादनप्रकारेण—दि. प्र. । 3 युक्तिशास्त्रा-विरोधिवाक्त्वाद्यनेकप्रकारेण । 4 पूर्वोक्तम् । 5 कपिलादी—दि. प्र. । 6 स त्वमेवेति कारिकोक्तेन । 7 तीर्थकृत् समयानां चेति कारिकायां यदस्पष्टतया कथितं सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वं तदिदानीं स्पष्टयति स्वामीत्यर्थः । दि. प्र. । 8 समन्तभद्राचार्यः । 9 निर्दोषः । (व्या० प्र०) 10 कारिकायां । (व्या० प्र०) 11 अत्राहार्हन् हे समन्तभद्राचार्यः ! सः अविरोधः मयि कुतः प्रमाणात् सिद्धः । (व्या० प्र०) 12 कारिकास्थितयच्छब्दस्य पूर्ववापि संबन्धोवर्णितव्यः । (व्या० प्र०)

[इच्छामन्तरेणापि भगवतः वाचः निर्दोषा संति]

१तत्रेष्टं २मतं ३शासनमुपचर्यते ४, ५निराकृतवाचोपि ६द्वचिदविप्रतिषेधात् ७ । *नपुनरिच्छा विषयीकृतमिष्टं, प्रक्षीणमोहे भगवति मोहपर्यायात्मिकायास्तदिच्छायाः ८ संभवाभावात् । तथा हि । नेच्छा सर्वविदः शासनप्रकाशननिमित्तं, प्रणष्टमोहत्वात् । यस्येच्छा शासनप्रकाशननिमित्तं, न स प्रणष्टमोहो यथा किञ्चिज्ज्ञः । प्रणष्टमोहश्च सर्ववित्प्रमाणतः ९ साधितस्तस्मान्न तस्येच्छा शासनप्रकाशननिमित्तम् । इति केवलव्यतिरेकी हेतुनिराकृतवाचं १० साधयति, अव्यभिचारात् । ११न सर्वविदिच्छामन्तरेण वक्ति, वक्तृत्वादस्मदादिवदित्यनेन निराकृतवाचो १२विप्रतिषेध इति चेन्नायं १३ नियमोस्ति ।

[इच्छा के बिना भी भगवान् के वचन निर्दोष हैं]

उन भगवान् में 'इष्ट-मत-शासन' अर्थात् आगम का उपचार किया जाता है । क्योंकि निर-भिप्राय वचनों का भी कहीं पर अवरोध देखा जाता है । * अर्थात् अभिप्रायरहित वचन भी कहीं-कहीं विरोधरहित पाये जाते हैं ।

इच्छा को विषय करने वाला "इष्ट" शब्द है ऐसा नहीं कहना क्योंकि प्रक्षीण मोह-मोहनीय कर्मरहित भगवान् में मोह की पर्यायस्वरूप इच्छा संभव नहीं है । तथाहि "सर्वज्ञ को अपना मत प्रकाशन करने की इच्छा नहीं है क्योंकि उनके मोहनीय कर्म का नाश हो गया है । जिसको शासन प्रकाशन की इच्छा है वह मोहरहित नहीं है जैसे कि किञ्चिज्ज्ञ (अल्पज्ञ) पुरुष, और सर्वज्ञ मोहरहित हैं यह बात प्रमाण से सिद्ध कर दी गई है । इसीलिये सर्वज्ञ को शासन प्रकाशन की इच्छा नहीं है ।" इस प्रकार केवलव्यतिरेकी हेतु अभिप्रायरहित वचन को सिद्ध करता है क्योंकि इस हेतु में व्यभिचार दोष नहीं आता है ।

भावार्थ—'इष्ट' धातु इच्छा अर्थ में है और यहां भगवान् के शासन को 'इष्ट' शब्द से कहा गया है इसलिये यह प्रश्न स्वाभाविक है कि भगवान् के वचन इच्छापूर्वक ही होते होंगे क्योंकि उन्हें अपने मत को प्रकाशित करने की विश्व में सर्वतोन्मुखी फैलाने की इच्छा अवश्य होगी तभी तो उनका 'मत' इष्ट शब्द से कहा गया है । इस पर जैनाचार्यों ने समझाया है कि सर्वज्ञ भगवान् के वचन इच्छा-पूर्वक नहीं होते हैं क्योंकि उनके मोहनीय कर्म का नाश हो गया है ।

1 भगवति । 2 भगवानागमं कथयति परन्तु इच्छामन्तरेण कथयति । इष्टमिच्छाविषयीकृतमिति भगवत्युपचर्यते । अत्राह नैयायिकः ।—भो स्याद्वादिन् इच्छां विना वचनप्रवृत्तिर्न भवेत् । तदुपरि जैनः प्राह ।—भो नैयायिक निराकृतवाचोपि (निरभिप्रायायाः वाचोपि) द्वचिदविप्रतिषेधात् (इच्छां विनापि वचनस्योत्पत्तेर्वक्ष्यमाणत्वात्) । 3 आगमः । 4 मित्युपचर्यते इति पा. । भगवति इच्छायाः वचनलक्षणप्रयोजनसद्भावात् इष्टमिति व्यवहारस्य निमित्तत्वात् अमुख्यत्वात् चोपचारतः प्रयोजनं प्रवर्तनं । (ब्या० प्र०) 5 निरभिप्रायाः । (ब्या० प्र०) 6 सुषुप्त-पुरुषादौ । 7 अनिवारणात् । (ब्या० प्र०) 8 शासनप्रकाशनेच्छायाः । 9 दोषावरणयोर्हानिरित्यादिना । 10 (निर-भिप्रायवचनम्) । 11 नैयायिकः प्राह । 12 विरोधः । (ब्या० प्र०) 13 जैन आह ।

[सर्वज्ञवचनानीच्छापूर्वकान्येवेति मन्यमाने को दोषस्तस्य समाधानं]

‘तदभ्युपगमे को दोष इति चेत्, नियमाभ्युपगमे सुषुप्त्यादावपि ²निरभिप्रायप्रवृत्तिर्न स्यात् * न हि सुषुप्तौ ³गोत्रस्खलनादौ ⁴वाग्व्याहारादिहेतुरिच्छास्ति⁵ । ⁶प्रतिसंविदिता⁷-कारेच्छा⁸ तदा संभवन्ती पुनः स्मर्येत वाञ्छान्तरवत् * । न ⁹ह्यप्रतिसंविदिताकारेच्छा संभवति या पञ्चान्न ¹⁰स्मर्यते । ¹¹पूर्वकालभाविनीच्छा¹² तदा वागादिप्रवृत्तिहेतुरप्रतिसंविदि-

नैयायिक—“सर्वज्ञ भगवान् इच्छा के बिना नहीं बोलते हैं क्योंकि वे वक्ता हैं हम लोगों के समान ।” इस अनुमान से निरभिप्राय वचनों का विरोध सिद्ध हो जाता है । अर्थात् अभिप्रायरहित कोई पुरुष वचन नहीं बोल सकते ।

जैन—यह नियम नहीं है कि वचन इच्छापूर्वक ही हों ।

[सर्वज्ञ के वचन इच्छापूर्वक ही होते हैं ऐसी मान्यता में क्या दोष है ? इसका समाधान]

नैयायिक—वचन को इच्छासहित मानने में क्या दोष है ?

जैन—ऐसा नियम स्वीकार करने पर सोये हुये पुरुष आदि में भी अभिप्रायरहित वचनों की प्रवृत्ति नहीं होगी* ।

सोये हुये पुरुष में और गोत्रस्खलन आदि में वचन व्यवहार आदि इच्छा हेतुक नहीं हैं । अर्थात् किसी के दो पुत्र हैं कमल और विमल । सामने खड़े हुये कमल को देखते हुये और बुलाते हुये पिताजी ने कहा कि बेटा विमल इधर आओ ! उनका अभिप्राय कमल को बुलाने का था किन्तु अकस्मात् मुख से ‘विमल’ निकल गया इसे ही गोत्र-नाम स्खलन कहते हैं । इस गोत्र स्खलन में इच्छारहित वचन देखे जाते हैं ।

उस काल में प्रति संविदिताकार इच्छा होती हुई संभव है पुनः भिन्न वाञ्छाओं के समान उसका स्मरण होना चाहिये* ।

अप्रतिसंविदिताकार इच्छा संभव नहीं है जिसका कि पश्चात् में स्मरण न किया जावे किन्तु ऐसा नहीं है अर्थात् सम्यग्ज्ञानाकार ही इच्छा संभव है अन्य नहीं ! पूर्वकाल संभाविनी—जाग्रत अवस्था में होने वाली इच्छा उस काल में वचन आदि की प्रवृत्ति में हेतु है और वह अप्रतिसंविदिताकार

1 पर आह । वाच इच्छापूर्वकत्वाभ्युपगमे । 2 अस्ति च तत्र निरभिप्रायप्रवृत्तिः । (व्या० प्र०) 3 गोत्रं नाम । 4 व्यवहारादि इति वा । व्यापारः । (व्या० प्र०) 5 सुषुप्तावपि इच्छापुरस्सरत्वेन प्रवृत्तिर्भविष्यतीत्याह । (व्या० प्र०) 6 विकल्पद्वयं मनसिकृत्य ब्रूते । भो बौद्ध ! प्रति संविदिताकारेच्छा तदा संभवन्ती वाक्प्रवृत्तिहेतुरिति ब्रूषे चेदिच्छांतरवत्तदा स्मर्येत नास्ति च तथा स्मरणं । (व्या० प्र०) 7 प्रतिवचननियतत्वेन (जाग्रदवस्थायां) संविदित आकारो यस्याः सा । 8 स्याद्वादी वदति । तदा सुषुप्त्यादौ सम्यग्ज्ञानाकारा इच्छा उत्पद्यमाना पुनरपि स्मर्यते यथा जाग्रदवस्थायां उत्पद्यमाना वाञ्छा स्मर्यते । एतावता किमायात् सुषुप्त्यादौ वाग्व्यापारो वाञ्छापूर्वको न भवतीत्यर्थः । दि. प्र. । 9 प्रतिसंविदिताकारेच्छाया अभावे अप्रतिसंविदिताकारेच्छा संभवतीत्युक्ते आह । (व्या० प्र०) 10 किन्तु सम्यग्ज्ञानाकारा एवेच्छा संभवतीति नान्वा । 11 परः । 12 पूर्वकालो जाग्रदवस्था ।

ताकाराऽनुमेया सम्भवत्येवेति चेत् किं पुनस्तदनुमानम् ? विवादाध्यासिता वागादिप्रवृत्ति-

रूप से अनुमान ज्ञान के विषयभूत संभव ही है। यदि ऐसा कहो तो वह अनुमान क्या है ? ऐसा प्रश्न होने पर बौद्ध उत्तर देता है। अर्थात् यहां दो विकल्पों को मन में रख कर कहते हैं कि हे बौद्ध ! प्रतिसंविदिताकार इच्छा उस काल में संभव होती हुई वचन प्रवृत्ति में हेतु है यदि आप ऐसा कहते हैं तब तो भिन्न इच्छाओं के समान उस समय उसका स्मरण होना चाहिये किन्तु उस प्रकार से स्मरण होता नहीं है। प्रतिवचन रूप नियम होने से जाग्रत अवस्था में जिसका आकार जाना हुआ रहता है उसे प्रतिसंविदिताकार कहते हैं। स्याद्वादी कहता है कि उस समय सोते हुये आदिजनों में सम्यग्ज्ञानाकार इच्छा उत्पन्न होती हुई पुनरपि स्मरण में आती है जैसे कि जाग्रत अवस्था में उत्पन्न होती हुई वांछा स्मृति में आती है इससे क्या निष्कर्ष निकला ? सोती हुई आदि अवस्था में वचन व्यापार इच्छापूर्वक नहीं होता यह अभिप्राय समझना चाहिये।

कोई कहे कि प्रतिसंविदिताकार इच्छा के अभाव में अप्रतिसंविदिताकार इच्छा संभव है ऐसा कहने पर उत्तर देते हैं कि अप्रतिसंविदिताकार इच्छा संभव नहीं है जो पश्चात् स्मरण में नहीं आ सकती है किन्तु सम्यग्ज्ञानाकार इच्छा ही संभव है अन्य सम्भव नहीं है।

विशेषार्थ—उस समय जो पहले इच्छा की थी वही इच्छा होती हुई वहां (स्वप्न में) या गोत्रस्खलन में स्मरण की जाती है। जिस इच्छा का संस्कार पहले नहीं है वह संभव न होने से वहां स्मरण नहीं की जाती।

शंका—पूर्वकाल में होने वाली इच्छा उस समय वचन आदि की प्रवृत्ति में कारण है। अतः जो इच्छा पहले नहीं हुई है वह इच्छा भी वहां उत्पन्न होती है इसका भी हम अनुमान कर सकते हैं।

प्रतिशंका—यदि ऐसा है तो बताइये वह अनुमान क्या है ?

समाधान—(वह अनुमान इस प्रकार है) स्वप्न काल में होने वाली वचन आदि की प्रवृत्ति इच्छापूर्वक होती है क्योंकि वह वचन आदि की प्रवृत्ति है प्रसिद्ध इच्छापूर्वक होने वाली वचन आदि की प्रवृत्ति के समान।

वादी यह कहना चाहता है कि सर्वज्ञ बिना इच्छा के उपदेश, विहार आदि नहीं कर सकता है क्योंकि हम सर्वसाधारण वक्ता तो इच्छापूर्वक ही बोलते हुये पाये जाते हैं। इसके उत्तर में जैनों का कहना है कि यह कोई नियम नहीं है क्योंकि सोते समय मनुष्य बड़बड़ाता रहता है या हम कहना कुछ चाहते हैं और हमारे मुंह से कुछ निकलता है। इन दोनों स्थितियों में हमारी इच्छा कारण नहीं है।

ऐसा भी नहीं समझना चाहिये कि जाग्रत अवस्था में हमने जो इच्छा की थी वही वहां साकार होकर स्मरण में आ जाती है। जाग्रत मनुष्य में जिस प्रकार की इच्छा होती है वैसी इच्छा वहां सम्भव नहीं है अतः वादी का यह अनुमान करना कि “पूर्व कालिक इच्छा ही पुनः संस्कार में आकर वागादि प्रवृत्ति का कारण बन जाती है” गलत है।

1 (परः प्राह) स्वप्नसमयिकी । (व्या० प्र०)

रिच्छापूर्विका, वागादिप्रवृत्तित्वात् प्रसिद्धेच्छापूर्वकवागादिप्रवृत्तिवदिति चेन्न, हेतोरप्रयोजकत्वात् । 'यथाभूतस्य' हि जाग्रतोनन्यमनसो वा वागादिप्रवृत्तिरिच्छापूर्विका प्रतिपन्ना देशान्तरे कालान्तरे च तथाभूतस्यैव तत्प्रवृत्तिरिच्छापूर्विका साध्यितुं शक्या न पुनरन्यादृशो^३तिप्र^४सङ्गात्^५ । न च सुषुप्तस्यान्यमनस्कस्य वा तत्प्रवृत्तिरिच्छापूर्वकत्वेन व्याप्तावगता^६, तदवगतेरसंभवात् । 'सा हि^८ स्वसन्ताने^९ तावन्न^{१०} संभवति, सुषुप्त्यादिविरोधात् । ^{११}सुषुप्तोन्यमनस्कश्च प्रवृत्तिमिच्छापूर्विकाभवगच्छति चेति^{१२} व्याहतमेतत् । पश्चादुत्थितोवगच्छतीति चेदिदमपि^{१३} तादृगेव । ^{१४}स्वयमसुषुप्तोनन्यमनाश्च सुषुप्तान्यमनस्कप्रवृत्तिमिच्छापूर्वकत्वेन^{१५} व्याप्तामवगच्छतीति^{१६} ब्रुवाणः कथमप्रतिहतवचनपथः स्वस्थैरास्थीयते^{१७} ? तदानु-

“विवाद में आई हुई (स्वप्न में होने वाली) वचन आदि प्रवृत्तियाँ इच्छा पूर्वक होती हैं क्योंकि वे वचन आदि प्रवृत्तियाँ हैं संसार में प्रसिद्ध इच्छा पूर्वक वचन आदि की प्रवृत्ति के समान ।”

जैन—नहीं । आपका हेतु अप्रयोजक है क्योंकि जिस प्रकार जाग्रत् मनुष्य या अनन्य मनस्क-सावधान मनुष्य की वचनादि प्रवृत्तियाँ इच्छा पूर्वक मानी गई हैं । वैसे ही देशान्तर और कालान्तर में भी जीवों की वचनादि प्रवृत्तियाँ इच्छा पूर्वक सिद्ध करना शक्य है, किन्तु अन्य—सोते हुए या अन्यमनस्क जीवों के इच्छा पूर्वक सिद्ध करना शक्य नहीं है अन्यथा अति प्रसंग दोष आ सकता है । अर्थात्—गोपाल घटिकादि धूम भी अग्नि के गमक हो जावेंगे । अथवा “सन्निवेशमात्रत्वात्” हेतु पृथ्वी आदि बुद्धिमद् हेतुक हो जावेंगे ।

सुषुप्त अथवा अन्यमनस्क जीव की वचनादि प्रवृत्तियाँ इच्छापूर्वकत्व से व्याप्त नहीं है । उसके साथ उसकी व्याप्ति असम्भव है । क्योंकि वह व्याप्ति स्वसंतान-सुषुप्त संतान में सम्भव नहीं है अन्यथा सुषुप्ति आदि का विरोध हो जावेगा । कोई सोता भी अथवा अन्यमनस्क भी हो और वचन प्रवृत्ति—वचनों को इच्छा पूर्वक करे यह बात विरुद्ध है । यदि कहो कि पश्चात् उठकर जानता है तो वह जान भी उसी प्रकार विरुद्ध ही है ।

स्वयं जो जाग्रत् अवस्था में हैं अथवा अनन्यमनस्क—सावधान हैं ऐसे मनुष्य सुषुप्त और अन्यमनस्क (विक्षिप्त मनस्क) की प्रवृत्ति को “इच्छा पूर्वक” से व्याप्त मानते हैं ऐसा कहते हुये

- 1 (जैनोऽप्रयोजकत्वं दर्शयति) । 2 यथास्थितस्य । (व्या० प्र०) 3 गोपालघटिकादिधूमस्याप्यग्निगमकत्वं स्यादित्यतिप्रसङ्गः । विषाणिनी वाग्, मोशब्दवाच्यत्वादित्यतिप्रसंगे टिप्पणान्तरमिदम् । 4 सुषुप्तस्यान्यमनसो वा । (व्या० प्र०) 5 सन्निवेशमात्रत्वात् क्षित्यादेर्बुद्धिमद्हेतुकत्वप्रसंगात् । (व्या० प्र०) 6 क्वचि व्यक्तौ । (व्या० प्र०) 7 (इच्छापूर्वकत्वेन सह व्याप्तत्वावगतिः) । 8 सुषुप्तसन्ताने । 9 आह सोगतः । सा इच्छा स्वसंताने सुषुप्तस्य सुषुप्तत्वलक्षणे नोत्पद्यते चेत्तदा सुषुप्तादि विरुद्धयते एवं सति किमायातं । स्याद्वाद्याह । हे सोगत ! सुषुप्तः अन्यमनाः इच्छापूर्विकां प्रवृत्तिं जानाति इति वचो विरुद्धं अथ पश्चादुत्थितः सन् जानाति । इदमपि विरुद्धं । दि. प्र. । 10 अन्यथा । (व्या० प्र०) 11 विरोधमेवाह । 12 विरुद्धं । (व्या० प्र०) 13 व्याहतमेव । 14 (व्याहति दर्शयति) । 15 प्रत्यक्षतया । (व्या० प्र०) 16 नैयायिकः । 17 आद्रोयते ।

मानात्तदवगतेरदोष इति चेन्न, अनवस्थाप्रसङ्गात्, ¹तदनुमानस्यापि व्याप्तिप्रतिपत्तिपुर-
स्सरत्वात् तद्व्याप्त्येव अनुमानान्तरापेक्षत्वात्, सुदूरमपि गत्वा ²प्रत्यक्षतस्तद्व्याप्तिप्रतिपत्तेर-
घटनात् । ³एतेन सन्तानान्तरे ⁴तद्व्याप्त्येव गतिरपास्ता, अनुमानात्तदवगतावनवस्थानाविशे-
षात्, प्रत्यक्षतस्तदवगतेरसंभवाच्च । इति नानुमेया सुषुप्त्यादाविच्छास्ति तत्काला पूर्वकाला
वा, तदनुमानस्यानुदयात् । ⁵तथा च सर्वज्ञप्रवृत्तेरिच्छापूर्वकत्वे साध्ये वक्तृत्वादेहेतोः⁶
सुषुप्त्यादिना व्यभिचारात्तदनियम⁷ एव । ⁸ततश्चैतन्यकरण⁹पाटवयोरेव¹⁰ ¹¹साधकत-
मत्वम् * ।

[वक्तुमिच्छापि सर्वज्ञवचने सहकारिणीति मान्यताया निराकरण]

¹²ननु च सत्यपि चैतन्ये करणपाटवे च वचनप्रवृत्तेरदर्शनाद्विवक्षापि तत्सहकारिकार-

आप नैयायिक अबाधित वचन वाले हैं । इस प्रकार से स्वस्थ पुरुषों के द्वारा आप आदर कैसे प्राप्त कर सकेंगे ?

नैयायिक—अनुमान से वचनादि प्रवृत्तियों की ऐसी व्याप्ति को मानने में दोष नहीं होगा ।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते अन्यथा अनवस्था का प्रसंग आ जावेगा । वह अनुमान भी व्याप्ति के ज्ञान पूर्वक होगा । वह व्याप्ति भी भिन्न अनुमान की अपेक्षा रखेगी । बहुत दूर भी जा करके प्रत्यक्ष से उस व्याप्ति का ज्ञान नहीं हो सकेगा । इसी कथन से भिन्न सन्तान में भी उस साध्य-साधन की व्याप्ति का खण्डन कर दिया गया है क्योंकि अनुमान से उस व्याप्ति का निर्णय करने में अनवस्था समान ही है और प्रत्यक्ष से व्याप्ति का ज्ञान असम्भव ही है ।

इस प्रकार से सोते हुये आदि मनुष्यों में तत्कालिक या पूर्वकालिक इच्छा है यह बात अनुमेय नहीं है । उसको सिद्ध करने के लिये किसी भी अनुमान का उदय नहीं है । इसीलिये सर्वज्ञ की प्रवृत्ति को इच्छा पूर्वक सिद्ध करने में वक्तृत्वादि हेतु सुषुप्त आदि पुरुष से व्यभिचरित पाये जाते हैं अतः इच्छा पूर्वक ही वचन होवे ऐसा नियम नहीं रहता है क्योंकि चैतन्य और इन्द्रियों की पटुता ही वचनादि प्रवृत्ति की साधक है* ।

[बोलने की इच्छा भी सर्वज्ञ वचन में सहकारी है इस मान्यता का निराकरण]

शंका—चैतन्य और इन्द्रियों की पटुता के होने पर भी वचन प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है किन्तु विवक्षा (कहने की इच्छा) भी सहकारी कारण रूप अपेक्षित रहती है ।

समाधान—नहीं । भिन्न-भिन्न सहकारी कारण नियम से अपेक्षित नहीं हैं ।

नक्तंचर-उल्लू आदि अथवा अंजन आदि से संस्कृत चक्षु वाले प्रकाश की अपेक्षा न रखकर

- 1 अनवस्थां दर्शयति । 2 अनुमान । (व्या० प्र०) 3 स्वसन्ताने व्याप्त्यभावसमर्थनेन । 4 साध्यसाधनव्याप्तेः । 5 इच्छाया अननुमेयत्वप्रकारेण । 6 नैयायिकोक्तस्य । 7 वक्तृत्वेच्छापूर्वकत्वयोः (स्वभावकार्यस्वरूपान्यतरनियमाभावः) । 8 चैतन्यं ज्ञानम् । 9 करणं ताल्नादिप्रयत्न इन्द्रियाणि वा । 10 योः साधक इति पा. । (व्या० प्र०) 11 वाक्यप्रवृत्ति प्रति साधकतमत्वं, सुषुप्त्यादाविच्छापूर्वकत्वाभावेपि वक्तृत्वदर्शनात् । 12 परः ।

णमपेक्ष्यते एवेति चेत्, सहकारिकारणान्तरं न वै¹नियतमपेक्षणीयं, नक्तञ्चरादेः²संस्कृतचक्षुषो वाऽनपेक्षितालोकसन्निधेः³ रूपोपलम्भात्⁴ । न चैव⁵ संवित्करणपाटवयोरप्यभावेविवक्षामात्रात्कस्यचिद्वचनप्रवृत्तिः प्रसज्यते, संवित्करणवैकल्ये⁶यथाविवक्षं वाग्वृत्तेरभावात् * । न हि⁷शब्दतोर्थतश्च शास्त्रपरिज्ञानाभावे तद्द्व्याख्यानविवक्षायां सत्यामपि तद्वचनप्रवृत्तिर्दृश्यते, करणपाटवस्य चाभावे स्पष्टशब्दोच्चारणं⁸,⁹बालमूकादेरपि¹⁰ तत्प्रसङ्गात् । ततश्चैतन्यं करणपाटवं च वाचो हेतुरेव नियमतो, न विवक्षा, विवक्षामन्तरेणापि सुषुप्त्यादौ तद्दर्शनात् ।

[कश्चिन्मन्यते दोषसमूहः सर्वज्ञवचने हेतुस्तस्य निरासः क्रियते जनैः]

न च¹¹दोषजातिस्तद्धेतुर्यतस्तां वाणी¹² नातिद्वर्त्त¹³,¹⁴तत्प्रकर्षापकर्षानुविधानाभावाद्-

भी रूप की उपलब्धि कर लेते हैं । विवक्षा के अभाव में वक्तृत्व का सद्भाव देखा जाता है । इस प्रकार से ज्ञान और इन्द्रियों की कुशलता के अभाव में भी विवक्षा मात्र से किसी की वचन प्रवृत्ति का प्रसंग नहीं आता है क्योंकि ज्ञान एवं इन्द्रियों की विकलता में विवक्षा मात्र से वचन प्रवृत्ति का अभाव है ।*

किसी को शब्द से और अर्थ से शास्त्र के परिज्ञान का अभाव है फिर भी उसको व्याख्यान करने की इच्छा के होने पर भी उस शास्त्र विषयक वचन की प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है । इन्द्रिय की कुशलता के अभाव में स्पष्ट शब्द का उच्चारण भी नहीं हो सकता है अन्यथा बालक मूक आदि भी स्पष्ट शब्दोच्चारण करने लगेंगे । इसीलिए चैतन्य और इन्द्रिय की पटुता ही नियम से वचन में हेतु हैं न कि विवक्षा क्योंकि विवक्षा—बोलने की इच्छा के बिना भी सुषुप्त-सोते हुए आदि जनों के वचन प्रवृत्ति देखी जाती है ।

[कोई कहता है कि दोषों का समुदाय ही सर्वज्ञ के बोलने में हेतु है, जनाचार्य इस बात का निषेध करते हैं]

तथैव दोष समूह भी वचन प्रवृत्ति में हेतु नहीं है कि जिससे वाणी उनका उल्लंघन न करे । अर्थात् वाणी दोष समूह का उल्लंघन करती ही है क्योंकि उस दोष समूह के प्रकर्ष अपकर्ष के अनुविधान का अभाव है बुद्धि के समान ।*

अष्टशती दिल्ली प्रति एवं मुद्रित प्रति में 'वाणी' ऐसा पाठ है जिसका अर्थ है कि दोष समूह उस वचन प्रवृत्ति में हेतु नहीं है कि जिससे उस वाणी का उल्लंघन न कर सकें अर्थात् उल्लंघन करते ही हैं ।

1 नियमेन । 2 अञ्जनादिना । 3 सन्निधेरूपो इति पा. । (व्या० प्र०) 4 प्रतीतेः । (व्या० प्र०) 5 विवक्षाभावेपि वक्तृत्वसद्भावप्रकारेण । 6 विवक्षानतिक्रमेण । (व्या० प्र०) 7 शब्दमाश्रित्य । (व्या० प्र०) 8 (न हीति पूर्वोक्तान्वयः) । 9 अन्यथा (व्या० प्र०) 10 अन्यथा संवित्करणपाटवभावे स्पष्टवाक्प्रवृत्तिर्भवति चेत्तदा बालमूकादेरपि भवतु कोऽर्थः । तथा न दृश्यते । दि. प्र. । 11 द्वेषादि । समूहः । 12 'वाणी' इति पा० दिल्ली अष्टशती प्रती मुद्रितप्रती च । (व्या० प्र०) 13 किन्तु अतिक्रमेतेव । 14 तस्या दोषजातेः ।

बुद्ध्याविवत्¹ * । न हि यथा बुद्धेः² शक्तेश्च प्रकर्षे वाण्याः प्रकर्षोऽपकर्षे वाऽपकर्षः प्रतीयते, तथा दोषजातेरपि,³ तत्प्रकर्षे⁴ वाचोपकर्षात्⁵ तदपकर्षे एव⁶ तत्प्रकर्षात्, यतो वक्तुर्दोषजातिरनुमीयेत⁸ । सत्यपि च रागादिदोषे¹⁰ कस्यचिद्बुद्धेर्यथार्थव्यवसायित्वादि¹¹ गुणस्य सद्भावात्¹², सत्यवाक्प्रवृत्तेरुपलम्भात्, कस्यचित्तु वीतरागद्वेषस्यापि बुद्धेरयथार्थव्यवसायित्वादिदोषस्य भावे वितथवचनस्य दर्शनाद्विज्ञानगुणदोषाभ्यामेव वाग्वृत्तेर्गुणदोषवत्ता व्यवतिष्ठते, न पुनर्विवक्षातो दोषजातेर्वा । तदुक्तं—

“विज्ञानगुणदोषाभ्यां वाग्वृत्तेर्गुणदोषता¹³ । वाञ्छन्तो¹⁴ वा न वक्तारः शास्त्राणां मन्दबुद्धयः ॥”
इति । ततः साधुपादेशि¹⁵ 16“तत्रेष्टं मतं शासनमुपचर्यते” इति ।

जिस प्रकार से बुद्धि और शक्ति के प्रकर्ष में वाणी का प्रकर्ष अथवा उनके अपकर्ष में भी वाणी का अपकर्ष प्रतीति में आता है उसी प्रकार से दोष जाति के प्रकर्ष में वाणी का प्रकर्ष और अपकर्ष में अपकर्ष प्रतीत नहीं होता है, प्रत्युत दोषों के प्रकर्ष होने पर वचन में अपकर्ष और दोषों की हानि होने पर वचन में प्रकर्ष (बुद्धि की विशेषता) देखा जाता है जिससे कि आप वक्ता में दोषों का अनुमान कर सकें अर्थात् वक्ता में दोषों का अनुमान नहीं कर सकते हैं । मतलब “वचन प्रवृत्ति दोषों का उल्लंघन नहीं करती है—दोष सहित होती है क्योंकि वह वचन प्रवृत्ति है हम लोगों की वचन प्रवृत्तियों के समान” ऐसे अनुमान से आप वक्ता में दोषों की कल्पना नहीं कर सकते हैं क्योंकि दोषों के अभाव में ही वचनों की विशेषता देखी जाती है ।

रागादि दोष के होने पर भी किसी की बुद्धि में यथार्थ जानना आदि गुणों का सद्भाव होने से सत्यवाक् प्रवृत्ति की उपलब्धि है और किसी राग द्वेष रहित की भी बुद्धि में अयथार्थ निश्चय करने रूप दोषों का सद्भाव होने पर असत्य वचन देखे जाते हैं इसलिये विज्ञान गुण और दोष के द्वारा ही वचन प्रवृत्ति में गुण और दोषपना व्यवस्थित होता है न पुनः विवक्षा से अथवा दोषों से । कहा भी है—

श्लोकार्थ—वचन प्रवृत्ति में विज्ञान गुण और दोष के द्वारा ही गुण व दोषपना देखा जाता है क्योंकि शास्त्रों के विषय में मन्दबुद्धि रखने वाले जन वक्तृत्व को चाहते हुये भी वक्ता नहीं बन सकते हैं इसलिये ठीक ही कहा है कि भगवान् में इष्ट-मत-शासन शब्द उपचरित रूप से है ।

1 (व्यतिरेकी दृष्टान्तः) । 2 करणमाटवस्य । 3 बद्धमानसद्भावे वाचः असद्भावो घटते । तस्या असद्भावे वाचः सद्भावो घटते इति हेतुद्वयात् । वक्तुर्दोषजातिर्यतः कुतः अनुमीयेत न कुतोपि । दि. प्र. । 4 (तथा दोषजातेरपि प्रकर्षोपकर्षयोर्वाक्यप्रकर्षोपकर्षो न हीत्यत्र हेतुमाह ।) 5 तस्या दोषजातेः । 6 तस्या वाचः । 7 कुतः ? अपि तु न कुतोपि । 8 वाक्प्रवृत्तिर्दोषजाति नातिवर्तते वाक् प्रवृत्तित्वात् अस्मदादिवाक्प्रवृत्तिवत् । (व्या० प्र०) 9 किंच “विज्ञानगुणदोषाभ्यां वाग्वृत्तेर्गुणदोषता” नान्यत इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां समर्थयमानः प्राह । सत्यमिति । दि. प्र. । 10 नुः । ता । (व्या० प्र०) 11 आदिशब्देन समारोपव्यवच्छेदादिग्रहणम् । 12 भावे इति पा. । (व्या० प्र०) 13 गुणदोषौ विद्येते यस्याः सः गुणदोषा मत्वर्थे आशीदेरः । (व्या० प्र०) 14 वक्तृत्वम् । 15 प्रागुपादिष्टम् । 16 भगवति ।

भावार्थ—किसी का कहना है कि भगवान् के वचन इच्छा पूर्वक ही होते हैं। इस पर जैना-चार्यों ने स्पष्ट कह दिया है कि लोक व्यवहार में भी सोते हुए मनुष्य के वचन और गोत्रस्खलन आदि के वचन बिना इच्छा के ही देखे जाते हैं। उसने कहा कि सोने के पहले जाग्रत अवस्था में इच्छा थी तो आचार्य ने इसका भी निराकरण कर दिया है और इस बात को सिद्ध कर दिया है कि आत्मा में ज्ञान और इन्द्रियों की कुशलता ही वचन प्रवृत्ति में हेतु है। तब फिर शंकाकार का कहना है कि ज्ञान और इन्द्रियों की कुशलता के होने पर वचन नहीं भी देखे जाते हैं। यदि उसके बोलने की इच्छा नहीं है अतः बोलने की इच्छा तो वचन प्रवृत्ति में सहकारी कारण है ही है।

पुनश्च आचार्य इस बात को स्वीकार नहीं करते हैं। उनका कहना है कि उल्लू बिल्ली आदि प्राणी अन्जनगुटिका सिद्ध करने वाले अंजन चोर आदि बिना प्रकाश के प्रदार्थों को देख लेते हैं। हम संसार में ज्ञान और इन्द्रियों की घट्टा के बिना बोलने की इच्छा मात्र से भी किसी में वचन प्रवृत्ति नहीं देखते हैं किसी को बोलने की, सभा में व्याख्यान करने की तो इच्छा बहुत है किन्तु न तो शास्त्रों का किञ्चित् भी ज्ञान ही है और न ही आँखों से अक्षर शुद्ध पढ़ना आता है, न कान से स्पष्ट सुनना आता है और न ही स्पष्ट वाणी का उच्चारण ही कर सकता है। अतः क्या वह बोलने की इच्छा मात्र से कुशल वक्ता कहलायेगा ? बालकों को शब्द से या अर्थ से दोनों तरह से भी शास्त्र ज्ञान नहीं है अथवा गूंगे मनुष्य, बहरे या अन्धे मनुष्य पढ़ने, लिखने और बोलने में असमर्थ हैं किन्तु व्याख्यान की इच्छा तो उनमें भी हो सकती है क्या वे कुशल वक्ता कहला सकते हैं ? इसलिये भाई ! प्रतिभा-शक्ति रूप ज्ञान, क्षयोपशमज्ञान या पूर्णज्ञान की विशेषता और इन्द्रियों की कुशलता ही वचन बोलने में-उपदेश देने में हेतु है न कि बोलने की इच्छा मात्र।

कोई और बुद्धिमान निकले तो उन्होंने कह दिया कि दोषों का समुदाय ही वचन प्रवृत्ति में हेतु है और आप के भगवान् वक्ता हैं इसलिये निर्दोष सर्वज्ञ नहीं हो सकते हैं।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि भाई ! दोषों के साथ वचनों का अन्वय व्यतिरेक तो है नहीं। मतलब—दोषों की वृद्धि में वचनों की विशेषता पाई जावे और दोषों के अभाव में वचनों का अभाव होवे ऐसा नियम तो है नहीं, प्रत्युत इससे विपरीत ही देखा जाता है कि दोषों की मंदता—तरतमता में वचनों की विशेषता और दोषों की बहुलता में वचनों की असभ्यता—अकुशलता ही व्यवहार में दिखती है। अतः ज्ञान के गुण और दोषों से ही वचनों में सत्यता, असत्यता पाई जाती है इसलिये निर्दोष—राग, द्वेष, मोह आदि अठारह दोषों से रहित सर्वज्ञ परमेष्ठी ही सच्चे हितोपदेशी हो सकते हैं। एवं उनके वचनों में इच्छा या दोष आदि कारण नहीं हैं प्रत्युत भव्यों का पुण्य विशेष और सर्वज्ञ के तीर्थकर नाम कर्म का उदय विशेष ही भगवान् की दिव्यध्वनि में कारण माना गया है अन्यत्र ग्रंथों में भी इसी बात को पुष्ट किया है—

गंभीरं मधुरं मनोहरतरं दोषैरपेतं हितं । कंठीष्ठादिवचो निमित्तरहितं नो वातरोधोद्गतम् ।

स्पष्टं तत्तद्भीष्टवस्तुकथकं निःशेषभाषात्मकं । दूरासन्नसमं समं निरुपमं जैनं वचः पातु नः ।

॥ समव. पृ. १३६॥

भगवान् के वचन गम्भीर, मधुर, मनोहरतर हैं, दोषों से रहित और हितकर हैं, कंठ, ओष्ठ,

[भगवतोऽनेकांतमतं प्रसिद्धेन न बाध्यते]

¹तत्प्रसिद्धेन न बाध्यते । प्रमाणतः सिद्धं प्रसिद्धम् । तदेव कस्यचिद्बाधनं² युक्तम् । विशेषणमे³त्त्परमतापेक्षम्, अप्रसिद्धेनाप्यनित्यत्वाद्येकान्तधर्मेण⁴बाधाऽकल्पनात्⁵ * । ⁶न ह्यनेकान्तशासनस्य⁷प्रत्यक्षतः⁸सिद्धोस्त्यनित्यत्वधर्मो बाधकः, सर्वथा नित्यत्वादिधर्मवत्⁹ ।

तालु आदि के निमित्त से रहित, वायु के निरोध की प्रकटता से स्पष्ट, उस-उस अभीष्ट वस्तु को कथन करने वाले सम्पूर्ण भाषा रूप, दूर और निकट से एक सदृश सुनाई देने वाले ऐसे निरुपम जिनेंद्र भगवान् के वचन सदैव हम सभी की रक्षा करें ।

तिलोय पण्णत्ति ग्रंथ में भी कहा है—

जोयणपमाण सत्तिदतिरियामरमणुवणिदह पडिदोहो ।
मिदमधुरगभीरतराविसदविसयसयल — भासाहि ॥६०॥
अठ्ठरस महाभासा खुल्लयभासा वि सत्तसयसखा ।
अक्खर अनक्खरप्पय सण्णी जीवाण सयलभासाओ ॥६१॥
एदासि भासाणं तालुवदंतोत्ठकण्ठ-वावारं ।
परहरिय एक्ककालं भव्वजणाणंद-कर-भासो ॥६२॥

अर्थ—वे अर्हत भगवान् मृदु, मधुर, अतिगम्भीर और विषय को विशद करने वाली भाषाओं से एक योजन प्रमाण समवशरण सभा में स्थित तिर्यंच, देव और मनुष्यों के समूह को प्रति-बोधित करने वाले हैं, संज्ञी जीवों की अक्षर और अनक्षर रूप अठारह महाभाषा तथा सात सौ लघु भाषाओं में परिणत हुई और तालु, दंत, ओष्ठ तथा कण्ठ के हलन-चलन रूप व्यापार से रहित हो कर एक ही समय में भव्यजनों को आनन्द करने वाली ऐसी दिव्यध्वनि—दिव्यभाषा के स्वामी हैं ।

ऐसी दिव्यध्वनि के खिरने में तीर्थंकर नामकर्म का उदय विशेष ही प्रमुख कारण है क्योंकि मोहनीय कर्म के अभाव में तीर्थंकरों के केवली अवस्था में इच्छा का होना असम्भव है ।

[भगवान् का अनेकांतशासन प्रसिद्ध प्रमाण से बाधित नहीं होता है]

भगवान् का इष्ट (शासन) प्रसिद्ध प्रमाण से बाधित नहीं होता है ।

प्रमाण से जो सिद्ध है वह प्रसिद्ध कहलाता है, वही किसी से बाधित होना युक्त है । यह प्रसिद्ध विशेषण परमत को अपेक्षा से है क्योंकि अन्यमतो जन प्रसिद्ध भो अनित्यत्व आदि एकान्त धर्म के द्वारा आपके मत में बाधा नहीं दे सकते हैं ।*

1 परप्रसिद्धेनानित्यत्वाद्येकान्तेन । (व्या० प्र०) 2 बाधकं । (व्या० प्र०) 3 प्रसिद्धमिति । 4 तवेष्टस्य मतस्य । 5 परः । 6 बौद्धं प्रत्याह स्याद्वादी । 7 स्याद्वादी वदति । प्रत्यक्षेण असिद्धः सर्वथा अनित्यस्वरूपएकान्त अनेकांत-मतस्यबाधाऽकृन्निहि यथा सर्वथा अनित्यरूपः । सौगत आह । तर्हि अनुमानेन सिद्धः एकान्तः अनेकांतस्य बाधको भविष्यतीति चेत् । स्याद्वाद्याह एवं न कस्मात् ? प्रमाणं विना तर्कज्ञाननिष्पत्तंरंगीकरणात् । दि. प्र. । 8 प्रसिद्धोऽत्य इति पा. । (व्या० प्र०) 9 यथा सर्वथा नित्यत्वादिधर्मो नानेकान्तस्य बाधकस्तथा ।

अनुमानात्सिद्धो बाधक इति ¹चेन्नतं प्रमाणात्प्रतिबन्ध²सिद्धेरभ्युपगमात् । न ³खलु ⁴परेषां प्रत्यक्षमग्निधूमयोः ⁵क्षणभंगसद्भावयोर्वा साकल्येन व्याप्तिं प्रति समर्थम्, ⁶अविचारकत्वात्सन्निहितविषयत्वाच्च⁷ * । ⁸अस्मदादिप्रत्यक्षं हि साध्यसाधनयोर्व्याप्तिग्राहि परैरभ्युपगन्तव्य⁹, न योगिप्रत्यक्षम्, अनुमानवैयर्थ्यप्रसङ्गात्, योगिप्रत्यक्षेण देशतः¹⁰ ¹¹कात्स्न्यतो वा निश्शेषसाध्यसाधनव्यक्तिसाक्षात्करणे समारोपस्याप्यभावात्¹² तद्व्यवच्छेदनार्थमप्यनुमानोपयोगायोगात्¹³ । ¹⁴तच्च निर्विकल्पकमिव सविकल्पकमपि न विचारक¹⁵, ¹⁶पूर्वापरपरामर्शशून्यत्वाद्-

अनेकांतशासन का बाधक अनित्यत्व धर्म प्रत्यक्ष से प्रसिद्ध नहीं है जैसे सर्वथा नित्यत्व आदि धर्म अनेकांत शासन में बाधा नहीं दे सकते हैं ।

सौगत—आप के अनेकांतशासन में अनुमान से बाधा सिद्ध है ।

जैन - आप ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि प्रमाण के बिना अविनाभाव की सिद्धि स्वीकार नहीं की गई है अर्थात् नाम के प्रमाण बिना व्याप्ति की सिद्धि नहीं हो सकती है एवं व्याप्ति की सिद्धि न होने पर अनुमान भी उत्पन्न नहीं हो सकता है । यदि बौद्ध तर्क प्रमाण के बिना भी प्रत्यक्ष से व्याप्ति की सिद्धि माने तो उनके यहाँ अग्नि और धूम में अथवा “सर्व क्षणिकं सत्त्वात्” इस क्षणभंग क्षणिकत्व साध्य और सद्भाव—सत्त्वरूप साधन में साकल्य रूप से व्याप्ति को ग्रहण करने के लिये प्रत्यक्ष प्रमाण समर्थ नहीं है क्योंकि वह विचारक—निश्चय कराने वाला नहीं है एवं सन्निहित—निकटवर्ती विषय को ही ग्रहण करने वाला है ।*

अतः आप साध्य—साधन की व्याप्ति को ग्रहण करने वाला हम लोगों का इंद्रिय प्रत्यक्ष ही स्वीकार कीजिए; योगी प्रत्यक्ष नहीं, अन्यथा अनुमान व्यर्थ हो जावेगा । योगी प्रत्यक्ष के द्वारा एक देश रूप से अथवा सकल रूप से अखिल साध्य-साधन की व्यक्ति (विशेष) को साक्षात् करने में समारोप संशयादि का भी अभाव है । अतः उन संशयादि का व्यवच्छेद करने के लिये भी अनुमान का उपयोग नहीं होगा ।

हम लोगों का इंद्रिय प्रत्यक्ष सविकल्प होते हुये भी निर्विकल्प के समान विचारक-व्याप्ति को ग्रहण करने वाला नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष पूर्वापर परामर्श के विचार से शून्य है और अभिलाप (शब्द)

1 तर्कस्थप्रमाणमन्तरा प्रतिबन्धसिद्धे (व्याप्तिसिद्धे) रत्नभ्युपगमाद्व्याप्तिसिद्धचभावानुमानायोगात् । 2 अविनाभाव । (व्या० प्र०) 3 (तर्कस्थप्रमाणादतेपि प्रत्यक्षेणैव व्याप्तिसिद्धिः स्यादित्युक्ते आह, नेति) । 4 सौगतानाम् । 5 क्षणिकत्व-सत्त्वयोः साध्यसाधनयोः । 6 निर्विकल्पकत्वेन । 7 बसः । (व्या० प्र०) 8 (ननु योगिप्रत्यक्षं न सन्निहितविषयमित्युक्ते बौद्धेन स्याद्वादी प्राह) । 9 सौगतैः । (व्या० प्र०) 10 देशयोगिनः । (व्या० प्र०) 11 सकलयोगिनः । (व्या० प्र०) 12 संशयादेः । 13 योगी परप्रतिपादनार्थमनुमानं करोति इति चेत् न, विकल्पानुपपत्तेः । तथाहि असौ योगी गृहीत-व्याप्तिकं वा अगृहीतव्याप्तिकं वा परं प्रतिपादयेत् ? न तावद् गृहीतव्याप्तिकं तस्य प्रत्यक्षेणानुमानेन वा व्याप्ति-ग्रहणायोगात् नाप्यगृहीतव्याप्तिकमतिप्रसंगात् । दि. प्र. । 14 अस्मदादिप्रत्यक्षम् । 15 व्याप्तिग्राहकम् । 16 (अविचारकत्वादिति भाष्योक्तहेतुमन्यप्रकारेण कथयति) । सर्वत्रेदमस्माज्जातमिदं च सर्वत्रानेन क्षणिकत्वेन व्याप्तिसिद्धिं परामर्शशून्यत्वान्निर्विकल्पकस्य सविकल्पकस्य वा प्रत्यक्षस्य ।

भिलापसंसर्ग^१रहितत्वात्^२ । सन्निहितविषयं च, देशकालस्वभावविप्रकृष्टार्थागोचरत्वात् ।
^३तत्र साकल्येन ^४व्याप्तिग्रहणसमर्थम्^५ । न चानुमान^६मनवस्थानुषङ्गात् * । व्याप्तिग्राहिणोनु-
मानस्यापि व्याप्तिग्रहणपुरस्सरत्वात्तद्व्याप्तैरनुमानान्तरापेक्षत्वात् क्वचिदप्यवस्थानाभावात् ।
एवमप्रसिद्धव्याप्तिकं च कथमनुमानमेकान्तवादिनामनित्यत्वाद्यैकान्तधर्मस्य साधकं येन प्रमाण-
सिद्धः सर्वथैकान्तोऽनेकान्तशासनस्य बाधकः स्यात् ? ^७स्याद्वादिनां तु, परोक्षान्तर्भाविना
^८नस्तर्कैण^९ सम्बन्धो व्यवतिष्ठेत * । तस्य विचारकत्वात्^{१०} ।

[जैनमते तर्कज्ञानं प्रमाणं तत्तु व्यवसायात्मकमेव]

प्रत्यक्षानुपलम्भसहकारिणो ^{११}मतिज्ञानविशेषपरोक्षतर्कज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशम-
विशेषादुपजायमानस्य यावान्कश्चिद्धूमः स सर्वोप्यग्निजन्माऽनग्निजन्मा वा न भवतीति

के संसर्ग से रहित है तथा वह प्रत्यक्ष सन्निहित विषयों को ही ग्रहण करने वाला है किन्तु देश, काल और स्वभाव से विप्रकृष्ट (परोक्ष) पदार्थों को विषय नहीं करता है इसलिये निर्विकल्प अथवा सविकल्प दोनों ही प्रत्यक्ष संपूर्ण रूप से व्याप्ति को ग्रहण करने में समर्थ नहीं हैं । न अनुमान ही व्याप्ति को ग्रहण करने में समर्थ है अन्यथा अनवस्था का प्रसंग आ जावेगा* ।

व्याप्ति को ग्रहण करने वाला अनुमान भी व्याप्ति ग्रहणपूर्वक ही होता है तब वह पूर्व की व्याप्ति भी अनुमानान्तर की अपेक्षा रखेगी अतः कहीं पर भी अवस्थान नहीं हो सकेगा । इस प्रकार से एकांतवादियों के यहाँ अप्रसिद्ध व्याप्ति वाला अनुमान भी अनित्यत्व आदि एकांत धर्म का साधक कैसे होगा कि जिससे प्रमाण सिद्ध सर्वथा एकांत धर्म अनेकांतशासन को बाधित कर सके अर्थात् नहीं कर सकता है किन्तु इस कथन से यदि आप कहें कि जैनी भी किस प्रमाण से व्याप्ति को ग्रहण करते हैं तो हम स्याद्वादियों के यहाँ परोक्ष के अन्तर्गत एक तर्क नाम का प्रमाण है उससे व्याप्ति रूप सम्बन्ध की व्यवस्था बन जाती है* क्योंकि वह तर्क ही विचारक—व्याप्ति का निश्चय कराने वाला है ।

[जैनमते में तर्क ज्ञान प्रमाण है और वह व्यवसायात्मक ही है]

प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ जिसमें सहकारी कारण हैं (अर्थात् जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि

1 निर्विकल्पादुत्पन्नत्वात् सविकल्पज्ञानस्य । परमतेऽभिलापसंसर्गसहितं व्याप्तिग्राहि । (व्या० प्र०) 2 निर्विकल्पका-
दुत्पन्नत्वात्सविकल्पकस्य (शब्दसंसर्गसहितं व्याप्तिग्राहीति हि परेषां मतम्) । विरोधान्नोभयेतिकारिकाव्याख्यानावसरे
अभिलापसंसर्गरहितत्वं बलादापद्यतेत्येति वक्ष्यते । 3 अविचारकं सन्निहितविषयं च यतः । 4 निर्विकल्पकं
सविकल्पकं वा । 5 सर्वमनुमानं व्याप्तिग्राहकं साध्यसाधकत्वान्यथानुपपत्तेरित्युक्ते वनित । (व्या० प्र०) 6 साकल्येन
व्याप्तिग्राहकम् । 7 तर्हि स्याद्वादिनां कथं व्याप्तिग्रह इत्युक्ते आह । 8 अस्माकम् । 9 उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं
व्याप्तिज्ञानमूहस्तर्कः । 10 यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निर्न्यथा मठः । यत्र यत्राग्निर्नास्ति तत्र तत्र धूमोऽपि नास्ति यथा
महाह्लादः । इत्युक्तप्रकारो प्रत्यक्षानुपलम्भो सहकारिणो यस्य तस्य । 11 मतिज्ञानविशेष, एव परोक्षतर्कज्ञानं
तदावरणम् ।

¹शब्दयोजनासहितपरामर्शात्मकत्वा²कालत्रयवर्तिसाध्यसाधनव्यक्ति³विषयत्वाच्च व्याप्ति प्रति समर्थत्वात्⁴, ⁵प्रत्यक्षवद्व्याप्तिग्रहणपूर्वक⁶त्वाभावादनुमानोहान्तरानपेक्ष⁷त्वादनवस्थाननु-
⁸षङ्गात्⁹, ¹⁰संवादकत्वेन समारोपव्यवच्छेदकत्वेन च ¹¹प्रमाणत्वात्¹² । तदप्रमाणत्वे न ¹³लौकिकं प्रमाणमिति ¹⁴शेषः, समारोपव्यवच्छेदाविशेषात्¹⁵ * । तर्कतः ¹⁶संबन्धस्याधिगमे¹⁷ समारोप-
विरोधात्¹⁸ । ¹⁹न ²⁰हि ²¹निर्विकल्पकाधिगमोस्ति यतस्तत्र समारोपोपि²² स्यात् । किं तर्हि ?

हे जैसे मठ । जहाँ-जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ—वहाँ धूम भी नहीं है जैसे तालाब । इस प्रकार प्रत्यक्ष और अनुपलंभ जिसमें सहकारी हैं तात्पर्य यह है कि धूम तो प्रत्यक्ष है और अग्नि अनुपलंभ—परोक्ष है उन दोनों के सम्बन्ध को ग्रहण करने वाला व्याप्ति ज्ञान है) ऐसा मतिज्ञान का विशेष (भेद) रूप परोक्ष तर्क ज्ञान है । उस तर्क ज्ञान के आवरण एवं वीर्यांतराय कर्म के क्षयोपशम विशेष से ही तर्क ज्ञान उत्पन्न होता है और वह तर्क जितना कुछ भी धूम है वह सभी अग्नि से ही उत्पन्न हुआ है अथवा अग्नि के अतिरिक्त अन्य किसी से उत्पन्न नहीं हुआ है इस प्रकार से शब्द योजना सहित परामर्शात्मक एवं कालत्रयवर्ती साध्य-साधन व्यक्ति—विशेष को विषय करने वाला होने से ही व्याप्ति को ग्रहण करने के प्रति समर्थ है । तथा जैसे आपका प्रत्यक्ष व्याप्ति पूर्वक नहीं होता है वैसे तर्क ज्ञान प्रत्यक्ष के समान व्याप्ति के ग्रहण पूर्वक नहीं होता है । भिन्न अनुमान एवं तर्क की अपेक्षा भी नहीं करता है अतः उसमें अनवस्था का प्रसंग भी नहीं आता है, प्रत्युत वह तर्क ज्ञान संवादक एवं समारोप का व्यवच्छेदक होने से प्रमाण रूप ही है ।

यदि इस तर्क ज्ञान को प्रमाण न मानें तो अनुमान भी प्रमाण नहीं हो सकता है क्योंकि समा-
रोप का व्यवच्छेदकपना दोनों में समान है* । तर्क से अविनाभाव सम्बन्ध को स्वीकार करने में समा-
रोप का विरोध है ।

1 शब्दयोजनासहित इति पा० । (व्या० प्र०) 2 तर्कस्य । 3 व्याप्ति प्रति समर्थमित्यत्रैतत् साध्ये हेत्वंतरं । (व्या० प्र०) 4 समर्थत्वं कुतः यावता तर्कोऽपि स्वविषये व्याप्तिग्रहणमपेक्षते तच्च न प्रत्यक्षात् अनुमाना-
दित्यादि दोषो भविष्यतीत्याशंका । (व्या० प्र०) 5 अन्वयदृष्टान्तः । व्याप्यनपेक्षं प्रत्यक्षं स्वविषये यथा । व्यावर प्रतौ
अस्य समर्थनार्थं विचारकत्वात् कालत्रयवर्तिसाध्यसाधनव्यक्तिविषयत्वाच्चेति हेतुद्वयमुपात्तं । एतेन प्रत्यक्षवत्कर्ण्य-
विचारकत्वात् सनिहितविषयत्वाच्च व्याप्तिग्रहणं प्रति न समर्थमिति वदन् प्रत्याख्यातः प्रत्यक्षेत्यादिशब्दयोजनासहित
परामर्शकत्वादिति पर्यंतं साधनवाक्यं देहलीदीपन्यायेन तद् हेतुद्वयसमर्थनं परं प्रतिपत्तव्यं । व्याप्तिं प्रति समर्थनत्वात्
परोक्षांतर्भाविना नस्तर्कणं सम्बन्धो व्यवतिष्ठेतेति सम्बन्धः दि. प्र. । 6 तर्कस्य । 7 तर्कस्य । 8 तर्कविषयविकल्प-
ज्ञानस्य प्रत्यक्षफलत्वान्न प्रमाणत्वमिति शंका । (व्या० प्र०) 9 तर्कस्य । 10 प्रमाणांतराविरोधलक्षणेन । (व्या० प्र०)
11 तर्कस्य । 12 प्रत्यक्षवदिति पूर्वोक्तमुदाहरणम् । 13 अनुमानं । (व्या० प्र०) 14 समारोपव्यवच्छेदक-
त्वालौकिकं प्रमाणमित्यत आह । (व्या० प्र०) 15 तर्कानुमानयोः । 16 अविनाभावस्य । (व्या० प्र०) 17 तर्कस्य
फले निर्णये । (व्या० प्र०) 18 अधिगमो निर्विकल्पः स्यादित्याह । (व्या० प्र०) 19 तर्कादिव निर्विकल्पकाद-
पिनिर्णये जाते समारोपो विहस्यतामित्युक्ते आह । 20 अधिगमो हि द्वेषा सविकल्पको निर्विकल्पकश्चेति तत्र
सविकल्पकाधिगमे सति भवतु समारोपविरोधः स्यादिति सौगतशंका निराकुर्वतः प्राहुर्नहि इति—दि. प्र. । 21 अथवा
अधिगमे समारोपविरोध इति कुतः कथ्यते निर्विकल्पकाधिगमे समारोपविरोधाभावादित्याशंकायामाहुः । दि. प्र. ।
22 (समारोपविरोधस्तु दूर एवास्ताम्) ।

अधिगमोपि ¹व्यवसायात्मैव, तदनुत्पत्तौसतोपि दर्शनस्य² ³साध-नान्तरापेक्षया⁴ सन्निधानाऽभे-
दात्⁵ सुषुप्तचैतन्यवत्⁶ * । सन्निधानं हीन्द्रियार्थसन्निकर्षः । तत्स्वयमप्रमाणमाख्यत् तथागतः⁷,
साधनान्तरापेक्षित्वात्⁸ तस्यार्थपरिच्छित्तौ ।

[बौद्धाभिमतं निर्विकल्पदर्शनमप्रमाणमेव सन्निकर्षवत्]

⁹तत एव दर्शनस्याप्रमाणत्वं, सुषुप्तचैतन्यवत्¹⁰ स्वयं संशयविपर्यासानव्यवसायाव्यवच्छे-
दकत्वात् । तद्व्यवच्छेदिनो¹¹ निश्चयस्य¹² ¹³जननात्प्रमाणं दर्शनमिति चेत् तत एव सन्निकर्षः

यहाँ कोई कहता है कि—तर्क के समान निर्विकल्प प्रत्यक्ष से भी निर्णय हो जाने पर समारोप नहीं रहेगा । इस पर जंनाचार्य कहते हैं कि निर्विकल्पकज्ञान तो कोई सिद्ध ही नहीं होता कि जिससे समारोप भी हो सके अर्थात् समारोप विरोध की बात तो दूर ही रहने दीजिये किन्तु उस निर्विकल्प में समारोप ही नहीं हो सकता है । पुनः प्रश्न होता है कि वह निर्विकल्पज्ञान क्या चीज है ? क्योंकि वह व्याप्तिज्ञान भी व्यवसायात्मक ही है । (अर्थात् यहाँ व्याप्ति के ज्ञान को अधिगम कहा है वह भी सविकल्पात्मक ही है) उस सविकल्प ज्ञान की उत्पत्ति न होने पर विद्यमान होता हुआ भी दर्शन साधनान्तर (सविकल्पज्ञान) की अपेक्षा रखने से सन्निधान-सन्निकर्ष में अभेद रूप हैं सुषुप्त चैतन्य के समान* ।

भावाथ—निर्विकल्प दर्शन विद्यमान होते हुये भी स्वयं समारोप का व्यवच्छेदक नहीं है अतएव साधनान्तर-सविकल्प ज्ञान की अपेक्षा है । उसी प्रकार से सन्निकर्ष भी स्वयं समारोप का व्यवच्छेदक नहीं है किन्तु साधनान्तर की अपेक्षा करता है इसलिये सन्निकर्ष से निर्विकल्प में कोई विशेषता नहीं है । जैसे सुषुप्त पुरुष के चैतन्य के स्वयं प्रमाणता नहीं है किन्तु साधनों की अपेक्षा देखी जाती है ।

सौगत—इन्द्रियों से पदार्थ का सम्बन्ध रूप सन्निकर्ष ही सन्निधान कहलाता है । वह सन्निकर्ष स्वयं अप्रमाण है क्योंकि पदार्थों की परिच्छित्ति (ज्ञान) में भिन्न कारणों की अपेक्षा रखता है ।

[बौद्ध के द्वारा मान्य निर्विकल्प दर्शन भी प्रामाणिक नहीं है जैसे कि सन्निकर्ष प्रमाण नहीं है]

1 व्याप्तिज्ञानमधिगमोत्र । सोपि सविकल्पात्मैव । 2 निर्विकल्पकस्थ । (व्या० प्र०) 3 सविकल्पकज्ञानमेवात्र-साधनान्तरम् । 4 ज्ञान । साधनान्तरापेक्षया सन्निधानाभेदात् यत्सन्निधानापेक्षं तत् अधिगमानुत्पत्ति कृद्भवतियथा सुषुप्तचैतन्यं । साधनान्तरापेक्षं चेदं तस्मादधिगमानुत्पत्तिकृत् । दि. प्र. । 5 सतोपि दर्शनस्य न समारोपव्यवच्छेदकत्वं स्वयं यतः साधनान्तरं सविकल्पकमपेक्षते । तथा सन्निकर्षोपि न समारोपव्यवच्छेदकः स्वयं किन्तु साधनान्तरमपेक्षते । इति सन्निकर्षान्न विशेषः । 6 यथा सुषुप्त चैतन्यस्य न स्वयं प्रामाण्यं साधनान्तरापेक्षित्वात् । 7 अत्राह स्याद्वादी । तर्कतः सम्बन्धस्य निश्चये जाते सति समारोपो विहन्यते अत्राह परः निर्विकल्पकादपि समारोपो विहन्यते । इत्युक्ते स्याद्वाद्याह । निर्विकल्पकं दर्शनं निश्चयात्मकं न हि तत्राधिगमे यतः कुतः समारोपः स्यान्न कुतोऽपि पर आह । तर्हि भवन्मतेऽधिगमः किमिति प्रश्ने आह निश्चायकस्वभाव एव । स्याद्वादी अनुमानं रचयति । निर्विकल्पकदर्शनं पक्षः अधिगमानुत्पत्तिकृद् भवतीति साध्योधर्मः जननादेव सन्निकर्षोऽपि सत्यं भवतु दि. प्र. । 8 सौगतः तदिन्द्रियार्थसन्निकर्षलक्षणं सन्निधानं स्वयं अप्रमाणं कथितवान् । कस्मात् ? साधनान्तरमपेक्ष्य तस्य सन्निधानस्य अर्थनिश्चयघटनात् । दि. प्र. । 9 (जैनः) तर्हि तत एव साधनान्तरापेक्षित्वादेव हे सौगत । 10 दर्शनस्य । 11 निश्चयारोपमनसोविरोध-इत्युक्तिः । (व्या० प्र०) 12 सविकल्पकज्ञानस्य । 13 यत्रैव जनयेदेतां तत्रैवास्य प्रमाणता । यत्रैवनिर्विकल्पबुद्धि । एतां—सविकल्पबुद्धि इत्यर्थः । (व्या० प्र०)

प्रमाणमस्तु । तस्यासाधक¹तमत्वात् प्रमाणत्वमिति चेत्कुतस्तस्यासाधकतमत्वम् ? अचेतन-
त्वाद्घटादिवदिति चेद्दर्शनस्याप्यसाधकतमत्वं²चेतनत्वात्सुषुप्तचैतन्यवर्तिक न स्यात् ? यस्य
भावेर्थः परिच्छिन्नो व्यवहियतेऽभावे चाऽपरिच्छिन्नस्तद्दर्शनं साधकतममिति चेत्सन्निकर्षः
साधकतमोस्तु, भावाभावयो³स्तद्वत्ता साधकतमत्वमिति वचनात् । न हि सन्निकर्षस्य भावे
भाववत्त्वमभावे⁴ऽभाववत्त्वमर्थपरिच्छित्तेरप्रतीतम् ।⁵नाप्यर्थस्यान्यत् परिच्छिन्नत्वं, ⁶तत्परि-
च्छित्त्युत्पत्तेः । परिच्छित्तरूपन्ना चेत्⁷ ⁸परिच्छिन्नोर्थ उच्यते । अथ निर्विकल्पकदृष्टौ⁹सत्या

जैन—इसी हेतु से ही दर्शन भी प्रामाणिक नहीं है सुषुप्त चैतन्य के समान क्योंकि दर्शन
(निर्विकल्प प्रत्यक्ष) स्वयं संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय का व्यवच्छेदक नहीं है ।

बौद्ध—संशयादि के व्यवच्छेदी निश्चय-विकल्प ज्ञान को उत्पन्न करने वाला होने से वह
दर्शन प्रमाण है ।

जैन—इसी हेतु से सन्निकर्ष भी प्रमाण हो जावे क्या बाधा है ?

बौद्ध—वह सन्निकर्ष प्रमिति क्रिया के प्रति साधकतम नहीं होने से प्रमाण नहीं है ।

जैन—वह सन्निकर्ष साधकतम क्यों नहीं है ?

बौद्ध—वह सन्निकर्ष अचेतन है घटादि के समान ।

जैन—“तब तो आपका माना हुआ दर्शन भी साधकतम नहीं है क्योंकि वह चेतन है सुषुप्त
चेतन के समान ।” ऐसा भी आप क्यों न मान लें ? अर्थात् जो चेतन है वह साधकतम हो ऐसा कोई
नियम नहीं है ।

बौद्ध—जिसके होने पर पदार्थ जान लिये गये हैं ऐसा व्यवहार होता है एवं जिसके न होने
पर नहीं जाने गये हैं ऐसा व्यवहार होता है वह दर्शन साधकतम है ।

जैन—यदि ऐसा कहते हो तब तो सन्निकर्ष भी साधकतम हो जावे क्योंकि “भावाभावयो-
स्तद्वत्ता साधकतमत्वं” यह न्याय का वचन है अर्थात् जिसके होने पर जो होवे और न होने पर न
होवे वही साधकतम है । सन्निकर्ष के भाव में अर्थ परिच्छित्ति का होना एवं अभाव में नहीं होना ऐसी
प्रतीति नहीं हो यह बात नहीं है ।

बौद्ध—फिर भी पदार्थ जाना गया है यह व्यवहार कैसे होता है ।

1 प्रमिति प्रति । 2 (जैन आह) यच्चेतनं तत्साधकतममेवेति न नियमोस्ति । 3 (सन्निकर्षस्य भावाभावयोः सतोर-
र्थपरिच्छित्तेर्भावाभाववत्तास्तीति सैव साधकतमत्वम्) । 4 भावेचाभाव इति पा. । (व्या० प्र०) 5 तथापि कथमर्थः
परिच्छिन्नो व्यवहियते इत्याशङ्क्यामाह जैनः । 6 अर्थपरिच्छित्त्युत्पत्तिमन्तरा अन्यदर्थपरिच्छिन्नत्वं नास्तीत्यर्थः ।
7 तत्परिच्छित्तेरन्यत् “परिच्छित्तिरूपन्ना” इत्यर्थपरिच्छिन्नत्वमस्ति चेदित्यर्थो बौद्धशङ्कायाः । 8 (जैन आह) ।
9 सन्निकर्षस्य भावेऽपि मध्ये निर्विकल्पकदृष्टौ सत्यामेव परिच्छित्तिरूपद्यते नान्यथा ततः सन्निकर्षस्य भावे
भाववत्त्वमित्यादि प्रागुक्तमयुक्तमिति ताथागताकृतं । (व्या० प्र०)

मर्थस्य परिच्छित्तिनिश्चयात्मकार्थपरिच्छेदव्यवहारहेतुरुत्पद्यते नासत्याम् । अतस्तस्याः साधकतमत्वमिति ¹तवाकृतं तदपि न समीचीनं, ²सन्निकर्षादेव तदुत्पत्त्यविरोधात् । कथमचेतनात्सन्निकर्षाच्चेतनस्यार्थनिश्चयस्योत्पत्तिर्न विरुध्यते इति चेत् तवापि कथमचेतनादिन्द्रियादेरविकल्पदर्शनस्य चेतनस्योत्पत्तिरविरुद्धा ? ³चेतनान्मनस्कारादिन्द्रियादिसहकारिणो दर्शनस्योत्पत्तिरिति चेत्तर्हि चेतनादात्मनः सन्निकर्षसहकारिणोऽर्थनिश्चयोत्पत्तिरपि कथं विरुध्यते ? यतः स्वार्थव्यवसायात्मकोधिगमो न भवेत् ।

[सन्निकर्षवत् निविकल्पदर्शनमपि प्रमाणं नास्तीति प्रसाध्याधुना तर्कस्य प्रमाणतां साधयन्ति जैनाचार्याः]

स च साकल्येन साध्यसाधनसम्बन्धस्तर्कादेवेति⁵ प्रमाणं तर्कः, स्वार्थाधिगमफलत्वात्

जैन—पदार्थ का जानना रूप ज्ञान उससे भिन्न नहीं है क्योंकि अर्थ परिच्छित्ति-ज्ञान उससे ही उत्पन्न होता है अर्थात् पदार्थ के ज्ञान की उत्पत्ति के बिना अन्य कोई अर्थ परिच्छित्ति नहीं है ।

बौद्ध—उस ज्ञान से भिन्न “परिच्छित्ति उत्पन्न हुई” इस प्रकार से अर्थ परिच्छित्ति है । अर्थात् पदार्थ से ज्ञान उत्पन्न होता ही है ।

जैन—वह जाना हुआ ज्ञान ही अर्थ कहा जाता है ।

बौद्ध—निविकल्प दर्शन के होने पर अर्थ परिच्छित्ति होती जो कि निश्चयात्मक पदार्थ के ज्ञान रूप व्यवहार में हेतु है क्योंकि निविकल्प दर्शन के नहीं होने पर नहीं होता है अतः वह परिच्छित्ति साधकतम है ।

जैन—यह भी कथन समीचीन नहीं है क्योंकि सन्निकर्ष से ही उस परिच्छित्ति की उत्पत्ति में विरोध नहीं है ।

बौद्ध—अचेतन सन्निकर्ष से पदार्थ के ज्ञान रूप चेतन की उत्पत्ति विरुद्ध कैसे नहीं है ?

जैन—तब तो आप के यहाँ भी अचेतन इन्द्रियादि से निविकल्प दर्शन रूप चेतन की उत्पत्ति अविरुद्ध कैसे होगी ?

बौद्ध—इन्द्रियादि सहकारी कारण जिसके साथ हैं ऐसे चेतन रूप मनोव्यापार से दर्शन की उत्पत्ति होती है ।

जैन—तब तो जिसमें सन्निकर्ष सहकारी है ऐसे चेतन आत्मा से पदार्थ के निश्चय की भी उत्पत्ति होने में क्या विरोध है ? जिससे कि अधिगम (ज्ञान) स्वार्थ व्यवसायात्मक न होवे अर्थात् ज्ञान स्वार्थ व्यवसायात्मक ही होता है ।

[सन्निकर्ष के समान निविकल्पदर्शन भी प्रमाण नहीं है इस बात को सिद्ध करके अब जैनाचार्य तर्क की प्रमाणता को सिद्ध करते हैं]

और संपूर्णतया वह साध्य-साधन के सम्बन्ध का ज्ञान तर्क से ही होता है इसलिए तर्कज्ञान

1 बौद्धस्य । 2 मध्यवर्तिनिविकल्पकदृष्टिविना । (व्या० प्र०) 3 मनोव्यापारात् । 4 का । (व्या० प्र०) 5 सम्बन्धे इति पा. । विषये । तर्कादेव-उत्पद्यते इति-तथा च । (व्या० प्र०)

समारोपव्यवच्छेदकत्वात्संवादकत्वाच्चानुमानादिवत् ।

[एकांतवादिनां मतेऽनुमानमपि न सिद्धयति अतस्तेऽनेकांतमते बाधामुद्भावयितुं नार्हति]

ततः ^१स्याद्वादिनां व्याप्तिसिद्धेरस्त्यनुमानं, न पुनरेकान्तवादिनां^२, ^३यतोनुमानसिद्धेन सर्व-
थैकान्तेनानेकान्तस्य बाधाकल्पना स्यात् । इत्यप्रमाणसिद्धेनापि^४ बाधा कल्पनीयैव परैः,
^५अन्यथा स्वमतनियमाघटनात् । तथा सति सूक्तं परमतापेक्षं विशेषणं प्रसिद्धेन न बाध्यते
इति । एतेन^६ यदुक्तं भट्टेन ।

नरः ^७कोप्यस्ति ^८सर्वज्ञः स तु सर्वज्ञ ^९इत्यपि । ^{१०}साधनं^{११} यत्प्रयुज्येत प्रतिज्ञामात्रमेव तत्^{१२} ॥१॥

प्रमाण है क्योंकि वह स्वार्थ अधिगम रूप अपने और पर पदार्थ को जानने रूप फल को उत्पन्न करता है, समारोप संशयादि का व्यवच्छेदक है तथा संवादक रूप है अनुमानादि की तरह ।

[एकांतवादियों के मत में अनुमान प्रमाण भी सिद्ध नहीं होता है अतः वे अनेकांत में बाधा की कल्पना भी नहीं कर सकते हैं]

इसलिये स्याद्वादियों के यहाँ व्याप्ति की सिद्धि हो जाने से अनुमान प्रमाण व्यवस्थित है न कि एकांतवादियों के यहाँ । अर्थात् तर्क से सिद्ध व्याप्ति के अभाव में एकांतवादियों के यहाँ अनुमान प्रमाण सिद्ध नहीं होता है जिससे कि अनुमान से सिद्ध सर्वथा एकांत मत के द्वारा अनेकांत शासन में बाधा कल्पित की जा सके । अर्थात् सर्वथा एकांतवाद अनुमान से सिद्ध नहीं है, किन्तु आपको इस प्रकार से अप्रमाण सिद्ध के द्वारा भी अनेकांत शासन में बाधा की कल्पना करना ही चाहिए अन्यथा स्वमत का नियम नहीं घटगा । अतः बहुत ठीक ही कहा है कि “प्रसिद्धेन न बाध्यते” यह विशेषण परमत की अपेक्षा से है ।

श्लोकार्थ—भाट्ट—कोई भी मनुष्य सर्वज्ञ है और वह सर्वज्ञ आप ही हैं इत्यादि के साध्य करने में जो “सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वात्” साधन प्रयोग है वह प्रतिज्ञामात्र है अर्थात् वह कथन मात्र ही है ॥१॥

प्रतिज्ञामात्र क्यों है सो सुनिए—सिद्ध करने की इच्छा से जो अर्हत आदि पदार्थ हैं वे इस प्रतिज्ञामात्र से नहीं कहे जा सकते हैं और जो इस अनिर्द्धारित प्रतिज्ञा (पक्ष) के द्वारा कहे जाते हैं

१ ततस्तर्कबलात् स्याद्वादिनां व्याप्तिः सिद्धयति व्याप्तेः सकाशादनुमानमस्ति । तर्कात् सिद्धाया व्याप्तेरभावे एकांत-
वादिनामनुमानप्रमाणं नास्ति । दि. प्र. । २ तर्कसिद्धाया व्याप्तेरभावे एकान्तवादिनामनुमानं प्रमाणं । ३ यद्यपि
सोमनयोपादीनां तर्काभावेनुमानं मूलत एव नास्ति तथापि सर्वथैकांतमनुमानं सिद्धं सर्वथैकांतं वदति । तादृशेन
अनुमानसिद्धेन सर्वथैकांतेन कृत्वानेकांतस्य कुतो बाधा अपि तु न कुतोऽपि । दि. प्र. । ४ अत्राह कश्चित् इति
कथितप्रकारेण अप्रमाणसिद्धेनाप्यनुमानादिप्रमाणेन कृत्वा परैरेकांतवादिभिः अनेकांतमतस्य बाधा कल्पनीयैव अन्यथा
स्वमतनिश्चयो न घटते । स्वयं प्रमाणसिद्धो नास्ति तथापि बाधा कल्प्यते स्वमतनियमार्थः । दि. प्र. । ५ बाधाऽकल्पना ।
(व्या० प्र०) ६ स त्वमेवासि इत्यादिसाधनपरेण ग्रथेन । (व्या० प्र०) ७ सर्वज्ञो पुमान् भवति । (व्या० प्र०)
८ पुमान् सर्वज्ञो भवति । (व्या० प्र०) ९ नरः पक्षः सर्वज्ञ इति च इति पक्षद्वयसाधनमित्यर्थः । १० सुनिश्चिता
संभवद्बाधकप्रमाणत्वादिति । ११ पक्षद्वयवचनं । (व्या० प्र०) १२ कुतः । (व्या० प्र०)

¹सिद्धायिषितो² योर्थः सोनया ³नाभिधीयते⁴। ⁵यस्तूच्यते⁶ न तत्सिद्धौ किञ्चिदस्ति प्रयोजनम् ॥२॥
⁷यदीयागमसत्यत्वसिद्धौ सर्वज्ञतोच्यते । न सा सर्वज्ञसामान्यसिद्धिमात्रेण लभ्यते ॥३॥
यावद्बुद्धौ न⁸ सर्वज्ञस्तावत्तद्वचनं मृषा । यत्र वचन सर्वज्ञे सिद्धे तत्सत्यता⁹ कुतः ॥४॥
¹⁰अन्यस्मिन्न हि सर्वज्ञे ¹¹वचसोन्यस्य सत्यता। ¹²सामानाधिकरण्ये हि ¹³तयोरङ्गाङ्गिता¹⁴ भवेत् ॥५॥

इति तन्निरस्त¹⁵, भगवतोर्हत एव युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वेन ¹⁶सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वेन च सर्वज्ञत्ववीतरागत्वसाधनात् । ततस्त्वमेव महान् मोक्षमार्गस्य प्रणेता नान्यः कपिलादिः । यस्मात्—

उनकी सिद्धि में कुछ प्रयोजन नहीं है ॥२॥

जिसके आगम की सत्यता सिद्ध है उसके ही सर्वज्ञता है इस प्रकार सर्वज्ञ सामान्य की सिद्धि मात्र से वह सर्वज्ञता सिद्ध नहीं होती है ॥३॥

जब तक बुद्ध सर्वज्ञ नहीं है तब तक उसके वचन असत्य हैं । जिस किसी अन्य में सर्वज्ञ की सिद्धि हो जाने पर अन्य बौद्धादि के आगम की सत्यता कैसे हो सकती है ? ॥४॥

अन्य कोई ही सर्वज्ञ होवे और अन्य के वचन में सत्यता होवे ऐसा नहीं हो सकता है क्योंकि जो सर्वज्ञ है वही आगम का प्रणेता है ऐसा सामानाधिकरण होने पर ही सर्वज्ञ और उसके वचनों में कार्यकारण भाव बन सकता है अन्यथा नहीं ॥५॥

जैन—“प्रसिद्धेन न बाध्यते” ऊपर इस वाक्य का स्पष्टीकरण करने से आपके इस कथन का भी खंडन कर दिया गया है ऐसा समझना चाहिए ।

अतः युक्ति शास्त्र से अविरोधी वचन होने से और सुनिश्चितासंभवद्बाधक प्रमाण रूप से भगवान् अर्हत में ही सर्वज्ञता और वीतरागता सिद्ध हो जाती है इसलिये आप ही मोक्षमार्ग के प्रणेता महान् हैं अन्य कपिलादि नहीं हैं । क्योंकि—

इसका संदर्भ आने आने वाली सातवीं कारिका से है अर्थात् आपके मत से बाह्य, सर्वथा एकांतवादी जन 'जो कि अपने को आप्त मान रहे हैं' उनके मत प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित है ।

1 प्रतिज्ञामात्रमेव कथमित्याह । 2 अर्हदादिः । 3 यतः । पुरुषसामान्यस्य सर्वज्ञत्वमनया प्रतिज्ञया साध्यते ततश्च प्रतिज्ञामात्रत्वं कथमित्याशंकायामाह । (व्या० प्र०) 4 भवद्भिर्जनेः । 5 अनिर्द्धारितः प्रतिज्ञया । 6 प्रतिज्ञाया अनिर्द्धारितः पुरुषः सर्वज्ञः । (व्या० प्र०) 7 अर्हदागम । (व्या० प्र०) 8 यावद्बुद्धो हि सर्वज्ञो न तावद् इति पा. । दि. प्र. । 9 (बौद्धादिभिः प्रवर्तमानागमसत्यता) । 10 अर्हति । (व्या० प्र०) 11 बौद्धस्य । (व्या० प्र०) 12 यः सर्वज्ञः स एवागमस्य प्रणेतेति । 13 सर्वज्ञतद्वचनयोः । 14 कार्यकारणता । 15 इतिकारिकापंचकेन यदुक्तं भट्टेन तन्निराकृतं । दि. प्र. । 16 अविरोधशब्दस्य सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वेन पूर्वमेव व्याख्यातत्वात्तस्यामेव प्रकृतायां कारिकायां सद्भावोवगतव्यः । (दि० प्र०)

नवनीत

स्वामी श्री समन्तभद्राचार्यवर्य अपनी श्रद्धा और गुणज्ञतालक्षण गुणों से सहित होकर देवागम स्तोत्र के द्वारा भगवान् की स्तुति करना चाहते हैं। इस स्तोत्र में प्रारंभिक कारिकाओं के द्वारा ऐसा ध्वनित हो रहा है कि मानों श्री आचार्यवर्य भगवान् से वार्तालाप ही कर रहे हैं—

सर्वप्रथम आचार्य कहते हैं कि हे भगवन् ! आपके जन्मोत्सव आदि में देवों का आगमन आदि अतुल्य वैभव पाया जाता है। इस पुण्य वैभव को देखकर हम आपको बंध नहीं समझते हैं क्योंकि ये वैभव मायावी जनों में संभव हैं। तब भगवान् ने अंतरंग-बहिरंग महोदय आदि वैभव से अपनी विशेषता बतलानी चाही तब भी (द्वितीय कारिका में) आचार्यवर्य ने कहा कि ये अंतरंग-बहिरंग वैभव देवों में पाये जा सकते हैं अतः इस हेतु से भी आप बंध नहीं। तब भगवान् ने अपने तीर्थकरपने को बतलाना चाहा तब भी आचार्य श्री ने (तृतीय कारिका में) यह कहा कि सभी संप्रदायों में उनके प्रवर्तक अपने को तीर्थकर मान रहे हैं और सभी तो आप्त हो नहीं सकते क्योंकि उनमें परस्पर में विरोध है।

पुनः यह प्रश्न होता है कि आप विश्व में किसी को भी भगवान्-आप्त मानने को तैयार नहीं हैं क्या ? तब स्वामी जी स्वयं (तृतीय कारिका के अंतिम चरण में) यह ध्वनित कर देते हैं कि इन सभी संप्रदायों में कोई न कोई आप्त अवश्य है। वह आप्त कौन हो सकता है ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्यवर्य ने झूठ यह उत्तर नहीं दिया कि वे सच्चे आप्त हमारे अर्हत ही हैं, प्रत्युत (चतुर्थ कारिका में) यह बताया कि किसी न किसी जीव में दोष और आवरण का सम्पूर्णतया विनाश हो सकता है।

इतना कहने पर भी यह प्रश्न हो गया कि दोष और आवरण के नष्ट हो जाने पर कोई आत्मा कर्म कलंक रहित अकलंक बन जायेगा फिर भी तो वह सर्वज्ञ नहीं होगा पुनः आपको मान्य कैसे होगा ? तब आचार्य श्री ने (पांचवीं कारिका में) अनुमान वाक्य से स्पष्ट किया कि “सूक्ष्म, अंतरित और दूर-वर्ती पदार्थों को जानने वाला कोई आत्मा अवश्य है।” और जो सभी कुछ जान लेता है वही तो सर्वज्ञ है।

इस प्रकार से सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध हो जाने पर वे सर्वज्ञ कौन हैं ? अथवा मानों भगवान् ही प्रश्न करते हैं कि मुझमें ही दोष और आवरण नहीं है तथा मैं ही सर्वज्ञ हूँ इस बात को आप कैसे सिद्ध करेंगे ? तब आचार्य महोदय कहते हैं कि “सत्वमेवासि” वे दोष आवरण रहित सर्वज्ञ आप ही

हैं क्योंकि आपके वचन युक्ति और शास्त्र से विरोध रहित हैं आपका शासन (मत) प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से बाधित नहीं होता है।

इस प्रकार से आचार्यवर्य ने चतुर्थ कारिका में अर्हत के वीतराग विशेषण को स्पष्ट करके पांचवीं कारिका से उन्हें सर्वज्ञ सिद्ध किया है। पुनः छठी कारिका से उन्हें ही युक्ति शास्त्र से अविरोधी वचन वाले घोषित कर परम हितोपदेशी सिद्ध किया है।

सच्चे आप्त में वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी ये तीन विशेषण होने ही चाहिए अन्यथा वह आप्त नहीं हो सकता है। ऐसा अन्य ग्रन्थों में स्वयं आचार्य श्री ने कहा है और यहाँ चौथी, पांचवीं एवं छठी कारिका के क्रम से भी यही सूचित हो रहा है कि पहले कोई जीव दोष आवरण के अभाव से वीतराग होता है और सर्वज्ञ होने के बाद ही हितोपदेशी हो सकता है।

इस प्रकार छठी कारिका में आचार्य श्री अन्वय मुख से अर्हत को सच्चे आप्त सिद्ध कर चुके हैं। आगे सप्तम कारिका में व्यतिरेक मुख से अन्य कपिलादि को सच्चे आप्त होने का निषेध करेंगे।

अतः इस छठी कारिका से सातवीं कारिका का संबंध समझ कर इस प्रथम खण्ड का द्वितीय खण्ड से संबंध स्थापित कर लेना चाहिए।

यावन्नेरुधराशंला, यावच्चन्द्रदिवाकरौ ।
तावदष्टसहस्याः प्राक्-खण्डो जगति नंदताम् ॥१॥

अष्टसहस्री भाषानुवाद का प्रथम भाग

समाप्त



प्रशस्ति :

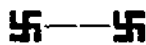
सिद्धं सन्मतिदेवस्य धर्मचक्रकशासनम् । सर्वार्थसिद्धिकर्तारं शासनं जिनशासनम् ॥१॥
 वर्षे चतुःशते सप्तत्युत्तरे वीरनिर्वृते । कुंदकुंदगणी जातो गीतमानुप्रसिद्धिभाक् ॥२॥
 तस्य पूतान्वये ख्याते तपोज्ञानपरायणाः । बहवः ख्यातानामानः समभूवन्महर्षयः ॥३॥
 क्रमशस्तत्र सञ्जातः प्रशान्तः सागरोपमः । शांतिसागर आचार्यो मुनीन्द्रो गणनायकः ॥४॥
 येन दंगम्बरी दीक्षाविधिलोके प्रवर्तितः । चिरादासीन्निरुद्धोऽसौ कलिकालप्रभावतः ॥५॥
 तत्प्रतिष्ठापदं लेभे सूरिः श्री वीरसागरः । निग्रहानुग्रहे दक्षो व्यवहारविदांवरः ॥६॥
 तपसा तेजसा कीर्त्या प्रभावेण महौजसा । तत्प्रतिष्ठासभः सूरिर्नास्ति सूर इवाम्बरे ॥७॥
 महाभागस्य तस्यैव गुरोः पादयुगान्तिके । आर्यिकायाः प्रव्रज्या मे सञ्जाता भवहारिणी ॥८॥
 नाम्ना ज्ञानवती चाहं कृतानेनैव सूरिणा । तत्प्रसादान्मया लब्धमात्मज्ञानं भवान्तकम् ॥९॥
 लब्धभासीदतः पूर्वं ब्रह्मचर्यं व्रतं मया । देशभूषणसूरीणामन्तिके क्षुल्लिकाव्रतम् ॥१०॥
 सर्वत्र विहरन् भूमौ वीरवत् वीरसागरः । आयुरन्ते समाधिस्थः दिवं यातो महामुनिः ॥११॥
 शिवसागर आचार्यस्ततस्तत्पट्टमाश्रितः । संसारदुखतप्तानां शिवं साक्षात् प्रदर्शयन् ॥१२॥
 वर्षाणां द्वादशं यावत् विहारं कृतवानसौ । पुनः समाधिं संप्राप्य स्वर्गलोकं समाश्रितः ॥१३॥
 ततः संघानुसम्मत्या धर्मवाद्धिरिवापरः । धर्मसागर आचार्यस्तस्य पट्टे प्रतिष्ठितः ॥१४॥
 यस्यानुशासनं पूतं श्रावकैर्मूनिभिस्तथा । मूर्ध्नि संधार्यते नित्यं जिनाज्ञेव सुदृष्टिभिः ॥१५॥
 अध्यात्मन्यायसिद्धांत-ज्ञानं सम्यक् जिनोदितम् । श्रुतदेव्याः प्रसादाद्धि, लब्धं तस्यै नमोऽस्तु मे ॥१६॥
 श्रुतभक्त्या-वगाहंते, सञ्जानामृतवारिधिं । तस्मात्तद्भक्तिभावेन, तामेव हृदि धारये ॥१७॥
 मरुप्रदेशके ग्रामोऽस्ति टोडारायसिंहकः । तत्र श्रीपार्श्वनाथस्य मंदिरे जिनसन्निधौ ॥१८॥
 रसविष्णुदिशा युगमे वीराब्दे विश्रुते शुभे । पीषमासि सिते पक्षे द्वादश्यां शुक्रवासरे ॥१९॥
 विख्याताष्टसहस्र्या वै गीर्वाण्या राष्ट्रभाषया । गुरुभक्त्यानुवादोयं मया सम्यगपूर्यत ॥२०॥
 स्थेयादष्टसहस्रीयं राष्ट्रभाषा विभूषिता । विदुषां रञ्जनं कुर्याद्यावच्चंद्रदिवाकरी ॥२१॥

इंद्रवज्रा छन्द

स्याद्वादचित्तामणिनामधेया, टीका कृतेयं स्वयमल्पबुद्ध्या ।

सम्यक्त्वशुद्ध्यै भवतात् सदा मे, चित्तामणिः स्याज्जगते च मह्यम् ॥२२॥

इति शुभं भूयात्





प

रि

शि

ष्ट



उद्धृतश्लोकाः

पृष्ठ नं०

अ

| | |
|---|-----|
| अतद्रूपपरावृत्तवस्तुमात्रप्रवेदनात् । सामान्यविषयं प्रोक्तं लिङ्गं भेदाप्रतिष्ठिते ॥ | १३८ |
| अनादेरागमस्यार्थो न च सर्वज्ञ आदिमान् । कृत्रिमेण त्वसत्येन स कथं प्रतिपाद्यते ॥ | २५३ |
| अथ तद्वचनेनैव सर्वज्ञोऽज्ञैः प्रकीर्णते । प्रकल्प्येत कथं सिद्धिरन्योन्याश्रययोस्तयोः ॥ | २५३ |
| असर्वज्ञप्रणीतात् वचनान्मूलवजितात् । सर्वज्ञमवगच्छन्तः स्ववाक्यात्किं न जानते ॥ | २५४ |
| अनेकांते हि विज्ञानमेकान्तानुपलम्भनम् । तद्विधिस्तन्निषेधश्च मतो नैवान्यथा गतिः ॥ | २६८ |
| असिद्धोभावधर्मश्चेद् व्यभिचार्युभयाश्रयः । विरोधो धर्मोऽभावस्य स सत्तां साधयेत् कथं ॥ | ३३४ |
| अन्यस्मिन् हि सर्वज्ञे वचसोऽन्यस्य सत्यता । सामानाधिकरण्ये हि तयोरंगांगिता भवेत् ॥ | |

उ

| | |
|---|-----|
| उपदेशो हि बुद्धादेर्धर्माधर्मादिभोचरः । अन्यथाप्युपपद्येत सर्वज्ञो यदि नाभवत् ॥ | २५४ |
|---|-----|

ए

| | |
|--|-----|
| एकत्वात्कर्मणः प्राप्तं क्रियैकत्वं तथाभिदः । कर्तृभेदादितीत्यं च किं कर्तव्यं विचक्षणैः ॥ | ११४ |
| एकशास्त्रविचारेषु दृश्यतेऽतिशयो महान् । न तु शास्त्रान्तरज्ञानं तन्मात्रेणैव लभ्यते ॥ | २५६ |

क

| | |
|--|-----|
| करोत्यर्थयज्याद्यर्थो विभिन्नौ यदि तत्त्वतः । अन्यत्संदिग्धमन्यस्य कथने दुर्बटः क्रमः ॥ | १२८ |
| क्रमप्रतीतेरेवं स्यात् प्रथमं भावनागतिः । तत्सामर्थ्यात्पुनः पश्चाद्यतः कर्ता प्रतीयते ॥ | ११३ |
| कार्येण चोदनाज्ञानं स्वरूपे किन्तु तत्प्रमा । द्वयोश्चेद् हंस ! तौ नष्टौ भट्टवेदान्तवादिनौ ॥ | २१ |
| कामी यत्रैव यः कश्चिन्नियोगे सति तत्र सः । विषयारूढमात्मानं मन्यमानः प्रवर्तते ॥ | २६ |
| कार्यस्य सिद्धी जातायां तद्युक्तः पुरुषस्तदा । भवेत्साधित इत्येवं पुमान् वाक्यार्थ उच्यते ॥ | ३० |
| कार्येण चोदनाज्ञानं प्रमाणं यस्य सम्मतम् । तस्य स्वरूपसत्तायां तन्नैवातिप्रसंगतः ॥ | २६१ |
| किञ्चिन्निरणीतमाश्रित्य विचारोऽभ्यत्र वर्तते । सर्वविप्रतिपत्ती तु क्वचिन्नास्ति विचारणा ॥ | २२६ |

ग

| | |
|---|-----|
| गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा तत्प्रतियोगिनम् । मानसं नास्तितान्नानं येषामक्षानपेक्षया ॥ | २६४ |
|---|-----|

ज

| | |
|---|-----|
| ज्योतिर्विचच प्रकृष्टोपि चंद्रार्कग्रहणादिषु । भवत्यादिशब्दानां साधुत्वं ज्ञातुमर्हति ॥ | २५६ |
|---|-----|

ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबंधने । दाह्यं ऽग्निर्दाहको न स्यादसति प्रतिबंधने ॥

२७८

ज्ञात्वा व्याकरणं दूरं बुद्धिः शब्दापशब्दयोः । प्रकृष्यते न नक्षत्रतिथिग्रहणनिर्णये ॥

२५६

त

तथा द्विजस्य व्यापारो याम इत्यभिधीयते । ततः परा च निर्वाधा करोतीति क्रियेष्यते ॥

१२६

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयोर्विभिन्ना, नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम् ।

धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां, महाजनो येन गतः स पंथाः ॥

१८४

तथा वेदेतिहासादिज्ञानातिशयवानपि । न स्वगंदेवताऽपूर्वप्रत्यक्षीकरणे क्षमः ।

२५६

तज्ज्ञापकोपलम्भस्याभावोऽभावप्रमाणतः । साध्यते चेन्न तस्यापि सर्वत्राप्यप्रवृत्तितः ॥

२६४

त्वं संभवः संभव तर्षरोगैः, संतप्यमानस्य जनस्य लोके । आसीरिहाकस्मिक एव वैद्यो, वैद्यो यथा नाथ !

रुजां प्रशान्त्यर्थं ॥

३५१

तज्ज्ञापकोपलंभोऽपि सिद्धः पूर्वं न जातुचित् । यस्य स्मृतौ प्रजायेत नास्तितान्ज्ञानमाञ्जसम् ॥

२६५

तां प्रातिपदिकार्थं च धात्वर्थं च प्रचक्षते । सा सत्ता सा महानात्मा यामाहुस्त्वत्तलादयः ॥

६६

ताभ्यां तद्ध्यतिरेकश्चेत् किन्न दूरेऽवभासनम् । दूरेऽवभासमानस्य सन्निधानेऽतिभासनम् ॥

१४१

तेषामशेषनृज्ञाने स्मृते तज्ज्ञापके क्षणे । जायते नास्तितान्ज्ञानं मानसं तत्र नान्यथा ॥

२६४

द

दशहस्तान्तरं ध्योमिन् यो नामोत्प्लुत्य गच्छति । योजनमसौ गन्तुं शक्तोऽभ्यासशतैरपि ॥

२५६

ध

धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते । सर्वमन्यद्विज्ञानस्तु पुरुषः केन वार्यते ॥

३१६

न

न सामान्यं विशेषेण विना किञ्चित्प्रतीयते । सामान्याक्षिप्यमाणस्य न हि नामाप्रतीयता ॥

१२६

न भेदाद्भिन्नमस्त्वन्यत्सामान्यं बुद्ध्यभेदतः । बुद्ध्याकारस्य भेदेन पदार्थस्य विभिन्नता ॥

१४१

न चागमविधिः कश्चिन्नित्यः सर्वज्ञबोधनः । न च मंत्रार्थवादानां तात्पर्यमवकल्प्यते ॥

२५३

न चान्यार्थप्रधानैस्तैस्तदस्तित्वं विधीयते । न चानुवदितुं शक्यः पूर्वमन्यैरबोधितः ॥

२५३

न चाशेषनरज्ञानं सकृत्साक्षाद्बुपेयते । न क्रमादन्यसंतानप्रत्यक्षत्वानभीष्टितः ॥

२६४

| | |
|---|-----|
| नन्वेवं सर्वथैकांतः परोपगमतः कथं । सिद्धो निषिध्यते जैर्नरिति चोद्यं न धीमताम् ॥ | २६८ |
| न हेतोः सर्वथैकांतैरनेकान्तः कथञ्चन । श्रुतज्ञानाभिगम्यत्वात्तेषां दृष्टेष्टबाधनात् ॥ | ३२६ |
| नरः कोऽप्यस्ति सर्वज्ञः स तु सर्वज्ञ इत्यपि । साधनं यत्प्रयुज्येत प्रतिज्ञामात्रमेव तत् ॥ | ४२६ |
| नानुमानार्दाजित्वात् क्वार्थापत्युपमागतिः । सर्वज्ञस्यान्यथाभावसादृश्यानुपपत्तितः ॥ | २६३ |
| निर्विशेषं हि सामान्यं भवेच्छशविषाणवत् । सामान्यरहितत्वाच्च विशेषस्तद्देव हि ॥ | १३३ |
| नैवं सर्वत्र सर्वज्ञज्ञापकानुपदर्शनम् । सिद्धं तद्दर्शनारोपो येन तत्र निषिध्यते ॥ | २६८ |

प

| | |
|--|-----|
| परस्वराविनाभूतं द्वयमेतत्प्रतीयते । नियोगः समुदायोऽस्मात् कायप्रेरणयोर्मतः ॥ | २८ |
| परोपगमतः सिद्धः स चेन्नास्तीति साध्यते । व्याघातस्तत्प्रमाणत्वेन्योन्यं सिद्धो न सोऽन्यथा ॥ | २६५ |
| पाकं करोति यागं च यदि भेदः प्रतीयते । एवं सत्यनवस्था स्यात्समञ्जसताकरी ॥ | १२२ |
| पाकं करोति यागं चेत्येवं भेदेऽवभासिते । कानवस्था भवेत्तत्र तत्प्रतीत्यनुसारिणाम् ॥ | १२३ |
| प्रत्ययार्थो नियोगश्च यतः शुद्धः प्रतीयते । कार्यरूपश्च तेनात्र शुद्धं कार्यमसौ मतः ॥ | २६ |
| प्रमाणं किं नियोगः स्यात् प्रमेयमथवा पुनः । उभयेन विहीनो वा द्वयरूपोथवा पुनः ॥ | ३१ |
| प्रतीतेऽन्तर्धर्मात्मन्यर्थे स्वयमबाधिते । को दोषः सुनयैस्तत्रैकांतोपप्लवसाधने ॥ | २६८ |
| प्रमाणान्तरतोप्येषां न सर्वपुरुषग्रहः । तल्लिगादेरसिद्धत्वात् सहोदीरितदूषणात् ॥ | २६५ |
| प्रत्यक्षाद्यविसंवादि प्रमेयत्वादि यस्य तु । सद्भाववारणे शक्तं को नृत् कल्पयिष्यति ॥ | ३३१ |
| प्राज्ञोऽपि हि नरः सूक्ष्मानर्थान् द्रष्टुं क्षमोऽपि सन् । स्वजातीरनतिक्रामन्तिशेते परान्तरान् ॥ | २५८ |
| प्रेरकत्वं तु यत्तस्य विशेषणमिहेष्यते । तस्याप्रत्ययवाच्यत्वाच्छुद्धे कार्ये नियोगता ॥ | २६ |
| प्रेरणैव नियोगोऽत्र शुद्धा सर्वत्र गम्यते । नाप्रेरितो यतः कश्चिन्नियुक्तं स्वं प्रबुध्यते ॥ | २७ |
| प्रेर्यते पुरुषो नैव कार्येणेह विना नवचित् । ततश्च प्रेरणा प्रोक्ता नियोगः कार्यसंगता ॥ | २७ |
| प्रेरणा विषयः कार्यं न तु तत्प्रेरकं स्वतः । व्यापारस्तु प्रमाणस्य प्रमेय उपचर्यते । | २८ |
| प्रेरणा हि विना कार्यं प्रेरिका नैव कस्यचित् । कार्यं वा प्रेरणायोगो नियोगस्तेन सम्मतः ॥ | २८ |

ब

| | |
|---|-----|
| बुद्धिरेवातदाकारा तत उत्पद्यते यदा । तदास्पष्टप्रतीभास व्यवहारो जगन्मतः ॥ | १४४ |
| बुद्धादयो ह्यवेदज्ञास्तेषां वेदादसंभवः । उपदेशः कृतोऽतस्तैर्व्यामोहादेव केवलात् ॥ | २५४ |

भ

| | |
|--|----|
| भावना यदि वाक्यार्थो नियोगो नेति का प्रमा । तावुभौ यदि वाक्यार्थौ हती भट्टप्रभाकरी ॥ | २१ |
|--|----|

म

| | |
|---|----|
| ममेदं कार्यमित्येवं ज्ञातं पूर्वं यदा भवेत् । स्वसिद्धौ प्रेरकं तस्मादन्यथा तन्न सिद्धयति ॥ | २७ |
| ममेदं भोग्यमित्येवं भोग्यरूपं प्रतीयते । ममत्वेन च विज्ञानं भोक्तयैव व्यवस्थितम् ॥ | ३० |
| ममेदं कार्यमित्येवं मन्यते पुरुषः सदा । पुंसः कार्यं विशिष्टत्वं नियोगोऽस्य च वाच्यता ॥ | |

य

| | |
|--|-----|
| यथा प्रयोजकस्तत्र बाध्यमानप्रतीतिकः । प्रयोज्योऽपि तथैव स्वाच्छब्दो बुद्ध्यर्थवाचकः ॥ | १०३ |
| यजते पचतीत्यत्र भावना न प्रतीयते । यज्याद्यर्थातिरेकेण तस्या वाक्यार्थता कुतः ॥ | १२२ |
| यथा द्विजस्य व्यापारो याग इत्यभिधीयते । ततः परा पुनर्दृष्टा करोतीति न हि क्रिया ॥ | १२२ |
| यजि क्रिया च द्रव्यस्य विशेषादपरा न हि । सामानाधिकरण्येन देवदत्ततया गतेः ॥ | १२२ |
| यजते पचतीत्यत्र भावनायाः प्रतीतितः । यजाद्यर्थातिरेकेण युक्ता वाक्यार्थता ततः ॥ | १२३ |
| यजि क्रियापि भावस्याविशेषादपरैव हि । सामानाधिकरण्येन देवदत्ततया गतेः । | १२६ |
| यज्जातीयैः प्रमाणैस्तु यज्जातीयार्थदर्शनम् । दृष्टं संप्रति लोकस्य तथा कालान्तरेऽप्यभूत् ॥ | २५५ |
| यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलंघनात् । दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्थान्न रूपे श्रोत्रवृत्तिता ॥ | २५८ |
| यदा च क्वचिदेकत्र भवेत्तन्नास्तित्वागतिः । नैवान्यत्र तदा सास्ति क्वैवं सर्वत्र नास्तिता ॥ | २६५ |
| यदीयागमसत्यत्वसिद्धौ सर्वज्ञतोच्यते । न सा सर्वज्ञसामान्यसिद्धमात्रेण लभ्यते ॥ | ४३० |
| यावद्बुद्धो न सर्वज्ञस्तावत्तद्वचनं मृषा । यत्र क्वचन सर्वज्ञे सिद्धे तत्सत्यता कुतः ॥ | ४३० |
| ये तु मन्वादयः सिद्धाः प्राधान्येन त्रयीविदाम् । त्रयीविदाश्चित्तग्रन्थास्ते वेदप्रभवोक्तयः ॥ | २५५ |
| येऽपि सातिशया दृष्टाः प्रज्ञामेधादिभिर्नराः । स्तोत्रस्तोकान्तरत्वेन न स्वतीन्द्रियदर्शनात् ॥ | २५८ |

व

| | |
|--|-----|
| वक्तव्यापारविषयो योऽर्थो बुद्धौ प्रकाशते । प्रामाण्यं तत्र शब्दस्य नार्थतत्त्वनिबन्धनम् ॥ | १०५ |
| व्यापार एष मम किमवश्यमिति मन्यते । फलं विनैव नैवं चेत् सफलाधिगमः कुतः ? ॥ | १२० |
| विशेषणं तु यत्तस्य किञ्चिदन्यत्प्रतीयते । प्रत्ययार्थो न तद्युक्त धात्वर्थः स्वर्गकामवत् ॥ | २६ |
| विवक्षापरतन्त्रत्वात् भेदाभेदव्यवस्थितः । लाभिधानात्कारकस्य सर्वमेतत्समञ्जसम् ॥ | ११७ |
| विज्ञानगुणदोषाभ्यां वाग्भूतेर्गुणदोषता । वाञ्छन्तो वा न वक्तारः शास्त्राणां मद्बुद्ध्यः ॥ | ४२० |

श

| | |
|--|----|
| शब्दव्यापाररूपो वा व्यापारः पुरुषस्य वा । द्वयव्यापाररूपो वा द्वयव्यापार एव वा ॥ | ३१ |
|--|----|

शब्दात्मभावनामाहुरन्यामेव लिङ्गादयः । इयं त्वन्यैव सर्वार्था सर्वाख्यातेषु विद्यते ॥
शब्दादुच्चरितादात्मा नियुक्तो गम्यते नरैः । भावनातः परः को वा नियोगः परिकल्प्यताम् ॥

६४

१०१

स

सन्मात्रं भावलिङ्गं स्यादसंपृक्तं तु कारकैः । धात्वार्थः केवलः शुद्धो भाव इत्यभिधीयते ॥ ६६
संबंधाद्यदि तद्भेदो धात्वर्थस्याप्यसौ भवेत् । सोपि निर्वर्त्य एवेति तद्भेदेनैव भिद्यताम् ॥ ११७
सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः । दृष्टो न चैकदेशोऽस्ति लिङ्गं वा योनुमापयेत् ॥ २५२
सर्वज्ञोक्ततया वाक्यं सत्यं तेन तदस्तित्वा । कथं तदुभयं सिद्धयेत् सिद्धमूलान्तरादृक्ते ॥ २५३
सर्वज्ञसदृशं कञ्चिद्यदि पश्येम संप्रति । उपमानेन सर्वज्ञं जानीयाम ततो वयम् ॥ २५४
सर्वसंबंधि तद्बोद्धुं किञ्चित् बोधनं शक्यते । सर्वबोधोऽस्ति चेत् कश्चित्तद्बोद्धा किं निषिध्यते ॥ २६२
सर्वसंबंधिसर्वज्ञापकानुपलंभनम् । न चक्षुरादिभिर्वैद्यमत्यक्षत्वाददृष्टवत् ॥ २६३
सर्वप्रमातृसंबंधिप्रत्यक्षादिनिवारणात् । केवलागमगम्यं च कथं मीमांसकस्य तत् ॥ २६३
सर्वप्रमातृसंबंधिप्रत्यक्षादिनिवारणात् । केवलागमगम्यत्वं लप्स्यते पुण्यपापयोः ॥ ३२४
साध्यरूपतया येन ममेदमिति गम्यते । तत्प्रसाध्येन रूपेण भोग्यं स्वं व्यपदिश्यते ॥ ३०
सिद्धमेकं यतो ब्रह्म गतमाप्नायतः सदा । सिद्धत्वेन न तत्कार्यं प्रेरकं कुत एव तत् ॥ २९
सिद्धरूपं हि यद्भोग्यं न नियोगः स तावता । साध्यत्वेनेह भोग्यस्य प्रेरकत्वान्नियोगता ॥ ३०
सिसाध्यविषितो योर्थः सोनया नाभिधीयते । यस्तूच्यते न तत्सिद्धौ किञ्चिदस्ति प्रयोजनम् ॥ ४३०
सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा । तावुभौ यदि सर्वज्ञो मतभेदः कथं तयोः ॥ १९
सूक्ष्माद्यर्थोपि चाध्यक्षः कस्यचित्सकलः स्फुटम् । श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वान्नदीद्वीपादिदेशवत् ॥ ३२५
स्वसंबंधि यदीदं स्याद् व्यभिचारि पयोनिघ्नेः । अंभःकुंभादिसंख्यानैः सद्भिरज्ञायमानकैः ॥ २६३
स्वामित्वेनाभिमानो हि भोक्तुर्यत्र भवेदयम् । भोग्य तदेव विज्ञेयं तदेवं स्वं निरूच्यते ॥ ३०
स्यानत्रयाविसंबादि श्रुतज्ञानं हि वक्ष्यते । तेनाधिगम्यमानत्वं सिद्धं सर्वत्र वस्तुनि ॥ ३२९



पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

आप्त—जो अज्ञानादि दोष, ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्म रूप आवरण से रहित निर्दोष, सूक्ष्मादि पदार्थों को जानने वाले सर्वज्ञ और युक्तिशास्त्र से अविरोधी वचन बोलने वाले हितोपदेशी हैं ।

अन्यथानुपपत्ति—अन्य प्रकार से नहीं होना, जैसे अग्नि रूप साध्य के अभाव में धूम रूप साधन का न होना ।

तथोपपत्ति—उस प्रकार होना, जैसे अग्नि के होने पर ही धूम का होना ।

व्यभिचार दोष—जो हेतु पक्ष, सपक्ष में रहते हुये विपक्ष में चला जावे जो व्यभिचारी या अनैकांतिक कहलाता है । जैसे 'आकाश नित्य है क्योंकि प्रमेय है' यहाँ प्रमेयत्व हेतु नित्य आकाश में रहते हुये अनित्य घट में भी चला जाता है क्योंकि घर भी प्रमेय है ।

अध्यात्म—आत्मा का आश्रय लेकर होना ।

नियोग—'नियुक्तोहंअनेन वाक्येन' मैं इस वेद वाक्य से नियुक्त हुआ हूँ इस प्रकार के वेद वाक्य के अर्थ को नियोग कहते हैं ।

प्रमाण संप्लव—बहुत से प्रमाणों का एक अर्थ में प्रवृत्त होना ।

विधिवाद—जगत् को एक परब्रह्म रूप ही मानना, या सर्व जगत् को एक सत्, रूप ही मानना, इसे ब्रह्मवाद, ब्रह्माद्वैत, सत्ताद्वैत भी कहते हैं ।

अविद्या—अद्वैतवादियों द्वारा कल्पित भेद रूप गलत धारणा को अविद्या कहते हैं ।

वासना—पूर्व पूर्व के संस्कार से एक रूप वस्तु को अनेक भेद रूप मानना या एक क्षण में नष्ट होने वाली क्षणिक वस्तु को कालांतर स्थायी मानना । इसे अद्वैतवादी और बौद्ध दोनों ही मानते हैं ।

सवृत्ति—कल्पना मात्र । सर्वथा असत्य ।

चार्वाक—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन भूत चतुष्टयों से आत्मा की उत्पत्ति मानने वाला जड़वादी ।

बौद्ध—सर्वथा प्रत्येक वस्तु को एक क्षण मात्र स्थिति वाली मानने वाले क्षणिकवादी ।

सांख्य—प्रकृति और पुरुष इन दो तत्त्वों को मानने वाले, सर्वथा प्रत्येक वस्तु को नित्य कूटस्थ अपरिणामी मानने वाले, आत्मा को अकर्ता, नित्य शुद्ध कहने वाले, नित्यैकांतवादी ।

मीमांसक—वेद को अपौरुषेय मानने वाले, सर्वज्ञ को न मानने वाले ।

वैशेषिक—द्रव्य गुण आदि सात पदार्थ मानने वाले, समवाय सम्बन्ध से वस्तु के अस्तित्व को कहने वाले । ईश्वर सृष्टि कर्तृत्ववादी ।

नैयायिक—प्रमाण प्रमेय आदि सोलह पदार्थ मानने वाले, ईश्वर कर्तृत्ववादी ।

वेदांती—ब्रह्माद्वैतवादी, सत्ताद्वैतवादी या विधिवादी सब पर्यायवाची नाम हैं ।

अद्वैत—सर्वथा सम्पूर्ण चराचर जगत् को एक रूप मानने वाले । इनमें पाँच भेद हैं—ब्रह्माद्वैत, शब्दाद्वैत, विज्ञानाद्वैत, चित्राद्वैत और शून्याद्वैत ।

तत्त्वोपप्लववादी—तत्त्वों को कहकर उनका अभाव करने वाले, कल्पना मात्र ही तत्त्व को मानने वाले ।

शून्यवादी—सम्पूर्ण जगत् को असत्य या कल्पना रूप कहने वाला बौद्ध का माध्यमिक नामक एक भेद ।

जैन—द्रव्यदृष्टि से सभी वस्तु को नित्य, अनादि निधन एवं पर्याय दृष्टि से सभी वस्तु को उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक सत् रूप मानने वाले स्याद्वादी, कर्म शत्रु विजेता ऐसे जिन भगवान् के उपासक ।

अन्यापोह—अन्य का अभाव करके कथन करना । बौद्ध शब्दों का अर्थ अन्यापोह करते हैं । जैसे 'गौ' इस शब्द को सुनने पर 'यह अश्व नहीं है, हाथी नहीं है, इत्यादि अर्थ करना अन्यापोह है ।

प्रतिपत्ति—ज्ञान,

संप्रतिपत्ति—विसंवाद रहित जानना ।

विप्रतिपत्ति—विसंवाद का होना ।

सामान्य—अन्वय रूप धर्म या सत् रूप धर्म । जैसे सभी वस्तुयें अस्ति रूप हैं या सभी गायों में गायपना है यही सामान्य धर्म है ।

विशेष—व्यावृत्ति रूप धर्म, जैसे यह गाय काली है, यह सफेद है इन धर्मों को विशेष कहते हैं ।

प्रत्यासत्ति—निकटता का होना ।

उपलब्धि लक्षण प्राप्ति—जो दिखने, उपलब्ध होने योग्य है उसकी प्राप्ति—

उपलब्धि लक्षण प्राप्तानुपलब्धि—जो वस्तु उपलब्ध होने योग्य है उसकी प्राप्ति का न होना, जैसे कमरे में घट उपलब्ध होने योग्य है उसका न होना । इसे दृश्यानुपलब्धि भी कहते हैं ।

अनुपलब्धि लक्षण प्राप्तानुपलब्धि—जो वस्तु उपलब्ध होने योग्य नहीं है उसकी प्राप्ति का

न होना, जैसे कमरे में पिशाच या परमाणु उपलब्ध होने योग्य नहीं हैं इनका न होना। इसे अदृश्या-
नुपलब्धि भी कहते हैं।

प्रतिभास—झलक। पर ब्रह्म तत्त्व। ज्ञान।

अर्थान्तर—भिन्न।

अनर्थान्तर—अभिन्न।

समवाय—अयुत सिद्ध पदार्थों में इसमें यह है इस ज्ञान को समवाय कहते हैं। यह नैयायिक
वैशेषिक की मान्यता है। जैनाचार्य इसे ही तादात्म्य नाम देते हैं।

संयोग—युत सिद्ध में इसमें यह है इसका नाम संयोग है। नैयायिक वैशेषिक इसे एक गुण
मानते हैं। किन्तु जैनाचार्य इसे पृथक् गुण नहीं मानते हैं।

अभिधान—कहना।

अभिधेय—वाच्य। कहे जाने योग्यपदार्थ।

अपौरुषेयवेद—जो अनादि निधन हैं, नित्य हैं, जिनको कहने वाला रचने वाला कोई नहीं है,
इसीलिये जो प्रमाण हैं। ऐसा वेदांती और मीमांसक आदि मानते हैं।

प्रत्यक्षकप्रमाणवादी—चार्वाक प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण मानता है अनुमान आदि को अप्रमाण
कहता है।

अतीन्द्रियप्रत्यक्ष—इन्द्रिय और मन की अपेक्षा से रहित आवरण कर्म के अभाव से आत्मा से
उत्पन्न होने वाला पूर्ण ज्ञान।

अनवस्था—जिसका कहीं पर भी अवस्थान—ठहरना न हो उसे अनवस्था कहते हैं। यह एक
दोष है।

लिंग—जिसके द्वारा साध्य का भान होता है, इसे हेतु भी कहते हैं।

अतिप्रसंगदोष—अघटित या अनिश्चित बात का होना अतिप्रसंग है।

अन्योन्याश्रय दोष—परस्पर में एक के होने से दूसरे का न होना मतलब एक के बिना दूसरे
के न होने से दोनों का ही न होना।

याज्ञिक—क्रियाकांडवादी यज्ञ को अधिक महत्व देने वाले, मीमांसक।

मुनिश्चितासंभवद्बाधक प्रमाण—सम्यक् प्रकार से निश्चित है बाधक नहीं होना जिस प्रमाण
में अर्थात् जिस प्रमाण में बाधा नहीं होना सम्यक् प्रकार से निश्चित है।

निवृत्त—मन को धारण करने वाले संसारी प्राणी।

सर्वाप्तवादी—सभी को आप्त मानने वाले, सभी को आप्त कहने वाले, वैयक्तिकमिथ्या-दृष्टि ।

दोष—अज्ञानादि, भावकर्म ।

आवरण—ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्म ।

व्यावृत्ति—पृथक् करना ।

निवृत्ति—अभाव ।

विवेक—ज्ञान । भेद करना ।

विप्रकर्षी—दूरवर्ती पदार्थ ।

व्याप्ति—इसके होने पर ही उसका होना, जैसे अग्नि के होने पर ही धूम का होना ।

व्यवच्छेद—दूर करना, हटाना । निराकरण करना ।

परिच्छेद—जानना ।

परमप्रकर्ष—उत्कृष्ट अवस्था, चरम अवस्था ।

लक्ष्य—जिसका लक्षण किया जावे ।

लक्षण—मिले हुये अनेक धर्मों में से पृथक् करने वाले किसी एक धर्म को लक्षण कहते हैं, जैसे जीव का लक्षण उपयोग है ।

अविवक्षित—जिसको कहने की इच्छा नहीं है, जो विद्यमान होते हुये भी अप्रधान है ।



जिनवाणी स्तुति

—कु० माधुरी शास्त्री

हे सरस्वती माता, अज्ञान दूर कर दो ।
जग को देकर साता, विज्ञान पूर भर दो ॥

श्रुत का भण्डार भरा, तेरे ज्ञान की गंगा में ।

जन मन श्रृंगार करा, गुरुवर मुनि चन्दा ने ॥

श्रृंगार सहित माता, श्रुतज्ञान पूर्ण कर दो ।

जग को देकर साता, विज्ञान पूर भर दो ॥

हे सरस्वती० (१)

प्रभु वीर की वाणी सुन गणधर ने संवारा है ।

मुनिगण उस पथ पर चल निजज्ञान मुधारा है ॥

निज ज्ञान किरण दाता, आलोक ज्ञान भर दो ।

जग को देकर साता, विज्ञान पूर भर दो ॥

हे सरस्वती० (२)

चंदन चन्दा गंगा तन शीतल कर सकते ।

मुक्ता मालायें भी नहि मन को हर सकते ॥

मन शांत सुरभि दाता, शारद माँ का वर दो ।

जग को देकर साता, विज्ञान पूर भर दो ॥

हे सरस्वती० (३)

आर्यिका ज्ञानमती स्तुति

—कु० माधुरी शास्त्री

गौरवमयी पद जिन्होंने प्राप्त करके ।

संसार में सुमति ज्ञान प्रचार करके ॥

वैराग्यमूर्ति श्रुत के परिवेष में हैं ।

श्री मात ज्ञानमति को नित ही नमूं मैं ॥१॥

माँ मोहिनी जो बनीं शुभ रत्नमति थीं ।

सहजात्म शुद्ध रत्नत्रय युक्त मति थीं ॥

जननी सुज्ञानमति की पद रज नमूं मैं ।

श्री मात ज्ञानमति को नित ही नमूं मैं ॥२॥

श्री देशभूषण गुरु से ज्ञान पाया ।

श्री वीर सिन्धु मुनि से पद भान आया ॥

निज नाम सार्थक किया निजही गुणों से ।

श्री मात ज्ञानमति को नित ही नमूं मैं ॥३॥

साहित्य सर्जन किया बहु पुण्यकारी ।

बन ज्ञानज्योति फौली तब कीति प्यारी ॥

जन्म सुद्वीप रचना में संचरूं मैं ।

श्रीमात ज्ञानमति को नित ही नमूं मैं ॥४॥

श्री वीर के समवश्रुति में चन्दना थीं ।

गणिनी बनीं जिनचरण जगबंदना थीं ॥

गणिनी बही पद विभूषित को नमूं मैं ।

श्री मात ज्ञानमति को नित ही नमूं मैं ॥५॥

मुख में जिनके शारदा, सरस्वती भण्डार ।

चरण 'माधुरी' वंदना, करो मात स्वीकार ॥६॥



